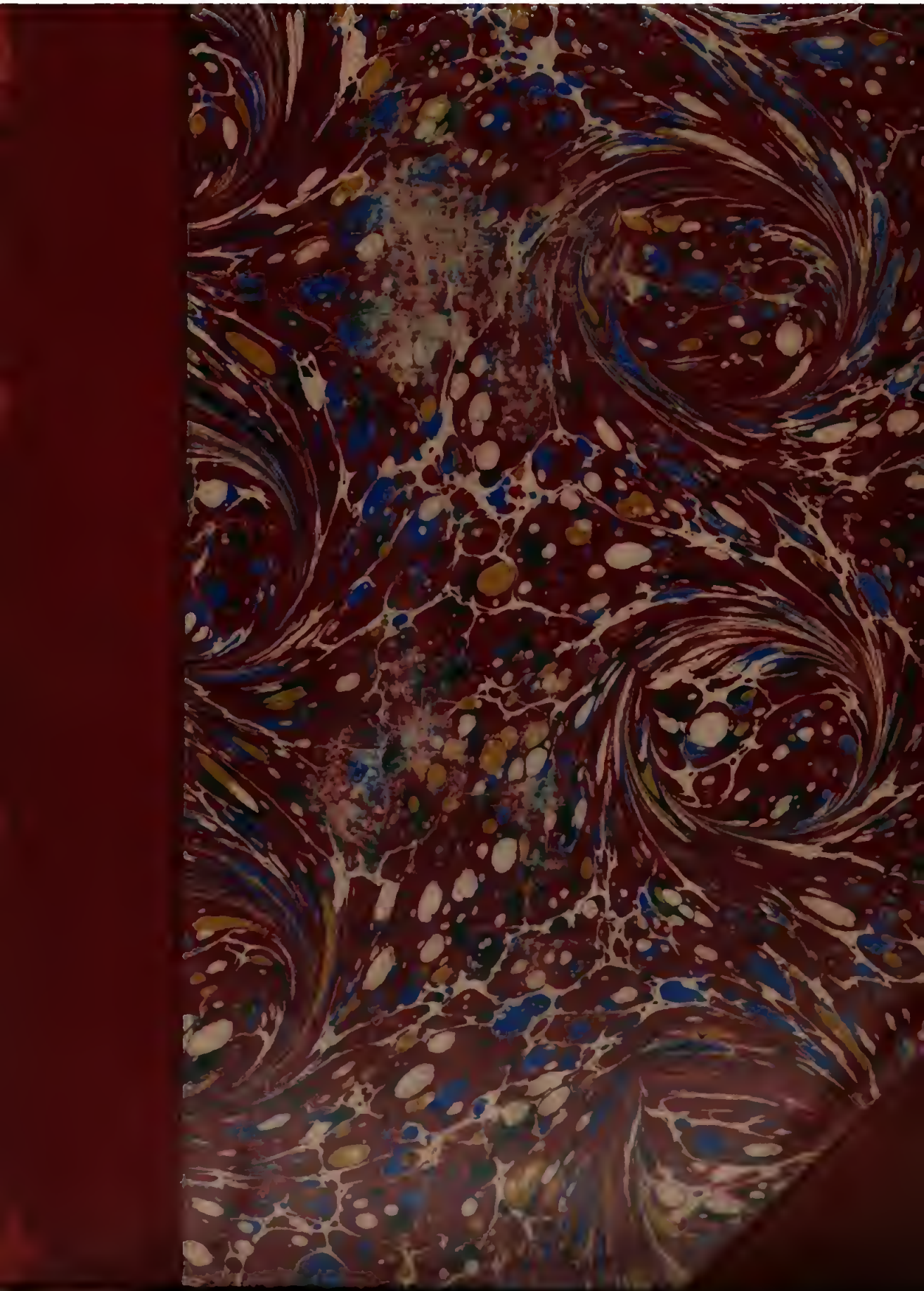

8: 37.30.5

Harvard College Library

FROM THE FUND OF

CHARLES MINOT

Class of 1828

# Lesebuch

für

# deutsche Lehrerbildungsanstalten.

Zum Schulgebrauch und zur Privatlektüre

aus den Quellen zusammengestellt von

Dr. C. Kehr,
† Schulrat und Seminar-Direktor zu Erfurt,

und

Th. Kriebitzsch,
† Direktor der höheren Töchterschule (jetzigen Kaiserin Auguste Viktoriaschule) zu Halberstadt.

## Zweiter Band.

### Für die Unterstufe der Lehrerseminare.

---

Sechzehnte, unveränderte Auflage.

---

Gotha.
Verlag von E. F. Thienemann.
1907.

Digitized by Google

82 J. 30.5
3

Minot fund
(II + IV)

Digitized by Google

# Übersicht des Inhalts.

## I. Prosa (Lehrprosa).


| Nr. | Lesestücke. | Verfasser. | Seite. |
|---|---|---|---|
| | **A. Erzählende Prosa.** | | |
| | **1) Erzählungen.** | | |
| 1 | Die Neujahrsnacht eines Unglücklichen. | J. P. F. Richter [Jean Paul]. | 1 |
| 2 | Eine Ohrfeige zur rechten Zeit. | [Verfasser unbekannt.] | 2 |
| 3 | Das Bild des Großvaters. | W. Müller. | 3 |
| 4 | Die goldene Repetieruhr. | B. Auerbach. | 6 |
| 5 | Der Holzhauer. | F. Jacobs. | 8 |
| 6 | Der belohnte Totschlag. | H. v. Schubert. | 13 |
| 7 | Wie Hans Sachs auf die Wanderung geht. | F. Furchau. | 15 |
| 8 | Der Schneider in Pensa. | P. Hebel. | 18 |
| 9 | Die konfiszierten Batzen. | F. Kugler. | 21 |
| 10 | Aus dem Leben Friedrichs des Großen: | | |
| | a. Frieselbissen. | O. Falch. | 24 |
| | b. Der Schulze in Mois bei Löwenberg. | O. Falch. | 24 |
| | c. Der zerrissene Stiefel. | O. Falch. | 25 |
| | d. Der Seidlitzsche Reiter. | O. Falch. | 26 |
| | e. Der große Fisch. | O. Falch. | 27 |
| | f. Der preußische Pfiff. | W. Schwartz. | 27 |
| 11 | Drei Tage und zwei Lieder. | W. O. v. Horn [W. Oertel]. | 28 |
| 12 | Das Glück durch die Gelbwurst. | B. Auerbach. | 32 |
| 13 | Schiller in Lorch. | G. Schwab. | 33 |
| | **2) Fabeln.** | | |
| 14a | Der Anteil des Löwen. | M. Luther. | 36 |
| b | Vom Hahn und den Perlen. | M. Luther. | 36 |
| c | Die Stadt- und die Feldmaus. | M. Luther. | 37 |
| 15a | Äsopus und der Esel. | G. Lessing. | 37 |
| b | Der Affe und der Fuchs. | G. Lessing. | 37 |
| c | Der Dornstrauch. | G. Lessing. | 37 |
| d | Die Geschichte des alten Wolfes in sieben Fabeln. | G. Lessing. | 37 |
| e | Herkules. | G. Lessing. | 39 |
| f | Die Sperlinge. | G. Lessing. | 39 |
| 16 | Der Hahn, die Tauben und der Geier. | A. v. Haller. | 39 |
| 17a | Der Frühlingsschnee. | A. G. Meißner. | 40 |
| b | Das Streitroß und die Ackergäule. | A. G. Meißner. | 40 |
| 18 | Der Sperling und seine vier Kinder. | Gebr. Grimm. | 40 |
| 19 | Himmelsblau und Wolken. | H. Pestalozzi. | 42 |

| Nr. | Lesestücke. | Verfasser. | Seite. |
|---|---|---|---|
| | **3) Parabeln, Allegorieen und Paramythieen.** | | |
| 20 | Der Weinstock. | G. v. Herder. | 42 |
| 21 | Die Reue. | F. Krummacher. | 43 |
| 22 | Das Kornfeld. | F. Krummacher. | 43 |
| 23 | Die Pfirsiche. | F. Krummacher. | 44 |
| 24 | Die Zeder. | W. v. Goethe. | 45 |
| 25 | Gotteslohn. | Cl. Brentano. | 45 |
| 26 | Tod und Schlaf. | F. Krummacher. | 46 |
| 27 | Die Morgenröte. | G. v. Herder. | 47 |
| 28 | Nacht und Tag. | G. v. Herder. | 47 |
| 29 | Der sterbende Schwan. | G. v. Herder. | 47 |
| 30 | Die Stimme der Tränen. | G. v. Herder. | 48 |
| 31 | Licht und Liebe. | G. v. Herder. | 49 |
| 32 | Das Kind der Barmherzigkeit. | G. v. Herder. | 49 |
| | **4) Märchen.** | | |
| 33 | Dornröschen. | Gebr. Grimm. | 50 |
| 34 | Drei Wünsche. | P. Hebel. | 52 |
| 35 | Der Hase und der Igel. (Mundart.) | Gebr. Grimm. | 53 |
| 36 | Goldener. | J. Kerner. | 55 |
| 37 | Der Engel. | H. Chr. Andersen. | 57 |
| | **5) Sagen und Legenden.** | | |
| 38 | Die Fahrt der Argonauten | B. G. Niebuhr. | 59 |
| 39 | Theseus. | G. Schwab. | 62 |
| 40 | Scenen aus der Iliade: | | |
| | a. Zweikampf des Hektor und Aias. | K. F. Becker. | 65 |
| | b. Edelmut des Achilles. | K. F. Becker. | 67 |
| 41 | Scenen aus der Odyssee: | | |
| | a. Odysseus bei den Phäaken. | K. F. Becker. | 72 |
| | b. Odysseus und Telemachos. | K. F. Becker. | 74 |
| 42 | Der Schwanritter. | Gebr. Grimm. | 77 |
| 43 | Wittekinds Ende und Grab in Enger. | Nach F. Freiligrath und L. Schücking. | 78 |
| 44 | Sagen vom Kaiser Friedrich im Kyffhäuser: | | |
| | a. Kaiser Friedrich der Rotbart und Utchen. | H. Pröhle. | 80 |
| | b. Das Brautpaar von Bennungen. | H. Pröhle. | 81 |
| | c. Kaiser und Junker. | H. Pröhle. | 81 |
| 45 | Der Rabe auf dem Schloßhofe zu Merseburg. | H. Pröhle. | 82 |
| 46 | Die Jungfrau auf dem Lurley. | A. Schreiber. | 83 |
| 47 | Genoveva. | F. Jacobs. | 84 |
| 48 | Die heilige Lanze zu Antiochien. | F. v. Raumer. | 90 |
| 49 | Von der heiligen Elisabeth: | | |
| | a. Elisabeths Mantel. | L. Bechstein. | 91 |
| | b. Elisabethen-Brunnen und -Garten. | L. Bechstein. | 92 |

| Nr. | Lesestücke. | Verfasser. | Seite. |
|---|---|---|---|
| **6) Bilder aus der Weltgeschichte und der Geschichte der Pädagogik.** | | | |
| | **a) Aus der Weltgeschichte.** | | |
| 50 | Ein ägyptisches Leichenbegängnis. | M. Uhlemann. | 93 |
| 51 | Tyrus. | K. Furrer. | 95 |
| 52 | Ninive. | K. F. Becker. | 97 |
| 53 | Grab des Kyros. | M. Duncker. | 99 |
| 54 | Die athenische Erziehung nach den Gesetzen Solons. | M. Duncker. | 100 |
| 55 | Xerxes und die Schlacht bei den Thermopylen. | Th. B. Welter. | 103 |
| 56 | Themistokles. | G. Weber. | 105 |
| 57 | Die Stadt Athen im Zeitalter des Perikles. | O. Jäger. | 106 |
| 58 | Demosthenes. | F. Bäßler. | 109 |
| 59 | Alexander der Große bei den Malliern. | G. Pfizer. | 113 |
| 60 | Romulus und die Gründung der Stadt Rom. | K. Peter. | 115 |
| 61 | Pyrrhos. | Th. Mommsen. | 118 |
| 62 | Römische Bilder: | | |
| | a. Ein Besuch bei einem vornehmen Römer. | W. Wägner u. B. Volz. | 120 |
| | b. Handel und Industrie. | W. Wägner u. B. Volz. | 122 |
| 63 | Sittenverfall in Rom. | K. Wernicke. | 123 |
| 64 | Charakter des Augustus. | K. Hoeck. | 129 |
| | **b) Bilder aus der Geschichte der Pädagogik.** | | |
| 65 | Die Lehrweise des Sokrates. | C. L. Roth. | 131 |
| 66 | Die Lehrer in Rom und die römische Jugenderziehung. | L. Friedländer. | 136 |
| 67 | Das Schulwesen Deutschlands im Mittelalter. | G. L. Kriegk. | 139 |
| 68 | Proben aus dem „Orbis pictus“. | A. Comenius. | 157 |
| 69 | Wie der Domherr Eberhard v. Rochow Volksschulen gründet. | E. v. Rochow. | 164 |
| 70 | Ignaz v. Felbiger. | J. Neumaier. | 170 |
| 71 | Aus Dinters Leben. | [Selbstbiographie.] | 172 |
| 72 | Wie kann und muß der Lehrer seine Schüler dazu anführen, daß sie beobachten, was eine gute Schulzucht erfordert? | B. Overberg. | 175 |
| 73 | Pestalozzis Persönlichkeit. | K. J. Blochmann. | 177 |
| 74 | Winke für Lehrer: | | |
| | a. Ratschläge für das Studieren. | A. Diesterweg. | 179 |
| | b. Suche den Unterricht interessant zu machen. | A. Diesterweg. | 180 |
| **B. Beschreibende Prosa.** | | | |
| | **1) Aus der Naturkunde.** | | |
| 75 | Das Leben in der Schöpfung. | A. v. Humboldt. | 181 |
| 76 | Die Alpenrose, die Königin der Alpenblumen, mit ihrem Hofstaat. | F. v. Tschudi. | 183 |
| 77 | Die Linde. | J. Funcke. | 185 |
| 78 | Das tägliche Leben der Vögel. | A. Brehm. | 188 |

| Nr. | Lesestücke. | Verfasser. | Seite. |
|---|---|---|---|
| 79 | Die Zugvögel und der Grund ihres Wanderns. | B. Altum. | 193 |
| 80 | Der Wiedehopf. | K. Ruß. | 195 |
| 81 | Der Löwe. | H. Masius. | 199 |
| 82 | Die Gemse. | F. v. Tschudi. | 202 |
| 83 | Ameisenkriege. | L. Oken. | 206 |
| 84 | Der Hering. | Th. Mügge. | 208 |
| 85 | Das Meer. | K. A. Berthold. | 212 |
| 86 | Über das Meerleuchten. | J. Kayser. | 214 |
| 87 | Geschichte eines Wassertropfens. | A. Grube. | 221 |
| 88 | Der Seesturm. | H. Steffens. | 226 |
| 89 | Sonnenaufgang auf dem Ätna. | J. Campe. | 230 |

## 2) Bilder aus der Erd- und Völkerkunde.

| | | | |
|---|---|---|---|
| 90 | Das Reisen im Altertume. | H. Göll. | 231 |
| 91 | Die Bodenwirtschaft bei den Römern. | Th. Mommsen. | 235 |
| 92 | Deutsche Weihnachtsbräuche in der Familie. | A. Richter. | 238 |
| 93 | Die Religion der alten Germanen. | K. Wernicke. | 243 |
| 94 | Gruben bei Klausthal. | H. Heine. | 247 |
| 95 | Goethes Haus in Weimar. | K. Immermann. | 248 |
| 96 | Zwei deutsche Höhlen: | | |
| | a. Die Dechenhöhle. | J. Steinbach. | 252 |
| | b. Die Baumannshöhle. | C. G. F. Brederlow. | 254 |
| 97 | Bayerische Hochgebirgsdörfer. | G. Kohl. | 256 |
| 98 | Ein Bild der Städte aus dem 13. Jahrhundert. | F. W. Barthold. | 257 |
| 99 | Die ungarische Pußta. | E. Schwab. | 259 |
| 100 | Ein Stiergefecht zu Sevilla. | L. Thomas. | 262 |
| 101 | Athen. | H. Hettner. | 265 |
| 102 | Der Untergang von Herkulanum und Pompeji. | W. Wägner. | 267 |
| 103 | Der Nil. | H. Burmeister. | 269 |
| 104 | Jerusalem. | F. Hackländer. | 272 |
| 105 | Schilderungen aus Südamerika. | A. v. Humboldt. | 276 |
| 106 | Das Kreuz des Südens. | A. v. Humboldt. | 280 |

## C. Schilderungen, Abhandlungen und Reden.

(Stilgattungen.)

| | | | |
|---|---|---|---|
| 107 | Beschreibung eines Gemäldes, welches eine Scene aus Schillers „Taucher" darstellt. | K. Gude. | 281 |
| 108 | Die Wiederkehr des Frühlings. | Kl. Harms. | 282 |
| 109 | Die Fülle des Sommers. | Kl. Harms. | 282 |
| 110 | Der Herbst ein Treiber zu Fleiß und Arbeit. | Kl. Harms. | 283 |
| 111 | Die Charaktere in „Hermann und Dorothea". | A. W. v. Schlegel. | 284 |
| 112 | Begriffserklärungen: | | |
| | a. „Frivol". | [Gelzers Monatsbl.] | 285 |
| | b. „Takt". | [Gelzers Monatsbl.] | 286 |
| 113 | Erklärung von Sprichwörtern: | | |
| | a. Ein Narr fragt viel, worauf kein Weiser antwortet. | P. Hebel. | 288 |
| | b. Frisch gewagt ist halb gewonnen. | P. Hebel. | 288 |
| | c. Es ist nicht alles Gold, was glänzt. | P. Hebel. | 288 |

| Nr. | Lesestücke. | Verfasser. | Seite. |
|---|---|---|---|
| 114 | Dem Tod entrinnt, wer ihn verachtet, aber den Verzagten holt er ein. (Eine Chrie.) | Chr. F. Falkmann. | 288 |
| 115 | Über den Wert der Fußreisen. | G. Baur. | 290 |
| 116 | Der deutsche Wald. | A. Becker. | 293 |
| 117 | Der Tod des Jünglings auf dem Schlachtfelde. | J. P. F. Richter [Jean Paul]. | 296 |
| 118 | Verteidigungsrede für den Ritter in Schillers „Kampf mit dem Drachen". | F. Linnig. | 297 |


# II. Poesie.

## A. Epische Poesie.

### 1) Fabeln und Parabeln.


| | | | |
|---|---|---|---|
| 119 | Der Müller und die Esel. | H. Sachs. | 300 |
| 120a | Der Fuchs ohne Schwanz. | F. v. Hagedorn. | 301 |
| b | Der Hahn und der Fuchs. | F. v. Hagedorn. | 301 |
| 121 | Die Schildkröte im Brunnen. | F. Rückert. | 302 |
| 122a | Glauben. | A. E. Fröhlich. | 302 |
| b | Vorsicht. | A. E. Fröhlich. | 302 |
| c | Stilleben. | A. E. Fröhlich. | 303 |
| d | Die Nützlichen. | A. E. Fröhlich. | 303 |
| e | Einträglichstes. | A. E. Fröhlich. | 303 |
| f | Lebensworte. | A. E. Fröhlich. | 303 |
| g | Stadtleben. | A. E. Fröhlich. | 303 |
| h | Ellengröße. | A. E. Fröhlich. | 303 |
| i | Turnen. | A. E. Fröhlich. | 303 |
| 123 | Adler und Taube. | W. v. Goethe. | 304 |
| 124 | Der Jüngling. | Chr. F. Gellert. | 304 |
| 125 | Chidher. | F. Rückert. | 305 |
| 126 | Die Palme. | E. v. Schenk. | 306 |
| 127 | Die Kreuzschau. | A. v. Chamisso. | 306 |
| 128 | Letzte Heimkehr. | J. v. Eichendorff. | 307 |


### 2) Märchen, Sagen und Legenden.


| | | | |
|---|---|---|---|
| 129 | Die Heinzelmännchen. | A. Kopisch. | 308 |
| 130 | Der Rattenfänger. | H. Kletke. | 309 |
| 131 | Der wilde Jäger im Odenwalde. | A. Schreiber. | 310 |
| 132 | Graf Hugo von Egisheim. | Aug. Stöber. | 311 |
| 133 | Elisabeths Rosen. | L. Bechstein. | 312 |
| 134 | Das wilde Heer. | L. Bechstein. | 312 |
| 135 | Jesus und das Moos. | H. v. Chezy. | 313 |
| 136 | Die Trauerweide. | L. v. Plönnies. | 313 |
| 137 | Der gerettete Jüngling. | G. v. Herder. | 314 |
| 138 | Der Tapfere. | G. v. Herder. | 314 |
| 139 | Petrus. | G. Kinkel. | 315 |

| Nr. | Lesestücke. | Verfasser. | Seite. |
|---|---|---|---|
| | **3) Erzählungen, Balladen und Romanzen.** | | |
| 140 | Der ewige Jude. | Chr. Schubart. | 317 |
| 141 | Die beschränkte Frau. | A. Freiin v. Droste-Hülshoff. | 318 |
| 142 | Deutscher Branch. | Anastasius Grün (Graf | 319 |
| 143 | Die Guahibo-Mutter. | A. Bube. [Auersperg). | 321 |
| 144 | Rudolf von Habsburg. | G. Görres. | 322 |
| 145 | Zigeunerleben. | E. v. Geibel. | 322 |
| 146 | Ein Wort vom alten Blücher. | G. Hesekiel. | 323 |
| 147 | König Karls Meerfahrt. | L. Uhland. | 323 |
| 148 | Der Wilde. | J. G. Seume. | 324 |
| 149 | Die stille Gemeinde. | J. v. Eichendorff. | 325 |
| 150 | Eudoxia. | H. Lingg. | 326 |
| 151 | Der Ring des Polykrates. | F. v. Schiller. | 327 |
| 152 | Wie schön leuchtet der Morgenstern! | J. Sturm. | 328 |
| 153 | Cornelia. | A. Knapp. | 330 |
| 154 | Das Negerweib. | E. v. Geibel. | 331 |
| 155 | Das Schloß am Meere. | L. Uhland. | 332 |
| 156 | Der blinde König. | L. Uhland. | 332 |
| 157 | Löwenritt. | F. Freiligrath. | 332 |
| 158 | Die alte Waschfrau. | A. v. Chamisso. | 334 |
| 159 | Die drei Indianer. | N. Lenau. | 334 |
| 160 | Drusus' Tod. | K. Simrock. | 335 |
| 161 | Tells Tod. | L. Uhland. | 335 |
| 162 | Jeschko von Köpenick. | G. Hesekiel. | 336 |
| 163 | Das Schloß Boncourt. | A. v. Chamisso. | 338 |
| 164 | Die Histörchen. | A. Kopisch. | 338 |
| 165 | Der Schatzgräber. | W. v. Goethe. | 341 |
| 166 | Eine Mutter. | A. Meißner. | 342 |
| 167 | Die Kaiserwahl. | L. Uhland. | 343 |
| 168 | Der Choral von Leuthen. | H. Besser. | 344 |
| 169 | Der beste Schüler. | F. Rückert. | 344 |
| 170 | Der Kampf mit dem Drachen. | F. v. Schiller. | 345 |
| 171 | Der Fischer. | W. v. Goethe. | 348 |
| 172 | Der Reiter und der Bodensee. | G. Schwab. | 348 |
| 173 | Der Normann. | L. Giesebrecht. | 349 |
| 174 | Ein Friedhofsgang. | J. Vogl. | 350 |
| 175 | Der Schiläufer. | F. Bäßler. | 351 |
| 176 | Der Gang nach dem Eisenhammer. | F. v. Schiller. | 352 |
| 177 | Schwerting, der Sachsenherzog. | K. Ebert. | 354 |
| 178 | Der Tod des Führers. | F. Freiligrath. | 355 |
| 179 | Treuer Tod. | G. Scheurlin. | 356 |
| 180 | Preußische Feldherren: a. Derfflinger. | Th. Fontane. | 356 |
| | b. Zieten. | Th. Fontane. | 357 |
| | c. Seidlitz. | Th. Fontane. | 358 |
| 181 | Preußens Helden von 1813 und 1815. | A. Brecht. | 358 |
| 182 | Die drei Gesellen. | F. Rückert. | 360 |
| 183 | Der Choral von Kaiserslautern. | W. Osterwald. | 360 |
| 184 | Die Fahne der Einundsechziger. | J. Wolff. | 362 |

| Nr. | Lesestücke. | Verfasser. | Seite |
|---|---|---|---|
| | **4) Idylle und Epos.** | | |
| 185 | Irin. | E. v. Kleist. | 363 |
| 186 | Luisens Geburtstag. | J. Voß. | 364 |
| 187 | Das letzte Abendläuten des alten Schulmeisters von Krondorf. | H. Heydenreich. | 367 |
| 188 | Aus „Reineke Fuchs“. | W. v. Goethe. | 369 |
| 189 | Aus dem Nibelungenliede: | | |
| | Zweites Abenteuer (Von Siegfrieden). | Nach K. Simrocks Übersetzung. | 375 |
| | Sechzehntes Abenteuer (Wie Siegfried erschlagen ward). | Nach K. Simrocks Übersetzung. | 377 |
| 190 | Aus „Hermann und Dorothea“. | W. v. Goethe. | 384 |
| | **B. Lyrische Poesie.** (Lied. Elegie. Ode. Hymne.) | | |
| 191 | Komm, Trost der Nacht, o Nachtigall! | Chr. v. Grimmelshausen. | 389 |
| 192 | Spaziergang im Walde. | M. Opitz. | 389 |
| 193 | Der Sommerabend. | J. P. Hebel. | 390 |
| 194 | Hoffnung. | F. v. Schiller. | 390 |
| 195 | Wandrers Nachtlieder. | W. v. Goethe. | 391 |
| 196 | Die Nacht. | F. Hölderlin. | 391 |
| 197 | Ich sah den Wald sich färben. | E. v. Geibel. | 391 |
| 198 | Zwei Lieder: | | |
| | a. Die Bäume. | L. Hensel. | 392 |
| | b. Aufforderung. | L. Hensel. | 392 |
| 199 | Hoffen und Bangen. | F. Rückert. | 392 |
| 200 | Der Glaube der Freundschaft. | F. Dahn. | 393 |
| 201 | Begrabe deine Toten. | K. Siebel. | 393 |
| 202 | Zum Tagewerk. | Ph. Spitta. | 393 |
| 203 | Heimkehr. | H. Lingg. | 393 |
| 204 | Menschenlos. | J. Sturm. | 394 |
| 205 | Meeresabend. | M. Graf Strachwitz. | 394 |
| 206 | Aufmunterung zur Freude. | L. Hölty. | 394 |
| 207 | Lied vom Rhein. | J. Matzerath. | 394 |
| 208 | Das letzte Stündlein. | K. v. Gerok. | 395 |
| 209 | Die frühen Gräber. | F. Klopstock. | 395 |
| 210 | Das Schifflein. | L. Uhland. | 396 |
| 211 | Zwei Abendlieder: | | |
| | a. Es ist so still geworden. | G. Kinkel. | 396 |
| | b. Der Mond ist aufgegangen. | M. Claudius. | 396 |
| 212 | Der Jenner. | J. P. Hebel (übertragen von R. Reinick). | 397 |
| 213 | Der Eistanz. | G. v. Herder. | 399 |
| 214 | Die Leipziger Schlacht. | M. Arndt. | 399 |
| 215 | Frühlings Wiederkehr. | L. Tieck. | 400 |
| 216 | Das Mägdlein schläft. | K. v. Gerok. | 400 |
| 217 | Aus der Jugendzeit. | F. Rückert. | 401 |
| 218 | Rheinweinlied. | M. Claudius. | 402 |
| 219 | Der Frühlingsbote. | J. M. Usteri. | 402 |

| Nr. | Leſeſtücke. | Verfaſſer. | Seite. |
|---|---|---|---|
| 220 | Gudruns Klage. | E. v. Geibel. | 405 |
| 221 | Volkers Nachtgeſang. | E. v. Geibel. | 406 |
| 222 | Einem Knaben. | N. Lenau. | 406 |
| 223 | Der Poſtillon. | N. Lenau. | 407 |
| 224 | Die Auswanderer. | F. Freiligrath. | 407 |
| 225 | Fiſcherlied. | G. v. Salis-Seewis. | 408 |
| 226 | Des Schiffers Traum. | M. Arndt. | 409 |
| 227 | Die drei Zigeuner. | N. Lenau. | 409 |
| 228 | Mein Lieben. | H. Hoffmann v. Fallersleben. | 409 |
| 229 | Aus dem ſchleſiſchen Gebirge. | F. Freiligrath. | 410 |
| 230 | Deutſcher Troſt. | M. Arndt. | 411 |
| 231 | Das Lied der Deutſchen. | H. Hoffmann v. Fallersleben. | 411 |
| 232 | Preis der deutſchen Sprache. | Ad. Stöber. | 411 |
| 233 | Der deutſche Rhein. | N. Becker. | 412 |
| 234 | Pſalm. | F. Klopſtock. | 412 |
| 235 | Die ſchöne Buche. | E. Mörike. | 413 |
| 236 | Fraw Muſica. | M. Luther. | 414 |
| 237 | Lobgeſang. | F. Rückert. | 414 |
| 238 | Elegie. In den Ruinen eines alten Bergſchloſſes geſchrieben. | F. v. Matthiſon. | 415 |
| 239 | Elegie bei dem Grabe meines Vaters. | L. Hölty. | 416 |
| 240 | Die Gräber zu Ottenſen. | F. Rückert. | 417 |


## C. Proben aus der dramatiſchen Poeſie.


| | | | |
|---|---|---|---|
| 241 | Schußſcene aus „Wilhelm Tell“. | F. v. Schiller. | 419 |
| 242 | Aus „Minna von Barnhelm“. | G. Leſſing. | 425 |



**Anhang:** Pädagogiſche Ährenleſe . . . . Seite 429
Wörterverzeichnis . . . . . „ 433

# Alphabetisches Namenregister

## nebst Angabe der Lesestücke.

(Die fetten Ziffern bedeuten die Seitenzahlen; die mit lateinischen Lettern gedruckten Stücke stehen im 1. Bande.)


**Altum** (Bernhard). * 31. Dez. 1824 zu Münster in Westfalen; seit 1869 Professor der Zoologie an der Forstakademie zu Eberswalde. † am 1. Februar 1900.

Die Zugvögel und der Grund ihres Wanderns. 193.

**Andersen** (Hans Christian). * 2. April 1805 zu Odense auf Fünen, Etatsrat in Kopenhagen. † 4. August 1875.

Der Engel. 57.

**Anonyme Verfasser.**

Eine Ohrfeige zur rechten Zeit. 2.
Begriffserklärungen. a. b. 285.
Ein Gesang über den Wassern. 5.
Der beste Empfehlungsbrief. 55.
Belohnung kindlicher Liebe. 101.
Aus dem Leben Friedrichs II. 114a—e
Das Fichtelgebirge. 186.
Das Eismeer. 210.
„O Straßburg". (Volkslied.) 259.

**Arndt** (E. Moritz). * 26. Dez. 1769 zu Schoritz auf Rügen. 1818 bis 1854 Professor der Geschichte in Bonn. † 29. Jan. 1860 das.

Die Leipziger Schlacht. 399.
Des Schiffers Traum. 409.
Deutscher Trost. 411.
Des Deutschen Vaterland. 48.
Das preußische Volk im Jahre 1813. 106.
Von Vaterland und Freiheit. 208.
Ermunterung. 442.
Das Lied vom Feldmarschall. 474.

**Auerbach** (Berthold). *28. Febr. 1812 zu Nordstetten (Württemberg), lebte als Schriftsteller in Breslau, Dresden und anderen Orten, seit 1858 in Berlin. † zu Cannes in Frankreich am 8. Febr. 1882.

Die goldene Repetieruhr. 6.
Das Glück durch die Gelbwurst. 32.
Spruch. 431.
Die Posaune des Gerichtes. 227.

**Barthold** (Fr. Wilhelm). *4. Sept. 1799 in Berlin, Prof. in Greifswald. † 14. Jan. 1858.

Ein Bild der Städte aus dem 13. Jahrh. 257.

**Bäßler** (E. Ferdinand). *26. Jan. 1816 in Zeitz. 1866 bis 1878 Prof. und Geistlicher Inspektor der Landesschule Pforta. † 3. Febr. 1879 das.

Demosthenes. 109.
Der Stiläufer. 351.
Wineta. 36.
Der See Genezareth. 351.

**Baur** (Gustav). *14. Juni 1816 zu Hämmelbach im Odenwald; seit 1870 Professor der Theologie an der Universität Leipzig. † 22. Mai 1889 das.

Über den Wert der Fußreisen. 290.

**Bechstein** (Ludwig). *24. Nov. 1801 in Weimar, † 14. Mai 1860 als Oberbibliothekar in Meiningen.

Die heilige Elisabeth. 91.
Elisabeths Rosen. 312.
Das wilde Heer. 312.
Naturstimmen. 313.

**Becker** (August). *27. April 1828 zu Klingenmünster in der Pfalz; lebte seit 1868 in Eisenach als Schriftsteller. † das. 23. März 1891.

Der deutsche Wald. 293.

**Becker** (Karl Friedrich). *1777 zu Berlin, wo er als Privatgelehrter am 15. März 1806 †.

Scenen aus der Iliade. 65.
Scenen aus der Odyssee. 72.
Ninive. 97.

**Becker** (Nikolaus). *8. Okt. 1809 zu Bonn, 1840 Auskultator beim Kreisgericht zu Geilenkirchen, dann Aktuar beim Friedens-

gericht zu Köln. † 28. Auguſt 1845 zu Hunshoven.
Rheinſied. 412.

**Bercht** (G. Fr. Auguſt). * 30. Juli 1790 zu Niederwarbig bei Treuenbrietzen, kämpfte in den Freiheitskriegen mit, war eine Zeitlang als Schulmann tätig, widmete von 1838 ab ſeine Muße nur ſeinen Studien abwechſelnd in Neuwied und Koblenz, † 29. Mai 1861 in Darmſtadt.
Preußens Helden von 1813 und 1815. 358.

**Berthold** (Karl Adam). * 6. Juli 1835 zu Münſter. Oberlehrer a. D. zu Bocholt.
Das Meer. 212.
Die Heideflächen Weſtfalens. 116.

**Beſſer** (Hermann). * 17. Juli 1807 in Schulpforta, † 1. Jan. 1896 in Dresden als Geh. Regierungsrat a. D.
Der Choral von Leuthen. 344.
Die Trommel. 107.

**Blochmann** (K. J.). * 19. Febr. 1786 zu Reichſtädt bei Dippoldiswalde in Sachſen; Schüler Peſtalozzis; Direktor des Vitzthumſchen Gymnaſiums und der mit demſelben verbundenen Erziehungsanſtalt zu Dresden. † 31. Mai 1855 zu Genf.
Peſtalozzis Perſönlichkeit. 177.

**Bodenſtedt** (Friedrich v.). * 22. April 1819 zu Peine bei Hannover. 1867 Theaterintendant zu Meiningen, lebte ſeit 1878 in Wiesbaden, wo er am 18. April 1892 ſtarb.
Motto. 429.

**Boie** (Heinrich). * 4. Mai 1794 zu Hannover. † 4. Sept. 1827 auf einer wiſſenſchaftlichen Reiſe in Java.
Spruch. 431.

**Brederlow** (C. G. Fr.). * 26. März 1794 in Ermsleben, Seminardirektor in Halberſtadt. † 22. Mai 1859 zu Blankenburg a. H.
Die Baumannshöhle. 254.

**Brehm** (Alfred Edm.). * 2. Febr. 1829 zu Renthendorf bei Neuſtadt a. d. O. in Thüringen; war Direktor des zoolog. Gartens in Hamburg, 1869 bis 1873 des Aquariums in Berlin. † 13. November 1885.
Das tägliche Leben der Vögel. 188.

**Brentano** (Clemens). * 8. Sept. 1778 zu Thal-Ehrenbreitſtein, lebte ſeit 1806 am Rhein und in München. † 28. Juli 1842 in Aſchaffenburg.
Gotteslohn. 45.
Die Gottesmauer. 319.

**Bube** (Adolf). * 23. Sept. 1802 in Gotha, ſeit 1842 Direktor des Herzogl. Kunſtkabinetts daſelbſt. † 17. Okt. 1873 daſelbſt.
Die Guahibo-Mutter. 321.

**Burmeiſter** (Hermann). * 15. Jan. 1807 in Stralſund; ſeit 1837 Prof. der Zoologie in Halle, ſeit 1861 Direktor des von ihm begründeten Naturhiſtoriſchen Muſeums in Buenos-Ayres, ſeit 1870 Kurator der naturwiſſenſchaftlichen Fakultät an der Univerſität Cordova, † 30. Mai 1892.
Der Nil. 269.

**Campe** (Joach. Heinrich). * 29. Juni 1746 zu Deenſen im Braunſchweigiſchen; ſeit 1774 Feldprediger, 1776 Lehrer und ſpäter Direktor des Philanthropins in Deſſau, ſeit 1787 Schulrat in Braunſchweig. † 22. Okt. 1818.
Sonnenaufgang auf dem Ätna. 230.
Sprüche. 430. 431.

**Chamiſſo** (Adelbert v.). [Louis Charles Adelaïde de Chamisso de Boncourt.] * 30. Jan. 1781 auf dem Schloſſe Boncourt in der Champagne. † 21. Auguſt 1838 in Berlin als Kuſtos des Botaniſchen Gartens und Mitglied der Akademie der Wiſſenſchaften.
Die Kreuzſchau. 306.
Die alte Waſchfrau. 334.
Schloß Boncourt. 338.
Tragiſche Geſchichte. 177.
Die Löwenbraut. 217.
Die Sonne bringt es an den Tag. 290.
Das Rieſenſpielzeug. 425.

**Chezy** (Helmina v.), Enkelin der Karſchin, Tochter der Baronin Luiſe v. Klencke. * 26. Jan. 1783 zu Berlin. † 28 Jan. 1856 zu Genf.
Jeſus und das Moos. 318.

**Claudius** (Matthias). * 15. Auguſt 1740 zu Reinfeld im Holſteiniſchen bei Lübeck. † 21. Jan. 1815 in Hamburg.
Abendlied. 396.
Rheinweinlied. 402.
Im Junius. 386.
Ein Lied hinter dem Ofen zu ſingen. 486.

**Coleridge** (Samuel Taylor). * 20. Okt. 1772 zu Ottery (Devonshire in England). † 25. Juli 1834 zu Highgate.

[Aus: Der alte Matrose. 216.]

**Comenius** (Amos). * 28. März 1592 zu Niwnitz bei Ungarisch-Brod in Mähren, 1632 Bischof der mährischen Brüdergemeinde. † 15. Nov. 1670 in Amsterdam.

Proben aus dem „Orbis pictus". 157.
Sprüche. 432.

**Dahn** (Felix). * 9. Febr. 1834 in Hamburg, seit 1872 Geh. Justizrat und Professor der Rechte in Königsberg, seit 1888 in gleicher Eigenschaft in Breslau.

Der Glaube der Freundschaft. 393.

**Diesterweg** (Ad.). * 28. Okt. 1790 in Siegen, Seminardirektor in Mörs und Berlin, seit 1847 a. D. † 7. Juli 1866 in Berlin.

Winke für Lehrer. 179.
Sprüche. 430. 431.
Europas Klima. 220.

**Dinter** (Gustav). * 29. Febr. 1760 in Borna (Sachsen); seit 1787 Pfarrer in Kitscher, seit 1797 Seminardirektor in Dresden-Friedrichstadt, dann wieder Pfarrer in Görnitz und seit 1816 Schul- und Konsistorialrat in Königsberg. † 29. Mai 1831.

Aus „Dinters Leben". 172.

**Drbal** (Matthias). * 20. Febr. 1829 zu Prödlitz in Mähren, Landschulinspektor zu Brünn.

Spruch. 429.

**Droste-Hülshoff** (Annette Freiin v.). * 10. Jan. 1797 auf Hülshoff b. Münster. † 24. Mai 1848 auf Schloß Meersburg am Bodensee.

Die beschränkte Frau. 318.
Der sterbende General. 235.
Der Brief aus der Heimat. 236.
Die Unbesungenen. 276.
Das Haus in der Heide. 501.

**Duncker** (Max). * 15. Okt. 1812 in Berlin. Professor der Geschichte in Halle und Tübingen, dann Direktor der preußischen Staatsarchive, † als Geh. Ober-Reg. Rat a. D. am 23. Juli 1886 auf einer Reise in Ansbach (Bayern).

Grab des Kyros. 99.
Die attenische Erziehung. 100.
Odysseus' Heimkehr. 499.

**Ebert** (Karl Eg.). * 5. Juni 1801 in Prag, war 1825—1831 Bibliothekar in Donaueschingen, lebte seit 1857 zu Smichow-Prag. † 24. Okt. 1882 das.

Schwerting, der Sachsenherzog. 354.
Frau Hitt. 200.
Der Sänger im Palast. 458.

**Eckhart** Meister. * um 1260 zu Straßburg, studierte in Köln unter Albertus Magnus, wurde 1303 Magister (Meister) in Paris. † 1327 als Lesemeister (Dozent) in Köln.

Spruch. 430.

**Eichendorff** (Joseph Freih. v.). * 10. März 1788 auf Schloß Lubowitz bei Ratibor, machte die Freiheitskriege mit, wurde Regierungsrat in Danzig, Königsberg und Berlin. † 26. Nov. 1857 zu St. Rochus bei Neiße.

Letzte Heimkehr. 307.
Die stille Gemeinde. 325.
Der Jäger Abschied. 7.
Der frohe Wandersmann. 50.
Abschied. 117.
Morgengebet. 126.

**Falch** (O.), †, Buchdrucker in Brieg (Schlesien).

Friesselbissen. 24.
Der Schulze in Mois. 24.
Der zerrissene Stiefel. 25.
Der Seidlitzsche Reiter. 26.
Der große Fisch. 27.

**Falkmann** (Christian Friedrich). * 2. Juli 1782 zu Schötmar im Fürstentum Lippe. † 11. Febr. 1844 als fürstl. Rat und Gymnasialdirektor in Detmold.

Dem Tod entrinnt, wer ihn verachtet, aber den Verzagten holt er ein (Eine Chrie.) 288.
Ein Gemälde des Herbstes. 92.
Die Weidenmühle. 342.

**Fontane** (Theodor). * 30. Dez. 1819 zu Neu-Ruppin; lebte in Berlin als Schriftsteller. † 20. September 1898 das.

Der alte Derfflinger. 356.
Der alte Zieten. 357.
Seydlitz. 358.

**Francke** (Aug. Hermann). * 22. März 1663 zu Lübeck, 7. Jan 1692 Prof. der Theologie in Halle a. S. † 8. Juni 1727 das. Begründer d. nach ihm genannten Waisenanst., Führer der Pietisten, trefflicher Pädagog.

Spruch. 431.

**Freiligrath** (Ferdinand). * 17. Juni 1810 in Detmold; Kaufmann, seit 1851 in

Londan, seit 1868 in Stuttgart. † 18. März 1876 in Kannstatt.

Wittekinds Ende. 78.
Löwenritt. 333.
Der Tod des Führers. 355.
Die Auswanderer. 407.
Aus dem schlesischen Gebirge. 410.
O lieb', solang du lieben kannst. 45.
Die Tanne, I. II. 160.
Die Trompete von Gravelotte. 164.
Hurra, Germania! 224.
„Prinz Eugen, der edle Ritter." 446.

**Friedländer** (Ludw.). * 24. Juli 1824, zuletzt Prof. d. klass. Philol. u. Geh. Reg.-Rat in Königsberg, lebt jetzt in Straßburg i. E.

Die Lehrer in Rom und die römische Jugenderziehung. 136.

**Fröhlich** (Abraham Emanuel). * 1. Febr. 1796 zu Brugg im Kanton Aargau; 1827 Prof. der deutschen Literatur an der Kantonsschule zu Aarau, 1836 Rektor an der Bezirksschule daselbst. † 1. Dez. 1865 zu Gebensdorf (Aargau).

Glauben. 302.
Vorsicht. 302.
Stilleben. 303.
Die Nützlichen. 303.
Einträglichstes. 303.
Lebensworte. 303.
Stadtleben. 303.
Ellengröße. 303.
Turnen. 303.

**Funke** (Jos.). * 27. Okt. 1800 auf dem Amthause bei Lüdinghausen i. Westf., war seit 1844 Appellationsgerichtsrat in Köln.

Die Linde. 185.

**Furchau** (Ad. Friedrich). * 22. Febr. 1787 zu Stralsund, seit 1814 Prediger an der St. Jacobi-Kirche zu Stralsund. † 20. Juni 1868 daselbst.

Hans Sachs auf der Wanderung. 15.

**Furrer** (Konrad). * 5. Nov. 1838 zu Zürich, seit 1876 Stadtpfarrer in Zürich, seit 1879 Dr. theol. und seit 1886 Kirchenrat des Kantons Zürich.

Tyrus. 95.

**Geibel** (Emanuel v.) * 18. Okt. 1815 in Lübeck; 1852 Professor in München, seit 1868 wieder in seiner Vaterstadt, wo er am 6. April 1884 †.

Zigeunerleben. 322.
Das Negerweib. 331.
Ich sah den Wald sich färben. 391.
Gudruns Klage. 405.
Volkers Nachtgesang. 406.

Sprüche. 432.
Der Mai ist gekommen. 19.
Von des Kaisers Bart. 129.
Morgenwanderung. 212.
Hoffnung. 322.
Das Lied von Düppel. 335.
Friedrich Rotbart. 345.
Der Zigeunerbube im Norden. 367.
Gebet. 427.
Am 3. Sept. 1870. 517.

**Gellert** (Christian Fürchtegott). * 4. Juli 1715 zu Hainichen im sächsischen Erzgebirge. † 13. Dez. 1769 als Professor in Leipzig.

[Ich hab' in guten Stunden. 30.]
[Wie groß ist des Allmächt'gen Güte. 32.]
Der Jüngling. 304.
Das Kutschpferd. 215.
Die beiden Wächter. 281.
Der Prozeß. 303.
Die Bienen. 367.
Der Hund. 397.

**Gerok** (Karl Friedr. v.). * 30. Jan. 1815 zu Vaihingen an der Enz, 1868—1889 Prälat und Oberhofprediger in Stuttgart. † 14. Jan. 1890 das.

Das letzte Stündlein. 395.
Das Mägdlein schläft. 400.
Das beste Kreuz. 77.
Gewitter. 145.
Es ist euch gut. 240.
Wie Kaiser Karl Schulvisitation hielt. 446.
Bei Straßburg auf der Schanze. 487.

**Giesebrecht** (Ludwig). * 5. Juli 1792 zu Mirow in Mecklenburg, machte die Freiheitskriege mit, seit 1816 Lehrer, 1852 Prof. am Gymnasium zu Stettin. † 18. März 1873 in Jasenitz bei Stettin, nachdem er 1866 in den Ruhestand getreten war.

Der Normann. 349.

**Göll** (Heinr. Hermann). * 27. Juli 1822 in Schleiz, seit 1858 Prorektor und Prof. am Gymnasium zu Schleiz. † 17. Sept. 1886.

Das Reisen im Altertum. 231.

**Görres** (Guido). * 28. Mai 1805 zu Koblenz, † 14. Juli 1852 als Schriftsteller zu München.

Rudolf von Habsburg. 322.

**Goethe** (J. Wolfgang v.). * 28. Aug. 1749 in Frankfurt a. M. † 22. März 1832 in Weimar als Minister.

Die Zeder. 45.
Motto. (Aus „Werthers Leiden".) 181.
Adler und Taube. 304.
Der Schatzgräber. 341.
Der Fischer. 348.
Aus „Reineke Fuchs". 369.

Aus „Hermann und Dorothea“. 384.
Wanderers Nachtlieder. 391.
Sprüche. 430. 431. 432.
Frühlings Auferstehung. 118.
Der Sänger. 174.
Erlkönig. 226.
Der getreue Eckart. 246.
Mignon. 304.
Legende vom Hufeisen. 335.
Die Krönung Josephs II. 460.
Sprüche. 465 e.

**Gotthelf** (Jeremias), Pf. für Albert Bitzius. * 4. Okt. 1797 zu Murten (Kanton Freiburg), seit 1832 Pfarrer zu Lützelflüh im Emmentale. † 22. Okt. 1854 daf.
Spruch. 431.

**Grimm** (Jakob). * 4. Januar 1785 in Hanau. Prof. in Göttingen u. Berlin. † 20. Sept. 1863 zu Berlin.
Spruch. 430.

**Grimm** (Wilhelm). * 24. Febr. 1786 in Hanau. Professor in Göttingen u. Berlin. † 16. Dez. 1859 zu Berlin.
Der Sperling und seine vier Kinder. 40.
Dornröschen. 50.
Hase und Igel. 53.
Der Schwanritter. 77.
Märchen von einem, der auszog, das Fürchten zu lernen. 23.
Sneewittchen. 148.
Die Rofstrappe I. II. 196.
Meister Pfriem. 257.
Die Elster und ihre Kinder 293.
Der Wolf und der Mensch. 473.

**Grimmelshausen** (H. J. Christoffel v.). * 1625 zu Gelnhausen in Hessen, † als bischöflich-straßburgischer Schultheiß in Renchen, Amt Oberkirch (Baden) am 17. August 1676.
Komm, Trost der Nacht, o Nachtigall. 389.

**Grube** (August Wilh.). * 17. Dez. 1816 in Wernigerode; Lehrer in Merseburg, Hauslehrer beim Grafen Arnim, seit 1866 priv. in Hard und Bregenz am Bodensee. † 28. Januar 1884 zu Bregenz.
Geschichte eines Wassertropfens. 221.
Ein norddeutsches Erntefest. 197.

**Grün** (Anastasius). [Anton Alexander Graf Auersperg.] * 11. April 1806 in Laibach. † 12. Sept. 1876 in Graz.
Deutscher Brauch. 319.
Die Martinswand. 184.

**Gude** (Karl). * 28. Febr. 1814 in Hasserode bei Wernigerode; Lehrer an der höheren Töchterschule in Magdeburg, z. Z. pensioniert.
Gemälde zu Schillers Taucher. 281.
Der Bürge des Möres. 132.
Der Sperling. 249.
Die Ameisen. 421.
Aus dem Norden. 433.

**Gutzkow** (Karl Ferd.). * 17. März 1811 zu Berlin. Schriftsteller. † 16. Dez. 1878 in Sachsenhausen bei Frankfurt a. M.
Spruch. 430.

**Hackländer** (Friedrich Wilh.). * 1. Nov. 1816 zu Burtscheid bei Aachen. Schriftsteller. † 6. Juli 1877 zu Leoni am Starnberger See.
Jerusalem. 272.
Konstantinopel. 301.

**Hagedorn** (Friedrich v.). * 23. April 1708 in Hamburg. Sekretär der englischen Handelsgesellschaft in Hamburg. † 28. Okt 1754 daf.
Der Fuchs ohne Schwanz. 301.
Der Hahn und der Fuchs. 301.
Johann der Seifensieder. 32.

**Haller** (Albr. v.). * 16. Okt. 1708 zu Bern. 1736 Professor der Medizin in Göttingen, seit 1753 wieder in Bern. † daf. 12. Dez. 1777.
Der Hahn, die Tauben und der Geier. 39.

**Harms** (Klaus). * 25. Mai 1778 zu Fahrstädt in Dithmarschen. † 1. Febr. 1855 zu Kiel als Propst.
Die Wiederkehr des Frühlings. 282.
Die Fülle des Sommers. 282.
Der Herbst ein Treiber. 283.
Sprüche. 466 l.

**Hebel** (J. Peter). * 11. Mai 1760 zu Basel, erzogen zu Hausen bei Schopfheim in Baden; 1808 Direktor des Lyceums, 1819 Prälat in Karlsruhe. † 22. Sept. 1826 auf einer Reise in Schwetzingen.
Der Schneider in Pensa. 18.
Drei Wünsche. 52.
Erklärung von Sprichwörtern. 288.
Der Sommerabend. 390.
Der Jenner. 397.
Der Abendstern. 21.
Der Maulwurf. 89.
Herr Charles. 45.
Der Winter. 176.
Betrachtungen über ein Vogelnest. 179.
Der Husar in Neisse. 212.
Ein gutes Rezept. 225.
Die Mutter am Christabend. 228.
Der Star von Segringen. 252.
Das Liedlein vom Kirschbaum. 264.

Das Spinnlein. 266.
Unverhofftes Wiedersehen. 280.
Das Habermus. 340.
Sonntagsfrühe. 350.
Seltsamer Spazierritt. 357.
Zwölf Rätsel. 379.
Die gute Mutter. 431.
Kannitverstan. 488.

**Heindl** (Johann Baptist). * 18. Nov. 1816 zu Neuburg an der Donau, 1840 Lehrer an der Taubstummenanstalt zu Dillingen, übernahm 1861 eine Knabenschule zu Günzburg a. D., trat 1878 in den Ruhestand. † 16. Febr. 1883 zu Augsburg.
Spruch. 432.

**Heine** (Heinrich). * 13. Dez. 1799 zu Düsseldorf. † 17. Febr. 1856 in Paris.
Gruben bei Klausthal. 247.
Das Ilsetal. 77.
Belsazer. 271.
Deutschland. 435.

**Hensel** (Luise). * 30. März 1798 zu Linum in der Mark Brandenburg. † 18. Dez. 1876 zu Paderborn.
Die Bäume. 392.
Aufforderung. 392.
Guter Rat 394.
Jesus in der Heiligen Schrift. 398.

**Herbart** (Joh. F.). * 4. Mai 1776 zu Oldenburg, 1808 Professor der Philosophie zu Königsberg, 1833 zu Göttingen. † 14. Aug. 1841 daſ.
Spruch. 432.

**Herder** (J. Gottfried v.). * 25. Aug. 1744 in Mohrungen in Ostpreußen. † 18. Dez. 1803 als Präsident des Konsistoriums in Weimar.
Der Weinstock. 42.
Die Morgenröte. 47.
Nacht und Tag. 47.
Der sterbende Schwan. 47.
Die Stimme der Tränen. 48.
Licht und Liebe. 49.
Das Kind der Barmherzigkeit. 49.
Der gerettete Jüngling. 314.
Der Tapfere. 314.
Der Eisteanz. 399.
Der Hirtenknabe (mit A. J. Liebeskind). 43.
Die Sprache des Umgangs. 103.
Das Kind der Sorge 181.
Drei Freunde. 320.
Der Rabe und die Taube Noahs. 409.
Sprüche. 465 d.

**Hesekiel** (George). * 12. Aug. 1819 in Halle a. S. Schriftsteller. † 26. Febr. 1874 in Berlin.
Ein Wort vom alten Blücher. 523.
Jeschke von Köpenick. 836.
Der 19. Juli 1870. 76.

**Hesiodus.** * zu Askra in Böotien. Berühmter epischer Dichter der Griechen. („Werke und Tage", „Theogonie".) In hohem Alter traf ihn, als er bei den Lokrern in Onoë verweilte, ein gewaltsamer Tod. Man setzt seine Lebenszeit etwa um 100 Jahre nach Homer in die Zeit des Beginnes der Olympiadenrechnung.
Spruch. 429.

**Heitner** (Hermann). * 12. März 1821 zu Leisersdorf in Schlesien; seit 1855 Professor der Kunstgeschichte an der Akademie in Dresden. † daſ. am 29. Mai 1882.
Athen. 265.

**Heydenreich** (K. Heinrich). * 19. Febr. 1764 zu Stolpen in Sachsen. 1789—1794 Prof. in Leipzig. † 29. April 1801 in Burgwerben bei Weißenfels.
Das letzte Abendläuten des alten Schulmeisters von Krondorf. 367.

**Hiecke** (Rob. Heinr.). * 16. Febr. 1805 zu Penig im Königreich Sachsen, 1829 Gymnasiallehrer in Merseburg; 1850 Gymnasialdirektor zu Greifswald. † 5. Dez. 1861 daſ.
Spruch. 430.

**Hoeck** (Karl). * 18. Mai 1793 zu Olber im Braunschweigischen. † 10. Januar 1877 als Oberbibliothekar an der Universität Göttingen.
Charakter des Augustus. 129.

**Hoffmann** (Heinrich Aug.) von Fallersleben. * 2. April 1798 in Fallersleben bei Braunschweig. Er wurde nach einem bewegten Leben 1. Mai 1860 Bibliothekar des Herzogs von Ratibor zu Corvey an der Weser. † 19. Jan. 1874 daſ.
Mein Lieben. 409.
Das Lied der Deutschen. 411.
Das Lied der Vögel. 28.
Abendlied. 126.
Mein Vaterland. 254.
Sehnsucht nach dem Frühlinge. 391.

**Hölderlin** (J. Christ. Friedrich). * 20. März 1770 zu Lauffen bei Heilbronn. † 7. Juni 1843 in Tübingen.
Die Nacht. 391.
[An den Äther. 94.]
Rückkehr in die Heimat. 235.

**Hölty** (Ludewig H. Chr.). * 21. Dez. 1748 in Marienſee bei Hannover. † 1. Sept. 1776 in Hannover.

Aufmunterung zur Freude. 394.
Elegie bei dem Grabe meines Vaters. 416.
Der alte Landmann und ſein Sohn. 130.
Frühlingslied. 447.

**Horatius** Flaccus (Quintus). * 8. Dez. 65 v. Chr. zu Venuſia in Apulien, der Freund und Günſtling des Mäcenas und Auguſtus. † 29. Nov. 8 v. Chr. zu Rom.

Spruch. 429.

**Horn** (Wilhelm Oertel). [W. O. von Horn.] * 15. Aug. 1798 zu Horn im Hunsrück, 1835 bis 1863 Superintendent in Sobernheim. † 14. Okt. 1867 in Wiesbaden.

Drei Tage und zwei Lieder. 28.
Der arme Musikant und ſein Kollege. 17.
Christoph Kolbheim. 156.

**Humboldt** (Alexander v.). * 14. Sept. 1769 zu Berlin. † 6. Mai 1859 ebendaſ.

Das Leben in der Schöpfung. 181.
Schilderungen aus Südamerika. 276.
Das Kreuz des Südens. 280.

**Jacobs** (Friedrich Chr. Wilh.). * 6. Oktober 1764 in Gotha. Oberbibliothekar daſelbſt. † 30. März 1847.

Der Holzhauer. 8.
Genoveva. 84.
Das Testament. 154.
Das Opfer kindlicher Liebe. 247.
Das Krankenbett. 373.

**Jäger** (Oskar). * 26. Okt. 1830 zu Stuttgart; Geh. Reg.-Rat und Dir. des Friedrich-Wilhelm-Gymnaſiums zu Köln b. 1. April 1901.

Die Stadt Athen im Zeitalter des Perikles. 106.

**Jean Paul**, ſ. Richter.

**Immermann** (Karl Lebr.). * 24. April 1796 zu Magdeburg; ſeit 1826 Landgerichtsrat zu Düſſeldorf, führte 1834 bis 1837 die Direktion des Theaters daſelbſt. † 25. Aug. 1840.

Goethes Haus in Weimar. 248.

**Juvenalis** (D. Junius). * um 57 n. Chr. zu Aquinum im Volskerlande. Er diente als Tribun im römiſchen Heere. † 130 n. Chr.

Spruch. 432.

**Kant** (Immanuel). * 22. April 1724 zu Königsberg, ſeit 1770 Profeſſor der Logik und Metaphyſik daſ. † 12. Febr. 1804 zu Königsberg.

Sprüche. 431.

**Kayſer** (Joh.). * 1. Okt. 1826 zu Geſeke, Profeſſor an der phil.-theol. Lehranſtalt zu Paderborn, Seminardirektor in Büren (Regierungsbez. Minden), Prov.-Schulrat in Danzig, jetzt Dompropſt in Breslau.

Das Meerleuchten. 214.

**Kellner** (Lorenz). * 29. Jan. 1811 zu Kalteneber b. Heiligenſtadt; ſeit 1848 Reg.- u. Schulrat in Marienwerder, ſeit 1855 in Trier; 1886 in den Ruheſtand getreten. † 18. Aug. 1892.

Spruch. 432.

**Kerner** (Juſtinus). * 18. Sept. 1786 zu Ludwigsburg in Württemberg. Oberamtsarzt zu Weinsberg. † 21. Febr. 1862.

Goldener. 55.
Kaiſer Rudolfs Ritt zum Grabe. 255.
Preis der Tanne. 266.
Der reichſte Fürſt. 397.
Der Wanderer in der Sägemühle. 409.

**Kinkel** (Joh. Gottfried). * 11. Aug. 1815 in Oberkaſſel bei Bonn, ſeit 1866 Prof. der Kunſtgeſch. in Zürich. † daſ. 13. Nov. 1882.

Petrus. 315.
Abendlied. 396.
Deutſchland über alles. 456.

**Kleiſt** (Ewald v.). * 7. März 1715 zu Zeblin unweit Köslin. † 24. Auguſt 1759 in Frankfurt a. O. (Kunersdorf).

Irin. 363.

**Kletke** (Hermann). * 14. März 1813 in Breslau, ſeit 1837 in Berlin als Redakteur tätig, † 2. Mai 1886.

Der Rattenfänger. 309.

**Klopſtock** (Friedrich G.). * 2. Juli 1724 in Quedlinburg. † 14. März 1803 in Hamburg. Zu Ottenſen (Altona) iſt er begraben.

Die frühen Gräber. 395.
Pſalm. 412.

**Knapp** (Albert). * 25. Juli 1798 in Tübingen, Archidiakonus in Stuttgart. † 18. Juni 1864 als Dekan daſ.

Cornelia. 330.
Der Bodenſee. 251.
Die Einladung. 410.
Xerxes. 420.
Die Mutter im Sarge. 432.

**Kohl** (Joh. Georg). * 28. April 1808 in Bremen. Seit 1863 Bibliothekar daſ. † 28. Oktober 1878 zu Bremen.

Bayeriſche Hochgebirgsdörfer. 256.
Die deutſchen Nordſeemarſchen. 229.

**Kopiſch** (Auguſt). * 26. Mai 1799 in Breslau. Maler und Dichter zu Potsdam. † 6. Febr. 1853 in Berlin.

Die Heinzelmännchen. 308.
Die Hiſtörchen. 338.
Der Trompeter. 163.
Der Schneiderjunge von Krippſtädt. 222.

**Krabbe** (Kaspar J.). * 20. Oktober 1794 zu Koesfeld. 1828—1845 Regierungs- und Schulrat zu Münſter. † 4. April 1866 daſ.

[Das Meer. 216.]

**Kriegk** (Georg Ludwig). * 28. Febr. 1805 zu Darmſtadt. † 28. Mai 1878 als Stadtarchivar in Frankfurt a. M.

Das Schulweſen im Mittelalter. 139.
Die Natur Italiens. 268.

**Krummacher** (Ad. Friedrich). * im Juli 1767 zu Tecklenburg (Weſtf.). † 4. April 1845 als Pfarrer in Bremen.

Die Reue. 43.
Das Kornfeld. 43.
Die Pfirſiche. 44.
Tod und Schlaf. 46.
Die Moosrose. 6.
Der Holunderstab. 134.
Der trübsinnige Sohn. 175.
Trost. 209.
Attalus und Meno. 218.
Die beiden Wege. 250.
Die Biene und der Schmetterling. 352.
Der Blinde. 405.
Winterlied. 459.

**Kugler** (Franz Theod.). * 19. Jan. 1808 in Stettin. 1833 Dozent a. d. Univ. Berlin, 1843 Geheimrat im Kultusminiſterium zur Beratung der Kunſtangelegenheiten. † 18. März 1858 zu Berlin.

Die konfiszierten Bayen. 21.
Rudelsburg. 447

**Lenau** (Nikolaus). [Nikolaus Franz Niembſch Edler v. Strehlenau.] * 13. Aug. 1802 in dem Dorfe Cſatád bei Temesvar (Ungarn). † 22. Aug. 1850 zu Oberdöbling b. Wien.

Die drei Indianer. 334.
Einem Knaben. 406.
Der Poſtillon. 407.
Die drei Zigeuner. 409.

**Leſſing** (Gotthold Ephr.). * 22. Jan. 1729 zu Kamenz. Bibliothekar in Wolfenbüttel. † 15. Feb. 1781 in Braunſchweig.

Äſopus und der Eſel. 37.
Der Affe und der Fuchs. 37.
Der Dornſtrauch. 37.
Die Geſchichte des alten Wolfes in ſieben Fabeln. 37.
Herkules. 39.
Die Sperlinge. 39.
Aus „Minna von Barnhelm“. 425.
Die Zerſtreuung. 372.
Zeus und das Schaf. 454.
Der Eſel und der Wolf. 455.
Der Rangſtreit der Tiere. 455.
Die Wohltaten. 455.

**Lichtenberg** (Georg Chriſtoph). * 1. Juli 1742 zu Oberramſtädt bei Darmſtadt. † 24. Febr. 1799 als Profeſſor der Phyſik an der Univerſität zu Göttingen.

Spruch. 430.

**Lingg** (Hermann). * 22. Jan. 1820 zu Lindau am Bodenſee. Von 1843 Militärarzt in Augsburg, Straubing und Paſſau, lebt zur Zeit als Schriftſteller in München.

Eudoxia. 326.
Heimkehr. 393.

**Linnig** (Fr.). * 24. Sept. 1832 zu Agidienberg bei Königswinter. Geh. Regierungs- und Prov.-Schulrat a. D. in Koblenz.

Der Ritter im Kampf mit dem Drachen. 297.

**Luther** (Martin). * 10. Nov. 1483 in Eisleben. † 18. Febr. 1546 daſelbſt.

Motto. 36.
Der Anteil des Löwen. 36.
Vom Hahn und den Perlen. 36.
Die Stadt- und die Feldmaus. 37.
Fraw Muſica. 414.
Spruch. 431.
Vom Wolf und Lämmlein. 10.
Vom Hunde im Waſſer. 10.
Vom Froſch und der Maus. 10.
Vom Kranich und Wolfe. 11.
Die Geſellſchaft mit dem Löwen. 11.
Sprüche. 467 p.

**Mager** (Karl). * 1. Jan. 1810 zu Gräfrath bei Solingen. 1841 Profeſſor in Aarau, 1848—1852 Direkt. des Realgymnaſiums zu Eiſenach. † 10. Juni 1858 zu Wiesbaden.

Spruch. 432.

**Martialis** (M. Valerius). * 1. März 40 n. Chr. zu Bilbilis in Spanien, lebte 64—98 n. Chr. in Rom und kehrte dann in die Heimat zu-

rück, wo er 102 n. Chr. †. Er verfaßte fünfzehn Bücher Epigramme satirischen Inhalts.
Spruch. 429.

**Masius** (Hermann). * 7. Jan. 1818 in Trebnitz bei Bernburg. Schuldirektor in Halberstadt u. Dresden. Seit 1862 ord. Professor der Pädagogik und Geh. Hofrat in Leipzig. † 22. Mai 1893 das.
Der Löwe. 199.
Die Vogelwelt. 93.
Meeresrauschen. 218.
Die Buche. 216.
Der Rabe. 223.
Die Obstbäume. 236.
Der Fuchs. 261.

**Matthisson** (Friedrich v.). * 23. Jan. 1761 zu Hohendodeleben bei Magdeburg. 1812 Intendant des Hoftheaters und Oberbibliothekar zu Stuttgart. † 12. März 1831 zu Wörlitz bei Dessau, wo er seit 1829 seiner Muße gelebt hatte.
Elegie. In den Ruinen eines alten Bergschlosses geschrieben. 415.

**Matzerath** (Chr. Jos.). * 28. Jan. 1815 zu Linnich bei Jülich. † 24. März 1876 als Regierungsrat a. D. zu Köln.
Lied vom Rhein. 394.

**Meißner** (Alfred). * 15. Okt. 1822 in Teplitz. Arzt in Prag. † 29. Mai 1885 zu Bregenz.
Eine Mutter. 342.

**Meißner** (Aug. Gottl.). * 3. Nov. 1753 zu Bautzen. † 18. Febr. 1807 als Konsistorialrat in Fulda.
Der Frühlingsschnee. 40.
Das Streitroß und die Ackergäule. 40.
Die Sonne und die Wolke. 420.
Der junge und der alte Wolf. 435.
Der Marder und die Tauben. 441.

**Milde** (Vincenz Eduard). * 17. Mai 1777 zu Brünn. 1800 zum Priester geweiht, 1805 Lehrer der Pädagogik an der Universität zu Wien, 1834 Fürst-Erzbischof der Wiener Diöcese. † 14. März 1853 zu Wien.
Spruch. 430.

**Mommsen** (Theodor). * 30. Nov. 1817 zu Garding in Schleswig. Seit 1857 Professor der alten Geschichte an der Universität in Berlin.
Pyrrhos 118.
Die Bodenwirtschaft bei den Römern. 235.
C. Julius Cäsar. 109.

**Monatsblätter** von H. Gelzer.
Begriffserklärungen. 285.

**Montaigne** (Michel de). * 28. Febr. 1533 auf dem Schlosse Montaigne zu Perigord in Frankreich. † 13. Sept. 1592 zu Bordeaux, wo er einige Jahre Maire (Bürgermeister) gewesen war.
Sprüche. 430. 432.

**Mörike** (Eduard). * 8. Sept. 1804 zu Ludwigsburg. 1834 Pfarrer zu Kleversulzbach. Seit 1843 lebte er in Mergentheim u. Stuttgart, wo er 1851 Prof. am Katharinenstift wurde. † 4. Juni 1875 in Stuttgart.
Die schöne Buche. 413.

**Mügge** (Theodor). * 8. Nov. 1806 in Berlin. Schriftsteller. † 18. Febr. 1861 daselbst.
Der Hering. 208.

**Müller** (Wilhelm). * 13. März a. St. 1790 in Petersburg, lebte als Direktor einer Schauspielertruppe in Rußland u. Pommern und widmete sich in Berlin der Schriftstellerei. † 20. April 1866 zu Charlottenburg.
Das Bild des Großvaters. 3.

**Neumaier** (Joh. Bapt.). * 13. Okt. 1809, Gymnasialdirektor in Tauberbischofsheim und seit 1868 Seminardirektor in Ettlingen (Baden). † 22. Jan. 1882 in Heidelberg.
Ignaz v. Felbiger. 170.

**Niebuhr** (Barthold Georg). * 27. Aug. 1776 zu Kopenhagen. Direktor der Bank in Kopenhagen. 1816 preuß. Gesandter in Rom. † 2. Jan. 1831 in Bonn, wo er akademische Vorlesungen hielt.
Die Fahrt der Argonauten. 59.
Sprüche. 429. 430.
Geschichten von Herkules. 474.

**Niemeyer** (Aug. Herm.). * 1. Sept. 1754 zu Halle a. S. 1784 ord. Professor der Theologie an der Universität zu Halle, 1785 Mitdirektor der Franckeschen Stiftungen, 1807 Kanzler der Universität. † 7. Juli 1828 zu Halle a. S.
Spruch. 432.

**Oken** (Lorenz). * 8. Aug. 1782 zu Bolsbach bei Freiburg; Professor der Naturwissenschaften in Jena. † 11. Aug. 1851.
Ameisenkriege. 206.

**Opitz** (Martin). * 23. Dez. 1597 in Bunzlau. † 20. Aug. 1639 in Danzig.
Spaziergang im Walde. 389.

**Osterwald** (Wilhelm). * 23. Febr. 1820 zu Bretsch bei Seehausen (Altmark); 1865 Gymnasialdirektor in Mühlhausen in Thüringen. † 25. März 1887 daselbst.
Der Choral von Kaiserslautern. 360.

**Overberg** (Bernard). * 1. Mai 1754 zu Höckel bei Osnabrück. † 9. Nov. 1826 als Ober-Konsistorialrat zu Münster.
Über die gute Schulzucht. 175.

**Pestalozzi** (Joh. Heinrich). * 12. Jan. 1746 zu Zürich. [Neuhof, Stanz, Burgdorf, Iferten.] † 17. Febr. 1827 zu Brugg.
Himmelsblau und Wolken. 42.
Spruch. 431.
Zieht den Hut ab, Kinder! es folgt ein Sterbbett. 58.

**Peter** (Karl). * 6. April 1808 zu Freiburg a. d. Unstrut, Rektor der Landesschule Pforta, sodann Honorarprofessor an der Universität Jena. † 11. August 1893 das.
Romulus und die Gründung Roms. 115.

**Pfizer** (Gustav). * 29. Juli 1807 in Stuttgart. Seit 1846 Professor am Gymnasium seiner Vaterstadt, trat er 1872 in den Ruhestand und † 19. Juli 1890 das.
Alexander d. Gr. bei den Malliern. 113.
Alexanders Jugend. 380.

**Phädrus** stammte aus der makedonischen Landschaft Pierien, war in seiner Jugend Sklave in der Familie des Augustus, dem er seine Freilassung verdankte, und wurde unter dem Kaiser Tiberius wegen mißliebiger Verse verfolgt. Seine Fabeln, 92 meist dem Äsop nachgebildete Tierfabeln, in 5 Büchern, haben den Zweck moralischer Besserung des Lesers im Auge, halten dabei aber einen heiteren Ton ein.
Spruch. 429.

**Plönnies** (Luise v.). * 7. Nov. 1803 in Hanau. † 22. Jan. 1872 in Darmstadt.
Die Trauerweide. 313.

**Pröhle** (Heinr.). * 4. Juni 1822 zu Satuelle bei Neuhaldensleben, Real-Gymn.-Prof. zu Berlin. † 28. Mai 1895 in Steglitz.
Sagen vom Kyffhäuser. 80.
Der Rabe auf dem Schloßhofe zu Merseburg. 82.

**Rabanus Maurus.** Er wurde 801 zum Diakonus geweiht, 15. Juni 822 nach dem Tode Egils Vorsteher der Klosterschule zu Fulda. 842 verließ er das Kloster und wurde 847 Erzbischof von Mainz.
Spruch. 429.

**Raumer** (Friedr. v.). * 14. Mai 1781 in Wörlitz bei Dessau. † 13. Jan. 1873 als Geh.-Rat und Professor in Berlin.
Die heilige Lanze zu Antiochien. 90.

**Richter** (Albert). * 7. Febr. 1838 zu Lichtensee (Sachsen), seit 1874 Dir. der ersten Bürgerschule in Leipzig, † 29. Juni 1897 das.
Deutsche Weihnachtsbräuche. 238.
Der Wartburgkrieg. 203.

**Richter** (Johann Paul Friedr.). [pf. Jean Paul.] * 21. März 1763 zu Wunsiedel. † 14. Nov. 1825 zu Baireuth.
Die Neujahrsnacht eines Unglücklichen. 1.
Der Tod des Jünglings auf dem Schlachtfelde. 296.
Das Leben im Sommer. 52.
Sprüche. 466 f.

**Rochow** (Eberhard v.). * 11. Okt. 1734 in Berlin. † 16. Mai 1805 zu Reckan.
Wie der Domherr Eberhard v. Rochow Volksschulen gründet. 164.

**Roth** (Karl Ludwig). * 7. Mai 1790 zu Stuttgart, 1850 Rektor des Ober-Gymnasiums zu Stuttgart, 1858 als Prälat emeritiert, D. theol. und Ephorus des Königl. Württembergischen Seminars zu Schönthal. † 6. Juli 1868 in Untertürkheim.
Die Lehrweise des Sokrates. 131.
Spruch. 431.

**Rousseau** (J. J.). * 28. Juni 1712 zu Genf. † 3. Juli 1778 zu Ermenonville.
Sprüche. 429. 431.

**Rückert** (Friedrich). * 16. Mai 1788 zu Schweinfurt. 1826 Prof. der orientalischen Sprachen in Erlangen; 1841 in Berlin Geh.-Rat und Prof. an der Universität. † 31. Januar 1866 auf seinem Landsitze Neuses bei Koburg.
Die Schildkröte im Brunnen. 302.
Chidher. 305.
Der beste Schüler. 344.
Die drei Gesellen. 360.
Hoffen und Bangen. 392.
Aus der Jugendzeit. 401.
Lobgesang. 414.
Die Gräber zu Ottensen. 417.
Barbarossa. 57.

Der Ursprung der Rose. 147.
Mitternacht. 147.
Adventlied. 321.
Gottesdienst. 338.
Abendlied. 408.
Drei Paare und Einer. 447.
Sprüche. 466 g.
Sechs Rätsel. 490.

**Ruß** (Karl). * 14. Jan. 1833 zu Baldenburg in Westpreußen, lebte seit 1862 in Berlin als Schriftsteller. † 29. Sept. 1899 das.
Der Wiedehopf. 195.

**Sachs** (Hans). * 5. Nov. 1494 in Nürnberg. † 19. Jan. 1576 das.
Der Müller und die Esel. 300.

**Salis-Seewis** (Joh. Gaudenz v.). * 26. Dez. 1762 auf dem Schlosse Bothmar b. Malans in Graubünden. Er war Schüler des blinden Dichters Pfeffel in der militärischen Erziehungsanstalt zu Kolmar. 1779 trat er in die französische Schweizergard. zu Versailles ein, kehrte aber 1788 in seine Heimat zurück. 1814 Oberst der Kanton-Miliz, 1821 Mitglied der Militär-Aufsichtsbehörde. † am 29. Jan. 1834 zu Malans.
Fischerlied. 408.
Herbstlied. 92.
Lied eines Landmanns in der Fremde. 253.
Spruch. 466 m.

**Schenk** (Eduard v.). * 10. Okt. 1788 zu Düsseldorf; 1828 Minister des Innern in Bayern. † 26. April 1841 als Regierungspräsident in Regensburg.
Die Palme. 306.

**Scheurlin** (Georg). * 25. Febr. 1802 zu Mainbernheim in Franken. Lehrer in Erlangen u. Ansbach, dann Geh. Ministerialsekretär in München. † 10. Juni 1872 daselbst.
Treuer Tod. 356.
Das Schneeglöckchen. 118.

**Schiller** (Friedrich v.). * 10. Nov. 1759 zu Marbach (Württemberg). † 9. Mai 1805 in Weimar.
Der Ring des Polykrates. 327.
Der Kampf mit dem Drachen. 345.
Der Gang nach dem Eisenhammer. 352.
Hoffnung. 390.
Schußscene aus „Wilhelm Tell“. 419.
Morgenlied. 17.
Herzog von Alba auf dem Schlosse zu Rudolstadt 1547. 33.
Die Bürgschaft. 34.
Der Alpenjäger. 39.
Die Teilung der Erde. 52.
Der Handschuh. 131.
Dreizehn Rätsel. 231a—n.
Der Taucher. 299.
Der Graf von Habsburg. 333.
Aus „Wilhelm Tell“, Scene auf dem Rütli. 353.
Wallenstein. 406.
Aus „Die Jungfrau von Orleans“. 425.
Sprüche. 465 f.
Aus „Wallenstein“. 517.

**Schlegel** (Aug. Wilhelm v.). * 8. Sept. 1767 zu Hannover. Prof. in Jena, Berlin, Bonn. † 12. Mai 1845 zu Bonn.
Die Charaktere in „Hermann u. Dorothea“. 284.
Arion. 435.

**Schleiermacher** (Friedrich E. Dan.). * 21. Nov. 1768 zu Breslau, 1809 Pastor an der Dreifaltigkeitskirche, 1810 Prof. der Theologie an der Universität zu Berlin. † 12. Febr. 1834 das.
Spruch. 429.

**Schreiber** (Aloys W.). * 12. Okt. 1761 in Kappel unter Windeck in Baden. 1805 Prof. an der Univ. Heidelberg, 1813 bad. Historiograph. † 21. Okt. 1841 in Baden-Baden.
Die Jungfrau auf dem Lurley. 83.
Der wilde Jäger im Odenwald. 310.

**Schubart** (Christian Friedr.). * 24. März 1739 in Obersontheim. Nach einem wechselvollen Leben wurde er 1787 Hofdichter, Direktor der Schauspiels und der deutschen Oper zu Stuttgart. † 10. Okt. 1791 das.
Der ewige Jude. 317.

**Schubert** (G. Heinrich v.). * 26. April 1780 zu Hohenstein im sächsischen Erzgebirge. Prof. der Naturwissenschaften in Erlangen, dann Vorsteher der Sammlungen in München. † 1. Juli 1860 zu Lauzorn b. München.
Der belohnte Totschlag. 13.
Aussicht vom Sinai. 28.
Das war für mich. 253.
Des Vaters Segen . . . 276.
Der Ölberg. 411.

**Schücking** (Christ. Bernh. Levin). * 6. Sept. 1814 zu Klemenswerth bei Münster, studierte Jura, unternahm weite Reisen, lebte zumeist auf Schloß Sassenberg bei Münster. † 31. Aug. 1883 zu Pyrmont. Siehe **Freiligrath.**

**Schwab** (Erasmus). * 3. Okt. 1831 zu Teſchen, 1872 Direktor des Gymnaſiums zu Olmütz, 1873 Direktor des Mariahilfer Real- und Obergymnaſiums zu Wien.
Die ungariſche Pußta. 259.

**Schwab** (Guſtav). * 19. Juni 1792 in Stuttgart. † 4. Nov. 1850 als Pfarrer und Oberſtudienrat daſelbſt.
Schiller in Lorch. 33.
Theſeus. 62.
Der Reiter und der Bodenſee. 348.
Das Mahl zu Heidelberg. 241.
Die Thurbrücke bei Bischofszell. 261.
Einnahme und Zerſtörung Trojas. 316.
Das Gewitter. 380.

**Schwartz** (Wilh.). * 4. Sept. 1821 zu Berlin, Geh. Reg.-Rat u. Gymn.-Direkt. a. D. daſ. † 17. Mai 1899 daſ.
Der preußiſche Pfiff. 27.

**Seneca** (L. Annäus). * um 4 n. Chr. zu Corduba in Spanien, unter Caligula Senatsmitglied, unter Claudius (41) nach Korſika verbannt; dann nach achtjähriger Abweſenheit von Rom 49 von Agrippina zurückgerufen, die ihn mit der Erziehung ihres Sohnes Nero betraute. 57 unter Nero Konſul und eine Zeitlang tatſächlicher Lenker des Staates, 65 wegen angeblicher Teilnahme an der piſoniſchen Verſchwörung zum Tode verurteilt. Er ſtarb, indem er ſich ſelbſt die Adern öffnete, 65 n. Chr. zu Rom.
Sprüche. 429.

**Seume** (Johann Gottfried). * 29. Jan. 1763 zu Poſerna bei Weißenfels. † 13. Juni 1810 in Teplitz.
Der Wilde. 324.
Sprüche. 465 b.

**Siebel** (Karl). * 13. Jan. 1836 in Barmen. Er widmete ſich zuerſt dem Kaufmannsberufe, wandte ſich aber bald ganz der literariſchen Tätigkeit zu. † 10. Mai 1868 in Elberfeld.
Begrabe deine Toten. 393.

**Simplicissimus**, vgl. Grimmelshauſen.
Komm, Troſt der Nacht, o Nachtigall! 389.

**Simrock** (Karl). * 18. Aug. 1802 in Bonn. Prof. an der Univerſität daſ. † 18. Juli 1876.
Druſus' Tod. 335.
Aus dem Nibelungenliede (Überſetzung). 375.

**Sokrates.** * 469 v. Chr. zu Athen. Als ſeine Eltern werden der Bildhauer Sophroniskus und die Hebamme Phänarete genannt. Er trieb zuerſt das Geſchäft ſeines Vaters als Bildhauer. In ſeinen ſpäteren Jahren widmete er ſich ganz der Philoſophie (ſ. S. 131); im Jahre 399 des Abfalls von der öffentlichen Religion und der Einführung neuer Götter, ſowie der Verführung der Jugend angeklagt, wurde er zum Tode verurteilt und trank, da er die Gelegenheit zur Flucht zurückwies, den Giftbecher.
Sprüche. 432.

**Spitta** (Philipp). * 1. Aug. 1801 zu Hannover. Superintendent in Burgdorf bei Celle. † 28. Sept. 1859 daſ.
Zum Tagewerk. 393.
Dieſem Hauſe iſt Heil widerfahren. 77.
Meine Seele iſt ſtill zu Gott. 156.
Der Herr kennet die Seinen. 216.
Frühlingswunder. 346.
Im Winter. 422.
Geduld. 430.

**Steffens** (Henrik). * 2. Mai 1773 zu Stavanger (Norwegen). † 13. Febr. 1845 als Profeſſor der Phyſik in Berlin.
Der Seeſturm. 226.

**Steinbach** (J.). * 5. Aug. 1833 zu Hennef im Siegtale, Redakteur zu Neuwied und Verfaſſer bekannter Reiſehandbücher.
Die Dechenhöhle. 252.

**Stöber** (Aug.). * 9. Juli 1808 in Straßburg. Von 1841—1871 Profeſſor am Kollegium und Oberbibliothekar zu Mülhauſen i. E. † 19. März 1884.
Graf Hugo v. Egisheim. 311.

**Stöber** (L. Adolf). * 7. Juli 1810 in Straßburg. Präſ. des reformierten Konſiſtoriums zu Mülhauſen i. E. † 8. Nov. 1892.
Preis der deutſchen Sprache. 411.
Der ſterbende Roland. 297.
Der Bäume Gedanken. 372.

**Strachwitz** (Moritz Graf v.). * 13. März 1822 zu Peterwitz i. Schl. † 11. Dez. 1847 zu Wien.
Meeresabend. 394.

**Sturm** (Julius). * 21. Juli 1816 in Köſtritz (Reuß j. L.), ſeit 1857 Pfarrer u. Kirchenrat daſ., trat 1. Okt. 1885 als Geh. Kirchenrat in den Ruheſtand. † 2. Mai 1896 in Leipzig.

Wie schön leuchtet der Morgenstern. 528.
Menschenlos. 394.
Rat des Vaters an seinen Sohn. 1.
Vor Blüchers Statue. 395.
Der Bauer und sein Kind. 425.
Schwalbenlied. 429.

**Terentius** (P. Afer). * 185 v. Chr. zu Karthago, gelangte früh nach Rom, wo er Sklave eines Senators Terentius (Lucanus) wurde, der ihm die Erziehung eines Freien geben ließ und ihm die Freiheit schenkte. Nachdem er sechs seiner Komödien zur Aufführung gebracht hatte, begab er sich Studien halber nach Griechenland. Auf der Rückreise von dort starb er im Jahre 159 v. Chr.
Spruch. 430.

**Thomas** (Louis). * 14. Febr. 1815 zu Pegau, 1832 Lehrer zu Gottscheina, 1833 Lehrer zu Möckern, 1853 Bürgerschullehrer in Leipzig, von 1872 Direktor der Ratsfreischule in Leipzig. † 21. Okt. 1878 das.
Stiergefecht in Sevilla. 262.

**Tieck** (Ludwig). * 31. Mai 1773 in Berlin. † 28. April 1853 das.
Motto. 188.
Frühlings Wiederkehr. 400.

**Tschudi** (Friedrich v.) * 1. Mai 1820 zu Glarus. Präsident des Kantons-Schulrates in St. Gallen, wo er am 24. Jan. 1886 †.
Die Alpenrose. 183.
Die Gemse. 202.
Die Alpenherden im Hochgewitter. 58.
Das Waldkonzert der Alpenvögel. 99.
Die Wasserwelt der Alpen. 305.
Die Staublawinen. 423.

**Uhland** (Ludwig). * 26. April 1787 in Tübingen. Rechtsanwalt, Professor. † daselbst am 13. Nov. 1862.
König Karls Meerfahrt. 523.
Das Schloß am Meere. 332.
Der blinde König. 332.
Tells Tod. 335.
Die Kaiserwahl. 343.
Das Schifflein. 396.
Schwäbische Kunde. 29.
Siegfrieds Schwert. 47.
Die Kapelle. 49.
Das Glück von Edenhall. 137.
Klein Roland. 188.
Roland Schildträger. 190.
Schäfers Sonntagslied. 192.
Der gute Kamerad. 200.
Des Knaben Berglied. 206.
Einkehr. 281.
Künftiger Frühling. 304.
Die sanften Tage. 316.
Des Sängers Fluch. 358.
Die Rache. 375.
Lied eines Armen. 410.
Der Schenk von Limburg. 502.

**Uhlemann** (Max). Er war vom Sommersemester 1854 bis zum Wintersemester 1862/63 Privatdozent der Ägyptologie an der Universität zu Göttingen.
Ein ägyptisches Leichenbegängnis. 93.

**Unbekannter Verfasser**, s. Anonyme Verfasser.

**Usteri** (Johann Martin). * 12. April 1763 in Zürich. Idyllendichter. † als Ratsherr und Mitglied der Kantonsregierung 29. Juli 1827 zu Rapperswyl am Zürchersee.
Der Frühlingsbote. 402.
Der alte Baum. 178.
Rundgesang. 309.

**Vogl** (Johann Nepom.). * 2. Febr. 1802 in Wien. † 16. Nov. 1866 das. als Beamter bei den Niederösterreichischen Landständen.
Friedhofsgang. 350.
Die Sieger. 69.
Waldkonzert. 99.
Das Erkennen. 101.
Heinrich der Vogler. 330.

**Volz** (Berthold). * 30. Juli 1839 zu Rügenwalde. † 6. Dez. 1899 als Gymn.-Direktor zu Breslau. S. Wägner (Wilhelm).

**Voß** (Johann H.). * 20. Febr. 1751 in Sommersdorf (Mecklenburg), Rektor in Ottendorf und Eutin. † 29. März 1826 in Heidelberg.
Luisens Geburtstag. 364.
Sprüche. 466 h.
Der 70. Geburtstag. 494.

**Wägner** (Wilhelm). * 16. Sept. 1800 in Darmstadt, 1859 Pfarrer u. Kirchenrat in Keltenheim bei Alzey, † 4. Dez. 1886 das.
Römische Bilder. 120.
Der Untergang von Herkulanum und Pompeji. 267.

**Weber** (Georg). * 10. Febr. 1808 zu Bergzabern; seit 1848—1872 Direktor der höheren Bürgerschule zu Heidelberg. † 10. Aug. 1888 ebendas., nachdem er sich in den letzten Jahren ausschließlich geschichtlichen Studien gewidmet hatte.
Themistokles. 105.

**Welter** (Theodor Bernhard). * 4. Juni 1796 zu Münſter. † 28. Juli 1872 als Profeſſor am Gymnaſium zu Münſter.

Xerxes bei den Thermopylen. 103.

**Wernicke** (Karl). * 16. Sept. 1813 zu Berlin, Lehrer an der Eliſabethſchule in Berlin. † 16. Juni 1872.

Sittenverfall in Rom. 123.
Religion der alten Germanen. 243.

**Wieſe** (Ludwig). * 30. Dez. 1806 zu Herford. 1838 Prof. am Joachimsthalſchen Gymnaſium zu Berlin, 1852 Chef des höheren Schulweſens in Preußen zu Berlin. Er lebte, nachdem er 1875 als Wirklicher Geheimer Rat in den Ruheſtand getreten war, in Potsdam. † 25. Februar 1900.

Spruch. 431.

**Wolff** (Julius). * 16. Sept. 1834 zu Quedlinburg. Er lebt in Charlottenburg als Schriftſteller.

Die Fahne der Einundſechziger. 362.
Das neue Deutſche Reich. 516.

**Xenophon.** * 444 im attiſchen Demos Erchia. Er begründete ſeinen Ruhm als Führer der Zehntauſend nach der Schlacht von Kunaxa (Sept. 401). † 355 zu Korinth. Berühmter Geſchichtſchreiber.

Spruch. 432.

**Zedlitz** (K. A. Freiherr v.). * 4. Jan. 1731 zu Schwarzwalde bei Landshut. 18. Jan. 1771 bis 3. Jan. 1788 Leiter der Unterrichtsangelegenheiten in Preußen und Wirkl. Geh. Etatsrat. † 18. März 1793 auf ſeinem Gute Kapsdorf bei Schweidnitz.

[Briefe an E. v. Rochow. 165. 168.]

# I. Prosa.

## A. Erzählende Prosa.

### 1) Erzählungen.

#### 1. Die Neujahrsnacht eines Unglücklichen.

Von J. P. F. Richter.

Sämtliche Werke. Berlin 1826. Bd. XXXV (Briefe und bevorstehender Lebenslauf). S. 46.

Ein alter Mensch stand in der Neujahrsmitternacht am Fenster und schaute mit dem Blick einer langen Verzweiflung auf zum unbeweglichen, ewig blühenden Himmel und herab auf die stille, reine, weiße Erde, worauf jetzt niemand so freuden- und schlaflos war, als er. Denn sein Grab stand nahe an ihm; es war bloß vom Schnee des Alters, nicht vom Grün der Jugend verdeckt, und er brachte nichts mit aus dem ganzen reichen Leben, nichts mit als Irrtümer, Sünden und Krankheit, einen verheerten Körper, eine verödete Seele, die Brust voll Gift und ein Alter voll Reue. Seine schönen Jugendtage wandten sich heute als Gespenster um und zogen ihn wieder vor den hellen Morgen hin, wo ihn sein Vater zuerst auf den Scheideweg des Lebens gestellt, der rechts auf der Sonnenbahn der Tugend in ein weites, ruhiges Land voll Licht und Ernten und voll Engel bringt, und welcher links in die Maulwurfsgänge des Lasters hinabzieht, in eine schwarze Höhle voll heruntertropfenden Gifts, voll zielender Schlangen und finsterer, schwüler Dämpfe.

Ach, die Schlangen hingen um seine Brust und die Gifttropfen auf seiner Zunge, und er wußte nun, wo er war.

Sinnlos und mit unaussprechlichem Grame rief er zum Himmel hinauf: „Gib mir die Jugend wieder! O Vater, stelle mich auf den Scheideweg wieder, damit ich anders wähle!"

Aber sein Vater und seine Jugend waren längst dahin. Er sah Irrlichter auf Sümpfen tanzen und auf dem Gottesacker erlöschen, und er sagte: „Es sind meine törichten Tage!" — Er sah einen Stern aus dem Himmel fliehen und im Falle schimmern und auf der Erde zerrinnen. „Das bin ich", sagte sein blutendes Herz, und die Schlangenzähne der Reue gruben darin in den Wunden weiter.

Die lodernde Phantasie zeigte ihm schleichende Nachtwandler auf den Dächern, und die Windmühle hob ihre Arme drohend zum Zerschlagen auf, und eine im leeren Totenhause zurückgebliebene Larve nahm allmählich seine Züge an.

Mitten in den Krampf floß plötzlich die Musik für das Neujahr vom Turm hernieder wie ferner Kirchengesang. Er wurde sanfter bewegt — er schaute um den Horizont herum und über die weite Erde, und er dachte an seine Jugendfreunde, die nun, glücklicher und besser als er, Lehrer der Erde, Väter glücklicher Kinder und gesegnete Menschen waren, und er sagte: „O, ich könnte auch, wie ihr, diese erste Nacht

mit trockenen Augen verschlummern, wenn ich gewollt hätte — ach, ich könnte glücklich sein, ihr teuern Eltern, wenn ich eure Neujahrswünsche und Lehren erfüllt hätte!"

Im fieberhaften Erinnern an seine Jünglingszeit kam es ihm vor, als richte sich die Larve mit seinen Zügen im Totenhause auf; — endlich wurde sie durch den Aberglauben, der in der Neujahrsnacht Geister und Zukunft erblickt, zu einem lebendigen Jüngling, der in der Stellung des schönen Jünglings vom Kapitol sich einen Dorn auszieht, und seine vorige blühende Gestalt wurd' ihm bitter vorgegaukelt.

Er konnt' es nicht mehr sehen — er verhüllte das Auge — tausend heiße Tränen strömten versiegend in den Schnee — er seufzte nur noch leise, trostlos und sinnlos: „Komme nur wieder, Jugend, komme wieder!"

— Und sie kam wieder; denn er hatte nur in der Neujahrsnacht so fürchterlich geträumt; — er war noch ein Jüngling. Nur seine Verirrungen waren kein Traum gewesen; aber er dankte Gott, daß er, noch jung, in den schmutzigen Gängen des Lasters umkehren und sich auf die Sonnenbahn zurückbegeben konnte, die ins reine Land der Ernten leitet.

Kehre mit ihm, junger Leser, um, wenn du auf seinem Irrweg stehst! Dieser schreckende Traum wird künftig dein Richter werden; aber wenn du einst jammervoll rufen würdest: „Komme wieder, schöne Jugend!" — so würde sie nicht wiederkommen.

## 2. Eine Ohrfeige zur rechten Zeit.

[Verfasser unbekannt.]

Aus Karl Wagners Lehren der Weisheit und Tugend. Leipzig 1800. S. 248.

In einer der bedeutendsten Städte Norddeutschlands lebte ein Kaufmann, namens Müller, dem in letzter Zeit oft ein junger, wohlgekleideter Mensch begegnete, der ihn sehr freundlich, ja fast zutraulich grüßte. Herr Müller erwiderte den Gruß zwar gern; da er sich aber nicht erinnerte, den jungen Menschen je gesehen zu haben, so glaubte er, dieser verwechsele ihn mit jemandem, dem er vielleicht ähnlich sei. — Eines Tages nun war Herr Müller zu einem Freunde geladen, und als er zur bestimmten Zeit auf dem Landsitze desselben eintraf, fand er denselben jungen Mann schon mit dem Hausherrn in eifrigem Gespräch die schattigen Alleen auf und ab gehend. Er näherte sich den beiden, die ihn auch schon aus der Ferne bemerkt hatten. Der Wirt wollte nun seine Freunde einander vorstellen; aber der jüngere machte eine abwehrende Bewegung mit der Hand, indem er sagte: „Das ist nicht nötig; wir kennen uns schon viele Jahre." — „Ich glaube, Sie sind im Irrtum", nahm jetzt Herr Müller das Wort; „was mich betrifft, so habe ich allerdings seit einiger Zeit manchen freundlichen Gruß von Ihnen bekommen, aber außerdem sind Sie mir völlig fremd." — „Und doch bleibt es dabei; ich kenne Sie lange und habe mich sehr gefreut, Sie heute hier zu sehen und eine Gelegenheit zu haben, Ihnen meinen herzlichen Dank auszudrücken." — „Sie sprechen in Rätseln. Wie kann ich Sie zum Dank verpflichtet haben, wenn ich Sie gar nicht kenne?" — „Das ist allerdings eine alte Geschichte; aber wenn wir uns hier niedersetzen und Sie mir dann einige Augenblicke zuhören wollen, so glaube ich, werden Sie Sich meiner doch vielleicht noch erinnern. Es sind jetzt 17 Jahre her — ich war damals ein Knabe von 9 Jahren —, als ich auf meinem Schulwege darüber nachdachte, wie angenehm es sein würde, wenn ich zu dem Brot, das mir die Mutter zum Frühstück mitgegeben, auch einen Apfel hätte; meine Kameraden aßen oft so schöne, große Äpfel, und ich bekam nur selten Obst. Mit solchen Gedanken kam ich auf den Marktplatz, über den mein Weg führte. Da waren viele Körbe voll der auserlesensten Früchte, die mich so recht anlachten. Ich blieb unwillkürlich stehen, um sie zu betrachten. Die Eigentümerin hatte ihrer Ware den Rücken zugekehrt und sprach angelegentlich mit einer Nachbarin. Da kam mir so der Gedanke: sie wird es kaum bemerken, wenn du einen Apfel nimmst; sie behält ja eine große Menge noch. Leise

ſtreckte ich meine Hand aus und wollte eben ganz vorſichtig meine Beute in die Taſche ſtecken, als ich plötzlich eine derbe Ohrfeige bekam, daß ich vor Schrecken den Apfel fallen ließ. ‚Junge!‘ ſagte zugleich eine Stimme, ‚wie heißt das ſiebente Gebot? Nun, ich hoffe, daß es das erſte Mal iſt, wo du deine Hand nach fremdem Gut ausſtreckſt; laß es zugleich das letzte Mal ſein!‘ — Ich fühlte, daß ich ganz rot vor Scham geworden war, und wagte kaum die Augen aufzuſchlagen; doch aber ſind mir die Züge dieſes Mannes ebenſo unvergeßlich geblieben, wie die Begebenheit ſelbſt. — Anfangs war ich in der Schule ſehr zerſtreut; immer tönten mir in meinen Ohren die Worte wider, die ich gehört hatte. Mein Herz war ſo voll, ich hätte weinen mögen; am meiſten aber blieben meine Gedanken bei dem Schluſſe ſtehen: ‚Laß es zugleich das letzte Mal ſein!‘ Und ich nahm mir feſt vor: Ja, es ſoll gewiß das erſte und letzte Mal ſein! Aber auch lange nachher, wenn wir unſeren Katechismus aufſagten und der Lehrer fragte: ‚Wie heißt das ſiebente Gebot?‘ erinnerte mich das heftige Klopfen meines Herzens an jenen Morgen. Als ich nach einigen Jahren die Schule verließ, kam ich zu einem Handelsfreunde meines Vaters in Bremen aufs Comptoir; von dort ging ich ſpäter nach Südamerika. Es wird Sie nicht befremden, wenn ich ſage, daß die Verſuchungen, andere zu übervorteilen und ſo ſeine Hand nach fremdem Gute auszuſtrecken, für einen jungen Kaufmann nicht ſelten ſind. Auch für mich blieben ſolche Verſuchungen nicht aus; aber ſobald mir ſolche nahetraten, war es mir immer, als fühlte ich von neuem die Ohrfeige, und die Worte: ‚Laß es zugleich das letzte Mal ſein!‘ halfen mir alle derartigen Anträge zurückweiſen. Seit fünfzehn Monaten bin ich jetzt wieder in meiner Vaterſtadt, und mit innigem Dank gegen den Herrn darf ich ſagen, daß bei dem nicht unbedeutenden Vermögen, das ich mit herübergebracht habe, gewiß kein Pfennig fremden oder unrechten Gutes iſt.“

Der junge Mann hielt hier einen Augenblick inne; denn er war durch ſeine Erzählung ſichtlich ſelbſt ſehr bewegt worden; dann aber ergriff er die Hand des Herrn Müller und ſagte: „Erlauben Sie jetzt, daß ich dieſe Hand, die mir eine ſolche Wohltat erwieſen hat, recht dankbar drücken darf?“ — „Und erlauben Sie mir“, entgegnete Herr Müller, indem er mit Tränen im Auge ihn an ſich zog, „daß ich den Mann recht von Herzen liebhaben darf, der einer ſolchen Dankbarkeit fähig iſt und der im ſpäteren Leben ſo treu gehalten, was er als Knabe gelobte?“

## 3. Das Bild des Großvaters.

Von W. Müller.

Blüten und Früchte aus dem Garten des Lebens. Eine Reihe unterhaltender und belehrender Erzählungen von F. Adlfeld, W. v. Horn und W. Müller. Leipzig 1851. S. 158.

Zu den Zeiten unſerer Väter ſaß am hohen Tore von Danzig ein altes Mütterchen, namens Elſe, die in einer hölzernen Bude ein kleines Warenlager von Nürnberger Spielſachen, bunten Bilderbogen und einigem alten Gerümpel feilbot.

Die Bude war, wie das alte Mütterchen, ganz morſch und gebrechlich; denn Elſe war in derſelben ſchon als Kind geſchäftig geweſen; ſie ſaß hier als Braut, als junge blühende Frau, als Mutter. Sie trauerte hier als Witwe; ſie ſaß hier mit bleichem Angeſichte und rotgeweinten Augen, als ſie ihr letztes Kind begraben hatte. Alle ihre Freuden und alle ihre Schmerzen hatte ſie hier durchlebt, geduldig in Trübſal, dabei aber fröhlich in Hoffnung auf die Hilfe des Herrn. Nun aber wurden ihre letzten Tage immer trüber; denn nur ſelten blieb noch ein Käufer vor der kleinen Bude ſtehen, ja oft, ſehr oft mußte ſie ihr kleines Warenlager ſchließen, ohne einen Groſchen gelöſt zu haben. Da mußte ſie denn freilich darben und entbehren. Sie hatte zwar nie etwas vom Wohlleben geſchmeckt, aber immerdar doch ſoviel errungen, um des Leibes Leben von einem Tage zu dem andern friſten zu können.

Jetzt aber war ihre Not überaus groß geworden; denn ſchon ſeit drei Tagen hatte ſie auch gar nichts verkauft, und doch war die Miete für die kleine Kammer,

worin sie des Nachts schlief, fällig. Zwar machte ihr diese Schuld nicht gerade so großen Kummer; denn sie wohnte bei armen Leuten, die selbst den Mangel und die Not nur zu gut kannten und die deshalb mit der noch ärmeren Alten Nachsicht hatten bis auf bessere Zeiten. Aber der Mann, von dem sie die Spielsachen und die bunten Bilder bezog, war, obwohl reich, doch harten Herzens. Er hatte gedroht, wenn Else die für ihn unbedeutende Schuld nicht zahlen würde, ihr gerichtlich die Bude verkaufen, sie selbst aber in den Schuldturm sperren zu lassen.

So saß sie denn ganz sorgenvoll da, das Haupt gebeugt, die hageren Hände gefaltet in den Schoß gesenkt zu ihren stillen Herzensgesprächen. Draußen aber zwitscherte die Lerche recht fröhlich, denn der Frühling war gekommen; aber ihr ward immer weher ums Herz, und sie wünschte sich sehnlich dorthin, wo ihr braver Mann und ihre Kinder längst ruheten.

Da kam ein Mann dahergeschlendert, der störte sie in ihren Betrachtungen und Wünschen. Er war auch kein Jüngling mehr, denn sein Haar ergraute bereits; sonst war er aber noch ziemlich rüstig und kräftig. Was er war, das verriet seine Teerjacke und der breite, schwankende Gang, nämlich, daß er ein Seefahrer war. Er hatte die Arme übereinandergeschlagen und sah, wie es schien, befremdet und doch bekannt umher.

Nachdem er nun jeden Stein am Tore, jeden Sitz und jedes Gebäude lange gemustert hatte, fiel sein Blick endlich auf die Bretterbude und auf Frau Else. Da trat er näher und sprach: „Es hat sich doch manches in Danzig verändert! In dieser kleinen Bude saß einst eine muntere, junge Frau, von der ich als Schulknabe manchen Bilderbogen gekauft habe. Wo mag diese hingekommen sein?"

Die Alte lächelte wehmütig und entgegnete: „Lieber Herr, das kann doch niemand anders gewesen sein, als ich selbst, ich sitze hier schon über fünfzig Jahre".

Der Fremde fuhr mit der gebräunten Hand über die Stirn und rief: „Ja so, ich habe vergessen, daß auch ich gegen vierzig Jahre abwesend war. Die Zeit verändert viel; mancher meiner früheren Schul- und Spielgenossen ist wohl schlafen gegangen, und die da noch leben, werden den armen Matrosen nicht wiedererkennen, viele werden's auch nicht wollen. — Der Peter Braun, welcher früher in der Langgasse wohnte, ist nun auch wohl schon lange tot?"

„Selbst gekannt hab' ich ihn nicht, aber ich habe viel von ihm erzählen hören. Er starb im Spittel", entgegnete Else.

„Im Spittel?!" wiederholte der Unbekannte erschüttert.

„Der Mann hat ein hartes Schicksal gehabt", fuhr die Alte fort; „ihm war es auch nicht an der Wiege gesungen, daß er so sterben sollte. — Er war der Sohn von dem Bernhard Braun, der allgemein für einen sehr reichen Mann galt. Als er aber plötzlich starb, fand man weder Geld noch Geldeswert in seinem Nachlasse; wohl aber meldeten sich Gläubiger mit bedeutenden Forderungen. Peter Braun, um des Vaters ehrlichen Namen zu retten, bezahlte alle Schulden. Aber durch dieses Opfer verarmte er selbst so sehr, daß er es geschehen lassen mußte, daß sein noch unerwachsener Sohn als Schiffsjunge in die Fremde ging. — Nun war der alte Mann ganz allein. Er begann noch manches; aber nichts glückte ihm, und seine ehemaligen Freunde hatten sich von ihm abgewandt; die armen konnten ihm nicht helfen, die reichen wollten nicht. So geschah es denn, daß er krank und lebensmüde ins Spital gehen mußte."

Über das Gesicht des Unbekannten zuckte es jetzt finster wie eine Wetterwolke. Er wandte sich schnell, um in die Stadt zu gehen; aber noch einmal kehrte er um und fragte: „Wo liegt denn Peter Braun begraben?" — „Auf dem Armenkirchhofe", antwortete Else. Der Fremde schien diese Antwort erwartet zu haben, er senkte das trübe Auge. Da fiel sein Blick auf ein altes, verloschenes Ölgemälde, das im Hintergrunde der Bude hing.

„Was wollt Ihr für das alte Bild?“ fragte der Mann.

„Ich habe es“, entgegnete die Alte, „vor vielen Jahren in einer Versteigerung für ein Geringes gekauft. Es mag wohl nichts mehr wert sein; denn niemand hat es mir wieder abnehmen wollen, obgleich das alte Gesicht auf dem Bilde recht fromm und freundlich ausschaut. Gefällt es Euch, lieber Herr, so mögt Ihr selbst bestimmen, was Ihr dafür geben wollt. Ich bin mit jedem Gebote zufrieden.“

Der Unbekannte legte einen spanischen Taler auf den Tisch und griff nach dem Bilde. „Ach, lieber Herr“, rief die Alte kläglich, „ich kann Euch dieses Geldstück nicht wechseln, denn ich habe leider seit drei Tagen nichts eingenommen.“ — „Laßt es nur gut sein, Mütterchen“, versetzte der Unbekannte. „Ich bin freilich nur ein armer Teufel, der sich auch zur Aufnahme in irgend ein Spital melden kann; aber ich bezahle doch wohl mit dem letzten Taler das Bildnis meines Großvaters nicht zu teuer.“

Er lief davon, ohne auf einen Dank oder eine Antwort zu hören.

Else war anfangs mehr erschrocken, als erfreut. Sie konnte es nicht fassen, daß der Mann, der nach seiner Kleidung und seiner eigenen Rede selbst nur arm war, ihr für das alte, verloschene Bild einen Taler gegeben hatte. — Sie traute ihren eigenen Augen nicht und fürchtete immer, das blanke Silberstück würde ihr aus den Händen entschwinden oder mindestens in eine Kohle sich verwandeln. Aber wie sie den Spanier auch wandte, er verschwand und verwandelte sich nicht. Da schwoll ihr welkes Herz auf vor lauter Freude, die in brünstige Dankgebete überging zu ihrem treuesten Freunde, dem sie erst kurz vorher ihre Not geklagt, und in heiße Segenswünsche für ihren Retter, den er ihr gesandt hatte. Durch diese kleine Gabe war für jetzt beinahe ihre Not geendet. Der harte Gläubiger sollte den Taler auf Abschlag erhalten; denn sie hoffte, daß er damit sich wohl einstweilen begnügen werde. Vorhin, in ihrer Angst und Sorge, war ihr Auge trocken geblieben, und jetzt — weinte sie. Das waren Freudentränen; sie war am Höhepunkte des Dankopfers ihrer Seele.

Es war wohl noch nicht eine Stunde vergangen, da kehrte der Unbekannte zurück. Sein Gesicht war jetzt hochgerötet, als sei es vom Trunke oder vom Zorne erhitzt. Er stürzte in gewaltiger Hast auf die Bude der alten Else los und schlug mit seiner starken Faust so derb auf ihre Waren ein, daß er mit diesem Schlage sogleich einen Nürnberger Heuwagen samt den Rossen und ein ganzes Regiment bleierne Soldaten vernichtete. „Liebe Alte“, rief er in ungezügelter Freude, „tu mir den Gefallen und wirf deinen ganzen Plunder auf die Straße, daß sich die Jungen daran freuen, du sollst es fortan nicht mehr nötig haben, hier im Sturm und Unwetter zu sitzen. Heisa! das Glück ist bei mir eingekehrt! wundervoll und unverhofft! Vierzig Jahre habe ich diesem Glücke auf allen Meeren und in allen Zonen nachgejagt: es wandte mir überall den Rücken; siehe, da find' ich es plötzlich in der Heimat an dem Grabe meines Vaters. — Es war eine bittere, trübe Empfindung, als ich das Grab meines Vaters erblickte, so einsam, so wüst und so verfallen! Ach, ich war von dem guten Vater ausgezogen mit stolzen Hoffnungen. Reich wollte ich wiederkehren und sein im Alter pflegen. Es war aber alles anders gekommen; er ruhte in der Erde, und ich war ärmer zurückgekehrt, als ich ausgegangen war. Da hob ich das Bild des Großvaters, für das ich dir meinen letzten Taler gegeben, in die Höhe, um mich wenigstens an den gutmütigen Zügen zu erfreuen, die mich wilden Buben so oft angelächelt hatten. Aber unter meiner derben Faust, die Sonnenbrand, Eiseskälte und schwere Arbeit abgehärtet haben, brach der morsche Rahmen zusammen und — aus der Rückseite des Bildes fielen englische Staatspapiere heraus, deren Wert sich durch die Jahre und durch den fortlaufenden Zins verdoppelt hat. Der Großvater, der in seinen letzten Lebenstagen ängstlicher um Hab und Gut geworden, hatte wahrscheinlich dort alle seine Schätze verborgen,

ohne bei seinem so schnellen Tode meinem Vater darüber Nachricht geben zu können. In einem einzigen Augenblicke bin ich nun ein reicher Mann geworden! Jene Papiere sind mein rechtmäßiges Eigentum, denn bei diesem Schatze lag zugleich ein Testament, das mich im Fall des Ablebens meines Vaters zum Erben des Großvaters ernennt. Jetzt kauf' ich unser Haus in der Langgasse zurück, und in dem Prunksaale soll wieder, wie in früheren Zeiten, das Bildnis des Großvaters hängen. Mit meinem braven Vater kann ich nun freilich den Reichtum nicht teilen, wohl aber mit dir, du wackeres Mütterlein, das Gott erkoren hatte, solange meinen Schatz zu hüten. Komm mit mir, du sollst bei Jürge Braun gute Tage haben."

So geschah es auch. Mutter Else zog zu Jürge Braun, den man nun, wie einstmals seinen Großvater, nur den reichen Braun nannte — und sie führte ihm die Wirtschaft.

Jürge Braun hat aber auch sonst noch Wort gehalten, denn Else hatte bei ihm fürwahr gute Tage. Er sorgte für sie, wie für seine Mutter, und betrachtete sich stets als ihren größten Schuldner.

Beide ruhen nun längst in Frieden. Jürge Braun aber hat all sein Hab und Gut, was er in dieser Welt zurücklassen mußte, dem Spital vermacht, in welchem einst sein Vater verstorben war.

## 4. Die goldene Repetieruhr. (1846.)

Von B. Auerbach.

Schatzkästlein des Gevattersmanns. Stuttgart 1876. S. 84.

Ich war bald fünfzehn Jahre alt — so erzählt Meister Hämmerlein eine Geschichte aus seinem Leben —, ich war zu meinem Oheim in die Lehre getan und wünschte weiter nichts, als eine solide, pünktliche Sackuhr, wie solche die Gehilfen auch hatten. Das, meinte ich, sei erst recht das Zeichen der Großjährigkeit, wenn man selber sagen könne, wieviel es an der Zeit sei. Auch meine ich noch jetzt, man soll in dem Lebensalter, wo der Ernst des Daseins beginnt, jeden lehren, genau auf die Zeit achtzuhaben; denn die Zeit ist das kostbarste Gut, wenn man rechtschaffen damit haushält. Eine Uhr in der Tasche kann viel dazu beitragen, an Pünktlichkeit und sorgsame Benutzung der Zeit zu gewöhnen.

Es nahten die Weihnachtstage. Ich war schon alt genug, um zu wissen, daß der heilige Christ nicht, im buchstäblichen Sinne genommen, durch die Luft dahergeflogen kommt und allerlei Geschenke bringt; sondern daß der heilige Christ die innige Liebe, der gute Geist in den Herzen der Angehörigen ist, die still und heimlich darauf denken, einander zu erfreuen und zu beglücken. Wie selig geht da jedes umher, lauscht dem andern seine verborgenen Wünsche ab, kann sich fast nicht halten, das Geheimnis zu bewahren, und ist doch wieder voll Freude, im stillen zu wirken und zu schaffen für das andere. Wo das ist, kann man wohl sagen: Der heilige Christ schwebt in der Luft des Hauses.

Ich wünschte mir nichts sehnlicher, als daß mir zu Weihnachten eine Uhr beschert würde, ließ das aber keine Menschenseele merken; nicht einmal meiner immer seelenfrohen Schwester Minna sagte ich ein Wort davon. Wenn aber nur von einer Uhr die Rede war, zitterte ich vor Angst, und wenn man zufällig fragte: „Wieviel Uhr ist?" war ich ganz böse. Das muß mich verraten haben, denn hört, wie mir's ergangen ist.

Eines Mittags, als ich in die Stube trete und schon in der Tür stehe, höre ich, wie mein Vater der Mutter zuruft: „Frau, tue schnell Adams goldene Repetieruhr weg!" Er wickelt nun schnell etwas in ein Papier und versteckt es. Meine Mutter sah betrübt aus; ich aber tat, als ob ich gar nichts gesehen und gehört hätte, und war überaus heiter. Von nun an ging ich stolz durch die Straßen und meinte, jeder müsse mir's ansehen, welch eine goldene Zukunft ich habe.

Es tat mir nur leid, daß man die Uhren in der Tasche trägt, so verborgen und nicht offen vor aller Welt, und — so leicht wird man von der Eitelkeit betrogen — daß ich mir einredete, das wäre viel menschenfreundlicher, wenn man die Uhren öffentlich tragen würde, denn da könnten auch die armen Leute immer genau die Stunden und Minuten sehen.

Jeder, der es erschwingen und darauf achthaben kann, hat eine eigene Uhr verborgen in der Tasche, und diese richtet und stellt er von Zeit zu Zeit nach der großen Uhr am Kirchturme, und die Uhr am Kirchturme wird nach der Sonne gerichtet, deren Lauf Gott von Ewigkeit her festgesetzt, und die Menschen können weiter nichts tun, als Stäbe zur Sonnenuhr bilden, daran sie am Schatten den Stand des allgemeinen, ewigen Lichtes wahrnehmen.

Das ist auch ein Sinnbild und Gleichnis für unser ganzes inneres Leben. Das erkenne ich aber erst jetzt; damals hatte ich ganz andere Gedanken.

Vor dem Uhrenladen stand ich oft lange und verwies mein Federmesser einstweilen in die rechte Westentasche; die linke war zu Besserem vorbereitet. Wo das Herz ist, trägt man auch die Uhr, sagt' ich mir; da geht's drinnen und draußen: tick, tack. Ich träumte einmal, meine goldene Repetieruhr sei mir gestohlen worden, und als ich erwachte, war ich ganz glückselig, daß ich sie noch nicht besitze. Ich konnte mich nicht enthalten, meinen Kameraden mitzuteilen, was mich so voll Freude machte; ich sagte ihnen aber doch nicht das Ganze und sprach rätselhaft, daß sie am Weihnachtstage Augen und Ohren aufsperren würden, wenn ich ihnen etwas zeige, was selber zeigt und spricht. Ich lief davon, ehe sie erraten konnten, was es sei.

Nun war das Augen- und Ohrenaufsperren an mir!

Der heilige Abend kam und zündete seine Freudenkerzen an. Als sich endlich die beiden Flügeltüren öffneten, wir Kinder hereinstürmten und dann wieder vor Überraschung stillstanden, da pochte mein Herz gewaltig. Richtig, da lag für mich die Uhr auf dem Tische; aber — o weh! es war eine silberne! Meine Freude war wohl etwas abgekühlt, aber ich faßte mich und dachte: „Das schadet nichts, Silber ist viel weißer und dicker, und sie repetiert ja: bim, bam". — Ich drückte mit aller Kraft an dem Heber, aber er gab nicht nach, und es tönte auch nicht. Nun überkam mich ein fürchterlicher Schmerz: alles ist nichts! Ich legte still die Uhr wieder hin, verließ rasch das Zimmer, ging auf meine dunkle Kammer und weinte und wehklagte, daß es mir fast das Herz abstieß. Der Gedanke schoß mir durch den Sinn, ich wollte mich umbringen, weil ich keine goldene Repetieruhr bekommen, und ich weinte wieder um mein junges Leben, weil ich jetzt schon sterben müsse, da alle meine Hoffnungen zunichte geworden. Meine Mutter kam bald mit Licht, und als ich ihr meinen unbeschreiblichen Jammer über die Täuschung klagte, schüttelte sie den Kopf, preßte die Lippen zusammen und sah mich mit jenen treuen, lieben Augen an, die mir stets offenstehen, wenn sie der Tod auch längst geschlossen hat. Sie erklärte mir nun mein Unrecht: Ich wäre ja mit einer einfachen Uhr zufrieden gewesen, wenn ich nichts von einer goldenen Repetieruhr gewußt hätte; der Vater habe mich nur necken und mir dabei die Lehre geben wollen, wie man auch mit Geringerem, als man erwartet habe, sich freuen könne; ich solle nicht undankbar sein gegen Gott und die Menschen. So sprach sie in ihrem milden, herzinnigen Tone, und als ich mich ausgeweint hatte, ging ich mit ihr hinab in die Stube. Ich war nicht mehr traurig, aber auch nicht glücklich, und es war doch eine solide, pünktliche Uhr, die jetzt mein eigen geworden war. Als ich im Bette lag, kam der böse Geist wieder über mich; ich war so wild, daß ich aufstehen und die Uhr zum Fenster hinauswerfen wollte; es war mir aber doch zu kalt außer dem Bette, und ich blieb fein liegen.

Wie oft werden böse Taten nur durch kleine Umstände verhindert, und wir haben deshalb gar keinen Grund, auf unsere Tugenden stolz zu sein!

Vom Weinen und heftigen Gemütsbewegungen ermattet, ſchlief ich bald feſt ein und freute mich am andern Morgen beim Erwachen, daß meine Uhr ſo luſtig „tick, tack“ machte. Acht Tage lang wich ich meinen Kameraden auf Weg und Steg aus; ohne Not, denn ſie hatten meine Prahlereien bald vergeſſen. Ich trug die Uhr lange bei mir, ohne ſie jemand zu zeigen, und war damit in mir vergnügt.

Das ſind nun vierzig Jahre ſeit jenen Weihnachten; hier habe ich noch die Uhr, und ſie verfehlt keine Minute.

Seitdem habe ich die Worte meiner Mutter erſt recht verſtanden, oder auch ſelbſt die Wahrheit aus dieſer Geſchichte gefunden. Wenn ich einen Menſchen ſehe, der mit nichts, was ihm zukommt, recht glücklich ſein kann, weil er immer Stolzeres erwartet hatte, denke ich: „Der hat auch eine goldene Repetieruhr gehofft!“ — Wenn ich ein Geſchäft machte und mich ärgerte, daß es nicht ausſchlug, wie ich erwartete, ſage ich mir: „Haſt noch immer die goldene Repetieruhr im Kopfe?“ — Sehe ich einen Mann, der im Staate oder ſonſt hoch hinauswollte und nun ſich in Mißmut verzehrt, weil er in untergeordneter Stellung ſein Leben verbringen muß, möchte ich ihm zurufen: „Laß das Drücken am Heber, es macht nicht ‚bim, bam‘, ſei froh mit dem einfachen Zeiger!“ — Beobachte ich ein junges Ehepaar, dem das Leben wie eine ewige Hochzeit vorkam, und das ſich nun nicht dareinfinden will, wenn der Himmel nicht mehr voll Baßgeigen hängt, ſondern eine platte Alltagszeit kommt, das dann miteinander quengelt und keift, ſo denke ich ſtill bei mir: „Könnten dieſe doch die goldene Repetieruhr vergeſſen!“

Kurzum, in tauſend Fällen habe ich von dieſer Geſchichte gelernt. Die meiſten Menſchen können ſich nicht dareinfinden und ſind unglücklich, weil es eben anders gekommen iſt, als ſie ſich eingebildet hatten. Es ſchadet nichts, wenn man nach dem Vollkommenſten verlangt und trachtet, im Gegenteil, das ſpannt unſere Kraft erſt recht an; man muß ſich's dann aber auch wohl ſein laſſen, ſich begnügen und beſcheiden können, wenn uns minder Vollkommenes zuteil wird.

Ich bin zufrieden mit dieſer Uhr, und ſie iſt mir um keinen Preis feil.

## 5. Der Holzhauer.

Von F. Jacobs.

Die Feierabende in Mainau. Leipzig 1843. S. 40.

In der Tiefe des Thüringer Waldes wohnte nicht weit von der Landſtraße, die nach Nürnberg führt, ein armer Holzhauer in einer einſamen Hütte. Sein ganzes Eigentum war dieſe Hütte und ein Gärtchen, etwa ebenſogroß als ſie, und ein Stückchen Wieſe, ſo groß als das Gärtchen, und vier unerzogene Kinder, die ihm ſeine Frau hinterlaſſen hatte.

Dieſer Mann kam nun eines Abends — es war im Februar, und die Witterung ſchlecht — aus dem Walde, wo er Reiſig gehoit hatte, und ſein älteſtes Mädchen lief vor ihm her mit ihrem Bündel auf dem Rücken; und da das Kind quer über die Landſtraße kam, blieb es mit einem Male ſtehen und rief: „Vater, Vater, da liegt ein Pferd, das will ſterben, und ein Karren ſteht auch dabei, und niemand dazu“. — Der Holzhauer verdoppelte ſeine Schritte. Das Pferd war ausgeſpannt und lag in den letzten Zügen. Der Wagen, mit Leinwand überſpannt, ſtand quer im Wege, und in dem Wagen kauerten im Stroh zwei Kinder, ein Knabe und ein Mädchen, die vor Furcht und Kälte zitterten; denn ſie hatten wenig um und auf ſich, und das Wetter war rauh und naß.

Der Holzhauer ſah unter das Tuch, und die Kinderchen fürchteten ſich noch mehr, als das fremde, von der Sonne verbrannte Geſicht ſie anſchaute, und er mit ſeiner rauhen Stimme — ſie war ihm ſo natürlich und nicht böſe gemeint — fragte, wer ſie denn wären, und wo ſie herkämen, und was ſie hier auf der Landſtraße täten.

Die Kinder ſahen einander ängſtlich an und ſprachen leiſe zueinander, aber in einer Sprache, die der Holzhauer nicht verſtand. Sie hatten ihn auch nicht verſtanden, denn ſie waren aus Frankreich und wußten nur wenige deutſche Worte, mit denen nicht viel anzufangen war.

Da wäre nun ein anderer vielleicht fortgegangen und hätte die armen Welſchen ihrem Schickſale überlaſſen. —

Der Fall war ſchwierig. Das nächſte Dorf lag wenigſtens zwei Stunden entfernt. Sollte er die Kinder aus dem Wagen nehmen und ſie dorthin bringen? Was ſollte aus dem Wagen werden und den Habſeligkeiten darin? Und da doch wahrſcheinlich erwachſene Leute dazu gehörten, was würden dieſe geſagt haben, wären ſie zurückgekommen und hätten die Kinder nicht mehr gefunden?

Der arme Holzhauer, der es nicht über ſein Herz bringen konnte, die armen Kleinen in der fürchterlichen Nacht zu verlaſſen, rief, ſo laut er konnte, in den Wald hinein, daß die Kinder unter ihrem leinenen Verdecke wie Eſpenlaub zitterten; denn ſie meinten, es ſei ein Räuber und rufe ſeine Gehilfen und werde ſie dann totmachen, — als ob er das nicht auch hätte allein bewerkſtelligen können. — Aber niemand antwortete, als das Echo, das drei- und viermal von den Felſen widertönte. Und auch das klang fürchterlich. Dann machte ſich der Holzhauer zu dem ſtöhnenden Pferde, verſuchte es in die Höhe zu bringen und bot ihm eine harte Brotrinde an, die er bei ſich hatte. Auch das war umſonſt. Das arme, entkräftete Tier langte mit den Lefzen nach der gebotenen Nahrung, konnte ſie aber kaum damit feſthalten, geſchweige denn kauen oder hinabſchlucken.

Da war denn guter Rat teuer. Indem ſich aber der Holzhauer in den Haaren kratzte und die Mütze zur Seite ſchob, und ſein Mädchen mit den Händen unter der Schürze dabeiſtand und klapperte, ließ ſich längs der Landſtraße eine Stimme vernehmen, und die franzöſiſchen Kinderchen ſprangen in die Höhe und riefen: „Le papa, le papa!“ und gleich darauf kam ein hagerer, blaſſer Mann in einem langen, blauen Oberrocke; und nachdem er unter das Verdeck nach ſeinen Kindern geſehen hatte, die nun gleich wieder ganz beherzt wurden, grüßte er den Holzhauer in gebrochenem Deutſch und erzählte ihm, daß ſein Pferd die fürchterlichen Wege nicht habe überwinden können; auch ſei an dem Wagen ein Rad beſchädigt und könne keine hundert Schritte mehr dauern. Er ſei nach Hilfe gegangen, und nach einer Stunde Weges habe er endlich ein Haus gefunden, wo man ihm aber Hilfe und Aufnahme hartnäckig verweigert habe. Länger ſeine Kinder allein zu laſſen, habe er ſich nicht entſchließen können; und nun bliebe ihm nichts übrig, als hier den Morgen zu erwarten. — Hierauf ſagte er etwas auf Franzöſiſch zu ſeinen Kindern, worauf dieſe anfingen, bitterlich zu weinen.

Der Holzhauer ſtand an dem Wagen und ſah hinein, ohne etwas Rechtes zu denken, und dann wieder auf den fremden Mann, der an der andern Seite ſtand und die Erde anſtarrte und den Kindern ſeine Hand ließ. Da er nun ſah, wie die Kinder ſich ſo feſt an die Hand ihres Vaters hielten, als ob ſie fürchteten, er möchte noch einmal weggehen und ſie in der Wildnis allein laſſen: da ward ihm ganz warm und weich ums Herz, und er ſagte ohne weiteres Beſinnen: „Sie können ja mit mir kommen; mein Häuschen iſt nicht gar weit weg; und es iſt doch ein Obdach, wennſchon nicht viel drin iſt. Hier unter freiem Himmel können Sie ja doch die Nacht über nicht ſein mit den armen Würmern.“

Der Fremde bot ſtatt der Antwort dem Holzhauer die Hand, hob dann die Kinderchen aus dem Wagen und ſtellte ſie auf die Erde; dann zog er einen Manteiſack hervor, auf dem ſie geſeſſen hatten, lud ihn auf die Schultern — es war eben keine ſchwere Laſt — und nahm dann das kleine Mädchen wieder in die Höh' auf den Arm; der Knabe aber hing ſich an ſeine Hand. So traten ſie den Marſch an, der Holzhauer mit einem ſchweren Bündel Wellen auf dem Rücken, ſein Töchterchen mit ihrer kleinen Laſt neben ihm, dann die Fremden. Der Karren mit dem zerſchellten Rade und das ſterbende Pferd blieben indeſſen auf dem Wege zurück.

Ihr könnt leicht glauben, daß die drei anderen Kinder, die um den Tiſch herum bei ihrem Lämpchen den Vater ſchon lange erwartet hatten, große Augen machten, als die fremden Gäſte hereintraten, beſonders da die franzöſiſchen Kinder ſie gar nicht verſtehen wollten. Der Fremde, der ſehr traurig und krank ausſah, erzählte jetzt, er ſei ein Seidenwirker aus dem ſüdlichen Frankreich, habe ſeines Glaubens wegen ſein Vaterland verlaſſen und ſei auf der Reiſe nach Rußland, wo man ihm gute Verſprechungen gemacht habe. Unterwegs ſei ihm ſeine Frau erkrankt und nach einem langen und koſtſpieligen Krankenlager vor wenigen Tagen in Mellrichſtadt

begraben worden. Jetzt ſuche er Leipzig zu erreichen, wo er Geld zur Fortſetzung ſeiner Reiſe zu finden hoffe.

Das Anſehen des Mannes flößte Zutrauen ein, und ſein blaſſes, verfallenes Geſicht, auf dem der Kummer tiefe Furchen gezogen hatte, konnte man ohne Mitleiden nicht anſehen. Seine Kinder ſaßen ihm auf dem Schoß, und da gingen ſie auch nicht weg, als der arme Holzhauer einige geſottene Erdäpfel zum Abendeſſen aufſetzte.

Nachdem das Abendbrot eingenommen war, legten ſich alle auf die Streu; denn ein Bett war im ganzen Hauſe nicht. Der Raum war eng, das Lager hart; Schnee und Regen ſchlugen gegen die Fenſter, der Wind heulte, die brechenden Tannen im Wald krachten. Aber die Kinder ſchliefen ruhig neben ihrem Vater, auf jeder Seite eins, und ihre Händchen hatten ſie um ſeinen Nacken gelegt.

In derſelben Nacht aber wurde der fremde Mann krank und immer kränker, und ehe drei Tage um waren, war er tot. —

Jetzt war guter Rat teuer. Der arme Holzhauer konnte mit Not ſeine eigenen Kinder ernähren, ohnerachtet er ihnen nur trockenes Brot gab und Sonntags Erdäpfel, und nun waren ihm zu den vier ſeinigen noch zwei andere zugewachſen, die ſo ſchwach und zart gebaut waren, daß man gleich ſah, ſie würden für das harte Leben im Walde nimmermehr taugen. Hinterlaſſen hatte der Vater auch nichts. Von ſeinen Habſeligkeiten waren nach der Beerdigung nur einige Kleidungsſtücke für die Kinder übriggeblieben und der Karren mit dem zerſchellten Rade, der jetzt vor dem Hauſe ſtand. Das Brot und die Erdäpfel gingen zu Ende, der Winter aber noch nicht, und der Hunger der ſechs Kinder wurde mit jedem Morgen neu. Da ſaß nun der arme Mann eines Abends, als er das letzte Brot verſchnitten hatte und die Kinder nebeneinander auf der Streu ſchliefen, und ſann nach, wie er ſich weiterhelfen wollte; und da fiel ihm ein, daß ja der Forſtmeiſter ein reicher Mann wäre und keine Kinder hätte.

„Wie", dachte er, „wenn du mit den Kindern zu ihm gingſt? Vielleicht nähm' er ſie bei ſich auf und verdiente einen Gotteslohn, den er wohl nötig hat." Und mit dieſem Gedanken legte ſich der arme Holzhauer auf die Streu und ſchlief ein. Da kam es ihm wie im Traume vor, als führe er die fremden Kinderchen auf ihrem Emigrantenwägelchen über ein ſchönes Feld, das mit Saat über und über bedeckt war, wie ein grünes Tuch, und während des Fahrens ſchoß die Saat plötzlich auf, und waren gleich volle, ſchwere Ähren daran, die faſt über den Wagen zuſammenſchlugen; und er fing gleich an zu mähen und zu ernten, und der Überfluß war ſo gewaltig, daß er gar nicht Herr darüber werden konnte. Da wachte er über der großen Arbeit auf, und es wollte ſchon Morgen werden; und er dachte: „Das iſt wohl ein guter Traum; mein Vorhaben wird mit Gottes Hilfe gut ausſchlagen". Er ſtand alſo munter auf, rüttelte ſeine Pfleglinge aus dem Schlafe, wuſch ſie ſauber ab und ließ ſie ihre beſten Kleiderchen anziehen. Es war ein gar niedliches Pärchen. Und als es Tag wurde, und die Sonne recht freundlich hereinſchien, nahm er ſie an beide Hände und machte ſich auf den Weg nach dem Forſthauſe. Unterwegs hatte er immer ſeinen Traum in Gedanken und bedachte, wie er den gnädigen Herrn anreden und vornehmlich, wie er ihm danken wollte, wenn er die Waiſen auf- und angenommen hätte. Und es tat ihm ſchon recht weh im Herzen, wenn er dachte, daß er nun ohne die kleinen Engel würde nach Hauſe zurückkehren müſſen. Das waren nun freilich unnütze Sorgen, denn als der Mann mit ſeinen Waiſen an die Tür des Forſthauſes anklopfen wollte, fuhr dieſe auf, und der Forſtmeiſter trat mit der übergehängten Flinte und zwei großen Hunden hinter ſich heraus, um auf die Jagd zu gehen. Als er nun den Holzhauer zur Seite ſtehen ſah, fragte er ihn mit rauhem Tone, was er wollte; und der Holzhauer mit der Mütze in der Hand nahm ſich, ob er gleich erſchrocken war, doch zuſammen und trug die Sache mit kurzen und bündigen Worten vor. „Wenn ich Brot für ſie hätte", ſetzte er hinzu, „hätt' ich ſie bei mir behalten, und ſie wären mir faſt ſo lieb als meine eigenen Kinder. Aber Not bricht Eiſen."

Die beiden Kinderchen hingen währenddeſſen an den Händen des armen Mannes, vornehmlich das Mädchen; denn die rauhe Stimme des Forſtmeiſters, der in ſeiner Fuchsmütze auch wild genug ausſah, machte ſie bange, und ſie verkrochen ſich hinter ihrem Pflegevater, als die großen Hunde ſie murrend und kläffend beſchnupperten. Der Forſtmeiſter ergötzte ſich an der

Furcht der Kinder, aber ihre Not rührte ihn nicht; vielmehr ließ er den Mann hart an, daß er ihm ſolches Bettelvolk und Landſtreicher über den Hals brächte. Endlich ſchloß er ſeine Strafpredigt mit den Worten, er ſollte ſich auf der Stelle packen und nicht wieder bei ihm ſehen laſſen, ſonſt wolle er ihn mit den Hunden weghetzen und die ausländiſche Brut obendrein. — Und als er dabei die Stimme drohend erhob, fingen die Hunde an ſchrecklich zu bellen, und die Kinder ſchrieen kläglich und wußten in ihrer Angſt nicht, wo ſie ſich verbergen ſollten. — Der Forſtmeiſter ging darauf in ſeiner Fuchsmütze mit den beiden Jagdhunden brummend ſeines Weges und ließ die beiden Waiſen mit dem armen Thomas hilflos ſtehen. Dieſer aber verzagte darum nicht, ſondern dachte bei ſich: „Er, der den jungen Raben ihr Futter gibt, wird ja auch dieſe nicht verlaſſen“. Dann nahm er die Mütze ab und betete: „Unſer täglichBrot gib uns heute!“ — faßte die Kinder wieder bei den Händen und ging mit ihnen nach der andern Seite weg.

Wie er nun ſo, ſeinen Weg verfolgend, am Gartenzaun hingeht, öffnet ſich eine Tür, und die Forſtmeiſterin tritt heraus und ſagt recht freundlich zu ihm: „Guten Morgen, Thomas!“ Sie hatte hinter dem Fenſter geſtanden und alles mit angeſehen, und das Herz hatte ihr wehe getan bei dem Benehmen des Mannes; aber dareinzureden hatte ſie nicht gewagt, denn er war gegen ſie noch hartherziger, als gegen Fremde. Daher wartete ſie an der Gartentür, trat heraus, kauerte ſich nieder in den Weg und ſprach mit den Kindern in ihrer Sprache. Da nun dieſe vor Freude über die langentwöhnten Töne ihrer Heimat noch freundlicher woren, als gewöhnlich, ſoßte die gute, aber niedergedrückte Frau eine große Liebe zu ihnen, und ſie ging mit ſich zu Rate, ob ſie nicht bei ihrem Manne für die armen Waiſen bitten ſollte. Aber die Furcht behielt die Oberhond, und wahrſcheinlich wußte ſie auch, daß doch alles Reden verloren ſein würde. Darauf hieß ſie den Thomas warten und ging in das Hous zurück; und nach einiger Weile kam ſie wieder mit einem Körbchen voll Lebensmittel und einem Bündelchen Wäſche und Kleidungsſtücke — ſie hätte gern auch Geld dazu gelegt, aber das hatte ſie nicht; denn ihr geiziger Mann gab ihr keins in die Hände — und endlich auch einen Brief, den ſie in der Eile geſchrieben hatte. Dieſer Brief wor an ihre Schweſter gerichtet, die in Franken wohnte, und indem ſie dem Thomas den Brief gab, ſagte ſie: „Was ich nicht vermag, werden an meiner Stelle andere tun. Macht Euch auf, Thomas, mit dieſen lieben Kindern und bringt ſie meiner Schweſter. Dieſer ſind jetzt eben zwei Kinder an den Pocken geſtorben, und ſie iſt darüber in großer Traurigkeit. Mein Herz ſagt mir, daß ſie dieſe Waiſen nicht verſtoßen wird. Geht mit Gott! Von dem, was hier in dem Korbe iſt, könnt ihr unterwegs zehren. Gott weiß, daß mir das Herz ſpringen möchte, daß ich Euch vor eine andere Tür ſchicken muß.“ Darauf bückte ſie ſich wieder zu den Kindern und herzte und küßte ſie; und da ſie weggingen, blieb ſie in der Gortentür ſtehen und ſah ihnen nach ſo weit, als ſie konnte.

Thomas bedachte nun die Sache im Nachhauſegehen. „Zu Fuß“, dachte er, „können die Kinderchen den weiten Weg nicht machen. Wenn ich ſie hinfahren könnte! — Der Karren wäre ſchon da, und der iſt ſo ihr Eigentum und alleiniges Erbteil; aber wo ſoll ich das Pferd hernehmen und das teure Futter für das Pferd?“ Da wußte er nun keinen Rat und ging, darüber ganz tiefſinnig, in den Wald und kam auch ganz tiefſinnig wieder. Die Nacht konnte er auch nicht ſchlafen vor Sorgen, und das Mitleiden kam dazu, daß die Kinder ſoweit weg ſollten, wo er ſie vielleicht gar nicht wiederſähe. Als nun der Tag anbrach, dachte er: „Hinbringen mußt du ſie doch; Gott wird ihnen ja unterwegs forthelfen“. Und dann ſtand er auf und machte ſich, ohne recht zu wiſſen, warum, an das zerſchellte Rad, das auch in kurzem wiederhergeſtellt war. Nun ging er ins Amt, um ſich einen Paß zu holen.

„Wo ſoll die Reiſe hingehen?“ fragte der Amtsſchreiber. — „Ins Fränkiſche“, war die Antwort. — „Und der Ort?“ — „Nach Martinbach, wo die Schweſter von der Frau Forſtmeiſterin das Gut hat.“ — Wie der Amtsſchreiber das hörte, ſtand er auf und ging hinaus, und gleich darauf kam er wieder mit dem Amtmann ſelbſt herein. — „Ihr wollt nach Martinbach?“ fragte der Amtmann. — „Ja, Herr.“ — „Auf das Gut der Frau v. Stauſenberg?“ — „Ja, Herr Amtmann.“ — „Nun, das kommt ja wie beſtellt“, ſagte dieſer. „Der Landſtreicher, den wir hier ſitzen haben, hat ſein Pferd eben auf dem Gut geſtohlen. Da Ihr nun den Weg dorthin macht, ſo könnt Ihr das Pferd mitnehmen; ſo kommt Ihr ſchneller hin und verdient Euch noch ein Trinkgeld obendrein.“ — „Um dos Trinkgeld wär' es mir nicht ſowohl“, antwortete

Thomas, „ſo ich es auch gleich brauchen könnte; aber ich könnte das Pferd in das Wägelchen ſpannen. Das Ding iſt federleicht, und die Kinder wiegen auch nichts, und ſo kämen wir recht gut von hinnen.“ Darauf erzählte er dem Amtmann ſein ganzes Vorhaben; und wie dieſer nichts dagegen hatte, war er mit einem Male von allen ſeinen Sorgen los. Seine eigenen vier Kinder gab er ſeiner alten Schwiegermutter aufzuheben, damit ſie in der Zeit nicht zu Schaden kämen, und am andern Morgen, ſobald der Tag graute, ſchickte er ſich zur Reiſe an. Er hatte bald Heu in das Wägelchen gelegt und einen Sack mit Haſer, den er für das geſtohlene Pferd im Amthauſe bekommen hatte — „in Martinbach würden ſie es ſchon bezahlen“, ſagte der Amtsſchreiber —; auf dem Sacke ſaßen die beiden Kinderchen nebeneinander und ſahen unter dem Verdecke ſo froh und ſchön heraus, wie ein Paar neugemalte Heiligenbilderchen aus ihrer Blende. Thomas ging mit der Peitſche nebenher. Wer ihm begegnete, blieb ſtehen und betrachtete das fremde Fuhrwerk, noch mehr aber, was darin war; manche fragten ihn auch, wohin er denn dieſe Paradiesvögel zu Markte führe? Gegen Abend hatte er ſchon den dritten Teil des Weges zurückgelegt und hielt an der Tür eines Wirtshauſes, vor welchem ein ſchöner Reiſewagen ſtand. Thomas hob ſeine Paſſagiere herunter, ſpannte ſein Pferd aus und begab ſich damit in den Stall. Die Kinder aber wies er in die Wirtsſtube, wo ſie ſich auf die Bank am Ofen ſetzten; denn ſie waren doch ziemlich erfroren.

Sie hatten ſich eben hingeſetzt, ſo kam die Wirtin herein, betrachtete ihre kleinen Gäſte, und da ſie ihr wohlgefielen, tat ſie allerlei Fragen an ſie. Aber die Kinder verſtanden nur wenig davon und antworteten immer: „Nicht Deutſch verſtehen, Franzos ſein“ — worüber ſich die Wirtin noch mehr wunderte. Auf einmal entſtand im Hofe ein gewaltiger Lärm. Mehrere Stimmen ſchrieen durcheinander, unter denen die des Thomas die vernehmlichſte war. Jacques — ſo hieß der kleine Pflegling des Holzhauers — ſprang auf und lief nach dem Hofe; Margot — ſo hieß das Mädchen — aber blieb erſt in der Tür ſtehen und zitterte wie Eſpenlaub. Ein fremder Kutſcher hielt den ehrlichen Holzhauer mit der einen Hand am Kragen und ſchrie in einem fort: „Spitzbube, Pferdedieb! Das Pferd iſt mein!“ mit der andern aber riß er an dem Pferde. Thomas wollte das Pferd nicht fahren laſſen und ſchrie: „Mörder!“ Auf dieſes Geſchrei war alles im Gaſthofe zuſammengelaufen; alle ſprachen; einer tobte gegen den andern, und keiner verſtand den andern. Margot weinte; Jacques riß den fremden Kutſcher am Rock und ſchrie auf Franzöſiſch gegen ihn, ſo arg er nur konnte. Die Wirtin lief auch dazwiſchen. Endlich kam eine ſtattliche Dame in Trauer die Treppe herab. Dieſer gehörte der Kutſcher an, und nach mehrmaligem Rufen gelang es ihr endlich, von dem Wütenden gehört zu werden. Er ließ den Thomas fahren, aber das Pferd hielt er feſt. „Es iſt unſer Pferd“, ſchrie er, „und ich will den Kerl noch am Galgen ſehen, der es mir geſtohlen hat.“

Thomas, von einer Menge Bauern umringt, hatte nicht zur Verteidigung kommen können, ſolange ihn der Fremde würgte. Jetzt rief ihn die Dame in Trauer zu ſich und verlangte zu wiſſen, wie er zu dem Pferde gekommen, und warum er es für das ſeinige ausgäbe. — „Das habe ich nie geſagt“, antwortete Thomas, „und ſag' es auch jetzt nicht. Das Pferd iſt nicht mein, und der, dem es gehört, ſoll es nächſter Tage aus meinen Händen zurückbekommen, wie ich ja ebendeshalb unterwegs bin. Daß aber dieſer wütende Kerl über mich herfällt und es mir mit Gewalt wegreißen will und mich einen Dieb ſchilt, da ich doch ein ehrlicher Bote bin, das werde ich nimmermehr leiden.“ — Und nun erzählte er, wie er zu dem Pferde gekommen, und wohin er damit wollte.

Da traf es ſich denn nun artig genug, daß, wie ihr wohl ſchon gemerkt haben werdet, die Dame in Trauer eben die Edelfrau war, welcher das Pferd angehörte und der es der Thomas bringen ſollte. Das war nun auch recht gut, und unſer Holzhauer hätte, was das Pferd betraf, mit einem guten Trinkgelde, das ihm die Dame für ſeine Mühe ſchenkte, wieder nach Hauſe zurückkehren können. Er hatte ſich auch ſchon auf das beſte bedankt und wollte nach der Wirtsſtube umkehren, als ihm einfiel — was über dem gewaltigen Handel ihm ganz aus dem Sinne gekommen war —, daß er ſich ja eines ganz andern Geſchäftes wegen auf die Reiſe begeben habe. Er kehrte alſo wieder um, und mit der Mütze in der Hand ſagte er zu der Dame, die ſchon wieder die halbe Treppe hinauf war: „Ihr Gnaden, ſo geht das nicht; nehmen Sie Ihr Geld nur wieder.

Sie müſſen ſchon ſo gut ſein und mir das Roß noch auf zwei Tage borgen. Ich hab' es ja eben darum mitgenommen."

Der Dame kam das freilich ſonderbar vor. Sie ſtand ſtill, lächelte den Thomas an und forſchte nach ſeiner Meinung. Da fing er nun die ganze Geſchichte von vorn an, von dem Abend an, wo er die Kinder auf der Straße gefunden, wie er ihren Vater begraben und nun eine Mutter für ſie ſuche, da ſie für ſeine Wirtſchaft zu fein wären. Und am Ende der Erzählung zog er ein Tuch aus der Taſche und wickelte den Brief heraus, den die Oberforſtmeiſterin an ihre Schweſter geſchrieben hatte. Die Edelfrau aber war eben dieſe Schweſter. Thomas hielt ihr den Brief hin, ſo daß ſie die Aufſchrift leſen konnte. „Das iſt an mich", ſagte ſie. „Nun, wenn das Schreiben an Sie iſt", fuhr Thomas fort, „ſo werden Sie daraus ſehen, wie die Meinung iſt." Und dabei gab er ihr den Brief, und während ſie las, verwendete er kein Auge von ihr. Denn da ihm die Frau gefiel, ſo wünſchte er, daß ſie die Kinder zu ſich nehmen möchte. Die Kinder aber hatte er hinter ſich geſtellt. Die Dame überlief den Brief, ſchüttelte den Kopf, las ihn noch einmal und ſagte vor ſich: „Zwei fremde Kinder auf einmal — und Franzoſen!" Als ſie ihn aber zum zweiten Male heruntergeleſen hatte und an die Worte kam, wo es hieß: „Gott ſchickt ſie Dir zum Erſatz für die Engel, die er eben zu ſich genommen", da kamen ihr die Tränen in die Augen, und ſie ſagte ganz ſanft: „Nun, ſo zeigt mir doch Eure Pflegekinder". Da war Thomas froh, wie er ſie ſo freundlich ſah, und daß ihr die Tränen in den Augen ſtanden, und dachte: „Seht ſie nur erſt!" Und nun ſtellte er erſt Margot vor ſich, die gleich der Dame ſehr artig die Hand küßte, und dann auch den Jacques. — „Ach, die Engel!" rief die Kammerfrau, die danebenſtand. — Und die Dame war aber auch über den Anblick der ſchönen Kinder ſo betroffen, daß ſie gleich in ihrem Herzen entſchloſſen war. Sie ſah ſie noch ein Weilchen an, nahm dann eins ums andere in die Höh', küßte ſie und ſagte auf Franzöſiſch: „Ich will eure Mutter ſein". — Da kehrte ſich Margot zu ihrem Bruder und ſagte ganz erfreut: „Ach, Jacques, nun haben wir wieder eine Mutter gefunden!" — Jacques aber hielt den guten Thomas feſt bei der Hand, als ob ihm bange wäre, ihn zu verlieren. Die Sache war nun bald in Ordnung gebracht, und am folgenden Morgen trennten ſich beide Parteien. Thomas kehrte zu Fuße nach Hauſe zurück, und Frau v. Staufenberg im Wagen. Margot wurde mit hereingenommen; Jacques aber fuhr auf ſeinem Kütſchchen hinterdrein und ſah ſich noch oft nach dem guten Thomas um, der jetzt ſeine Schritte verdoppelte, um ſich die Betrübnis zu verlaufen und mit der guten Nachricht bald wieder zu ſeinen eigenen Kindern zu kommen.

## 6. Der belohnte Totſchlag.

Von H. v. Schubert.

Seebilder. Erlangen 1850 S. 423

Wenn ein ſonſt friedlicher Mann von einem Raubmörder angefallen wird, und er entledigt ſich desſelben, indem er ihn totſchlägt, dann hat er es der geſetzlichen Ordnung gemäß noch immer mit den Gerichten zu tun, welche den Beweis verlangen werden, daß der Erſchlagene wirklich ein Raubmörder, und daß durch ſeinen Anfall das Leben des Totſchlägers in Gefahr geweſen ſei. Dennoch iſt es vor wenigen Jahren geſchehen, daß ein Mann für einen verübten Totſchlag von ſeiner Obrigkeit nicht nur nicht zur Rechenſchaft gezogen, ſondern ſelbſt noch belohnt wurde, obgleich kein Menſch im ganzen Lande dem Erſchlagenen mit Sicherheit etwas Böſes nachſagen konnte.

Nun ja, ſo wird man ſprechen, der Erſchlagene wird ſich eben ſelber durch unbeſonnene, freche Reden oder durch die Papiere und geſtohlenen Güter, die man bei ihm fand, als ein Mordbrenner, als Kirchenräuber oder als radikaler Aufwiegler des Volkes kundgegeben haben. —

Ausgeſagt hatte der Erſchlagene nichts, und ich glaube, er hätte ſein Schweigen ſelbſt unter den Martern einer Folter nicht gebrochen; Papiere fand man keine und überhaupt außer einer Hand voll überreifer Hagebutten nichts Beſonderes bei ihm; für einen Mordbrenner hätten ihn wohl ſelbſt ſeine ärgſten Feinde nicht ausgegeben;

Kirchenräuber war er ebensowenig, ja man darf mit gutem Grunde vermuten, daß er niemals in seinem Leben eine Kirche betreten hatte; einen Volksaufwiegler konnte man ihn auch nicht nennen, obgleich er vielleicht von manchen kommunistischen Gesinnungen nicht freizusprechen war.

Aber, so wird man weiter fragen, in welchem barbarischen Lande der Türken oder Heiden hat sich ein solch himmelschreiendes Unrecht zugetragen?

Nicht in der Türkei, noch bei den Heiden ist es geschehen, sondern in einem ganz guten christlichen Lande, unter den Augen einer sonst mit Recht als mild gepriesenen Regierung, und der geneigte Leser soll sogleich erfahren, wo und wie sich die Sache zugetragen hat.

In ein Landgericht des Oberetsch-Kreises in Tirol trat an einem nebligen Winterabend, als schon Licht angezündet war, ein Mann herein, mit verstörten Mienen, in der Hand eine Holzaxt haltend, welche, wie die Hände und das zerfetzte Gewand des Mannes, stark mit Blut befleckt war, von dem man nicht wissen konnte, ob es aus seinem eigenen, an vielen Stellen verwundeten Körper oder aus einem fremden geflossen sei. Doch er selber ließ hierüber keinen Zweifel, indem er mit lauter Stimme ausrief: „Ich, Herr Landrichter, habe ihn erschlagen, und mein Ortsvorstand kann es bezeugen, daß es kein anderer getan hat als ich!"

„Wie?" rief der Landrichter, indem er vom Stuhle aufsprang, „du hast einen erschlagen?" — Auch der Schreiber war aufgestanden und trat dem Manne näher; der Gerichtsdiener stellte sich, um ihm die Flucht abzuschneiden, vorsichtig zwischen diesen und die Tür. Man betrachtete jetzt den Totschläger genauer und erkannte in ihm einen armen Weber und Tagwerker aus Burgeis, zwischen Mals und Nauders. Wahrhaftig, wenn dieser sich nicht selbst als Mörder angegeben hätte, kein Mensch wäre auf den Gedanken geraten, ihn für einen zu halten; denn seinen schwachen Gliedern und eingefallenen Wangen sah man nur zu sehr die meist sitzende Lebensart und die nahrlosen Zeiten an, und von seiner Kampflust hatte man auch niemals etwas gehört. Vielmehr wußte jeder, der den Weber kannte, daß sich dieser, wenn in seiner Gegenwart etwa an einem öffentlichen Ort ein Streit ausbrach, sogleich auf und davon machte, weil, wie er zu sagen pflegte, ihm, wenn er streiten hörte, gar leicht die Galle überlaufe und seine Suppe ihm dann bitter schmeckte.

„Wann und wo", fragte der Landrichter, „hast du den Totschlag verübt?" — „Heute nachmittag, auf dem Berge ob dem Kloster", antwortete halblaut der Weber, den die strengen Mienen und die mit starker Stimme ausgesprochene Frage des Landrichters in Schrecken setzten. „Und nicht wahr, Herr Landrichter", fuhr er in bittendem Tone fort, „das Totschlagen gilt vor Gericht ebensoviel als das Totschießen?"

Der Landrichter, ohne sich durch die letzteren Worte des Webers irremachen zu lassen, fragte, indem der Schreiber das ganze Verhör zu Protokoll nahm, weiter: „Wo hast du den Körper des Erschlagenen liegen lassen?"

„Unten auf meinem Holzschlitten", antwortete ganz unbefangen der Mörder, „denn er ist so schwer, daß ihn kaum zwei Mann zur Treppe heraufstragen könnten."

Während der Mörder dieses aussagte, trat der zweite Gerichtsdiener herein: „Herr Landrichter, sollen wir den Bären nicht von der Haustür hinweg in den Hof schieben? Es läuft gar soviel Blut von ihm heraus und beschmutzt uns das Steinplaster vor der Tür."

Jetzt ging dem Landrichter, sowie seinem Schreiber erst das rechte Licht auf über den Totschlag des Webers, den ein heftiger Schreck auf einmal zum Helden gemacht hatte, und aus dessen Munde, sowie aus dem Zeugnis des Ortsvorstandes und etlicher anderer Leute man nun den Hergang auf folgende Weise erfuhr.

Der Weber war hinaufgestiegen auf den Berg, um für das winterliche Bedürfnis seines kleinen Haushaltes einiges Gestrüpp von Zwergfichten zu fällen; da brach, als er mitten in der Arbeit war, ein großer Bär aus dem Gebüsch hervor.

Das Tier ſchien ebenſo erſchrocken über das plötzliche Begegnen eines Menſchen, als der Weber es war; dieſer aber ſtand einige Augenblicke vor Furcht erſtarrt dem aufrecht auf ſeinen Hinterfüßen ſtehenden Bären gegenüber. Doch gerade die Furcht war es auch, die ſeinem Arme jetzt ungewöhnliche Kräfte gab; er führte mit der Holzaxt einen ſo glücklichen Streich nach dem aufgeſperrten Rachen des Tieres, daß er dieſem den Unterkieſer zerſchmetterte. Nun kam dem erſchrockenen Manne die Beſinnung wieder und zugleich ein ungewöhnlicher Mut. Nach ſeiner Erzählung erkannte er erſt jetzt, daß der Feind, der da vor ihm ſtand, ein Bär ſei, und dachte ſogleich an die Prämie, welche auf Erlegung eines Bären geſetzt iſt. Beißen, das ſah er wohl, konnte ihn das Tier mit ſeiner zerſchmetterten Kinnlade nicht mehr; deſto gefährlicher aber hätte ihm der Druck ſeiner Tatzen werden können, wenn es ihm nicht gelungen wäre, dem Bären noch einige Wunden an der Bruſt und Schulter beizubringen. Aber noch war der Feind nicht beſiegt. Der Bär warf ſich zu Boden auf den Rücken und fing mit vorgehaltenen Tatzen die meiſten Streiche der Holzaxt auf oder minderte doch ihre Wirkung. Dennoch traf mancher Schlag ſo gut, daß das geängſtete Tier ſich zur Flucht bequemte; es wälzte ſich plötzlich auf dem Schnee des jähen Bergabhanges hinab in den unten vorbeifließenden Wildbach. Der Weber eilte ihm nach und ſprang mutig hinein in das kalte Waſſer, welches ihm faſt bis an den halben Leib ging. Während er hier den Kampf mit dem ſchwer verwundeten Bären fortführte, kam der Ortsvorſteher auf dem Fußſteige her, der am Waſſer hinführt. „Was tuſt du da?“ rief er dem Weber zu, „wie willſt du es inſtande ſein, einen ſolchen Bären zu erlegen? Laß ab, ich laufe hinein in den Ort und rufe etliche Scharfſchützen!“

Dem Weber wurde es jetzt bang um ſeine Prämie, welche in Gefahr ſtand, eine Beute der Scharfſchützen zu werden; er ſtrengte ſeine letzten Kräfte an, und es gelang ihm, dem ſchwimmenden Tiere einen Schlag auf die Stirn zu verſetzen, der dasſelbe ganz betäubte. Er zog es jetzt aus dem Waſſer heraus, wälzte es mit Mühe auf ſeinen Schlitten, band es da feſt und fuhr mit der ſchweren Laſt ſo ſchnell als möglich auf der Straße nach dem Landgerichte hinab.

Unterwegs begegneten ihm die Scharfſchützen ſamt dem Ortsvorſtand. „Sei kein Narr“, ſagte einer der erſteren, „und bilde dir eine Prämie ein! Es heißt ausdrücklich: ‚Schußgeld wird für einen Bären gezahlt‘, du aber haſt den deinigen nicht erſchoſſen, ſondern totgeſchlagen.“ — Der Bär ſchien ſich jetzt wieder ein wenig zu regen, einer der Scharfſchützen ſchoß ihn, ohne ſich an die Proteſtation des Webers zu kehren, durch den Kopf. Der Weber aber, als die Männer ihn verlaſſen hatten, ſetzte ſeinen Weg nach dem Landgerichte ſo eilig als möglich fort, nicht ohne bange Beſorgnis, ob man ihm ſeinen Totſchlag wohl ebenſohoch anrechnen würde als einen Totſchuß.

Ihm geſchah nach ſeinem Wunſche; es wurde ihm, als dem eigentlichen Erleger des Bären, die ganze Prämie ausbezahlt, und zwar, weil das Tier ein Matz (Männchen) war, 35 Kaiſergulden oder 42 fl. Reichswährung, was für den armen Weber, der im Kampfe manche Wunde von den Klauen ſeines Gegners empfangen hatte, ein wohlverdienter Schatz war. In dem Magen des erlegten Tieres fand man nur einige Hagebutten der Gebirgsroſe, — ein Futter, das dem armen Matz freilich nicht viel Kraft zum Kampfe hatte geben können.

## 7. Wie Hans Sachs auf die Wanderung geht.

Von *F. Furchau.*

Hans Sachs. Leipzig 1820. Abt. I (Die Wanderſchaft). S. 1.

Es war im Jahre 1511, als zu Nürnberg eines Morgens ſehr zeitig mit einem guten Reiſepäcklein und einem Wanderſtabe Haus Sachs aus ſeinem elterlichen Hauſe

hervortrat und seinem Vater und seiner Mutter Lebewohl sagte, um als Geselle des löblichen Schuhmacherhandwerkes seine Wanderung durch Deutschland anzutreten. Zu seiner Seite ging an jenem Morgen ein kunstreicher Leinweber und Liebhaber der ehemals holdselig genannten Meistersängerkunst, welcher zu Nürnberg wohnhaft war, Leonhard Nunnenbeck hieß und den jungen Sachs seit zwei Jahren im Reimemachen und im Singen mühsam und gestrenge unterwiesen hatte. Diese beiden schritten rüstig durch die noch leeren und dunkeln Gassen und waren bald auf den Weg gekommen, der von Nürnberg gen Regensburg führt; da erst brach Leonhard das Schweigen, indem er anhub: „Sehet Ihr, lieber Sachs, dort geht gerade die Sonne hinter dem grünen Büschlein hervor; kommt nur wieder rein und helle, wie die Sonne uns immer wiederkommt, die heute mit Euch so völlig strahlend auf die Wanderschaft geht".

„Lieber Sachs", sprach Meister Leonhard nach einer Weile ernsthafter, „es ist nun Euer 17. Frühjahr, und Ihr seid wie ein gut gezogenes Bäumlein; macht nur nicht, daß Eure Blätter hangen, wenn wir Euch wiedersehen". — Es war fast, als wenn bei diesen Worten die Stimme des guten Leonhard ein wenig zitterte; er faßte des jungen Gesellen Hand, und sie standen eine Weile miteinander.

„Aber Ihr seid ja von guter nürnbergischer Art, fleißig und fröhlich und dabei ehrsam, trotz Eurer Jugend, lieber Sachs!" redete darauf schneller fortschreitend Meister Leonhard; „wie sollte mir denn bange werden um Euer Fortkommen in der weiten Welt? Wenn nur nicht eines wäre, was ich Euch doch nicht verschweigen darf. Ich habe nun seit zwei Jahren als ein getreuer Meister nach meinen Kräften Euch in unserer holdseligen, fast schon verachteten Kunst des Reimens und Singens unterwiesen und hab' Freude an Euch erlebt; denn Ihr wußtet die Weise und Töne oft schon, noch ehe ich es Euch gelehret. Aber dabei habe ich denn auch ein verborgenes Fünklein in Euch glimmen sehen, was Euch in der Fremde leicht verderblich werden kann, wenn Ihr nicht recht sorglich über Euch selbst wachet. Euer Geist wird nämlich oft gar schnell von vielerlei Einbildung erhitzt, lieber Sachs; und da stellt Ihr Euch dieses oder jenes leicht anders vor, als es ist, gar lieblich und täuschend, aber sehet darüber nicht immer, wie es wirklich aussieht. Wenn Euch das nun auf der Wanderschaft begegnen sollte, so könnt Ihr in arge Stricke geraten und meint doch, Ihr wandelt im Lichte. Darum ist es mir noch immer nicht recht, daß Ihr nach Eurer schweren Krankheit das Handwerk anfinget. Ihr hättet nur bei den Büchern bleiben und Euch in Eurem Kämmerlein ungefährdet zu einem recht gelehrten Mann studieren sollen; das wäre Eure Sache gewesen, denn beim Studieren kommt es eben recht darauf an, nach der Beschreibung zu wissen, wie alles gewesen und geworden ist; da hättet Ihr, ohne in die weite und wilde Welt zu gehen, daheim gar tiefsinnig alles ergründen und beschreiben und als ein angesehener Doktor einst eine rechte Zierde unserer Singschule werden können."

Fast ungeduldig erhob bei diesen Worten der junge Wanderer seinen Wanderstab und rief, weit um sich blickend: „Schauet die Wonne des Maien, Berg und Tal, Wald und Heiden mit Laub und Gras so überflüssig geziert; schauet den Anger mit edlen Blümlein; schauet die kleinen Bienen hin und wider fliegen und den Tau aus den Blümlein saugen; schauet jedes Brünnlein sich ergießen und die Wellen in kleinen Wirbeln schlagen, dazu die fröhlichen Vögel singen. Wenn ich das alles betrachte, lieber Meister, so kann ich es denn nicht lassen, zu denken: wie ohn' Mangel, reich, schön, untadelig, wie vollkommen, wundersam und adelig sind, Herr Gott, deiner Hände Werk! und da fühl' ich es in meinen eigenen Händen und Füßen sich so mächtig regen, daß es mich dünket, der Mensch soll auch sein Handwerk treiben, und kommt mir dabei das Kämmerlein, von dem Ihr redet, so ängstlich vor, das Büchlein so staubig und all das Grübeln und Wissen so töricht und gebrechlich! Ei, seht doch die hochgelahrten Herren an, was ist es anders, als eitel Mundwerk, was sie vorbringen, und am Ende weiß es keiner, was sie recht

ausgerichtet haben. Ihr seid ein anderer Mann, Meister Leonhard. Wenn Ihr Euer fein Gewebe aufgespannt habt und fliegt das Weberschifflein in Euern Händen hin und wieder und habt mit vielen Künsten ein Blümlein nach dem andern hineingewebt und spannt nun Euer Händewerk aus dem Rahmen und schaut, wie glatt es fällt, so habt Ihr doch Freude daran, und wißt, was Ihr gemacht habt; Ihr könnt's dem Käufer mit freiem Mute feilstellen und habt Euch Euern Lohn sauer und redlich verdient. Nein, es ist kein eitel Ding um unser Händewerk; und wenn ich auch nur einen Stiefel fertig gemacht, wie's mich mein Meister gelehrt, und weiß, dort sitzt der Zug und dort der Stich, und hab' bei jedem meine eigenen Gedanken gehabt und stell' ihn vor mich hin und schau' ihn an, so lacht mir das Herz im Leibe, ich bin zufrieden mit meiner Arbeit; und ist an jedem Tage mein Werk fertig geworden, so kann ich auch an jedem Abend ruhig schlafen gehen; was ich etwa sonst noch den Tag über denke und dichte, das ist dann eine Zugabe zu dem Notwendigen, wie der Vogelgesang und das schöne Wetter, woran uns noch eine besondere Freude bereitet wird. Ich weiß wohl, als ich noch ein Knäblein war und lustig und behende in die Welt schaute, meinte mein Vater, ich sollte etwas Besseres werden, als er und Ihr: ich sollte es bei dem feinen Ende anfassen und kein Handwerk lernen. Ich ward in die Schule getragen, und da saß ich und grübelte. Aber es sollte doch anders sein; ich ward krank, daß ich mein bestes Wissen vergaß und nur ein Schuhmacher werden mußte. Das dank' ich dem lieben Gott und will ihm zu Ehren auf meinen selbstgemachten Schuhen umherwandern und zusehen, wie er es allenthalben in Berg und Tal eingerichtet hat, und was die Menschen dazu tun und sagen, daß ich auch etwas zustande bringen und sagen kann."

Bei diesen Reden kamen dem getreuen Meister Leonhard fast die Tränen in die Augen, wie es ihm sonst nicht eben geschah, und er nahm unwillkürlich die Kappe ab und sprach: „Sachs, Ihr seid ein wackerer Bursche, Ihr habt recht! Ein guter Mann, welcher fleißig und ordentlich seiner Hände Werk treibt, ist ein ehrenwerter und ein glücklicher Mann, und wenn er sich mit Vorbedacht in der Welt umsieht und Gaben zur Genüge hat, so wird er es auch schon lernen, sich mit anderen Dingen zu behelfen. Was soll ich es Euch verhehlen, Ihr wißt es ja auch ohnehin, ich habe von Euren kleinen Jahren her, als Freund Eures Vaters, Euch mit besonderer Liebe und Freude angesehen, ich habe darauf Euer stilles und freudiges Wesen unablässig betrachtet, und da Ihr immer so fleißig gelernet habt und von so schönen und hohen Gaben seid, so bin ich schon lange mit großen Gedanken Euretwegen umgegangen. Unsere alte, holdselige Kunst des Reimens und Singens, in der mich mein Vater, getreulichen Andenkens, selbst noch unterwiesen, und der ich mich mein Leben lang ergeben, kommt immer mehr in Abnahme und Vergessen, ich sehe es täglich mit Trauer an den jungen Gesellen, und da bilde ich mir ein, als sollte die alte deutsche Kunst durch Euch wieder zu rechtem Ansehen gelangen. Viele Dinge sind eitel, mühsam und ermüdend, und ein gutes Lied mit Gesang, oder eine wohlgestellte Geschichte bleibt doch immer, was das Herz wieder ermuntert und den Geist erfrischt, wenn er sich verfangen und versessen hat; das sollte uns in keiner Zeit fehlen. Und darum, lieber Sachs, bleibet der guten Kunst des Reimens und Singens getreu! Wenn Ihr durch Städte und Länder wandert und der fremden und unbekannten Menschen viele trefft, so haltet Euch zu den Meistern und Gesellen, welche Liebhaber des Gesanges sind, und Ihr werdet stets getreue und sittsame Freunde haben, die Toren meiden, welche am Wege stehen, und auch noch manche andere Art der Künste und Geschicklichkeiten kennen lernen; suchet also mühsam diese edlen Freunde des Gesanges auf und lasset Euch keinen Fleiß verdrießen, sie zu entdecken, denn diese halten sich am liebsten in der Verborgenheit auf und fallen nicht lärmend ins Auge. Wenn Ihr in große und berühmte Städte kommt, so erkundiget Euch also fein fleißig nach den Schulen der Sänger, lernet ihre Weisen

und Lieder, und da Ihr des Schreibens schon ein so wohlerfahrener Meister seid, so schreibt das Anmutigste in ein Büchlein zusammen und bringet es als einen wohlgesammelten Schatz der Erfahrung von Eurer Wanderschaft mit heim; denn Erfahrung krönt den Meister in allen Dingen. Sollte ich es denn doch dereinst erleben, daß Ihr, auch als ein geringer Handwerksmann, unsere alte Kunst in Eurer Vaterstadt wieder zu Ehren brächtet, so wollte ich Gott danken, daß Ihr kein gelehrter Herr geworden, sondern bei Eurem Leisten geblieben seid."

Dem freudigen Wanderer ging das Herz auf bei allen diesen liebreichen Reden seines gütigen Meisters, und er gelobte, dessen Rat redlich zu befolgen. Und als sie nun unter solchen und anderen Reden noch eine Weile gegangen waren, zog der getreue Meister Leonhard ein Brieflein aus seiner Tasche und sprach: „Ihr wandert nun auf Regensburg zu; dort hab' ich mir vor Jahren einen redlichen und in allen Weisen und Tönen des damaligen Gesanges wohlerfahrenen Freund erworben, welcher Eures Handwerks ist und an welchen ich Euretwegen dies Brieflein gerichtet; tragt es zu ihm, so er noch am Leben ist, und gehabt Euch wohl! Walte es Gott mit Eurer Wanderschaft!"

Da drückte der getreue Meister Leonhard freudig dem lieben Wanderer das Brieflein rasch in die Hände und wandte sich zurück, daß der Morgenwind sein Gewand in flatternden Falten wieder gen Nürnberg trieb.

## 8. Der Schneider in Pensa. (1816.)

Von J. Hebel.

Sämtliche Werke. Karlsruhe 1832. Bd. III (Erzählungen des rheinischen Hausfreundes), S. 396.

Ein rechtschaffener Kalendermacher, zum Beispiel der Hausfreund, hat von Gott dem Herrn einen vornehmen und freudigen Beruf empfangen, nämlich, daß er die Wege aufdecke, auf welchen die ewige Vorsehung für die Hilfe sorgt, noch ehe die Not da ist, und daß er kundmache das Lob vortrefflicher Menschen, sie mögen doch auch stecken, fast wo sie wollen.

Der Schneider in Pensa, was ist das für ein Männlein! Sechsundzwanzig Gesellen auf dem Brett, jahraus, jahrein für halb Rußland Arbeit genug, und doch kein Geld; aber ein froher, heiterer Sinn, ein Gemüt, treu und köstlich wie Gold, und mitten in Asien deutsches Blut rheinländischer Hausfreundschaft.

Im Jahre 1812, als Rußland nimmer Straßen genug hatte für die Kriegsgefangenen an der Beresina oder in Wilna, ging eine auch durch Pensa, welches für sich schon mehr als einhundert Tagereisen weit von Lahr oder Pforzheim entfernt ist, und wo die beste deutsche oder englische Uhr, wer eine hat, nimmer recht geht, sondern ein paar Stunden zu spät. In Pensa ist der Sitz des ersten russischen Statthalters in Asien, wenn man aus Europa hereinkommt. Also wurden dort die Kriegsgefangenen abgegeben und übernommen, und alsdann weiter abgeführt in das tiefe, fremde Asien hinein, wo die Christenheit ein Ende hat und niemand mehr das Vaterunser kennt, wenn's nicht einer, gleichsam als eine fremde Ware, aus Europa mitbringt. Also kamen eines Tages, mit Franzosen meliert, auch sechzehn Rheinländer, badische Offiziere, die damals unter den Fahnen Napoleons gedient hatten, über die Schlachtfelder und Brandstätten von Europa, ermattet, krank, mit erfrorenen Gliedmaßen und schlecht geheilten Wunden, ohne Geld, ohne Kleidung, ohne Trost in Pensa an und fanden in diesem unheimlichen Lande kein Ohr mehr, das ihre Sprache verstand, kein Herz mehr, das sich über ihre Leiden erbarmte. Als aber einer den anderen mit trostloser Miene anblickte: „Was wird aus uns werden?" oder: „Wann wird der Tod unserem Elend ein Ende machen, und wer wird den letzten begraben?" — da vernahmen sie mitten durch das russische und kosakische Kauderwelsch, wie ein Evangelium vom Himmel, unvermutet eine Stimme: „Sind keine Deutschen da?" und es stand vor ihnen auf zwei nicht ganz gleichen Füßen eine liebe, freundliche Gestalt. Das war der Schneider von Pensa, Franz Anton Egetmeier, gebürtig aus Bretten im Neckarkreis, Großherzogtum Baden. Hat er nicht im Jahre 1779 das Handwerk gelernt in Mannheim? Hernach ging er

auf die Wanderſchaft nach Nürnberg, hernach ein wenig nach Petersburg hinein. Ein pfälzer Schneider ſchlägt ſieben- bis achtmalhundert Stunden Weges nicht hoch an, wenn's ihn inwendig treibt. In Petersburg aber ließ er ſich unter ein ruſſiſches Kavallerieregiment als Regimentsſchneider engagieren und ritt mit ihm in die fremde ruſſiſche Welt hinein, wo alles anders iſt, nach Penſa, bald mit der Nadel fechtend, bald mit dem Schwert. In Penſa aber, wo er ſich nachher häuslich und bürgerlich niederließ, iſt er jetzt ein angeſehenes Männlein. Will jemand in ganz Aſien ein ſauberes Kleid nach der Mode haben, ſo ſchickt er zu dem deutſchen Schneider in Penſa. Verlangt er etwas von dem Statthalter, der doch ein vornehmer Herr iſt und mit dem Kaiſer reden darf, ſo hat's ein guter Freund vom andern verlangt, und hat auf 30 Stunden Weges ein Menſch ein Unglück oder einen Schmerz, ſo vertraut er ſich dem Schneider von Penſa an, er findet bei ihm, was ihm fehlt: Troſt, Rat, Hilfe, ein Herz und ein Auge voll Liebe, Obdach, Tiſch und Bett, — nur kein Geld.

Einem Gemüte, wie dieſes war, das nur in Liebe und Wohltun reich iſt, blühte auf den Schlachtfeldern des Jahres 1812 eine ſchöne Freudenernte. So oft ein Transport von unglücklichen Gefangenen kam, warf er Schere und Elle weg und war der erſte auf dem Platze, und: „Sind keine Deutſchen da?" war ſeine erſte Frage. Denn er hoffte von einem Tag zum andern, unter den Gefangenen Landsleute anzutreffen, und freute ſich, wie er ihnen Gutes tun wollte, und liebte ſie ſchon zum voraus ungeſehenerweiſe, wie eine Frau ihr Kindlein ſchon liebt und ihm Brei geben kann, ehe ſie es hat. „Wenn ſie nur ſo oder ſo ausſähen", dachte er. „Wenn ihnen nur auch recht viel fehlt, damit ich ihnen recht viel Gutes erweiſen kann." Doch nahm er, wenn keine Deutſchen da waren, auch mit Franzoſen vorlieb und erleichterte ihnen, bis ſie weiter geführt wurden, ihr Elend, als nach Kräften er konnte.

Diesmal aber, und als er mitten unter ſoviele teure Landsleute, auch Darmſtädter und andere, hineinrief: „Sind keine Deutſchen da?" — er mußte zum zweiten Male fragen, denn das erſte Mal konnten ſie vor Staunen und Ungewißheit nicht antworten, ſondern das ſüße deutſche Wort in Aſien vertlang in ihren Ohren wie ein Harfenton —, und als er hörte: „Deutſche genug!" und von jedem erfragte, woher er ſei — er wäre mit Mecklenburgern oder Kurſachſen auch zufrieden geweſen, aber einer ſagte: „von Mannheim am Rheinſtrom" — als wenn der Schneider nicht vor ihm gewußt hätte, wo Mannheim liegt —, der andere ſagte: „von Bruchſal", der dritte: „von Heidelberg", der vierte: „von Gochsheim", da zog es wie ein warmes, auflöſendes Tauwetter durch den ganzen Schneider hindurch. „Und ich bin von Bretten", ſagte das herrliche Gemüt, Franz Anton Egetmeier von Bretten, wie Joſeph in Ägypten zu den Kindern Israels ſagte: „Ich bin Joſeph, euer Bruder" — und die Tränen der Freude, der Wehmut und heiligen Heimatsliebe traten allen in die Augen, und es war ſchwer zu ſagen, ob ſie einen freudigeren Fund an dem Schneider, oder der Schneider an ſeinen Landsleuten machte, und welcher Teil am gerührteſten war. Jetzt führte der gute Menſch ſeine teuren Landsleute im Triumph in ſeine Wohnung und bewirtete ſie mit einem erquicklichen Mahl, wie in der Geſchwindigkeit es aufzutreiben war.

Jetzt eilte er zum Statthalter und bat ihn um die Gnade, daß er ſeine Landsleute in Penſa behalten dürfe. „Anton", ſagte der Statthalter, „wann hab' ich Euch etwas abgeſchlagen?" Jetzt lief er in der Stadt herum und ſuchte für diejenigen, welche in ſeinem Hauſe nicht Platz hatten, bei ſeinen Freunden und Bekannten die beſten Quartiere aus. Jetzt muſterte er ſeine Gäſte, einen nach dem andern. „Herr Landsmann", ſagte er zu einem, „mit Eurem Weißzeug ſieht's windig aus. Ich werde Euch für ein halbes Dutzend neuer Hemden ſorgen." — „Ihr braucht auch ein neues Röcklein", ſagte er zu einem andern; — „Eures kann noch gewendet und ausgebeſſert werden" zu einem dritten, und ſo zu allen, und augenblicklich wurde zugeſchnitten, und alle ſechsundzwanzig Geſellen arbeiteten Tag und Nacht an Kleidungsſtücken für ſeine werten rheinländiſchen Hausfreunde. In wenig Tagen waren alle neu oder anſtändig ausſtaffiert. Ein guter Menſch, auch wenn er in Nöten iſt, mißbraucht niemals fremde Gutmütigkeit; deswegen ſagten zu ihm die rheinländiſchen Hausfreunde: „Herr Landsmann, verrechnet Euch nicht. Ein Kriegsgefangener bringt keine Münze mit. So wiſſen wir auch nicht, wie wir Euch für Eure großen Auslagen werden ſchadlos halten können, und wann." Darauf erwiderte der Schneider:

„Ich finde hinlängliche Entſchädigung in dem Gefühl, Euch helfen zu können. Benutzen Sie alles, was ich habe; ſehen Sie mein Haus und meinen Garten als den Ihrigen an.“ So kurzweg und ab, wie ein Kaiſer oder König ſpricht, wenn eingefaßt in Würde die Güte hervorblickt. Denn nicht nur die hohe fürſtliche Geburt und Großmut, ſondern auch die liebe, häusliche Demut gibt, ohne es zu wiſſen, bisweilen den Herzen königliche Sprüche ein, Geſinnungen ohnehin.

Jetzt führte er ſie freudig, wie ein Kind, in der Stadt bei ſeinen Freunden herum und machte Staat mit ihnen. Der Kalender hat jetzt nimmer Zeit und Raum genug, alles Gute zu rühmen, was er ſeinen Freunden erwies. So ſehr ſie zufrieden waren, ſo wenig war er es. Jeden Tag erfand er neue Mittel, ihnen den unangenehmen Zuſtand der Kriegsgefangenſchaft zu erleichtern und das fremde Leben in Aſien angenehm zu machen. War in der lieben Heimat ein hohes Geburts- oder Namensfeſt, es wurde am nämlichen Tage von den Treuen auch in Aſien mit Gaſtmahl, mit Vivat und Freudenfeuer gehalten, nur etwas früher, weil dort die Uhren falſch gehen. Kam eine frohe Nachricht von dem Vorrücken und dem Siege der hohen Alliierten in Deutſchland an, der Schneider war der erſte, der ſie wußte, und ſeinen Kindern — er nannte ſie nur noch ſeine Kinder — mit Freudentränen zubrachte, darum, daß ſich ihre Erlöſung nahte. Als einmal Geld zur Unterſtützung der Gefangenen aus dem Vaterlande ankam, war die erſte Sorge, ihrem Wohltäter ſeine Auslagen zu vergüten. „Kinder“, ſagte er, „verbittert mir meine Freude nicht.“ — „Vater Egetmeier“, ſagten ſie, „tut unſerem Herzen nicht wehe!“ Alſo machte er ihnen zum Schein eine kleine Rechnung, nur um ſie nicht zu betrüben, und um das Geld wieder zu ihrem Vergnügen anzuwenden, bis die letzte Kopeke aus ſeinen Händen war. Das gute Geld war für einen anderen Gebrauch zu beſtimmen, aber man kann nicht an alles denken. Denn als endlich die Stunde der Erlöſung ſchlug, geſellte ſich zur Freude ohne Maß der bittere Schmerz der Trennung, und zu dem bitteren Schmerz die Not. Denn es fehlte an allem, was zur Notdurft und zur Vorſorge auf eine ſo lange Reiſe in den Schreckniſſen des ruſſiſchen Winters und einer unwirtbaren Gegend nötig war, und ob auch auf den Mann, ſolange ſie durch Rußland zu reiſen hatten, täglich dreizehn Kreuzer verabreicht wurden, ſo reichte doch das wenige nirgends hin. Darum ging in dieſen letzten Tagen der Schneider, ſonſt ſo frohen, leichten Mutes, ſtill und nachdenklich herum, als der etwas im Sinne hat, und war wenig mehr zu Hauſe. „Es geht ihm recht zu Herzen“, ſagten die rheinländiſchen Herren, und merkten nichts. Aber auf einmal kam er mit großen Freudenſchritten, ja mit verklärtem Antlitz zurück: „Kinder, es iſt Rat. Geld genug!“ — Was war's, die gute Seele hatte für zweitauſend Rubel das Haus verkauft. „Ich will ſchon eine Unterkunft finden“, ſagte er, „wenn nur ihr ohne Leid und Mangel nach Deutſchland kommt.“

O du heiliges, lebendig gewordenes Sprüchlein des Evangeliums und ſeiner Liebe! „Verkaufe, was du haſt, und gib es denen, die es bedürftig ſind, ſo wirſt du einen Schatz im Himmel haben.“ Der wird einſt weit oben rechts zu erfragen ſein, wenn die Stimme geſprochen hat: „Kommt, ihr Geſegneten! Ich bin hungrig geweſen, und ihr habt mich geſpeiſt, ich bin nackt geweſen, und ihr habt mich gekleidet, ich bin krank und gefangen geweſen, und ihr habt euch meiner angenommen.“ — Doch der Kauf wurde, zu großem Troſt für die edlen Gefangenen, wieder rückgängig gemacht. Nichtsdeſtoweniger brachte er auf andere Art noch einige hundert Rubel für ſie zuſammen, und nötigte ſie, was er hatte von koſtbarem ruſſiſchem Peizwerk, mitzunehmen, um es unterwegs zu verkaufen, wenn ſie Geldes bedürftig wären, oder einem Unglück widerführe. Den Abſchied will der Hausfreund nicht beſchreiben. Keiner, der dabei war, vermag es. Sie ſchieden unter tauſend Segenswünſchen und Tränen des Dankes und der Liebe, und der Schneider geſtand, daß dieſes für ihn der ſchmerzlichſte Tag ſeines Lebens ſei. Die Reiſenden aber ſprachen unterwegs unaufhörlich und noch immer von ihrem Vater in Penſa, und als ſie in Bialyſtock in Polen wohlbehalten ankamen und Geld antrafen, ſchickten ſie ihm dankbar das vorgeſchoſſene Reiſegeld zurück.

Das war das Gotteskind, Franz Anton Egetmeier, Schneidermeiſter in Aſien. Der Hausfreund wird im künftigen Kalender noch ein freudiges Wort von ihm zu reden wiſſen, und es wäre nimmer der Mühe wert, einen Kalender zu ſchreiben, wenn ſich die geneigten Leſer nicht auf ſein Bildnis freuen wollten, was er ihnen zu ſtiften verſpricht.

## 9. Die konfiszierten Batzen. August 1750.

Von F. Kugler.

Geschichte Friedrich des Großen. Leipzig 1876. S. 445.

Als ich zum ersten Male im Jahre 1766 nach Berlin kam, wurden mir bei Visitierung meiner Sachen auf dem Packhofe 400 Reichstaler Nürnberger ganze Batzen weggenommen. Der König, sagte man mir, hätte schon etliche Jahre die Batzen ganz und gar verschlagen lassen, sie sollten in seinem Lande nichts gelten, und ich wäre so kühn und brächte die Batzen hierher, in die königliche Residenz, — auf den — Packhof! — Konterbande! — Konterbande! — Das war ein schöner Willkommen! Ich entschuldigte mich mit der Unwissenheit: käme aus Thüringen, viele Meilen Weges her, hätte mithin ja unmöglich wissen können, was Se. Majestät in Dero Ländern verbieten lassen.

Der Packhofsinspektor: „Das ist keine Entschuldigung. Wenn man in eine solche Residenz reisen und daselbst verbleiben will, so muß man sich nach allem genau erkundigen und wissen, was für Geldsorten im Schwange gehen, damit man nicht durch Einbringung verrufener Münze Gefahr laufe." — Ich: „Was soll ich denn anfangen? Sie nehmen mir ja unschuldig die Gelder weg! Wie und wovon soll ich denn leben?"

Packhofsinspektor: „Da muß Er zusehen, und ich will Ihm sogleich bedeuten, wenn die Sachen auf dem Packhofe visitiert worden, so müssen solche von der Stelle geschafft werden."

Es wurde ein Schieblärrner herbeigerufen, meine Effekten fortzufahren; dieser brachte mich in die Judenstraße, in den Weißen Schwan, warf meine Sachen ab und forderte vier Groschen Lohn. Die hatte ich nicht. Der Wirt kam herbei, und als er sah, daß ich ein gemachtes Federbett, einen Koffer voll Wäsche, einen Sack voll Bücher und andere Kleinigkeiten hatte, so bezahlte er den Träger und wies mir eine kleine Stube im Hofe an. Da könnte ich wohnen, Essen und Trinken wolle er mir geben; — und so lebte ich denn in diesem Gasthofe 8 Wochen lang ohne einen blutigen Heller, in lauter Furcht und Angst. In dem Weißen Schwan spannen Fuhrleute aus und logieren da, und so kam denn öfters ein gewisser Advokat B. dahin und hatte sein Werk mit den Fuhrleuten; mit diesem wurde ich bekannt und klagte ihm meine unglücklichen Fata. Er verpflichtete sich, meine Gelder wiederherbeizuschaffen, und ich versprach ihm für seine Bemühung einen Louisdor. Den Augenblick mußte ich mit ihm fortgehen und so kamen wir in ein großes Haus; da ließ B. durch einen Bedienten sich anmelden, und wir kamen in continenti vor den Minister. Der Advokat trug die Sache vor und sagte unter anderm: „Wahr ist es, daß der König die Batzen hat ganz und gar verschlagen lassen; sie sollen in seinem Lande nicht gelten; aber das weiß der Fremde nicht. Ohnehin extendiert sich das Edikt nicht soweit, daß man den Leuten ihre Batzen wegnehmen soll" u. s. w. — Hierauf fing der Minister an zu reden: „Monsieur, seid Ihr der Mann, der meines Königs Mandate durchlöchern will? Ich höre, Ihr habt Lust auf die Hausvogtei! Redet weiter, Ihr sollt zu der Ehre gelangen" ꝛc. — Was tut mein Advokat? Er submittierte sich und ging zum Tempel hinaus; ich hinter ihm her, und als ich auf die Straße kam, so war B. über alle Berge; und so hatte er denn meine Sache ausgemacht — bis auf die streitigen Punkte.

Endlich wurde mir der Rat gegeben, den König supplicando anzutreten; das Memorial aber müsse ganz kurz, gleichwohl aber die contenta darinnen sein. Ich konzipierte eins, mundierte es und ging damit mit dem Aufschluß des Tores, ohne nur einen Pfennig Geld in der Tasche zu haben (o, der Verwegenheit!), in Gottes Namen nach Potsdam, und da war ich auch so glücklich, sogleich den König zum ersten Male zu sehen. Er war auf dem Schloßplatze beim Exerzieren seiner Soldaten. Als dieses vorbei war, ging er in den Garten und die Soldaten auseinander; vier Offiziere aber blieben auf dem Platze und spazierten auf und nieder.

Ich wußte vor Angſt nicht, was ich machen ſollte, und holte die Papiere aus der Taſche. Das war das Bittgeſuch, zwei Zeugniſſe und ein gedruckter thüringiſcher Paß. Das ſahen die Offiziere, kamen gerade auf mich zu und fragten, was ich da für Briefe hätte. Ich teilte ſolche willig und gern mit. Da ſie geleſen hatten, ſo ſagten ſie: „Wir wollen Ihm einen guten Rat geben. Der König iſt heute extragnädig und ganz allein in den Garten gegangen. Gehe Er ihm auf dem Fuße nach, Er wird glücklich ſein.“ Das wollte ich nicht; die Ehrfurcht war zu groß; da griffen ſie zu. Einer nahm mich beim rechten, der andere beim linken Arm. Fort, fort in den Garten! Als wir nun dahin kamen, ſo ſuchten ſie den König auf. Er war bei einem Gewächſe mit den Gärtnern, bückte ſich und hatte uns den Rücken zugewendet. Hier mußte ich ſtehen, und die Offiziere fingen an, in der Stille zu kommandieren: „Den Hut unter den linken Arm! — Den rechten Fuß vor! — Die Bruſt heraus! — Den Kopf in die Höhe! — Die Briefe aus der Taſche! — Mit der rechten Hand hochgehalten! — So ſteht!“ — Sie gingen fort und ſahen ſich immer um, ob ich auch ſo würde ſtehen bleiben. Ich merkte wohl, daß ſie beliebten, ihren Spaß mit mir zu treiben, ſtand aber wie eine Mauer, voller Furcht.

Die Offiziere waren kaum aus dem Garten hinaus, ſo richtete ſich der König auf und ſah die Maſchine in ungewöhnlicher Poſitur daſtehen. Er tat einen Blick auf mich; es war, als wenn mich die Sonne durchſtrahlte; er ſchickte einen Gärtner, die Briefe abzuholen, und als er ſolche in die Hände bekam, ging er in einen andern Gang, wo ich ihn nicht ſehen konnte. Kurz darauf kam er wieder zurück zu dem Gewächſe, hatte die Papiere in der linken Hand aufgeſchlagen und winkte damit, näherzukommen. Ich hatte das Herz und ging gerade auf ihn zu. O wie allerhuldreichſt redete der große Monarch mich an: „Lieber Thüringer! Er hat zu Berlin durch fleißiges Informieren der Kinder das Brot geſucht, und ſie haben Ihm beim Viſitieren der Sachen auf dem Packhofe ſein mitgebrachtes Thüringer Brot weggenommen. Wahr iſt es, die Batzen ſollen in meinem Lande nichts gelten; aber ſie hätten auf dem Packhofe ſagen ſollen: ‚Ihr ſeid ein Fremder und wiſſet das Verbot nicht. Wohlan, wir wollen den Beutel mit den Batzen verſiegeln; gebt ſolche wieder zurück nach Thüringen und laſſet Euch andere Sorten ſchicken‘, — aber nicht wegnehmen. Gebe Er Sich zufrieden: Er ſoll Sein Geld cum interesse zurückerhalten. Aber, lieber Mann, Berlin iſt ſchon ein heißes Pflaſter; ſie verſchenken da nichts; Er iſt ein fremder Menſch; ehe Er bekannt wird und Information bekommt, ſo iſt das bißchen Geld verzehrt, was dann?“ — Ich verſtand die Sprache recht gut; die Ehrfurcht war aber zu groß, daß ich hätte ſagen können: „Ew. Majeſtät haben die allerhöchſte Gnade und verſorgen mich.“ — Weil ich aber ſo einfältig war und um nichts bat, ſo wollte er mir auch nichts anbieten. Und ſo ging er denn von mir weg, war aber kaum ſechs bis acht Schritte gegangen, ſo ſah er ſich nach mir um und gab ein Zeichen, daß ich mit ihm gehen ſolle. Und ſo ging denn das Examen an: „Wo hat Er ſtudiert?“ — „Ew. Majeſtät, in Jena.“ — „Unter welchem Prorektor iſt Er inſkribiert worden?“ — „Unter dem Professor theologiae Dr. Förtſch.“ — „Was waren denn ſonſt noch für Profeſſoren in der theologiſchen Fakultät?“ — „Buddäus, Danz, Weißenborn, Walch.“ — „Hat Er denn auch fleißig Biblica gehört?“ — „Beim Buddäo.“ — „Das iſt der, der mit Wolffen ſoviel Krieg hatte?“ — „Ja, Ew. Majeſtät. Es war . . .“ — „Was hat Er denn ſonſt noch für nützliche Collegia gehört?“ — „Ethica et Exegetica beim Dr. Förtſch, Hermeneutica et Polemica beim Dr. Walch, Hebraica beim Dr. Danz, Homiletica beim Dr. Weißenborn, Pastorale et Morale beim Dr. Buddäo.“ — „Ging es denn zu Seiner Zeit noch ſo toll in Jena her, wie ehedem, da die Studenten ſich ohne Unterlaß miteinander katzbalgten, daher der bekannte Vers kommt:

‚Wer von Jena kommt ungeſchlagen,
Der hat von großem Glück zu ſagen?‘“

„Dieſe Unſinnigkeit iſt ganz aus der Mode gekommen, und man kann dort anjetzt ſo wohl als auf anderen Univerſitäten ein ſtilles und ruhiges Leben führen, wenn man nur das die cur hic? obſervieren will. Bei meinem Abzuge ſchafften die Durchl. Nutritores Academiae (erneſtiniſcher Linie) die ſogenannten Renommiſten aus dem Wege und ließen ſie zu Eiſenach auf die Wartburg in Verwahrung ſetzen; da haben ſie gelernt ruhig ſein.“

Und da ſchlug die Glocke eins. „Nun muß ich fort“, ſagte der König, „ſie warten auf die Suppe.“ — Und da wir aus dem Garten kamen, waren die vier Offiziere noch gegenwärtig auf dem Schloßplatze, die gingen mit dem Könige ins Schloß hinein, und kam keiner wieder zurück. Ich blieb auf dem Schloßplatze ſtehen, hatte in 27 Stunden nichts genoſſen, nicht einen Dreier in bonis zu Brote und war in einer vehementen Hitze vier Meilen im Sande gewatet. Da war's wohl eine Kunſt, das Heulen zu verbeißen. In dieſer Bangigkeit meines Herzens kam ein Kammerhuſar aus dem Schloſſe und fragte: „Wo iſt der Mann, der mit meinem Könige in dem Garten geweſen?“ Ich antwortete: „Hier!“ Dieſer führte mich ins Schloß, in ein großes Gemach, wo Pagen, Lakaien und Huſaren waren. Der Huſar brachte mich an einen kleinen Tiſch, der war gedeckt, und ſtand darauf: eine Suppe, ein Gericht Rindfleiſch, eine Portion Karpfen mit einem Gartenſalat, eine Portion Wildbret mit einem Gurkenſalat. Brot, Meſſer, Gabel, Löffel und Salz war alles da. Der Huſar präſentierte mir einen Stuhl und ſagte: „Die Eſſen, die hier auf dem Tiſche ſtehen, hat Ihm der König auftragen laſſen und befohlen, Er ſoll Sich ſatt eſſen, Sich an niemand kehren, und ich ſoll ſervieren. Nun alſo friſch daran!“ Ich war ſehr betreten und wußte nicht, was zu tun ſei; am wenigſten wollte mir's in den Sinn, daß des Königs Kammerhuſar auch mich bedienen ſollte. — Ich nötigte ihn, ſich zu mir zu ſetzen; als er ſich weigerte, tat ich, wie er geſagt hatte, und ging friſch daran, nahm den Löffel und fuhr tapfer ein. Der Huſar nahm das Fleiſch vom Tiſche und ſetzte es auf die Kohlenpfanne; ebenſo kontinuierte er mit Fleiſch und Braten und ſchenkte Wein und Bier ein. Ich aß und trank mich recht ſatt. Den Konfekt, dito einen Teller voll großer, ſchwarzer Kirſchen und einen Teller voll Birnen packte mein Bedienter ins Papier und ſenkte mir ſolche in die Taſche, auf dem Rückwege eine Erfriſchung zu haben. Und ſo ſtand ich denn von meiner königlichen Tafel auf, dankte Gott und dem Könige von Herzen, daß ich ſo herrlich geſpeiſt worden. Der Huſar räumte auf. Den Augenblick darauf trat ein Secretarius herein und brachte ein verſchloſſenes Reſkript an den Packhof, nebſt meinen Teſtimoniis und dem Paſſe zurück, zählte auf den Tiſch fünf Schwanzdukaten und einen Friedrichsdor: „Das ſchicke mir der König, daß ich wieder zurück nach Berlin kommen könnte.“ Hatte mich nun der Huſar ins Schloß hineingeführt, ſo brachte mich der Secretarius wieder bis vor das Schloß hinaus. Und da hielt ein königlicher Proviantwagen mit ſechs Pferden beſpannt; zu dem brachte er mich hin und ſagte: „Ihr Leute, der König hat befohlen, ihr ſollt dieſen Fremden mit nach Berlin fahren, aber kein Trinkgeld von ihm nehmen.“ Ich ließ mich durch den Secretarium noch einmal untertänigſt bedanken für alle königliche Gnade, ſetzte mich auf und fuhr davon.

Als wir nach Berlin kamen, ging ich ſogleich auf den Packhof, gerade in die Expeditionsſtube und überreichte das königliche Reſkript. Der Oberſte erbrach es: bei Leſung desſelben verfärbte er ſich bald bleich, bald rot, ſchwieg ſtill und gab es dem zweiten. Dieſer nahm eine Priſe Schnupftabak, räuſperte und ſchneuzte ſich, ſetzte eine Brille auf, las es, ſchwieg ſtill und gab es weiter. Der letzte endlich reate ſich, ich ſollte näher kommen und eine Quittung ſchreiben, daß ich für meine 400 Reichstaler ganze Batzen ſoviel an Brandenburger Münzſorten, ohne den mindeſten Abzug, erhalten. Meine Summe wurde mir ſogleich richtig zugezählt. Darauf wurde der Schaffner gerufen, mit der Order: er ſollte mit mir auf die Judenſtraße in den Weißen Schwan gehen und bezahlen, was ich ſchuldig wäre und

verzehrt hätte. Dazu gaben sie ihm 24 Taler, und wenn das nicht zureichte, solle er kommen und mehr holen. Das war es, daß der König sagte: „Er soll seine Gelder cum interesse wiederbekommen", daß der Packhof meine Schulden bezahlen mußte. Es waren aber nur 10 Taler 4 Groschen 6 Pfennige, die ich in 8 Wochen verzehrt hatte, und so hatte denn die betrübte Historie ihr erwünschtes Ende.

## 10. Aus dem Leben Friedrichs des Großen.

Von O. Falch und W. Schwartz.

### a. Frieselbissen.

O. Falch, Was sich die Schlesier vom Alten Fritz erzählen. Glogau o. J. S. 9

Von einem Dorfe in der Liegnitzer Gegend hatte der König durch den Landrat gehört, daß daselbst die Bauern schon wiederholentlich in Strafe genommen worden wären, weil sie sich durchaus weigerten, Kartoffeln anzubauen, wie durch den Minister Schlabrendorf angeordnet war, indem sie behaupteten, man bekäme von den Kartoffeln das Friesel (Fieber), weshalb sie solche auch Frieselbissen nannten. Friedrich hatte darauf dem Landrat, dem General Anhalt und anderen Personen in Liegnitz aufgegeben, nicht nur die Bauern eines Besseren zu belehren, sondern auch für ihre Haushaltungen Kartoffeln zu verbrauchen, damit das dumme Volk solchen Beispielen nachfolge. Das alles aber hatte nichts geholfen.

Nach den Hungerjahren 1771 und 1772 passierte der König einst dies Dorf und war erstaunt, in dessen Nähe viele schöne Kartoffelfelder zu sehen. Er ließ halten, machte das Buch zu, in dem er, wie gewöhnlich unterwegs, gerade las, und sagte zu den versammelten Bauern: „Na, ihr Hundsfötter, hat euch der Hunger endlich zu Verstande gebracht? Schmecken euch die Frieselbissen jetzt?" — „Ach ja!" riefen dumm lächelnd die Bauern. — „Hat schon einer das Friesel davon gekriegt?" — „Nee!" war die Antwort. — „Na, da merkt's euch, daß ich euch nichts Schädliches anrate, sondern es gut mit euch meine, und folgt künftig beizeiten." Er schlug das Buch wieder auf und ließ weiterfahren. Die Bauern aber sagten: „A hot olles am Buche stiehn, was passiert is! A wiß halt emol olles!"

Überall veranlaßte der große König die Vorgesetzten in Stadt und Land, fleißig Kartoffeln auf ihren Tisch zu bringen, ja er tat dies selbst zum guten Beispiele für das Volk auf seinen Reisen. So mußte bei seiner Anwesenheit in Brieg stets ein Viertel Kartoffeln gekocht werden. Er selbst aß einige davon, und seine Gäste und Diener mußten ebenfalls welche essen. Ja einigemal ließ er die dampfenden Kartoffeln auf den Balkon des Kommandantenhauses in Brieg (jetzt Sperrsche Apotheke) bringen und aß hier einige vor den Augen des Volkes.

### b. Der Schulze in Mois bei Löwenberg.

Ebendas., S. 15

Auf einer Reise in den vierziger Jahren kam der König auch in die Gegend von Löwenberg. Da von Kunststraßen in damaliger Zeit noch keine Rede, das Wetter längere Zeit schlecht gewesen und die allgemeine Heerstraße, als die beste, so grundlos geworden war, daß schwere Wagen kaum fortzukommen vermochten, so war es kein Wunder, daß auch für den großen König die Reise dadurch oft sehr erschwert wurde, indem außer den schlechten Wegen auch die Postpferde damals in höchst miserablem Zustande waren. So geschah es, daß Friedrich II. auf dieser Reise bei Mois mit seinem schwerbepackten Wagen im Kote stecken blieb. Soviel auch die Postillone ihre Pferde antrieben, so war es ihnen doch nicht möglich, den schweren Wagen, welcher bis an die Achsen im Kote versunken war, herauszuziehen. Endlich, da keine Aussicht zum Fortkommen auf diese Weise war, entschloß sich ein Postillon, den König zu bitten, ein kleines halbes Stündchen so im Wagen auf der Straße zu halten, indem er auf einem Pferde schnell nach Mois reiten und Vorspann holen

wollte. Der König, von dem guten Rate des Postillons, sowie von der Unmöglichkeit, mit den abgemagerten und höchst angegriffenen Postpferden allein fortzukommen, überzeugt, ließ sich diesen Vorschlag gefallen.

Der Postillon ritt nun eiligst nach Mois direkt zum damaligen Dorfschulzen Matheus Scharfenberg, welcher gute, starke Pferde besaß, und erzählte ihm ganz erhitzt, was dem Könige passiert sei, und bat ihn, sofort mit seinen Pferden Vorspann zu leisten und schleunigst zu helfen. Der bereitwillige Schulze, ein sonst wohlhabender, großer, starker Mann, fühlte sich hochgeehrt, dem König selbst gefällig sein zu können, und er ritt mit seinen sofort angeschirrten Pferden dem königlichen Wagen zu. Dort angekommen und nachdem er sich überzeugt hatte, daß der halbversunkene Wagen leicht Schaden nehmen könne, wenn alle Pferde nicht zugleich anzögen, trat er bis an den Wagen des Königs heran, indem er seine Mütze zog, und es entspann sich folgendes Gespräch zwischen dem Monarchen und Scharfenberg.

Scharfenberg: „Ew. Majestät, Sie müssen hier aussteigen, bis der Wagen auf besseren Weg gefahren ist, es könnte leicht ein Unglück passieren."

Friedrich: „Nun sag Er mir aber, wie soll ich denn durch den vielen Dreck durch mit meinen Stiefeln?"

Scharfenberg: „Wenn Ew. Majestät zu Gnaden halten wollen, werde ich Sie bis auf den Rain hinübertragen."

Der König sah sich den starken Mann ein wenig an und sagte dann lächelnd: „Nun meinetwegen!" Der Schulze trug ihn bis auf den Fußsteig, stellte ihn dort hin und ersuchte ihn, nun zu warten, bis der Wagen auf eine gewisse Strecke, die er als besser bezeichnete, gefahren sein würde.

Nun kommandierte der starke Schulze die Postillons, sie sollten darauf halten, daß, wenn er sage: „Na nu!", alle Pferde zugleich anzögen, er selbst werde mit den Schultern den Wagen hinten heben. — Dies geschah und mit Krachen wurde der Wagen glücklich herausgezogen. Der König sah dieser Manipulation, die Umsicht und die Kraft des Schulzen bewundernd, zu, und als er wieder in den Wagen steigen konnte, wobei ihm Scharfenberg behilflich war, erfolgte die Fortsetzung obigen Gesprächs.

Friedrich: „Er ist ein starker Mann, ich danke Ihm vorläufig."

Scharfenberg: „Zu Kaisers Zeiten war ich noch stärker, Ew. Majestät."

Friedrich: „Spitzbube, wie meinst du das?"

Scharfenberg: „Nu — ich war halt noch jünger!"

Der König lächelte, bedankte sich und fuhr weiter. Beinahe ein halbes Jahr darauf erhielt der Schulze Scharfenberg ein Kabinettsschreiben folgenden Inhaltes: „Dem Schulzen zu Mois danke ich nochmals vor die freien Handdienste, so Er mir verwichenen Herbst prästieret, und soll Er von allen Steuern und Lasten auf dieses Jahr befreit sein, um wieder zu seinen vorigen Kräften zu kommen. F."

### c. Der zerrissene Stiefel.

Ebendas. S. 47.

Eines Tages kam Friedrich mit einem zerrissenen Stiefel in Brieg an. Die Sohle war abgetrennt, und er bei jedem Schritte in Gefahr, zu fallen. Er mußte also die Stiefel ausziehen; aber siehe da, als man ihm ein Paar andere Stiefel reichen wollte, waren diese in Neiße vergessen worden.

Der König mußte daher vom Kommandanten ein Paar Pantoffeln leihen und diese anziehen. Zornig über die Nachlässigkeit seiner Leute, befahl er ihnen, zu sorgen, daß sein Stiefel bald repariert werde, und dieser ward eilig zu einem neben dem Kommandantenhause wohnenden Schuhmacher, namens Reimann, gebracht.

Als nun Friedrich ärgerlich in Pantoffeln im Zimmer auf und ab ging, meldete man ihm einen hohen österreichischen Offizier, der ihn im Auftrage des Kaisers Joseph

in Neiße hatte begrüßen ſollen und ihm, da er ihn dort verfehlt, nach Brieg nachgereiſt war.

Die Augen des eintretenden Offiziers fielen unwillkürlich auf des Königs Fußbekleidung, und Friedrich ſagte lächelnd: „Pardon, Herr Obriſt, daß ich Sie in Pantoffeln empfange; aber der König von Preußen hat jetzt nicht einmal ein Paar Stiefel.“ Der Öſterreicher hatte jedoch die in Neiße vergeſſenen Stiefel mitgebracht; und der König dankte und lud ihn zur Tafel.

Inzwiſchen trat ein Bedienter mit dem ausgebeſſerten Stiefel ein, und der König frug: „Was hat der Schuſter genommen?“

„Gar nichts will er haben, Majeſtät!“ antwortete der Bediente; „er ſagt, er habe als Grenadier lange genug königliches Brot gegeſſen.“

„Laß den Narren hereinkommen!“

Reimann trat ein, und Friedrich ſagte zu ihm: „Sei Er kein Narr und laſſe Er Sich Seine Arbeit bezahlen! Was hat Er verdient?“ — „Einen Groſchen, Ew. Majeſtät!“ — „Er wird wohl von mir einen Taler acceptieren“, ſcherzte der König, „weil wir Kriegskameraden ſein?“ — „Ja, Ew. Majeſtät, ich habe vor Ihrem Quartier Wache geſtanden, als Sie der Warkotſch gefangennehmen wollte.“ — „So! Hat Er auch den Gnadentaler?“ — „Nein, Ew. Majeſtät.“ — „Warum nicht?“ — „Ja, ich ſollte noch eine Kapitulation abdienen, und die Knochen wollten nicht mehr fort.“ — „Na, da warte Er draußen. Er wird Seinen Verdienſt erhalten und einen Zettel auf den Gnadentaler.“

Der öſterreichiſche Obriſt war in einiger Verlegenheit wegen der Erwähnung des Warkotſchſchen Verrates in ſeiner Gegenwart und dachte klug zu tun, wenn er ſich unkundig ſtelle und nach der Warkotſchſchen Geſchichte frage. Friedrich erwiderte aber: „Die Geſchichte wiſſen wir nicht vollſtändig in Preußen; aber in Wien können Sie ſelbe en détail erfahren, Herr Obriſt!“

### d. Der Seidlitzſche Reiter.

Ebendaſ., S. 80.

In Mollwitz bei Brieg lebte ein Leinweber, namens Gottſchalk, der lange bei den Seidlitzſchen Küraſſieren gedient hatte. Ein Sohn von ihm hatte bei Ankunft des Königs in Brieg in den ſiebziger Jahren von einem der Feldjäger, die den Weg freimachten, einen tüchtigen Hieb mit der Peitſche erhalten, und Gottſchalk ging mutig ins Kommandantenhaus und verlangte den König zu ſprechen. Er beklagte ſich bei dem Monarchen über den Feldjäger. Der König fragte, ob er den Jäger kenne, und da Gottſchalk verneinte, ſo antwortete Friedrich: „Da kann ich Ihm auch nicht helfen“.

„Hat Er gedient?“ fragte er darauf. — „Ja, Ew. Majeſtät.“ — „Bei welchem Regiment?“ — „Bei Seidlitz-Küraſſieren.“ — „Was treibt Er jetzt?“ — „Ich bin Leinweber.“ — „Kann Er gute Arbeit machen?“ — „Das will ich meinen!“ ſprach Gottſchalk und legte ein Stück Leinen vor, das er mit in die Stadt zum Verkauf gebracht hatte. — Der König beſah es aufmerkſam, lobte es ſehr und bot dem Weber Unterſtützung an, wenn er ins Gebirge gehen und dort eine Fabrik anlegen wolle. „Er kann noch Kommerzienrat werden“, ſcherzte er. — „Nein, Ew. Majeſtät, das geht nicht; denn ich kann weder leſen noch ſchreiben. Überdem geht mir nichts ab, ich habe mir von der Roßbacher Beute eine Wirtſchaft gekauft und bin ganz zufrieden.“

Friedrich ſagte zum gegenwärtigen Kommandanten: „Das iſt der erſte alte Soldat, der kein Geld von mir haben will.“ Und Gottſchalk fragte er: „Iſt Sein Sohn auch Weber?“ — „Ja, Ew. Majeſtät.“ — „Na, da werde ich ihm für den Hieb den Abſchied geben, damit er Ihn im Alter unterſtützen kann.“ — Gottſchalk dankte und entfernte ſich. Nach einigen Jahren fand ſich Gottſchalk wieder

im Kommandantenhause beim Könige ein und bat um Freilassung seines zweiten Sohnes, der auch die Weberei lerne. — „Ist der Junge tauglich zum Soldaten?“ fragte Friedrich. „Sag Er mir die Wahrheit.“ — „Ja“, antwortete der ehrliche Gottschalk. — „Da geht es diesmal nicht, Gottschalk. Wenn Er an meiner Stelle wäre, Er würde es auch nicht tun? Antworte Er.“ — „Ew. Majestät haben recht: ich würde es auch nicht tun.“ — „Sieht Er wohl. Laß Er den Jungen also Soldat werden. Er wird's so gut aushalten wie Er.“

Gottschalks Sohn wurde Soldat; diente aber nicht lange, da erhielt er den Abschied unverlangt. Als er nach Hause kam, rief der Vater: „Vivat, Vater Fritz! Der weiß es schon zu machen!“

### e. Der große Fisch.

Ebendas., S. 139

Der große König aß gern Fische. Wenn seine Ankunft in Brieg bevorstand, so sorgte der Kommandant, daß die dasigen Oberfischer die besten und größten Fische, die sie fingen, für den König aufbewahrten. Oft nahm Friedrich im Hofe des Kommandantenhauses dann die Fische noch lebend in Augenschein. Der im Jahre 1846 verstorbene briegische Fischer-Oberälteste Scholz hat oft erzählt, wie er einst als Knabe mit seinem Vater im Kommandantenhause gewesen, als der Alte Fritz die Fische betrachten kam, und wie der König, der mit allen Leuten sprach, zu ihm gesagt hat: „Na, Junge, willst du auch ein solcher Wasserplatscher werden?“

Im Jahre 1768 hatten die Fischer kurz vor Ankunft des Königs einen ungeheuer großen Wels gefangen, den sie auf einem Wagen mit Musik vors Kommandantenhaus brachten. Der König ließ einen Stuhl an den Wagen bringen und stieg darauf, den Wels zu betrachten. Dieser aber tat einen Schlag, der den König arg bespritzte, so daß er vom Stuhle sprang. Alles lachte. Friedrich aber sagte: „Ihr Narren, was ist da zu lachen. Vor solches Ungeheuer da muß man retirieren.“ Er bezahlte den Fisch mit 100 Talern, ohne nach dem Preise zu fragen, und ließ ihn lebendig nach Berlin bringen.

In Brieg erzählte man damals, er habe sich den Spaß gemacht, in den Berliner Zeitungen anzeigen zu lassen, es sei ein lebendiger Walfisch angekommen und gegen Eintrittsgeld zu sehen. Da dies viele, und darunter selbst gelehrte Leute, geglaubt hätten, ohne zu überlegen, daß der Walfisch im süßen Wasser nicht leben kann, so habe der König herzlich gelacht und das Eintrittsgeld der Charité geschenkt.

### f. Der preußische Pfiff.

W. Schwartz, Sagen und alte Geschichten der Mark Brandenburg. Berlin 1871. S. 60.

Von Friedrich dem Großen wird in der Neumark erzählt, daß er öfter, in einen alten Soldatenmantel gekleidet, abends umhergegangen ist in der Residenz und die Wirtshäuser besucht hat, um zu sehen, was seine Soldaten dort angeben. Einst trifft er auch einen Soldaten in einem Wirtshause, der dort gehörig trinkt und ihn gleichfalls einladet, mitzutrinken.

Der Alte Fritz läßt sich zwar etwas nötigen, tut aber doch zuletzt Bescheid. Da ihm jedoch der Geselle zu viel daraufgehen zu lassen scheint, fragt er denselben: „Aber Kamerad, wo hast du denn das Geld her? Dazu reicht doch dein Sold nicht hin?“ — „Ja“, sagt der andere, „wer den preußischen Pfiff nicht kennte!“ — „Was ist das, der preußische Pfiff?“ fragt der Alte Fritz. „Das kann ich dir nicht sagen“, entgegnete der Kamerad; „du könntest mich verraten.“ Diese Antwort machte den König gewaltig neugierig; er dringt in den Soldaten und ruht nicht eher, bis ihm dieser das Geheimnis offenbart. „So höre denn!“ begann der Soldat, „ich verkaufe alles, was zu verkaufen ist; es ist ja jetzt Friede; — was brauche ich zum Beispiel eine stählerne Säbelklinge? die ist verkauft, siehst du?“

Und damit zog er den Griff ſeines Säbels heraus und zeigte dem Könige eine hölzerne Klinge. Dieſer tat befriedigt und ging weiter. — Er hatte ſich aber den Soldaten wohl gemerkt, und nach einiger Zeit heißt es, das und das Regiment ſolle vor dem Könige zur Parade antreten. Der König kommt, reitet einigemal auf und ab, und als er den Kameraden von neulich herausgefunden hat, befiehlt er ihm und ſeinem Nebenmanne, hervorzutreten. Als der Alte Fritz ſich noch einmal genau überzeugt hatte, daß von dieſen beiden der eine ſein Mann iſt, den er geſucht, ſagt er zu dem Kameraden mit dem preußiſchen Pfiff: „Zieh ſofort deinen Säbel und haue deinem Nebenmanne den Kopf ab!“ Der Soldat erſchrickt, faßt ſich aber ſchnell und erwidert: „Ach, Majeſtät, warum ſollte ich das wohl tun! Mein Kamerad Nebenmann hat mir ja nichts zuleide getan!“ — „Zieh!“ ruft der Alte Fritz; „ſonſt ſoll dir dein Nebenmann den Kopf abſchlagen!“ Da bleibt dem Manne mit dem preußiſchen Pfiff nichts übrig; er legt die Hand an den Griff, blickt zum Himmel und ruft: „Nun denn, wenn es nicht anders ſein kann, ſo möge mich Gott vor Mord behüten und geben, daß meine Säbelklinge zu Holz wird!“ Und ſieh da, wie er den Säbel herausgezogen hat, iſt die Klinge von Holz. Friedrich aber lachte und ſagte: „Ich merke, du verſtehſt wirklich den preußiſchen Pfiff“.

## 11. Drei Tage und zwei Lieder.

Von W. O. von Horn. [W. Oertel.]

Drei Tage aus Gellerts Leben. Bremen 1870. S. 5. (Sehr gekürzt.)

„Hu, wie kalt! Müſſen einheizen, Herr Profeſſor!“ So ſprach zu dem Dichter Gellert ſein Arzt, ein kleiner, dicker Mann. „Wollen Sie Sich denn ganz verderben? Sie müſſen wärmer ſitzen.“ — Gellert lächelte wehmütig. „Mein Holzſtall hat die Schwindſucht“, ſagte er, „mein Geld dazu. Doch, Herr Doktor, ſeien Sie zufrieden; ich will ſorgen, ſorgen.“ — Der Doktor bückte ſich über Gellerts Schreibtiſch und ſagte fragend: „Ah, ein neues Lied?“ — Gellert nickte mit verlegenem Geſicht. Der Doktor hielt es gegen das mit Eisblumen gezierte Fenſter, und als er das Lied geleſen, ſprach er: „Vortrefflich! ein echt chriſtlich Lied. Lieber Herr Profeſſor, das muß ich für meine Frau abſchreiben. Morgen erhalten Sie's wieder.“ Dann fühlte der Doktor Gellerts Puls und ſagte: „Immer noch langſam; das Sitzen iſt ein Elend für Sie. Sollten einen Gaul haben, ſollten reiten! Müſſen ein Pferd kaufen!“ — „Schon wieder kaufen. Haben Sie nicht noch mehr ſolche wohlfeile Rezepte, Herr Doktor? Kommen mir jetzt ſehr gelegen“, erwiderte Gellert mit traurigem Lächeln.

Der Doktor entfernte ſich wieder. Gellert verfiel ins Nachſinnen. Geſtern hatte er noch dreißig Taler, heute nichts mehr; ſein Holz langte höchſtens noch acht Tage. Einnahmen waren nicht zu erwarten. Wo waren denn die dreißig Taler von geſtern hingekommen?

In einer abgelegenen, kleinen Gaſſe der Stadt Leipzig war ein Häuslein, das gehörte dem reichen Geizhals Neidhardt. Es war ein jämmerliches Gebäude, brachte aber doch noch ſeine Zinſen. Schon ſeit Jahren wohnte ein armer, gottesfürchtiger Schuhmacher mit Frau und vielen Kindern darin. Die Sorge ums tägliche Brot war hier zur Herberge, und es ging ihnen recht kümmerlich. Im Sommer hatten ſie ſich noch ſo ziemlich durchgeſchlagen; aber jetzt war es Winter, Kriegszeit, große Kälte und der Verdienſt gering, — zudem nahte die Zeit der Hausmiete, die zu dreißig Talern angelaufen war, und ſchon hatte der geizige Neidhardt mit Hinauswerfen gedroht. — Da ging die Frau noch einmal zu dem Hartherzigen; aber er kannte kein Erbarmen. Kniefällig, unter tauſend Tränen bat ſie um Geduld; ſie hätten ja immer ehrlich bezahlt. Alles war umſonſt. — Es nahte der ſchreckliche Tag. Der Kummer hatte den Ernährer aufs Krankenbett geworfen. Kalte Luft drang durch die ſchlotternden Fenſter, und ſechs unmündige Kinder ſtanden um den kalten Ofen, frierend, hungernd, weinend. Der Mutter wollte das Herz brechen. Der Vater aber ſprach: „Gott hat geſagt: ‚Rufe mich an in der Not, ſo will ich dich erretten, und du ſollſt mich preiſen‘. Kommt, wir wollen beten.“ Der Vater betete inbrünſtig, gläubig. Und als er Amen geſagt,

leuchtete ein Strahl frohen Vertrauens ins matte Herz. — Die Mutter aber ging nebſt zwei Kindern hinaus auf den Zimmerplatz, Späne aufzuleſen. Es war ein heller Wintertag, ein kalter Oſtwind blies mit ſchneidender Schärfe durch die dünnen Röcklein der Armen, daß ſie zitterten vor Froſt und — Hunger.

Zu ebendieſer Zeit war Gellert ausgegangen, ſeiner Geſundheit wegen, und folgte im warmen Pelzrock der Mutter und den Kindern nach. Die Kinder waren vorausgeſprungen, die Mutter kam langſamen Schrittes nach, und unter hellen Tränen ſetzte ſie ſich auf einen Stein nieder. — Gellert kannte Kummer und Not. Bei kärglichem Einkommen und dreizehn lebendigen Kindern waren beide oft in ſeinem Vaterhauſe zu Gaſte geweſen. Darum ging er leiſe zu der Armen und fragte ſie ſo herzinniglich nach ihrer Not, daß ſeine Worte ihr tief in die Seele drangen und ſie all ihren Kummer und Jammer dem unbekannten Herrn mitteilen konnte: wie Neidhardt ſie heute oder morgen zur Herberge hinauswerfen werde, wenn ſie dreißig Taler nicht zahlen könnten, und wie das ihrem Manne ſein Tod ſein werde, und wie ſie und ihre Kinder vor Hunger ſterben müßten.

„Frau“, rief Gellert, „der Herr lebt noch, und wenn Ihr glaubt, werdet Ihr ſeine Herrlichkeit ſehen.“ Er befahl der Frau, ihm zu folgen, ſchloß zu Hauſe ſein Pult auf, nahm dreißig Taler heraus und gab ſie der Frau. Als die Frau vor Freude niederfallen und ſeine Kniee umklammern wollte, wehrte er ab und ſagte: „Danket Gott, der Euer Gebet erhöret hat. Geht jetzt aber nicht früher als um 11 Uhr zu Neidhardt, ihm das Geld zu bringen.“

Dann wandte ſich Gellert im Kämmerlein zum Herrn und ging kurz vor 11 Uhr zu dem alten Neidhardt, der eben vor einem Tiſche mit Geld ſaß und es ungern hatte, daß er geſtört wurde, aber einem ſo allgemein geachteten Manne gegenüber artiger ſein mußte, als es ihm ums Herz war. Gellert ſagte: „Herr Neidhardt, von Ihnen kann man gewiß viel Gutes lernen. Sie werden die Kunſt verſtehen, mit Ihrem Gottesſegen wahrhaft wohlzutun.“ — Der Geizhals war in Verlegenheit; denn gut deutſch ſagte ihm ſein Gewiſſen das Gegenteil und — und er wünſchte den Profeſſor über alle Berge. Gellert aber fuhr fort, von den ſeligen Freuden des Wohltuns ſo eindringlich zu reden, daß es dem Wucherer ganz warm ums Herz wurde.

Da ſchlug es elf, und mit dem Schlage trat die arme Frau herein, mit einem ſtrahlenden Geſichte und rief: „Da bring' ich Ihnen die dreißig Taler, und jetzt geben Sie mir auch das Brieflein wieder, das Ihnen mein todkranker Mann geſchrieben, daß Sie uns nicht ſollten aus dem Hauſe werfen.“ — Und dem Neidhardt war's, als ſtünde er auf Kohlen, und er ſagte: „Ach — es hätte nicht ſo preſſiert; — es war ja nicht ſo ernſt gemeint; — Ihr ſeht ja, daß ich jetzt Beſuch habe; geht jetzt.“ — Unterdeſſen ergriff er mit ſeinen knochigen Fingern die Rolle und ſchob ſie in die Taſche. — Gellert aber ſagte halblaut: „Es ſind dreißig Taler, und es klebt kein Fluch daran“. — Und Neidhardt fühlte bei dieſen Worten ein ſonderbares Fröſteln. Die Frau aber fuhr fort: „Ja, ja, jetzt ſagen Sie, es ſei Ihnen nicht Ernſt geweſen. Geſtern aber ſagten Sie: ‚Geld muß her, oder ich werf' euch mit eurem Plunder auf die Straße‘. Wir haben Ihnen nicht geflucht; wohl aber hat mein Mann für Sie gebetet, daß Gott Ihnen das ſteinerne Herz wegnehmen möchte, und heute morgen hat Gott unſer Elend angeſehen: wie ich auf einem Straßenſtein weinte, hat mich dieſer gute Herr da gefunden und mir die dreißig Taler geſchenkt.“ — Gellert winkte, daß ſie ſchweigen ſollte; die Frau aber ſagte: „Winken Sie nur; ich muß es ſagen, ſonſt drückt's mir das Herz ab“. — Neidhardt wurde rot bis über die Ohren. Aber auf einmal nimmt er ſich zuſammen, gibt der Frau dreißig Taler ſtreicht am Pult einen Poſten durch und ſpricht: „Frau, Eure Schuld iſt bezahlt, kaufet Brot und pfleget Euren Kranken“. — Und zu Gellert ſprach er: „Vortrefflicher Herr, Sie können nicht nur ſchön ſchreiben, ſondern auch ſchön handeln. Wir wollen zuſammen zu der armen Familie gehen.“

Geſagt, getan. Und ins elende Stüblein ſchien ein Sonnenſtrahl göttlicher und menſchlicher Hilfe, und des Schuhmachers Gebet wurde über Bitten und Verſtehen erhört; denn Neidhardt tat der Haushaltung von dem Tage an viel Gutes. —

Der kleine dicke Doktor hatte ſich beim Weggehen noch Gellerts Holzvorrat zeigen laſſen und dazu den Kopf geſchüttelt, dennoch aber befohlen, man ſolle dem kranken Herrn recht tüchtig einheizen. Jetzt wollte er heim und ſeiner Frau das neue Lied Gellerts bringen; aber wie er um die Ecke biegt, redet ihn eine arme Frau an: „Herr Doktor, kommen Sie doch zu meinem Mann. Der Herr Profeſſor Gellert und der Herr Neidhardt haben es geſagt.“ — „Schon wieder Gellert“, brummte der Doktor. „Kennt Ihr den, Frau?“ — „Ja“, antwortete die Frau, und Mund und Herz gingen ihr auf. Und der Doktor rief: „Aha, da iſt das Geld hingekommen; darum friert er“. Der Frau fällt's zentnerſchwer aufs Herz, daß der liebe Herr um ihretwillen Mangel haben ſoll. Der Doktor aber ſagte: „Ja, habt nur keinen Kummer, ſo einen verläßt der liebe Gott nicht.“

Der Doktor verſchreibt etwas und eilt jetzt nach Hauſe. Da ſteht ein Burſche mit einem ledigen, geſattelten Pferde. — „Was gibt's?“ fragte der Doktor. „Der Schultheiß von Wachau läßt euch um Gottes willen bitten, gleich hinauszukommen. Seine Frau iſt gefährlich erkrankt.“ — Der Doktor ſchwingt ſich auf das ledige Pferd und trabt davon. Es war faſt nicht durchzukommen. Preußiſches Militär nahm die Straße ein. Endlich kommen ſie vor des Schultheißen Haus an, und der Doktor geht an ſeine Pflicht. Als die Gefahr vorüber iſt, muß er an der Tafel Platz nehmen, wo eben preußiſche Offiziere bei der Mahlzeit ſitzen; denn der Schultheiß hatte auch eine Wirtſchaft. Der Doktor hatte großen Hunger und hieb tapfer drein. Als der Grund ein wenig gelegt war, ſagte der vornehmſte der Offiziere: „Herr Doktor, Sie ſind wohl von Leipzig?“ — „Zu dienen“, antwortete der Doktor und ſchnitt noch ein Stück Bratwurſt ab. — „Kennen Sie auch den Profeſſor und Dichter Gellert?“ — Jetzt legte der Doktor Meſſer und Gabel hin und erwiderte: „Ich bin ſein Arzt — und ſein Freund“. — „So; man hat mir geſagt, er ſei kränklich“ — „Das iſt er leider, ſollte eben mehr Bewegung haben; habe ihm dieſen Morgen geſagt, er ſollte ſich einen Klepper kaufen.“ — „Und das wird er doch tun?“ — „Ja“, ſagte lächelnd der Doktor, „das Wollen wäre ſchon da, aber beim Vollbringen hapert's“ — und dabei rieb er den Zeigefinger am Daumen. — „Iſt Gellert arm?“ fragte der Offizier teilnehmend. — „Arm wie eine Kirchenmaus“; — und nun erzählte der Doktor alles, was er wußte, namentlich vom Neidhardt und vom armen Schuſter. Der Offizier ſchlug die Hände zuſammen, indem er rief: „Und ſo ein herrlicher Mann kann kein Holz und kein Pferd kaufen! Aber, Herr Doktor, laſſen Sie mich doch Gellerts Handſchrift und ſein neues Lied ſehen, von dem Sie ſprachen“, und der Offizier las:

„Ich hab' in guten Stunden
Des Lebens Glück empfunden
Und Freuden ohne Zahl;
So will ich denn gelaſſen
Mich auch im Leiden faſſen;
Welch Leben hat nicht ſeine Qual?
Ja, Herr, ich bin ein Sünder,
Und ſtets ſtrafſt du gelinder,
Als es der Menſch verdient.
Will ich, beſchwert mit Schulden,
Kein zeitlich Weh erdulden,
Das doch zu meinem Beſten dient?
Dir will ich mich ergeben,
Nicht meine Ruh', mein Leben
Mehr lieben als den Herrn;
Dir, Gott, will ich vertrauen
Und nicht auf Menſchen bauen.
Du hilfſt, und du errettеſt gern!

Laß du mich Gnade finden,
Mich alle meine Sünden
Erkennen und bereu'n;
Jetzt hat mein Geiſt noch Kräfte,
Sein Heil laß mein Geſchäfte,
Dein Wort mir Troſt und Leben ſein.
Wenn ich in Chriſto ſterbe,
Bin ich des Himmels Erbe,
Was ſchreckt mich Grab und Tod?
Auch auf des Todes Pfade
Vertrau' ich deiner Gnade;
Du, Herr, biſt bei mir in der Not.
Ich will dem Kummer wehren,
Gott durch Geduld verehren,
Im Glauben zu ihm flehn;
Ich will den Tod bedenken,
Der Herr wird alles lenken,
Und, was mir gut iſt, wird geſchehn.“

Alle Tiſchgenoſſen waren tief gerührt, und bei dem Schultheiß, der eben erſt Schweres durchgemacht, ſchlug eine Träne die andere. Der Offizier aber bat den Doktor um die Erlaubnis, eine Abſchrift von dem herrlichen Liede nehmen zu dürfen, und rief ſeinem Adjutanten zu: „Schreiben Sie mir doch das Gedicht genau und hübſch ab!“ — Der Schultheiß aber, der unten am Tiſch ſaß, rief: „Und ein Mann, der ſo köſtliche Lieder macht, ſollte ſich in

dieſem Winterwetter keine warme Stube machen können? Lieber wollte ich acht Tage frieren, wie ein Windhund. So wahr mir Gott heute aus der Not geholfen hat, das muß anders werden!“ Er machte das Fenſter auf: „He, Fritz! — auf der Stelle belade den großen Güterwagen mit Buchenholz, was darauf geht; fahre mit vier Pferden nach Leipzig zum Profeſſor Gellert, ſage, ich laſſ' ihn freundlich grüßen, und das ſei ein Geſchenk für das ſchöne Lied: ‚Ich hab' in guten Stunden‘ — und er ſollte ſich eine warme Stube machen.“ — „Bravo!“ riefen alle Anweſenden. Und gegen Abend lag vor Gellerts Hauſe ein Haufen Holz, daß es eine Art hatte. Der Doktor aber nahm einen der Offiziere auf die Seite und fragte, wer der hohe Offizier ſei, der das Wort geführt, und erhielt zur Antwort: „Das iſt Prinz Heinrich von Preußen“. —

Gellert aber, der das Holz ſah und hörte, das ſei für das Lied, das er erſt heute gemacht, ſchüttelte den Kopf, konnte ſich's nicht erklären, wie das zugegangen ſei, und wußte nichts Beſſeres zu tun, als mit herzlichem „Gott Lob und Dank!“ zur Ruhe zu gehen. —

Unterdeſſen war ein ganzes preußiſches Heer in Leipzig eingezogen, und am anderen Tage war alles voll Soldaten, und unſer kleiner Doktor wußte faſt gar nicht durchzukommen. Auf der Straße begegnete ihm der alte Reidhardt und ſagte: „Herr Doktor, wie geht's dem armen Schuſter?“ — „Ja, dem haben Sie die beſte Mixtur verſchrieben“, rief lachend der Doktor. „Aber wiſſen Sie auch, daß Gellert die dreißig Taler an ſeinem Munde abgeſpart und dafür jetzt keinen Pfennig hat und keinen Rat weiß und doch noch ein Lied dabei machen kann?“ — Und der Doktor las dem Reidhardt das Lied vor, und er ſtrich ſich eine Träne aus den Augen, ging nach Hauſe, packte dreißig Taler zuſammen, ſchrieb auf ein Papier: „Für das Lied: ‚Ich hab' in guten Stunden‘“, gab ſie ſeiner Magd und ſprach: „Da, lauf hin zum Profeſſor Gellert und gib das Päcklein ab; ſage aber beileibe nicht, woher es kommt“.

Gellert ſaß eben am Schreibpult. Als er das Päcklein öffnete und las, rief er aus: „Das iſt doch zu bunt! Haben denn die Leute das Lied ſchon gedruckt in den Händen? Der Doktor wird doch nicht ....“ Während er ſo grübelte, klopfte man. „Herein!“ und es tritt ein preußiſcher Stabsoffizier herein und meldet, daß Se. Königliche Hoheit, Prinz Heinrich von Preußen, der ſeit geſtern in Leipzig ſei, anfrage, wann er den Herrn Profeſſor beſuchen könne. „Mich beſuchen? Mich? Der Prinz von Preußen mich beſuchen? Das muß ein Irrtum ſein. Sagen Sie Ihrem Herrn, daß ich es mir zur hohen Ehre anrechnen werde, ihm meine Aufwartung zu machen. Bin ich auch krank, ſo bin ich doch nicht bettlägerig.“ Der Offizier erwiderte: „Allerdings, Herr Profeſſor, wollte Se. Königliche Hoheit Sie beſuchen; denn er achtet Sie ſehr hoch. Wollen Sie aber Sich zu ihm bemühen, ſo freue ich mich, Sie begleiten zu dürfen.“ — Gellert zog ſchnell ſein beſtes Kleid an, und nun ging's zum Prinzen. Der hohe Herr reichte dem Profeſſor ſehr freundlich die Hand und ſagte: „Ich freue mich ungemein, den Dichter des Liedes: ‚Ich hab' in guten Stunden‘ u.ſ.w. vor mir zu ſehen“. Wieder wußte Gellert nicht, ob's mit rechten Dingen zugehe, daß der Prinz ebenfalls von dieſem Liede ſprach, getraute ſich aber nicht, der Sache genauer nachzufragen. „Man hat mir geſagt“, fuhr der Prinz fort, „daß Sie unwohl ſeien. Sie ſitzen wahrſcheinlich zu viel, ſehen auch nicht geſund aus.“ — „Mein Beruf macht das Studieren und das Sitzen notwendig“, erwiderte Gellert. — „Mag ſein; aber Sie müſſen Sich und dem deutſchen Volke Ihr Leben zu erhalten ſuchen, Sich mehr Bewegung machen. Sollten ein Pferd halten und täglich ausreiten.“ — „Wohl wahr, Königliche Hoheit, mein Arzt rät mir's auch an; aber nicht jeder hat die Mittel dazu.“ — „Wohl wahr, Herr Profeſſor, beſonders wenn man die letzten dreißig Taler auf einmal einer armen Haushaltung ſpendet.“ — Gellert ſenkte die Augen und wurde ſchamrot. Der Prinz ſah das, ergriff Gellerts Hand und ſagte: „Edler Mann, es ſei ferne von mir, das tadeln zu wollen, was Ihnen einen Gotteslohn bringen muß. Erlauben Sie mir, Ihnen ein Pferd zu verehren, deſſen fromme Art es zu einem Reitpferde für einen Mann des Friedens geeignet macht.“ Gellert wollte danken, aber die Worte ſtockten. Der Prinz ſelbſt war tief bewegt und ſagte: „Ein Geſchäft ruft mich jetzt ab. Leben Sie wohl, teurer Mann!“

Gellert brauchte Zeit, ſich zu ſammeln. Als er zu ſeiner Haustür kam, hieben die Holzſpalter darauf los, und es ſtand ein wunderſchönes Roß mit prächtigem Sattel und ſtattlich gezäumt vor derſelben, und ſeine Hauswirtin rief ihm zu: „Herr Profeſſor, es geſchehen Wunder und Zeichen!“ Gellert aber dichtete aus dankerfülltem Herzen das Lied:

„Wie groß iſt des Allmächt'gen Güte!
Iſt der ein Menſch, den ſie nicht rührt?
Der mit verhärtetem Gemüte
Den Dank erſtickt, der ihm gebührt?
Nein, ſeine Liebe zu ermeſſen,
Sei ewig meine größte Pflicht!
Der Herr hat mein noch nie vergeſſen;
Vergiß, mein Herz, auch ſeiner nicht!

Wer hat mich wunderbar bereitet?
Der Gott, der meiner nicht bedarf.
Wer hat mit Langmut mich geleitet?
Er, deſſen Rat ich oft verwarf.
Wer ſtärkt den Frieden im Gewiſſen?
Wer gibt dem Geiſte neue Kraft?
Wer läßt mich ſoviel Glück genießen?
Iſt's nicht ſein Arm, der alles ſchafft?

Schau, o mein Geiſt! in jenes Leben,
Zu welchem du erſchaffen biſt,
Wo du, mit Herrlichkeit umgeben,
Gott ewig ſehn wirſt, wie er iſt.
Du haſt ein Recht zu dieſen Freuden;
Durch Gottes Güte ſind ſie dein.
Sieh, darum mußte Chriſtus leiden,
Damit du könnteſt ſelig ſein.

Und dieſen Gott ſollt' ich nicht ehren?
Und ſeine Güte nicht verſtehn?
Er ſollte rufen, ich nicht hören?
Den Weg, den er mir zeigt, nicht gehn?
Sein Will' iſt mir ins Herz geſchrieben;
Sein Wort beſtärkt ihn ewiglich.
Gott ſoll ich über alles lieben
Und meinen Nächſten gleich als mich.

Dies iſt mein Dank, dies iſt ſein Wille:
Ich ſoll vollkommen ſein, wie er.
Solang' ich dies Gebot erfülle,
Stell' ich ſein Bildnis in mir her.
Lebt ſeine Lieb' in meiner Seele,
So treibt ſie mich zu jeder Pflicht;
Und ob ich ſchon aus Schwachheit fehle,
Herrſcht doch in mir die Sünde nicht.

O Gott! laß deine Güt' und Liebe
Mir immerdar vor Augen ſein!
Sie ſtärk' in mir die guten Triebe,
Mein ganzes Leben dir zu weihn!
Sie tröſte mich zur Zeit der Schmerzen;
Sie leite mich zur Zeit des Glücks;
Und ſie beſieg' in meinem Herzen
Die Furcht des letzten Augenblicks!“

Am Abend kam der Doktor. Da gab nun ein Wort das andere, und der kleine, dicke Mann wollte faſt zerſpringen vor Lachen und Herzensfreude, und endlich rief er, indem er Hut und Stock nahm: „Diesmal hat Gott der Herr ſelbſt die rechten Rezepte verſchrieben und gleich dafür geſorgt, daß die rechten Apotheker ſie machen mußten“.

## 12. Das Glück durch die Gelbwurſt. (1844.)

Von B. Auerbach.

Schatzkäſtlein des Gevattersmanns. Stuttgart 1876. S. 17.

Der alte Tuchfabrikant Keller pflegte gerne folgende Geſchichte zu erzählen:

Ich war erſt kurze Zeit aus der Fremde zurück und hatte mein eigenes, kleines Geſchäft angefangen. Da war die Leipziger Oſtermeſſe. Ich reiſe hin und nehme einen Kreditbrief von 1000 Speciestalern mit. Das war, wenn man alle Winkelchen zuſammenkehrt, mein ganzes Vermögen; ich war aber jung und geſund, und was glaubt man da nicht mit 1000 Speciestalern machen zu können! Ich reiſe alſo nach Leipzig und gebe meinen Kreditbrief im Hauſe „Frege und Kompagnie“ ab. Der alte Frege läßt meinen Namen in ſein Buch einſchreiben und wünſcht mir gute Geſchäfte. Ich ſehe aber bald, daß ſich mit 1000 Talern nicht viel machen läßt. Was tut's? Geht nicht viel, ſo geht wenig; beſſer leiern, als feiern, ſagt das Sprichwort. Ich ſuche mir alſo eine Partie Wolle aus und gehe hin, um mein Geld zu holen. Da ſagt mir der alte Frege, es ſei gut, daß ich komme, er habe nicht gewußt, wo ich logiere. Ich hatte das nicht gerne geſagt, da ich wieder, wie einſt als Handwerksburſche, in der Herberge wohnte. „Nun“, ſagte der Herr Frege, eſſen Sie morgen mittag bei mir, Sie werden da noch große Geſellſchaft finden.“ Ich konnte nichts darauf erwidern und gehe weg.

Ich erkundige mich nun, was man bei einer ſolchen Einladung zu tun hat, und was dabei herauskommt. Man ſagt mir, wie es Sitte ſei, daß jedes große Handlungshaus ſeine Empfohlenen durch eine Einladung, wie man ſagt, abfüttert; daß nicht viel dabei herauskommt, als daß man das Eſſen teuer bezahlen muß,

indem es mindeſtens 1½ Taler Trinkgeld an die Bedienten koſtet. Das war mir nun gar nicht lieb. Ich rechnete aus, daß mir von 1000 Talern nur noch 998½ blieben, und für ein Mittageſſen konnte ich nicht ſoviel aufwenden. Andern Mittags war ich kurz entſchloſſen. Ich kaufe mir für 2 Groſchen Gelbwurſt, für 6 Pfennige Brot, ſtecke es zu mir und gehe hinaus vor das Tor, in das ſogenannte Roſental. Mein Tiſch war ſchnell gedeckt. Ich ſetze mich auf eine Bank und wickele meine Sachen heraus, ich zerſchneide die Gelbwurſt in ſechs Teile und lege ſie neben mich hin: „das“, ſage ich, „iſt meine Suppe, das mein Fleiſch, das mein Gemüſ' mit Beilage, das meine Fiſche und das mein Braten und Salat“. Ich glaube nicht, daß ſie drinnen in der Stadt bei Frege mehr hatten, und daß es ihnen beſſer ſchmeckte. Ich war eben an der ſüßen Schüſſel, ſie war ſehr gut zubereitet, da ſeh' ich einen Mann auf einem ſchönen Braunen daherreiten; der, denke ich, macht ſich noch ein bißchen Bewegung vor dem Eſſen, daß es ihm beſſer ſchmeckt. Ich wünſchte ihm meinen geſunden Magen, ich brauchte kein Pferd müde zu reiten, um tüchtig einhauen zu können. Schneller, als ich dies ſage und denke, iſt der Reiter bei mir, und zu meinem Schrecken ſehe ich, es iſt der Herr Frege ſelber! In meiner Angſt fällt mir der letzte Biſſen von meiner ſüßen Speiſe aus der Hand, und der vorausſpringende Hund ſchnuppert's gleich auf; ich wickele ſchnell mein Papier zuſammen und weiß mir gar nicht zu helfen. „Ei! Herr Keller!“ ſagt der Herr Frege, „was machen Sie da? Glauben Sie, Sie bekommen bei mir nicht genug zu eſſen?“

Was ſoll ich darauf ſagen? Ich denke: du bleibſt bei der Wahrheit. Ich ſag' ihm nun, daß es ſich bei mir nicht austragen will, gegen zwei Taler Trinkgeld für ein einzig Mittageſſen zu geben, und ſo und ſo, und daß ich mir vorgenommen habe, mich heute abend oder morgen früh zu entſchuldigen, weil ich nicht kommen kann. — Da lacht er ganz laut auf und ſagt: „Ja, das müſſen Sie ja tun, ſonſt werd' ich bös: ich erwarte Sie um fünf Uhr, fehlen Sie ja nicht. Wünſche geſegnete Mahlzeit.“ Und fort war er mit ſeinem Braunen. Ich weiß nun gar nicht, was ich machen ſoll; ich denk' aber: nun, freſſen wird er dich nicht, er muß um fünf Uhr noch genug haben von Mittag her. —

Wie's alſo fünf Uhr gebembert hat, gehe ich hin, man weiſt mich in ſein Comptoir, und da kommt er mir entgegen, nimmt mich bei der Hand und führt mich in das Kabinettchen und ſagt zu mir: „Lieber Herr Keller, Sie haben für 10000 Taler Kredit bei mir; wenn Sie aber das Doppelte brauchen und auch noch mehr, ſagen Sie mir's nur offen“. — Ich ſage: „Sie irren ſich, ich habe nur für 1000 Taler“. Da ſagt er mir: „Es bleibt dabei, wie ich ſchon geſagt habe; Sie ſind ein Mann, der zu ſparen weiß, und heute abend eſſen Sie ganz allein bei mir in meiner Familie“. Und ſo iſt's auch geſchehen, und das hat mir noch beſonders gefallen, daß er die Geſchichte ſeiner Frau und ſeinen Kindern nicht erzählt hat, bis ich von Leipzig fort geweſen bin. Er hat wohl gemerkt, daß es mir leid täte, wenn man auch in aller Güte darüber lachen würde. — So iſt's mir durch die Gelbwurſt möglich geworden, eine der größten Tuchfabriken anzulegen, und ſolange der alte Frege gelebt hat, habe ich jede Meſſe bei ihm allein zu Nacht gegeſſen, und da iſt immer zuletzt noch Gelbwurſt aufgetragen worden.

## 13. Schiller in Lorch.

Von G. Schwab.

Schillers Leben. Stuttgart 1840. S. 17.

Im Jahre 1765 wurde Schillers Vater von ſeinem Herzog als Werbeoffizier nach der Reichsſtadt Schwäbiſch-Gmünd geſchickt und durfte ſeinen Aufenthalt im Dorf und Kloſter Lorch, als nächſtem württembergiſchen Grenzorte, nehmen. Dadurch wurde der Knabe im ſechſten Jahre aus dem lachenden Neckartale in die ernſte Stille eines von Nadelhölzern umſtellten Wieſengrundes verſetzt. Das Dorf Lorch

liegt am Fuße des Hügels, den, ſchon auf der Staffel eines Tannengebirges, die Kloſtergebäude krönen, vor deren Mauern auf einem Vorſprung eine uralte Linde Wache hält. Der Hohenſtaufen mit einem Gefolge von Bergen blickt nach dem Kloſter herüber, das zahlreiche Gräber jenes erlauchten Geſchlechtes umſchließt; in der Tiefe ſchlängelt ſich der Remsfluß freundlicheren Gegenden und ſegensreichen Rebenpflanzungen zu.

In dieſer Einſamkeit, an der das Herz des Dichters noch in ſpäten Jahren hing, wurde jetzt Schillers Erziehung in Gemeinſchaft mit einem Freunde des Hauſes, dem Ortsdiakon Moſer, einem wackeren Manne, beſorgt, der nur wenig Jahre älter war, als Schiller der Vater. Von ihm erhielt der kleine Fritz den erſten Unterricht in der lateiniſchen und griechiſchen Sprache, und Schiller hat ſeinem Lehrer durch den Charakter des Paſtors Moſer in den „Räubern“ ein dankbares Denkmal geſetzt. Mit dem Sohne dieſes würdigen Geiſtlichen, Karl Moſer, ſchloß der Knabe die erſte Jugendfreundſchaft, deren Spuren ſich noch im reifen Alter des Dichters vorfinden. Auch ſeine lang in der Seele fortglimmende Neigung zum Studium der Theologie ſcheint aus den Eindrücken zu ſtammen, die er im Pfarrhauſe zu Lorch aufgenommen hatte. Oft ſah man ihn, mit einer ſchwarzen Schürze ſtatt des Kirchenrockes umbunden, ein Käppchen auf dem Kopfe, von einem Stuhle herab der Mutter und der Schweſter ſehr ernſthaft predigen, und ſeine kindiſchen, aus Bibelſprüchen zuſammengereihten Vorträge zeigten ſchon eine Spur logiſchen Zuſammenhanges.

Von der Entwickelung ſeines ſittlichen Charakters wird ſchon aus dieſer früheſten Periode nur Gutes gemeldet. Er ging gern in Kirche und Schule, und nur die Natur konnte ihn zuweilen zu kleinen Diebſtählen an der Schulzeit verführen, die dem ſtrengen Vater verborgen bleiben mußten; aber auch auf die Spaziergänge begleitete ihn ſein gutes Gemüt und ſeine Menſchenliebe, und mit grenzenloſer Freigebigkeit verſchenkte er an Arme, was er beſaß. Verſunken in Naturgenuß ſtand einſt der achtjährige Knabe mit ſeinem Jugendfreunde im Walde und rief: „O Karl, wie ſchön iſt es hier! Alles, was ich habe, könnte ich hingeben, nur dieſe Freude möchte ich nicht miſſen!“ Er wurde beim Wort genommen: unter der Laſt eines Reiſigbündels ſchlich ein Kind in Lumpen durch den Wald. „Das arme Kind!“ rief der kleine Schiller voll Mitleiden, kehrte ſeine Taſchen um und gab, was er hatte: zehn Kreuzer und eine alte ſilberne Schaumünze, ein Geburtstagsgeſchenk ſeines Vaters, von der er ſich recht ungern trennen mochte. Ein andermal ſtellte er ſich dem Vater ohne Schnallen an den Schuhen dar und geſtand, daß er dieſelben einem armen Jungen zum Sonntagsſchmucke gegeben, weil er ſich ſelbſt mit ſeinen Sonntagsſchnallen begnügen könne. Und an Kameraden verſchenkte er nicht nur Dinge, über die er frei verfügen konnte, ſondern, wenn ihre Armut ſein Mitleid rege machte, Bücher, ja Kleidungsſtücke und Bettlaken, ſo daß ſelbſt der Vater mit fühlbaren Züchtigungen einſchreiten mußte, deren Vollziehung jedoch zuweilen die ſanftere Mutter ſich erbat. Im übrigen waren Gehorſam und Folgſamkeit Grundzüge ſeines Charakters.

Die Natur war der Lieblingsaufenthalt des Knaben; oft wünſchte er in der ſchönen Gegend der Sonne mit lautem Geſange, der überhaupt ſeine jugendlichen Schritte im Freien faſt immer melodiſch begleitete, eine gute Nacht, und wenn er ſich der herrlichen Farbenmiſchung an den Wolken erfreute, rief er wohl gar Stuttgarts Maler laut auf, es zu verſuchen und dieſe Farben auch ſo aufzutragen. Einer ſeiner Lieblingsſpaziergänge war der Kalvarienberg der katholiſchen Nachbarſtadt Gmünd, und nicht ſelten weilte er in den dunklen Hallen der uralten, ſchmuckloſen, düſteren Kirche Lorchs bei den Gräbern der Hohenſtaufen. „Dieſe religiöſen und geſchichtlichen Eindrücke, in des Kindes Gemüt aufgenommen, waren vielleicht die erſten Fäden des magiſchen Gewebes der tragiſchen Darſtellung, die der Genius in ſeiner Seele anlegte.“ Der Vater erklärte ihm dazu die Geſchichtsdenkmale der Gegend;

der Sohn durfte ihn in die Übungslager, zu den Förstern im Walde und auf das schöne Lustschloß Hohenheim begleiten. Auf solche Weise nährten wechselnde Lebensbilder seine Phantasie, und ein einfaches Hausleben kräftigte dabei sein Inneres. Denn „schlichte Sitte, Ehrgefühl und zarte Schonung der Frauen im Familienkreise waren die Lebenselemente, in denen der Knabe aufwuchs". Selbst der rauhe Vater zeigte der Mutter und den Töchtern gegenüber jenes Zartgefühl, das die edle Berichterstatterin, von der wir diese Worte entlehnt haben, als eine ursprüngliche Stimmung der Organisation betrachtet, als eine der Eigenschaften, der man am ersten Erblichkeit zuschreiben kann. So war denn dieses Zartgefühl, verbunden mit Wahrheitsliebe und Gewissenhaftigkeit, auch bei Schiller ein elterliches Erbteil.

Aber jene feinere Behandlung des Knaben und das Beispiel zarter Familienliebe wirkte bei diesem weder leibliche noch geistige Verzärtelung. Sein kühner Geist wagte es schon frühe, über die Grenzen des Elternhauses hinauszuschweifen, und es regte sich beizeiten in ihm jener Weltbürgersinn, der ihn als dramatischen Dichter so edel, frei und stolz machte. Die Tagebücher des neunjährigen Knaben ergingen sich in der Länderbeschreibung und Geschichte Persiens und den Taten Alexanders, und wenn er von Schiffern und Reisenden erzählen hörte, konnte er oft begeistert ausrufen: „Vater, ich muß in die Welt! Auf einem Punkte der Welt bin ich; die Welt selbst kenne ich noch nicht." Und der Mutter, die ihn ermahnte, im Vaterlande zu bleiben und sich redlich zu nähren, erwiderte er mit glühenden Wangen: „Vaterland, Vaterland! haben wir denn ein anderes, als die ganze Welt? Wo es Menschen gibt, da ist das Vaterland. Und verlasse ich dann meine Eltern und Freunde, wenn ich zum Beispiel in Ispahan bin, mich dankbar ihrer erinnere und alles das, was ich mein Glück nenne, mit ihnen teile?" In dieser Sehnsucht verschlang er die Reisen des Kolumbus, die Eroberungen des Cortez, die Weltumsegelung Dampierres. Sein Geist schien zu ahnen, zu welchen Wanderungen durch das Ideengebiet der Menschheit er selbst aufbewahrt sei.

Auch in einigen Handlungen kühner Furchtlosigkeit bildete sich der kecke Unternehmungsgeist vor, der den Mann als Dichter und Denker beseelte.

Bei einem Besuche in Hohenheim wurde der kleine Friedrich sehr lange gesucht. Er war in dem Hause, in welchem der Vater abgestiegen war und das einen Teil der fürstlichen Gebäude ausmachte, die das Schloß umgaben, aus einem Salonfenster gestiegen und hatte eine Entdeckungsreise über die Dächer unternommen. Eben war er im Begriffe, den Löwenkopf, in welchem eine der Dachrinnen auslief, näher zu besichtigen, als der erschrockene Vater ihn entdeckte und ihm laut zurief. Der Knabe aber blieb so lange regungslos auf dem Dache, bis der Zorn des Vaters sich gelegt hatte, und ihm Straflosigkeit zugesichert war.

Ein andermal — noch mochte Schiller nicht über sieben Jahre zählen — fehlte der Kleine zur Zeit des Abendessens, als eben ein finsteres Gewitter am Himmel stand und die Blitze schon die Lüfte durchkreuzten. Im ganzen Hause wurde er vergebens gesucht, und mit jedem Donnerschlage vermehrte sich die Angst der Eltern. Endlich fand man ihn nicht weit vom väterlichen Hause im Wipfel der höchsten Linde, die er unter dem Krachen des ganz nahen Donners jetzt erst zu verlassen Miene machte. „Um Gottes willen, wo bist du gewesen?" rief ihm der geängstete Vater entgegen. „Ich mußte doch wissen, woher das viele Feuer am Himmel kam!" entgegnete der mutige Knabe. — Ist es nicht, als hätte er sich schon am frühen Lebensmorgen im Arsenale der Schöpfung umsehen wollen, um dereinst von ihr jene Flammenblitze zu entlehnen, mit welchen er im Reiche der Geister die lang entweihte Bühne und von der Bühne aus die Welt der Freiheit und Sittlichkeit zu reinigen unternahm?

In seinen Arbeiten zeigte Schiller von früher Jugend auf unermüdliche Beharrlichkeit, und ein Geschäft, das einmal von ihm vorgenommen war, mußte, trotz

der nicht seltenen Vorwürfe des Vaters, oft heimlich, mit Unterbrechung des Schlafes, selbst bei Lampenschein beendet werden. . . . .

Im Jahre 1768 verließ die Schillersche Familie Lorch, wo der Vater in ziemlich beschränkten Umständen gelebt hatte, da er hier während drei ganzer Jahre nicht den mindesten Sold empfing, sondern von seinem Vermögen zehren mußte. Auf eine nachdrückliche Vorstellung bei dem Herzoge ward er endlich von seinem Posten als Werbeoffizier abgerufen und der Garnison Ludwigsburg einverleibt, wo er den rückständigen Sold in Terminen ausbezahlt erhielt. Der neunjährige Fritz Schiller wurde nun in die lateinische Schule zu Ludwigsburg geschickt.

---

## 2) Fabeln.

„Weise hohe Leute haben die Fabeln erdichtet und lassen ein Tier mit dem andern reden, als sollten sie sagen: ‚Wohlan! es will niemand die Wahrheit hören noch leiden, und kann man doch der Wahrheit nicht entbehren; so wollen wir sie schmücken und unter einer lustigen Lügenfarbe und lieblichen Fabeln kleiden, und weil man sie nicht will hören durch Menschen Mund, daß man sie doch höre durch Tiere und Bestien Mund'. So geschieht's denn, wenn man die Fabeln lieset, daß ein Tier dem anderen die Wahrheit sagt: ja zuweilen der gemalte Wolf, Bär oder Löwe im Buch dem rechten zweifüßigen Wolf und Löwen einen guten Text heimlich lieset, den ihm sonst kein Prediger, Freund noch Feind lesen dürfte." Luther

---

### 14. Drei Fabeln.

Aus Äsop, verdeutscht von M. Luther (1530)[1]).

Schriften. Jena 1557. Tl. V.

#### Frevel. Gewalt.

a. Der Anteil des Löwen. (S. 288.)

Ein Löwe, Fuchs und Esel jagten miteinander und fingen einen Hirsch. Da hieß der Löwe den Esel das Wildbret teilen. Der Esel machte drei Teile; des ward der Löwe zornig und riß dem Esel die Haut über den Kopf, daß er blutrünstig dastand, und hieß den Fuchs das Wildbret teilen. Der Fuchs stieß die drei Teile zusammen und gab sie dem Löwen gar. Des lachet der Löwe und sprach: „Wer hat dich so lehren teilen?" Der Fuchs zeiget auf den Esel und sprach: „Der Doktor da im roten Barett".

Diese Fabel lehrt zwei Stücke; das erste: Herren wollen Vorteil haben, und man soll mit Herren nicht Kirschen essen, sie werfen einen mit den Stielen; das andere: das ist ein weiser Mann, der sich an eines andern Unfall bessern kann.

#### Torheit.

b. Vom Hahn und Perlen. (S. 287.)

Ein Hahn scharrte auf dem Miste und fand eine köstliche Perle. Als er dieselbe im Kot so liegen sah, sprach er: „Siehe, du feines Dinglein, liegst hier so jämmerlich! Wenn dich ein Kaufmann fände, der würde dein froh, und du würdest zu großen Ehren kommen; aber du bist mir und ich dir kein nütze. Ich nehme ein Körnlein oder Würmlein und ließe einem alle Perlen. Magst bleiben, wie du liegst."

Diese Fabel lehrt, daß Kunst und Weisheit bei Bauern und groben Leuten verachtet ist, wie man spricht: „Kunst geht nach Brot". Sie warnet aber, daß man die Lehre nicht verachten soll.

---

[1]) Wie in Bd. I, Nr. 9, in der Rechtschreibung v. J. 1902.

c. Die Stadt- und die Feldmaus. (S. 289)

Eine Stadtmaus ging spazieren und kam zu einer Feldmaus; die tat ihr gütlich mit Eicheln, Gerste, Nüssen, und womit sie konnte. Aber die Stadtmaus sprach: „Du bist eine arme Maus, was willst du hier in Armut leben? Komm mit mir! Ich will dir und mir genug schaffen von allerlei köstlicher Speise.“ Die Feldmaus zog mit ihr hin in ein herrliches, schönes Haus, darin die Stadtmaus wohnte, und sie gingen in die Kemnaten; da war vollauf von Brot, Fleisch, Speck, Würsten, Käse und anderem. Da sprach die Stadtmaus: „Nun iß und sei guter Dinge! Solcher Speise habe ich täglich überflüssig.“ Indessen kommt der Kellner und rumpelt mit den Schlüsseln an der Tür. Die Mäuse erschraken und liefen davon; die Stadtmaus fand bald ihr Loch, aber die Feldmaus wußte nirgendshin, lief die Wand auf und ab und hatte sich ihres Lebens erwogen.

Da der Kellner wieder hinaus war, sprach die Stadtmaus: „Es hat nun keine Not, laß uns guter Dinge sein!“ Die Feldmaus antwortete: „Du hast gut sagen; du wußtest dein Loch fein zu treffen, dieweil bin ich schier vor Angst gestorben. Ich will dir sagen, was die Meinung ist. Bleibe du eine reiche Stadtmaus und friß Würste und Speck; ich will ein armes Feldmäuslein bleiben und meine Eicheln essen. Du bist keinen Augenblick sicher vor dem Kellner, vor den Katzen, vor so vielen Mäusefallen, und dir ist das ganze Haus feind. Solches alles bin ich frei und sicher in meinem armen Feldlöchlein.“

In großen Wassern fähet man große Fische, aber in kleinen Wassern fähet man gute Fischlein. — Wer reich ist, hat viel Neider, Sorge, Fahr.

## 15. Sechs Fabeln. (1759.)

Von G. E. Lessing.

Sämtliche Schriften. Herausgegeben von K. Lachmann. Aufs neue durchgesehen und vermehrt von W. v. Maltzahn. Leipzig 1853. Bd. I.

a. Äsopus und der Esel. (S. 173.)

Der Esel sprach zu dem Äsopus: „Wenn du wieder ein Geschichtchen von mir ausbringst, so laß mich etwas recht Vernünftiges und Sinnreiches sagen“.

„Dich etwas Sinnreiches!“ sagte Äsop; „wie würde sich das schicken? Würde man nicht sprechen, du seist der Sittenlehrer, und ich der Esel?“

b. Der Affe und der Fuchs. (S. 166.)

„Nenne mir ein so geschicktes Tier, dem ich nicht nachahmen könnte!“ so prahlte der Affe gegen den Fuchs. Der Fuchs aber erwiderte: „Und du, nenne mir ein so geringschätziges Tier, dem es einfallen könnte, dir nachzuahmen“.

Schriftsteller meiner Nation! — — Muß ich mich noch deutlicher erklären?

c. Der Dornstrauch. (S. 184.)

„Aber sage mir doch“, fragte die Weide den Dornstrauch, „warum du nach den Kleidern des vorbeigehenden Menschen so begierig bist? Was willst du damit? Was können sie dir helfen?“

„Nichts!“ sagte der Dornstrauch. „Ich will sie ihm auch nicht nehmen; ich will sie ihm nur zerreißen.“

d. Die Geschichte des alten Bolfes (in sieben Fabeln)[1]. (S. 191.)

[1.] Der böse Wolf war zu Jahren gekommen und faßte den gleißenden Entschluß, mit den Schäfern auf einem gütlichen Fuße zu leben. Er machte sich also

[1]) „Ihr, die ihr vom Geschick erhöht,
Weit über uns erhaben steht,
Wie groß ihr wirklich seid, zu wissen,
Wird Euch das Glück erst stürzen müssen.“ (1753.)

auf und kam zu dem Schäfer, deſſen Horden ſeiner Höhle die nächſten waren. „Schäfer“, ſagte er, „du nenneſt mich den blutgierigen Räuber, der ich doch wirklich nicht bin. Freilich muß ich mich an deine Schafe halten, wenn mich hungert; denn Hunger tut weh. Schütze mich nur vor dem Hunger; mache mich nur ſatt, und du ſollſt mit mir recht wohl zufrieden ſein. Denn ich bin wirklich das zahmſte, ſanftmütigſte Tier, wenn ich ſatt bin.“ — „Wenn du ſatt biſt? Das kann wohl ſein“, verſetzte der Schäfer. „Aber wann biſt du denn ſatt? Du und der Geiz werden es nie. Geh deinen Weg!“

[2.] Der abgewieſene Wolf kam zu einem zweiten Schäfer. „Du weißt, Schäfer“, war ſeine Anrede, „daß ich dir das Jahr durch manches Schaf würgen könnte. Willſt du mir überhaupt jedes Jahr ſechs Schafe geben, ſo bin ich zufrieden. Du kannſt alsdann ſicher ſchlafen und die Hunde ohne Bedenken abſchaffen.“ — „Sechs Schafe?“ ſprach der Schäfer. „Das iſt ja eine ganze Herde.“ — „Nun, weil du es biſt, ſo will ich mich mit fünfen begnügen“, ſagte der Wolf. — „Du ſcherzeſt: Fünf Schafe! Mehr als fünf Schafe opfere ich kaum im ganzen Jahre dem Pan.“ — „Auch nicht vier?“ fragte der Wolf weiter, und der Schäfer ſchüttelte ſpöttiſch den Kopf. — „Drei? — Zwei?“ — — „Nicht ein einziges“, fiel endlich der Beſcheid. „Denn es wäre ja wohl töricht, wenn ich mich einem Feinde zinsbar machte, vor welchem ich mich durch meine Wachſamkeit ſichern kann.“

[3.] „Aller guten Dinge ſind drei“, dachte der Wolf und kam zu einem dritten Schäfer. „Es geht mir recht nahe“, ſprach er, „daß ich unter euch Schäfern als das grauſamſte, gewiſſenloſeſte Tier verſchrieen bin. Dir, Montan, will ich jetzt beweiſen, wie unrecht man mir tut. Gib mir jährlich ein Schaf, ſo ſoll deine Herde in jenem Walde, den niemand unſicher macht als ich, frei und unbeſchädigt weiden dürfen. Ein Schaf, welche Kleinigkeit! Könnte ich großmütiger, könnte ich uneigennütziger handeln? — Du lachſt, Schäfer? Worüber lachſt du denn?“ — „O über nichts! Aber wie alt biſt du, guter Freund?“ ſprach der Schäfer. — „Was geht dich mein Alter an? Immer noch alt genug, dir deine liebſten Lämmer zu würgen.“ — „Erzürne dich nicht, alter Iſegrim: Es tut mir leid, daß du mit deinem Vorſchlage einige Jahre zu ſpät kommſt. Deine ausgebiſſenen Zähne verraten dich. Du ſpielſt den Uneigennützigen, bloß um dich deſto gemächlicher, mit deſto weniger Gefahr nähren zu können.“

[4.] Der Wolf ward ärgerlich, faßte ſich aber doch und ging auch zu dem vierten Schäfer. Dieſem war eben ſein treuer Hund geſtorben, und der Wolf machte ſich den Umſtand zunutze. „Schäfer“, ſprach er, „ich habe mich mit meinen Brüdern in dem Walde veruneinigt, und ſo, daß ich mich in Ewigkeit nicht wieder mit ihnen ausſöhnen werde. Du weißt, wieviel du von ihnen zu fürchten haſt! Wenn du mich aber anſtatt deines verſtorbenen Hundes in Dienſte nehmen willſt, ſo ſtehe ich dir dafür, daß ſie keines deiner Schafe auch nur ſcheel anſehen ſollen.“ — „Du willſt ſie alſo“, verſetzte der Schäfer, „gegen deine Brüder im Walde beſchützen?“ — „Was meine ich denn ſonſt? Freilich!“ — „Das wäre nicht übel! Aber, wenn ich dich nun in meine Horden einnehme, ſage mir doch, wer ſollte alsdann meine armen Schafe gegen dich beſchützen? Einen Dieb ins Haus nehmen, um vor den Dieben außer dem Hauſe ſicher zu ſein, das halten wir Menſchen . . .“ — „Ich höre ſchon“, ſagte der Wolf; „du fängſt an zu moraliſieren. Lebe wohl!“

[5.] „Wäre ich nicht ſo alt!“ knirſchte der Wolf. „Aber ich muß mich leider in die Zeit ſchicken.“ Und ſo kam er zu dem fünften Schäfer. — „Kennſt du mich, Schäfer?“ fragte der Wolf. — „Deinesgleichen wenigſtens kenne ich“, verſetzte der Schäfer. — „Meinesgleichen? daran zweifle ich ſehr. Ich bin ein ſo ſonderbarer Wolf, daß ich deiner und aller Schäfer Freundſchaft wohl wert bin.“ — „Und wie ſonderbar biſt du denn?“ — „Ich könnte kein lebendiges Schaf würgen und

freſſen, und wenn es mir das Leben koſten ſollte. Ich nähre mich bloß mit toten Schafen. Iſt das nicht löblich? Erlaube mir alſo immer, daß ich mich dann und wann bei deiner Herde einfinden und nachfragen darf, ob dir nicht . . . .“ — „Spare der Worte!“ ſagte der Schäfer. „Du müßteſt gar keine Schafe freſſen, auch nicht einmal tote, wenn ich dein Feind nicht ſein ſollte. Ein Tier, das mir ſchon tote Schafe frißt, lernt leicht aus Hunger kranke Schafe für tot und geſunde für krank anſehen. Mache auf meine Freundſchaft alſo keine Rechnung und geh!“

[6.] „Ich muß nun ſchon mein Liebſtes daran wenden, um zu meinem Zwecke zu gelangen“, dachte der Wolf und kam zu dem ſechſten Schäfer. „Schäfer, wie gefällt dir mein Pelz?“ fragte der Wolf. — „Dein Pelz?“ ſagte der Schäfer. „Laß ſehen! er iſt ſchön, die Hunde müſſen dich nicht oft untergehabt haben.“ — „Nun, ſo höre, Schäfer; ich bin alt und werde es ſolange nicht mehr treiben. Füttere mich zu Tode, und ich vermache dir meinen Pelz.“ — „Ei, ſieh doch!“ ſagte der Schäfer. „Kommſt du auch hinter die Schliche der alten Geizhälſe? Nein, nein, dein Pelz würde mich am Ende ſiebenmal mehr koſten, als er wert wäre. Iſt es dir aber ein Ernſt, mir ein Geſchenk zu machen, ſo gib mir ihn gleich jetzt.“ — Hiermit griff der Schäfer nach der Keule, und der Wolf floh.

[7.] „O die Unbarmherzigen!“ ſchrie der Wolf und geriet in die äußerſte Wut. „So will ich auch als ihr Feind ſterben, ehe mich der Hunger tötet; denn ſie wollen es nicht beſſer!“ — Er lief, brach in die Wohnungen der Schäfer ein, riß ihre Kinder nieder und ward nicht ohne große Mühe von den Schäfern erſchlagen. — Da ſprach der weiſeſte von ihnen: „Wir taten doch wohl unrecht, daß wir den alten Räuber auf das Äußerſte brachten und ihm alle Mittel zur Beſſerung, ſo ſpät und erzwungen ſie auch war, benahmen!“

### e. Herkules. (S. 174.)

Als Herkules in den Himmel aufgenommen ward, machte er ſeinen Gruß unter allen Göttern der Juno zuerſt. Der ganze Himmel und Juno erſtaunten darüber. „Deiner Feindin“, rief man ihm zu, „begegneſt du ſo vorzüglich?“ — „Ja, ihr ſelbſt“, erwiderte Herkules; „nur ihre Verfolgungen ſind es, die mir zu den Taten Gelegenheit gegeben, womit ich den Himmel verdient habe.“ — Der Olymp billigte die Antwort des neuen Gottes, und Juno ward verſöhnt.

### f. Die Sperlinge. (S. 188.)

Eine alte Kirche, welche den Sperlingen unzählige Neſter gab, ward ausgebeſſert. Als ſie nun in ihrem neuen Glanze daſtand, kamen die Sperlinge wieder, ihre alten Wohnungen zu ſuchen. Allein ſie fanden ſie alle vermauert. „Zu was“, ſchrieen ſie, „taugt nun das große Gebäude? Kommt, verlaſſet den unbrauchbaren Steinhaufen!“

## 16. Der Hahn, die Tauben und der Geier.

Von A. v. Haller.

Werke. Herausgegeben von A. Freh. Stuttgart 1885. S. 138.

Einige Tauben ſuchten ſich an etwas Korn zu ſättigen. Ein Haushahn kam dazu, brauchte Gewalt und vertrieb die Tauben. Im erſten Verdruß über das erlittene Unrecht ſahen ſie einen Geier, der eben über dem Hofe ſchwebte, und riefen ihn an, ſie zu rächen. Der Geier kam, zerriß den Hahn und bald darauf die Tauben, die ſich über den Tod ihres Feindes freueten.

„Ihr Staaten, die ſo leicht ein ſchlechter Nutz entzweit,
Die ihr als einzeln ſchwach, und ſtark, wann einig, ſeid,
O lernt bei dieſem Bild die kleine Rache meiden
Und lieber den Verluſt, als Unterdrückung leiden.
Die Fabel malt euch vor, was allemal geſchah;
Bleibt einig, oder bebt; der Geier iſt ſchon da!“

## 17. Zwei Fabeln.

Von A. G. Meißner.

### a. Der Frühlingsschnee.

Skizzen. Tübingen 1780. 1. Samml., S. 123.

Mitten am schönsten Frühlingstage ließ eine Schneewolke ihre ganze Last auf die Erde herabsinken, und Tal und Hügel wurden weiß gekleidet.

„Wir haben die Gestalt des Landes verändert! Wir haben den Lenz verjagt, haben den Winter im Triumph zurückgebracht!“ So riefen die niedergefallenen Schneeflocken.

„Jauchzt doch nicht so laut und früh!“ erwiderte die Erde. „Diese Veränderung ist ja viel zu schnell, um dauerhaft zu sein!“ — Indem sie dies noch sagte, brach die Sonne durchs Gewölk, und der Schnee zerging.

### b. Das Streitroß und die Ackergäule.

Skizzen. Tübingen 1780. 12. Samml., S. 336.

I.

Ein edles, schöngebautes Roß, von Jugend auf in allen denjenigen Künsten geübt, wodurch man das bessere Pferd vom Haufen gemeiner Lastiere auszeichnet, hatte das Unglück, seinen Herrn zu verlieren und in die Hände eines feindlichen Soldaten zu fallen, der solches aus Unwissenheit oder Geldbedürfnis an einen gemeinen Bauer verkaufte.

Unwillig sah dieses treffliche Geschöpf sich nun in seinem neuen Dienste zur niedrigsten Arbeit verdammt; unwillig zog es, sonst zum Kampfe und zur Reitbahn bestimmt, jetzt den Ackerpflug, und um dasselbe noch tiefer zu kränken, spotteten seiner die anderen, neidischen Karrengäule beim kleinsten Fehler.

„Sollte man's denken?“ rief einst einer der elendesten Hengste, da es nicht schnell genug die Furchen zog, „so schön gewachsen, soviel sich dünkend, so hochgelahrt und doch — so ungeschickt.“

„Schweig, Elender!“ antwortete jetzt zum ersten Male das Roß. „Eben weil ich mich zu besseren Geschäften bestimmt fühle, bin ich dieser hier unfähig. Es gehört eine niedere Seele dazu, um gewisse niedere Arbeiten gern und gut auszuführen!“

II.

Ein Esel weidete nicht weit davon, hörte die Antwort des Rosses, überdachte sich dieses ein Weilchen und rief dann:

„Herrlich! Herrlich! Weiß ich doch nun den Grund, warum es mir so übel behagt, wenn mein Herr eine Last mir aufbürdet!“

Das edle Pferd warf nur einen verachtenden Blick auf ihn und fand ihn der Belehrung gleich unfähig als unwert.

---

Aber eine gewisse Klasse von Menschen verdient doch wohl Zurechtweisung, wenn sie, nur um untätig zu sein, sich anstellt, als ob alle Arbeit für sie zu niedrig wäre?

## 18. Der Sperling und seine vier Kinder.

Von J. und W. Grimm.

Kinder und Hausmärchen. Große Ausgabe. Berlin 1886. S. 558.

Ein Sperling hatte vier Junge in einem Schwalbennest. Wie sie nun flügge sind, stoßen böse Buben das Nest ein, sie kommen aber alle glücklich im Windbraus davon. Nun ist dem Alten leid, weil seine Söhne in die Welt kommen, daß er sie nicht vor allerlei Gefahr erst verwarnt und ihnen gute Lehren fürgesagt habe.

Aufn Herbst kommen in einem Weizenacker viel Sperling zusammen; allda trifft der Alte seine vier Jungen an, die führt er voll Freuden mit sich heim. „Ach, meine lieben Söhne, was habt ihr mir den Sommer über Sorge gemacht, dieweil

ihr ohne meine Lehre in Winde kamet; höret meine Worte und folget euerm Vater und sehet euch wohl vor: kleine Vöglein haben große Gefährlichkeit auszustehen!" Darauf fragte er den älteren, wo er sich den Sommer über aufgehalten und wie er sich ernähret hätte. — „Ich habe mich in den Gärten gehalten, Räuplein und Würmlein gesucht, bis die Kirschen reif wurden." — „Ach, mein Sohn", sagte der Vater, „die Schnabelweid' ist nicht bös, aber es ist große Gefahr dabei; darum habe fortan deiner wohl acht, und sonderlich wenn Leut' in Gärten umhergehen, die lange grüne Stangen tragen, die inwendig hohl sind und oben ein Löchlein haben." — „Ja, mein Vater, wenn dann ein grün Blättlein aufs Löchlein mit Wachs geklebt wäre?" spricht der Sohn. — „Wo hast du das gesehen?" — „In eines Kaufmanns Garten", sagte der Junge. — „O mein Sohn", spricht der Vater, „Kaufleut', geschwinde Leut'! bist du um die Weltkinder gewesen, so hast du Weltgeschmeidigkeit genug gelernt, siehe und brauch's nur recht wohl und trau dir nicht zuviel."

Darauf befragt er den andern: „Wo hast du dein Wesen gehabt?" — „Zu Hofe", spricht der Sohn. — „Sperling und alberne Vöglein dienen nicht an diesem Ort, da viel Gold, Sammet, Seiden, Wehr, Harnisch, Sperber, Kauzen und Blaufüß' sind, halt dich zum Roßstall, da man den Hafer schwingt, oder wo man drischet, so kann dir 's Glück mit gutem Fried auch dein täglich Körnlein bescheren." — „Ja, Vater", sagte dieser Sohn, „wenn aber die Stalljungen Hebritzen machen und ihre Maschen und Schlingen ins Stroh binden, da bleibt auch mancher behenken." — „Wo hast du das gesehen?" fagte der Alte. — „Zu Hof, beim Roßbuben." — „O, mein Sohn, Hofbuben, böse Buben! bist du zu Hof und um die Herren gewesen und hast keine Federn da gelassen, so hast du ziemlich gelernet und wirst dich in der Welt wohl wissen auszureißen, doch siehe dich um und auf; die Wölfe fressen auch oft die gescheiten Hündlein."

Der Vater nimmt den dritten auch vor sich: „Wo hast du dein Heil versucht?" — „Auf den Fahrwegen und Landstraßen habe ich Kübel und Seil eingeworfen und da bisweilen ein Körnlein oder Gräuplein angetroffen." — „Dies ist ja", sagte der Vater, „eine feine Nahrung, aber merk gleichwohl auf die Schanz' und siehe fleißig auf, sonderlich wenn sich einer bücket und einen Stein aufheben will, da ist dir nicht lang zu bleiben." — „Wahr ist's", sagte der Sohn; „wenn aber einer zuvor einen Wand- oder Handstein im Busen oder Tasche trüge?" — „Wo hast du dies gesehen?" — „Bei den Bergleuten, lieber Vater, wenn sie ausfahren, führen sie gemeinlich Handsteine bei sich." — „Bergleut', Werkleut', anschlägige Leut'! bist du um Bergburschen gewesen, so hast du etwas gesehen und erfahren.

Fahr hin und nimm deiner Sachen gleichwohl gut acht,
Bergbuben haben manchen Sperling mit Kobalt umbracht."

Endlich kommt der Vater an den jüngsten Sohn: „Du, mein liebes Gackenneſtle, du warst allzeit der albernst und schwächeſt, bleib du bei mir, die Welt hat viel grober und böser Vögel, die krumme Schnäbel und lange Krallen haben und nur auf arme Vöglein lauern und sie verschlucken: halt dich zu deinesgleichen und lies die Spinnlein und Räuplein von den Bäumen oder Häuslein, so bleibst du lang zufrieden." — „Du, mein lieber Vater, wer sich nährt ohn' anderer Leut' Schaden, der kommt lang hin, und kein Sperber, Habicht, Aar oder Weih wird ihm nicht schaden, wenn er zumal sich und seine ehrliche Nahrung dem lieben Gott all Abend und Morgen treulich befiehlt, welcher aller Wald- und Dorfvöglein Schöpfer und Erhalter ist, der auch der jungen Räblein Geschrei und Gebet höret, denn ohne seinen Willen fällt auch kein Sperling oder Schneekünglein auf die Erde." — „Wo hast du dies gelernt?" — Antwortet der Sohn: „Wie mich der große Windbraus von dir wegriß, kam ich in eine Kirche, da las ich den Sommer die Fliegen und Spinnen von den Fenstern ab und hörte diese Sprüch' predigen, da hat mich der Vater aller Sperlinge den Sommer über ernährt und behütet vor allem Unglück und grimmigen

Vögeln.“ — „Traun! mein lieber Sohn, fleuchſt du in die Kirchen und hilfeſt Spinnen und die ſumſenden Fliegen aufräumen und zirpſt zu Gott wie die jungen Räblein und befiehlſt dich dem ewigen Schöpfer, ſo wirſt du wohl bleiben, und wenn die ganze Welt voll wilder tückiſcher Vögel wäre.

Denn wer dem Herrn befiehlt ſeine Sach',
Schweigt, leidet, wartet, betet, braucht Glimpf, tut gemach,
Bewahrt Glaub' und gut Gewiſſen rein,
Dem will Gott Schutz und Helfer ſein.“

## 19. Himmelsblau und Wolken.

Von H. Peſtalozzi.

Sämtliche Schriften. Stuttgart u. Tübingen 1828. Bd. X (Figuren zu meinem Abc-Buch), S. 14.

Ein Bauernkind verachtete die Wolken und ſagte zum Vater: „Wenn ſie nur den ſchönen blauen Himmel nie mehr bedeckten!“ Der Vater antwortete ihm: „Armes Kind! Was haſt du vom ſchönen Himmelsblau? Die grauen Wolken ſind für uns der ſegnende Himmel!“

Wenn ich Scharen glänzender Müßiggänger herſtrotzen und neben ihnen einen Kirchgang in Zwillich gekleideter Landleute vorbeigehen ſehe, ſo denke ich an dieſes Himmelsblau und an dieſes Wolkengrau.

---

# 3) Parabeln, Allegorieen und Paramythieen.

## 20. Der Weinſtock.

Von G. v. Herder.

Sämtliche Werke. Herausgegeben von B. Suphan. Berlin 1882. Bd. XXVI, S. 318.

Am Tage der Schöpfung rühmten die Bäume gegeneinander, frohlockend ein jeglicher über ſich ſelbſt. „Mich hat der Herr gepflanzt“, ſo ſprach die erhabene Zeder; „Feſtigkeit und Wohlgeruch, Dauer und Stärke hat er in mir vereint.“ — „Jehovas Huld hat mich zum Segen geſetzt“, ſo ſprach der umſchattende Palmbaum; „Nutzen und Schönheit hat er in mir vermählt.“ Der Apfelbaum ſprach: „Wie ein Bräutigam unter den Jünglingen, prange ich unter den Bäumen des Paradieſes“. Und die Myrte ſprach: „Wie unter den Dornen die Roſe, ſtehe ich unter meinen Geſchwiſtern, dem niedrigen Geſträuch“. So rühmten alle, der Öl- und Feigenbaum, ſelbſt die Fichte und Tanne rühmte ſich.

Der einzige Weinſtock ſchwieg und ſank zu Boden. „Mir“, ſprach er zu ſich ſelbſt, „ſcheint alles verſagt zu ſein, Stamm und Äſte, Blüten und Frucht; aber ſo wie ich bin, will ich noch hoffen und warten.“ Er ſank danieder, und ſeine Zweige weinten.

Nicht lange wartete und weinte er; ſiehe, da trat die Gottheit der Erde, der freundliche Menſch, zu ihm. Er ſah ein ſchwaches Gewächs, ein Spiel der Lüfte, das unter ſich ſank und Hilfe begehrte. Mitleidig richtete er es auf und ſchlang den zarten Baum an ſeine Laube. Froher ſpielten jetzt die Lüfte mit ſeinen Reben, die Glut der Sonne durchdrang ihre harten, grünenden Körner, bereitend in ihnen den ſüßen Saft, den Trank für Götter und Menſchen. Mit reichen Trauben geſchmückt, neigte bald der Weinſtock ſich zu ſeinem Herrn nieder, und dieſer koſtete ſeinen erquickenden Saft und nannte ihn ſeinen Freund. Die ſtolzen Bäume beneideten jetzt die ſchwanke Ranke; denn viele von ihnen ſtanden ſchon entfruchtet da; er aber freute ſich ſeiner ſchlanken Geſtalt und ſeiner harrenden Hoffnung.

Darum erfreut ſein Saft noch jetzt des Menſchen Herz und hebt empor den niedergeſunkenen Mut und erquickt den Betrübten. —

* * *

Verzage nicht, Verlaſſener, und harre duldend aus! Im unanſehnlichen Rohre quillt der ſüßeſte Saft; die ſchwache Rebe gebiert Begeiſterung und Entzückung.

## 21. Die Reue.

Von F. Krummacher.

Parabeln. Eſſen 1840. Bd. I, S. 204.

Ein Landmann hatte mit eigenen Händen eine Reihe edler Obſtbäumchen gezogen. Zu ſeiner großen Freude trugen ſie die erſten Früchte, und er war begierig, zu ſehen, von welcher Art ſie ſein möchten.

Da kam der Sohn des Nachbars, ein böſer Bube, in den Garten und lockte den Sohn des Landmannes, alſo daß ſie hingingen und die Bäumchen alleſamt ihrer Früchte beraubten, ehe ſie denn völlig gereift waren.

Als nun der Herr des Gartens herzutrat und die kahlen Bäumchen erblickte, da ward er ſehr bekümmert und rief: „Ach, warum hat man mir das getan? Böſe Buben haben mir meine Freude verdorben!"

Dieſe Worte gingen dem Söhnlein des Landmannes ſehr zu Herzen, und er lief zu dem Sohne des Nachbars und ſprach: „Ach, mein Vater iſt bekümmert um die Tat, welche wir verübt haben. Nun hab' ich keine Ruhe mehr in meinem Gemüte. Mein Vater wird mich nicht mehr lieben, ſondern mit Verachtung ſtrafen, wie ich verdient habe."

Da antwortete jener: „Du Tor, dein Vater weiß es ja nicht und wird es niemals erfahren. Du mußt es ihm ſorgfältig verhehlen und auf deiner Hut ſein."

Als aber Gotthold — denn ſo hieß der Knabe — nach Hauſe kam und das freundliche Antlitz ſeines Vaters ſah, da vermochte er nicht, wieder freundlich zu ihm hinaufzuſehen. Denn er dachte: wie ſollte ich ihn fröhlich anſehen können, den ich betrübt habe? Kann ich doch mich ſelber nicht anblicken. Es liegt mir wie ein dunkler Schatten in meinem Herzen. —

Jetzo trat der Vater herzu und reichte jeglichem ſeiner Kinder von den Früchten des Herbſtes und Gotthold desgleichen. Da hüpften die Kinder herbei und freueten ſich ſehr und aßen. Gotthold aber verbarg ſein Angeſicht und weinte bitterlich.

Da hub der Vater an und ſprach: „Mein Kind, was weineſt du?" — Und Gotthold antwortete: „Ach! ich bin nicht wert, daß ich dein Kind heiße. Ich kann es nicht länger tragen, daß ich vor dir ein anderer erſcheine, als ich bin und mich ſelbſt erkenne. Lieber Vater, tue mir ferner nicht mehr Gutes, ſondern ſtrafe mich, damit ich wieder zu dir kommen darf und aufhöre, mein eigener Quäler zu ſein. Laß mich nur hart büßen für mein Vergehen; denn ſiehe, ich habe die jungen Bäumchen beraubt."

Da reichte ihm der Vater die Hand, drückte ihn an ſein Herz und ſprach: „Ich vergebe dir, mein Kind; gebe Gott, daß dieſes das erſte und letzte Mal ſei, daß du etwas zu verhehlen haſt. Dann ſoll es mir nicht leid ſein um die Bäumchen."

## 22. Das Kornfeld.

Von F. Krummacher.

Parabeln. Eſſen 1840. Bd. I, S. 24.

Der Sommermond hatte die Saaten des Feldes gereift. Die vollen Ähren rauſchten im Winde, und der Landmann war ſchon hinausgegangen, zu ſehen, ob er die Schnitter ſenden müſſe. Er bedachte den Platz ſeiner Scheuer und berechnete in ſich den Gewinn, den ihm der Reichtum ſeines Feldes bringen ſollte. Denn er war reich; aber ſein Herz war ungenügſam und karg und voll irdiſcher Sorgen.

Da nahete ſich ihm der weiſe Lehrer der Gemeine und ſagte: „Die Erde

bringet auch dieſes Jahr reichlich das Brot hervor. Die Ähren ſind ſchwer, und bald werden die Schnitter reiche Garben binden!"

„Wohl wahr", erwiderte der Landmann, „man hätte kaum ein geſegneteres Jahr erwarten mögen. Das Land wird die Ausſaat vielfältig wiedergeben."

Da antwortete der edle Pfarrherr und ſprach: „Möchte denn auch der vernünftige Herr der Erde die tote Scholle, die er beackert, nachahmen. Sie empfängt nur des Samens ein wenig und erſtattet ihn vielfältig. Der Menſch empfing ſo viel, und bringet oft ſo wenig."

Dieſe Rede traf das Herz des kargen Ackermannes, und er fühlte ſich beſchämt. Denn er war karg und voll Sorgen für die kommenden Tage und nur darauf bedacht, ſich Schätze zu ſammeln.

Aber er verhehlte die innere Scham und ſprach zu dem Pfarrherrn: „Wohl ſollte jedermann tätig ſein, ſein Hausweſen fein zu beſorgen, damit er auch einſt andere erfreuen möge. Deshalb ſoll der Menſch im Schweiße ſeines Angeſichtes arbeiten, daß er ſich ſelber das Nützliche reichlich hervorbringe, ſo wie die wohlbeackerten Felder die Ausſaat vervielfältigen. Darum verſammelt auch die Natur Ähre an Ähre auf den Gefilden, und das ganze Saatfeld ſcheinet nur *ein* Halm zu ſein."

Aber der Pfarrherr ſagte darauf: „Wohl iſt die Geſtalt des Kornfeldes einfach, und es reihet ſich die Ähre an die Ähre, auf daß viele verſorgt werden. Aber die Zeit der Ausſaat iſt kurz, und das Korn wächſet ohne menſchliches Zutun von ſelber und bringet den Halm und die Ähre, und die Tage der Ernte währen auch nur kurze Zeit. So mag denn der Menſch mit Muße ſein Gefild beſchauen, und die blaue Cyane und den rotglühenden Mohn und die Purpurblume betrachten, die zwiſchen den Halmen blühen, und die Lerche hören, die aus den Furchen zum Himmel emporſchwebt. Denn nicht umſonſt blühen jene und ſchwebet dieſe zwiſchen und über den einförmigen Halmen empor. Sie ſollen den Herrn des Feldes erinnern, daß es noch etwas anderes gibt, als den Staub der Furche und die Ähre, die aus ihm emporwächſt, damit er in dem Streben nach dem Nützlichen auch des Schönen und Guten gedenke und von dem niederen Boden zu dem Höheren ſich erhebe." —

Alſo redete der edle Pfarrherr. Aber den kargen Ackermann verdroß die Rede, und er ging mit finſterer Stirn von dannen. Denn die gute Lehre des weiſen Mannes dünket dem böſen Herzen ein herber Spott und iſt ihm eine bittere Wurzel.

## 23. Die Pfirſiche.

Von *F. Krummacher.*

Parabeln. Eſſen 1840. Bd. I, S. 63.

Ein Landmann brachte aus der Stadt fünf Pfirſiche mit, die ſchönſten, die man ſehen konnte. Seine Kinder aber ſahen dieſe Frucht zum erſten Male. Deshalb wunderten und freuten ſie ſich ſehr über die ſchönen Äpfel mit den rötlichen Backen und zartem Flaum. Darauf verteilte ſie der Vater unter ſeine vier Knaben, und eine erhielt die Mutter.

Am Abend, als die Kinder in das Schlafkämmerlein gingen, fragte der Vater: „Nun, wie haben euch die ſchönen Äpfel geſchmeckt?"

„Herrlich, lieber Vater", ſagte der Älteſte. „Es iſt eine ſchöne Frucht, ſo ſäuerlich und ſo ſanft von Geſchmack. Ich habe mir den Stein ſorgſam bewahrt und will mir daraus einen Baum erziehen."

„Brav!" ſagte der Vater, „das heißt haushälteriſch auch für die Zukunft geſorgt, wie es dem Landmanne geziemt!"

„Ich habe die meinige ſogleich aufgegeſſen", rief der Jüngſte, „und den Stein fortgeworfen, und die Mutter hat mir die Hälfte von der ihrigen gegeben. O, das ſchmeckte ſo ſüß und zerſchmilzt einem im Munde."

„Nun“, sagte der Vater, „du hast zwar nicht sehr klug, aber doch natürlich und nach kindlicher Weise gehandelt. Für die Klugheit ist auch noch Raum genug im Leben.“

Da begann der zweite Sohn: „Ich habe den Stein, den der kleine Bruder fortwarf, gesammelt und aufgeklopft. Es war ein Kern darin, der schmeckte so süß wie eine Nuß. Aber meine Pfirsich hab' ich verkauft und soviel Geld dafür erhalten, daß ich, wenn ich nach der Stadt komme, wohl zwölf dafür kaufen kann.“

Der Vater schüttelte den Kopf und sagte: „Klug ist das wohl, aber — kindlich wenigstens und natürlich war es nicht. Bewahre dich der Himmel, daß du kein Kaufmann werdest!“

„Und du Edmund?“ fragte der Vater. — Unbefangen und offen antwortete Edmund: „Ich habe meine Pfirsich dem Sohne unseres Nachbars, dem kranken Georg, der das Fieber hat, gebracht. Er wollte sie nicht nehmen. Da hab' ich sie ihm auf das Bett gelegt und bin hinweggegangen.“

„Nun!“ sagte der Vater, „wer hat denn wohl den besten Gebrauch von seiner Pfirsich gemacht?“

Da riefen sie alle drei: „Das hat Bruder Edmund getan!“ — Edmund aber schwieg still. Und die Mutter umarmte ihn mit einer Trän' im Auge.

## 24. Die Zeder. (Etwa 1774.)

Von W. v. Goethe.

Werke. Nach den vorzüglichsten Quellen revidierte Ausgabe. Berlin 1868. Tl. III (Gedichte, herausgegeben von F. Strehlke), S. 213.

Es stand eine herrliche Zeder auf Libanon in ihrer Kraft vor dem Antlitz des Himmels. Und daß sie so strack dastund, des ergrimmten die Dornsträucher umher und riefen: „Weh dem Stolzen! Er überhebt sich seines Wuchses!“ Und wie die Winde die Macht ihrer Äste bewegten und Balsamgeruch das Land erfüllte, wandten sich die Dörner und schrieen: „Wehe dem Übermütigen! Sein Stolz braust auf wie Wellen des Meeres! Verdirb ihn, Heiliger vom Himmel!“

Eine Zeder wuchs auf zwischen Tannen; sie teilten mit ihr Regen und Sonnenschein. Und sie wuchs und wuchs über ihre Häupter und schaute weit ins Tal umher. Da riefen die Tannen: „Ist das der Dank, daß du dich nun überhebest, dich, die du so klein warst, dich, die wir genährt haben?“ Und die Zeder sprach: „Rechtet mit dem, der mich wachsen hieß!“

Da nun die Männer kamen vom Meer und die Axt ihr an die Wurzel legten, da erhub sich ein Frohlocken: „Also strafet der Herr die Stolzen, also demütigt er die Gewaltigen!“

Und sie stürzte und zerschmetterte die Frohlocker, die verzettelt wurden unter dem Reisig.

Und sie stürzte und rief: „Ich habe gestanden und ich werde stehen!“ Und die Männer richteten sie auf zum Maste im Schiffe des Königs, und die Segel wehten von ihm her und brachten die Schätze aus Ophir in des Königs Kammer.

## 25. Gotteslohn. (Parabel aus dem 17. Jahrhundert.)

Von Cl. Brentano.

Gesammelte Schriften. Herausgegeben von Chr. Brentano. Frankfurt a. M. 1852. Bd. IV, S. 474.

Ein reicher, unbarmherziger Mann hatte einen großen Ackerbau und bestellte ihn wohl, ackerte tief, düngte reichlich, säte viel und hatte einen starken Viehstand. Bei der jährlichen Berechnung der Ausgabe und des Ertrages fand er aber immer Verlust statt Gewinn, und daß der Same nicht geerntet und die Kosten verloren worden, sein Vieh mannigfach verderbte, und seine Äcker und Wiesen sich ganz entkräftet und unfruchtbar befanden.

In seiner Nähe hatte ein armer Einsiedler nur ein kleines Feld, nur eine magere

Kuh, der er ſelbſt das Gras an ſteilen Felſen und in Sümpfen zuſammenſuchen mußte, weil er keine Wieſen hatte; doch erntete der arme Mann immer die Hülle und die Fülle und konnte ſeinen reichen Nachbarn ſelbſt manchmal das Saatkorn borgen. Da fragte ihn der Reiche einſt: „Sage mir, wie ſoll ich meinen Ackerbau nur anſtellen, daß ich zum Ertrage komme?“ Und der Einſiedler antwortete ihm: „Führe einen ſilbernen Zaun um deine Felder und Wieſen, ſo wird Gott dich ſegnen“. Der Reiche erwiderte: „Das ſtehet nicht in meinem Vermögen, und ich will nicht, wie jener Schwabe, Nadeln ausſäen, damit mir ein eiſerner Zaun daraus wachſe“. Der Einſiedler aber ſprach: „Du verſtehſt mich nicht; wechſele um einige Taler Scheidemünze ein, komm damit morgen wieder zu mir, ſo will ich dich lehren, den ſilbernen Zaun zu pflanzen“. Dieſes tat der Reiche und fand am andern Morgen von dem Einſiedler einige hundert Arme wie einen Zaun um ſeine Felder geſtellt, und denen mußte er die Münze mit freundlichen Worten austeilen. Da ſprachen ſie alle von Herzen: „Gott vergelte es! Gott lohne es!“ Und der Einſiedler ſagte ihm: „Sieh, das iſt mein ſilberner Zaun“.

Da wurde der reiche Mann wunderbar durch die Gnade Gottes gerührt, und zuerſt erfüllte ſich die Verheißung des Einſiedlers an ſeinem unfruchtbarſten Acker, ſeinem harten Herzen; denn es entſprang ein Quell aus dieſem nackten Felſen, und Tränen der Liebe floſſen reichlich von ſeinen Wangen. Aber auch ſeine Felder und Wieſen prangten bald im überſchwenglichen Segen, er konnte ſeinen ſilbernen Zaun immer dichter und reicher machen, und er ward bald ſo mild und ſelig, daß er in jedem Armen unſeren Herrn ſelbſt zu ſehen glaubte und ſo endlich die Liebe Gottes als eine ſilberne Mauer um Hab und Gut führte, daß ihn die Engel, als er ſelbſt geerntet wurde, im Schutze des Himmels fanden und zu deſſen Freuden ihn eintrugen.

## 26. Tod und Schlaf.

Von F. Krummacher.

Parabeln. Eſſen 1840. Bd. I, S. 9.

Brüderlich umſchlungen durchwandelten der Engel des Schlummers und der Todesengel die Erde. Es ward Abend. Sie lagerten ſich auf einem Hügel, nicht fern von den Wohnungen der Menſchen. Eine wehmütige Stille waltete ringsumher; auch das Abendglöckchen im fernen Dörflein verſtummte.

Still und ſchweigend, wie es ihre Weiſe iſt, ſaßen die beiden wohltätigen Genien der Menſchheit in traulicher Umarmung, und ſchon nahete die Nacht.

Da erhob ſich der Engel des Schlummers von ſeinem bemooſten Lager und ſtreute mit leiſer Hand die unſichtbaren Schlummerkörnlein. Die Abendwinde trugen ſie zu den ſtillen Wohnungen des müden Landmannes. Nun umfing der ſüße Schlaf die Bewohner der ländlichen Hütten, vom Greiſe, der am Stabe geht, bis zu dem Säuglinge in der Wiege. Der Kranke vergaß ſeiner Schmerzen, der Trauernde ſeines Kummers, die Armut ihrer Sorgen. Aller Augen ſchloſſen ſich.

Jetzt nach vollendetem Geſchäft legte ſich der wohltätige Engel des Schlummers wieder zu ſeinem ernſteren Bruder. „Wenn die Morgenröte erwacht“, rief er mit fröhlicher Unſchuld, „dann preiſen mich die Menſchen als ihren Freund und Wohltäter! O, welche Freude, ungeſehen und heimlich wohlzutun! Wie glücklich ſind wir unſichtbaren Boten des guten Geiſtes! Wie ſchön unſer ſtiller Beruf!“

So ſprach der freundliche Engel des Schlummers.

Ihn ſah der Todesengel mit ſtiller Wehmut an, und eine Träne, wie die Unſterblichen ſie weinen, trat in ſein großes, dunkles Auge. „Ach“, ſprach er, „daß ich nicht, wie du, des fröhlichen Dankes mich freuen kann! Mich nennt die Erde ihren Feind und Freudenſtörer!“

„O, mein Bruder“, erwiderte der Engel des Schlafes, „wird nicht auch beim

Erwachen der Gute in dir seinen Freund und Wohltäter erkennen und dankbar dich segnen? Sind wir nicht Brüder und — Boten eines Vaters?"

So sprach er. Da glänzte das Auge des Todesengels, und zärtlicher umfingen sich die brüderlichen Genien.

## 27. Die Morgenröte.

Von G. v. Herder.

Sämtliche Werke. Herausgegeben von B. Suphan. Berlin 1883. Bd. XXVI, S. 349.

Hast du die schöne Morgenröte gesehen? Sie leuchtet hervor aus Gottes Gemach, ein Strahl des unvergänglichen Lichtes, die Trösterin der Menschen.

Als David einst, verfolgt von seinen Feinden, in einer schauerlichen Nacht auf dem Hermonsberge saß, den trauervollsten seiner Psalmen spielend: „Löwen und Tiger brüllen um mein Ohr, der Bösen Rotte hat mich rings umgeben, und ich seh' keinen Helfer!" [1] — siehe, da ging die Morgenröte auf. Mit glänzenden Augen sprang sie hervor, die frühgejagte Hindin, und hüpfte auf den Bergen und sprach zu ihm wie ein Engel auf den Hügeln: „Was grämst du dich, daß du verlassen seist? Ich riß hervor aus dunkler Nacht; aus grauenvoller Finsternis wird Morgen!"

Getröstet hing an ihrem Blick sein Auge, bis sie zur Sonne ward und Heil der Welt aufging mit ihren mächtigen Flügeln. Frohlockend wandten sich die Töne seines Gesanges, den er das Lied der Morgenröte nannte, der frühgejagten Hindin.[2]

Auch späterhin sang er oft diesen Psalm und dankte Gott für die Bedrängnisse, die er in früher Jugend überstand; und jedesmal kam mit dem Psalm ihm Morgenrot in seine düstere Seele.

* * *

Tochter Gottes, heilige Morgenröte! Du blickst täglich nieder und weihst den Himmel und die Welt; weih täglich auch mein Herz zu deiner stillen Wohnung.

## 28. Nacht und Tag.

Von G. v. Herder.

Sämtliche Werke. Herausgegeben von B. Suphan. Berlin 1883. Bd. XXVIII, S. 142.

Nacht und Tag stritten miteinander um den Vorzug; der feurige, glänzende Knabe Tag fing an zu streiten.

„Arme, dunkle Mutter", sprach er, „was hast du wie meine Sonne, wie meinen Himmel, wie meine Fluren, wie mein geschäftiges, rastloses Leben? Ich erwecke, was du getötet hast, zum Gefühl eines neuen Daseins; was du erschlafftest, rege ich auf."

„Dankt man dir aber auch immer für deine Aufregung", sprach die bescheidene, verschleierte Nacht. „Muß ich nicht erquicken, was du ermattest? und wie kann ich's anders, als meistens durch die Vergessenheit deiner? — Ich hingegen, die Mutter der Götter und Menschen, nehme alles, was ich erzeugte, mit seiner Zufriedenheit in meinen Schoß; sobald es den Saum meines Kleides berührt, vergißt es all dein Blendwerk und neigt sein Haupt sanft nieder. Und dann erhebe, dann nähre ich die ruhig gewordene Seele mit himmlischem Tau. Dem Auge, das unter deinem Sonnenstrahle nie gen Himmel zu sehen wagte, enthülle ich, die verhüllte Nacht, ein Heer unzähliger Sonnen, unzähliger Bilder, neue Hoffnungen, neue Sterne."

Eben berührte der schwatzende Tag den Saum ihres Gewandes, und schweigend und matt sank er selbst in ihren umhüllenden Schoß. Sie aber saß in ihrem Sternenmantel, in ihrer Sternenkrone, mit ewig ruhigem Antlitz.

---

[1] Vgl. Ps. 22, 17; vgl. V. 14. — [2] Ps. 22 Überschrift.

## 29. Der ſterbende Schwan.

Von G. v. Herder.

Sämtliche Werke. Herausgegeben von B. Suphan. Berlin 1882. Bd. XXVIII, S. 143.

„Muß ich allein, denn ſtumm und geſanglos ſein?“ ſprach ſeufzend der ſtille Schwan zu ſich ſelbſt und badete ſich im Glanz der ſchönſten Abendröte; „beinahe ich allein im ganzen Reich der gefiederten Scharen. Zwar der ſchnatternden Gans und der gluckenden Henne und dem krächzenden Pfau beneide ich ihre Stimmen nicht; aber dir, o ſanfte Philomele, beneide ich ſie, wenn ich, wie feſtgehalten durch dieſelbe, langſamer meine Wellen ziehe und mich im Abglanz des Himmels trunken verweile. Wie wollte ich dich ſingen, goldne Abendſonne! Dein ſchönes Licht und meine Seligkeit ſingen, mich in den Spiegel deines Roſenantlitzes niedertauchen und ſterben!“

Still entzückt tauchte der Schwan nieder, und kaum hob er ſich aus den Wellen wieder empor, als eine leuchtende Geſtalt, die am Ufer ſtand, ihn zu ſich lockte. Es war der Gott der Abend- und Morgenſonne, der ſchöne Phöbus. „Holdes, liebliches Weſen“, ſprach er, „die Bitte iſt dir gewährt, die du ſo oft in deiner verſchwiegenen Bruſt nährteſt und die dir nicht eher gewährt werden konnte.“ Kaum hatte er das Wort geſagt, ſo berührte er den Schwan mit ſeiner Leier und ſtimmte auf ihr den Ton der Unſterblichen an. Entzückend durchdrang der Ton den Vogel Apollos; aufgelöſet und ergoſſen ſang er in die Saiten des Gottes der Schönheit; dankbar-froh beſang er die ſchöne Sonne, den glänzenden See und ſein unſchuldiges, ſeliges Leben. Sanft, wie ſeine Geſtalt, war das harmoniſche Lied; lange Wellen zog er daher in ſüßen, entſchlummernden Tönen, bis er ſich — in Elyſium wiederfand, am Fuße des Apollo, in ſeiner wahren, himmliſchen Schönheit. Der Geſang, der ihm im Leben verſagt war, war ſein Schwanengeſang geworden, der ſanft ſeine Glieder auflöſen mußte; denn er hatte den Ton der Unſterblichen gehört und das Antlitz eines Gottes geſehen. Dankbar ſchmiegte er ſich an den Fuß Apollos und horchte ſeinen göttlichen Tönen, als eben auch ſein treues Weib ankam, die ſich in ſüßem Geſange ihm nach zu Tode geklagt. Die Göttin der Unſchuld nahm beide zu ihren Lieblingen an, das ſchöne Geſpann ihres Muſchelwagens, wenn ſie im See der Jugend badet.

Gedulde dich, ſtilles, hoffendes Herz! Was dir im Leben verſagt iſt, weil du es nicht ertragen könnteſt, gibt dir der Augenblick deines Todes.

## 30. Die Stimme der Tränen.

Von G. v. Herder.

Sämtliche Werke. Herausgegeben von B. Suphan. Berlin 1882. Bd. XXVI, S. 336.

Drei Tage war Iſaak im Herzen ſeines Vaters tot; denn am vierten Tag hatte Gott ſich ihn zum Opfer erkoren. Schweigend zog Abraham gen Moriah hin, in den tiefſten Gram verſunken, als ihn die freundliche Stimme des Kindes weckte: „Siehe, mein Vater, hier iſt Feuer und Holz, wo iſt aber das Lamm zum Opfer?“

„Mein Sohn“, ſprach Abraham, „Gott hat ihm ſelbſt erſehen ein Opferlamm!“ So gingen die beiden ſchweigend miteinander.

Und als ſie kamen an die Opferſtätte, und der Altar gebaut, und alles bereitet war, ergriff der Vater ſeinen Sohn und legte ihn auf den Altar und faßte das Meſſer in die Rechte und ſah gen Himmel hinauf. Der Knabe duldete, ſchwieg und blickte mit weinendem Auge zum Himmel hinauf.

Die ſtumme Träne im Auge des Vaters und des Kindes durchdrang die Wolken und trat zum Herzen Gottes mit großem Geſchrei. „Abraham!“ rief der Engel des Herrn vom Himmel herab, „Abraham, ſchone des Knaben und tue ihm nichts! Es iſt genug!“

Freudig nahm der Vater den wiedergeſchenkten Sohn, das Opfer Gottes, zurück und hieß die ſchrecklich-frohe Stätte: „Jehova ſchaut!“ Er ſchaut die ſtumme Träne im Auge des Leidenden; er ſieht des Herzens Jammer, der ängſtlicher ruft als alles Geſchrei.

* * *

Dreifach ist das Gebet der Menschen zu Gott, und kräftiger ist eines als das andere. Ein Gebet mit stiller Stimme gefällt ihm wohl; er hört's tief im Herzen und nimmt's auch von der stammelnden Lippe gnädig auf.

Das Gebet der Not mit großem Geschrei durchdringt die Wolken und häuft glühende Kohlen auf des Unterdrückers Haupt.

Doch mächtig über alles ist die Träne des Verlassenen, der fest an Gott sich hält und stirbt. Sie sprengt Pforten und Riegel und bringt zum Herzen Gottes und bringt den Blick des Schauenden hernieder.

## 31. Licht und Liebe.

Von G. v. Herder.

Sämtliche Werke. Herausgegeben von B. Suphan. Berlin 1882. Bd. XXVI, S. 312.

Im Anfange war alles wüst und leer, ein kalter Meeresabgrund; die Elemente der Dinge lagen wild durcheinander. Da wehte Lebenshauch vom Munde des Ewigen und brach des Eises Ketten und regte wie eine brütende Taube die erwärmenden Mutterflügel sanft.

In dunkler Tiefe regte sich alles jetzt, aufringend zur Geburt. Da erschien der Erstgeborene, das sanft erfreuende Licht.

Das holde Licht, vereint mit der Mutterliebe, die über den Wassern schwebte; sie schwangen sich auf zum Himmel und webten das goldene Blau; sie fuhren hinunter zur Tiefe und füllten mit Leben sie an; sie trugen die Erd' empor, einen Gottesaltar, bestreuend sie mit immerverjüngten Blumen; den kleinsten Staub beseelten sie.

Und als sie Meer und Tiefen und Luft und Erde mit Leben erfüllt hatten, da standen sie ratschlagend still und sprachen zueinander: „Lasset uns Menschen schaffen, unser Bild; ein Gleichnis des, der Himmel und Erde und Licht und Liebe schuf". Da fuhr Leben in den Staub, da strahlte Licht des Menschen göttliches Antlitz an, und Liebe wählte sein Herz zu ihrer stillen Wohnung.

Der ewige Vater sah's und nannte die Schöpfung gut; denn alles fühlte, alles durchdrang sein immerwirkend Licht und seine holde Tochter, die belebende Liebe, selbst.

* * *

Was murrst du, müßiger Weiser, und staunst die Welt wie ein dunkles Chaos an? Das Chaos ist geordnet; ordne du dich selbst. Im wirkenden Leben nur ist Menschenfreude; in Licht und Liebe nur des Schöpfers Seligkeit.

## 32. Das Kind der Barmherzigkeit.

Von G. v. Herder.

Sämtliche Werke. Herausgegeben von B. Suphan. Berlin 1882. Bd. XXVI, S. 318.

Als der Allmächtige den Menschen erschaffen wollte, versammelte er ratschlagend die obersten Engel um sich. „Erschaffe ihn nicht!", so sprach der Engel der Gerechtigkeit; „er wird unbillig gegen seine Brüder sein und hart und grausam gegen den Schwächeren handeln." „Erschaffe ihn nicht!", so sprach der Engel des Friedens; „er wird die Erde düngen mit Menschenblut; der Erstgeborene seines Geschlechts wird seinen Bruder morden." „Dein Heiligtum wird er mit Lügen entweihen", so sprach der Engel der Wahrheit; „und ob du ihm dein Bildnis selbst, der Treue Siegel, auf sein Antlitz prägtest."

Noch sprachen sie, als die Barmherzigkeit, des ewigen Vaters jüngstes, liebstes Kind, zu seinem Throne trat und seine Kniee umfaßte. — „Bild' ihn", sprach sie, „Vater, zu deinem Bilde selbst, ein Liebling deiner Güte. Wenn alle deine Diener ihn verlassen, will ich ihn suchen und ihm liebend beistehen und seine Fehler selbst zum Guten lenken. Des Schwachen Herz will ich mitleidig machen und zum Erbarmen gegen Schwächere neigen. Wenn er vom Frieden und der Wahrheit irrt, wenn er Gerechtigkeit und Billigkeit beleidigt, so sollen seines Irrtums Folgen selbst zurück ihn führen und mit Liebe bessern."

Der Vater der Menſchen bildete den Menſchen, ein fehlbar-ſchwaches Geſchöpf, aber in Fehlern ſelbſt ein Zögling ſeiner Güte, Sohn der Barmherzigkeit, Sohn einer Liebe, die nimmer ihn verläßt, ihn immer beſſernd. —

* * *

Erinnere dich deines Urſprungs, Menſch, wenn du hart und unbillig biſt. Von allen Gotteseigenſchaften hat Barmherzigkeit zum Leben dich erwählt, und lebend reichte dir Erbarmung nur und Liebe die mütterliche Bruſt.

---

## 4) Märchen.[1])

### 33. Dornröschen.

Von J. und W. Grimm.

Kinder- und Hausmärchen. Große Ausgabe. Berlin 1886. S. 195.

Vorzeiten war ein König und eine Königin, die ſprachen jeden Tag: „Ach, wenn wir doch ein Kind hätten!“ und kriegten immer keins. Da trug ſich zu, als die Königin einmal im Bade ſaß, daß ein Froſch aus dem Waſſer ans Land kroch und zu ihr ſprach: „Dein Wunſch wird erfüllt werden — ehe ein Jahr vergeht, wirſt du eine Tochter zur Welt bringen“. Was der Froſch geſagt hatte, das geſchah, und die Königin gebar ein Mädchen, das war ſo ſchön, daß der König vor Freude ſich nicht zu laſſen wußte und ein großes Feſt anſtellte. Er ladete nicht bloß ſeine Verwandten, Freunde und Bekannten, ſondern auch die weiſen Frauen dazu ein, damit ſie dem Kind hold und gewogen wären. Es waren ihrer dreizehn in ſeinem Reiche; weil er aber nur zwölf goldene Teller hatte, von welchen ſie eſſen ſollten, ſo mußte eine von ihnen daheim bleiben. Das Feſt ward mit aller Pracht gefeiert, und als es zu Ende war, beſchenkten die weiſen Frauen das Kind mit ihren Wundergaben: die eine mit Tugend, die andere mit Schönheit, die dritte mit Reichtum, und ſo mit allem, was auf der Welt zu wünſchen iſt. Als elfe ihre Sprüche eben getan hatten, trat plötzlich die dreizehnte herein. Sie wollte ſich dafür rächen, daß ſie nicht eingeladen war, und ohne jemand zu grüßen oder nur anzuſehen, rief ſie mit lauter Stimme: „Die Königstochter ſoll ſich in ihrem fünfzehnten Jahre an einer Spindel ſtechen und tot hinfallen“. Und ohne ein Wort weiter zu ſprechen, kehrte ſie ſich um und verließ den Saal. Alle waren erſchrocken; da trat die zwölfte hervor, die ihren Wunſch noch übrig hatte, und weil ſie den böſen Spruch nicht aufheben, ſondern ihn nur mildern konnte, ſo ſagte ſie: „Es ſoll aber kein Tod ſein, ſondern ein hundertjähriger tiefer Schlaf, in welchen die Königstochter fällt“.

Der König, der ſein liebes Kind vor dem Unglück gern bewahren wollte, ließ den Befehl ausgehen, daß alle Spindeln im ganzen Königreiche ſollten verbrannt werden. An dem Mädchen aber wurden die Gaben der weiſen Frauen ſämtlich erfüllt; denn es war ſo ſchön, ſittſam, freundlich und verſtändig, daß es jedermann, der es anſah, liebhaben mußte. — Es geſchah, daß an dem Tage, wo es gerade fünfzehn Jahre alt ward, der König und die Königin nicht zu Hauſe waren, und das Mädchen ganz allein im Schloſſe zurückblieb. Da ging es allerorten umher, beſah Stuben und Kammern, wie es Luſt hatte, und kam endlich auch an einen alten Turm. Es ſtieg die enge Wendeltreppe hinauf und gelangte zu einer kleinen Tür. In dem Schloſſe ſteckte ein verroſteter Schlüſſel, und als es umdrehte, ſprang die Tür auf, und ſaß da in einem kleinen Stübchen eine alte Frau mit einer Spindel und ſpann emſig ihren Flachs. „Guten Tag, du altes Mütterchen“, ſprach die Königstochter, „was machſt du da?“ — „Ich ſpinne“, ſagte die Alte und nickte mit dem Kopf. — „Was iſt das für ein Ding, das ſo luſtig herumſpringt?“ ſprach das Mädchen, nahm

[1]) Aus Goethes „Dichtung und Wahrheit“ iſt das Märchen „Der neue Paris“ zu leſen.

die Spindel und wollte auch spinnen. Kaum hatte sie aber die Spindel angerührt, so ging der Zauberspruch in Erfüllung, und sie stach sich damit in den Finger.

In dem Augenblicke aber, wo sie den Stich empfand, fiel sie nieder auf das Bett, das dastand, und in tiefen Schlaf. Und dieser Schlaf verbreitete sich über das ganze Schloß: der König und die Königin, die eben heimgekommen und in den Saal getreten waren, fingen an einzuschlafen, und der ganze Hofstaat mit ihnen. Da schliefen auch die Pferde im Stall, die Hunde im Hofe, die Tauben auf dem Dache, die Fliegen an der Wand, ja, das Feuer, das auf dem Herde flackerte, ward still und schlief ein, und der Braten hörte auf zu brutzeln, und der Koch, der den Küchenjungen, weil er etwas versehen hatte, an den Haaren ziehen wollte, ließ ihn los und schlief. Und der Wind legte sich, und auf dem Baume vor dem Schlosse regte sich kein Blättchen mehr.

Rings um das Schloß aber begann eine Dornenhecke zu wachsen, die jedes Jahr höher ward und endlich das ganze Schloß umzog und darüber hinauswuchs, daß gar nichts mehr davon zu sehen war, selbst nicht die Fahne auf dem Dach. Es ging aber die Sage in dem Lande von dem schönen schlafenden Dornröschen, denn so ward die Königstochter genannt, also daß von Zeit zu Zeit Königssöhne kamen und durch die Hecke in das Schloß dringen wollten. Es war ihnen aber nicht möglich, denn die Dornen, als hätten sie Hände, hielten fest zusammen, und die Jünglinge blieben darin hängen, konnten sich nicht wieder losmachen und starben eines jämmerlichen Todes. Nach langen, langen Jahren kam wieder einmal ein Königssohn durch das Land und hörte, wie ein alter Mann von der Dornenhecke erzählte, es sollte ein Schloß dahinter stehen, in welchem eine wunderschöne Königstochter, Dornröschen genannt, schon seit hundert Jahren schliefe, und mit ihr schliefe der König und die Königin und der ganze Hofstaat. Er wußte auch von seinem Großvater, daß schon viele Königssöhne gekommen wären und versucht hätten, durch die Dornenhecke zu dringen, aber sie wären darin hangen geblieben und eines traurigen Todes gestorben. Da sprach der Jüngling: „Ich fürchte mich nicht, ich will hinaus und das schöne Dornröschen sehen". Der gute Alte mochte ihm abraten, wie er wollte, er hörte nicht auf seine Worte.

Nun waren aber gerade die hundert Jahre verflossen, und der Tag war gekommen, wo Dornröschen wieder erwachen sollte. Als der Königssohn sich der Dornenhecke näherte, waren es lauter große, schöne Blumen, die taten sich von selbst auseinander und ließen ihn unbeschädigt hindurch; und hinter ihm taten sie sich wieder als eine Hecke zusammen. Im Schloßhof sah er die Pferde und scheckigen Jagdhunde liegen und schlafen, auf dem Dache saßen die Tauben und hatten das Köpfchen unter den Flügel gesteckt. Und als er ins Haus kam, schliefen die Fliegen an der Wand, der Koch in der Küche hielt noch die Hand, als wollte er den Jungen anpacken, und die Magd saß vor dem schwarzen Huhn, das sollte gerupft werden. Da ging er weiter und sah im Saale den ganzen Hofstaat liegen und schlafen, und oben bei dem Throne lag der König und die Königin. Da ging er noch weiter, und alles war so still, daß einer seinen Atem hören konnte, und endlich kam er zu dem Turm und öffnete die Tür zu der kleinen Stube, in welcher Dornröschen schlief. Da lag es und war so schön, daß er die Augen nicht abwenden konnte, und er bückte sich und gab ihm einen Kuß. Wie er es mit dem Kusse berührt hatte, schlug Dornröschen die Augen auf, erwachte und blickte ihn ganz freundlich an. Da gingen sie zusammen hinab, und der König erwachte und die Königin und der ganze Hofstaat und sahen einander mit großen Augen an. Und die Pferde im Hofe standen auf und rüttelten sich; die Jagdhunde sprangen und wedelten; die Tauben auf dem Dache zogen das Köpfchen unterm Flügel hervor, sahen umher und flogen ins Feld; die Fliegen an den Wänden krochen weiter, das Feuer in der Küche erhob sich, flackerte und kochte das Essen; der Braten fing wieder an zu brutzeln, und der Koch gab dem Jungen eine

Ohrfeige, daß er ſchrie, und die Magd rupfte das Huhn fertig. Und da wurde die Hochzeit des Königsſohnes mit dem Dornröschen in aller Pracht gefeiert, und ſie lebten vergnügt bis an ihr Ende.

## 34. Drei Wünſche.

Von P. Hebel.

Sämtliche Werke. Karlsruhe 1832. Bd. III (Erzählungen des rheiniſchen Hausfreundes), S. 12.

Ein junges Ehepaar lebte recht vergnügt und glücklich beiſammen und hatte den einzigen Fehler, der in jeder menſchlichen Bruſt daheim iſt: wenn man's gut hat, hätt' man's gerne beſſer. Aus dieſem Fehler entſtehen ſoviele törichte Wünſche, woran es unſerem Hans und ſeiner Lieſe auch nicht fehlte. Bald wünſchten ſie des Schulzen Acker, bald des Löwenwirtes Geld, bald des Meiers Haus und Hof und Vieh, bald einmalhunderttauſend Millionen bayeriſche Taler kurzweg. Eines Abends aber, als ſie friedlich am Ofen ſaßen und Nüſſe aufklopften und ſchon ein tiefes Loch in den Stein hineingeklopft hatten, kam durch die Kammertür ein weißes Weiblein herein, nicht mehr als eine Elle lang, aber wunderſchön von Geſtalt und Angeſicht, und die ganze Stube war voll Roſenduft. Das Licht löſchte aus; aber ein Schimmer wie Morgenrot, wenn die Sonne nicht mehr fern iſt, ſtrahlte von dem Weiblein aus und überzog alle Wände. Über ſo etwas kann man nun doch ein wenig erſchrecken, ſo ſchön es ausſehen mag. Aber unſer gutes Ehepaar erholte ſich doch bald wieder, als das Fräulein mit wunderſüßer, ſilberreiner Stimme ſprach: „Ich bin eure Freundin, die Bergfei Anna Fritze, die im kriſtallenen Schloß mitten in den Bergen wohnt, mit unſichtbarer Hand Gold in den Rheinſand ſtreut und über ſiebenhundert dienſtbare Geiſter gebietet. Drei Wünſche dürft ihr tun; drei Wünſche ſollen erfüllt werden." Hans drückte den Ellbogen in den Arm ſeiner Frau, als ob er ſagen wollte: „Das lautet nicht übel". Die Frau aber war ſchon im Begriff, den Mund zu öffnen und etwas von ein paar Dutzend goldgeſtickten Kappen, ſeidenen Halstüchern und dergleichen zur Sprache zu bringen, als die Bergfei ſie mit aufgehobenem Zeigefinger warnte. „Acht Tage lang", ſagte ſie, „habt ihr Zeit. Bedenkt euch wohl, und übereilt euch nicht." „Das iſt kein Fehler", dachte der Mann, und legte ſeiner Frau die Hand auf den Mund. Das Bergfräulein aber verſchwand. Die Lampe brannte wie vorher, und ſtatt des Roſenduftes zog wieder wie eine Wolke am Himmel der Oldampf durch die Stube.

So glücklich nun unſere guten Leute in der Hoffnung ſchon zum voraus waren und keinen Stern am Himmel mehr ſahen, ſondern lauter Baßgeigen, ſo waren ſie jetzt doch recht übel daran, weil ſie vor lauter Wunſch nicht wußten, was ſie wünſchen wollten, und nicht einmal das Herz hatten, recht daran zu denken oder davon zu ſprechen, aus Furcht, es möchte für gewünſcht paſſieren, ehe ſie es genug überlegt hätten. Nun ſagte die Frau: „Wir haben ja noch Zeit bis am Freitag".

Des andern Abends, während die Grundbirnen zum Nachteſſen in der Pfanne praſſelten, ſtanden beide, Mann und Frau, vergnügt an dem Feuer zuſammen, ſahen zu, wie die kleinen Feuerfünklein an der rußigen Pfanne hin und her züngelten, bald angingen, bald auslöſchten, und waren, ohne ein Wort zu reden, vertieft in ihrem künftigen Glück. Als ſie aber die geröſteten Grundbirnen aus der Pfanne auf das Plättlein anrichtete, und ihr der Geruch lieblich in die Naſe ſtieg: „Wenn wir jetzt nur ein gebratenes Würſtlein dazu hätten", ſagte ſie in aller Unſchuld, und ohne an etwas anderes zu denken, und — o weh, da war der erſte Wunſch getan. — Schnell, wie ein Blitz kommt und vergeht, kam es wieder wie Morgenrot und Roſenduft untereinander durch das Kamin herab, und auf den Grundbirnen lag die ſchönſte Bratwurſt. — Wie gewünſcht, ſo geſchehen. — Wer ſollte ſich über einen ſolchen Wunſch und ſeine Erfüllung nicht ärgern? welcher Mann über ſolche Unvorſichtigkeit ſeiner Frau nicht unwillig werden?

„Wenn dir doch nur die Wurſt an der Naſe angewachſen wäre", ſprach er in der erſten Überraſchung, auch in aller Unſchuld, und ohne an etwas anderes zu

denken; — und wie gewünſcht, ſo geſchehen. Kaum war das letzte Wort geſprochen, ſo ſaß die Wurſt auf der Naſe des guten Weibes feſt, wie angewachſen im Mutterleib, und hing zu beiden Seiten hinab wie ein Huſarenſchnauzbart.

Nun war die Not der armen Eheleute erſt recht groß. Zwei Wünſche waren getan und vorüber, und noch waren ſie um keinen Heller und um kein Weizenkorn, ſondern nur um eine böſe Bratwurſt reicher. Noch war ein Wunſch übrig. Aber was half nun aller Reichtum und alles Glück zu einer ſolchen Naſenzierat der Hausfrau? Wollten ſie wohl oder übel, ſo mußten ſie die Bergfei bitten, mit unſichtbarer Hand Barbiersdienſte zu leiſten und Frau Lieſe wieder von der vermaledeiten Wurſt zu befreien. Wie gebeten, ſo geſchehen, und ſo war der dritte Wunſch auch vorüber, und die armen Eheleute ſahen einander an, waren der nämliche Hans und die nämliche Lieſe nachher wie vorher, und die ſchöne Bergfei kam niemals wieder.

Merke: Wenn dir einmal die Bergfei alſo kommen ſollte, ſo ſei nicht geizig, ſondern wünſche

Numero eins: Verſtand, daß du wiſſen mögeſt, was du

Numero zwei: wünſchen ſollteſt, um glücklich zu werden; und weil es leicht möglich wäre, daß du alsdann etwas wähleſt, was ein törichter Menſch nicht hoch anſchlägt, ſo bitte noch

Numero drei: um beſtändige Zufriedenheit und keine Reue.

Oder ſo: Alle Gelegenheit, glücklich zu werden, hilft nichts, wer den Verſtand nicht hat, ſie zu benutzen.

## 35. Der Haſe und der Igel.

Von J. und W. Grimm.

Kinder- und Hausmärchen. Große Ausgabe. Berlin 1856. S. 616.

Diſſe Geſchicht is lögenhaft to vertellen, Jungens, aver wahr is ſe doch; denn mien Grootvader, van den ick ſe hew[1]), plegg jümmer[2]), wenn he ſe mie vortüerde[3]), dabi to ſeggen: „Wahr mutt ſe doch ſien, mien Söhn; anners kunn man ſe jo nich vertellen". De Geſchicht hett ſick aver ſo todragen.

Et wöör an enen Sündagmorgen tor Harveſttied[4]), jüſt as de Bookweeten[5]) bloihde: de Sünn wöör hellig upgaen am Hewen[6]), de Morgenwind güng warm över de Stoppeln, de Larken[7]) ſüngen inn'r Lucht[8]), de Immen[9]) ſumſten in den Bookweeten, un de Lühde güngen in ehren Sündagsſtaat nah'r Kerken[10]), un alle Kreatur wöör vergnögt, un de Swinegel ook.

De Swinegel aver ſtünd vör ſiener Döör, harr de Arm ünnerſlagen, keek[11]) dabi in den Morgenwind hinut un quinkeleerde en lütjet Leedken[12]) vör ſick hin, ſo good un ſo ſlecht, as nu eben am leewen Sündagmorgen en Swinegel to ſingen pleggt. Indem he nu noch ſo halfliſe[13]) vör ſick hin ſung, ſüll em up eenmal in, he künn ook wol, mitlerwiel ſien Fro de Kinner wüſch un antröcke[14]), en beeten[15]) in't Feld ſpazeeren un toſehen, wie ſien Stähkröwen[16]) ſtünden. De Stähkröwen wöören aver de nöchſten bi ſienem Huuſe, un he pleggte mit ſiener Familie davon to eten[17]), darum ſahg he ſe as de ſienigen an. Geſagt, gedahn. De Swinegel makte de Huusdöör achter[18]) ſick to un flög[19]) den Weg nah'n Felde in. He wöör noch nich gans wiet von Huuſe un wull jüſt[20]) um den Slöbuſch[21]), de dar vörn Felde liggt, nah den Stähkröwen-Acker hinupdreien[22]), as em de Haas bemött[23]), de in ähnlichen Geſchäften untgahn wöör, nämlich um ſienen Kohl to beſehn.

As de Swinegel den Haaſen anſichtig wöör, ſo böhd[24]) he em en fründlichen

---

[1]) habe. — [2]) pflegte immer. — [3]) mit Behaglichkeit vortrug. — [4]) Herbſtzeit. — [5]) Buchweizen (Polygonum fagopyrum), auch Heidekorn genannt. — [6]) Himmel (engl. heaven). — [7]) Lerchen (engl. lark). — [8]) Luft. — [9]) Bienen (vgl. Imker). — [10]) nach der Kirche. — [11]) guckte. — [12]) trillerte ein kleines Liedchen. — [13]) halb leiſe. — [14]) anzöge. — [15]) bißchen. — [16]) Steckrüben. — [17]) eſſen. — [18]) hinter. — [19]) ſchlug. — [20]) juſt, gerade. — [21]) Schlehenbuſch. — [22]) ſich hinaufwenden. — [23]) begegnete (engl. to meet). — [24]) bot.

go'n Morgen. De Haas aver, de up ſiene Wies[1]) en vörnehmer Heer was un grauſahm hochfahrtig dabi, antwoorde nicks up den Swinegel ſienen Gruß, ſondern ſeggte tom Swinegel, wobi he en gewaltig höhniſche Miene annöhm: „Wie kummt et denn, datt du hier all bi ſo fröhem Morgen im Felde rumlöppſt?" „Ick gah ſpazeeren", ſeggt de Swinegel. „Spazeeren?" lachte de Haas, „mi ducht[2]), du kunnſt de Been ook wol to betern[3]) Dingen gebruuken." Diſſe Antword verdröt[4]) den Swinegel ungeheuer; denn alles kunn he verdregen[5]), aver up ſiene Been laet he nicks komen, eben weil ſe von Natuhr ſcheef wöören. „Du bildſt di wol in", ſeggt nu de Swinegel tom Haaſen, „as wenn du mit diene Beene mehr utrichten kunnſt?" „Dat denk' ick!" ſeggt de Haas. „Dat kummt up'n Verſöök[6]) an", meent de Swinegel; „ick pareer[7]), wenn wi in de Wett loopt, ick loop di vörbi." „Dat is tum Lachen, du mit diene ſcheefen Been", ſeggt de Haas; „aver mienetwegen mag't ſien[8]), wenn du ſo övergroote Luſt heſt. Wat gillt de Wett?" „En goldne Lujedor un 'n Buddel[9]) Branwien", ſeggt de Swinegel. „Angenahmen", ſpröök de Haas, „ſla in, un denn kann't gliek[10]) losgahn." „Nä, ſo groote Ihl[11]) hett et nich", meen de Swinegel, „ick bün noch ganz nüchdern; eerſt will ick tohuus gahn un en beeten fröhſtücken; inner halwen Stünd bün ick wedder hier up'n Platz."

Damit güng de Swinegel, denn de Haas wöör et tofreeden. Unnerweges dachte de Swinegel bi ſick: „De Haas verlett ſick up ſiene langen Been, aver ick will em wol kriegen. He is zwar ehn vörnehm Herr, aver doch man'n dummen Keerl, un bethalen ſall he doch." As nu de Swinegel tohuus anköom, ſpröök he to ſien Fro: „Fro, treck die gau an[12]), du muſt mit mi nah'n Felde hinut". „Wat givt et denn?" ſeggt ſien Fro. „Ick hew mit'n Haſen wett't üm 'n golden Lujedor un 'n Buddel Branwien, ick will mit em inn Wett loopen, un da ſalſt du mit dabi ſien." „O mien Gott, Mann", füng nun den Swinegel ſien Fro an to ſchreen, „biſt du nich klook[13]), heſt du denn ganz den Verſtand verlaaren? Wie kannſt du mit'n Haaſen in de Wett loopen wollen?" „Holt dat Muul, Wief", ſeggt de Swinegel, „dat is mien Saak[14]). Reſonehr nich in Männergeſchäfte. Marſch, treck di an, un denn kum mit." Wat ſull den Swinegel ſiene Fro maken? Se mußt wol folgen, ſe mugg nu wollen oder nich.

As ſe nu mit eenander ünnerwegs wöören, ſpröök de Swinegel to ſien Fro: „Nu paß up, wat ick ſeggen will. Sühſt du, up den langen Acker dar[15]) wüll wi unſen Wettloop maken. De Haas löppt nemlich in der eenen Föhr[16]), un ick inner andern, un von baben[17]) fang wi an to loopen. Nu heſt du wieder nicks to dohn[18]), as du ſtellſt di hier unnen in de Föhr, un wenn de Haas up de andere Siet ankummt, ſo röpſt[19]) du em entgegen: ‚Ick bün all[20]) hier'."

Damit wöören ſe bi den Acker anlangt, de Swinegel wiesde ſiener Fro ehren Platz an un güng nu den Acker hinup. As he baben anköom, wöör de Haas all da. „Kann et losgahn?" ſeggt de Haas. „Ja wol!" ſeggt de Swinegel. „Denn man[21]) to!" Un damit ſtellde jeder ſick in ſiene Föhr. Der Haas tellde[22]): „Hahl een, hahl twee, hahl dree!" un los güng he wie en Stormwind den Acker hindahl[23]). De Swinegel aver löop ungefähr man dree Schritt, dann duhkde[24]) he ſick dahl in de Föhr un bleev ruhig ſitten.

As nu de Haas in vullen Loopen ünnen am Acker anköom, röop em den Swinegel ſien Fro entgegen: „Ick bün all hier!" De Haas ſtutzd un verwunderde ſick nich wenig: he meende nich anders, as et wöör de Swinegel ſülvſt[25]), de

---

[1]) nach ſeiner Weiſe. — [2]) deucht. — [3]) beſſern. — [4]) verdroß. — [5]) vertragen. — [6]) Verſuch. — [7]) pariere, wette. — [8]) mag es ſein. — [9]) Flaſche. — [10]) ſogleich. — [11]) Eile. — [12]) zieh dich ſchnell an. — [13]) klug. — [14]) Sache. — [15]) dort. — [16]) Furche. — [17]) oben. — [18]) weiter nichts zu tun — [19]) rufſt. — [20]) ſchon. — [21]) nur. — [22]) zählte. — [23]) hinunter. — [24]) duckte. — [25]) ſelbſt.

em dat torööp, denn bekanntlich ſüht den Swinegel ſien Fro jüſt ſo unt wie ehr Mann.

De Haas aver meende: „Dat geiht nich to mit rechten Dingen". He rööp: „Nochmal geloopen, wedder ümi" Und fort güng he wedder wie en Stormwind, dat em de Ohren am Koppe flögen. Den Swinegel ſien Fro aver blev ruhig up ehren Platze. As nu de Haas baben ankööm, rööp em de Swinegel entgegen: „Ick bün all hier!" De Haas aber, ganz unter ſick vör Ihwer[1]), ſchreede: „Nochmal geloopen, wedder ümi" „Mi nich to ſchlimm", antwoorde de Swinegel, „mienetwegen ſo oft, as du Luſt heſt." So löp de Haas noch dreeunſöbentigmal[2]), un de Swinegel höhl[3]) et ümmer mit em unt. Jedesmal, wenn de Haas ünnen oder baben ankööm, ſeggten de Swinegel oder ſien Fro: „Ick bün all hier!"

Tum veerunſöbentigſtenmal aver köm de Haas nich mehr to Ende. Midden am Acker ſtört he tor Eerde, datt Blohd flög em unt'n Halſe, un he blev doot up'n Platze. De Swinegel aver nöhm ſiene gewunnene Lujedor un den Buddel Branwien, rööp ſiene Fro unt der Föhr aff, un beide güngen vergnögt mit eenanner nahhuus; un wenn ſe nich ſtorben ſind, lewt ſe noch.

So begev[4]) et ſick, dat up de Buxtehuder Heid de Swinegel den Haaſen dootloopen hett, un ſied jener Tied hatt et ſick keen Haas wedder infallen laten, mit'n Buxtehuder Swinegel in de Wett to loopen.

## 36. Goldener.

Von J. Kerner.

Deutſcher Dichterwald. Tübingen 1813. S. 227.

Es ſind wohl 2000 Jahre oder noch länger, da hat in einem dichten Walde ein armer Hirte gelebt, der hatte ſich ein bretternes Haus mitten im Walde erbaut, darin wohnte er mit ſeinem Weibe und ſeinen ſechs Kindern, die waren alle Knaben. An dem Hauſe war ein Ziehbrunnen und ein Gärtlein; und wenn der Vater das Vieh hütete, ſo gingen die Kinder hinaus und brachten ihm zu Mittag oder zu Abend einen kühlen Trunk aus dem Brunnen, oder ein Gericht aus dem Gärtlein. Den jüngſten der Knaben riefen die Eltern nur „Goldener", denn ſeine Haare waren wie Gold, und obgleich der jüngſte, ſo war er doch der ſtärkſte von allen und der größte. So oft die Kinder hinausgingen, ſo ging Goldener mit einem Baumzweige voran, anders wollte keins gehen; denn jedes fürchtete ſich, zuerſt auf ein Abenteuer zu ſtoßen; ging aber Goldener voran, ſo folgten ſie freudig, eins hinter dem anderen, nach durch das dunkelſte Dickicht, und wenn auch ſchon der Mond über dem Gebirge ſtand. Eines Abends ergötzten ſich die Knaben auf dem Rückwege vom Vater mit Spielen im Walde, und hatte ſich Goldener vor allen ſo ſehr im Spiele ereifert, daß er ſo hell ausſah, wie das Abendrot. „Laßt uns zurückgehen!" ſagte der älteſte; „es ſcheint dunkel zu werden." — „Seht da, der Mond!" ſprach der zweite. Da kam es licht zwiſchen den dunkeln Tannen hervor, und eine Frauengeſtalt wie der Mond ſetzte ſich auf einen der mooſigen Steine, ſpann mit einer kriſtallenen Spindel einen lichten Faden in die Nacht hinaus, nickte mit dem Haupte gegen Goldener und ſang:

„Der weiße Fink, die gold'ne Roſ',
Die Königskron' im Meeresſchoß."

Sie hätte wohl noch weiter geſungen, da brach ihr der Faden, und ſie erloſch wie ein Licht. Nun war es ganz Nacht; die Kinder faßte ein Grauſen; ſie ſprangen mit kläglichem Geſchrei, das eine dahin, das andere dorthin, über Felſen und Klüfte, und verlor eins das andere.

Wohl viele Tage und Nächte irrte Goldener in dem dicken Walde umher, fand

[1]) (Eifer) Ärger. — [2]) dreiundſiebzig. — [3]) hielt. — [4]) begab.

auch weder einen seiner Brüder, noch die Hütte seines Vaters, noch sonst die Spur eines Menschen; denn es war der Wald gar dicht verwachsen, ein Berg über den andern gestellt und eine Kluft unter die andere. Die Braunbeeren, welche überall umherrankten, stillten seinen Hunger und löschten seinen Durst, sonst wäre er gar jämmerlich gestorben. Endlich am dritten Tage — andere sagen gar, erst am sechsten — wurde der Wald hell und immer heller, und da kam er zuletzt hinaus auf eine schöne, grüne Wiese. Da war es ihm so leicht um das Herz, und er atmete mit vollen Zügen die freie Luft ein. Auf der Wiese waren Garne ausgelegt; denn da wohnte ein Vogelsteller, der fing die Vögel, welche aus dem Walde flogen, und trug sie in die Stadt zu Kaufe. „Solch ein Bursche ist mir gerade vonnöten", dachte der Vogelsteller, als er Goldener erblickte, der auf der grünen Wiese nahe an den Garnen stand und in den weiten, blauen Himmel hineinsah und sich nicht satt sehen konnte. Der Vogelsteller wollte sich einen Spaß machen; er zog seine Garne und — husch! war Goldener gefangen und lag unter dem Garne gar erstaunt; denn er wußte nicht, wie das geschehen war. „So fängt man die Vögel, die aus dem Walde kommen", sprach der Vogelsteller, laut lachend. „Deine roten Federn sind mir eben recht. Du bist wohl ein verschlagener Fuchs; bleibe bei mir, ich lehre dich auch die Vögel fangen!" Goldener war gleich dabei. Ihm deuchte unter den Vöglein ein gar lustig Leben, zumal er ganz die Hoffnung aufgegeben hatte, die Hütte seines Vaters wiederzufinden. „Laß erproben, was du gelernt hast!" sprach der Vogelsteller nach einigen Tagen zu ihm. Goldener zog die Garne, und bei dem ersten Zuge fing er einen schneeweißen Finken. „Packe dich mit diesem weißen Finken!" schrie der Vogelsteller, „du hast es mit dem Bösen zu tun!" und so stieß er ihn gar unsanft von der Wiese, indem er den weißen Finken, den ihm Goldener gereicht hatte, unter vielen Verwünschungen mit den Füßen zertrat.

Goldener konnte die Worte des Vogelstellers nicht begreifen; er ging getrost wieder in den Wald zurück und nahm sich noch einmal vor, die Hütte seines Vaters zu suchen. Er lief Tag und Nacht über Felsensteine und alte, zerfallene Baumstämme, fiel auch gar oft über die schwarzen Wurzeln, die aus dem Boden überall hervorragten. Am dritten Tage aber wurde der Wald immer heller und heller, und da kam er endlich hinaus und in einen schönen, lichten Garten, der war voll der lieblichsten Blumen, und weil Goldener so etwas noch nie gesehen, blieb er voll Verwunderung stehen. Der Gärtner im Garten bemerkte ihn nicht so bald — denn Goldener stand unter den Sonnenblumen, und seine Haare glänzten im Sonnenscheine nicht anders als so eine Blume. „Ha!" — sprach der Gärtner — „solch einen Burschen habe ich gerade vonnöten!" und schloß das Tor des Gartens. Goldener ließ es sich gefallen; denn ihm deuchte unter den Blumen ein gar buntes Leben, zumal er ganz die Hoffnung aufgegeben hatte, die Hütte seines Vaters wiederzufinden. „Fort in den Wald!" sprach der Gärtner eines Morgens zu Goldener, „hol mir einen wilden Rosenstock, damit ich zahme Rosen darauf pflanze!" Goldener ging und kam mit einem Stock der schönsten goldfarbenen Rosen zurück, die waren auch nicht anders, als hätte sie der geschickteste Goldschmied für die Tafel eines Königs geschmiedet. „Packe dich mit diesen goldenen Rosen!" schrie der Gärtner, „du hast es mit dem Bösen zu tun!" und so stieß er ihn gar unsanft aus dem Garten, indem er die goldenen Rosen unter vielen Verwünschungen in die Erde trat.

Goldener konnte die Worte des Gärtners nicht begreifen; er ging getrost wieder in den Wald zurück und nahm sich nochmals vor, die Hütte seines Vaters zu suchen. Er lief Tag und Nacht von Baum zu Baum, von Fels zu Fels. Am dritten Tage endlich wurde der Wald hell und immer heller, und da kam Goldener hinaus und an das blaue Meer; das lag in einer unermeßlichen Weite vor ihm. Die Sonne spiegelte sich eben in der kristallhellen Fläche, da war es wie fließendes Gold; darauf

ſchwammen ſchön geſchmückte Schiffe mit langen, fliegenden Wimpeln. Eine zierliche Fiſcherbarke ſtand am Ufer, in die trat Goldener und ſah mit Erſtaunen in die Helle hinaus. „Ein ſolcher Burſch iſt uns gerade vonnöten!“ ſprachen die Fiſcher, und — huſch! ſtießen ſie vom Lande. Goldener ließ es ſich gefallen; denn ihm deuchte bei den Wellen ein goldenes Leben, zumal er ganz die Hoffnung aufgegeben hatte, ſeines Vaters Hütte wiederzufinden. Die Fiſcher warfen ihre Netze aus und fingen nichts. „Laß ſehen, ob du glücklicher biſt!“ ſprach ein alter Fiſcher mit ſilbernen Haaren zu Goldener. Mit ungeſchickten Händen ſenkte Goldener das Netz in die Tiefe, zog und fiſchte — eine Krone von hellem Golde. „Triumph!“ rief der alte Fiſcher und fiel Goldener zu Füßen — „ich begrüße dich als unſeren König. Vor hundert Jahren verſenkte der alte König, welcher keinen Erben hatte, ſterbend ſeine Krone im Meere, und ſo lange, bis irgend einen Glücklichen das Schickſal beſtimmt hätte, die Krone wieder aus der Tiefe zu ziehen, ſollte der Thron ohne Nachfolger in Trauer gehüllt bleiben.“ — „Heil unſerem Könige!“ riefen die Schiffer und ſetzten Goldener die Krone auf. Die Kunde von Goldener und der wiedergefundenen Königskrone erſcholl bald von Schiff zu Schiff und über das Meer weit in das Land hinein. Da ward die goldene Fläche bald mit bunten Nachen bedeckt und mit Schiffen, die mit Blumen und Laubwerk geziert waren; dieſe begrüßten alle mit lautem Jubel das Schiff, auf welchem König Goldener ſtand. Er ſtand, die helle Krone auf dem Haupte, am Vorderteile des Schiffes und ſah ruhig der Sonne zu, wie ſie im Meer erloſch.

## 37. Der Engel.

Von H. Chr. Anderſen.

Sämtliche Märchen. Leipzig 1874. S. 124.

„Jedesmal, wenn ein gutes Kind ſtirbt, kommt ein Engel Gottes zur Erde hernieder, nimmt das tote Kind auf ſeine Arme, breitet die großen weißen Flügel aus, fliegt hin über alle die Plätze, welche das Kind liebgehabt hat, und pflückt eine ganze Hand voll Blumen, welche er zu Gott hinaufbringt, damit ſie dort noch ſchöner als auf der Erde blühen. Der liebe Gott drückt alle Blumen an ſein Herz, aber derjenigen Blume, welche ihm die liebſte iſt, gibt er einen Kuß, und dann bekommt ſie eine Stimme und kann in der großen Glückſeligkeit mitſingen!“

Sieh, alles dieſes erzählte ein Engel Gottes, indem er ein totes Kind zum Himmel forttrug, und das Kind hörte gleichwie im Traume; und ſie fuhren hin über die Stätten in der Heimat, wo der Kleine geſpielt hatte, und ſie kamen durch Gärten mit herrlichen Blumen.

„Welche wollen wir nun mitnehmen und in den Himmel pflanzen?“ fragte der Engel.

Und da ſtand ein ſchlanker, herrlicher Roſenſtock; aber eine böſe Hand hatte den Stamm zerbrochen, ſo daß alle Zweige, voll von großen, halbaufgeſprungenen Knoſpen rundherum, vertrocknet hingen!

„Der arme Roſenſtock!“ ſagte das Kind. „Nimm ihn, damit er dort oben bei Gott zum Blühen kommen kann!“

Und der Engel nahm ihn und küßte das Kind dafür, und der Kleine öffnete halb ſeine Augen. Sie pflückten von den reichen Prachtblumen, nahmen aber auch die verachtete Butterblume und das wilde Stiefmütterchen.

„Nun haben wir Blumen!“ ſagte das Kind, und der Engel nickte, aber er flog noch nicht zu Gott empor. Es war Nacht, es war ganz ſtille; ſie blieben in der großen Stadt, ſie ſchwebten in einer der ſchmalen Gaſſen umher, wo ganze Haufen von Stroh, Aſche und Auskehricht lagen: es war Umziehetag geweſen. Da lagen Scherben von Tellern, Gipsſtücke, Lumpen und alte Hüte, was alles nicht gut ausſah.

Und der Engel zeigte in all diesem Wirrwarr hinunter auf einige Scherben eines Blumentopfes und auf einen Klumpen Erde, der herausgefallen war und von den Wurzeln einer großen, vertrockneten Feldblume, welche nichts taugte, und die man deshalb auf die Gasse geworfen hatte, zusammengehalten wurde.

„Die nehmen wir mit!" sagte der Engel. „Ich werde dir erzählen, warum, während wir weiterfliegen!"

Und so flogen sie, und der Engel erzählte:

„Dort unten in der schmalen Gasse, in dem niedrigen Keller, wohnte ein armer, kranker Knabe; von Kindheit an war er immer bettlägerig gewesen; wenn er am gesündesten war, konnte er auf Krücken in der kleinen Stube ein paarmal auf und nieder gehen; das war alles. An einigen Tagen im Sommer drangen die Sonnenstrahlen während einer halben Stunde bis auf die Flur des Kellers; und wenn dann der arme Knabe da saß und sich von der warmen Sonne bescheinen ließ und das rote Blut durch seine feinen Finger sah, die er vor das Antlitz hielt, dann hieß es: ‚Ja, heute ist er ausgewesen!' — Er kannte den Wald in seinem herrlichen Frühlingsgrün nur dadurch, daß ihm des Nachbars Sohn den ersten Buchenzweig brachte, und den hielt er über seinem Haupte und träumte dann, unter Buchen zu sein, wo die Sonne schiene und Vögel sängen. An einem Frühlingstage brachte ihm des Nachbars Knabe auch Feldblumen, und unter diesen war zufällig eine mit der Wurzel, und deshalb wurde sie in einen Blumentopf gepflanzt und dicht am Bett an das Fenster gestellt. Und die Blume war mit einer glücklichen Hand gepflanzt: sie wuchs, trieb neue Schößlinge und trug jedes Jahr ihre Blumen. Sie wurde des kranken Knaben herrlichster Blumengarten, sein kleiner Schatz hier auf Erden; er begoß und pflegte sie, und sorgte dafür, daß sie jeden Sonnenstrahl, bis zum letzten, welcher durch das niedrige Fenster hinunterglitt, erhielt; und die Blume selbst verwuchs in seine Träume, denn für ihn blühte sie, verbreitete sie ihren Duft und erfreute sie das Auge; zu ihr wendete er sich im Tode, als der Herr ihn rief. — Ein Jahr ist er nun bei Gott gewesen: ein Jahr hat die Blume vergessen im Fenster gestanden und ist verdorrt; sie wurde deshalb beim Umziehen in den Kehricht hinaus auf die Straße geworfen. Und dies ist die Blume, die arme, vertrocknete Blume, welche wir mit in unseren Blumenstrauß genommen haben, denn diese Blume hat mehr Freude gewährt, als die reichste Blume im Garten einer Königin."

„Aber woher weißt du das alles?" fragte das Kind, welches der Engel gen Himmel trug.

„Ich weiß es", sagte der Engel. „Denn ich war selbst der kleine, kranke Knabe, welcher auf Krücken ging! Meine Blume kenne ich wohl!"

Und das Kind öffnete seine Augen ganz und sah in des Engels herrliches, frohes Antlitz hinein; und in demselben Augenblicke befanden sie sich in Gottes Himmel, wo Freude und Seligkeit war. Und Gott drückte das tote Kind an sein Herz und da bekam es Flügel wie der andere Engel und flog Hand in Hand mit ihm. Und Gott drückte alle Blumen an sein Herz; aber die arme, verdorrte Feldblume küßte er; und sie erhielt eine Stimme und sang mit allen Engeln, welche Gott umschwebten: einige ganz nahe, andere um diese herum in großen Kreisen, und immer weiter und weiter, in das Unendliche, aber alle gleich glücklich. Und alle sangen sie: kleine und große, das gute, gesegnete Kind und die arme Feldblume, welche verdorrt dagelegen hatte, hingeworfen in den Kehricht, unter dem Unrate des Umziehetages, in der schmalen, dunkeln Gasse.

# 5) Sagen und Legenden.

## 38. Die Fahrt der Argonauten. (Rom 1821.)

Von B. G. Niebuhr.

Griechiſche Heroengeſchichten an ſeinen Sohn erzählt. Gotha 1877. S. 1.

Es war ein König in Griechenland, der hieß Athamas, und ſeine Frau hieß Nephela; die hatten zwei Kinder, einen Sohn und eine Tochter, die waren ſehr gut und hatten ſich ſehr lieb. Der Sohn hieß Phrixus und die Tochter Helle. Der Vater aber war böſe und verſtieß ſeine Frau, die Mutter der guten Kinder, und heiratete eine andere Frau, die hieß Ino und war ſehr böſe. Die behandelte die armen Kinder ſehr ſchlecht und gab ihnen ſchlecht zu eſſen und ſchlechte Kleider und ſchlug ſie, obgleich ſie gut waren, weil ſie nach ihrer Mutter weinten. Sie war eine ſehr böſe Stiefmutter. Zuletzt wollte ſie den Knaben Phrixus opfern. Als er aber zum Altar gebracht war, brachte der Gott Hermes einen ſchönen, großen Widder, der hatte Wolle von Gold und konnte auf den Wolken laufen. Auf dieſen Widder mit dem goldenen Vlies ſetzte Hermes den Phrixus und auch ſeine Schweſter Helle und ſagte ihnen, ſie ſollten nach dem Lande Kolchis durch die Luft gehen. Der Widder aber wußte den Weg. Die Kinder mußten ſich mit einer Hand am Horn feſthalten, und den andern Arm ſchlugen ſie eins um des andern Leib; aber Helle ließ den Bruder los und fiel herunter in die See. Phrixus weinte ſehr, weil ſeine gute Schweſter tot war, ritt aber immerfort und kam nach Kolchis. Da opferte er den Widder, und das goldene Vlies nagelte er an einen Eichbaum.

Nachher war in Theſſalien ein anderer König, der hieß Pelias. Der hatte einen Bruder, der hieß Äſon, und dieſer einen Sohn, der hieß Jaſon. Jaſon war jung und ein tapferer Ritter; er wohnte bei ſeinem Vater unweit der Stadt Jolkos. Nun war dem König Pelias geſagt worden, ein Mann, der mit *einem* Schuh zu ihm käme, würde ihm das Königreich nehmen. Da geſchah es, daß der König Pelias ein Gaſtmahl gab und Jaſon dazu einladen ließ. Jaſon mußte durch einen Bach gehen, um zur Stadt zu kommen; denn es war keine Brücke über den Bach. Es war die Nacht ein ſtarkes Gewitter geweſen und hatte ſtark geregnet; der Bach war voll Waſſer und floß ſtark. Da gingen die Bänder an einem ſeiner Schuhe los und er verlor ihn im Waſſer und kam mit *einem* Schuh in des Königs Haus. Als König Pelias das ſah, erſchrak er und ſagte dem Jaſon, er ſolle aus dem Lande gehen und nicht wieder zurückkommen, wenn er ihm nicht das goldene Vlies brächte.

Jaſon war nicht bange und ließ alle tapferen Ritter bitten, mit ihm zu gehen. Denn um das Vlies zu bekommen, mußte man mit böſen Tieren und böſen Menſchen kämpfen. Jaſon baute ein großes Schiff für ſich und ſeine Geſellen. Dabei half ihm die Göttin Minerva, die ihn lieb hatte, und ſchenkte ihm einen Baum zum Maſt; wenn Jaſon den fragte, ſo ſagte der ihm, was er tun ſollte. Das Schiff hieß Argo, und die auf dem Schiffe fuhren, nennt man die Argonauten. Unter den Argonauten waren auch Herkules und zwei Brüder, die hatten Flügel und konnten durch die Luft fliegen, und ein Held, der hieß Pollux, der ſchlug alle zu Boden, die mit ihm auf die Fauſt kämpften.

Da kamen die Argonauten mit ihrem Schiff Argo nach einer Stadt Salmydeſſa, dort wohnte ein König mit Namen Phineus. Der hatte den Jupiter böſe gemacht, und dieſer, um ihn zu ſtrafen, machte ihn blind, und wenn er ſich zu Tiſche ſetzen wollte, um zu eſſen, ſo kamen abſcheuliche, große Vögel, die man Harpyien nannte. Dieſe Harpyien hatten eine Haut von Eiſen, wie einen Panzer, und wenn die Leute des blinden Phineus nach ihnen ſchoſſen oder hieben, ſo konnten ſie ſie nicht verwunden; die Harpyien hatten auch große, ſcharfe, eiſerne Krallen, mit denen ſie die Leute zerriſſen, die ſie wegjagen wollten. Wenn nun das Eſſen aufgetragen war, ſo kamen ſie und ſchleppten es weg. Da nun der arme Phineus niemals ordentlich eſſen konnte, ſo verhungerte er beinahe. Als die Helden zu ihm kamen, erzählte er ihnen ſein Unglück, weinte ſehr und bat ſie, ihm doch zu helfen. Die Helden ſetzten ſich mit ihm zu Tiſche, und als das Eſſen hereingebracht ward, ſo kamen auch die Harpyien

hereingeflogen. Jaſon und ſeine Gefährten zogen ihre Schwerter und hieben nach ihnen; das half aber nichts. Die beiden Söhne des Boreas, Zetes und Kalaïs, welche Flügel hatten, ſchwangen ſich in die Luft; da wurden die Harpyien bange und flogen weg, und die beiden Helden hinter ihnen her; die Harpyien wurden zuletzt müde und ganz angſt, fielen in die See und ertranken. Da kamen Zetes und Kalaïs zurück, und nun hatte der arme Phineus Ruhe und konnte eſſen.

Als der Wind günſtig war, gingen die Helden wieder auf ihr Schiff Argo, um nach Kolchis zu ſegeln, und als ſie von Phineus Abſchied nahmen, umarmte und küßte er ſie, dankte ihnen noch vielmals, daß ſie ihm aus ſeiner großen Not geholfen hatten, und zum Dank gab er ihnen einen guten Rat. Auf der großen See, über die ſie ſegeln mußten, ſchwammen zwei große Felſen, wie die Eisberge in der See ſchwimmen, wo gar kein Sommer iſt, ſondern immer Winter. Dieſe Felſen waren hoch, und wenn ſie aneinanderſtießen, ſo ſchlugen ſie alles in Stücke, was dazwiſchen war; wenn Fiſche im Waſſer ſchwammen, ſo ſchlugen ſie ſie tot; und wenn die Vögel durch die Luft flogen, indem die Felſen zuſammenſchlugen, ſo ſchlugen ſie ſie tot; und wenn ein Schiff durchſegeln wollte, ſo fuhren ſie aneinander, wenn das Schiff in der Mitte war, und ſchlugen es in kleine Stücke und alle Menſchen, die darauf waren, tot. Die Felſen hatte Jupiter in die See geſetzt, damit kein Schiff nach Kolchis kommen ſollte. Nun wußte aber Phineus, daß die Felſen immer weit auseinanderfuhren, wenn ſie zuſammengeſchlagen waren; und ſie fuhren immer zuſammen, wenn ein Fiſch durchſchwimmen oder ein Vogel durchfliegen oder ein Schiff durchfahren wollte. Deswegen gab er den Argonauten einen klugen Rat, und ſie taten, was er ihnen riet, und kamen glücklich hindurch, und ich will dir erzählen, wie ſie es machten.

Als ſie ankamen, wo die Felſen ſchwammen, da lagen ſie weit voneinander und fingen gleich an, ſich näher zu kommen. Die Argonauten ſegelten gerade auf die Mitte zu, und als ſie dicht vor ihnen waren, ſtand einer von den Helden vorn auf dem Schiffe und hielt eine Taube in der Hand und ließ ſie fliegen; wenn nun etwas Lebendiges zwiſchen die Felſen kam, ſo mußten ſie zuſammenſchlagen, und dann fuhren ſie wieder weit auseinander. Die Taube war geſchwind, und die Göttin Minerva half ihr, weil es eine ſehr gute Taube war, ſie war ganz weiß. Als die Felſen zuſammenſchlugen, war nur noch ihr Schwanz dazwiſchen, und der ward ihr ausgeriſſen, aber die Federn wuchſen bald wieder. Da fuhren nun die Felſen wieder ganz weit auseinander, und nun ruderten alle Helden aus allen Kräften und kamen glücklich durch; als die Felſen wieder zuſammenfuhren, ſchlugen ſie nur ein kleines Stück hinten vom Schiffe ab. Die Taube ſetzte ſich wieder auf das Schiff und war nicht böſe auf die Argonauten, und hernach nahm Minerva ſie und ſetzte ſie an den Himmel und da iſt ſie jetzt ein ſchönes Sternbild.

Als die Argonauten glücklich durch die Symplegaden gekommen waren, liefen ſie endlich in den Fluß Phaſis ein, der durch Kolchis fließt. Einige blieben auf dem Schiffe, Jaſon aber und Pollux und viele andere Helden gingen in die Stadt, wo der König wohnte. Der König hieß Äetes und hatte eine Tochter, die hieß Medea. Jaſon ſagte dem König Äetes, daß Pelias ſie geſchickt habe, um das goldene Vlies zu bringen, und bat ihn, daß er es ihm geben ſollte. Äetes wollte das Vlies nicht verlieren und konnte es auch Jaſon nicht abſchlagen; denn es war beſtimmt, daß er es hergeben müſſe, wenn einer aus Griechenland käme und es verlangte. Er ſagte alſo dem Jaſon, er ſolle es haben, aber er müſſe zuvor die ehernen Stiere vor einen Pflug ſpannen und ein großes Stück Feld umpflügen und dann die Zähne des Drachen ſäen. Die ehernen Stiere hatte Vulkan gemacht; ſie gingen und bewegten ſich und lebten wie wirkliche Stiere, aber ſie bliefen Feuer aus der Naſe und dem Maule und waren noch viel böſer und ſtärker, als wirkliche Stiere. Deswegen hatten ſie einen Stall, von großen Steinen und Eiſen gebaut, und waren darin mit ſtarken, eiſernen Ketten angebunden.

Und wenn die Drachenzähne unter die Erde kamen, wie Korn unter die Erde kommt, wenn es geſät wird, ſo wuchſen eiſerne Männer aus der Erde heraus mit Lanzen und Schwertern, die den, der ſie geſät hatte, umbrachten. Alſo wollte der König, daß die Stiere

Jaſon töten ſollten, und wenn die Stiere ihn nicht töteten, ſo dachte er, daß es die eiſernen Männer tun würden.

Die Tochter des Königs, Medea, ſah Jaſon bei ihrem Vater und gewann ihn lieb, und es tat ihr leid, daß Jaſon umkommen ſollte. Sie konnte Zauberſäfte kochen und ſetzte ſich deshalb auf einen Wagen, der mit fliegenden Schlangen beſpannt war, flog durch die Luft, ſammelte Kräuter auf vielen Bergen und in Tälern an den Ufern von Bächen, und aus allen dieſen Kräutern drückte ſie den Saft aus und bereitete ihn. Dann ging ſie zu Jaſon, ohne daß ihr Vater es wußte, brachte ihm den Saft und ſagte ihm, daß er damit ſein Geſicht, ſeine Hände, Arme und Beine reiben ſollte und auch ſeine Rüſtung, ſeinen Schild, ſein Schwert und ſeine Lanze. Dadurch ward er einen ganzen Tag lang noch viel ſtärker als alle die anderen Heroen, und das Feuer verbrannte ihn nicht, und Eiſen verwundete ihn nicht und hieb nicht durch ſeinen Schild und ſeine Rüſtung; ſein Schwert aber und ſeine Lanze hieben und ſtachen durch Eiſen, als ob es Butter wäre.

Da ward denn ein Tag beſtimmt, an dem Jaſon die Stiere anſpannen und die Zähne ſäen ſollte. Früh am Morgen, ehe die Sonne aufging, kam der König Äetes mit ſeiner Tochter und ſeinen Miniſtern, Generalen, Kammerherren und Hofleuten und ſetzte ſich auf ſeinen Thron bei dem Platze, wo Jaſon pflügen ſollte, und die anderen ſetzten ſich auf Bänke, wie bei einem Pferderennen, und alle Leute aus der Stadt kamen heraus, um zu ſehen, wie es gehen würde, und die Jungen kletterten auf die Bäume, um es beſſer ſehen zu können.

Jaſon rieb ſich und ſeine Waffen mit dem Saft, wie Medea geſagt hatte, und kam auf den Platz. Der Stall, worin die Stiere eingeſperrt waren, ſtand auf dem Platze. Da ward die Tür aufgeſchloſſen, und Jaſon ging mutig hinein und war gar nicht bange. Er machte die Stiere von der Kette los, faßte jeden mit einer Hand bei einem Horne und zog ſie heraus. Die Stiere brüllten ganz entſetzlich, und dabei fuhr ihnen das Feuer aus dem Maule und aus der Naſe heraus und ſoviel Rauch, als wenn ein Haus brennt, oder als wenn der Veſuvius Feuer ſpeit. Da freute ſich der böſe König Äetes; die aber gut waren unter den Zuſchauern und ſahen, daß Jaſon ſo ſchön und tapfer war, die wurden betrübt und fürchteten, daß er ſterben würde; denn ſie wußten nicht, daß Medea ihm helfe. Jaſon drückte beide Stiere mit dem Kopfe zur Erde; da ſchlugen ſie mit den Hinterfüßen, und Jaſon drückte ſo ſtark, daß ſie auf die Kniee fielen.

Der Pflug, an den ſie geſpannt werden ſollten, war ganz von Eiſen; den brachte Pollux herbei und warf ihnen das Joch auf den Nacken und eine Kette um die Hörner; Jaſon hielt ſie mit dem Maul und der Naſe feſt auf die Erde gedrückt, ſo daß ſie nicht blaſen konnten. Als Pollux fertig und die Tiere angeſpannt waren, ſprang er geſchwind weg, und Jaſon faßte nun die Kette in die eine Hand und den Sterz des Pfluges in die andere und ließ die Hörner los; die Stiere ſprangen auf und wollten wegrennen, aber Jaſon hielt die Kette ſo feſt, daß ſie ganz langſam gehen und ordentlich pflügen mußten. Als ſie angeſpannt waren, ging die Sonne auf, und als es Mittag war, hatte Jaſon das ganze Stück Feld umgepflügt. Da nahm er den Stieren das Joch ab und ließ ſie los; die Stiere waren ſo bange, daß ſie wegliefen, wie eine Katze, die Schläge bekommen hat, und ſo liefen ſie, ohne ſich umzuſehen, auf die Berge. Da würden ſie alle Wälder in Brand geſteckt haben, wenn nicht Vulkan gekommen wäre und ſie eingefangen und weggebracht hätte.

Als Jaſon mit dem Pflügen fertig war, ging er zum König Äetes und ſagte, daß er ihm nun die Zähne geben ſollte. Die Drachen und Schlangen haben das ganze Maul voll kleiner Zähne, und Äetes gab dem Jaſon einen ehernen Helm ganz voll Zähne. Jaſon nahm ſie mit einer Hand heraus, ging auf dem Felde hin und her und warf die Zähne nach allen Seiten; dann nahm er ſeinen großen Spieß, zerſchlug die Schollen und machte die Erde eben, wie der Gärtner tut, wenn er geſäet hat. Darauf ging er weg und legte ſich hin, um auszuruhen, bis es Abend wurde; denn er war ſehr müde.

Gegen Sonnenuntergang kam er wieder auf das Feld, und da wuchſen allenthalben die eiſernen Männer heraus. Einige waren bis an die Füße herausgewachſen, andere bis an die Kniee, andere bis an die Hüften, andere bis unter die Schultern; von einigen ſah man

nur den Helm und die Stirn, ſonſt ſteckten ſie noch ganz in der Erde. Die, welche die Arme ſchon aus der Erde hatten und ſie bewegen konnten, ſchüttelten die Spieße und hieben mit den Schwertern. Einige machten auch ſchon die Füße los und wollten auf Jaſon zukommen.

Da tat Jaſon, was ſeine Freundin Medea ihm geſagt hatte, nahm einen großen Stein und warf ihn auf das Feld mitten unter ſie. Als die eiſernen Männer den ſahen, ſprangen ſie geſchwind hin, um ihn zu nehmen. Ich denke, daß es ein großer, ſchöner Marmorſtein geweſen iſt. Darüber fingen ſie an untereinander zu zanken, weil jeder ihn haben wollte, und aufeinander zu ſtechen und zu hauen, und ſowie einer die Füße aus der Erde losgemacht hatte, lief er auch hin, und ſo ſchlugen ſie ſich unter ſich tot; Jaſon aber ging auf dem Felde umher und hieb denen die Köpfe ab, die herauswuchſen. So kamen die eiſernen Männer alle um, und der König Äetes war ganz raſend; Medea aber und die Helden und alle Zuſchauer freuten ſich ſehr.

Am folgenden Morgen ging Jaſon zum König Äetes und verlangte, daß er ihm nun das Vlies geben ſollte; der König gab es ihm aber nicht, ſondern ſagte, daß er wiederkommen ſollte. Er wollte aber den Jaſon ermorden laſſen. Medea ſagte das dem Jaſon und ſagte ihm auch, daß er ſich das Vlies ſelbſt holen müſſe, ſonſt bekäme er es nicht. Das Vlies war an eine Eiche genagelt, und am Fuße der Eiche lag ein Drache, der nie ſchlief und alle Menſchen fraß, die das Vlies anrühren wollten, außer dem König Äetes; der Drache war unſterblich, alſo konnte Medea dem Jaſon nicht helfen, daß er ihn totſchlüge. Der Drache aß gern ſüße Kuchen, und Medea gab dem Jaſon Kuchen mit Honig; in dieſe hatte ſie einen Saft getan, von dem der Drache einſchlafen mußte. Jaſon kam mit den Kuchen und warf ſie ihm hin; der dumme Drache fraß alle und ſchlief ſogleich ein. Jaſon ſtieg über ihn weg, zog die Nägel, mit denen das Vlies angenagelt war, mit einer Zange aus, nahm das Vlies vom Baume herab, ſchlug ſeinen Mantel darüber und trug es auf das Schiff. Medea kam auch, ward Jaſons Frau und ging mit ihm nach Griechenland.

Äetes dachte, die Argonauten würden mit der Argo wieder ebenſo zurückfahren, wie ſie gekommen waren, und ſchickte viele Schiffe aus, um ſie anzugreifen; aber ſie gingen einen andern Weg und fuhren den großen Fluß Iſter hinauf; dann trugen die Helden die Argo in den Ozeanus, der um die ganze Erde fließt, ſetzten das Schiff hinein und fuhren außen um die Erde herum und kamen ſo wieder nach Jolkos. Die Kolcher aber warteten immer bei den Symplegaden, die nun feſtſtanden, und da die Argo gar nicht kam, kehrten ſie nach Hauſe zurück, und der König Äetes war erſchrecklich böſe. Denn er hatte das Vlies verloren und die ehernen Stiere und die Drachenzähne, und ſeine Tochter war auch weg und hatte allen ihren Schmuck mitgenommen, und alle Leute lachten ihn aus.

## 39. Theſeus.

Von G. Schwab.

Die ſchönſten Sagen des klaſſiſchen Altertums. Gütersloh 1873. Bd. I, S. 209.

Theſeus, der größte Held und König von Athen, war ein Sohn des Ageus. Sein Vater ließ ihn unter der Fürſorge ſeines Großvaters und ſeiner Mutter Äthra in Trözen aufwachſen. Dort hatte er ſein Schwert und ſeine Sohlen unter einem Felsblock verborgen und der Mutter des Theſeus aufgetragen, dieſen, wenn er imſtande ſei, den Stein hinwegzuwälzen, mit dem Schwert und den Sohlen als Erkennungszeichen nach Athen zu ſenden. Als nun der Jüngling nicht bloß zu herrlicher Körperſtärke heranwuchs, ſondern auch Kühnheit, Einſicht und feſten Sinn zeigte, da führte ihn ſeine Mutter Äthra zu dem Steine am Meeresufer, unterrichtete ihn über ſeines Vaters Ageus Willen und forderte ihn auf, die Erkennungszeichen für denſelben hervorzuholen und nach Athen zu bringen. Theſeus ſtemmte ſich gegen den Stein und ſchob ihn mit Leichtigkeit zurück. Die Sohlen unter den Füßen und das Schwert an der Seite, vollbrachte er auf dem Wege nach Athen mehrere Heldentaten. Ageus erkannte das ihm wohlbekannte Schwert, und nachdem

er sich durch einige Fragen vollends überzeugt hatte, daß er seinen Sohn in junger Heldenblüte vor sich habe, schloß er ihn in seine Arme. Sofort stellte der Vater ihn der Versammlung des Volkes vor, dem er die Abenteuer seiner Reise erzählen mußte, und das den früh erprobten Helden mit freudigem Jauchzen begrüßte.

Die erste Tat, die Theseus verrichtete, seitdem er als Königssohn und Erbe des attischen Thrones an seines Vaters Seite lebte, war die Besiegung der fünfzig Söhne seines Oheims Pallas, welche früher gehofft hatten, den Thron zu erlangen, wenn Ageus ohne Kinder stürbe, und welche ergrimmt waren, daß jetzt nicht bloß ein angenommener Sohn des Pandion, wie Ageus war, König der Athener sei, sondern daß auch in Zukunft ein unwillkommener Fremdling die Herrschaft über das Land führen sollte. Sie griffen daher zu den Waffen und legten dem Ankömmling einen Hinterhalt. Aber der Herold, den sie mit sich führten, und der ein fremder Mann war, verriet diesen Plan dem Theseus, der nun plötzlich ihr Versteck überfiel und alle fünfzig niedermachte. Um durch diese blutige Notwehr die Gemüter des Volkes nicht von sich abzukehren, zog hierauf Theseus auf ein gemeinnütziges Wagestück aus, bezwang den marathonischen Stier, der vier attischen Gemeinden nicht wenig Not verursacht hatte, führte ihn zur Schau durch Athen und opferte ihn endlich dem Apollo.

Um diese Zeit kamen von der Insel Kreta zum drittenmal Abgeordnete des Königs Minos, um den gebräuchlichen Tribut abzuholen. Mit demselben verhielt es sich also. Der Sohn des Minos, Androgeus, war, wie die Sage ging, im attischen Gebiete durch Hinterlist getötet worden. Dafür hatte sein Vater die Einwohner mit einem verderblichen Kriege und die Götter selbst das Land durch Dürre und Seuchen heimgesucht. Da tat das Orakel des Apollo den Spruch, der Zorn der Götter und die Leiden der Athener würden aufhören, wenn sie den Minos besänftigten und seine Verzeihung erlangen könnten. Hierauf hatten sich die Athener mit Bitten an ihn gewendet und Frieden erhalten unter der Bedingung, daß sie alle neun Jahre sieben Jünglinge und sieben Jungfrauen als Tribut zu schicken hätten. Diese sollen nun von Minos in sein berühmtes Labyrinth eingeschlossen und dort von dem gräßlichen Minotaurus, einem Zwittergeschöpfe, das halb Mensch und halb Stier war, getötet worden sein. Als nun die Zeit des dritten Tributs herbeigekommen war, und die Väter, welche unverheiratete Söhne und Töchter hatten, diese dem entsetzlichen Lose unterwerfen mußten, da erneuerte sich der Unwille der Bürger gegen Ageus, und sie fingen an darüber zu murren, daß er, der Urheber des ganzen Unheils, allein keinen Teil an der Strafe zu leiden habe und, nachdem er einen Fremdling zu seinem Nachfolger ernannt, gleichgültig zusehe, wie ihnen ihre Kinder entrissen würden. Den Theseus, der sich schon gewöhnt hatte, das Geschick seiner Mitbürger nicht als ein fremdes zu betrachten, schmerzten diese Klagen. Er stand in der Volksversammlung auf und erklärte, sich selbst ohne Los hingeben zu wollen. Alles Volk bewunderte seinen Edelmut und aufopfernden Bürgersinn; auch blieb sein Entschluß, obgleich sein Vater ihn mit den dringendsten Bitten bestürmte, daß er ihn des großen Glückes, einen Sohn und Erben zu besitzen, doch nicht so bald wieder berauben solle, unerschütterlich fest. Seinen Vater aber beruhigte er durch die zuversichtliche Versicherung, daß er mit den herausgelosten Jünglingen und Jungfrauen nicht in das Verderben gehen, sondern den Minotaurus bezwingen werde. Bisher nun war das Schiff, das die unglücklichen Opfer nach Kreta hinüberführte, zum Zeichen ihrer Rettungslosigkeit mit schwarzem Segel abgesendet worden. Jetzt aber, als Ageus seinen Sohn mit so kühnem Stolze sprechen hörte, rüstete er zwar das Schiff noch auf dieselbe Weise aus; doch gab er dem Steuermann ein anderes Segel von weißer Farbe mit und befahl ihm, wenn Theseus gerettet zurückkehre, dieses aufzuspannen; wo nicht, mit dem schwarzen zurückzukehren und so das Unglück zum voraus anzukündigen.

Als nun das Los gezogen war, führte der junge Theseus die Knaben und Mädchen, die es getroffen hatte, zuerst in den Tempel des Apollo und brachte dem Gott in ihrem Namen den mit weißer Wolle umwundenen Ölzweig, das Weihgeschenk der Schutzflehenden, dar. Nachdem das feierliche Gebet gesprochen war, ging er, von allem Volk begleitet, mit den auserlesenen Jünglingen und Jungfrauen an das Meeresufer hinab und bestieg das Trauerschiff.

Als Theseus auf Kreta gelandet und vor dem Könige Minos erschienen war, zog seine Schönheit und Heldenjugend die Augen der reizenden Königstochter Ariadne auf sich. Sie gestand ihm ihre Zuneigung in einer geheimen Unterredung und händigte ihm einen Knäuel Zwirn ein, dessen Ende er am Eingange des Labyrinthes festknüpfen und den er während des Hinschreitens durch die verwirrenden Irrgänge in der Hand ablaufen lassen sollte, bis er an die Stelle gelangt wäre, wo der Minotaurus seine gräßliche Wache hielt. Zugleich übergab sie ihm ein gefeites Schwert, mit dem er dieses Ungeheuer töten könnte. Theseus ward mit allen seinen Gefährten von Minos in das Labyrinth geschickt, machte den Führer seiner Genossen, erlegte mit seiner Zauberwaffe den Minotaurus und wand sich mit allen, die bei ihm waren, durch Hilfe des abgespulten Zwirns aus den Höhlengängen des Labyrinthes glücklich heraus. Jetzt entfloh Theseus samt allen seinen Gefährten mit Hilfe und in Begleitung Ariadnes, die der junge Held, beglückt durch den lieblichen Kampfpreis, den er unerwartet errungen, mit sich führte. Auf ihren Rat hatte er auch den Boden der kretischen Schiffe zerhauen und so ihrem Vater das Nachsetzen unmöglich gemacht. Schon glaubte er seine holde Beute ganz in Sicherheit und kehrte mit Ariadne sorglos auf der Insel Dia ein, die später Naxos genannt wurde. Da erschien ihm im Traume der Gott Bacchus, erklärte, daß Ariadne die ihm selbst vom Schicksal bestimmte Braut sei, und drohte ihm alles Unheil, wenn Theseus die Geliebte ihm nicht überlassen würde.

Theseus war von seinem Großvater in Gottesfurcht erzogen worden; er scheute den Zorn des Gottes, ließ die wehklagende, verzagende Königstochter auf der einsamen Insel zurück und schiffte weiter. In der Nacht erschien alsdann, so erzählt die Sage, Ariadnes Bräutigam, Bacchus, und entführte sie auf den Berg Drios; dort verschwand zuerst der Gott, bald darauf auch Ariadne. Theseus aber und seine Gefährten waren über den Verlust der Jungfrau sehr betrübt. In ihrer Traurigkeit vergaßen sie, daß ihr Schiff noch die schwarzen Segel aufgezogen hatte, mit welchen es die attische Küste verlassen; sie unterließen, die weißen Tücher aufzuspannen, und das Schiff flog in seiner schwarzen Trauertracht der Heimatküste entgegen. Ägeus befand sich eben an der Küste, als das Schiff herangesegelt kam, und genoß von einem Felsenvorsprunge die Aussicht auf die offene See. Aus der schwarzen Farbe der Segel schloß er, daß sein Sohn tot sei. Da erhob er sich von dem Felsen, auf dem er saß, und, im unbegrenzten Schmerze des Lebens überdrüssig, stürzte er sich in die jähe Tiefe. Indessen war Theseus gelandet, und nachdem er im Hafen die Opfer dargebracht hatte, die er bei der Abfahrt den Göttern gelobt, schickte er einen Herold in die Stadt, die Rettung der sieben Jünglinge und Jungfrauen und seine eigene zu verkündigen. Der Bote wußte nicht, was er von dem Empfange denken sollte, der ihm in der Stadt zuteil ward. Während die einen ihn voll Freude bewillkommten und als den Überbringer froher Botschaft bekränzten, fand er andere, die, in tiefe Trauer versenkt, seinen fröhlichen Worten gar kein Gehör schenkten. Endlich löste sich ihm das Rätsel durch die erst allmählich sich verbreitende Nachricht vom Tode des Königs Ägeus. Der Herold nahm nun zwar die Kränze in Empfang, schmückte aber damit nicht seine Stirn, sondern nur den Heroldsstab und kehrte so zum Gestade zurück. Hier fand er den Theseus noch im Tempel mit der Darbringung des Dankopfers beschäftigt; er blieb daher vor der Tür des Tempels stehen, damit die heilige Handlung nicht durch die Trauernachricht gestört würde.

Sobald das Brandopfer ausgegossen war, meldete er des Ageus Ende. Theseus warf sich, vom Schmerze wie vom Blitze getroffen, zur Erde, und als er sich wieder aufgerafft hatte, eilten alle, nicht unter Freudenjubel, wie sie es sich gedacht hatten, sondern unter Wehgeschrei und Klageruf in die Stadt.

Nachdem Theseus unter vielen Klagen seinen Vater bestattet hatte, weihte er dem Apollo, was er ihm gelobt hatte. Das Schiff, in welchem er mit den attischen Jünglingen und Jungfrauen abgefahren und gerettet zurückgekehrt war, ein Fahrzeug von dreißig Rudern, wurde zum ewigen Andenken von den Athenern aufbewahrt, indem das abgängige Holz immer wieder durch neues ersetzt ward. Und so wurde dieser heilige Überrest alter Heldenzeit noch geraume Zeit nach Alexander dem Großen den Freunden des Altertums gezeigt.

Theseus, der jetzt König geworden war, bewies bald, daß er nicht nur ein Held in Kampf und Fehde sei, sondern auch fähig, einen Staat einzurichten und ein Volk in Frieden zu beglücken. Hierin tat er es selbst seinem Vorbilde Herkules zuvor. Vor seiner Regierung wohnten die meisten Einwohner Attikas zerstreut um die Burg und die kleine Stadt herum auf einzelnen Bauernhöfen und in weilerartigen Dörfern. Sie konnten daher nur schwer zusammengebracht werden, um über öffentliche Angelegenheiten zu ratschlagen; ja bisweilen gerieten sie auch über kleinliche Gegenstände des Nachbarbesitzes miteinander in Streit. Theseus nun war es, der alle Bürger des attischen Gebietes in eine Stadt vereinigte und so aus den zerstreuten Gemeinden einen gemeinschaftlichen Staat bildete.

## 40. Scenen aus der Iliade.

Von K. F. Becker.

Erzählungen aus der alten Welt. Halle 1881.

### *a. Zweikampf des Hektor und Aias.* (S. 179.)

Einst nahte dem kämpfenden Hektor sein Bruder Helenos, der kundige Seher, und forderte ihn auf, einen einzelnen Krieger aus dem Heere der Achäer herauszurufen, um mit diesem allein den entscheidenden Zweikampf zu kämpfen. Denn ihm hätten, sagte er, die Götter es eingegeben, daſs heute dem Hektor das Todeslos noch nicht beschieden sei. Sogleich rannte der Held laut rufend hervor, gebot Stillstand und trat in die Mitte. Da hielten sie alle inne, begierig, seine Rede zu hören. Er sprach darauf mit starker Stimme zu beiden Völkern: „Hört meine Worte, ihr Troer und ihr Achäer! Unter euch sind der streitbaren Helden soviele; wohlan, ich überlasse es euch selbst, sendet den Tapfersten heraus, um mit mir zu kämpfen. Erlegt er mich, so mag er mir die kostbare Rüstung rauben; aber den Leichnam entsende er nach Ilios, damit die troischen Männer und Frauen meine Gebeine verbrennen. Gewähren mir aber die Götter Ruhm, daſs ich jenen treffe, so hänge ich seine Rüstung als stolze Beute zum Andenken im Tempel des Phöbos Apollon auf; ihr aber möget dem Toten dort bei den Schiffen ein würdiges Denkmal errichten, daſs der Enkel noch einst, wenn er, am Hellespontе segelnd, bei dem hohen Gestade vorüberschifft, sage: ‚Das ist das ragende Grabmal des Tapferen, den Hektor im letzten entscheidenden Kampfe erschlug‘.“

Also sprach er, und im Lager der Griechen ward's still. Jeder bedachte sich und wartete auf des andern Erbieten; denn mit Hektor zu kämpfen war ein gefahrvolles Wagstück. Da sprang, nicht im Gefühl seiner Stärke, sondern vom rasch aufwallenden Ehrgefühl überwältigt, Menelaos auf und sagte zu den übrigen Fürsten: „Ha, ihr Prahler daheim und Weiber im Schlachtfeld, wie steht es nun um euren Mut? Wahrlich, das wäre uns doch unauslöschliche Schande, wenn keiner von allen Achäern es wagte, sich mit Hektor zu messen! Aber mögt ihr auch alle feig und furchtsam sitzen, ich — nein, ich ertrage den Schimpf nicht, ich selbst werde mich rüsten. Wer weiſs es? Ruht doch jeglicher Ausgang der Kämpfe in der Hand der unsterblichen Götter.“

Er griff nach der Lanze und wollte fort, aber die anderen Könige der Achäer und selbst sein Bruder Agamemnon hielten ihn mit Gewalt zurück. Sie stellten ihm Hektors überwiegende Stärke vor, und indem sie ihm eine andere Auskunft in Vorschlag brachten, bestimmten sie ihn endlich, ruhig zu bleiben. Der alte Nestor nahm darauf das Wort und sagte: „Weh mir, wie grofses Verderben trifft heute die Achäer! Weinen würden die Alten, weinen würde der graue Peleus und alle die anderen tapferen Krieger meiner Jugendzeit, wenn sie hörten, wie das ganze Volk schimpflich vor Hektors Stimme verstummt, und keiner unter so vielen ihm zu antworten wagt. Ha, grofser Vater Zeus, wenn ich noch so wäre wie damals, da ich den Helden Ereuthalion niederwarf, da wahrlich sollte Hektor bald seinen Mann gefunden haben! Aber euch sind ja der Mut und das Mark aus den Gebeinen verschwunden."

Beschämt von des Greises verdientem Vorwurf, standen jetzt neun Männer miteinander auf und erboten sich, den Kampf mit Hektor zu bestehen. Agamemnon selbst war unter ihnen, die beiden Aias auch; die übrigen waren Diomedes, Odysseus, Idomeneus und sein Wagenlenker Meriones, Eurypylos und Thoas. „Wohlan, ihr Freunde", sagte Nestor jetzt, „da ihr alle den Kampf bestehen wollt, so tretet heran und loset alle der Reihe nach; Zeus selbst mag entscheiden, wem er den Ruhm des Sieges am meisten gönnt." Damit war jeder zufrieden. Jeder wählte sich ein Los (etwa eine mit Zeichen versehene Scherbe, oder etwas dem Ähnliches) und warf es in Nestors Helm. Der Alte schüttelte die Lose, bis eins herausflog, welches der ältere Aias sogleich für das seinige erkannte. Alle Achäer freuten sich; auch Aias selbst war stolz, dafs ihm gleichsam das Schicksal selbst geboten hatte, den rühmlichen Kampf mit Hektor zu bestehen. „Wohlan, das Los hat mich getroffen, so wird mir Zeus auch Sieg verleihen", rief er aus, „denn nicht unkundig des Krieges bin ich in Salamis aufgewachsen, und wahrlich, ich fürchte mich nicht vor jenem. Fleht ihr indessen für mich zum Zeus, dafs ich Ehre gewinne."

Sie taten es alle im stillen, und Aias stürmte nun mächtig vor, dem harrenden Hektor entgegen. Und wahrlich, er war des Gegners nicht unwert, denn ein kraftvoller Wuchs, sehnige Arme und mächtige Schultern und Schenkel kündigten schon beim ersten Anblicke den furchtbaren Krieger an. Seine Rüstung war undurchdringlich, und ihr allein verdankte er auch diesmal seine Rettung vom sicheren Verderben. Sieben übereinandergelegte Stierhäute und zum achten noch ein eiserner Überzug — das war sein Schild; Helm und Panzer mögen dem angemessen gewesen sein. Nach der Sitte jener Zeit begann der Zweikampf nicht schweigend und sogleich auf der Stelle, sondern die Kämpfer rühmten sich erst gegeneinander, höhnten sich auch wohl und schimpften im ärgsten Falle. So unedel ging es nun in diesem Gefechte zwar nicht zu, allein ganz ohne Vorspiel blieb es doch auch nicht.

„Siehe da, Hektor", rief Aias ihm zu, „nun erkennst du doch wohl, dafs sich im Achäervolke noch immer Männer erheben, die deinen Kampfruf nicht scheuen, auch wenn Achilles ruht? Ja, wir anderen fühlen uns stark genug, dir mutig zu begegnen, und ich bin nur einer von vielen! Wohlan, beginne den Zweikampf!" — „Denkst du, mich durch Trotz zu versuchen, Sohn Telamons?" — erwiderte Hektor. „Irre dich nicht, ich habe die Schlachten der Männer gelernt, weifs den Speer zu schwingen, dafs er trifft, und den Schild zu wenden, dafs mich kein Wurf verletzt. Zu Fufs und auf flüchtigem Wagen erreiche ich den Feind, und meine Taten zeugen für meine Worte. Aber jetzt gib acht, tapferer Held, ich will nicht mit lauernder List und heimtückisch dich überfallen, sondern offen versuchen, ob ich dich treffe."

In diesem Augenblicke schleuderte er die gewaltige Lanze mit aller Kraft auf ihn, und sie durchdrang das Erz des Schildes und sechs der ledernen Schichten; dann erst ermattete sie. Rasch warf nun Aias die seine auf Hektors Brust, aber Hektors Schild war nicht stark genug, der Spitze zu widerstehen. Doch durch eine geschickte Wendung des Leibes verhinderte er, dafs sie in das Fleisch drang. Beide zogen nun die Lanzen

mit Macht aus ihren Schilden und rannten widereinander, jeder voll Verlangen, den Gegner zu durchbohren. Wiederum traf Hektors richtig gezielter Stofs jenen auf den starken, ehernen Buckel des vorgehaltenen Schildes, dafs die Spitze sich krumm bog; aber sie drang doch nicht ein. Auch Aias' Stofs glitt ab von der Fläche des Schildes und fuhr dem Gegner, seitwärts streifend, in den Hals, dafs das Blut ihm den Panzer befleckte. Da wandte sich Hektor und ergriff einen mächtigen Feldstein. Den schleuderte er aus vollen Kräften auf den Gegner, und er würde diesen zerschmettert haben, wenn Aias sich nicht schnell hinter dem schützenden Schilde geborgen hätte. Jetzt erhob derselbe einen noch weit gröfseren Feldstein und warf ihn gegen Hektor, zerbrach ihm den Schild und verletzte ihn am Knie. Aber Priamos' kühner Sohn wäre gewifs noch einmal mit aller Wut über ihn hergefallen, hätten nicht die Griechen jetzt selbst dem Streit ein Ende gemacht. Denn sie sandten einen Herold, der trennte die beiden Kämpfer und sprach zu ihnen: „Nun nicht mehr, ihr Helden; genug ist's des feindlichen Kampfes. Ihr seid beide tapfere Streiter und beide von Zeus geliebt, das haben wir alle gesehen. Aber die Nacht bricht herein, und es ist gut, auch der Nacht zu gehorchen."

Aias starrte noch immer auf Hektors Bewegungen hin und rief dem Herolde zur Antwort: „Gut, mein Freund, ermahne nur jenen zum Stillstand; er hat das Gefecht begonnen; will er ruhen, so lass' auch ich mir's gefallen." Da sprach Hektor mit würdigem Ernste: „Aias, du hast dich männlich bewiesen im Streite, und ein Gott hat dir Stärke und Besonnenheit verliehen, lafs uns jetzt ausruhen vom Kampfe und künftig einmal ihn erneuern, bis uns das Geschick durch den Tod voneinander trennt. Siehe, die Nacht ist vor der Tür, gehe du zu den Schiffen und freue dich des Mahls mit den Deinen; ich kehre zu Priamos' Stadt zurück, wo die geängsteten Frauen an heiliger Stätte die Götter für mein Leben anflehen. Doch zuvor lafs uns einander noch mit preiswürdigen Gaben beschenken, damit man künftig noch unter Achäern und Troern sage: Seht, sie kämpften erst lange den Kampf der Zwietracht und schieden dann versöhnt in Freundschaft."

Er reichte ihm sein künstlich gearbeitetes Schwert mit der Scheide und dem zierlichen Gehenke, und Aias schenkte ihm dagegen seinen purpurnen Leibgurt. So gingen sie auseinander; und jedes Heer empfing seinen Helden mit Freudengeschrei und führte ihn triumphierend zurück. Wie trefflich behagte jetzt das Mahl nach einem so heifsen Tage! Agamemnon bewirtete die Fürsten wie gewöhnlich in seinem Zelte und reichte heute dem Aias vorzugsweise das gröfste Stück, welches man aus dem Rücken eines fünfjährigen fetten Stieres schnitt. Auch Hektor erfreute sich daheim des Mahles und unterhielt den alten Vater mit Erzählungen von den Drangsalen des eben verflossenen Tages.

### *b. Edelmut des Achilleus.* (S. 283.)

In Troja wurden seit Hektors Tode nur schlaflose Nächte verseufzt, und das Haus des alten Priamos war eine Wohnung des Jammers geworden. Er selbst, der bekümmerte Greis, hatte seit seines Sohnes Tode weder Speise noch Trank zu sich genommen, und die Klagen der Mutter und der Gattin rührten alles Volk so sehr, dafs es täglich in grofsen Haufen das Haus umstand, als wolle es der königlichen Familie zeigen, wie sehr es ihren Schmerz teile. Mitleidsvoll sahen selbst die Götter auf die Unglücklichen herab, und Apollon liefs sich in einer holden Traumerscheinung zum Priamos hernieder und stärkte sein Herz mit Mut, dafs er sich aufmachte zum Lager der Griechen, um mit Lösegeschenken den Leichnam seines Sohnes vom Achilleus zu erflehen. Zeus selbst befahl dem Hermes, den Greis zu geleiten, damit kein böser Feind ihn hindere oder ihm Leid zufüge auf dem Wege.

Priamos, getröstet durch die Göttererscheinung, vergafs nun endlich der Klage und ging eilig zur Kammer, wo die Kisten standen, in denen er seine Kostbarkeiten verwahrte. Er öffnete den zierlichen Deckel der Lade und nahm die feinen Gewänder

heraus, die er zu Geschenken mitnehmen wollte: zwölf herrliche Feierkleider, zwölf wärmende Decken und ebensoviele Leihröcke und prächtige Mäntel. Dann aus einer andern Lade nahm er zehn Talente Goldes, vier glänzende Becken und zwei dreifüfsige Kessel; selbst des köstlichen Bechers schonte er nicht, den ihm einst thrakische Männer zum Gastgeschenk verehrten, da er als Botschafter seines Vaters zu ihnen kam. Denn er wollte sein Bestes nicht sparen, um nur des harten Mannes Herz zu erweichen und seinen liebsten Sohn auszulösen. Darauf rief er seine Söhne herbei mit den Worten: „Hurtig her und packt mir das alles ordentlich in den Wagenkorb, und wenn's finster wird, schirrt mir die Pferde an und ruft mir meinen alten, erfahrenen Idäos her! Den nehm' ich mit, sonst niemand. Habt ihr's verstanden?“

Die Söhne gehorchten, zogen das Wagengestell aus der Halle hervor, fügten die Deichsel ein, banden das Joch an und befestigten auch oben mit zierlichen Riemen den Korb auf dem Wagen. Da hinein nun legten sie die schönen Gewänder und das Gold und das Erz und fütterten dann die Rosse. Darauf, als der Tag sich neigte, spannten sie dieselben vor und riefen den treuen Herold Idäos herbei. Hekabe aber sorgte noch in der Geschwindigkeit für einen kräftigen Labetrunk auf die Reise, wobei vor allen Dingen der Götter nicht vergessen ward. Mit emsiger Eile kam sie herbei, in der Rechten den goldenen Becher tragend, und rief, vor die Rosse tretend, ihrem Gemahl zu: „Hier, du Trauter, nimm und spende dem Zeus und flehe ihn um glückliche Heimkehr aus der Gewalt der feindlichen Männer an, da doch einmal dein Eifer dich wider meinen Willen hintreibt. Denn nimmermehr würde ich dich ziehen lassen, wenn ich Macht über dich hätte. Und noch jetzt möchte ich dir raten, dafs du den Zeus anriefest, dir seinen heiligen Vogel rechtsher zu senden, damit du erkennest, ob es wirklich sein Wille sei, dich zu schützen. Wird dies Gebet nicht erhört, dann würde ich sagen: ‚Bleib hier!‘ Denn wohe dem, der sich ohne göttlichen Beistand in die Gefahr begibt!“

Ihr antwortete der ehrwürdige Greis: „Ja, liebes Weib, ich will dir gehorchen, weil du mich so ermahnst. Gut ist's, zum Zeus die Hände zu erheben.“ So sprach er und rief die Schaffnerin aus dem Hause heraus in den Hof, dafs sie ihm Wasser bringe, und sie trug's herbei in silberner Kanne, besprengte ihm daraus mit der Rechten die Hände, und hielt mit der Linken das Waschbecken unter. Als er sich nun gewaschen hatte, empfing er aus den Händen der Gattin den Becher Weins, gofs die ersten Tropfen dem Zeus zu Ehren aus und betete laut, den Blick zum Himmel gerichtet: „Vater Zeus, du gröfster und mächtigster Herrscher, lafs mich doch als Freund dem Achilleus nahen und Mitleid vor ihm finden! Gewähre mir auch ein Zeichen, dafs du mich schützen wollest, damit ich getrost und voll Vertrauen die Reise antrete!“ Sein Wunsch ward erfüllt. Denn nicht lange darauf flog einer von den Adlern, die hoch in den Gebirgsklüften des Ida nisteten, ihm zur Rechten vorüber. Da freuten sich alle, die es sahen, und der König bestieg nun voll Vertrauen den Wagen, und sein Wagenlenker mit ihm. Bis vor das Stadttor hinaus begleiteten ihn die Söhne und wünschten ihm weinend Glück auf den Weg, denn ganz ohne Besorgnis konnten sie ihn doch nicht scheiden sehen.

Aber jetzt erinnerte sich der rasche Götterbote seines Auftrags, schwebte hernieder vom Olymp zur Küste des Hellespont und wandelte dann den Weg entlang, den Priamos kommen mufste. Er hatte die Gestalt eines griechischen Jünglings angenommen, der, aus höherem Geschlecht entsprossen, durch sein edles Ansehen Zutrauen einflöfsen konnte. Er knüpfte ein Gespräch mit Priamos an und gab sich für einen Genossen des Achilleus aus. „Ei, mein Freund“, sagte Priamos darauf, „wenn du ein Genosse des Achilleus bist, so kannst du mir ja wohl sagen, ob meines Sohnes Leichnam noch dort bei den Schiffen liegt, oder ob vielleicht der grausame Mann ihn schon in Stücke zerhauen und den Hunden vorgeworfen hat.“ Hermes entgegnete ihm: „Noch nicht, o Greis, haben Hunde oder Vögel ihn angerührt, obwohl er schon

zwölf Tage dort liegt und Achilleus ihn jeden Morgen um das Grab seines Freundes schleift. Auch die Verwesung traf ihn noch nicht, und in wunderbarer Frische haben sich bis jetzt die schönen Glieder erhalten. Wer ihn sähe, würde glauben, er sei eben erst verschieden. So sorgsam walten selige Götter über ihn sogar im Tode, denn immer ja war er von ihnen im Herzen geliebt."

Wie freute sich der alte Mann solcher Kunde! „O Kind", rief er aus, „wie gut ist's doch, wenn der Mensch jederzeit den Göttern die schuldigen Geschenke bringt! Nein, das hat mein Sohn bei seinem Leben nie vergessen! Immer opferte er jenen zuerst, ehe er selbst etwas Gutes genofs; das wird ihm nun im Tode belohnt! O ich glücklicher Vater! Da, da, mein Freund, nimm hier den schönen Becher zum Dank, behalte ihn zum Andenken von mir; ich hatte auch ihn für Achilleus bestimmt, denn zu dem will ich hin, meinen Hektor zu lösen; aber für ihn bleiben mir noch Geschenke genug. Nimm und geleite mich zu seinem Zelte, du mufst ja den Weg am besten wissen." Hermes erwiderte bescheiden: „Du willst mich versuchen, o Greis, aber ich kann widerstehen. Nimmer empfinge ich ja ein Geschenk von dir ohne Wissen des Achilleus und beraubte ihn selbst. Nein, zu sehr scheue ich ihn; es möchte mir sonst ein Übel begegnen. Aber geleiten will ich dich doch, und gingest du nach Argos; zu Schiff und zu Fufs wollte ich dein Begleiter sein, und kein Verwegener sollte ungestraft dir nahen."

Mit diesen Worten schwang er sich auf den Wagen, stellte sich zwischen die beiden Greise und nahm dem Herolde Zügel und Geifsel ab. Kühn und sicher trabten nun die Rosse durch das Gefilde hin und brachten die Wanderer bald an die Mauer des Lagers. Hier sahen sie noch von ferne die Wachen mit den Resten der Nachtkost beschäftigt; aber der verkleidete Gott schwang unbemerkt seinen Stab und versenkte sie alle in tiefen Schlummer, öffnete dann die Riegel des Tores und fuhr mit dem Wagen hindurch und lenkte ihn sofort in raschem Lauf an das Gehege, in welchem die Zelte und Schiffe der Myrmidonen standen. Hier verabschiedete er sich und verschwand; vorher aber zeigte er dem Greise noch Achilleus' Zelt und sprach dem Zitternden Mut ein. „Geh nur getrost hinein", sagte er, „und umfasse ihm die Kniee; gewifs, dein Anblick wird ihn rühren, denn seine Seele ist von Wehmut erfüllt wegen des Freundes. Beschwöre ihn bei seinem Vater, auch bei der göttlichen Mutter; diese alle liebt er aufs innigste; erinnerst du ihn an diese, so bewegst du sicher sein Herz."

Da stieg der König ab und liefs den Wagen und die Geschenke draufsen im Gehege unter der Obhut seines alten Begleiters stehen. Das Herz klopfte ihm schneller, als er die Schwelle des furchtbaren Mannes betrat; nach einem Augenblicke unschlüssigen Zauderns trat er ein. Er fand den Achill noch sitzend an dem Tische, an welchem er das Mahl verzehrt hatte; zur Seite standen die beiden Gefährten, welche ihm nächst Patroklos die liebsten waren, der Wagenlenker Automedon und der lanzenkundige Alkimos. Er selbst ruhte, der starke Held, auf den Ellenbogen gestützt und in düstere Betrachtungen versunken, und ward des eintretenden Greises nicht eher gewahr, als bis dieser ihm zu Füfsen fiel und seine Kniee umfafste. Er staunte, denn seltsam überraschte ihn der unerwartete Besuch. Einen Augenblick sahen sich beide starr ins Gesicht, Achilleus verwirrt und erschüttert, Priamos bittend und beklommen. Endlich machte ein Strom von Tränen dem gepreften Herzen des Greises Luft, und mit zitternder Stimme sprach er die flehenden Worte: „Denke an deinen Vater, du göttlicher Achilleus, der alt und kraftlos wie ich zu Hause schmachtet. Ach, vielleicht umdrängen auch ihn jetzt die Nachbarn, und niemand ist da, der ihn schirmt. Aber er weifs doch, dafs einer ihm lebt, wenn auch fern, ein lieber und trefflicher Sohn, der, wenn er zurückkehrt, allem Jammer ein Ende macht. Des freut sich der hoffende Greis, und alle Tage erneuert sich ihm der süfse Gedanke an dich. Aber ich, wehe mir! ich war der glücklichste Vater; fünfzig Söhne hatte ich grofsgezogen, und ihrer neunzehn waren von einer Mutter geboren. Sie waren meine Freude und mein Stolz. Da zogt ihr gegen meine Stadt, und der unselige

Krieg raffte sie, einen nach dem andern, bis auf wenige dahin. Unter den wenigen aber war mir der Beste doch übrig geblieben, der mich und uns alle bisher geschirmt hatte; auch der ist nun nicht mehr. Ach! für sein Leben kann ich nicht mehr flehen; aber den Toten wünschten wir alle nur einmal noch wiederzusehen, um ihm die schuldige Ehre zu erweisen. Zu Hause jammern Geschwister, Gattin, Mutter, und siehe, hier liege ich selbst, der unglückliche Vater, zu deinen Füfsen. Gib ihn mir wieder; ich bringe reiche Geschenke mit. Schene die Götter! Denke, wenn dein alter Vater so vor einem jüngeren Manne knieen müfste! — — Und ich — o Jammer ohnegleichen! — ich küsse die Hand, die meine Kinder erschlagen hat!"

Solchen Worten und solchen Tränen widerstand das Herz des Unbezwinglichen nicht. Ja, er war tief erschüttert durch den Anblick des flehenden Greises am Boden; das Bild seines eigenen ergrauten Vaters trat ihm lebhaft vor die Seele, und eine wehmütige Sehnsucht nach seiner Umarmung erfüllte sein Herz. Er weinte laut und beugte sich sanft zu dem Greise hernieder, um ihn aufzuheben; aber Priamos hielt noch immer seine Kniee fest umfafst, und so schluchzten sie beide, ein jeder sein eigenes Schicksal im Grame des andern beschauend. Endlich, als sie beide der Tränen genug vergossen hatten, sagte Achilleus: „Ja, fürwahr, unglücklicher Greis, du hast der Leiden viele erfahren! Und doch wagst du's, so allein in der Nacht zu den Schiffen der Achäer zu kommen, zu dem Manne, der dir deine tapfersten Söhne tötete. So mutig ist ein treues Vaterherz! Aber wohlan, vergifs des Grames und lafs mich nicht mehr deine Tränen sehen. Stehe auf und setze dich hier auf den Sessel. Komm her, dafs wir uns beide das Herz ein wenig beruhigen, denn wir erreichen ja doch nichts mit unseren schwermütigen Klagen. Die Götter haben es nun einmal den Menschen bestimmt, in Kummer zu leben, indes sie selbst von Sorge nichts wissen. Manchem vermischen sie wohl die traurigen Lose mit den heiteren, aber mancher empfing nur Übles, so dafs er sein Leben hindurch kläglich umherirrt, weder von Göttern noch von Menschen geehrt. Ist doch auch mein Vater nicht glücklich zu preisen! Zwar verliehen ihm die Himmlischen hohe Gaben und segneten ihn mit Gütern und Macht, ja, eine Göttin ward seine Gemahlin; aber ihm ist kein glücklicher Erbe seiner Macht beschieden, denn ach, mich sieht er nicht wieder, so sehr auch sein Herz nach mir verlangt; mir ist nicht bestimmt, als friedlicher Herrscher heimzukehren und ein glückliches Alter zu schauen. So auch raubte das Schicksal dir den trefflichen Sohn. Aber er ist nun dahin, drum klage nicht länger; du erweckst ihn ja doch nicht und mehrst nur deinen Kummer. Wer vermag etwas wider die mächtig waltenden Götter!"

„Lafs mich nicht niedersitzen", schluchzte der alte Mann, „hier will ich liegen, bis du ihn mir losgegeben, den einzig geliebten, teuern Sohn, dafs ich ihn mit Augen sehe und ihn mit meinen Tränen benetze. Du aber nimm die Geschenke und geniefs ihrer in Segen, wenn du heimgekehrt bist ins Vaterland, dafür, dafs du mir vergönnt hast, mit Liebe und Dank von dir zu scheiden." — „Ei, schweig und reize mich nicht!" fuhr Achill hitzig auf; denn es verdrofs ihn, dafs der Alte an seinem Herzen zu zweifeln schien, nachdem er ihm so unverhohlene Beweise des tiefsten Mitgefühls gegeben hatte. „Steh auf, sag' ich dir, es war längst bei mir beschlossen, dir den Sohn zu überlassen. Was kränkst du mich noch durch Furcht und Mifstrauen?"

Schweigend gehorchte der Greis der ernsten Rede, stand von der Erde auf und setzte sich auf den Stuhl. Indessen erhob sich auch jener, kraftvoll wie ein Löwe, und schritt zur Tür hinaus; ihm folgten die beiden Freunde. Draufsen im Hofe besah er die Geschenke und sagte heimlich den Genossen seinen Willen. Diese lösten darauf die Rosse vom Wagen, führten den alten Herold zu Priamos hinein in das Zelt und setzten ihn auf den Sessel. Dann nahmen sie die kostbaren Güter aus dem Korbe bis auf zwei weifse Gewänder, in welche sie Hektors Leichnam hüllen wollten. Nachdem sie denselben gebadet und gesalbt hatten, hüllten sie ihn in die zierlichen Gewänder ein, und Achilleus selbst hob ihn auf den Wagen und legte ihn auf ein untergebreitetes Lager

stand dann einen Augenblick in schmerzlichen Gedanken und sprach: „Zürne mir nicht, Patroklos, wenn du vielleicht in der Wohnung des Hades vernimmst, daſs ich Hektors Leiche dem bekümmerten Vater zurückgab. Sieh, er bringt mir nicht unwürdige Lösung, und auch dir soll ein gebührender Anteil derselben geweiht sein.“ Jetzt kehrte er wieder ins Zelt zurück und setzte sich auf seinen Platz, den beiden Gästen gegenüber. „Nun Heil dir, Alter“, sprach er, „dein Sohn ist gelöst, wie du wünschtest, und ruht schon auf deinem Wagen, in weiche Gewänder gehüllt. Jetzt aber laſs uns des Mahles gedenken und unser Herz erquicken. Deinen Sohn beweine daheim, denn wohl ist er der Tränen wert.“

Mit diesen Worten stand er auf, holte ein dickwolliges Schaf herbei und schlachtete es. Die Genossen zogen die Haut ab, schnitten das Fleisch in Stücke und brieten es sorgfältig an Spieſsen, zogen dann alles herunter und legten es auf den Tisch. Automedon verteilte darauf das Brot aus dem Korbe, das Fleisch aber legte Achilleus selbst vor. Und sie aſsen und tranken und opferten den Göttern, und des Vergangenen ward nicht weiter gedacht. Während der Mahlzeit betrachteten beide Könige sich näher und schauten sich zuerst ohne Furcht und Unmut ins Gesicht. Da bewunderte der Greis die herrliche Bildung des furchtbaren Mannes, den göttergleichen Wuchs und den kühnen, feurigen Blick. Auch Achillens staunte im Herzen, als er den ehrfurchtgebietenden, majestätischen Anstand und das würdevolle Antlitz des Königs ruhiger betrachtete und seine sanfttönende Rede vernahm. Nachdem sie nun beide durch Trank und Speise gesättigt waren, sagte Priamos: „Jetzt, du Göttlicher, weise mir ein Plätzchen an, wo ich ruhen kann, damit ich einmal wieder des sanften Schlummers genieſse, nach dem mich so herzlich verlangt. Denn seit dem Schreckensabend, an welchem mein Sohn zu den Toten hinabsank, haben sich meine Augen nicht geschlossen, sondern, in Staub und Erde auf meinem Hofe mich wälzend, habe ich in Jammer und Tränen die Nächte zugebracht, und dies ist die erste Speise, dies sind die ersten Tropfen Weins, die meine Lippen kosteten. Solange habe ich gehungert und gedurstet.“

Achilleus befahl sogleich den Genossen, draufsen unter der Halle ein weiches Lager für Priamos und seinen Gefährten zu bereiten. Da holten schnell die Mägde prächtige Polster und wärmende Decken und Mäntel herbei, legten alles gehörig zurecht und leuchteten den Fremden mit der Fackel. Achilleus geleitete darauf den Greis bis an die Tür und drückte ihm scheidend die Hand, um ihm alle etwa noch übrige Furcht zu benehmen.

Nur wenige Stunden Schlafs genügten dem alten Manne, da stand er schon wieder auf und weckte den Achill. Denn er wünschte sehr, noch vor Beginn des Tages aufzubrechen, damit kein anderer im feindlichen Lager ihn bemerke und auf dem Rückwege beängstige. „Unruhiger Alter“, sagte Achilleus lächelnd, „so ziehe denn heim! Doch eins sage mir noch zuvor. In wieviel Tagen gedenkst du den edlen Sohn zu bestatten? Das sage mir, damit ich mich solange des Streites enthalte und auch das Volk am Kampfe verhindere.“

Priamos empfand mit Rührung das Edelmütige dieser Nachfrage und antwortete ihm: „O Achilleus, wenn du uns das vergönnen willst, so gewähre uns neun Tage, den Toten zu beweinen und die Anstalten zu seiner Bestattung zu treffen. Dann wollen wir ihn am zehnten Tage verbrennen, am elften das Grabmal aufrichten, und am zwölften beginne dann wieder der Krieg, wenn es doch leider Krieg sein muſs.“ — „Gut“, versetzte Achill, „also geschehe es. Ich werde solange das Heer abhalten, als du begehrt hast.“

So freundlich entlieſs der Überwinder Hektors den unglücklichen Vater, und der wütende Feind der Troer den König dieses Volks. Er geleitete den Wagen bis ans Tor der Verschanzung und gab acht, daſs keiner der etwa schon erwachten Achäer den alten Mann beleidigte. So kam derselbe glücklich wieder in die Königsburg zurück.

# 41. Scenen aus der Odyſſee.

Von A. F. Becker.

Erzählungen aus der alten Welt. Halle 1881.

## a. Odyſſeus bei den Phäaken. (S. 81.)

Mit der Morgendämmerung erhob ſich der König Alkinoos und ſein ihm noch unbekannter Gaſt vom Lager. Beide gingen auf den Markt und ſetzten ſich auf ſchön behauene Steine nieder, dergleichen ringsumher für die phäakiſchen Fürſten aufgeſtellt waren, wenn ſie ſich zu einer allgemeinen Beratſchlagung einfanden. Noch war niemand da, aber Athene ging ſchon, als Herold verkleidet, von Haus zu Haus und lud die Häupter zu ſchneller Verſammlung ein. Da kamen ſie in Scharen und erfüllten die Sitze, während das Volk ſich in den Gängen durcheinanderdrängte und auf den Fremdling ſchaute, über deſſen Geleitung die Fürſten beraten wollten. Er aber ſtand wie ein Gott unter ihnen; denn Athene hatte ihm eine Hoheit der Geſtalt und Anmut verliehen, um ihm die Bewunderung und Liebe der Phäaken deſto ſicherer zu gewinnen. Nachdem alle verſammelt waren, nahm der König das Wort. „Hört mich an", ſprach er, „ihr erlauchten Fürſten der Phäaken! Dieſer Fremdling hier — ich kenne ihn nicht und weiß nicht, ob er vom Morgen oder vom Abend her zu uns gekommen iſt —, hilfeflehend hat er mein Haus betreten und begehrt nun von uns weiter geleitet zu werden. Laßt uns alſo ſchnell daran denken; denn noch niemals iſt jemand meinem Hauſe mit einer Bitte genahet, die ihm nicht gewährt worden wäre. Darum auf, ihr Jünglinge, verſammelt euch, zweiundfünfzig an der Zahl, zieht ein gut bewährtes Schiff ins Meer und beſorgt alles, was dazu gehört! Dann kommt in meinen Palaſt, da will ich euch alle mit Speiſe und Trank verſorgen. Ihr aber, ihr Fürſten, erfüllt mir eine andere Bitte! Folgt mir in meinen geräumigen Saal, daß wir den Fremdling noch einmal glänzend bewirten, und damit unſerer Freude auch das Lied nicht fehle, rufet den göttlichen Sänger Demodokos herbei!"

Als nun das Mahl bereitet war, erſchien der abgeſchickte Diener mit dem alten Sänger, der die Fürſten im Saale mit ſeinem Geſange erfreuen ſollte. Demodokos war blind, aber ſein Gedächtnis war voll von herrlichen Geſchichten, die ſein beredter Mund entzückend vorzutragen wußte, indes ſeine Hand kräftig die Saiten der Phorminx rührte. Der Herold führte ihn ſanft am Arme herbei, ſtellte ihm mitten im Kreiſe einen Seſſel hin an eine Säule des Saales, und über ſeinem Haupte hängte er die Phorminx an einem Nagel auf, lenkte auch freundlich dem blinden Manne die Hand dahin, damit er nachher ſie finden könnte. Dann ſetzte er einen Tiſch mit Fleiſch vor ihn hin, holte den Brotkorb herbei, miſchte Wein für ihn und bediente ihn wie alle die übrigen Gäſte. Als nun die Eßluſt der Schmauſenden geſtillt war, griff der Sänger nach ſeiner Phorminx, das Lied zu beginnen. Und nun erſcholl ſein Geſang wie Schlachtruf und Waffengeklirr zur Feier des Trojanerkrieges. Alles lauſchte begeiſtert den Klängen, die tief in jedem Griechenherzen widerhallten. Da wandte ſich ſein Geſang, und nun pries er den Streit der beiden ſiegreichſten Führer, deren Ruhm vor allen leuchtet, des Achilleus und des Odyſſeus. Das traf unſeren Helden wie Schwertſtreich. Die Erinnerung riß alle Wunden ſeines Herzens wieder auf, er zog den Mantel über das Haupt und verbarg ſein Geſicht, damit die Phäaken ſeine Tränen nicht ſähen. Erſt als der Sänger ſchwieg, trocknete er ſich ſchnell die Tränen und nahm den Mantel von ſeinem Haupte. Aber ſobald der Sänger wieder anhub, ſtürzten auch die Tränen wieder hervor, und ſeiner ſelber kaum mächtig, ſeufzte Odyſſeus tief auf. Das hörte Alkinoos, der ihm zunächſt ſaß; aber ſchonend, als merke er's nicht, ſprach er bei der nächſten Pauſe des Sängers zu ſeinen Gäſten: „Hört, Freunde, ich denke, jetzt hat Mahl und Geſang uns alle ſattſam erfreuet. Laßt uns nun hinausgehen und Kampfſpiele verſuchen, damit unſer Gaſt auch darin die Geſchicklichkeit der Phäaken erkenne und ſeinen Freunden zu Hauſe davon erzähle!"

Sogleich ſtanden die Schmauſenden alle auf und folgten dem Könige hinaus. Auch der blinde Sänger ging mit, nachdem ein treuer Diener ihm ſeine Phorminx abgenommen und ſie an den Nagel gehängt, ihn ſelbſt aber bei der Hand gefaßt hatte. Der Markt füllte ſich wieder mit neuem Getümmel. Die Fürſten ſetzten ſich, ringsumher ſtand das Volk, und die

Jünglinge, welche ihre Kunſt im Ringen, im Fauſtkampf, im Laufen und Werfen zeigen wollten, traten in den weiten Kreis hervor. Zuerſt verſuchten ſich drei Söhne des Königs, Laodamas, Halios und Klytonäos, im Wettlauf, von denen der letztere den Preis davontrug. Dann traten die ſtarken Ringer auf, unter denen der tapfere Euryalos alle beſiegte. Hierauf ließen ſich die Springer ſehen, auf welche die Scheibenwerfer folgten. Den Beſchluß machten die Fauſtkämpfer, und in dieſem gefährlichen Spiele behielt der ſchöne Laodamas die Oberhand. „Hört, Freunde", rief hierauf der junge mutige Mann, „wir wollen doch unſeren Gaſt fragen, ob er nicht auch in Kämpfen geübt iſt. Wahrlich, ſeine Geſtalt iſt edel; ſeht nur die hohe Bruſt, die Schenkel, die Arme und den ſtarken, ſehnigen Nacken! Auch ſein Wuchs verrät einen tüchtigen Mann, und alt iſt er auch noch nicht. Das Unglück hat ihn nur ſo mitgenommen; denn wahrhaftig, ich kenne nichts, was einen Mann mürber zu machen imſtande wäre, als das heilloſe Meerwaſſer, wenn einer auch noch ſo ſtark iſt." — „Schön", erwiderte Euryalos, der Ringer, „das iſt ein guter Einfall! Geh nur hin zu dem Manne und fordere ihn auf!" Laodamas ging hin und forderte den Odyſſeus auf. Aber dieſer lehnte es ab. „Ach", ſagte er, „mein Unglück liegt mir jetzt näher am Herzen, als Kämpfe, und ich habe keinen andern Gedanken, als wie ich recht bald nach Hauſe kommen möchte. Ihr wißt nicht, was ich alles erduldet habe." — „Schon gut, mein Freund", rief höhniſch der vorſchnelle Euryalos. „Man ſieht wohl, daß du dich auf ſo etwas nicht verſtehſt. Ein Kämpfer biſt du nicht, aber vielleicht ein Aufſeher auf einem Kaufmannsſchiffe, der die Ladung beſorgt, die Waren bewacht und die Gewinne berechnet; nicht wahr?" — „Ei", erwiderte mit finſterem Blick der edle Odyſſeus, „nicht fein war die Rede; du ſcheinſt mir ein übermütiger Geſell. Man ſieht doch recht, wie verſchieden die Götter ihre Gaben austeilen. Mancher Mann von unanſehnlicher Geſtalt ragt oft durch ſeinen Verſtand hervor, und wenn er redet, erſtaunt die Verſammlung über ſeine trefflichen Worte. Ein anderer dagegen von götterähnlichem Wuchs weiß oft nicht ein verſtändiges Wort herauszubringen. Sieh, ſo iſt es mit dir beſtellt. Du biſt von trefflicher Schönheit, aber dein Witz will nicht viel ſagen. Wahrlich, wärſt du nicht ſolch ein junger Tor, du hätteſt mich empört mit deiner unziemlichen Rede! Nein, glaube mir, ich bin kein Neuling im Wettkampfe; ich habe mich mit den Tapferſten gemeſſen, als ich noch jung war, und Gram mich nicht niederbeugte. Denn ich habe erduldet, was nur ein Menſch erdulden kann, im Kampf der Feldſchlacht wie im Sturm der Meereswogen. Aber wahrlich, ſo entkräftet ich auch bin, ich verſuche den Wettkampf, zu dem du mich gefordert haſt. Gebt her die Scheibe!"

Er nahm die ſchwerſte der metallenen Wurfſcheiben, welche dalagen, ſchwang ſie am Riemen ein paarmal im Wirbel herum, und nun ſchleuderte er ſie hoch in die Luft, daß ſie weit, weit hinter den Scheiben der anderen niederfiel. Da lief einer der Zuſchauer hin und ſteckte an dem Ort, wo die Scheibe liegen geblieben war, einen Pfahl zum Zeichen ein, und als er wieder zurückkam, rief er laut: „Das Mal findet wohl ein Blinder heraus im Tappen, ſoweit hat es die anderen hinter ſich gelaſſen. In dieſer Kampfart kannſt du ſicher ſein, fremder Mann; in dem Wurfe wird dir's keiner gleichtun!" — „Nun", rief Odyſſeus, „ſchleudert mir doch nach, ihr Jünglinge! Und hat nun jemand noch Luſt, etwas anderes mit mir zu verſuchen — ſei's mit der Fauſt, im Ringen oder im Laufen — der komme her und wage es einmal; denn ihr habt mich höchlich beleidigt. Wohlan, ihr Phäaken, trete her, wer da will, ich ſtehe bereit zu allem! Sei's, wer es ſei, nur Alkinoos nicht; er iſt mein Wirt, und ungezogen iſt es, zum Kampfe den Gaſtfreund herauszufordern, der uns ſpeiſet und beherbergt. Aber ſonſt verſchmähe ich keinen der anderen, und wahrlich, mit der Furcht hat's gar keine Not. In keinem Kampfe der Männer bin ich unerfahren, und im Bogenſpannen ſuche ich meinen Meiſter. Mitten aus der Schar der Feinde erziele ich meinen Mann und er fällt gewiß. Ein einziger nur hat mich darin übertroffen, als wir vor Troja lagen, Philoktet; aber unter allen anderen Schützen behauptete ich den Vorrang. Auch mit dem Wurfſpieß treffe ich, ſoweit kein anderer mit dem Pfeile reicht. Nur im Laufen könnte vielleicht einer von euch mir's zuvortun; denn das ſtürmende Meer und der lange Hunger haben mich über die Maßen ermattet."

Jetzt ſchwiegen die Phäaken alle, keiner getraute ſich mehr, den Helden herauszufordern. Der König aber ſchlug in der Verſammlung vor, jeder der zwölf phäakiſchen Fürſten ſolle dem Gaſte ein Geſchenk an Golde und ein ſchön gewirktes Ober- und Unterkleid geben; dazu wolle er ſelbſt noch ein übriges tun, und ſo wolle man ihn fortſenden. Alle ſtimmten dem Könige bei, und jeder ſchickte einen Herold nach Hauſe, um dies Geſchenk herbeizuholen.

Indes war es Abend geworden, die Diener kamen mit den Geſchenken auf dem Markte an, legten ſie alle zuſammen und trugen ſie dann in des Königs Wohnung. Dahin folgte auch die ganze Schar, und die Fürſten nahmen daſelbſt wieder wie gewöhnlich die rings im Saale aufgeſtellten Stühle ein. Als der Hunger geſtillt war, wandte ſich Odyſſeus an den Sänger und bat ihn, da er doch alle Abenteuer aus dem Trojanerkriege wiſſe, noch das eine von dem hölzernen Pferde zu ſingen, mit welchem Odyſſeus die Trojaner getäuſcht habe. Da ſang der Alte zum Klang der Phorminx die ſeltſame Mär, nicht ahnend, daß der Held, deſſen Liſt er feierte, an ſeiner Seite lauſchend ſaß. Und jener fand, daß der Mann alles nach der Wahrheit ſchilderte, als wäre er ſelber zugegen geweſen, und der treffliche Geſang erſchütterte abermals ſein Herz ſo, daß er nicht ruhig anſehen konnte wie die anderen Gäſte, ſondern oft ſeufzte und ſich verſtohlen die Tränen trocknen mußte. Alkinoos bemerkte es wieder, und mit derſelben Schonung wie das erſte Mal gebot er dem Sänger Stillſchweigen und ſprach zu den verſammelten Gäſten: „Hört, ihr Fürſten der Phäaken, ich dächte, wir ließen jetzt den Sänger und die Phorminx ruhen, denn wahrlich nicht allen ſingt jener zur Freude. Unſer Gaſt ſitzt in Tränen, ſeitdem der Geſang ertönt, ihm ſcheint ein ſchwerer Gram an dem Herzen zu nagen. Laßt uns den Sänger einhalten, damit wir alle fröhlich ſein können; denn für den Gaſt iſt ja doch alles bereitet, und lieb wie ein Bruder muß uns ein Fremdling ſein, der uns mit Vertrauen nahet. Und nun ſage du uns, Freund, ohne Ausflucht, was ich von dir zu wiſſen wünſche. Sprich, wie heißeſt du, und welchen Eltern und welchem Lande gehörſt du an?“ Alle ſaßen in ſtummer Erwartung umher und ſahen den Fremdling an.

„Ja“, begann Odyſſeus, „herrlich iſt es hier bei euch, und eine Wonne iſt es, ſolchen Sänger zu hören und ſein unſterbliches Lied. Schöneres kenne ich nicht, als wenn die Reihen der Gäſte rings im Saale ſchmauſend ſitzen, der Herold von einem Tiſche zum andern geht und die Becher füllt, und nun der Sänger das Lied anſtimmt von den Großtaten alter und neuer Zeit, daß alle Hörer ſich freuen. Denn Spiel und Geſang ſind ja die Würze des Mahls. Aber ihr fragt mich jetzt um mein jammervolles Schickſal. Ach, das wird mich noch trauriger machen! Was ſoll ich doch zuerſt, was ſoll ich zuletzt euch erzählen? Denn die himmliſchen Götter haben viel Elend auf mich gehäuft. Mein Name mag das erſte ſein, damit ihr mich kennet und mich als euren Gaſtfreund im Andenken behaltet, wieweit uns auch das Schickſal trennen mag. Ich bin Odyſſeus von Ithaka, der Sohn des Laertes, durch klugen Rat und kluge Tat weithin bekannt; mein Ruhm geht über die Erde.“

Die Phäaken ſtarrten vor Verwunderung, und der alte Sänger beklagte den Verluſt ſeiner Augen, daß er den Mann nicht ſehen könne, deſſen Heldentaten er mit eigenem Entzücken ſo oft geſungen, und der jetzt plötzlich leibhaftig vor ihm ſaß. Nur durch den liederreichen Mund der Sage war bisher die Geſchichte jenes berühmten Krieges nach Scheria gedrungen, man ſprach von Achill und Agamemnon, von Odyſſeus und Hektor. Jeder wünſchte ſich, dieſe Männer nur einmal zu ſehen — und auf einmal ſitzt der berühmteſte von allen mitten unter ihnen, hat mit ihnen gegeſſen und getrunken und iſt jetzt bereit, die Wunder zu erzählen, die er getan, und die Schickſale, die er gelitten hat.

### b. Odyſſeus und Telemachos. (S. 87.)

Das Schiff der Phäaken glitt über die Fläche, leicht wie ein Vogel. Odyſſeus aber ſank in tiefen, tiefen Schlaf. Der tapfere Held, der ſoviele Taten verrichtet, ſoviele Leiden erduldet hatte, da lag er nun gleich einem Toten und ſchlief ſo ruhig, als ob alle Leiden nur ein Traum geweſen wären.

Eben ging der Morgenſtern auf — denn ſie waren ſchon die ganze Nacht hindurch ge-

fahren —, als das Schiff in einer Bucht von Ithaka landete. Selbſt der ſtarke Stoß des auf den Kiesſand laufenden Schiffes konnte den Helden nicht ermuntern, und die Jünglinge, die dem armen Dulder ſeinen Schlaf von Herzen gönnten, faßten leiſe die Zipfel des Unterbettes und des Leintuches, auf dem er ruhte, und trugen ihn ſanft ans Land. Auch die Geſchenke packten ſie ſchweigend aus und ſtellten ſie neben ihn unter einen Ölbaum, und dann ſetzten ſie ſich wieder in ihr Schiff und ſteuerten fröhlich nach Hauſe.

Unterdeſſen erwachte Odyſſeus auf dem feuchten Boden; er ſah ſich um. Ein trüber Nebel umhüllte rings die wilde Gegend, und der Arme erkannte ſein Vaterland nicht. „Wehe mir!“ rief er aus, „an welches fremde Land haben mich dieſe trügeriſchen Männer ausgeſetzt? Iſt das die Treue der Phäaken? Wer mag hier wohnen? Unbändige, grauſame Horden vielleicht? Wohin wende ich mich?“ Er wankte troſtlos am Geſtade umher und erforſchte die Gegend. Da kam Athene in der Geſtalt eines ſchönen Hirtenknaben auf ihn zu, einen Wurfſpieß in der Hand und Sohlen an den Füßen. Freudig erblickte Odyſſeus den Knaben und redete ihn an: „Lieber, ſei mir gegrüßt, da du mir zuerſt hier im fremden Lande begegneſt. Sei mir nicht feindlich geſinnt, denn wie zu einer Gottheit flehe ich zu dir und umfaſſe mit Demut dir die zarten Kniee. Vor allen Dingen ſage mir, wo bin ich hier? Wie heißt das Land, und was für Männer bewohnen es? Iſt es eine Inſel oder eine vorragende Küſte des feſten Landes?“ — „Du mußt wohl aus weiter Ferne kommen, Fremdling“, verſetzte der Gefragte, „weil du dieſes Land nicht kennſt; denn wahrlich, es iſt berühmt genug. Zwar iſt's rauh und gebirgig und taugt nicht, um Roſſe darauf zu tummeln, aber Getreide und Wein gedeiht hier trefflich, und an Rinder- und Schafherden iſt ein reicher Segen. Bäche tränken das Land, und überall wuchert herrliche Waldung. Wahrhaftig, Ithakas Ruf iſt bis Troja gedrungen, und das, ſagen die Leute, liegt ſehr fern vom achäiſchen Lande.“ Ithakas Ruf! Alſo war es wirklich Ithaka, wo der Zweifelnde ſtand? Wirklich das liebe, lang erſehnte Vaterland? Welche Freude!

Dann gab ſich Athene dem Helden zu erkennen und ließ ſich mit ihm unter einem alten Ölbaume nieder, noch ferner Rats mit ihm zu pflegen. So ſehr ſie ihm ihren Beiſtand verſprach, ſo dringend empfahl ſie ihm doch Vorſicht, weil der Freier über hundert ſeien. Vor allen Dingen, meinte ſie, dürfte niemand etwas von ſeiner Ankunft ahnen, bevor er nicht unter der Hand ſeine Freunde kennen gelernt und eine Anzahl zuverläſſiger Anhänger heimlich auf ſeine Seite gebracht habe. Darum wollte ſie ſeine Geſtalt umwandeln, damit er allen unkenntlich ſei, und ihm einen Anzug verſchaffen, in welchem niemand auf der ganzen Inſel den großen König erkennen ſolle. Sie berührte ihn darauf ſanft mit dem Stabe, und ſogleich ſchrumpfte das ſchwellende Fleiſch und der ſchlanke Wuchs der Glieder zuſammen; es verhärtete ſich die Haut in grobe Runzeln, wie bei einem Greiſe; der ſtolze Nacken krümmte ſich, das braune Haar fiel aus, und blöde wurden die feurigen Augen, die ſonſt von Mut und Heiterkeit ſtrahlten. Aus den langen, glänzenden Gewändern, die in weiten Falten ſeinen Leib umhüllten, wurde ein grober, häßlicher Kittel, zerlumpt und garſtig eingeräuchert, und als Mantel hängte ſie ihm ein altes, abgetragenes Hirſchfell um. Den Bettleraufputz zu vollenden, verehrte ſie ihm noch einen geflickten Ranzen an einem geflochtenen Tragbande und gab ihm einen knotigen Knüttel in ſeine Hand. In dieſem Aufzuge befahl ſie ihm, den Sauhirten aufzuſuchen, der einer der treueſten Anhänger des königlichen Hauſes und ein Erzfeind der Freier ſei, und von dem er bald mehr erfahren werde; ſie wolle unterdeſſen dem jungen Telemachos entgegeneilen, denn dieſer kehre ſoeben von Sparta zurück, und ſchon lauere auf ihn im Hinterhalte zu Schiff die Schar der Freier; allein ſie werde ihre Anſchläge vereiteln und hoffe, den Jüngling bald ſeinem Vater wohlbehalten in die Arme zu führen. So trennten ſie ſich, Odyſſeus aber erklomm den rauhen Pfad über die waldbewachſenen Berghöhen nach der Richtung hin, wo ihm Athene die Wohnung des braven Sauhirten Eumäos bezeichnet hatte. . . . . .

Als Telemachos das Gehöft des Oberhirten erreichte, ſtand die Sonne bereits hoch am Himmel. Die Hirten hatten ſich mit ihren Herden ſchon in Feld und Wald zerſtreut, und der biedere Eumäos lagerte mit dem Odyſſeus um die lodernde Flamme, an welcher ſie ſich

eben ein Stück Fleiſch zum Imbiß gebraten hatten, das ſie nun in behaglicher Ruhe verzehrten. Da hörten ſie Tritte vor der Tür. „Horch!“ ſagte Odyſſeus, „ich höre Tritte, und doch bellen die Hunde nicht. Gewiß beſucht dich einer deiner anderen Hirten oder ſonſt ein Bekannter.“ Kaum war das Wort geſprochen, ſo ſtand der ſchlanke Telemachos an der Schwelle, und alle Hunde ſprangen ſchmeichelnd an ihm in die Höhe und umſchnoberten ihn freudig. Der überraſchte Sauhirt ließ vor Freuden das Geſchirr aus der Hand fallen, in welchem er eben den Wein miſchen wollte, und eilte haſtig hinaus, dem kommenden Herrn entgegen. Er ſchlang ſeine Arme um ihn, wie ein Vater um den lange entbehrten Sohn, küßte ihm Wangen und Augen, Mund und Hände, benetzte ihn mit Tränen, küßte ihn wieder und ſah ihn frohverwundert an, als ſähe er einen vom Tode Erſtandenen. Spät erſt kam er zu Worte, und mit dem Tone des zärtlichen Vaters rief er aus: „Kommſt du, Telemachos? Biſt du da, du Trauteſter? Ach, ich fürchtete ſchon, dich nimmer wiederzuſehen; da hörte ich, du wärſt nach Pylos geſchifft. Aber tritt doch herein, geliebter Sohn, daß mein Herz ſich deines Anblickes in Ruhe erfreue!“ Jetzt traten die beiden in die Hütte. Der Sauhirt nahm dem Königsſohne die Lanze ab und ſtellte ſie in einen Winkel. Der unbekannte Bettler, dem das Herz beim Anblick des ſchönen Sohnes mit freudigen Schlägen klopfte, unterdrückte ſeine tiefe Bewegung. Mit der Ehrerbietung eines Armen ſtand er von dem Lager auf, um ſeinen Platz dem Fremden einzuräumen; aber der beſcheidene Telemachos hielt ihn zurück und ſprach: „Bleib ſitzen, Fremdling, ich finde wohl ſonſt noch ein Plätzchen. Eumäos wird mich ſchon unterbringen.“ Odyſſeus ſetzte ſich nieder, und der Sauhirt machte ſogleich einen neuen Sitz von Reiſig und Schaffellen zurecht, welchen Telemachos einnahm. Dann holte er die Überreſte der vorigen Mahlzeit herbei und reichte dem letzteren zu eſſen, miſchte auch Wein für ſeine Gäſte und bot freigebig dar, was er hatte. Nachdem das Mahl beendigt war, fragte der Jüngling den Sauhirten, was er da für einen Gaſt bekommen habe, und wie derſelbe hier angelangt ſei.

„Er ſagt, er ſtamme aus Kreta“, erwiderte der Hirt, „und habe große Reiſen gemacht und auf denſelben viel Ungemach erduldet. Nun harret er auf weitere Entſendung. Ich gebe ihn dir anheim, zumal ich ihn längſt auf deine Freundlichkeit vertröſtet habe.“ — „Gern täte ich wahrlich“, entgegnete Telemachos, „an dem guten Manne, was das Herz mir gebietet, aber ich weiß nur ein Mittel. Behalt du ihn in deiner Hütte, da er nun einmal zu dir gekommen iſt und dir auch wohl ſonſt nicht mißfällt; ich will unterdeſſen Speiſe und Trank für ihn täglich herausſenden, damit er dir nicht zur Laſt werde. Auch einen Mantel und Rock und ein Schwert will ich ihm ſchenken und dann ihn entſenden, wohin er begehrt. Pflege du ihn indeſſen, wie du nur kannſt; er ſelber, denk' ich, wird mir's nicht verargen, daß ich ihn nicht in den frechen Schwarm der Freier einführe; denn ihn und mich würde es kränken, wenn er dort verhöhnt und beſchimpft würde. — Aber höre, Vater Eumäos, jetzt mußt du mir einen Gefallen tun. Mach dich auf nach der Stadt und ſage meiner Mutter heimlich, daß ich geſund aus Pylos zurückgekommen bin. Doch hüte dich, daß keiner der Freier es hört! Ich bleibe indeſſen hier, bis du wieder zurückkehrſt.“ — „Wohl!“ ſprach der Hirt und band ſich die Sohlen unter die Füße, nahm dann den Stab in die Hand und ging.

Noch ſah ihm Odyſſeus nach, als ihm durch die halbgeöffnete Pforte die Geſtalt eines ſchönen, ſchlanken Mädchens erſchien, die ihm herauszukommen winkte. Die Hunde krochen ſchweigend in die Winkel, Telemachos gewahrte die Erſcheinung gar nicht. Odyſſeus aber ahnte die Nähe ſeiner göttlichen Freundin und ging unter einem Vorwande zur Tür hinaus. Haſtig ergriff ihn Athene und ſprach: „Edler Odyſſeus, jetzt iſt es Zeit, jetzt entdecke dich deinem Sohne und beratſchlage mit ihm, wie ihr den Freiern in der Stadt ihr Ende bereiten wollet. Ich ſelber werde mich euch nicht lange entziehen, denn auch mich drängt die Begierde nach dem Rachekampfe.“ Indem ſie dies ſprach, berührte ſie ihn mit ihrem goldenen Stabe, und augenblicklich verwandelte ſich der Bettlerkittel in einen ſchönen, purpurwolligen Mantel, das verſchrumpfte Geſicht in ein männlich blühendes Antlitz und der haarloſe Scheitel bedeckte ſich mit glänzenden, dunkelbraunen Locken. Mit königlicher Würde trat er in die Hütte, der kurz zuvor in Lumpen hinausgegangen war. Telemachos ſtaunte und ſah ihn zweifelhaft, ja bange an; er glaubte, ihn verſuche ein Gott. „Fremdling“, redete er ihn mit ungewiſſer Stimme an, „wie

erscheinst du mir jetzt so anders in Kleidung und Gestalt! — Ha, ich ahne es, mir naht ein Gott. O schone unser, heiliges Wesen, und sei uns gnädig! Gern wollen wir dir Geschenke und Opfer bringen!" — „Sohn!" rief Odysseus mit funkelnden Augen und schloß ihn freudig in die Arme, „nein, ich bin kein Gott; wie wäre ich Unsterblichen ähnlich! Dein Vater bin ich, um den du solange trauerst, um den du soviele Schmach von den trotzigen Männern ertragen hast! Ich bin Odysseus!" Jetzt rannen die lange verhaltenen Tränen und mischten sich mit unaufhörlichen Küssen. Ja, in diesem Augenblicke dünkte sich Odysseus ein Gott, denn des Wiedersehens himmlische Freude, des Wiedersehens Freude in dem lange ersehnten Vaterlande durchschauerte alle seine Glieder. Vergessen war in diesem Augenblicke der Umarmung aller Kummer der vergangenen Jahre, alle Not der Irrsale und Schiffbrüche, aller Schmerz der oft getäuschten Hoffnung; verschwunden war auch die Besorgnis vor den noch zu bestehenden Wagnissen. Er hielt den lieben Sohn in den Armen, den er einst als einen Säugling in den Windeln verlassen hatte, und der jetzt in stummem Erstaunen vor ihm stand und immer noch nicht glauben konnte, daß der verwandelte Bettler etwas anderes als ein Gott, daß er gar sein Vater sein sollte. „Zweifle nicht länger, lieber Sohn!" fuhr Odysseus fort. „Nicht ich selber bewirkte das Wunder, sondern Athene, die mit mir ist. Götter vermögen ja alles; sie wissen nach ihrem Gefallen einen sterblichen Mann zu verherrlichen und zu entstellen. Ja, ja, ich bin's, bin der zwanzig Jahre entfernte, weit umhergetriebene Odysseus, und du bist mein teurer, mein geliebter Sohn, und das ist meine Freude — ja, Kind, das ist meine höchste Freude, daß ich dich hier in meinen Armen halte." Er konnte vor Schluchzen nicht weiter sprechen. Und sie weinten lange und herzlich, Brust an Brust und Arm in Arm verschlungen — Vater und Sohn. Zuweilen sahen sie sich schweigend an und weinten dann wieder und redeten nichts, aber in ihren stummen Tränen floß gleichsam ihre ganze Liebe hin.

## 42. Der Schwanritter. (Nach Konrads von Würzburg Gedicht.)

Von J. und W. Grimm.

Deutsche Sagen. Berlin 1866. Bd. II, S. 273.

Herzog Gottfried von Brabant war gestorben, ohne männliche Erben zu hinterlassen; er hatte aber in einer Urkunde gestiftet, daß sein Land der Herzogin und seiner Tochter verbleiben sollte. Hieran kehrte sich jedoch Gottfrieds Bruder, der mächtige Herzog von Sachsen, wenig, sondern bemächtigte sich, aller Klagen der Witwe und der Waise ungeachtet, des Landes, das nach deutschem Rechte auf keine Weiber erben könne.

Die Herzogin beschloß daher, bei dem König zu klagen, und als bald darauf Karl nach Niederland zog und einen Tag zu Neumagen am Rhein halten wollte, kam sie mit ihrer Tochter dahin und begehrte Recht. Dahin war auch der Sachsenherzog gekommen und wollte der Klage zu Antwort stehen. Es ereignete sich aber, daß der König durch ein Fenster schaute; da erblickte er einen weißen Schwan, der schwamm den Rhein herab und zog an einer silbernen Kette, die hell glänzte, ein Schifflein nach sich. In dem Schiffe aber ruhte ein schlafender Ritter, sein Schild war sein Hauptkissen und neben ihm lagen Helm und Halsberg[1]); der Schwan steuerte gleich einem geschickten Seemann und brachte sein Schiff an das Gestade. Karl und der ganze Hof verwunderten sich höchlich ob diesem seltsamen Ereignis; jedermann vergaß der Klage der Frauen und lief hinab dem Ufer zu. Unterdessen war der Ritter erwacht und stieg aus der Barke; wohl und herrlich empfing ihn der König, nahm ihn selbst zur Hand und führte ihn gegen die Burg. Da sprach der junge Held zu dem Vogel: „Flieg deinen Weg wohl, lieber Schwan! Wann ich dein wieder bedarf, will ich dich schon rufen." Sogleich schwang sich der Schwan auf und fuhr mit dem Schifflein aus aller Augen weg. Jedermann schaute den fremden Gast neugierig an, Karl ging wieder ins Gestühl zu seinem Gericht und wies jenem eine Stelle unter den anderen Fürsten an.

1) Panzerhemd.

Die Herzogin von Brabant in Gegenwart ihrer schönen Tochter hub nunmehr ausführlich zu klagen an, und hernach verteidigte sich auch der Herzog von Sachsen. Endlich erbot er sich zum Kampfe für sein Recht; die Herzogin solle ihm einen Gegner stellen, das ihrige zu bewähren. Da erschrak sie heftig; denn er war ein auserwählter Held, an den sich niemand wagen würde. Vergebens ließ sie im ganzen Saale die Augen 'rumgehen, keiner war da, der sich ihr erboten hätte. Ihre Tochter klagte laut und weinte: da erhob sich der Ritter, den der Schwan ins Land geführt hatte, und gelobte, ihr Kämpfer zu sein. Hierauf rüstete man sich von beiden Seiten zum Streite und nach einem langen und hartnäckigen Gefechte war der Sieg endlich auf Seite des Schwanritters. Der Herzog von Sachsen verlor sein Leben, und der Herzogin Erbe wurde wieder frei und ledig. Da neigten sie und die Tochter sich vor dem Helden, der sie erlöst hatte, und er nahm die angetragene Hand der Jungfrau mit dem Beding an, daß sie nie und zu keiner Zeit fragen solle, woher er gekommen und welches sein Geschlecht sei, denn sonst müsse sie ihn verlieren.

Der Herzog und die Herzogin bekamen zwei Kinder, die waren wohlgeraten; aber immer mehr fing es an, ihre Mutter zu drücken, daß sie gar nicht wußte, wer ihr Vater war, und endlich tat sie an ihn die verbotene Frage. Der Ritter erschrak herzlich und sprach: „Nun hast du selber unser Glück zerbrochen und mich am längsten gesehen". Die Herzogin bereute es, aber zu spät; alle Leute fielen zu seinen Füßen und baten ihn, zu bleiben. Der Held waffnete sich, und der Schwan kam mit demselben Schifflein geschwommen; darauf küßte er beide Kinder, nahm Abschied von seinem Gemahl und segnete das Volk; dann trat er ins Schiff, fuhr seine Straße und kehrte nimmer wieder. Der Frau ging der Kummer zu Herzen, doch zog sie fleißig ihre Kinder auf. Von diesen stammen viele edle Geschlechter, die von Geldern sowohl, als von Kleve, auch die Rieneker Grafen und manche andere; alle führen den Schwan im Wappen.

## 43. Wittekinds Ende und Grab in Enger.

Nach L. Schücking und F. Freiligrath, Das malerische und romantische Westfalen. Paderborn 1872. S. 126.

Nördlich von Herford liegt ein unscheinbares, kleines Dorf, welches gewiß das merkwürdigste Westfalens ist; es heißt Enger und war einst eine stolze Stadt, die der Sage nach die Hauptstadt des alten Herzogtums Engern, Residenz und Burg König Wittekinds und Begräbnisort des großen Sachsenhelden gewesen sein soll. Von der Stadt, welche sich weithin um die Burg ausbreitete und das Mark- und Opferfeld umschloß, ist das jetzige Enger nur ein geringer Überrest. Sie hatte sieben Tore; Westerenger war die Vorstadt, und hier hatte der König ein Vorwerk, dem auch der Name geblieben ist.

Die Entstehung der Kirche und der Burg wird nach der mündlichen Überlieferung also erzählt: Als Wittekind oder „König Wieking", wie ihn das Volk nennt, Christ geworden, und Friede war im Lande, da beschloß er, auszuruhen von den Kriegszügen und sich einen Königssitz zu erwählen, wo er beständig bliebe und die Freunde um sich her versammele. Drei Orte waren ihm besonders lieb: Bünde, der Werder zu Rehme und Enger (nach anderen bloß Enger und Bünde). Da befahl er, daß man an diesen Orten Kirchen bauen solle, und welche von den Kirchen zuerst fertig sei, da wolle er wohnen, in der wolle er begraben werden. Und nun fingen alle zu gleicher Zeit mit gleich vielen Arbeitern an zu bauen. Aber der Baumeister zu Enger gebrauchte die List, den Turm wegzulassen; er war ein Mohr, und zum Wahrzeichen hat er seinen in Stein gehauenen Kopf an die Kirche gesetzt.

Wieking baute nun eine Burg zu Enger. Noch wird die Stelle gezeigt, wo sie gestanden, und selbst von einzelnen Teilen derselben haben Namen und andere Erinnerungen noch heutzutage die Lage aufbewahrt. Der alte Burggraben, der Küchengarten an der Burg, die Pferdeschwemme in der Bornwiese haben noch immer

die alten Benennungen; ebenſo iſt es mit dem Hühnerhofe. Und bei dem neuen hölzernen Hauſe, welches jetzt an der Stelle ſteht, aber immer noch jenen alten Namen trägt, erinnern ſogar Überreſte verwitterter Mauern an die Zeit des Königs. Auch weiß man, daß die Küche und das Backhaus da waren, wo jetzt Bergmanns Garten iſt, und noch im Jahre 1818 hat man hier beim Abgraben eine gemauerte Herdſtelle und verwittertes Küchengeräte aufgefunden. Noch jetzt weiß man die Stellen zu zeigen, wo der König gern weilte. Bei Hartwig am Steine, einem Hofe in der Nähe von Blotho, hat er einen Sitz in einen großen Stein aushauen laſſen, und oft ſaß er dort und weidete ſeine Augen an der herrlichen Umgegend. Im Elfenbuſche, einem Gehölze unweit Ebmeier, hatte er ſeinen Vogelherd und ſein Vogelhaus. Der liebſte Platz war ihm aber der Hohe Eſch bei Hücker, von wo man weithin ſchaut in das Hügelland zwiſchen Süntel und Osning. Da ſoll neben einer uralten heiligen Eiche ein Wartturm geſtanden haben, und nach dem Abbruche desſelben eine Kapelle, zu der man Wallfahrten anſtellte. Als endlich mit der Kapelle auch der alte Baum dahingeſunken war, iſt an ſeiner Stelle eine ganz ungewöhnliche, wunderbare Buche aufgewachſen. Ein Stamm war es, der ſich nahe an der Erde in ſieben Schafte geteilt hatte, welche alle eine ungewöhnliche Höhe erreichten und ganz ohne Seitenzweige ſich oben in ihren Wipfeln vereinigten, ſo daß man in der Ferne die Krone eines Rieſenbaumes zu ſehen meinte. Zwei von dieſen Stämmen ſind in den zwanziger Jahren unſeres Jahrhunderts, der eine durch Blitze, der andere durch Brand zerſtört worden; aber die noch übrigen fünf Stämme hießen auch fernerhin die „heiligen ſieben Buchen", bis denn auch dieſe in den letzten Jahren verſchwunden ſind.

Von dem Gefolge Wiekings ſind die großen Sattelmeier aufgekommen. Sie begleiteten den König zu Pferde und waren auch ſpäterhin verpflichtet, einen berittenen Mann zum Kriege zu ſtellen. Es ſind ihrer noch jetzt vierzehn: ſieben in der Nähe von Enger (Hausgenoſſen, freie Bauern, Sattelmeier), und ſieben weiterhin in der Umgegend von Bielefeld, Werther und Heppen (hagenfreie Bauern, auch wohl Sattelmeier neben den erſteren genannt). Wenn ſie mit dem Könige ritten, ſo begann der zu Hiddenhauſen den Zug, und der Meier zu Hücker ſchloß ihn; Ringsmeier war Aufſeher des Marſtalls, Ebmeier Wildmeiſter und ordnete die Jagden; Barmeier war das Haupt der Hirten; Windmeier war Wiekings Jäger und nährte ſeine Hunde. Die Sattelmeier hatten noch bis auf unſere Zeiten den Genuß manches Vorrechtes. Sie waren zehntfrei und wurden beſonders feierlich beſtattet; es wurde ein geſatteltes Pferd hinter ihrem Sarge hergeführt, dieſer aber vor der Einſenkung auf dem Kirchhofe in die Kirche getragen und auf dem Chore niedergeſetzt, als wollte der Tote hier noch zuletzt von der Grabſtätte ſeines Königs Abſchied nehmen.

Wittekinds Gebeine ſelbſt ruhen in der ſtillen, einfachen Dorfkirche, die in ihrer etwas verworrenen Bauart ein hohes Alter verrät. Das Grabmal auf dem Chore, mit Ausnahme des alten Bildſteines, rührt wahrſcheinlich von Kaiſer Karl IV. her, der perſönlich 1377 die Stätte beſuchte. Die aus Sandſtein gehauene Geſtalt des Sachſenheerführers iſt eine treffliche, ſicherlich in das zwölfte Jahrhundert hinaufreichende Arbeit. Wittekind liegt in Lebensgröße da; das Geſicht iſt länglich und edel geformt, das Kinn glatt, der Mund klein; das Haar über die Schläfe und Ohren niederfallend; die rechte Hand zeigt einen gekrümmten Mittelfinger, ein Gebrechen, das der alte Sachſenfürſt in der Tat bei ſeinen Lebzeiten hatte. Das Ganze war ehemals ſorgfältig und ſauber in Farbe geſetzt, wovon noch die Spuren ſichtbar; aus dieſer Zeit ſtammt die folgende Beſchreibung der Abbildung von einem Schriftſteller des ſechzehnten Jahrhunderts: „Das lange Haupthaar fällt in das Schwarze; das Haupt bedeckt eine himmelblaue Kappe, die von einem Diadem mit Edelſteinen umſchlungen iſt; doch iſt von den Steinen jetzt nur noch die leere Faſſung zu ſehen. Das Unterkleid iſt purpurrot; über dieſem liegt ein ſcharlachfarbenes, mit Perlen geziertes Kleid mit goldenem Saum, der ebenfalls mit jetzt

ausgebrochenen Edelsteinen besetzt gewesen zu sein scheint. Das dritte Oberkleid, der Mantel, ist himmelblau, mit goldenen Sternen geschmückt und mit prächtigem Pelzwerk gefüttert. Die rechte Hand ruht auf der Brust, die linke, im Mantel verborgen, hält das Scepter. Die vergoldeten Schuhe reichen bis an die Knöchel, laufen gegen das Ende spitz zu und haben in der Mitte eine Naht von Perlen."

Der bunte Prunk ist heute verblichen und verschwunden, im übrigen aber erscheint jene Beschreibung noch ziemlich genau.

Dieser alte Denkstein ruht nun auf einer Tumba, welche augenscheinlich jünger ist; man sieht daran allerlei Wappen, Embleme und Inschriften, die sicherlich nicht älter als das 17. Jahrhundert sind.

Zum Andenken an den König wurde bis auf die neueste Zeit jährlich zu Enger die Begräbnisfeier begangen. Am Tage der heiligen drei Könige wurde die Leiche verläutet; am nächstfolgenden Tage besorgte der Bürgermeister das Geläute zur Gruft. Darauf versammelten sich Lehrer und Schüler von Enger in der Kirche; dorthin auch kamen die Armen, und nun wurde ein Gedächtnisgottesdienst gehalten. Am Schlusse desselben läutete der Küster zur Senkung, und zugleich wurden unter den Schülern „Timpen", eigens zu dieser Feier gebackene Semmeln, und unter den Armen Brot und Wurst verteilt. Der Gottesdienst wird aber seit einer Reihe von Jahren nicht mehr gehalten, ebenso nicht mehr das Mahl.

Wittekind hatte in seinem hohen Alter den launigen Einfall, die Anhänglichkeit seiner Engerer dadurch zu erproben, daß er das Gerücht seines plötzlichen Todes verbreiten ließ. Nun mußte es sich zeigen, wer ihm gern und willig das letzte Geleit geben würde. Als sich zur angesetzten Stunde die Menge der Leidtragenden versammelt hatte, trat auf einmal der Totgeglaubte fröhlich und wohlbehalten unter sie. Er bewilligte ihnen für ewige Zeiten Zehntfreiheit.

Bei der Kirche zu Enger hatte Wieking ein Kapitel gestiftet und dasselbe reichlich mit Grundstücken, Zehnten und hörigen Leuten ausgestattet. Viele Jahrhunderte lang wohnten die Kapitelherren zu Enger und hielten ihren Gottesdienst an der Gruft des Königs. Als aber im Laufe der Zeit der Ort verödete, gefiel es den Stiftsherren nicht länger in dem einsamen Dorfe, und das ganze Kapitel zog nach Herford, nachdem es seine Ländereien und Güter vermietet hatte. Nach Herford sollte nun auch Zins und Zehnten abgeliefert werden; aber die Pflichtigen weigerten sich allesamt und wollten nur beim Grabe ihres Königs ihre Gefälle niederlegen. Da nahmen die Stiftsherren zur List ihre Zuflucht. Heimlich in stiller Nacht ließen sie die Gruft öffnen und die Überreste des Königs nach Herford schaffen, wohin nun die Gefälle folgen mußten. Wohl über 400 Jahre blieben hier die Gebeine, bis sie endlich (1822) wieder nach Enger gebracht worden sind. Es haben die Sattelmeier sie von Herford eingeholt, um ihre Kirche getragen und sie dann ihrer ersten Ruhe wiedergegeben.

## 44. Sagen vom Kaiser Friedrich im Kyffhäuser.

Von L. Pröhle.

Deutsche Sagen. Berlin 1863.

a. Kaiser Friedrich der Rotbart und Alchen. (S. 247.)

Neben den weitläufigen Ruinen der Kaiserburg Kyffhausen über der alten Kaiserburg Tilleda steht noch wohlerhalten ein alter Burgturm. Ein Eingang ist daran unten nicht wahrzunehmen. Man kann jedoch an vorspringenden Steinen zu einer oder zu zwei offenstehenden Luken emporklettern. Das nahmen sich Soldaten vor, welche im Dorfe Tilleda ins Quartier kamen und in ihrer Heimat viel vom Kyffhäuser gehört hatten. Aber sie kamen unverrichteter Sache wieder in Tilleda an; denn die sonst offenstehenden Luken waren mit eisernen Läden geschlossen gewesen. Als die Leute in Tilleda das hörten, sprachen sie: „So ist euch alle Herrlichkeit des

Kyffhäusers beschert gewesen, und ihr habt sie verscherzt. Die eisernen Läden hättet ihr nur zu nehmen brauchen, und sie hätten sich in goldene verwandelt." Sporenstreichs eilten die Soldaten wieder auf den Kyffhäuser, aber die eisernen Läden waren verschwunden. In solch wunderbarem alten Turme sitzt unter der Erde Kaiser Friedrich der Rotbart mit Utchen, seiner Prinzessin, und mit dem ganzen wunderlichen Hofstaate, hofft aber, wie man hört, noch einmal wiederherauszukommen, wenn die schwarzen Vögel, die Raben, nicht mehr um den Turm flögen; weil er aber mehrenteils in Schlaf versunken, und sein roter Bart schon durch den steinernen Tisch gewachsen sein soll, so ist solch mutiges Wort des alten Kaisers ein Spott der Toren und ein Märlein den Kindern geworden. Es sitzt auch ein Vogel bei ihm im Turme, welcher ihm alles anzeigt, insonderheit wenn Besuch zu ihm gekommen ist. Und es sind immer noch viele im Lande, welche auf den alten Kaiser Friedrich warten.

### b. Das Brautpaar von Bennungen. (S. 263.)

Der Sauhirt von Bennungen wollte sich ein Weib nehmen. Die Braut vermochte wohl eine kleine Hochzeit zuzurichten; aber das Tafelgeschirr mußte sie von Utchen aus dem Kyffhäuser borgen und sich den Hochzeitswein von ihr ausbitten. Ihnen tat sich dann auch eine Tür in dem Berge auf, allwo ihnen eine schöne Musik entgegenscholl. Utchen aber packte ihnen ihren Korb mit Tellern, Schüsseln, Messern, Kelchen und kostbarem Weine. Darauf zeigte ihnen Utchen die Schönheiten des unterirdischen Schlosses, und sie haben auch den Kaiser Friedrich in seiner Herrlichkeit gesehen. Zuletzt gingen sie herunter, und wiewohl es ihnen lange gedünkt hatte, so glaubten sie doch nur eine Nacht im Kyffhäuser gewesen zu sein. Sie schritten in den hellen Morgen hinein nach Bennungen zu. Da aber war ihnen alles fremd, und die Leute sahen sie lange verwundert an. Endlich trat einer näher und fragte: „Sind Sie denn aus Bennungen?" — „Ei wohl", antwortete die Braut, „wir wollen Hochzeit machen, sind schon zweimal dort in der Kirche aufgeboten und haben uns nur das Geschirr und den Wein vom Kaiser Rotbart und von Utchen geholt." Darüber lachten die Leute, denn das Brautpaar war steinalt geworden, und die ältesten Männer und Frauen hatten nicht mehr so altfränkische Kleidung gesehen, wie die beiden anhatten. Wegen des Lachens wurde der Bräutigam fast böse und sprach: „Ei, ich bin ja hier ein Hirt in Bennungen!" Darüber lachten alle noch lauter, denn er hatte einen eisgrauen Bart bekommen. Nun gingen sie zum Pfarrer, denn sie verlangten sehnlich, ein Ehepaar zu werden. Der Pfarrer fand im Kirchenbuche, daß dies Brautpaar vor 200 Jahren in den Kyffhäuser gegangen und verschwunden sei. Er ließ sich bewegen, es zum dritten Male aufzubieten und zu trauen. Auch rüsteten ihnen die Leute eine kleine Hochzeit aus, wobei das Brautpaar ihnen Utchens Wein vorsetzte, und das Geschirr aus dem Kyffhäuser gebraucht wurde. Nachmals trug das Paar das Geschirr wieder in den Kyffhäuser, aber Utchen war diesmal sehr böse, weil sie ihr keinen Hochzeitskuchen mitbrachten.

### c. Kaiser und Junker. (S. 271.)

Einige Musikanten beschlossen, auf den Kyffhäuser zu gehen und zu spielen. „Wo ist Utchen?" riefen sie oben. Da fing sogleich droben der Hahn zu krähen an, und neben ihnen stand Utchen. Sie begrüßten sie und sagten, daß sie dem Kaiser Friedrich ein Ständchen bringen wollten. Sie spielten drei Stücke, erhielten aber nur drei Eichenzweige, welche Utchen zum Lohne an ihre Hüte steckte. Ein tiefsinniger Musikant wollte nun noch immer fortspielen. Allein die anderen sagten bald: „Laßt uns zum Ritter auf die Rothenburg gehen! Da ist's doch noch ein ander Werk, als bei dem alten Kaiser in seinem Turme. Der zahlt doch noch mit ordentlichem Gelde und ißt und trinkt wie unsereins und wohnt mit nichten unten im Turm, sondern in einem schönen, anmutigen Schlosse mit stattlichen Zimmern. Kaiser hin,

Kaiſer her! Der Junker iſt unſer Mann.“ Sie machten ſich alſo auf den Weg zu dem Ritter nach der Rothenburg, deren Trümmer noch heutzutage an der Nordweſtſeite des Kyffhäuſers über dem Dorfe Kelbra zu ſehen ſind. Utchens Sträuße riſſen ſie von dem Hute; nur der eine, welcher noch länger in den Ruinen des Kyffhäuſerſchloſſes hatte ſpielen wollen, ließ die Zweige ſitzen. Als ſie nun der Rothenburg ſich näherten, riefen ſie: „Juchhe, juchhe! Pförtner, tu auf! Die luſtigen Muſikanten kommen! Der Ritter von der Rothenburg mit ſeiner gnädigen Gemahlin lebe hoch!“ Da ſchwenkten ſie wohl alle die Hüte; aber nur an dem Hute des tiefſinnigen Muſikanten klunkerte und klinkerte es. Er trug einen goldenen Eichenzweig am Hute. Da eilten die anderen Muſikanten nach dem Kyffhäuſer zurück, um ihre grünen Zweige zu ſuchen; ſie waren aber verſchwunden.

## 45. Der Rabe auf dem Schloßhofe zu Merſeburg.

Von H. Pröhle.

Deutſche Sagen. Berlin 1863. S. 200.

Wenn man in den ehrwürdigen Dom zu Merſeburg vom Schloßhofe aus eintritt, ſo gelangt man zunächſt in eine Kapelle, deren Wände die Bildniſſe vormaliger Biſchöfe von Merſeburg ſchmücken. In dieſer Kapelle ruht auch Biſchof Thilo von Trotha. Ein ſchön in Erz gearbeitetes Kunſtwerk erhebt ſich über ſeinem Grabe. Der Biſchof ruht in Lebensgröße darauf in liegender Stellung, das Haupt, aus deſſen Geſichtszügen tiefer Schmerz ſpricht, auf den Arm geſtützt. Neben dieſem Grabmale befindet ſich ein anderes, deſſen Stelle eine ebenfalls ſchön gearbeitete Erztafel bedeckt, und auf dieſer Tafel ſieht man einen kopfloſen menſchlichen Oberkörper, die Arme über dem Rumpfe erhoben. In der einen Ecke erblickt man einen Fuchs, in der andern einen großen Raben, der einen Ring im Schnabel hat. Beide Denkmäler ſtehen im Zuſammenhange.

Biſchof Thilo von Trotha beſaß einen ſehr koſtbaren Ring, der ihm ungemein lieb und wert war. Beim Waſchen pflegte er ihn abzuziehen vom Finger und in das offene Fenſter ſeines Schlafgemaches zu legen. Eines Tages vermißte der Biſchof nach dem Waſchen den koſtbaren Ring. Nirgends war derſelbe aufzufinden; außer dem Biſchof hatte das Gemach nur deſſen alter Kammerdiener betreten, den ſeiner Treue wegen der Biſchof hochſchätzte, und den dieſe Treue gegen allen Verdacht, daß er ſeines Herrn koſtbaren Ring entwendet habe, ſchützte. Allein die Liebe, die der Biſchof ſeinem treuen Diener kundgab, hatte ſchon längſt dieſem unter dem übrigen Hofgeſinde Feinde und Neider erweckt. Es gelang, den treuen Diener des Diebſtahls zu verdächtigen. Er wurde verhaftet, die Unterſuchung eingeleitet und von ihm das Geſtändnis, daß er den Ring entwendet habe, durch die Folter erpreßt. Seine Ausſage war, den Ring habe er auf die Seite gebracht, ſo daß er nicht wiederzufinden ſei. Das Urteil lautete auf Enthauptung. Auf dem Schafott ſoll der Unglückliche, obſchon vergebens, ſein Geſtändnis widerrufen und erklärt haben, daß er zum Zeichen ſeiner Unſchuld, ſobald der Kopf gefallen ſei, die Hände über dem Rumpfe gen Himmel erheben werde, was denn auch geſchehen ſei. Schon dies hatte dem Biſchof Zweifel an der Schuld des alten, lieb geweſenen Dieners erregt, und Schwermut bemächtigte ſich ſeiner. Auch ſollte bald die Unſchuld des alten Dieners erwieſen werden. Eines Tages erſchien nämlich beim Biſchof ein Schieferdecker und überreichte ihm den abhanden gekommenen Ring, den er bei einer Dachausbeſſerung am weißen Turme, einem hohen Turme des Schloſſes in der Nähe der Domkirche, in einem dort befindlichen Rabenneſte gefunden hatte. Da ließ der Biſchof ſeines unſchuldig gemordeten Dieners Leiche aus dem Grabe, das er auf der Richtſtätte erhalten hatte, in die Kapelle bringen und beerdigen und auf das Grab jene Erzplatte legen, auf welcher der Rumpf mit nach oben erhobenen Armen den Vorgang bei der Hinrichtung bezeichnet, der Fuchs aber die Verleumder andeutet, und auch der eigentliche

Dieb des Ringes seine Stelle fand. Den Bischof warf aber der Kummer auf das Lager, von dem er nicht wiedererstand. An einem Hause am Marktplatze in Merseburg, in welchem der treue Diener gewohnt haben soll, war ebenfalls ein Stein mit dem Bilde eines Raben, der einen goldenen Ring im Schnabel hat, und auf dem Hause ein schlanker Turm angebracht. Fortwährend wird aber noch infolge einer dazu vom Bischof gemachten Stiftung, welche den Unterhalt eines Raben reichlich sichert, auf dem ersten Schloßhofe in einem großen, turmartigen Bauer ein Rabe zum Andenken an den Vorgang unterhalten.

## 46. Die Jungfrau auf dem Lurley.

Von A. Schreiber.

Sagen aus den Rheingegenden, dem Schwarzwalde und den Vogesen. Frankfurt a. M. 1843. S. 66.

In alten Zeiten ließ sich manchmal auf dem Lurley um die Abenddämmerung und beim Mondschein eine Jungfrau sehen, die mit so anmutiger Stimme sang, daß alle, die es hörten, davon bezaubert wurden. Viele, die vorüberschifften, gingen am Felsenriff oder im Strudel zugrunde, weil sie nicht mehr auf den Lauf des Fahrzeuges achteten, sondern von den himmlischen Tönen der wunderbaren Jungfrau gleichsam vom Leben abgelöst wurden, wie das zarte Leben der Blume sich in süßem Dufte verhaucht. Niemand hatte noch die Jungfrau in der Nähe geschaut, als einige junge Fischer; zu diesen gesellte sie sich bisweilen im letzten Abendrot und zeigte ihnen die Stellen, wo sie ihr Netz auswerfen sollten, und jedesmal, wenn sie den Rat der Jungfrau befolgten, taten sie einen reichlichen Fang. Die Jünglinge erzählten nun, wohin sie kamen, von der Huld und Schönheit der Unbekannten, und die Geschichte verbreitete sich im ganzen Lande umher. Ein Sohn des Pfalzgrafen, der damals in der Gegend sein Hoflager hatte, hörte die wundervolle Mär und faßte eine innige Zuneigung zu der Jungfrau. Unter dem Vorwand, auf die Jagd zu gehen, nahm er den Weg nach Wesel, setzte sich dort auf einen Nachen und ließ sich stromaufwärts fahren. Die Sonne war eben untergegangen, und die ersten Sterne traten am Himmel hervor, als sich das Fahrzeug dem Lurley näherte. „Seht ihr sie dort, die verwünschte Zaubrerin? Das ist sie gewiß!“ riefen die Schiffer. Der Jüngling hatte sie aber bereits erblickt, wie sie am Abhang des Felsenberges, nicht weit vom Strome, saß und einen Kranz für ihre goldenen Locken band. Jetzt vernahm er auch den Klang ihrer Stimme und war bald seiner Sinne nicht mehr mächtig. Er nötigte die Schiffer, am Fels anzufahren, und noch einige Schritte davon wollte er ans Land springen und die Jungfrau festhalten; aber er nahm den Sprung zu kurz und versank in den Strom, dessen schäumende Wogen schauerlich über ihm zusammenschlugen.

Die Nachricht von dieser traurigen Begebenheit kam schnell zu den Ohren des Pfalzgrafen. Schmerz und Wut zerrissen die Seele des armen Vaters, der auf der Stelle den strengsten Befehl erteilte, ihm die Unholdin tot oder lebendig zu liefern. Einer seiner Hauptleute übernahm es, den Willen des Pfalzgrafen zu vollziehen; doch bat er sich aus, die Hexe ohne weiteres in den Rhein stürzen zu dürfen, damit sie sich nicht vielleicht durch lose Künste aus Kerker und Banden befreie. Der Pfalzgraf war dies zufrieden. Der Hauptmann zog gegen Abend aus und umstellte mit seinen Reisigen den Berg in einem Halbkreise vom Rheine aus. Er selbst nahm drei der beherztesten aus seiner Schar und stieg den Lurley hinan. Die Jungfrau saß oben auf der Spitze und hielt eine Schnur von Bernstein in der Hand. Sie sah die Männer von fern kommen und rief ihnen zu, was sie hier suchten. „Dich, Zauberin!“ antwortete der Hauptmann, „du sollst einen Sprung in den Rhein dahinunter machen.“ — „Ei“, sagte die Jungfrau lachend, „der Rhein mag mich holen.“ Bei diesen Worten warf sie die Bernsteinschnur in den Strom hinab und sang mit schauerlichem Ton:

„Vater, geſchwind, geſchwind,
Die weißen Roſſe ſchick deinem Kind,
Es will reiten mit Wogen und Wind".

Urplötzlich rauſchte ein Sturm daher; der Rhein erbrauſte, daß weitum Ufer und Höhen von weißem Giſcht bedeckt wurden; zwei Wellen, welche faſt die Geſtalt von zwei weißen Roſſen hatten, flogen mit Blitzesſchnelle aus der Tiefe auf die Kuppe des Felſens und trugen die Jungfrau hinab in den Strom, wo ſie verſchwand.

Jetzt erſt erkannten der Hauptmann und ſeine Knechte, daß die Jungfrau eine Undine ſei, und menſchliche Gewalt ihr nichts anhaben könne. — Sie kehrten mit der Nachricht zu dem Pfalzgrafen zurück und fanden dort mit Erſtaunen den totgeglaubten Sohn, den eine Welle ans Ufer getragen hatte.

Die Lurleyjungfrau ließ ſich von der Zeit an nicht wieder hören, obgleich ſie noch ferner den Berg bewohnte und die Vorüberſchiffenden durch das laute Nachäffen ihrer Reden neckte.

## 47. Genoveva.

Von F. Jacobs.

Die Feierabende in Malmau. Leipzig 1843. S. 95.

Vor vielen hundert Jahren lebte in Trier ein großer und reicher Pfalzgraf, mit Namen Siegfried. Dieſer hatte eben die ſchöne Genoveva geheiratet, die eine Prinzeſſin und Tochter des Herzogs von Brabant war, als Boten kamen vom Könige von Frankreich mit der Nachricht, die Mauren, die in Afrika wohnen und den mohammedaniſchen Glauben haben, wären in das Land eingefallen mit Heeresmacht, und zerſtörten Kirchen und Kapellen und töteten vieles Volk; da ſollte nun der Pfalzgraf Siegfried mit ſeinen Leuten der Chriſtenheit zu Hilfe kommen. Nach dieſem Aufgebote mußte ſich der Pfalzgraf von ſeiner jungen Gemahlin trennen, und die arme Frau war tief betrübt, daß ſie nun allein bleiben ſollte, und es mochte ihr wohl das große Unglück ahnen, das ihr bevorſtand. Doch ſuchte der Graf ſie zu tröſten, ſo gut er konnte, und ſagte unter anderem auch, ſie ſolle ſich nur zufrieden geben und auf Gott vertrauen. Er laſſe ſie unter dem Schutze ſeines treueſten Dieners, des Golo, dem er alles im Hauſe unterworfen habe; der werde ſie bedienen und ſchützen, bis er mit Gottes Hilfe ſelbſt wiederkomme.

Leider war das nun ganz anders, als der Pfalzgraf glaubte. Denn der Golo war zwar ein Edelmann und jung und ſchön, und wußte ſich auch recht gut und tugendſam zu ſtellen; aber im Herzen war er ein ſchlimmer Schalk. Das kam auch bald an den Tag, nachdem der Graf weggezogen war. Denn da Genoveva ſehr ſchön war, ſo ſchön, wie niemand ſonſt im ganzen Lande, faßte Golo eine heftige Liebe zu ihr. Genoveva aber war freundlich gegen ihn nach ihrer Weiſe; und ſie meinte, weil er ein ſo treuer Diener ihres Herrn und Gemahls wäre, müßte ſie ihm auch hold ſein. Da bildete ſich der eitle Golo ein, ſie liebe ihn auch, und bot ſich ihr zum Manne an. Denn er dachte: „Habe ich nur erſt ihre Einwilligung, ſo will ich ſchon Rat ſchaffen, daß der Mann auf die Seite gebracht wird; und wer weiß, ſo bekomme ich dann auch das Schloß mit allem Zugehör und das ganze Land". Dieſe Rechnung aber traf nicht zu. Denn Genoveva war ihrem Gemahl getreu und verabſchente Golos glatte Worte und wies ihn ſtreng zurück. Wie das nun mehrmals geſchehen war, und ſie ihm gar drohte, dem Grafen ſeinen Frevel zu melden, ſann er auf ſchlimme Ränke und ſperrte ſie in ein Gefängnis ein, indem er ihr ſchuld gab, ſie liebe den Hausmeiſter mehr als ihren Gemahl. Und den Hausmeiſter ließ er auch in Ketten und Banden legen; denn dieſer war mit der Genoveva aus Brabant nach Trier gekommen und war ein gar frommer und treuer Mann. Darum war ihm Golo gram. Wie nun die Gräfin im Gefängniſſe war, gab ihr Golo ſeine Amme zur Wärterin; die brachte ihr nichts als Waſſer und Brot und mußte ſie noch überdies mit Worten quälen, ſoviel ſie nur konnte. Denn Golo dachte: „Wenn freundliche Worte ſie nicht erweichen, ſo werden es vielleicht die harten tun. Und mir iſt alles recht, wenn ich nur meinen Willen habe". Genoveva aber blieb ſtandhaft und ließ ihn bedrohen, wie er es verdiente. So vergingen ſieben Monate, und im achten Monat, nachdem der Graf in den Krieg gezogen war, brachte ſie in dem Gefängniſſe, wo ſie war, ein Söhnchen zur Welt. Und da ſtand ihr niemand

bei in der großen Not, und da ſie die Amme bat, das Kind in die Kirche zu tragen, erfüllte das böſe Weib auch nicht einmal dieſe Bitte. Daher taufte es die arme Mutter ſelbſt, ſo gut ſie es konnte, und nannte es Schmerzenreich; und es floſſen faſt mehr Tränen von ihren Augen auf das liebe Kind, als ſie Waſſer zum Taufen hatte.

Dem grauſamen Golo wurde indeſſen immer banger wegen des Pfalzgrafen, und je banger ihm wurde, deſto grauſamer wurde er auch, weil er noch immer hoffte, ihr ſo die Einwilligung abzuzwingen. Das war und blieb aber umſonſt; und da er jetzt vernahm, daß der Graf bei der Belagerung einer Stadt ſchwer verwundet worden und krank daniederläge, ſchrieb er ihm einen Brief und ſendete einen liſtigen Boten ab; und in dem Briefe war ſo vieles und mit einem ſo ehrlichen Anſchein erdichtet, was der Bote noch obendrein bekräftigen mußte, daß der Graf, der in ſeiner ſchweren Krankheit nicht recht wußte, was er tat, ihm den Befehl zugehen ließ, den Hausmeiſter hinzurichten und auch das ungetreue Weib nicht zu verſchonen. Da nun dieſe Nachricht kam, war es dem Golo ſchon recht, und er würde die Hinrichtung gleich vollzogen haben, hätte er ſich nicht vor den Hausgenoſſen gefürchtet, die ihn meiſt haßten; daher ſann er darauf, die Sache heimlich abzutun. Wie er aber darüber Rat mit der Amme pflog, vernahm das Töchterchen der Amme, das beſſeren Gemüts war als ſeine Mutter, ihr Geſpräch und ſchlich heimlich zu Genovevens Gefängnis und trat an das Fenſterchen, durch das ihr das Brot und Waſſer hineingeſchoben wurde, und weinte bitterlich. Und da Genoveva das Weinen hörte, fragte ſie das Mädchen nach der Urſache. Jene aber antwortete: „Euer Elend treibt mir die Tränen in die Augen, weil es um Euer Leben geſchehen iſt. Denn Euer Herr hat dem Golo befehlen laſſen, Euch hinzurichten.“ Da erſchrak die Gräfin ſehr, wie man leicht denken kann. Denn ob es ihr gleich ſo übel erging, ſo hatte ſie doch das Leben noch lieb und ihr Kind noch mehr. Darum fragte ſie auch gleich: „Und was ſoll dann mit meinem Kinde werden?“ — „Dem Kinde wird es nicht beſſer ergehen als Euch“, antwortete das Mädchen. — Da weinte nun Genoveva bitterlich und drückte das Kind an ihr Herz und klagte Gott ihre große Not und die Ungerechtigkeit ihrer Feinde. Und nachdem ſie viel geweint und gebetet hatte, war es ihr doch, als ob einiger Troſt in ihr Herz käme, und ſie ſagte bei ſich: „Weil es denn nun doch Gottes und meines Gemahles Wille iſt, daß ich durch die Bosheit meiner Feinde umkommen ſoll, ſo will ich wenigſtens Abſchied nehmen von meinem Herrn und ihm für die Liebe und Güte danken, die er mir in früherer Zeit bewieſen hat.“ Und ſo tat ſie auch und ſchrieb mit einem Stifte auf ein leeres Blatt ihres Gebetbuchs allen ihren Dank und ihre Unſchuld nieder und rief Gott zum Zeugen, daß ſie in ihrer letzten Stunde, wie ſie auch während ihres ganzen Lebens getan, in allem die Wahrheit ſage. Die letzten Worte des Briefes aber waren: „So lebet denn wohl, mein geliebter, wenn auch ſchon ungerechter und harter Herr. Ich vergebe Euch wegen ſo vieler Liebe, die ihr mir vormals erwieſen, in dieſer meiner letzten Stunde, und weil das Böſe, das Ihr mir tun wollt, nicht aus Eurem Herzen kommt, ſondern aus fremden Betrug. Darum bitte ich Gott, daß mein unſchuldiges Blut nicht über Euer Haupt kommen möge. Möchte doch auch das Blut Eures Kindes, das noch nichts gegen Euch verſchulden konnte, nicht einſt Rache rufen gegen Euch! Und wie ich dieſe Worte mit zitternder Hand und unter vielen Tränen ſchreibe, ſo mögen ſie Euch einſt, wenn Ihr ſie leſet, Tränen heilſamer Reue entlocken, Euer Vergehen gegen mich damit abzuwaſchen.“ — So ſchrieb ſie und verſteckte das Blatt in einen Winkel des Kerkers und bat Gott, daß es einſt ihrem Gemahl möchte in die Hände kommen. Und ſo brachte ſie die ganze Nacht mit Gebet und Tränen und der Vorbereitung zu ihrem Tode hin.

Als nun der Morgen faſt anbrechen wollte, und es noch düſter war, öffnete ſich die Tür des Kerkers, und zwei fremde Knechte, welche Golo gedungen hatte, traten herein, und nachdem ſie ihr ein ſchlechtes Kleid übergeworfen hatten, bedeckten ſie ihr das Geſicht, damit ſie niemand kennen möchte. Und ſo führten ſie das arme Weib aus dem Kerker zu dem nahen Wald. Sie aber ging mit dem Kinde auf den Armen und gab keinen Laut von ſich; aber ihre Tränen floſſen auf den kleinen Schmerzensreich herab, der an ihrer Bruſt ſchlief und gewiß nicht ahnte, was ihm bevorſtand. Nachdem ſie nun in das Dickicht des Waldes gekommen waren, ſagten die Knechte, ſie möchte ſich nun anſchicken, den Tod für ihre Miſſetaten zu dulden; denn ſo hatte es ihnen der Golo geſagt. Genoveva aber antwortete: „Ich weiß von keiner Miſſetat,

durch die ich den Tod verſchuldet hätte; aber weil es ſo ſein muß, unterwerf' ich mich den Befehlen meines Herrn." — Bei dieſen Worten wollte ſie niederknieen. Wie aber die Knechte nach dem Kinde griffen und ein großes und ſcharfes Meſſer herauszogen, um dieſem den Hals abzuſchneiden, raffte ſie ſich erſchrocken auf und fiel den Knechten in die Arme und rief mit beweglicher Stimme: „Um Gottes willen haltet ein und ſchonet dieſes unſchuldige Blut! Oder wenn ihr es doch vergießen müßt, ſo laßt es nur nicht vor meinen Augen ſterben, damit ich nicht zweimal den Tod leiden muß." — Da ließen denn jene ab und geboten ihr, ihren Nacken zu entblößen und dem Schwerte darzubieten. Das tat ſie denn auch, ohne ſich zu weigern, und zitternd wie ein Lamm, das zur Schlachtbank geführt wird, kniete ſie nieder auf die Erde und ſagte mit bebender Stimme: „Hier bin ich zum Tode bereit! Aber in dieſem letzten Augenblicke ſchwöre ich zu Gott, ſo gewiß ich in ſeine Ewigkeit einzugehen gedenke, daß ich nicht gegen meinen Gemahl geſündigt habe, ſondern das Opfer von Golos ruchloſen Ränken bin." Dann wendete ſie ſich zu den Knechten und ſagte: „Fürchtet ihr euch denn nicht, eure Hände an mich zu legen? Wiſſet, daß mein unſchuldiges Blut und das Blut meines Kindes euch bei Gott verklagen wird. Dann wird aller Segen von euch weichen, und ihr werdet in Jammer dahinſterben; denn keine Buße wird eure Miſſetat tilgen." — Und dabei floſſen ihr ohn' Unterlaß die Tränen über die blaſſen Wangen, und ihre blonden Locken hingen aufgelöſt bis auf die Erde herab, und indem ſie die gefalteten Hände und die naſſen Augen zum Himmel erhob, war ſie wie ein trauriges Bild, das man auch nicht ohne Mitleiden anſehen kann.... Das ging nun den Knechten zu Herzen, und Gott lenkte ihren Sinn, daß ſie die Unſchuld der Gräfin erkannten; und nachdem ſie ſich miteinander beſprochen hatten, kehrten ſie zu ihr zurück und ſagten: „Wenn du uns ſchwörſt, die Einſamkeit des Waldes nicht zu verlaſſen, ſo wollen wir dich und dein Söhnlein ſchonen." Denn ſie fürchteten ſich vor Golos Rache, wenn er erführe, daß ſie ſeinen Befehl nicht erfüllt hätten. Darum verlangten ſie den Eid. Genoveva ſchwur auch, wie ſie verlangt hatten. Da gingen nun die Knechte von dannen, und nachdem ſie ihre Meſſer in das Blut eines geſchlachteten Lammes getaucht hatten, kehrten ſie zu Golo zurück und erzählten ihm, wie ſie die Frau mit dem Kinde geſchlachtet hätten; und da er die blutigen Meſſer ſah, glaubte er ihnen und zahlte den bedungenen Sold. — Als die beiden Knechte von dannen gegangen waren, drückte Genoveva ihren Schmerzenreich mit noch größerer Inbrunſt an ihr Herz, weil er ihr zum zweitenmal von Gott geſchenkt war, und häufige Tränen floſſen von ihren Augen; man konnte aber nicht ſagen, ob es Tränen des Dankes für ihre Rettung, oder Tränen des Jammers über ihren elenden Zuſtand waren. Und nun ging ſie immer tiefer in den Wald, wie ſie verſprochen hatte, und ging wohl den ganzen Tag und ruhte nur bisweilen unter einem Baume aus, um ihr Kind zu ſtillen. Und als die Nacht kam, hatte ſie noch immer kein Obdach gefunden, als die Zweige der Bäume, und kein Lager, als die harte Erde. Auch war die Nacht finſter, und der Wind brauſte durch die Büſche und beugte die Gipfel der Tannen, ſo daß mancher Baum mit ſchrecklichem Krachen brach, und die Raubvögel kreiſchten, und von ferne heulten die Wölfe. — Genoveva bebte auch nicht wenig bei ſo vielen ungewohnten Schreckniſſen; aber ſie faltete die Hände über ihrem Kinde, das auf den Blättern und dem Mooſe recht ruhig ſchlief. Und ſo ging die erſte Nacht vorüber, und Genoveva ging weiter und weiter und ſo den ganzen Tag. Und noch immer hatte ſie kein Obdach gefunden, und die Nacht ging wieder unter Furcht und Schrecken vorüber, und kein Schlaf kam in ihre Augen. Als ſich aber auch der dritte Tag zu Ende neigte, fand ſie in einem engen Tale, wo ſchwarze Felſen ſich fürchterlich aneinanderdrängten und übereinanderbauten, in einem der Felſen eine Höhle, von Bäumen umgeben und von Gebüſch verwachſen, das auch von oben über den Eingang herabhing. Gleich daneben rieſelte ein klarer Quell über glatte Kieſel, und inwendig waren Boden und Wände mit weichem Mooſe bewachſen. Hier zog ſie ein, und nachdem ſie Blätter zuſammengetragen und ſich ein Lager bereitet hatte, dankte ſie Gott, der ihr dieſes ſtille Obdach verliehen habe, und ſchlief in dieſer Nacht mit ihrem Schmerzenreich an der Bruſt ſo tief und ſanft, wie ſie kaum eine Nacht in dem Schloſſe ihres fürſtlichen Vaters geſchlafen hatte. In dieſer ſtillen Einſamkeit, abgeſchieden von der Welt und von Felſen umgeben, lebte nun Genoveva Tag für Tag und

ſtillte ihren Durſt aus der Quelle und ihren Hunger mit wilden Beeren und Eckern, welche die Bäume verloren, und mit trockenen Wurzeln, die ſie mühſam aus der Erde zog. Als aber der Winter kam, und die Büſche keine Beeren mehr trugen, und ſelbſt die armſeligen Wurzeln von Schnee und Eis bedeckt wurden, da verging ihr mancher Tag unter unwillkürlichem harten Faſten, und es währte nicht lange, ſo hatte ſie auch für ihr Kind keine Nahrung mehr. Da war nun ihr Jammer unbeſchreiblich, daß ſie das Kind ſollte verſchmachten ſehen; und wenn das Kind winſelte, rang ſie ſich die Hände wund, und oft wollte ſie davongehen, um nur nicht den Jammer zu hören oder zu ſehen, wie es ſtürbe. Und da ſie doch nicht von ihm wegkonnte, kniete ſie an dem Lager des Kindes nieder und betete aus der tiefſten Tiefe ihres Herzens und flehte Gott um Erbarmen an. Und während ſie noch betete, ſieh, da kam eine Hirſchkuh und ſtellte ſich zu ihr und ſtrich an ihr hin, wie ein zahmes Tier. Da erkannte ſie, daß ihr Gott dieſes Tier geſendet habe; und als es ſich auf die Erde zu ihr legte, konnte das Kind an ihr trinken, wie an einer Mutter. Und ſeit dieſem Tage kam die Hirſchkuh täglich einigemal und tränkte das Kind. Das war des Kindes Nahrung mehrere Jahre lang. Die Mutter aber behalf ſich wie zuvor mit magerer Koſt, die ihr doch auch bisweilen gebrach; und ſie ſchwand nur ſo hinweg, daß ſie mehr einem Schatten als einem Menſchen glich, und niemand mehr wahrnehmen konnte, wie ſchön ſie vordem geweſen war.

In dieſem großen Elende war nun Schmerzenreich Genovevens einziger Troſt. Mit ihm ſprach ſie früh und ſpät und unterwies ihn in der Furcht Gottes und lehrte ihn beten, und die ſchönſten Geſchichten der Bibel erzählte ſie ihm, und ſo nahm der Knabe wunderbar zu an Verſtand und Liebe zu Gott und zu ſeiner frommen Mutter. Erfreulich war es auch, wie vertraut die Tiere mit ihm waren. Denn da ſie ihn immer in dem Walde ſahen, und er keinem von ihnen Schaden tat, gewöhnten ſie ſich an ihn, und die Vögel ſetzten ſich auf ſeine Schulter und flogen mit ihm, wohin er ging. Auch Rehe hüpften um ihn her und Kaninchen und Haſen. Ja, es wird erzählt, daß, als ihm ſein elendes Kleid, mit dem er aus dem Schloſſe verſtoßen worden, zu klein geworden und auch zerriſſen war, ein großer Wolf ſich eingefunden mit einem Schaffell in den Zähnen und habe das Fell bei der Höhle fallen laſſen, wo es denn Schmerzenreich aufgehoben und ſich damit bekleidet habe. Dieſer Wolf ſei auch noch oftmals wiedergekommen und ſo zahm geworden, daß ihn Schmerzenreich beſtiegen habe wie ein Pferd und auf ihm herumgeritten ſei.

So hatten ſie nun ſieben Jahre, Sommer und Winter, in dieſer elenden Einſamkeit durchlebt und keines andern Menſchen Geſtalt geſehen oder ſeine Stimme vernommen. Immer ertrug Genoveva ihr Elend in Geduld als eine Schickung Gottes, durch die ſie des Himmels würdiger ſollte gemacht werden, und Schmerzenreich war meiſt gutes Muts, denn er meinte, dieſe Einſamkeit wäre die Welt, und es wäre überall nicht anders als hier. — Binnen dieſer Zeit war nun auch der Graf aus Frankreich zurückgekommen, und alles, was der gottloſe Golo früher gegen die Gräfin erdichtet hatte, wiederholte er jetzt mit vielen Zuſätzen; wie er denn unter anderem hoch und heilig beteuerte, ſie hätte vor ihrem Ende alle ihre Schuld bekannt und erklärt, daß ihr recht geſchehe, weil ſie ſich ſo ſehr an ihrem gütigen Herrn und Gemahl verſündigt habe. Dasſelbe beteuerte und beſchwor auch die Amme Golos, ſo daß der Graf alles glaubte und dieſen böſen Leuten noch überdies für ihre Treue dankte. In ſeinem Herzen aber war keine Ruhe weder Tag noch Nacht. Denn immer ſtand das Bild der Gemahlin vor ihm, wie er ſie verlaſſen, und ſie ſich ſo ſehr über ſeinen Abſchied gehärmt hatte; und im ganzen Schloſſe war kein Ort, wo er nicht ihrer und ihrer großen Liebe gedachte. Da half es auch nicht, daß Golo Feſte veranſtaltete, um ihn zu erheitern, Lanzenſtechen und Jagden und Schmauſereien. Denn wenn alle Gäſte froh und gutes Muts waren, ſah er tiefſinnig vor ſich hin und dachte: wenn Genoveva hier wäre, könnt' ich mich auch freuen. Da geſchah es denn eines Tages, daß, als er voll Traurigkeit und Sehnſucht im Schloſſe umherſchlich und der vergangenen glücklichen Zeiten gedachte, er auch in den Kerker kam, wo Genoveva ſich ihm ſo treu bewieſen hatte; und indem er überall umherſchaute, fiel ihm ein zuſammengefaltenes Blatt in die Augen. Er nahm es auf, entrollte es und erkannte gleich die Handſchrift ſeiner Gemahlin. Wie er nun las, was ſie geſchrieben hatte, wie ſie mit rührenden Worten ihre Unſchuld vor Gott beteuerte und ihm

Golos böſe Anmutungen enthüllte und ihm ſein ungerechtes Blut und Urteil verzieh und zu Gott für ihn bat, da erkannte er mit einem Male die gottloſen Ränke ſeines Dieners und ſeine eigene Verblendung, und es wurde ihm dunkel vor den Augen, und er meinte, das Herz müßte ihm vor Zorn und Jammer brechen. Er befahl auch ſogleich, den Golo zu binden und vor ihn zu bringen. Da dieſer aber nach ſeiner wilden Weiſe im Felde umherjagte, eilte ein ihm ergebener Diener ſogleich hinaus und warnte ihn, daß er nicht heimkäme, worauf denn Golo ſein Roß unverzüglich nach dem Walde hinlenkte, um ſich dem Zorn ſeines Herrn zu entziehen. Denn es war ihm jetzt, als ob ſeine letzte Stunde geſchlagen hätte, und ſein Gewiſſen ſagte ihm, was er mit ſeinen Miſſetaten verdient habe.

Da nun Golo nicht zurückkam, wurde der Kummer des Grafen noch größer, weil ihm der entronnen war, durch deſſen Strafe er den Tod ſeiner unſchuldigen Gemahlin hatte verſöhnen wollen, und er kehrte allen ſeinen Zorn gegen ſich ſelbſt. Einſtmals ſah er auch des Nachts im Traume den Hausmeiſter, welchen Golo hatte ermorden laſſen, und dieſer bekräftigte alles, was Genoveva in ihrem Briefe geſchrieben hatte. Ein andermal ſah er auch ſeine Gemahlin ſelbſt, umherirrend wie ein Schatten, und von reißenden Tieren umgeben. Da fuhr er plötzlich aus dem Schlafe auf und befahl, ihm ſein Roß zu ſatteln; und als es geſattelt war, jagte er in den Wald hinaus, und ſeine Diener folgten ihm nach. Nicht lange war er geritten, ſo ſprang eine Hirſchkuh vor ihm auf. Er verfolgte ſie, und indem das behende Tier immer weiter und weiter flieht, und der Graf es ohn' Unterlaß verfolgt, kommt es endlich zu Genovevens Höhle, ſchlüpft durch das Geſträuch und verbirgt ſich im Inneren. Gleich ſpringt der Graf vom Pferde und dringt durch die Büſche nach, und indem er in die Höhle ſchaut, erblickt er die Hindin, die ſich auf dem Mooſe niedergetan, und ein menſchliches Weſen neben ihr, deſſen Bläſſe ihm aus der Düſterheit furchtbar und geſpenſterartig entgegenſcheint. Auch glaubte er wirklich, es wäre ein Geiſt, bezeichnete ſich mit dem Kreuze und ſagte: „Wenn du von guter Art biſt, ſo nenne dich mir und komme heraus“. Da erkannte Genoveva die Stimme ihres Gemahls und auch in dem Tageslicht ſeine Geſtalt und ſagte bebend: „Ich bin ein armes Weib und faſt bloß. Darum gebet mir eins von Euren Kleidern, damit ich zu Euch herauskommen kann.“ Auf dieſe Worte warf ihr der Graf ſeinen Mantel zu, und ſie hüllte ſich darein und kam auf ihren nackten Füßen hervor — denn ihre Schuhe waren längſt zerriſſen —, und die Hirſchkuh begleitete ſie nach ihrer Weiſe und ſtand ihr zur Seite. Und da ſie heraustrat, war es dem Pfalzgrafen, als ob er ſie kennen müßte, und es ging ihm ein Schauder durch Mark und Bein; aber er erkannte ſie nicht und fragte nur mit Haſt, wer ſie denn wäre, daß ſie in dieſer furchtbaren Wildnis lebte. Da antwortete ſie mit niedergeſchlagenen Blicken: „Ich bin aus dem Brabanter Lande und habe vormals beſſere Zeiten geſehen. Ein ſchlimmer Verdacht meines Eheherrn hat mich in dieſe Wüſte getrieben, und weil ich ihm ergeben war, gab er einem ſeiner Diener Macht über mich, daß er mich töten ſollte. Aber Gott lenkte das Herz der Schergen, daß ſie ſich meiner erbarmten und meinem armen Kinde und mir das Leben gönnten.“ Da entſetzte ſich der Graf noch mehr und begehrte mit zitternder Stimme ihren Namen zu wiſſen. Und da er den Namen Genoveva und auch den ſeinigen hörte, fiel er wie ſinnlos zur Erde, und es währte lang, ehe er ſein Geſicht wieder erheben und ſie anſchauen konnte. Und da er ſie endlich anſchaute und das blaſſe, abgezehrte Antlitz ſah, das vordem ſo blühend und ſchön geweſen, meinte er zu verzweifeln. Da ſie nun ſeinen großen Jammer ſah, trat ſie zu ihm, redete ihm mit freundlichen Worten zu und bat ihn aufzuſtehen. Er aber blieb doch auf ſeinen Knieen und klagte ſich mit bitteren Tränen und aufgehobenen Händen ſeiner Miſſetat an und bezeigte ſich zu jeglicher Buße bereit, wenn ſie nur ſage, daß ſie ihm vergeben wolle. Da dachte ſie nun nicht mehr an ſeine Schuld, ſo ſchwer ſie auch war, ſondern nur an ſeine Reue, und ſein Jammer ging ihr ſo zu Herzen, daß ſie vor Tränen nicht ſprechen konnte. Sie reichte ihm alſo die abgezehrte Hand und beugte ſich über ihn hin, und da ſie endlich ſprechen konnte, beſchwor ſie ihn, ſich nicht zu betrüben, und ſagte: „Das Herz bricht mir, wenn ich Euch, meinen Herrn, ſo jammern ſehe, und Euch die Zähren über den Bart laufen, der vor der Zeit grau geworden. Es war ja nicht Eure Schuld, daß Ihr mich für ſo ſtrafbar hieltet, ſondern derer, die Euch mit ihren Netzen umſtrickt hatten. Darum hab' ich Euch auch längſt von Herzen vergeben und

ſag' es Euch jetzt mit der alten Liebe, daß ich Euch all mein Elend verziehen habe. Möge uns Gott ebenſo unſere Schulden vergeben und ſeiner Gnade würdig machen." — Und während ſie ſo ſprachen, kam Schmerzenreich aus dem Walde, mit Wurzeln in der Hand, die er zur Mahlzeit geſammelt hatte, und da er den fremden Mann ſah, fürchtete er ſich. Der Graf aber erkannte gleich an der Ähnlichkeit der Züge, daß er ſein Sohn war, nahm ihn in ſeine Arme und drückte ihn an ſeine Bruſt und konnte vor Freud und Leid nichts anderes tun, als ihn küſſen und ſagen: „O mein geliebtes Kind! o mein teurer Sohn!"

Und wie das ſo eine Weile gedauert hatte, blies er in ſein Horn und rief die Jäger und Diener zuſammen; und wie dieſe kamen, ſahen ſie wohl, daß ſich mit ihrem Herrn etwas Beſonderes zugetragen habe; wer aber die blaſſe und abgehärmte Frau, und wer der Knabe wäre, der, in die Schafhaut gewickelt, mit nackten Füßen bei ihm ſtand, wußten ſie nicht; ſie konnten es auch nicht raten, bis er es ihnen ſagte. Da war denn ein großes Verwundern, daß ſie die wiederſahen, die ſie für tot gehalten hatten; und als ſie gar hörten, wie es ihr ergangen und wie ſie ſo wunderbar erhalten worden, war ihr Staunen noch größer, und niemand konnte ſich der Tränen enthalten, ſo über ihr Elend, als über Gottes Wunder und die Wege ſeiner Gerechtigkeit. Und nachdem ſie alle in die Höhle gegangen und das harte Lager betrachtet, auf dem ihre Fürſtin ſieben lange Jahre, ſo Winter als Sommer, zugebracht hatte — wobei man denn nichts als Schluchzen und Weinen hörte —, und nachdem ſie mit ihr an dem Altar gebetet hatten, der von ihren eigenen Händen aus Steinen und Moos erbaut worden war: kehrten ſie desſelben Tages nach dem Schloſſe zurück, die Gräfin in einer Sänfte, der Graf zu Roß neben ihr, und Schmerzenreich auch zu Pferde mit einem der Diener. Da war es nun wunderbar zu ſehen, wie auch die Hirſchkuh mit ihnen zog, und die Vögel um und über dem Schmerzenreich herflogen, ſoweit der Wald ging. Als aber der Wald aufhörte, blieben die Kaninchen und Haſen unter den Büſchen, die Vögel aber ließen ſich auf die Gipfel der Bäume nieder und ſchauten ihm lange nach, und man konnte wohl wahrnehmen, daß ſie den Knaben ungern ſcheiden ſahen. Auch er nahm wohl ungern von ihnen Abſchied und ſah ſich oft nach ihnen um und rief: „Lebt wohl, lebt wohl!" Aber ſo lieb ihm auch die Vögel und Tiere waren, mit denen er in der Einſamkeit geſpielt hatte, ſo war er doch mehr erfreut, Menſchen zu ſehen und mit Menſchen zu ſprechen; und da auf die Nachricht von Genovevens Wiederkehr eine Menge von Leuten herbeiſtrömte, und unter dieſen auch Kinder, die ſeines Alters waren, vergaß er leicht den Wald aus Freude über die neuen Geſpielen.

Den Golo trieb indeſſen ſein böſes Gewiſſen lange in dem Wald herum, und er fürchtete ſich vor dem Zorne des Pfalzgrafen, faſt noch mehr aber vor ſich ſelbſt. Daher irrte er wie wahnſinnig in der Wildnis umher und ſtieg oft in finſterer Nacht auf die ſteilſten Felſen mit Lebensgefahr. Und als Genoveva wiedergefunden war, kam ihm die Nachricht davon, ich weiß nicht wie, zu Ohren, und er meinte, er würde Ruhe haben, wenn er ſie noch einmal in ſeinem Leben ſähe. Er ſchlich alſo aus dem Wald heraus nach dem Schloſſe zu und hielt ſich da in der Nähe verſteckt, bis er ſie eines Morgens am Fenſter erblickte. Als er nun ihr blaſſes und abgezehrtes Angeſicht ſah, fiel ihm die ganze Laſt ſeiner Bosheit wie ein Felſen auf das Gewiſſen, und er entſetzte ſich ſo, daß die Kniee unter ihm zuſammenbrachen, und er anfing, laut zu heulen wie ein wildes Tier. Da liefen denn die Leute herbei und erkannten ihn; und der Graf ließ ihn binden und Gericht über ihn halten. Ob nun gleich Genoveva aus großer Güte ihres Herzens für dieſen Böſewicht bat, wurde er doch von allen Richtern zum Tode verurteilt und an derſelben Stelle hingerichtet, wo er Genoveven hatte ermorden laſſen wollen.

Im Lande aber war große Freude, und die Leute ſprachen lange von nichts, als von der frommen Genoveva und ihrem Schmerzenreich, und wer es nur bewerkſtelligen konnte, ſuchte ſie zu ſehen. Wie glücklich aber der Pfalzgraf war, und wie eifrig bemüht, die alte Schuld durch noch größere Liebe auszutilgen, iſt mit Worten nicht auszuſprechen. Allein dieſes Glück dauerte nur kurze Zeit. Denn nach drei Monaten wurde Genoveva krank — ſo krank, daß ſie gleich ihr herannahendes Ende fühlte. Darum nahm ſie auch bald Abſchied von den Ihrigen, beſonders aber von ihrem Gemahle und ihrem Sohne, dankte beiden für ihre große Liebe, tröſtete ſie und ermahnte vornehmlich ihren Schmerzenreich, die Wunder, die Gott an ihm getan, durch

ein frommes Leben zu verherrlichen. Dann ſchlief ſie unter Gebeten ein, und als ſie zu Grabe getragen wurde, die Prieſter mit den brennenden Kerzen voran, und hinter dem Sarge der Pfalzgraf in tiefer Trauer und Schmerzenreich an ſeiner Seite und vieles Volk hinter ihnen, ging auch die treue Hirſchkuh mit tief geſenktem Kopfe neben dem Sarge her. Und als dieſer in der Kirche in die Gruft gelaſſen wurde, ſah ſie ihm mit unverwandten Blicken nach, legte ſich dann an die Tür der Kirche, und da ſie kein Futter mehr nahm, ſtarb ſie in wenigen Tagen und wurde unter einem Baume auf dem Kirchhofe eingeſcharrt.

Der Jammer des Pfalzgrafen war nun unbeſchreiblich. Am Tage hatte er keine Ruhe und nachts keinen Schlaf, und es kam ihm bisweilen vor, als drückte ihn die Laſt der alten Schuld noch mehr als vordem, weil er nun nichts mehr tun konnte, um ſeiner armen Genoveva Liebe zu zeigen. Wie nun Schmerzenreich die tiefe Betrübnis ſeines Vaters ſah, wußte er ihn doch, ſo klein er auch war, mit klugen Worten zu tröſten, indem er ſagte, ſeine fromme Mutter hätte ſich ja zu aller Zeit nach dem Himmel geſehnt und ihr voriges Elend als eine Vorbereitung dazu angeſehen; darum ſolle er ſich doch nicht betrüben, da ihr Wunſch in Erfüllung gegangen. Vielmehr habe ſie ihnen ja durch ihren gottſeligen Tod den rechten Weg zum Himmel gezeigt. — Nun erfreute es zwar den Grafen, daß der Knabe ſo klug und fromm ſprach; aber den Schmerz konnten ihm dieſe Reden doch nicht von dem Herzen nehmen. So ging er denn eines Tages in ſeiner tiefen Betrübnis in den Wald, in welchem Genoveva die ſieben Jahre des Jammers und des Elends durchlebt hatte, und kam bis zu dem Felſentale und in die enge Höhle und legte ſich hier auf das Lager, wo ſie ſich ſo oft gehärmt hatte, und bedachte da alles, ihr Elend und ſeine eigene Schuld, und weinte lang und bitterlich. Endlich ſchlief er ein. Da kam es ihm vor, als ob er ſeine Genoveva ſehe in aller ihrer vormaligen Schönheit, und alle Herrlichkeit des Himmels war um ſie her, und die Engel ſtiegen auf und ab, und ſie ſah mit ſeligen und verklärten Blicken darein. Dann neigte ſie ihr liebes, holdes Geſicht zu ihm und bot ihm die Hand, und er meinte, ſie zöge ihn zu ſich hinauf. Und als er erwachte, fühlte er eine ſolche Freudigkeit in ſich, als er noch nicht gehabt hatte; und weil ihm der Ort ſo tröſtlich geweſen war, beſchloß er, auch hier zu leben und zu ſterben und, wo die Höhle war, eine Kirche zu bauen. So tat er denn auch, verließ ſein Schloß und Land und lebte hinfort als ein Einſiedler in dem Felſentale. Schmerzenreich aber wollte nun auch nicht mehr ohne Vater und Mutter in der Welt leben, ſondern zog zu ihm in die alte Einſamkeit und erfreute ihn lange durch ſeine Klugheit und Frömmigkeit. Und als ſein Vater geſtorben war, blieb er dennoch hier und beſprach ſich mit den Leuten, die zahlreich zu der Kirche wallfahrteten, und belehrte und ermahnte ſie und diente Gott, ſolang' er lebte.

## 48. Die heilige Lanze zu Antiochien.

Von *F. v. Raumer.*

Geſchichte der Hohenſtaufen. Leipzig 1840 Bd. I, S. 500

Auf dem Zuge, welchen die Chriſten unter Anführung des frommen Herzogs Gottfried von Bouillon, des Grafen von Toulouſe und anderer Fürſten antraten, um das heilige Land und Jeruſalem aus den Händen der Ungläubigen zu befreien, gelangten ſie nach Antiochien und belagerten die Stadt. Nach ſieben Monaten ſah man jedoch noch keinen Erfolg; die Angriffe der Feinde, der Mangel an Lebensmitteln und ein furchtbares Erdbeben erzeugten große Not im Lager der Chriſten.

Es war daſelbſt unter ihnen Petrus, ein Pilger, arm und geringer Herkunft, aber fromm. Er konnte weder leſen noch ſchreiben; doch das Vaterunſer, den Glauben, das Gloria und das Benediktus betete er mit einfachem Sinne, wie man es ihn gelehrt hatte. Einſam ruhte dieſer einſt in ſeinem Zelte und rief in ſchlafloſer Nacht, von großer Furcht bedrängt: „Herr, hilf! Herr, hilf!“ Da traten zwei Männer zu ihm in leuchtenden Kleidern; der ältere hatte einen langen, braunen Bart und ſchwarze, durchdringende Augen; der jüngere war ſchlanker, man mochte ſein Antlitz mit keiner andern Bildung vergleichen. Jener aber hub an: „Ich bin Andreas, der Apoſtel; fürchte dich nicht, ſondern folge mir nach!“ Der Pilger ſtand

vom Lager auf; jene beiden gingen voran zur Kirche des heiligen Petrus. Zwei Lampen brannten nur in dem weiten Gewölbe, und doch war es so hell wie am Mittage. Der Apostel sprach: „Warte ein wenig!“ und ging hinweg. Petrus setzte sich an eine Säule auf die Stufen, welche vom Mittag her zum Hochaltar führten; der jüngere Begleiter stand in der Ferne auch an den Stufen des Altars. Nach einer Weile kam der heilige Andreas aus der Tiefe hervor, trug eine Lanze in der Hand und sprach zu Petrus: „Siehe, mit dieser Lanze ist die Seite geöffnet worden, aus welcher das Heil geflossen für alle Welt. Gib acht, wo ich sie verberge, damit du sie nach der Einnahme Antiochiens dem Grafen von Toulouse nachweisen könnest; zwölf Männer müssen graben, bis man sie findet. Jetzt aber verkündige dem Bischof von Puy, er möge nicht ablassen von Ermahnung und Gebet, denn der Herr sei mit euch allen.“ Als der Apostel so gesprochen, führte er mit seinem Begleiter den Pilger über die Mauern der Stadt zurück in sein Zelt. Dieser aber wagte nicht zu dem Bischof zu gehen und das Geschehene zu erzählen, sondern zog nach Roja, um Lebensmittel zu sammeln. Da erschien ihm um die Zeit, wann der Hahn zum zweiten Male kräht, am ersten Tage der großen Fasten wiederum der Apostel mit seinem Begleiter; ein heller Glanz füllte das Zimmer. Jener sprach: „Petrus, schläfst du?“ Petrus antwortete: „Nein, Herr, ich schlafe nicht.“ — „Hast du getan, was ich dir befohlen?“ fragte Andreas weiter. — „Ich habe mich gefürchtet“, erwiderte der Pilger, „denn ich bin arm und gering, keiner wird meinen Worten glauben.“ — Da sprach der Apostel: „Weißt du nicht, wie die Armen und Geringen das Reich Gottes erwerben, und hat euch nicht der Herr auserwählt zur Erlösung seines Heiligtums? Siehe, die Heiligen selbst möchten den Himmel verlassen und teilnehmen an eurem Beginnen. Geh hin und tue, was ich dir verheißen!“ — Petrus zögerte noch immer, er wollte gen Cypern segeln; ein Sturm warf ihn zum Lande zurück, er erkrankte. Währenddessen war Antiochien eingenommen durch Hilfe christlich gesinnter Bewohner; aber ein neues Heer der Türken belagerte nunmehr die Kreuzfahrer, und größere Not entstand, als je zuvor. Da erschienen jene zwei zum dritten Male dem Pilger, und der Apostel sprach: „Petrus, Petrus, du hast noch nicht verkündet, was dir vertraut worden!“ — Dieser aber sagte: „O Herr, erwähle einen Weiseren, einen Reicheren, einen Edleren; ich bin unwürdig solcher Gnade.“ — „Der“, antwortete der Heilige, „ist würdig, welchen der Herr erwählet; tu, was dir befohlen ward, damit die Krankheit von dir weiche!“ Ernst war des Apostels Blick, mild aber und wie von himmlischem Lichte umflossen das Antlitz seines Begleiters. Da faßte Petrus Mut und sprach: „Wer ist dein Begleiter, der noch nimmer gesprochen hat, zu dem mich aber Liebe hinzieht und Sehnsucht, der mein Inneres löset von jedem Zweifel, der meine Seele füllt mit Vertrauen und himmlischer Ruhe?“ Der Apostel antwortete: „Du magst ihm nahen, und seine Füße küssen.“ Petrus trat hinzu und kniete nieder; da sah er blutige Male an den Füßen; er fiel auf sein Angesicht und rief: „Mein Herr und mein Gott!“ Es breitete Christus über ihn die Hände und verschwand.

Der Pilger verkündete das Gesicht. Zwölf Männer gruben vom Morgen bis zum Abend, da zeigte sich die Lanze. Durch ihre Wunderkraft gestärkt, siegten die Christen über alle Feinde, und die Erzählung ist aufbewahrt worden, damit ein kindlich Gemüt sich an dem erbaue, was den Verständigen dieser Erde verborgen ist.

## 49. Die heilige Elisabeth.

Von L. Bechstein.

Der Sagenschatz und die Sagenkreise des Thüringer Landes. Hildburghausen 1835. Bd. I.

### a. Elisabeths Mantel. (S. 59.)

Um Agnes, die schöne Schwägerin Elisabeths, freite ein Herzog von Österreich und hatte Hochzeit mit ihr auf der Wartburg. Der Landgraf stattete sie gar wohl

aus, und das Haus wimmelte von Gästen. Da nun alle in dem großen Speisesaal zu Tische gehen wollten, so ward Elisabeth vermißt, und mußten die Gäste ihrer lange harren. Außen im Mushaus[1]) vor der Treppe hatte sie einen dürftigen Mann gesehen, fast nackend, so daß sie sich verwunderte, wie dieser Arme in seiner Blöße in die Burg und bis zu dieser Stelle gekommen, und dieser bat flehentlich um Almosen; sie antwortete, sie hätte schon alles weggegeben, wolle ihm jedoch zu essen senden. Der Arme aber fuhr fort zu klagen, zeigte auf seine gebrechlichen und unbedeckten Glieder, bis sie von seinen Klagen so gerührt ward, daß sie ihm ihren seidenen Mantel zuwarf. Nun war es aber in jener Zeit Sitte, daß sich die Frauen und Jungfrauen in leichten Mänteln zu Tische setzten; wie sie daher endlich erschien, fragte sie der Landgraf: „Schwester, wo ist dein Mantel?" Sie antwortete erschrocken und verwirrt: „Herr, in meiner Kammer." Da gebot er einer ihrer Jungfrauen zu gehen und den Mantel zu holen, und wie diese in die Kleiderkammer kam, fand sie den Mantel hängen, nahm und brachte ihn. Der Arme aber war hinweg, und keiner hatte ihn gesehen. Elisabeth dankte Gott und zweifelte nicht, daß der Heiland selbst jener Arme gewesen, der ihr erschienen, wie einst dem frommen Kriegsmann St. Martinus, um ihre Mildtätigkeit zu prüfen, und habe nun ein neues Wunder an ihr getan. Alle Gäste, zumal der Herzog mit seiner Neuvermählten, überließen sich großer Fröhlichkeit, und Ludwig freute sich seiner geliebten Elisabeth. Jener Mantel war himmelblau, hier und da bestreut mit kleinen goldenen Bildchen; er war so fein und rein, daß aus ihm ein Meßgewand gefertigt wurde, das lang nachher noch die Brüder im Barfüßerkloster am Fuße der Wartburg aufbewahrten und heilig hielten.

### b. Elisabethen-Brunnen und -Garten. (S. 68.)

Den Brunnen der heiligen Elisabeth zeigt in Eisenach dem Wanderer jedes Kind. Eine klare, reine, frische Quelle, sprudelt er am Fuß der Wartburg, selbst ein lebendiger Sagenborn, und in ihrem Garten, nahe dabei, blühen ewig, wenn auch nicht sichtbar für einen jeglichen, jene Wunderrosen fort.

Die mildtätige Fürstin Elisabeth weilte oft und gern an dem Brunnen, der noch heute ihren Namen führt; in seiner Nähe legte sie einen Garten an, in seiner Nähe erbaute sie das Siechenhaus für Arme und Bresthafte. Sie wusch am Brunnen mit eigener hoher Hand die Kleider ihrer Pfleglinge, sie schöpfte Fische daraus für ihre Kranken, und niemand wußte, wie Fische in den Felsenquell kamen. Einst sandte sie eine Magd mit dem Eimer, um für Leidende Fische zu holen, zu dem Brunnen. Ungläubig ging die Dienerin, aber der Glaube kam ihr durch Schauen, voll Fische zog sie den Eimer aus der Kristallflut des Bergquelles. Dort gelangen der milden Fürstin jene hohen Wunder durch die Kraft des Glaubens und des Gebetes, wegen welcher die fromme Vorzeit sie heilig sprach und pries. Sie brachte so vielen das Heil; nicht sie tat Wunder, sondern Gott tat diese an ihr und segnete ihr Tun. Als sie irdene Waren, Töpfe, Tiegel und Teller auf dem Markt zu Eisenach gekauft hatte für ihr Hospital, und der Kärrner auf dem steilen Weg ungeschickt den Karren umwarf, daß er gegen die Felswand fiel, zerbrach kein einziges Stück. Sie heilte die Lahmen, machte Blinde sehend, und in ihrem Schoße mehrten sich wunderbar die Gaben, wenn sie dort saß, Almosen spendend den Armen, die sie in ganzen Scharen umdrängten. Engel schützten und schirmten sie vor allen Gefahren, der Regen näßte ihr Gewand nicht, und hatte sie den Armen ihre Kleider gegeben, sich mit den geringsten begnügend, so fand sie in ihren Gemächern wohl andere und schönere wieder, die dahingekommen waren, sie wußte nicht wie.

---

[1]) Mushaus eig. = Speisezimmer; hier: Vorhaus, Gang, Galerie.

# 6) Bilder aus der Weltgeschichte und der Geschichte der Pädagogik.

## a) Aus der Weltgeschichte.

### 50. Ein ägyptisches Leichenbegängnis.

Von M. Uhlemann.

Drei Tage in Memphis. Göttingen 1856. S. 48.

Am See war schon viel Volk versammelt, Männer und Frauen aus allen Kasten, Vornehme und Geringe, die teils zu Wagen, teils zu Fuß herbeigeströmt waren. Auf dem See, dicht am Ufer, standen die bunten, reich mit Gold verzierten Prachtkähne, welche den Sarkophag und die Leidtragenden über den See nach der Begräbnisstätte führen sollten.

Auch der Leichenzug ließ nicht lange auf sich warten. Er wurde eröffnet von sechs Tempeldienern, welche die zum Totenopfer nötigen Gegenstände und Geräte trugen. Sie waren, wie fast alle am Zuge Teilnehmenden, nur um die Lenden mit einem weißen, linnenen Schurze bekleidet. Der erste trug ein niedriges Holzgestell, mit Früchten und Blumen aller Art angefüllt, ein anderer die schönsten weißen Tauben, ein dritter führte an einem Stricke ein junges, zum Opfern bestimmtes Kalb, die übrigen schlossen sich mit verschiedenartigen Krügen und Gefäßen an. Hierauf folgten die bekannten sogenannten Pastophoren, ebenfalls sechs an der Zahl, mit buntbemalten hölzernen Kapellchen, die leider von allen Seiten geschlossen waren, so daß ihr Inhalt nicht gesehen werden konnte. Sie enthielten aber jedenfalls, wie ähnliche Behältnisse, Statuen von Göttern, von heiligen Tieren, oder von den Vorfahren des Verstorbenen. Die Sklaven des letzteren trugen hierauf das Geräte, dessen sich derselbe hauptsächlich im Leben bedient hatte: einen Feldstuhl, einen einsitzigen und einen zweisitzigen Polstersessel, endlich sogar einen zweiräderigen Wagen mit allem Zubehör. Hieran schloß sich der Staatswagen des Verstorbenen, mit zwei mutigen, braunen Rossen bespannt; derselbe war leer, der Wagenlenker ging, die Zügel haltend, traurig an seiner Seite. Dem Wagen folgten wiederum andere Diener, der erste mit kostbaren Gefäßen und einem goldenen Räucherinstrumente, die anderen mit Fächern, Bildern, Schmucksachen, goldenen Halsketten und Amuletten, Waffen und Emblemen, welche teils dem Verstorbenen, teils dem Könige angehörten, dessen treuer Schreiber und Diener er gewesen war. Auch kostbare kleine Götterstatuen von edlem Metalle, schönem Steine oder buntem Glase, unter denen mir besonders der bekannte Horussperber mit einem Menschenkopfe auffiel, wurden im Zuge auf besonderen Repositorien herbeigetragen, auch ein kleines, blaues Boot auf einem Schlitten gezogen.

Hierauf folgten sieben andere Männer, jeder mit zwei mit Palmenzweigen angefüllten Holzkästchen, dann die bekannten Klageweiber, in lange, weiße Gewänder gehüllt, mit aufgelösten Haaren, die Brust mit den Händen schlagend und ein trauriges, wildes Lied singend, in dem sie bald den Tod des Verstorbenen beklagten, bald seine Tugenden lobten und priesen. Endlich erschien der Oberpriester, ernst und gravitätisch einherschreitend, ein goldenes Gefäß und die Räucherpfanne in den Händen. Er war über dem weißen Schurze noch mit einem Leopardenfelle bekleidet, dessen Vordertatzen er so um die linke Schulter gebunden hatte, daß sein rechter Arm frei blieb, und der Schweif des Tieres, herabhängend, beinahe den Erdboden berührte. Gleich hinter dem Priester folgte der Sarkophag, stehend auf einem Schiffe, welches

wiederum auf einem Schlitten befestigt war und von vier schönen, weißen Stieren und sieben Männern gezogen wurde. Der Sarkophag selbst war von Zedernholz, reich mit eingeschnitzten Bildwerken und Inschriften geziert und mit duftenden Blumen bedeckt. Hinter dem Sarge beschlossen das Ganze die leidtragenden Freunde. In dieser Reihenfolge nahte sich langsam der Zug. Die Totenrichter, zweiundvierzig an der Zahl, waren indessen vollständig versammelt und hatten am See sich in einem Halbkreise geordnet; der Sarkophag ward in ihre Mitte geführt, während alle, die am Zuge teilgenommen hatten, sich um diesen aufstellten. Das neugierige Volk drängte sich ungestüm hinzu und umschloß im Kreise die ganze Zeremonie, welche nun stattfinden sollte. Auf einen Wink des Oberpriesters schwiegen die Klageweiber, und eine Totenstille herrschte ringsum. Jetzt trat einer der Freunde in die Mitte des Kreises, stellte sich am Kopfe des Sarkophages auf und sprach, der im Osten emporsteigenden Sonne mit dem Antlitz zugewendet und mit erhobenen Händen, im Namen des Verstorbenen ein Gebet an den ewigen Sonnengott. Der Freund sprach für den Verstorbenen; er begann mit den Worten: „Also spricht Osiris-Hopra". Hopra, d. i. Liebling der Sonne, war nämlich der Name des zu Bestattenden, und es ist bekannt, daß die Toten als in der Unterwelt mit Osiris zu einer Person Vereinigte angesehen zu werden pflegten, weil auch dieser nach seinem irdischen Tode in die Unterwelt gegangen und dort als Regent und Richter aufgetreten war. Auf diese Einleitung, durch welche also der Tote selbst als redend eingeführt wurde, folgte dann das Gebet an den Sonnengott und die übrigen Götter; er flehte um Aufnahme in die heiligen Wohnungen und suchte sich in zweiundvierzig Strophen vor den zweiundvierzig unterirdischen Totenrichtern, deren irdische Repräsentanten im Halbkreise den Sarg umgaben, von ebensoviel Sünden und Vergehungen zu reinigen und zu rechtfertigen. Es schloß endlich mit den Worten: „Habe ich aber im Leben gesündigt, so war es nicht meine, sondern jenes Schuld; deshalb vergebt mir und reinigt mich, ihr unterirdischen Götter!" Hierauf wies er auf eine besondere Urne, welche den der Mumie entnommenen Magen und die Eingeweide enthielt, und welche später, wie ich sah, gewissermaßen als ein Sühnopfer in den See versenkt wurde. Denn den Magen betrachten die alten Ägypter als die Ursache eines jeden geistigen und leiblichen Übels.

Nun begann das eigentliche Totengericht. Als der Freund sein Gebet geendet hatte und zu den übrigen zurückgetreten war, erhob der Gerichtspräsident, welcher sich vor den übrigen Totenrichtern durch eine besondere, an einer goldenen Kette um den Hals getragene und vorn auf der Brust hängende, aus einem kostbaren Steine verfertigte Tafel mit dem Bilde der Gerechtigkeitsgöttin auszeichnete, seine Stimme und sprach laut, ernst und feierlich zu der versammelten Menge:

„Hopra, der Sohn des Petamon, geboren von seiner Mutter Bert-Reri, der königliche Schreiber, ist es, dessen Mumie in diesem Sarkophage liegt, und welcher um ein ehrenvolles Begräbnis fleht. Er ward geboren am siebenten Tage des Monats Thoth, im Jahre der Hundssternperiode 1212, im sechsten Jahre der Regierung des ewig lebenden Gottes, des Vaters unseres Königs; er starb vor siebzig Tagen im Monat Payni. Wer ihn kennt und ihn einer Sünde zeiht, wem er Geld schuldete, ohne es zurückzuzahlen, wen er an Leib und Gut beschädigte, ohne den Frevel zu sühnen, der trete vor und klage ihn laut an vor uns, seinen Richtern. Wir werden streng richten, wir werden verdammen oder freisprechen. Aber hüte sich jeder vor einer falschen, gehässigen, rachsüchtigen Anklage; die Strafe würde von dem Verklagten auf den Kläger zurückfallen."

Ein dumpfes, unheimliches Stillschweigen trat ein; nur einige Neugierige erhoben die Köpfe, um zu sehen, ob niemand mit einer Anklage auftreten und den Verstorbenen des Begräbnisses unwürdig erklären würde. Besonders der Bruder blickte ängstlich umher, obgleich er alle ihm bekannten Schulden des Heimgegangenen vor dem

Begräbnistage berichtigt hatte. Aber konnte nicht ein böswilliger, noch unbefriedigter Gläubiger übrig sein und jetzt die Schuld und sein Recht geltend machen? — Alle warteten gespannt, niemand wagte ein Wort zu flüstern. Aber auch kein Ankläger erschien, und die Richter traten in einen Kreis, um sich wenigstens scheinbar zu beraten. So verging eine peinliche Viertelstunde. Endlich kehrten die Richter an ihre Plätze zurück, und der Präsident trat zum Sarkophage, erhob die Hände und sprach die feiertichen Worte, die jedes Herz durchdrangen: „Wir haben über dich gerichtet, Hopra, Sohn des Petamon, Sohn der Bert-Reri. Wir haben dich gerechtfertigt erfunden, und so spreche ich dich, kraft meines Amtes als oberster der Richter, frei von aller Sünde und Schuld; steige hinab, Gerechtfertigter, in den Amenthes; möge auch dort die Wagschale der Gerechtigkeit dir günstig sein, möge Thot deinen Namen in die Rolle der Schuldlosen einschreiben, möge Osiris dich ebenso unsträflich finden, als wir, deine irdischen Totenrichter, dich erfunden haben! Das Gericht gewährt deine Bestattung; es vergönnt dir einen Ort der Ruhe jenseits des Sees im Schoße des Gebirges." — Kaum hatte der Richter geendet, so trat Freude und Jubel an die Stelle der früheren Trauer. Der Oberpriester spendete den Göttern, er selbst und einige von den Verwandten des Seligen hielten Lobreden auf seinen rechtschaffenen und tugendhaften Lebenswandel; endlich wurden unter Opfern Gebete an die unterirdischen Götter gesprochen und dieselben angefleht, den Verstorbenen unter die Frommen im Reiche des Osiris aufzunehmen. Nachdem alle die Feierlichkeiten vollendet waren, an denen sich das gesamte Volk beteiligt hatte, gab der Priester das Zeichen zur Überfahrt über den See. Die schon vorher erwähnten Prachtschiffe nahmen die einzelnen Personen, welche den Zug gebildet hatten, auf. Alle einzelnen Teile der Schiffe waren mit bunten Farben, besonders in Gold, Grün, Rot und Blau, bemalt und mit religiösen Verzierungen versehen. Einige derselben trugen hohe und geräumige Kajüten, andere offene und auf Säulen ruhende Kapellchen, ähnlich den von den Pastophoren getragenen. In das erste Boot wurde der Sarkophag und ein Opfertisch gebracht, der Oberpriester bestieg dasselbe mit den vornehmsten Verwandten, und während der ganzen Fahrt wurde Rauchwerk gespendet. Der Steuermann dieses Schiffes wurde Charon genannt, und ihm soll der in der griechischen Unterwelt die Schatten über den Styx setzende Charon seinen Ursprung und seinen Namen verdanken; ein zweites Boot trug die Klageweiber, ein drittes die Opfergerätschaften, da jenseits des Sees sich dieselben Opferzeremonien wiederholen sollten, andere endlich die übrigen Gegenstände und Personen der Prozession. So stießen sie vom Ufer ab, je nach ihrer Größe von sechs bis zwanzig Rudern fortbewegt, und die gold- und rot-bemalten Ruder, die goldenen Kiele, die goldenen Steuerruder, in den Strahlen der nun schon höher gestiegenen Sonne erglänzend, hielten lange noch mein Auge gefesselt. Auch das ganze übrige versammelte Volk schaute dem Zuge der Schiffe nach, bis dieselben sich immer weiter entfernten; aber noch lange blitzten sie wie aufhüpfende Forellen und muntere Goldfischchen am Horizonte.

## 51. Tyrus. (1863.)

**Von K. Furrer.**

Wanderungen durch Palästina. Zürich 1865. S. 341.

Es war nachmittags 2 Uhr, als wir in das kleine, ärmliche Sur einzogen. Im Fruchtbazar sahen wir neben dürrem Obst, Bohnen, Tabak und Datteln Limonen aufgehäuft. Ich kaufte mir einige dieser saftreichen, aber faden Früchte. Durch die Bazarstraße gelangten wir auf einen öffentlichen Platz, in dessen Nähe der amerikanische Konsularagent, ein Araber, sein Haus hatte. Ich war sehr froh, hier eine gastfreundliche Herberge zu finden, indem ich mich matt und unwohl fühlte.

In dem hohen, geräumigen Obergemach streckte ich mich auf dem Divan aus, der nach allgemeiner Stadtsitte im Orient auf drei Seiten der Wand hinlief. Der

Boden war mit Strohmatten belegt. Nachdem ich mich ein wenig erholt, nahm ich meine geschwächten Kräfte zusammen, um einen Gang durch die Stadt und ihre nächste Umgebung zu machen. Das Innere der Stadt bot aber wenig Bemerkenswertes. Es war ein Haufe ein- und zweistöckiger Häuser mit mehr oder weniger schmutzigen Gassen. Ich ging zum Hafen hinaus, der an den nordwestlichen Stadtteil angrenzt. Hier hatten einst die tyrischen Kaufleute ihre Handelsschätze aus- und eingeladen. Noch war ein Rest des alten Molo [1]) vorhanden, und auf einer niedrigen Mauer im Wasser draußen sah ich wohl zwanzig Säulen nebeneinanderliegen. Doch der Hafen war gänzlich versandet. Nicht einmal kleinere Böte konnten ihn mehr benutzen, sondern mußten draußen vor der Mauer ankern. Halbnackte Lastträger wateten, ihre Bürden auf dem Kopfe tragend, durch das seichte Wasser zu den Schiffen hinaus. Die Stadt nahm bei weitem nicht den ganzen Flächenraum der Halbinsel ein. Da, wo ihre Mauern aber das Meer nicht berührten, zog sich ein künstlich aufgeführter Wall längs dem Strande hin. Indem ich auf diesem Walle herumging, bemerkte ich auf den naheliegenden Klippen sehr viele mächtig dicke Granitsäulen. 20 bis 30 Fuß unter mir schlug die nimmerruhende Flut an die zahllosen Felsbänke. Der Wall war einst durch einen großen Turm, dessen unterste Schichten die Wellen benetzten, noch verstärkt gewesen; doch jetzt lag dieses Bauwerk in Trümmern. Am weitesten zieht sich Sur auf der Südseite vom Strande zurück. Hier breiteten sich zwischen dem Wall und der an mehreren Stellen eingestürzten Stadtmauer üppig sprossende Weizenfelder und daneben ein Totenacker aus. An der Südostecke der Stadt gewahrte ich die einzige Ruine größeren Umfangs, die von der einstigen Herrlichkeit der Stadt zeugte. Es waren die Trümmer einer berühmten Kirche. In der Tat staunen mußte ich über die riesigen Maße, die man hier in Anwendung gebracht hatte. Das Chor mit seinen Seitengewölben war noch erhalten, ja auch noch der Rest einer Wendeltreppe, auf der man wahrscheinlich auf den Turm hinaufgestiegen. Die Mauern dieser Kirchenruine hatten eine Dicke von 15 bis 20 Fuß. Am Boden lagen zwei kolossale Säulen aus Granit. Dieselben sind so schwer, daß die Ingenieure des Dschezzar Pascha im vorigen Jahrhundert keine Mittel fanden, sie von der Stelle zu bewegen. Das einst gewiß prachtvolle Gebäude zeigte den griechischen Baustil, einfach runde Bogen. Dasselbe wurde im vierten Jahrhundert aufgeführt und galt damals für den herrlichsten Tempel Phöniziens. Hier entfaltete sich viele Menschenalter später der Glanz und die Pracht des lateinischen Gottesdienstes unter fränkischen Bischöfen, von denen der ehrwürdige Geschichtschreiber Wilhelm von Tyrus allgemein berühmt geworden. Jetzt aber ist die Herrlichkeit des christlichen wie heidnischen Tyrus gänzlich ins Grab gesunken. Eine blühende, reiche Stadt, solange die Kreuzfahrer irgend welche Macht im heiligen Lande besaßen, und eine ihrer stärksten, am längsten gehaltenen Festungen, hat sich dasselbe seit dem verhängnisvollen Jahre 1291 nie mehr aus seiner Erniedrigung erhoben. Jahrhundertelang lag es in Trümmern, so daß die Reisenden nur erzählen konnten von der „Stillgewordenen mitten im Meere". Das heutige Sur trägt kein altes Datum.

Ich begab mich noch einmal auf den über felsigem Strand erbauten Wall zurück, um mir ein Rundbild fest einzuprägen, das durch historische Erinnerungen wie durch landschaftliche Schönheit für jeden Wanderer etwas ungemein Ergreifendes haben muß. Westwärts lag das Meer vor mir ausgebreitet mit dem ganzen Zauber seiner Unendlichkeit, dieses Meer, das einst die tyrischen Kaufleute so kühn nach allen Richtungen durchfurcht. Zu meinen Füßen rauschte die Brandung. An den starrenden Klippen brachen sich die Wogen, bespülten die granitenen Säulen, die nach des Propheten Wort der Feind ins Wasser geworfen. Nach Osten zu gewendet umfaßte der Blick die ärmliche Stadt, zwischen deren Hütten und Häusern einige Palmen

[1]) Molo = Hafenbrücke, Steindamm.

ſchlank emporſtiegen, die tyriſche Ebene mit ihren Sanddünen, Fruchtfeldern und baumreichen Gärten und ruhte am fernen Horizonte auf dem weißſchimmernden Alpengebirge Syriens. Ich hatte eine der älteſten Wohnſtätten der Menſchheit vor mir. Aber das heutige Sur betrachtend, konnte ich mit dem Propheten ſagen: „Iſt dieſes eure freudenreiche Stadt, deren Alter von langer Zeit her iſt?“ Was war aus Tyrus geworden, „der Kronenſpenderin, deren Kaufleute Fürſten und deren Händler die Vornehmſten auf Erden waren?“ Nicht viel mehr als eine „Wehrd, darauf man die Fiſchergarne ausſpannt“. Gerade zu Ezechiels Zeit, wie wir aus ſeiner ſchwungvollen Schilderung entnehmen, war Tyrus eine durch Reichtum, Üppigkeit, Glanz und Volksmenge hochberühmte Stadt. Das Weh des Propheten hat ſich aber, wenn auch freilich erſt nach vielen Jahrhunderten, in buchſtäblicher Weiſe erfüllt. Salmanaſſars und Nebukadnezars lange Belagerung, Alexanders des Großen Eroberung hatten nur vorübergehend ſchwere Folgen mit ſich geführt. Zu Jeſu Zeit war Tyrus eine betriebſame Handelsſtadt mit doppeltem Hafen. Jeſus und nachher der Apoſtel Paulus berührten dieſelbe. Frühe bildete ſich hier eine chriſtliche Gemeinde, und im 4. Jahrhundert rühmte Hieronymus Tyrus als die edelſte und ſchönſte Stadt Phöniziens. Heutzutage hat Beirut den Seehandel Syriens an ſich gezogen. Sur ſcheint nach menſchlicher Berechnung ein ärmlicher Marktflecken bleiben zu müſſen.

## 52. Ninive.

Von A. F. Becker.

Weltgeſchichte. Leipzig 1874. Bd. I, S 95.

Die Hauptſtadt des mächtigen Weltreiches und die Reſidenz der aſſyriſchen Könige war Ninive in Aturia, am linken Ufer des Tigris, einige Meilen oberhalb der Lykusmündung, in der Nähe des heutigen Moſſul. Die Stadt bildete ein längliches Viereck und ſoll den enormen Umfang von 480 Stadien oder zwölf Meilen gehabt haben; die Bevölkerung wird zu zwei Millionen Seelen angegeben. Die Mauer der Stadt war 100 Fuß hoch und ſo breit, daß auf ihr drei Wagen nebeneinander fahren konnten; dazu war ſie mit 1500 Türmen von 200 Fuß Höhe zu beſſerer Verteidigung verſehen. Die faſt unglaubliche Ausdehnung von Ninive wird namentlich dadurch erklärt, daß in den orientaliſchen Großſtaaten innerhalb der ſtark befeſtigten und volkreichen Hauptſtädte große Räume freigelaſſen wurden, die geeignet waren, bei langen Belagerungen durch Anbau und Fruchtertrag einer Aushungerung vorzubeugen. Die umfangreichen Ausgrabungen, welche in neuerer Zeit namentlich der Engländer Layard in den Ruinen von Ninive (bei den Dörfern Nimrud, Kujundſchik, Karamles und Khorſabad) angeſtellt hat, haben über die alte Stadt und ihre Umgebung, wie über die Ziviliſation der Aſſyrer, viele intereſſante Aufklärungen verbreitet. Die Bauart in Aſſyrien war von der in Babylonien gebräuchlichen nicht ſehr verſchieden; auch hier baute man großenteils mit Ziegelſteinen, oft ſogar mit ungebrannten; die Gebäude wurden durch Balken von Mauer zu Mauer gedeckt, und dies beſtimmte die Breite der Bauräume. Da das aſſyriſche Niederland nur Palmen und Pappeln bot, die nicht mehr als 30 bis 40 Fuß lange Balken hergaben, ſo ſind die Gemächer und Hallen der in den Ruinenhügeln entdeckten Paläſte faſt immer lang und ſchmal; doch hat man zu Khorſabad auch Reſte von Säulenſtellungen gefunden. Das weichere Material nötigte ferner auch hier, die Mauern ſehr ſtark zu machen. Die inneren Wände der Gemächer waren bis zur Höhe von 12 Fuß mit Platten von Kalkſteinen oder Alabaſter bekleidet, die man in den benachbarten Bergen brach. Dieſe Steinplatten wurden mit Skulpturen geſchmückt und bemalt; Keilinſchriften, die unter denſelben eingegraben waren, erklärten die Darſtellung; auch die Gipsplatten der Fußböden waren mit Inſchriften bedeckt. Die Zimmerwände oberhalb der Skulpturen wurden mit gebrannten oder glaſierten Ziegeln ausgelegt, die Deckbalken mit Schnitzwerk in Holz und Elfenbein, mit Platten von edlem

Metall verziert. Die Tore der Paläſte von Ninive, die Eingänge der großen Zimmer und Hallen wurden von ſeltſamen, phantaſtiſchen Bildwerken bewacht; geflügelte Stiere oder geflügelte Löwen mit Menſchenköpfen waren paarweiſe vor ihnen aufgeſtellt. Dieſe ſymboliſchen Figuren haben eine Höhe von 10 bis 17 Fuß. Ähnliche Bilder findet man auf den Skulpturen: geflügelte Männer und Frauen, liegende Löwen mit Flügeln und menſchlichen Geſichtern, ſchreitende Greife mit Adlerköpfen, Flügeln und Löwengeſtalten u. dgl. m. Die erhaltenen Bildwerke gewähren über Leben und Bildung der Aſſyrer mehrfach nähere Anſchauungen. Die Könige erſcheinen in langen, mit Franſen beſetzten Gewändern, die durch einen Gürtel zuſammengefaßt werden; auf dem Haupte eine kegelförmige, oben abgeſtumpfte Mütze, Dolch und Schwert an der Seite. Eine höchſt bedeutſame Rolle ſcheinen an ihrem Hofe die Eunuchen geſpielt zu haben; ſie umgeben auf den Bildwerken den König als Leibdiener, als Waffenträger u. ſ. w.; ſie erſcheinen auch als Beamte des Staates, als königliche Schreiber, und kommandieren Abteilungen von Soldaten.

Eine Lieblingsbeſchäftigung der aſſyriſchen Könige war die Jagd; davon geben die Bildwerke zur Genüge Zeugnis. Mehr aber noch lernen wir aus dieſen Denkmälern von dem Kriegsweſen kennen, welches die Aſſyrer ganz kunſtmäßig betrieben. Das Fußvolk war in Scharen abgeteilt, die ſich durch Kleidung und Bewaffnung unterſchieden. Die Schwerbewaffneten trugen kegelförmige Helme, oder runde Kappen mit einem hohen Kamme; Waffenröcke, die auf der Bruſt durch Stahlplatten gedeckt ſind, und Schuppenhoſen; zur Verteidigung führten ſie ovale oder kreisrunde Schilde, und zum Angriff Lanzen und kurze Schwerter. Daneben gab es Bogenſchützen und Schleuderer, die auf den Bildwerken in der Weiſe dargeſtellt ſind, daß ſie aus dem dritten Gliede über die vor ihnen in defenſiver Stellung befindlichen Schwerbewaffneten hinwegſchießen. Die Könige kämpften, wie wir das überall im Morgenlande finden, mit Pfeil und Bogen von ihrem Streitwagen herab; ebenſo auch die unter ihnen ſtehenden Befehlshaber, die auf ihren Wagen zugleich die Feldzeichen ihrer Abteilungen führten. Außerdem gab es aber auch ganze Abteilungen von Streitwagen und ſtarke, mit Lanzen oder Bogen bewaffnete Reiterſcharen. Die Belagerungskunſt war gut ausgebildet; man verſtand es, die belagerte Stadt durch Einſchließungswälle zu bedrängen, die Mauern zu untergraben, durch Minengänge in die feindliche Stadt zu bringen. Gewöhnlich jedoch pflegte man bei Belagerungen die Feſtungsgräben auszufüllen; dann ward die Mauer entweder durch Sturmleitern erſtiegen, während die Bogenſchützen die Verteidiger von den Zinnen vertrieben, — oder man ſuchte zunächſt durch Sturmböcke, die man vor die Mauern führte, eine Breſche zu öffnen. Die Behandlung der Beſiegten war orientaliſch-grauſam.

Für das häusliche Leben des Volkes ſind die bisher entdeckten Bildwerke nicht ſo ergiebig geweſen; indeſſen zeugt alles, was ſich in den plaſtiſchen Darſtellungen auf das Privatleben bezieht, ſowie auch die zahlreichen Geräte, Cylinder, Goldwaren, Elfenbeinornamente, geſchnittene Steine u. ſ. w., die man in den Ruinenhügeln ausgegraben hat, daß die Ziviliſation der Aſſyrer eine bedeutende Höhe erreicht hatte, und daß ihre Gewerbtätigkeit auf einer ſehr vorgeſchrittenen Stufe ſich befand. Ihre große Kunſtfertigkeit geht namentlich aus den uns erhaltenen Monumenten ſelbſt hervor: die Skulpturen zeigen eine Kenntnis und einen Geſchmack, welche alles, was wir ſonſt von eigentümlicher alt-aſiatiſcher Kunſt kennen, weit übertreffen; der Stil derſelben iſt in Zeichnung und Ausführung von dem ägyptiſchen unterſchieden, er iſt freier, natürlicher, minder typiſch, und plaſtiſch deutlicher als jener. „Für den Ägypter iſt der Umriß die Hauptſache; die aſſyriſchen Skulpturen ſind ſtets voll modelliert; Ägypten liebt das vertiefte, Aſſyrien das hervortretende Bild. Die Nachahmung der Natur iſt hier friſcher, die Figuren der Menſchen und Tiere ſind im Gegenſatz zu der ägyptiſchen Manier überall rund, voll, ſtark, ja

ſogar übertrieben muskulös; der Ausdruck der Geſichter iſt mannigfaltiger und lebendiger.“ Auch die gefundenen Bildſäulen zeigen eine geübte Behandlung der Formen und einen ebenſo ruhigen, harmoniſchen, wie markierten Ausdruck.

## 53. Grab des Kyros.

Von M. Duncker.

Geſchichte des Altertums. Berlin 1853. Bd. II, S. 580.

Äſchylus läßt den Darius ſagen, daß „Kyros ein glücklicher Mann geweſen, der allen liebevoll Frieden gegeben, dem die Gottheit nicht gezürnt habe, da er milde und wohlgeſinnt geherrſcht“. In den Büchern über die Geſetze heißt es, daß „die Perſer unter Kyros noch in der Mitte geweſen ſeien zwiſchen Freiheit und Knechtſchaft, die Herrſchenden hätten den Beherrſchten Anteil an der Freiheit gegeben; darum ſeien die Krieger ihren Führern ergeben geweſen und tapfer in der Gefahr. Und wenn ein verſtändiger Mann dageweſen ſei, ſo habe ihm Kyros Freiheit der Rede und Gelegenheit gegeben, ſich zum gemeinen Beſten auszuſprechen, und habe die geehrt, welche einen guten Rat zu erteilen verſtanden hätten, ſo daß zu der Zeit Perſien Fortſchritte gemacht hätte durch Eintracht, Freundſchaft und Gemeinſchaftlichkeit der guten Ratſchläge; Kyros ſelbſt aber ſei ein guter Heerführer und ein Mann geweſen, der ſein Land liebte.“ Die Perſer bewahrten dem Stifter ihres Reiches das dankbarſte Andenken. Herodot verſichert, daß die Perſer den Kyros ihren Vater nannten, „weil er milde regiert und ihnen alles Gute verſchafft habe“; und Xenophon bemerkt, daß Kyros ſeine Untertanen wie Kinder gehalten und dafür von ihnen wie ein Vater geehrt worden ſei. Der Eindruck, den die Taten des Kyros hinterließen, die Dimenſionen, welche ſein Leben angenommen, müſſen ſehr groß geweſen ſein; ſonſt war es unmöglich, daß ſich die Sage und Poeſie in der Weiſe, wie wir es geſehen, ſeiner Schickſale bemächtigte und dieſelben mit wunderbaren Ereigniſſen ausſchmückte. Der von Perſien ausgehende Ruf von des Kyros kriegeriſcher Größe und ſeiner Regentenweisheit muß auch bei den Hellenen ſo tiefe Wurzeln gefaßt haben, daß Xenophon es unternehmen konnte, an dem Beiſpiele des Kyros in einem hiſtoriſchen Romane zu zeigen, durch welche Mittel große Reiche erworben und behauptet würden.

Nach allem, was aus den freilich ſehr ſpärlichen Zügen der Überlieferung geſchloſſen werden kann, war Kyros wirklich ein väterlich geſinnter Regent für ſein Volk, ohne Habſucht gegen die unterworfenen Stämme, mild und ſchonend gegen die Beſiegten. Er war ein Feldherr von gutem, ſtrategiſchem Blick und ſchneller Entſchloſſenheit im Handeln, ein König von mehr als gewöhnlicher Einſicht in die Motive und Handlungsweiſe der Menſchen, ein Mann endlich von großem Sinn, der hochgeſteckte Ziele im Auge hatte und dieſe mit vieler Ruhe und Beſonnenheit verfolgte. Er wollte ſeine Herrſchaft auch nicht bloß auf die Gewalt gründen, ſondern trachtete danach, derſelben dauerndere Stützen in beſtimmten Intereſſen zu geben. Die Begünſtigung der Tyrannenherrſchaften in den griechiſchen Städten, die Erhebung von Sidon gegen Tyrus, die Anſiedelung der weggeführten Juden in Paläſtina können nur in dieſem Sinne gedeutet werden.

Zu Paſargadä, wo Kyros ſeine Reſidenz gehabt, fand er auch ſeine Ruheſtätte. In einem von Quellen durchrieſelten, von Bäumen aller Art beſchatteten, mit dichtem Graſe bewachſenen Paradieſe war ein viereckiges Gebäude aus Quaderſteinen errichtet; auf einem breiten Unterbau erhob ſich oben das Gemach, in welches nur eine ſchmale Tür führte. Hier war der Leichnam des Kyros beigeſetzt. Auf einem Ruhebette mit goldenen Füßen, über welches ein babyloniſcher Teppich und Purpurdecken gebreitet waren, ſtand der goldene, oben offene Sarg. Daneben auf einem Tiſche waren goldene Schalen und Becher und anderes Prachtgerät aufgeſtellt; außerdem ſah man perſiſche Schwerter, Halsketten und Ohrringe, mediſche Gewänder, Ober-

und Unterkleider von dunkelblauer Farbe und Beinkleider in dem Gemach. Es waren wohl die Geräte, Waffen und Kleider, deren sich Kyros bei seinem Leben bedient. Magier, deren Amt vom Vater auf den Sohn erbte, bewachten das Grab des Kyros; Darius sollte sie aus Ekbatana hierher verpflanzt haben. Sie erhielten täglich ein Schaf, Wein und Weizenmehl, jeden Monat aber ein Pferd zum Opfer. Alexander von Makedonien sah die Leiche noch in dieser Umgebung. Die Inschrift auf dem Grabe des Kyros lautete nach der Angabe des Aristobulus: „O Mensch, ich bin Kyros, des Kambyses Sohn, der den Persern die Herrschaft gegründet und Asien beherrscht hat. Neide mir dieses Denkmal nicht.“ Nach Onesikritus sagte die Inschrift nur: „Hier liege ich, Kyros, der Könige König“.

Bei der heutigen Stadt Murghab erhebt sich in einer mit Trümmern von Turmbauten, großen Marmorquadern, Säulenschäften und Mauerresten bedeckten Ebene auf einem Unterbau von sieben Stufen (der immer wiederkehrenden heiligen Zahl) ein schmuckloses Gebäude von großen, genau ineinandergefügten Quadern des schönsten weißen Marmors, von einem wenig gehobenen Giebeldach überdeckt; die ruhigen einfachen Formen des Baues machen den Eindruck des Ernstes und verkünden die Würde des Ortes. In der Nähe dieses Gebäudes findet sich neben Trümmern, welche einem größeren Bauwerk angehört zu haben scheinen, auf einem fünfzehn Fuß hohen Marmorblock eine schlanke Figur mit vier Flügeln, über welcher die Worte gelesen werden: „Ich bin Khurush der König, Achämenide“.

## 54. Die athenische Erziehung nach den Gesetzen Solons.

Von M. Duncker.

Geschichte des Altertums. Berlin 1852. Bd. IV, S. 242.

Die Erziehung der jungen Athener faßte Solon mit besonderer Sorgfalt ins Auge. Man war in Attika davon durchdrungen, daß die Erziehung davon ausgehen müsse, der Jugend Ehrfurcht und Scheu vor den Göttern einzuprägen, daß sie eine religiöse Grundlage haben musse. Die sittliche Kraft der Mäßigung, der Selbstbeherrschung, der Hingebung für das Gemeinwesen konnte nur geweckt und genährt werden durch die Vergegenwärtigung der sittlichen Mächte des Himmels. Solche Vergegenwärtigung des Wesens und Waltens der Götter besaßen die Griechen nun in ihrer Poesie. An dieser mußte man demnach die Jugend emporbilden. Die religiöse Poesie der Griechen bestand in Hymnen und Choräleu, welche, zum liturgischen Gebrauche bestimmt, ohne die Musik, von welcher sie getragen wurden, den wesentlichsten Teil ihrer Wirkung einbüßen mußten. Wenn man die Jugend diese Hymnen und Chorlieder lehrte, mußte man sie zugleich den Gesang derselben, die musikalische Begleitung, lehren. Die Griechen schrieben zudem der Musik einen großen Einfluß auf die Seele des Menschen zu. So verband sich bei ihuen der Unterricht in der Religion zugleich mit dem in der Poesie und in der Musik. Sie faßten alle diese Zweige des Unterrichts unter den Namen der musischen Kunst, der Musik, zusammen. In den Büchern über die Gesetze wird ausgeführt, daß der natürliche Trieb der Jugend, zu lärmen und zu springen, durch Musik, Tanz und Gymnastik geregelt werden müsse, daß es die Aufgabe der Musik und der Chorlieder sei, den jungen und zarten Seelen der Kinder edle und schöne Grundsätze einzusingen. Indem aber die religiös-sittliche Erziehung der Griechen an den Meisterwerken ihrer Poesie und durch diese geschah, verband sich damit eine Übung des Gedächtnisses, eine Übung der geistigen Kraft für die Auffassung poetischer Gedanken und eine Bildung des Geschmackes. Die Einübung der Chorlieder und Chortänze für die Prozessionen und Feste des Staates gab diesem Unterricht zugleich einen äußeren Zweck und die Orchestik führte von der Bildung der Seele hinüber zu der des Leibes, zur Gymnastik, auf welche mindestens ein ebenso großes Gewicht gelegt wurde, wie auf die musische Erziehung.

Bis zum ſiebenten Jahre waren die Kinder der Mutter überlaſſen. Die Wärterinnen wiegten die Kinder der Vornehmen, ſie in der Schwinge ſchaukelnd, in den Schlaf, ſangen ihnen Wiegenlieder, und ſagten ihnen die Märchen, welche Äſopus in jenen Jahrzehnten den Hellenen erzählt hatte: „Es war einmal eine Maus und ein Wieſel“ u. ſ. w.; ſie ſpannten ihre Einbildungskraft, wenn ſie ihnen ſagten, wie ſie einſt, wenn ſie groß wären, in ritterlichen Spielen und Kämpfen glänzen würden. Nach dem ſiebenten Jahre beſuchten die Knaben die Muſikſchulen und die Ringbahnen (Paläſtren). Schon früh am Morgen zogen ſie, nachdem ſie ein Stück Brot zum Imbiß erhalten, ſtill und zuſammengeſchart zum Kithariſten in die Muſikſchule. Auch im Winter, ſelbſt wenn es tüchtig ſchneite, waren ſie barfuß und im bloßen Chiton. In der Schule mußten die Knaben anſtändig ſitzen, und die Lehrer gaben acht, daß die Jungen keine Torheiten trieben. Der Kitharist ſprach ihnen zuerſt einfache Lieder vor, welche ſie behalten und herſagen mußten; dann hatten ſie die getragenen und choralartigen Weiſen derſelben zu lernen. „Wir ſagen“ — ſo läßt Lucian in einem ſeiner Dialoge den Solon ſprechen — „den Knaben die Denkſprüche weiſer Männer, alte Taten und nützliche Reden vor, welche in Verſe gefaßt ſind, um ſie dem Gedächtniſſe einzuprägen. Hören nun die Knaben Taten der Tapferkeit und geſangwürdige Handlungen, ſo ſtreben ſie ſelbſt danach, um dereinſt von der Nachwelt in Liedern geprieſen zu werden.“ Eins der erſten Lieder, welche die Knaben beim Kitharisten zu lernen und zu ſingen hatten, lautete: „Pallas, furchtbare Städtezerſtörerin, du Kriegslärm erregende Göttin, hehre, den Feind abwehrende Tochter des großen Zeus, dich rufe ich, die Roſſebändigerin, die edelſte Jungfrau!“ Es war nicht darauf abgeſehen, die Knaben zu Virtuoſen im Geſang und im Kitharaſpiel zu erziehen; die muſikaliſche Bildung ſollte die ſittlich-religiöſe unterſtützen, die muſikaliſche Fertigkeit ſollte nur ſoweit entwickelt werden, daß einſt der Jüngling und Mann in den Chören mitſingen, daß er Tiſchlieder anmutig vortragen und ein Lied mit der Kithara begleiten und ſingen könne. „Wo beim Betriebe der Muſik nur die Luſt der Zuhörer bezweckt wird, nicht die Veredlung deſſen, der die Kunſt betreibt“, ſagt Ariſtoteles, „da iſt ſie keine Beſchäftigung für freie Männer, ſondern für Mietlinge.“ Vom Kitharisten gingen die Knaben in die Ringſchule zum Pädotriben. Die Ringſchulen waren zahlreich und wenigſtens zum Teil auf öffentliche Koſten erbaut. Die Knaben fingen mit Turnſpielen an. In zwei Abteilungen aufgeſtellt, ſuchten ſie einander über eine beſtimmte Linie hinüberzuziehen. Auch das Ballſpiel wurde fleißig betrieben. Nach den leichteren Übungen des Hüpfens folgte das Laufen und der Sprung, während die Arme auf mancherlei Weiſe, auch durch das Emporklimmen an Seilen, geſtärkt wurden. Neben dem Laufen, Springen, Ringen, Werfen wurde dann das Schwimmen ſehr eifrig geübt. Auch in den Ringſchulen wurde auf anſtändige Haltung der Knaben geſehen. Schläge wurden hier ſo wenig wie beim Kitharisten geſpart. Nach den Übungen der Ringſchule folgte das Frühſtück. Gegen Abend wurde die Paläſtra zum zweiten Male beſucht, worauf dann nach dem Schluß bei Sonnenuntergang das Abendeſſen folgte, bei welchem die Kinder öfter ihre muſikaliſchen und orcheſtiſchen Fortſchritte den Eltern zeigen mußten. An dem Feſte des göttlichen Vorſtehers der Ringkunſt, des Hermes, an den Hermäen, hatten dann die Knaben, nachdem dem Gotte geopfert war, öffentlich vor der ganzen Gemeinde zu zeigen, was ſie in der Paläſtra gelernt; an dem Feſte der Muſen, wieweit ſie es in der Muſik, d. h. im Geſang von Hymnen und Chorälen, gebracht hätten.

Diejenigen Eltern, welche ihren Söhnen eine gute Erziehung geben laſſen konnten, ſchickten dieſelben nach dem Frühſtück zum Grammatiſten. Seitdem das attiſche Volk ein geſchriebenes Recht erhalten hatte, war für jeden, der einſt irgend eine Stellung in dieſem Gemeinweſen einnehmen ſollte, die Kenntnis des Leſens unentbehrlich. Der Grammatiſt brachte den Knaben die Elemente der Buchſtabenkunde

bei, indem er die Buchſtaben vorſchrieb, die Schüler dieſelben nachzeichneten. Dieſe Kenntnis erhielt ſogleich dadurch einen höheren Wert, daß die Knaben auch das Leſen an den Handſchriften der großen Dichtungen, namentlich an denen der Geſänge des Homer, lernten, und daß diejenigen, welche ſich nicht mit dem Leſen begnügten, dieſe Handſchriften, welche im ſechſten Jahrhundert noch wenig zahlreich waren, wenigſtens teilweiſe abſchrieben. So griff auch dieſer Unterricht wieder in die muſiſche Bildung zurück.

Der Kurſus in der Tonkunſt dauerte bis zum achtzehnten Jahr. Mit dieſem Jahre traten die jungen Athener aus dem Knaben- in das Jünglingsalter, in die Klaſſe der Epheben. Sie beſuchten nun die Paläſtra nicht mehr, ſondern die Gymnaſien, welche Solons Fürſorge allen Bürgern geöffnet hatte: die Akademie, welche, nach dem Heros Akademos genannt, von den heiligen Ölbäumen der Athene beſchattet, einige Stadien nordweſtlich von der Stadt gelegen war; das Gymnaſium beim Heiligtum des Apollon Lykeios; das Lykeion im Oſten der Stadt vor dem Tor des Diochares am Iliſſos, und den Kynoſarges, welcher nordwärts vom Lykeion am Fuße des Lykabettos lag. Hier ſollte Herakles gerungen und den Platz durch ein Opfer geweiht haben. Wie die Knaben an den Hermäen, ſo zeigten die Epheben ihre gymnaſtiſchen Künſte alljährlich an den Feſten des Prometheus und Hephäſtos. Jeder Stamm ſtellte eine Anzahl ſeiner beſten Jünglinge, welche, die Fackeln in den Händen, um die Wette liefen, ohne ſie durch die Schnelligkeit des Laufens verlöſchen zu laſſen. An den Prometheen wurden die Fackeln am Altare des Prometheus im äußeren Kerameikos, d. h. dem Teile des Kerameikos, welcher außerhalb der Stadtmauer lag, an den Hephäſteen in dem Heiligtum des Hephäſtos, welches in der Nähe des Marktes lag, angezündet. Das Ziel war die Akropolis. Mit dem heiligen Feuer, welches die Fackel des Siegers von jenen Altären des Feuergottes gebracht hatte, wurde dann das Feuer auf dem Altare der Burg entzündet, welches das große Feſtopfer verzehren ſollte. Es war ein alter Brauch, der die Wohltaten des feuerbringenden Gottes veranſchaulichen und verherrlichen und dem Altare auf der Burg neues und reines Feuer von den geheiligten Feuerſtätten des Feuergottes zuführen ſollte.

Der Charakter der attiſchen Erziehung war hart und rauh. Bei Tiſch durften die Kinder nicht, ehe die Eltern gegeſſen, nach den Rettichen, dem Dill oder dem Eppich greifen. Fiſche und Geflügel ſollten die Knaben überhaupt nicht eſſen. Sie mußten bei Tiſch anſtändig ſitzen und durften die Beine nicht übereinanderſchlagen. Die Jünglinge ſollten beim Mahl beſcheiden nur mit einem Finger Eingeſalzenes ergreifen, mit zweien Brot, Fleiſch und Fiſche. Auch auf der Straße ſollten ſie ſich ſtill und anſtändig verhalten, in ruhiger Haltung, mit geſenktem Blick, die Hände im Mantel, umhergehen. Den Markt ſollten ſie überhaupt nicht betreten. Überall hatten ſie Beſcheidenheit und Ehrfurcht vor dem Alter zu zeigen und ſtets zu ſchweigen, wenn Ältere ſprachen. Der Stock wurde wie in der Schule ſo auch im Hauſe häufig angewendet, und noch die Epheben hatten in den Gymnaſien der Männer den Stock der Gymnaſiarchen zu fühlen.

Nachdem die Epheben vom achtzehnten bis zum zwanzigſten Jahre neben ihren gymnaſtiſchen Übungen den Kriegsdienſt als Streifwächter auf den Grenzen und Straßen gelernt, wurden ſie mit dem zwanzigſten Jahre durch Einzeichnung in die Bürgerrolle unter die volljährigen und ſtimmberechtigten Bürger aufgenommen. Nachdem die jungen Bürger aus den drei oberen Klaſſen, welche zum Hoplitendienſt beſtimmt waren, dann auch in bezug auf ihre körperliche Tüchtigkeit dienſttauglich befunden waren, wurden ſie in die Hoplitenrolle des Stammes eingeſchrieben und, mit Schild und Lanze bewaffnet, in den Tempel der Athene Aglauros auf der Burg geführt, um den Waffeneid zu leiſten. Dieſer von Solon vorgeſchriebene Eid lautete: „Ich ſchwöre, die heiligen Waffen nicht zu ſchänden und den Nebenmann im Treffen

nicht zu verlaſſen, neben wem ich auch ſtehe. Ich will kämpfen für die Heiligtümer und das Gemeingut, ſowohl allein, als in Gemeinſchaft mit anderen. Ich werde das Vaterland nicht kleiner, ſondern größer und beſſer hinterlaſſen, als ich es überkommen habe. Ich werde willig denen gehorchen, welche jedesmal zu entſcheiden haben, und den beſtehenden Geſetzen Folge leiſten. Und wenn einer die Geſetze aufhebt, oder ihnen nicht Folge leiſtet, ſo werde ich dies nicht zulaſſen, ſondern ſie allein und mit anderen verteidigen. Und die vaterländiſchen Heiligtümer will ich in Ehren halten. Zeugen ſeien die Götter."

## 55. Xerxes und die Schlacht bei den Thermopylen.

Von Ch. F. Weiter.

Lehrbuch der Weltgeſchichte. Münſter 1872. Bd. I, S. 178.

Xerxes, der Sohn und Nachfolger des Darius, ſetzte die Rüſtungen ſeines Vaters fort. Des Sieges gewiß, hatte er nicht Luſt, wie er prahlend ſagte, künftig noch attiſche Feigen zu kaufen; er wollte ſich des ganzen Landes bemächtigen und dann nur eigene Feigen eſſen. Nach der Unterwerfung Griechenlands gedachte er ganz Europa zu überfluten, bis der Himmel ſelbſt die alleinige Grenze des Perſerreiches wäre, und die Sonne kein benachbartes Land mehr beſchiene. Alle Anſtalten zu dieſem Zuge waren rieſenartiger Natur. Sechsundfünfzig verſchiedene Nationen, die dem Großherrn untertänig waren, wurden zu dem neuen Rachezuge aufgeboten. Ganz Aſien war in Bewegung; aus den entlegenſten Gegenden kamen die Völker herangezogen. Die Menge war ſo groß, daß man ſie nicht zählen konnte. Um ihre Zahl ungefähr zu beſtimmen, ließ Xerxes zehntauſend Mann abzählen, dieſe eng zuſammentreten und um ſie her eine Art von Hürde ziehen. Dann ließ er dieſe hinaustreten und den für zehntauſend Mann abgeſchlagenen Raum mit anderen füllen. Hundertundſiebzigmal füllte und leerte ſich dieſer Raum, und es waren demnach gegen 1 700000 Menſchen in Bewegung. Furchtbar wie die Landmacht war auch die Seemacht. Die Zahl der Kriegsſchiffe belief ſich auf zwölfhundert, die noch von dreitauſend Laſtſchiffen begleitet wurden. An der Spitze dieſer Millionen ſtand Xerxes ſelbſt, wie ein Abgott von ſeinen Völkern geehrt und zugleich gefürchtet.

Mit dem Frühlinge des Jahres 480 ſetzte ſich der Zug in Bewegung. Es war, als käme ganz Aſien dahergewandert. Im Andenken an das Unglück, welches dem Mardonius beim Umſegeln des Athos widerfahren war, ließ er einen Kanal durch den Berg ziehen, und die Flotte ſegelte hindurch. Zum Behufe eines ſicheren Überganges des Landheeres ließ er zwei Brücken über den Hellespont ſchlagen. Dieſer iſt eine ſchmale Meerenge, die Europa von Aſien trennt, und heißt jetzt von den an beiden Seiten gelegenen feſten Schlöſſern, die den Eingang verteidigen, Straße der Dardanellen. Aber der Sturm zerſtörte den Bau. Da geriet er in Wut. Die Werkleute ließ er enthaupten, in das widerſpenſtige Meer aber dicke Ketten werfen, als wolle er dies jetzt ebenſo feſſeln, wie überkurz die Griechen ſelbſt; und zuletzt ſoll er es noch mit dreihundert Peitſchenhieben gezüchtigt haben, unter den ſtolzen Worten: „Dieſe Strafe gibt dir dein Gebieter, weil du ihn ohne Grund beleidigt haſt. Über deinen Rücken wird er hinziehen, du magſt wollen oder nicht, du böſes Meer!" Schnell war eine neue Brücke fertig, und nun wurden Anſtalten zu einem feierlichen Übergange gemacht. Früh am Morgen, als der Himmel im Oſten ſich rötete, wurde ein feierliches Opfer gebracht. Man zündete Weihrauch auf der Brücke an und beſtreute dieſe mit Zweigen von Myrtenbäumen. Und als die Sonne in hoher Majeſtät emporſtieg, neigten ſich voll Ehrfurcht die Völker Aſiens, und tiefe Stille herrſchte ringsum. Xerxes goß aus goldener Schale ein Trankopfer ins Meer und flehte das aufgehende Tagesgeſtirn um Sieg für die perſiſchen Waffen an. Dann warf er den Becher nebſt einem perſiſchen Schwerte in die See und gab das Zeichen zum Aufbruche. Nun ſetzten ſich all' die Hunderttauſende

in Bewegung. Sieben Tage und ebenſoviele Nächte dauerte der Übergang über die Brücke unaufhörlich fort. Zunächſt ergoß ſich der große Völkerſtrom über Thrakien. Auf einer geräumigen Ebene bei der Stadt Doriskus, unfern der Mündung des Hebrus, wurde Halt gemacht und das Lager aufgeſchlagen, während die Flotte ſich an der nahen Küſte ausbreitete. Hier hielt Xerxes Heerſchau. Mit freudigem Erſtaunen ſah er von ſeinem Throne herab dem bunten Gewühle der vorüberziehenden Menge zu.

Wie eine Sintflut überſchwemmten nun die wilden Aſiaten das nördliche Griechenland. Da war kein Gedanke an Widerſtand; von allen Seiten ſchickte man ihnen Waſſer und Erde freiwillig entgegen. Wohin der Weg führte, alles mußte folgen, und die Heeresmaſſen wuchſen zum Unendlichen heran.

In ſolchem Andrange ungeheurer Not verzagten dennoch die Athener und Spartaner nicht. Damals lebte zu Athen Themiſtokles, der Mann, welchen als Jüngling die marathoniſchen Siegeszeichen nicht ſchlafen ließen. Schon als Knabe verriet er außerordentliche Talente, ſo daß ſeine Lehrer voll Bewunderung ſagten: „Themiſtokles iſt geboren, um dereinſt der Segen oder der Fluch ſeiner Vaterſtadt zu werden“. Einſt ſpottete eine muntere Geſellſchaft über ihn, weil er die Leier nicht ſpielen konnte. „Nun ja“, erwiderte er ſtolz, „ſingen und ſpielen kann ich nicht; aber eine kleine Stadt groß und berühmt zu machen, die Kunſt meine ich zu verſtehen“. Furchtlos und feurig, wie er war, galt es ihm gleich, wen er angriff oder was er wagte; Freunde und Feinde ſollten einzig ſeinem Willen dienen. Alle hielten die Niederlage der Barbaren bei Marathon für das Ende des Krieges; nur Themiſtokles ſah weiter in die Zukunft hinaus und betrachtete ſie als den Anfang größerer Kämpfe, auf welche er ſich ſelbſt und ſeine Mitbürger zur Verteidigung von ganz Griechenland auf das beſte vorbereitete. Auf ſeinen Rat beſtimmten die Athener die Einkünfte ihrer Bergwerke von Laurium zur Erbauung einer Flotte; durch eine Seemacht hoffte er zugleich ſeine Vaterſtadt an die Spitze der griechiſchen Staaten zu bringen. Er verband Athen feſt mit Sparta und ließ dieſem die Ehre der Oberanführung; er ſöhnte uneinige Staaten miteinander aus und beſeelte ſie mit Mut, für Freiheit und Vaterland alles zu wagen.

Unterdes kamen die Perſer herangezogen, ſchwer und langſam, ohne Widerſtand zu finden, bis zum Engpaſſe Thermopylä, der in das Herz von Griechenland führt. Hier, wo das Meer von der einen und das ſteile Öta-Gebirge von der andern Seite nur einen ſchmalen Steg gelaſſen hat, hielt der ſpartaniſche König Leonidas mit dreihundert Spartanern und einigen verbündeten Truppen. Xerxes lachte überlaut, als er hörte, daß dieſes Häuflein ſeine Millionen aufzuhalten gedächte und ſich zu dem Kampfe wie zu einem Feſte ſchmückte. Er ſchickte Boten hin, ihm ſofort die Waffen auszuliefern. „Komm und hole ſie!“ war die Antwort. Und als den Griechen geſagt wurde, der Feinde ſeien ſo viele, daß die Sonne verdunkelt würde, wenn ſie ihre Pfeile abſchöſſen, erwiderte ein Spartaner kalt: „Um ſo beſſer, dann werden wir im Schatten fechten“.

Noch zögerte Xerxes mit dem Angriffe. Er konnte es ſich nicht als möglich denken, daß dieſe Handvoll Menſchen wirklich Widerſtand leiſten würde, und ließ ihnen vier Tage Zeit, zur Beſinnung zurückzukehren und abzuziehen. Aber ſie wichen nicht und wankten nicht. Da ließ er ſeine Aſiaten gegen den Hohlweg losſtürmen. Hier ſtanden die Griechen, dicht geſchloſſen, Mann an Mann, in der Linken den Schild, der ſich wie eine eherne Mauer vor der Reihe herzog, gegen welche die Pfeile der Barbaren klirrend zurückflogen; mit der Rechten ſtreckten ſie einen Wald langer Lanzen vor ſich hin. Schar auf Schar ſtürmte heran und ſuchte den Wall zu durchbrechen, aber immer wurden ſie über die Leichen der Ihrigen zurückgeworfen. Xerxes wählte die Tapferſten ſeines Heeres, die „unſterbliche Schar“ genannt. Auch ſie fielen. Kein Perſer mochte mehr den Angriff wagen. Xerxes ſprang wiederholt

von seinem Throne, von wo aus er dem Kampfe zusah, und wütete und tobte und ließ seine Scharen mit Geißeln in den Hohlweg, als in ihr sicheres Grab, peitschen. Auch am folgenden Tage behauptete Leonidas gegen alle Angriffe fest seinen Posten. Hier wäre vielleicht schon die große Macht der Perser gebrochen, hätte sich nicht selbst unter den anwohnenden Griechen ein Verräter gefunden. Ephialtes hieß der Elende. Dieser entdeckte dem persischen Feldherrn einen geheimen Fußpfad über das Gebirge. Zwanzigtausend Perser folgten, überstiegen heimlich die Waldhöhen und fielen den verratenen Griechen in den Rücken. Da war alle Rettung dahin. Leonidas sandte fast alle, die nicht Spartaner waren, zurück, auf daß sich jeder seiner Stadt und anderen Gefahren des Vaterlandes erhalte. Die Thespier jedoch, siebenhundert an der Zahl, waren durch nichts zu bewegen, ihn zu verlassen; nur die Thebaner mußten bleiben als Geisel für die Treue ihrer Landsleute. Leonidas selbst opferte, um zuvor seine und seiner Gefährten Totenfeier zu begehen, in seinem Königskleide den Göttern von Sparta, aß mit seinen dreihundert Spartanern, alle bestens geschmückt, und ging nun selbst zum Angriffe vor. Mann für Mann zu sterben entschlossen, fochten die Spartaner und Thespier mit rückhaltsloser Kühnheit. Keiner schonte weder sich noch den Feind. Furchtbar räumten ihre Lanzen unter den dichtgedrängten Barbaren auf; selbst die beiden Brüder des Xerxes stürzten, zum Tode getroffen, in diesem wilden Gedränge. Den Griechen brachen allmählich die Lanzen, sie mußten zu den Schwertern greifen. Da fällt Leonidas, der ihnen voran gekämpft hat, und das Gefecht entbrennt noch heftiger um seinen Leichnam. Es gelingt den Griechen, diesen in ihre Mitte zu ziehen und die anstürmenden Perser viermal mit großem Verluste zurückzuschlagen. Nach der langen, blutigen Arbeit zum Tode ermattet, kämpfen sie noch fort und fort mit der letzten Kraft. Von der Übermacht überwältigt, sinken endlich alle die tapferen Streiter dahin, inmitten der Haufen der erschlagenen Barbaren, mit Lanzen, mit Schwertern, mit Pfeilen wie mit Siegestrophäen bedeckt.

Keinem Siege ist ein solcher Ruhm gefolgt, als dieser Niederlage. Den gefallenen spartanischen Helden wurde in der Folge die Inschrift gesetzt:

„Wanderer, sag's zu Sparta, daß, seinen Gesetzen gehorsam, wir erschlagen hier liegen." [1])

Ein Löwe von Stein zeigte dem einsamen Wanderer in der Bergschlucht auch die Stätte, wo Leonidas selbst, der Löwe des Tages, gefallen war.

## 56. Themistokles.

Von G. Weber.

Allgemeine Weltgeschichte. Leipzig 1869. Bd. II, S. 488.

Themistokles, Sohn des Neokles aus der Gemeinde Phrearrhoi, des leontischen Stammes, erregte schon als Knabe durch seine Wißbegierde und seinen Lerneifer die Bewunderung seiner Lehrer, die voraussagten, daß er etwas Großes, sei es im guten oder schlimmen, vollbringen würde. Da seine Mutter eine Ausländerin war, so durfte er nicht die Ringschulen der Vollbürtigen besuchen, sondern mußte sich im Kynosarges üben. Verletzt durch diese Zurücksetzung, beredete er einige Altersgenossen, Söhne der ersten Familien, mit ihm den Turnübungen der Halbbürtigen beizuwohnen, und hob durch diese List die bisher bestandene Scheidewand auf. Obwohl er der Ausbildung des Verstandes und der Kunst der Rede mehr Sorgfalt zuwendete, als der Poesie und den musischen Künsten, so daß er einst sagte, auf Lautenstimmen und Harfenklimpern verstehe er sich wenig, wohl aber, wie man eine Stadt ansehnlich und groß mache, so versäumte er es doch nicht, durch stattliche Ausrüstung der Chöre

[1]) Schiller im „Spaziergang": „Wanderer, kommst du nach Sparta, verkündige dorten, du habest uns hier liegen gesehn, wie das Gesetz es befahl."

und durch reichliche Beisteuern zu den öffentlichen Festen und Mahlen sich die Gunst seiner Mitbürger zu gewinnen, oft mehr, als seine beschränkten Vermögensverhältnisse gestatteten, daher er auch in den Mitteln, sich Geld zu verschaffen, minder gewissenhaft war, als Aristides. Ein Mann von hohem praktischen Verstande, von überraschendem Scharfblick und von einer überzeugenden Beredsamkeit, die er in der Volksversammlung und in den Gerichten übte und ausbildete, war er schon in jungen Jahren Haupt und Führer einer großen Partei, die er durch seinen entschlossenen Mut, durch seinen sicheren Willen und durch seine durchgreifende Energie, die nicht zu ängstlich in der Wahl der Mittel war, an seine Person fesselte. Plutarch sagt von Themistokles, man habe ihm den großen Mann schon in der Haltung und im Gesichte angesehen. Thukydides findet in ihm die Kraft der natürlichen Anlage am bewunderungswürdigsten; durch angeborenen Scharfsinn, der von Studien wenig unterstützt worden, sei er nach kurzer Überlegung der beste Beurteiler der obwaltenden Verhältnisse und der geschickte Errater der bevorstehenden oder künftig eintretenden Dinge gewesen. Was er im Sinne gehabt, habe er auch gut vorzubringen verstanden, und selbst in Dingen, von denen er wenig verstanden, habe es ihm doch nicht an einem treffenden Urteile gefehlt; stets habe er das Bessere und Schlimmere in der Zukunft richtig erkannt. Kurz, durch die Macht des Genius und die Kürze der Überlegung sei dieser Mann der tüchtigste gewesen, das Zweckdienliche schnell zu finden und auszuführen.

Nachdem er durch seine ausgezeichneten Geistesgaben sich Ansehen unter seinen Mitbürgern verschafft, war er besonders bemüht, Athen durch Entwickelung seiner maritimen und demokratischen Kräfte zum Haupt und Führer der hellenischen Seestaaten zu erheben, indes Aristides und Kimon, obwohl der Ausbildung einer attischen Seemacht nicht länger widerstrebend, doch nur allmählich und vorsichtig in die neuen Bahnen einlenken und vom Alten möglichst viel erhalten wollten. Themistokles erblickte den Hauptgegner Athens in Sparta, wider das daher seine Tätigkeit vorzugsweise gerichtet war; Aristides und Kimon dagegen sahen in den Persern, dem Nationalfeinde des hellenischen Stammes, den Widersacher, den man vor allem bekämpfen müsse. Während diese daher vorzugsweise mit Kriegsunternehmungen im Osten und Norden beschäftigt waren, bemühte sich Themistokles, seine Vaterstadt in die Verfassung zu setzen, an der Spitze eines demokratischen Bundesstaates die Hegemonie in Hellas und in den Pflanzstädten an sich zu bringen. Drei Mittel schienen ihm zu diesem Zweck besonders geeignet: die Befestigung Athens und des Piräus, die Vergrößerung der Flotte und die Vermehrung der Bevölkerung.

Dagegen scheint er wider die Perser eine weniger feindliche Gesinnung gehegt und den Krieg gegen sie minder eifrig betrieben zu haben, woher wohl der Verdacht eines Einverständnisses mit diesem Nationalfeind entstanden und in der Folge als Fallstrick für ihn gebraucht worden sein mag. Auch ruhte der Verdacht der Käuflichkeit und unedler Gewinnsucht auf ihm, der schwerlich ganz unbegründet war, da er sich auch schon während seines früheren öffentlichen Lebens nicht besonders skrupulös in der Wahl seiner Mittel und nicht besonders delikat in Geldsachen gezeigt hatte. Der Dichter Timokreon von Rhodus war wohl nicht der einzige, der ihn gemeiner Habgier und Bestechlichkeit beschuldigte!

## 57. Die Stadt Athen im Zeitalter des Perikles.

Von **G. Jäger.**

Geschichte der Griechen. Gütersloh 1881. S. 214.

Wenn man sich in der Geschichte der Zeiten und Völker umsieht und sich die Frage vorlegt, wann und wo in der kürzesten Zeit und auf dem kleinsten Raume die größte Mannigfaltigkeit geistiger Besitztümer geschaffen worden sei, so wird man keinen Augenblick anstehen können, diesen Preis der Stadt Athen in demjenigen

Zeitraum ihrer Geſchichte zuzuerkennen, welcher zwiſchen den großen Schlachten der Perſerkriege und dem Anfang des Peloponneſiſchen Krieges liegt (480—430). In einer Zeit, welche nicht länger währte, als eines Mannes Kraft, wurden hier mit den Mitteln einer Stadt, die nicht mehr Menſchen zählte, als heutzutage Hamburg oder Edinburg, in einer wenig von der Natur begünſtigten Landſchaft, die nicht umfangreicher iſt, als einer der größeren unter den mittleren Kantonen der Schweiz oder ein mäßiges deutſches Fürſtentum, auf den verſchiedenſten geiſtigen Gebieten, in Wiſſenſchaft und Kunſt, in Geſchichte und Dichtung, in Philoſophie und Beredſamkeit Werke geſchaffen, an deren trümmerhaften Reſten ſeit Jahrtauſenden das geiſtige Leben der edelſten Völker und ihrer hervorragendſten Geiſter ſich wie in einer Quelle ewiger Jugend immer erneut und verjüngt hat.

Wenn ein atheniſcher Bürger etwa um das Jahr 445 von einer Seereiſe nach Hauſe zurückkehrte, ſo fand er ſich, noch ehe er die Stadt erreichte, ſchon mitten in jene zukunftsvolle Geſchäftigkeit hineinverſetzt. Hatte er die Südoſtſpitze der attiſchen Landſchaft, das Vorgebirge Sunion, umfahren, ſo ſah er auf der Höhe des Kaps in ihren ſchlanken und edlen Formen die Säulenreihe eines Athenetempels ſich erheben: wenige Jahre ſpäter konnte er von dort bei hellem Sonnenſchein, noch in großer Ferne, den Speer der Athene Promachos blitzen ſehen, deren ehernes Koloſſalſtandbild, ein Werk des erſten Künſtlers damaliger Zeit, eine der vielen Zierden der Akropolis ſeiner Vaterſtadt ausmachte. Wenn das Schiff, zwiſchen hundert anderen ſeinen Weg fortſetzend, weiterfuhr, ſo ſah er ſich in den Gewäſſern, welche durch den herrlichſten aller Kämpfe, an dem vielleicht auch er teilgenommen zu haben ſich rühmen konnte, für alle Zeiten geweiht waren: und je näher er dem Hafen kam, deſto dichter drängte ſich die Menge der Fahrzeuge, welche von fern und nah dem Mittelpunkt des ioniſchen Bundesreiches, der erſten unter den Städten von Hellas, der großen Handelsſtadt Athen zuſtrebten, oder mit den Schätzen derſelben beladen fremde Küſten aufſuchten. Er ſah die Getreideſchiffe vom Bosporus oder von Ägypten, von Sicilien, von der äoliſchen Küſte; andere brachten den Wein von den Inſeln, Bau- und Nutzholz von Thrakien, Makedonien, Cypern; reiche Ladungen von Fiſchen von den Küſten des Schwarzen Meeres, von Byzanz oder Sinope her; Kupfer von Euböa oder Cypern, feine Tuche von Milet, von Kos, von Tarent; ägyptiſche Leinwand und Prachtgewande aus dem Orient, Salben und wohlriechende Öle aus Cypern, Cyrene, Epheſus, Ägypten; andere hatten ägyptiſchen Papyrus, oder feines Backwerk aus Sicilien, dem klaſſiſchen Lande der Kochkunſt, oder aus Samos, andere phöniziſche Datteln, ſyriſches Räucherwerk oder das berühmte Arzneimittel von Cyrene, das Silphion, geladen; andere führten Sklaven aus Phrygien, den thrakiſchen oder ſkythiſchen Ländern.

In entgegengeſetzter Richtung ſah er andere fahren: ſie führten die Erzeugniſſe des attiſchen Bodens oder attiſchen Kunſtfleißes: Öl, Honig, Feigen, Töpferwaren und Trinkgeſchirre, Lampen und Lederwaren, Schreibbücher, gemünztes Silber, Bücher und ſorgfältig verpackte Kunſtwerke. Das Schiff, an der phaleriſchen Bucht und den beiden Häfen Munychia und Zea vorbeigekommen, wandte und fuhr in den Piräus ein: die allenthalben liegenden Wachtſchiffe, die Kriegsflotte, von der ein Teil dort vor Anker lag, die rege Geſchäftigkeit auf den Werften, in der inneren Bucht zu ſeiner Rechten, das Arſenal, die neuen Werften, an denen er der Reihe nach vorüberfuhr, zeigten, daß der Staat die Mittel beſaß, ſeine Bürger und ihren Handel auch an den entfernteſten Küſten zu beſchützen. Stieg der Fremde, an den Werften vorbeigekommen, bei den Hallen ans Land, ſo konnte er ſchon in dieſen Räumen, wo die überſeeiſchen Produkte gegen eine Lagermiete aufgeſpeichert wurden, auch die Tätigkeit der ſorgfältigen Markt- und Hafenpolizei gewahren, welche der Staat zu üben wußte. Es waren in dieſen Hallen und ihrer unmittelbaren Nähe die Amtslokale der Hafenpolizei und der Zollbeamten; das Deigma oder Börſengebäude, wo die

Kaufleute zuſammenkamen, wo die Proben der Waren ausgelegt, die Geſchäfte gemacht, die Handelsgerichte abgehalten wurden; auch ein Tempel der Aphrodite, welcher keinem Seeplatz fehlte. Hatte man die Zollgrenze, die Inſchriftſteine, paſſiert, ſo trat man in die eigentliche Piräusſtadt, die, damals ſchon belebt und geräuſchvoll, wie nur immer ein Hafenplatz, überragt von dem Fort Munychia und den gewaltigen Mauern, die rings um die buchtenreiche Halbinſel ſich zogen, auch durch die Neuheit und die regelmäßige Anlage ihrer Straßen, einem Werk des Mileſiers Hippodamos, einen Gegenſatz gegen das alte Athen, die Binnenſtadt, bildete. Zwiſchen den großen Mauern, deren lange Linie, in Zwiſchenräumen von Türmen gekrönt, rechts und links den Blick begrenzte, legte man den 1½ſtündigen Weg nach der Stadt zurück, deren glänzende Burg mit ihren Befeſtigungen, ihren Tempeln und Kunſtwerken, zur Rechten vom Lykabettos überragt, vor den Blicken des Heimkehrenden lag. Durch das piräiſche Tor paſſierte er die Mauer des Themiſtokles, deren gewaltigen Umkreis die Stadt nicht völlig ausfüllte; zur Rechten die Pnyx, den Platz der Volksverſammlungen, gelangte er auf den Markt, den Mittelpunkt, in welchem das Leben der Stadt während eines großen Teils des Tages ſich konzentrierte.

Auf dieſen Platz, der von Tempeln und Hallen eingefaßt, von den Platanen, die Kimon angepflanzt hatte, beſchattet war, und den ganzen Stadtteil zwiſchen dem Hügel der Pnyx und des Areopag mußte der Fremde kommen, der atheniſches Leben kennen lernen wollte. Es fehlte hier niemals an allen jenen bunten, ſprechenden, komiſchen Scenen und Zügen, welche den Beſuch eines großſtädtiſchen Marktes jedem, der die Landesart kennen lernen will, ſo intereſſant machen. Schon die Mannigfaltigkeit der hier zum Detailverkauf ausgelegten Waren, deren jede Art ihren abgegrenzten Platz hatte, bot einen vergnüglichen Anblick dar: hier friſche Brote und anderes Backwerk zu Pyramiden geſchichtet, dort einheimiſche und ausländiſche Obſtarten, ſamiſche Äpfel, naxiſche, cypriſche Granatäpfel und Mandeln, Quitten von Kreta, „euböiſche Nüſſe“ oder Kaſtanien: an einem anderen Orte ſtand Geflügel zu kaufen, böotiſche oder theſſaliſche Gänſe; der megariſche Bauer trieb ſeine Schweine herbei oder bot ſeinen Lauch und ſeine Zwiebeln oder was er ſonſt an Gemüſe dem kargen Boden ſeines Ländchens abgewonnen hatte, zum Verkauf; hier ſchlichtete einer der Agoranomen einen Streit, der allzu lebhaft zu werden drohte, dort verhalf einer der Sitophylakes einem betrogenen Käufer, dem das Mehl mit falſchem Gewicht zugemeſſen worden war, zu ſeinem Recht; beſonders lebhaft ging es auf dem Fiſchmarkt zu, wo das Hauptlebensmittel der geſamten Bevölkerung in der reichlichſten Auswahl zu haben, und wo darum das zudringliche Feilſchen und die grobe Abweiſung zu Hauſe war, und auf dem Blumenmarkt, bei den Kranzbinderinnen, mit denen man ſich manche Freiheit geſtattete, zu der ſie ſelbſt aufzufordern ſchienen, da ſie in ſo freier Öffentlichkeit erſchienen. Denn Frauen ſah man überhaupt hier wenige, und keine von Rang: daß eine freie Bürgerin von Stande ſelbſt auf dem Markt ihre häuslichen Bedürfniſſe eingekauft hätte, wäre in allen Athen ebenſo unerhört geweſen, wie es heute in London oder Neuyork iſt. Dagegen ſah man die Sklaven nach allen Richtungen den Markt durcheilen: hier und da mochte wohl einer ſeinem Herrn zu den Tiſchen der Wechſler folgen, um dort eine größere Summe — für einen ſoeben gekauften Milſklaven etwa — flüſſig zu machen; dann ſchickte der Herr ihn nach Hauſe, um ſich noch mit Bekannten über alles das zu unterhalten, was die ſtets von den mannigfaltigſten Intereſſen bewegte Stadt dem lebhafteſten, geſprächigſten und neugierigſten aller griechiſchen Stämme darbot. „Was gibt es Neueres?“ lautete hier die oft gehörte, charakteriſtiſche Frage. Denn es war der Markt zugleich der allgemeine und tägliche Verſammlungsort der freien Männer, und wie jetzt in großen Städten nach der Börſenſtunde gerechnet wird, ſo rechnete der Athener nach der Zeit, wo der Markt ſich füllte, voll war, leerer wurde, ſich auflöſte. Hier

war für den Fremden die Gelegenheit, in wenigen Stunden Art und Volk der Athener kennen zu lernen. Wenn ihm das Glück lächelte, konnte er hier den großen Mann selbst, der die Geschicke des Staates leitete, den Perikles, auf einem der wenigen Gänge, die der Vielbeschäftigte sich gestattete, erblicken, wie er in das Ratsgebäude, das gleichfalls an den Markt stieß, hineinging oder dasselbe verließ; er konnte die Geschworenen mit ihren grünen, roten, weißen Stäbchen ihren verschiedenen Sitzungslokalen, die hier in der Nähe lagen, zueilen sehen: in jedem Fall sah er hier gewissermaßen das ganze Volk beisammen, und selbst die einzelnen Bezirke des attischen Landes hatten ihre herkömmlichen Plätze, wo sie sich ihr Stelldichein gaben. So die Dekeleier an der „Bartstube bei den Hermen", so später die Plataer „beim grünen Käse", einer Lesche in der Nähe des Platzes, wo jener Artikel feilgeboten wurde: und leicht ließ sich in der Stadt, wo ein humanes Gesetz das Zurechtweisen der Irrenden einschärfte, erfragen, wie man gehen müsse, um einen Bekannten oder Landsmann, den man bei den „Myrten", oder bei den „Salben", bei den „Fischen", den „Sklaven", den „Bäckerinnen" treffen sollte, zu finden. Wer abseits von dem Gewühl des offenen Marktes über Geschäfte oder sonst etwas zu sprechen wünschte, der mochte ohne Scheu und ohne erst mit dem Ringe zu klopfen, in einen der Läden oder Werkstätten, die Bartstube oder Heilbude, wo nicht gerade ein Asklepiossohn ersten Ranges schaltete, in den Salbenladen oder die Schusterwerkstätte eintreten, welche in der gastlichen Stadt den Plaudernden gerne aufnahmen. Unter dem Gewühl der vielbewegten Menge den böotischen, megarischen, lokrischen Bauern an seiner Tracht oder seiner platten Sprache zu erkennen, war nicht schwer; aber wer schärfer zusah, der mochte leicht schon an Haltung und Gang, und wer den Gesprächen der müßigen Gruppen zuhörte, an der feineren und gewandteren Sprache, an dem ganzen Ton und den Gegenständen der Unterhaltung den geborenen Athener erkennen, der, unter ganz anderen Eindrücken und Anschauungen aufgewachsen, als der Lakone in seinen abgelegenen Tälern, oder der Arkadier in seinen Bergen, seit lange gewohnt war, die Angelegenheiten eines großen Staates als seine eigenen Geschäfte zu behandeln.

## 58. Demosthenes.

Von *F. Däßler.*

Hellenischer Heldensaal nach den Darstellungen der Alten. Berlin 1879. Bd. II, S. 413.

Der Vater des Demosthenes war ein angesehener Bürger Athens. Er hieß gleichfalls Demosthenes und führte den Zunamen „Schwertfeger", weil er eine große Waffenfabrik besaß, worin er eine Menge Sklaven beschäftigte. Als er starb, war sein Sohn erst sieben Jahre alt. Er hinterließ ihm ein ansehnliches Vermögen von beinahe fünfzehn Talenten; doch ging ihm dasselbe durch die unredliche oder nachlässige Verwaltung der vom Vater bestellten Vormünder verloren. Unter solchen Umständen läßt sich nicht erwarten, daß diese für die Erziehung ihres Mündels die pflichtmäßige Sorge getragen; und hierzu kam noch seine körperliche Schwächlichkeit, um derentwillen seine Mutter die Lernbegier des Knaben zu mäßigen suchte, und seine Lehrer ihn zu keiner Anstrengung anzutreiben oder zu nötigen pflegten. Aus diesem Grunde nahm er auch an den Leibesübungen der athenischen Jugend keinen Teil und ward um deswillen von seinen Altersgenossen als Schwächling verspottet. So sah er sich schon in der Jugend darauf hingewiesen, unter den Mitlebenden eine einsame Stellung einzunehmen und in der Stärke des Charakters, in der Macht der Gedanken und der Worte die Möglichkeit männlicher Kraftäußerung zu suchen, welche ihm die Ungunst der Natur und der Menschen abzusprechen schien.

Als Jüngling war er einst mit seinem Erzieher zugegen, als Kallistratos vor öffentlichem Gerichte eine Rede hielt. Eine zahllose Menge hatte erwartungsvoll sich herzugedrängt. Der berühmte Redner feierte den schönsten seiner Siege. Der junge

Demoſthenes ſtaunte über die Macht der Beredſamkeit, die hier alles überwältigte und mit ſich fortriß; und wie er nun am Schluſſe den Sturm des Beifalls vernahm und ſah den Redner, von der Volksmenge umringt, von Lobſprüchen überhäuft und im Triumph aus dem Gerichtshofe nach Hauſe begleitet, da brannte ſein Herz wie von Eiferſucht, und der Entſchluß ſtand in ihm feſt, nach derſelben Palme zu ringen.

Seitdem widmete er alle Zeit und Kraft der Erlernung der Beredſamkeit. Er wurde ein fleißiger Zuhörer Platons, und die Einwirkung dieſes Philoſophen läßt ſich an der Gedankentiefe, dem ſittlichen Ernſt und der Größe des Ausdrucks in den nachmaligen Reden des Demoſthenes unſchwer erkennen. In den Regeln der Redekunſt ließ er ſich von Iſäos unterweiſen, denn dieſer ſchien ihm ſeiner Kraft und Einfachheit wegen zur Ausbildung eines Volksredners und Staatsmannes bei weitem geeigneter, als der damals nicht minder berühmte Iſokrates, der unter einer weichen, geglätteten Form nicht ſelten Schwäche der Gedanken und Kälte des Gefühls verbarg. Als Muſter des Stils galt ihm Thukydides, und ſein Eifer, ſich denſelben anzueignen, war ſo groß, daß er nicht weniger als achtmal das Geſchichtswerk jenes Meiſters abſchrieb.

Kaum hatte er ſeine Volljährigkeit erreicht, ſo zog er ſeine Vormünder wegen Veruntreuung ſeines Vermögens vor Gericht. Dieſer Prozeß währte drei bis vier Jahre und wurde zuletzt zugunſten des Demoſthenes entſchieden. Zwar hatte er nur noch einen geringen Teil des väterlichen Erbes retten können; aber der größere Gewinn dieſes entſchloſſenen Unternehmens lag für ihn darin, daß es ihn in beſtändiger, angeſtrengter Übung des erwählten Berufes erhielt und durch den endlichen, ſchwer errungenen Erfolg in dem Vertrauen auf ein glückliches Gelingen ſeines höheren Strebens ſtärkte.

Zunächſt widmete er ſich nur, wie in dem vorgenannten Falle, der gerichtlichen Beredſamkeit, d. h. die von ihm ausgearbeiteten Reden waren beſtimmt, von anderen oder für andere in ihren Rechtsangelegenheiten gehalten zu werden. Später wagte er es, ſich auch der öffentlichen Angelegenheiten anzunehmen und mit einer Staatsrede vor der Volksverſammlung aufzutreten. Dieſer Verſuch mißlang aber vollſtändig. Lange, mühſam gedrechſelte Satzgefüge, übereinandergehäufte Gedanken, vorgetragen mit ſchwacher Stimme, undeutlicher Ausſprache und kurzem Atem, der, mitten in Sätzen abbrechend und von neuem anſetzend, Sinn und Zuſammenhang ganz verwiſchte: — unter Lärmen und Ziſchen mußte Demoſthenes die Rednerbühne verlaſſen. Der tiefen Niedergeſchlagenheit, in welche ihn dieſer Unfall geſtürzt hatte, entriß ihn die tröſtende Verſicherung des alten Eunomos, dem er einſt im Piräus begegnete: er habe etwas von Perikleiſcher Manier, er müſſe darum nicht aus Feigheit und Weichlichkeit an ſich ſelber zum Verräter werden, ſondern den Mut ſich aneignen, ein in der Verſammlung entſtehendes Geräuſch gelaſſen anzuhören, und nicht aus Trägheit den in ihm liegenden Schatz von Fähigkeiten ungeübt verkommen zu laſſen.

Hierdurch zu einem zweiten Verſuch ermutigt, erging es ihm kaum beſſer als das erſte Mal. Beſtürzt, mit verhülltem Angeſicht eilte er nach Hauſe, um ſeine Schande zu verbergen. Mit inniger Teilnahme ging ſein Freund, der Schauſpieler Satyros, ihm nach. Demoſthenes beklagte ſich bitter über die Laune des Publikums, welches rohe und unwiſſende Menſchen, Schiffer und Trunkenbolde mit Vergnügen anhöre, während es ihm, der unter allen Rednern den meiſten Fleiß aufwende und beinahe ſchon ſeine Geſundheit dabei aufgeopfert habe, ſeinen Beifall hartnäckig verſage. „Du haſt recht", erwiderte Satyros, „aber ich will der Urſache deines Mißgeſchicks bald abhelfen, wenn du mir eine Stelle aus dem Sophokles oder Euripides herſagen willſt." Demoſthenes tat dies, und nun wiederholte Satyros dieſelbe Stelle mit ſoviel Kraft und Angemeſſenheit des Ausdruckes, mit

solcher Lebendigkeit körperlicher Darstellung in Haltung und Mienen, daß Demosthenes ganz andere Verse zu hören glaubte. Er erkannte hieraus, wieviel eine Rede an Schönheit, Leben und Anmut durch die Aussprache, Stellung und Gebärdung des Redners gewinnen könne, und wie durch diese der Erfolg eines rednerischen Vortrags wesentlich bedingt sei.

So begann er denn von neuem seine Übungen. Sein Eifer, den ein glänzender Erfolg bei dem ersten Auftreten vielleicht gedämpft hätte, war durch das anfängliche Mißlingen gesteigert, und sein Entschluß war gefaßt, die zu seinem Zwecke nötigen Anstrengungen bis zur äußersten Grenze seiner Kräfte zu treiben. Um vor allem seiner undeutlichen Aussprache abzuhelfen, so versuchte er öfter, mit Kieselsteinen im Munde deutlich und ohne Anstoß zu sprechen. Seinen kurzen Atem gewöhnte er dadurch zu längerer Ausdauer, daß er, während er lange Sätze laut hersagte, mit schnellen Schritten steile Bergeshöhen hinanstieg. Dann wandelte er am Ufer des stürmischen Meeres auf und ab und suchte das Getöse der Wellen mit seiner Stimme zu übertönen, damit sie hinlängliche Kraft gewinne, auch unter dem Toben einer leidenschaftlich bewegten Volksversammlung sich verständlich zu machen. In seinem Hause ließ er sich ein unterirdisches Gemach anlegen, wo er die für seine Arbeiten und Übungen nötige Ruhe und Stille fand. Hier verweilte er tage-, ja monatelang, ohne ein einziges Mal auszugehen. Von der Decke des Gemachs hing ein entblößtes Schwert herab, unter welches er sich während seines Vortrags zu stellen pflegte, damit es ihn jedesmal verwunde, so oft er, einer üblen Gewohnheit zufolge, mit den Schultern eine zuckende Bewegung mache. Alles, was vorging, alles, was er hörte, alle Begebenheiten, die ihm besuchende Freunde erzählten, machte er zum Gegenstande seines Fleißes; er begab sich, sobald er wieder allein war, in seine unterirdische Schule und erzählte alles, was man dafür und dagegen gesprochen, den stummen Wänden wieder. Unter so unglaublichen Anstrengungen, so strenger Entsagung und unermüdlichem Fleiße reifte in der Stille und Abgeschiedenheit die goldene Frucht Demosthenischer Beredsamkeit: allen Strebenden zur Lehre, zur Mahnung und zum Troste, daß dem beharrlich Wollenden der Preis der Tüchtigkeit sich nicht entziehen könne.

Aber auch als vollendeter Redner hat er nie die ehrfürchtige Vorstellung von der Höhe der Kunst, in deren Dienst er sich gestellt hatte, aufgegeben. Nie gab er dem Gedanken Raum, daß man in diesem Fache aus Übung und Gewohnheit unter Eingebung und Gunst des Augenblickes etwas Gutes und Gedeihliches leisten könne. Gleich dem Perikles sprach er fast niemals öffentlich ohne Vorbereitung. Seine leichtfertigen Gegner und Nebenbuhler machten ihm daher öfter den Vorwurf, seine Reden röchen nach der Lampe. Er stellte den nächtlichen Fleiß, den er auf seine Reden verwende, keineswegs in Abrede, sondern rechnete sich denselben zum Verdienst an. „Ich glaube", sagte er, „derjenige erweise sich als echter Bürgerfreund, welcher vorher überdenkt, was er öffentlich reden will, und durch solche Vorbereitung seine Achtung gegen das Volk zu erkennen gibt; dahingegen diejenigen, welche auf ihre Reden nicht die geringste Mühe verwenden, sich als oligarchisch gesinnt zeigen, indem sie einen Hochmut beweisen, der sich über das verständige Urteil der Bürger hinwegsetzt und den Beifall mehr zu erzwingen, als mit Gründen zu erlangen sucht."

Wenn er aber mit weiser Besonnenheit weder die Sache, für welche er sprechen wollte, noch sein eigenes Ansehen dem Glücke und Zufall anheimgab, so versagte sich ihm doch in besonderen Fällen keineswegs das Vermögen, auch aus dem Stegreife mit Nachdruck und Erfolg zu sprechen. Als Lamachos seine auf die beiden makedonischen Könige Philipp und Alexander verfaßte Lobrede, worin er den Thebäern und Chalkidiern viel Böses schuld gab, bei den olympischen Spielen öffentlich vorlas, trat Demosthenes unvorbereitet, wie er war, gegen ihn auf, wies aus der Geschichte

und mit ſchlagenden Gründen nach, wieviel Verdienſte ſich die von jenem Beſchuldigten um Hellas erworben, und wieviel Unheil dagegen die Schmeichler der Makedonier angerichtet hätten, und verwandelte den Eindruck, welchen die Rede des Lamachos auf die Zuhörer gemacht hatte, dergeſtalt in ſein Gegenteil, daß der Sophiſt aus Furcht vor einem Aufſtande ſich ſtill aus der Verſammlung entfernte.

Wie ſeine Denkart in vielem der des großen Perikles verwandt, ſo war auch der Vortrag des Demoſthenes jederzeit ernſt und nach einem Ausdrucke der Alten weniger der Anmut, als den „furchtbaren Grazien" geweiht. Aber dem Ernſte vermählte ſich die Milde zu einer wunderbaren Harmonie. Er war „ſtreng ohne Härte, feierlich ohne Gravität, mächtig ohne Übertreibung, natürlich ohne Gemeinheit". Mit der nüchternſten Klarheit und der ſorgfältigſten, in die Tiefe gehenden Behandlung ſeines Gegenſtandes verbindet er die innigſte Wärme der Empfindung, oder, mit einem Neueren zu reden: „die feſt verbundene Kette von Gedanken iſt bei ihm von dem lebendigſten Feuer des Affekts durchglüht". Indem er den Verſtand überzeugt, weiß er zugleich alle Gefühle des Herzens, welche er will, zu entzünden; und hierin liegt das Geheimnis der hinreißenden überwältigenden Macht ſeiner Reden, die ſich ſelbſt an dem Leſer einer ſpäten Nachwelt noch geltend macht. „Nehme ich eine Rede des Demoſthenes zur Hand" — ſagt der feinſinnige Kunſtrichter Dionyſius von Halikarnaß —, „ſo werde ich begeiſtert und fühle mich hierhin und dorthin getrieben. Ein Affekt nach dem andern bemächtigt ſich der Seele; Mißtrauen, Teilnahme, Furcht, Verachtung, Haß, Mitleid, Wohlwollen, Zorn, Scheelſucht, alle Affekte insgeſamt, welche das Gemüt beſtürmen, erwachen in mir. Ich unterſcheide mich in nichts von den Prieſtern der Kybele, die korybantiſche und ähnliche Feſte feiern und, ſei es durch Dämpfe, oder Töne, oder durch der Dämonen Einwirkung, ſich dermaßen angeregt fühlen, daß ſie viele und fremdartige Gefühle äußern.... Wenn nun der ſo lange Zeit hindurch in dieſen Schriften lebende Geiſt noch jetzt einen ſo ausgezeichneten Eindruck macht und noch gegenwärtig bei ihrer Leſung uns in Leidenſchaft verſetzt, wahrlich, ſo müſſen damals ſeine Reden als etwas Übernatürliches und Furchtbares betrachtet worden ſein."

In der Tat genoß Demoſthenes ſchon bei ſeinen Zeitgenoſſen ein Anſehen, welches auch ſeine erbittertſten Gegner nicht in Abrede ſtellen konnten. Philipp von Makedonien fürchtete die Reden des Demoſthenes mehr, als die Heere und Flotten der Athener. Selbſt bis zu den Barbaren drang ſein Ruhm, und der König der Perſer ehrte ihn als einen ſeiner mächtigſten Bundesgenoſſen gegen jenen gemeinſamen Feind der Perſer und Hellenen.

Doch hieße es die eigentliche Größe des Demoſthenes geradehin verkennen, wollte man ſeinen Ruhm ausſchließlich, oder auch nur größtenteils, ſeinen redneriſchen Leiſtungen beimeſſen. Die Erfolge ſeiner Kunſt beruhen auf der Größe ſeines ſittlichen Charakters. Er ſelber ſetzte den Wert eines Redners in die Reinheit und Zuverläſſigkeit ſeiner patriotiſchen Geſinnung. „Nicht das Wort des Redners", ſprach er, „iſt ehrenwert, auch nicht der Klang ſeiner Stimme, ſondern daß er gleiche Beſtrebungen hat, wie das Volk, und dieſelben Gegenſtände des Haſſes und der Liebe, wie das Vaterland." Der goldene Strom ſeiner Rede, wie die Fülle ſeiner Staatsweisheit, entſprang aus der Tiefe ſeines edelwollenden und hochgeſinnten Gemütes. Was er als das Rechte und Gute erkannt hatte, ſprach er mit rückſichtsloſer Entſchiedenheit und kühnem Freimut aus, und blieb unter allem Wechſel der äußeren Verhältniſſe immer ſich ſelbſt getreu. Panätios, einer der geachtetſten Moralphiloſophen des Altertums, gibt ihm das ſchöne Zeugnis: „Die meiſten Demoſthenischen Reden gründen ſich auf den Grundſatz, daß nur das Sittliche um ſeiner ſelbſt willen zu wählen ſei, wie z. B. die ‚Von der Krone', ‚Gegen Ariſtokrates', ‚Von den Freiheiten' und die ‚Philippiſchen Reden', in welchen allen er ſeinen Mit-

bürgern nicht sowohl das Angenehmste, das Leichteste und Vorteilhafteste empfiehlt, sondern sie vielmehr darauf hinweist, daß selbst die Sicherheit und gemeine Wohlfahrt gegen das, was schön und geziemend sei, zurückstehen müsse."

Solch ein Mann war von der Vorsehung berufen, Griechenland vor seinem nahenden Sturze zu warnen und ihm den einzigen Weg zu seiner Rettung, oder doch zu einem ehrenvollen Untergange zu zeigen. „Die Stütze eines sinkenden Staates zu sein, war sein schwerer Beruf. Dreißig Jahre blieb er ihm treu und wich nicht, bis er unter seinen Trümmern erschlagen ward."

## 59. Alexander der Große bei den Malliern. 326 v. Chr.

Von G. Pfizer.

Geschichte Alexanders des Großen. Gütersloh 1861. S. 275.

Auf seinem Zuge durch Indien kam Alexander auch zu den Malliern, welche sich ihm widersetzten und in ihrer Hauptstadt kräftigen Widerstand leisteten. Doch wurde dieselbe genommen, während die Indier sich in die Burg zurückzogen. Ungestüm eilte jetzt Alexander, auch die Burg zu gewinnen, riß einem eine Leiter tragenden Makedonier diese aus den Händen, weil es ihm zu langsam ging, legte sie an die Mauer und stieg selbst, mit seinem Schilde sich deckend, hinauf; hinter ihm kam auf derselben Leiter Peukestes hinauf mit dem heiligen Schilde, welchen Alexander aus dem Tempel der troischen Pallas mitgenommen hatte und den er in den Schlachten vorantragen ließ; auf der Leiter Alexanders stieg auch noch der Leibwächter Leonnatus hinauf und auf einer anderen in der Nähe Abreas. Schon war der König an der Brustwehr der Mauer, und mit dem Schild an derselben sich haltend, stürzte er einige Indier nach innen über die Mauer hinab; andere stach er mit dem Schwerte auf dem Platze nieder und hatte so die Mauer an diesem Punkte von Feinden gesäubert. Seine Rundschildner, in größter Besorgnis für ihren König, drängten sich hitzig alle nach den Leitern, so daß sie von der Wucht der vielen Hinaufklimmenden brachen, einige, die schon weit oben waren, herabstürzten, und den übrigen das Hinaufsteigen unmöglich wurde. Dem Alexander auf der Mauer wagte zwar kein Indier mehr nahezukommen, aber von allen Seiten her flogen Geschosse gegen ihn, der sich ebenso durch seine Kühnheit, wie durch den Glanz seiner Waffen auszeichnete. Er erkannte nun zwar, daß er sich hier großer Gefahr aussetze, ohne etwas Bedeutendes ausrichten zu können, bedachte aber auch, daß, wenn er von der Mauer in die Stadt hinabspränge, dies vielleicht die Indier einschüchtern würde; oder, wenn er sich einmal der Gefahr bloßstellte, wollte er doch zugleich eine große und kühne Tat verrichten und nicht ohne Möglichkeit der Gegenwehr sich zum Ziel der Geschosse machen, und so sprang er entschlossen hinab in das Innere der Burg. Hier lehnte er sich an die Mauer, um sich den Rücken zu decken, und streckte einige Indier, die sich ihm näherten, namentlich einen Häuptling, der keck auf ihn eindrang, mit dem Schwerte und mit Steinwürfen nieder, so daß die Feinde sich nicht mehr in seine Nähe wagten, sondern ihn nur umstellten und von allen Seiten Geschosse und Steine auf ihn warfen.

Peukestes, Abreas und Leonnatus, die einzigen, die vor dem Zerbrechen der Leitern die Mauer erstiegen hatten, waren inzwischen auch herabgesprungen und bildeten eine Schutzwehr für den König. Abreas ward von einem Pfeil ins Gesicht getroffen und sank; Alexander erhielt ebenfalls durch den Panzer hindurch einen Pfeilschuß in die obere rechte Brust, so daß neben dem Blut auch Luft durch die Wunde ausströmte. Solange sein Blut noch warm war, fuhr er fort, sich zu verteidigen; aber bei dem starken Blutverluste befiel ihn bald Schwindel und Ohnmacht, und er sank, auf den Schild gelehnt, zu Boden. Peukestes stellte sich über den Gefallenen und hielt den heiligen Schild von Troja vor; ebenso schirmte ihn Leonnatus von der anderen Seite; beide aber erhielten Schußwunden, und

Alexander war infolge des Blutverluſtes dem Tode nahe. Einige Makedonier hatten jedoch, durch die Angſt um ihren König zu den verzweifeltſten Anſtrengungen angeſpornt, auf verſchiedene Weiſe die Mauern erklommen und waren herabgeſprungen unter Wehklagen und Geſchrei, als ſie ihren König am Boden liegen ſahen. Einer um den andern ſtellte ſich vor den Gefallenen, und ein hitziger Kampf entſpann ſich. Endlich wurde ein Tor aufgeſprengt, die Soldaten ſtürzten herein, und die über das Schickſal ihres Königs Wütenden machten jetzt alles in der Stadt, Männer, Weiber und Kinder, nieder. Alexander aber wurde auf ſeinem Schilde weggetragen, noch in ſo ſchlimmem Zuſtande, daß man zweifelte, ob er gerettet werden würde. Man mußte ihm auf ſein eigenes Verlangen ſofort den Pfeil aus der Wunde ſchneiden, nachdem er ſelbſt mit dem Schwerte an der Oberfläche des Harniſches den Pfeil abzuſchneiden vergebens verſucht hatte; er befahl, ohne Furcht anzugreifen und die nötigen Einſchnitte zu machen; er ſchalt diejenigen Verräter, welche nicht wagten, ihm beizuſtehen, ſprach, der Verwundete, den Unverwundeten Mut ein und rief: „Niemand ſoll um meinetwillen ſich ſchwach und feig zeigen; man glaubt nicht, daß ich vor dem Tode keine Furcht habe, wenn ihr euch ſo vor dem meinigen fürchtet". Er verlor bei dieſer Behandlung ſoviel Blut, daß er wieder ohnmächtig wurde; doch wurde durch dieſe Ohnmacht auch das Blut geſtillt. Die Heilung der Wunde aber erforderte längere Zeit.

Während der König hier liegen bleiben mußte, kam zu dem Heere, das er zurückgelaſſen, die Nachricht, er ſei an ſeiner Wunde geſtorben. Zuerſt brach allgemeine, unbeſchreibliche Wehklage aus. Dann aber, als ſie verſtummte, trat an ihre Stelle große Mut- und Ratloſigkeit, und alle fühlten jetzt recht, wie Alexander die Seele und das Haupt des Heeres, wie unerſetzlich er ihnen war. Wer ſollte ſich jetzt von mehreren, welche ungefähr gleiche Anſprüche machen könnten, an die Spitze des Heeres ſtellen? fragten die Soldaten. Wie würden ſie ſich jetzt nach Hauſe durchſchlagen, rings umſchloſſen von ſo vielen ſtreitbaren Völkern, von welchen die einen, noch nicht unterworfen, ſich manuhaft für ihre Freiheit wehren, andere, befreit von der Furcht vor Alexander, ſich bald wieder erheben würden? Sie glaubten auch damals mitten zwiſchen unüberſchreitbaren Flüſſen zu ſtehen; und ohne Alexander ſahen ſie von allen Seiten unüberwindliche Hinderniſſe ſich ihnen entgegentürmen. Als endlich die Kunde kam, daß er lebe, und ſogar die ſchriftliche Nachricht von ihm ſelbſt eintraf, daß er bald wieder im Lager erſcheinen werde, wollten ſie es noch lange nicht glauben, weil die Furcht und Betrübnis ſie ganz zaghaft gemacht hatte, und hielten es für eine Täuſchung von ſeiten der ihn umgebenden Leibwächter und Feldherren. Deswegen ließ ſich Alexander, beſorgend, es möchte bei dem Heere zu Unruhen kommen, ſobald es nur möglich war, an das Ufer des Hydraotes und auf ein dort bereit liegendes Schiff tragen, um ſich ſo in das Lager zu begeben, welches ſich beim Zuſammenfluß des Akeſines und Hydraotes befand. Als das Schiff ſich dem Lager näherte, befahl der König, die Zeltdecke vom Hinterteile des Schiffes wegzunehmen, damit alle ihn ſehen könnten. Die Makedonier waren immer noch ungläubig, als wäre es nur der Leichnam Alexanders, den man bringe, bis dieſer beim Anlanden des Schiffes die Hand der Menge entgegenſtreckte. Jetzt ſchrieen ſie vor Freuden laut auf und erhoben die Hände teils gegen den Himmel, teils gegen den Alexander, und viele vergoſſen vor Freude und Überraſchung über die unerwartete Erſcheinung Tränen. Einige Rundſchildner näherten ſich, als er aus dem Schiffe gehoben wurde, mit einer Sänfte. Er aber befahl, ſein Pferd vorzuführen, und ſobald man ihn hoch zu Roſſe ſah, brach das ganze Heer in betäubenden Jubel aus, von welchem die Ufer und die nahen Wälder widerhallten. In der Nähe ſeines Zeltes ſtieg er vom Pferde, und nun drängten ſich alle von allen Seiten herzu; man ſuchte ſeine Hände, ſeine Kniee, ſeine Kleider zu berühren; andere wollten ihn nur in der Nähe ſehen; viele ſtreuten Bänder und Blumen auf ſeinen

Weg. So wurde ihm die ausgestandene Gefahr samt den Schmerzen der Wunde vergütet durch die herzliche Liebe seiner Soldaten, welche sich nie deutlicher kundgegeben hatte, als jetzt.

## 60. Romulus und die Gründung der Stadt Rom.

Von K. Peter.

Die Geschichte Roms. Halle 1870. Bd. I, S. 12.

Die Gründung Roms wird von der Überlieferung an Alba Longa geknüpft. Es wird darüber folgendes erzählt:

Einer der albanischen Könige, Prokas mit Namen, hinterließ bei seinem Tode die Krone seinem ältesten Sohne Numitor. Dieser wurde aber durch seinen jüngeren Bruder Amulius vom Throne gestoßen, und um auch sein Geschlecht nicht wieder auf denselben gelangen zu lassen, so ward sein Sohn getötet, und seine Tochter Rhea Silvia genötigt, Priesterin der Vesta zu werden und demnach unverheiratet zu bleiben. Die Vestalin gebar dennoch vom Mars Zwillingssöhne; allein Amulius ließ nun die Mutter töten und übergab die neugeborenen Knaben einem Diener, um sie in die Tiber auszusetzen.

Die Tiber hatte eben ihre Ufer überschwemmt. Der Diener konnte daher den eigentlichen Strom nicht erreichen und setzte die Mulde, in der sich die Knaben befanden, an den Rand des übergetretenen Wassers. Als dieses ablief, blieb das Gefäß in dem Umkreise der nachmaligen Stadt Rom an einem Feigenbaume (Ficus ruminalis), am Fuße des Mons Palatinus, hängen. Hier säugte eine Wölfin die Söhne des Gottes, dem der Wolf geheiligt war, und ein anderes, ebenfalls dem Mars geheiligtes Tier, der Specht, brachte ihnen Futter, bis endlich ein Hirt, namens Faustulus, sie fand, sich ihrer erbarmte und sie seiner Frau Acca Laurentia zuführte. So wuchsen sie bei diesem Hirtenpaare, welches auf dem palatinischen Hügel wohnte, unter den Namen Romulus und Remus ebenfalls als Hirten auf, zeichneten sich aber unter ihren Genossen bald dadurch aus, daß sie die streitbarsten unter allen waren und sich durch kühne Räubereien in der Gegend furchtbar machten. Ebendies aber gab die Veranlassung zu ihrer Entdeckung. Die benachbarten, durch jene Raubzüge verletzten Hirten lauerten den beiden Brüdern auf, um sich an ihnen zu rächen, und es gelang ihnen, des Remus habhaft zu werden, welcher vor Amulius gebracht und von diesem an Numitor abgegeben wurde, weil die Räubereien an dessen Eigentum verübt worden waren. Numitor, schon ohnehin — wie Astyages in dem ähnlichen Falle mit Cyrus — durch das freie, edle Wesen des Gefangenen aufmerksam geworden, wurde bald völlig durch Faustulus aufgeklärt, der es jetzt an der Zeit hielt, das bisher beobachtete Geheimnis zu lösen. Großvater und Enkel trafen nun die nötigen Verabredungen, um sich an Amulius zu rächen. Romulus kam mit einem Haufen seiner Genossen nach Alba, tötete den Amulius und setzte den Numitor wieder in die Herrschaft ein. Den beiden Jünglingen aber wurde es in der Heimat ihrer Vorfahren zu eng. Sie beschlossen also auf der Stelle, wo sie aufgewachsen waren, eine neue Stadt zu gründen, in der sie selbst die Herrschaft führen könnten.

Die Stadt wurde auf dem palatinischen Hügel in der Nähe der Tiber erbaut, einem der zahlreichen Tuffelsen der Campagna, die nur der Abschroffung ihrer Wände bedurften, um die nötige Sicherheit zu bieten, und auf denen deshalb auch sonst die ersten Niederlassungen in der Gegend gegründet zu werden pflegten. Indessen wurde doch auch um den Fuß herum eine Mauer geführt. Zu diesem Behuf zog man nach italienischem Brauche mit einem Pfluge, der mit einem Stier und einer Kuh bespannt war, eine Furche, welche die Linie des Grabens bezeichnete. Dabei wurde sorgfältig darauf geachtet, daß die Schollen beim Pflügen alle nach innen fielen; sie bezeichneten den Lauf der Mauer. An den Stellen der Tore

wurde der Pflug immer in die Höhe gehoben und darüber hinweggetragen, um hier den Bann offen zu erhalten; denn als solcher, als Bann, wurde jene Zeremonie angesehen, um das Eindringen des Feindes über die Mauer zu verhindern.

Als nun aber Rom in dieser Weise gegründet war, so entstand die Frage, wer die Stadt benennen und über sie herrschen solle. Die beiden Brüder vereinigten sich, die Entscheidung dieser Frage den Göttern zu überlassen, und nahmen daher, Romulus auf dem palatinischen, Remus auf dem aventinischen Berge Platz, um daselbst die Götterzeichen zu erwarten. Da erschienen zuerst dem Remus sechs Geier. In dem Augenblick aber, als dieses günstige Zeichen dem Romulus gemeldet wurde, erschienen diesem deren zwölf. Beide nahmen daher die Entscheidung der Götter für sich in Anspruch, indem der eine die frühere Zeit, der andere die größere Zahl geltend zu machen suchte. Hierüber kam es zum Streit, dann zum Handgemenge zwischen den beiden Brüdern und ihren Genossen, in welchem Remus erschlagen wurde.

Nach einer anderen Sage spottete Remus über die niedrigen Mauern der Stadt und erlaubte sich sogar, zum Hohn darüber zu springen. Hierüber ergrimmte Romulus und erschlug seinen Bruder, zugleich zum Wahrzeichen, daß hinfort kein Feind die Mauer ungestraft übersteigen solle.

Romulus gab nunmehr der Stadt den Namen Roma und richtete daselbst seine Herrschaft ein. Die Bevölkerung ward dadurch vermehrt, daß er am Abhange des kapitolinischen Berges ein Asyl errichtete, wo alle, die ihr Vaterland hatten verlassen müssen und demnach ohne Heimat waren, eine Zuflucht fanden. Hierauf ordnete er sein Heer, welches anfänglich aus 3000 Mann zu Fuß und 300 Reitern, oder nach einer anderen Überlieferung nur aus 1000 Mann zu Fuß und 100 Reitern bestanden haben soll, und setzte als seinen Beirat einen Senat von 100 Mitgliedern ein. Dies waren die Altbürger, jenes die streitbaren Männer, dieses die Ältesten des eigentlichen vollberechtigten römischen Volkes, welches in seinen mündigen männlichen Personen zugleich die Volksversammlung bildete. Neben diesen gab es noch Hörige oder Klienten, welche von den Vollbürgern abhängig waren und nur durch diese den nötigen Schutz erlangten. Den Klienten gegenüber führten die Vollbürger den Namen Patrizier.

Allein das neue Volk war zwar tapfer und stark, aber es entbehrte der Frauen und damit der Bedingung seines Fortbestandes; denn es war aus jungen unverheirateten Hirten und aus heimatlosen Flüchtlingen entstanden, und mit den benachbarten Staaten war noch kein Bündnis geschlossen, dessen es in der alten Welt zur Schließung von rechtsgültigen Ehen zwischen den Angehörigen verschiedener Staaten bedurfte. Die Ehewerbungen der Römer in den benachbarten Städten wurden mit Hohn zurückgewiesen, wohl auch mit der Antwort, man möge doch auch für die Frauen, wie für die Männer, ein Asyl errichten. Da griff Romulus zu einer List. Es wurden Festspiele zu Ehren des Neptun veranstaltet und die Nachbarn dazu eingeladen. Diese kamen aus Neugier mit Weib und Kindern. Mitten unter der Festfeier aber gab Romulus das verabredete Zeichen, und nun stürzten die Römer auf ihre Gäste los, ergriffen die Jungfrauen, die sich unter ihnen befanden, trugen sie als Beute nach ihren Häusern und zwangen sie, ihre Frauen zu werden. Die übrigen unter den Gästen stoben auseinander und kehrten mit Ingrimm gegen die Römer nach ihrer Heimat zurück, wo sie sofort zum Kriege rüsteten.

Am ersten brachen die Bewohner der zwischen Anio und Tiber gelegenen lateinischen Stadt Cänina los. Sie waren aber den Römern bei weitem nicht gewachsen. Sie wurden daher geschlagen, und ihre Stadt genommen, aber nicht zerstört, sondern mit einer Kolonie von Römern besetzt. Romulus hatte in der Schlacht den feindlichen Feldherrn Acro getötet und ihm die Waffen abgenommen. Er genoß also zuerst die Ehre, dem Jupiter, mit dem Beinamen Feretrius, eine solche besonders

ruhmvolle Beute (spolia opima genannt) darzubringen, was nachher im Laufe der römischen Geschichte nur noch zweimal geschehen ist.

Das gleiche Schicksal wie Cänina hatten auch Antemnä und Crustumerium, zwei andere latinische Städte, erstere diesseits des Anio, letztere jenseits dieses Flusses gelegen, die wie jenes so töricht waren, den Krieg für sich allein anzufangen.

Gefährlicher aber war der Krieg mit den in Cures wohnenden Sabinern, die ebenfalls bei jenem Raub beteiligt waren, sich aber besser gerüstet hatten und nun unter ihrem König Titus Tatius bis vor Rom rückten. Es gelang ihnen, sich durch den Verrat der Tochter des Befehlshabers, Tarpeja, in den Besitz der Burg auf dem saturnischen, nachmals kapitolinischen Berge zu setzen. Hier blieben sie zuerst liegen, ohne sich zu einer Schlacht verlocken zu lassen, bis Romulus einen Versuch machte, die Burg zu stürmen. Da stiegen sie herab, und es entspann sich in der Ebene zwischen der Burg und dem palatinischen Berge ein blutiger, von beiden Teilen mit der größten Tapferkeit und Ausdauer geführter Kampf. Auf der Seite der Sabiner führte Mettius Curtius den Oberbefehl, auf der andern Seite wurde Romulus vom Hostius Hostilius und nach einer andern Sage auch noch von einem Etrusker Cäles Vibenna oder, wie er auch genannt wird, Lucumo im Oberbefehl unterstützt. Anfangs neigte sich das Glück zugunsten der Sabiner. Hostius Hostilius fiel, und die Römer wurden bis an das Tor ihrer Stadt zurückgetrieben. Auch Romulus wurde durch die Flucht mit fortgerissen. Aber am Tore erhob er die Waffen zum Jupiter und gelobte ihm als Stator, d. h. als fluchthemmendem Gott, ein Heiligtum. Dadurch gelang es ihm, die Schlacht wiederherzustellen. Ehe aber eine völlige Entscheidung erfolgte, warfen sich die geraubten Frauen zwischen ihre Väter und ihre Gatten und flehten beide an, daß sie aufhören möchten, sich gegenseitig zu morden und ihnen dadurch entweder die Väter oder die Gatten zu rauben. So wurde zwischen den Kämpfenden Friede und Bündnis geschlossen. Die Sabiner mit ihrem Könige Tatius nahmen ihre Wohnsitze auf dem kapitolinischen und quirinalischen Berge, bildeten aber mit den Römern unter König Romulus einen Staat, und als Tatius nach einiger Zeit bei einer Opferhandlung in Lanuvium erschlagen wurde, hörte auch diese Doppelherrschaft auf, und der ganze Staat kehrte wieder unter des Romulus Herrschaft zurück.

Seit dieser Vereinigung wurde dem ersten Hundert der Senatoren noch ein zweites hinzugefügt, und in gleichem Verhältnis wurde auch das Heer vermehrt. Auch wurde den Sabinern noch die besondere Auszeichnung gewährt, daß ihr Name dem des römischen Volkes hinzugefügt und demnach das vereinigte Volk populus Romanus Quiritium (Quirites hießen nämlich die Sabiner von der Stadt Cures) genannt wurde: weshalb später in gewissen Fällen der letztere Name auch allein für das ganze römische Volk gebraucht wurde.

Durch diese Verstärkung der Macht der neugegründeten Stadt wurde indes die Eifersucht der benachbarten Städte Fidenä und Veji erregt: beides etruskische Städte, erstere in dem Winkel zwischen Anio und Tiber, letztere jenseits der Tiber, wenige Meilen von Rom entfernt liegend. Beide Städte begannen daher den Krieg. Allein die Fidenaten wurden durch einen Hinterhalt besiegt, und sogar ihre Stadt erobert. Die Vejenter erlagen in offener Feldschlacht der erprobten Tapferkeit der Römer und mußten diesen einen Teil ihres Gebietes auf dem rechten Ufer der Tiber abtreten.

Dies waren die Taten des Romulus während seiner 37jährigen Regierung (753—716). Sein Ende war ebenso wunderbar wie seine Geburt. Als er nämlich einst eine Volksversammlung hielt, entstand plötzlich ein furchtbares Gewitter, das ihn in dichte Finsternis hüllte, und als es wieder hell wurde, so war er verschwunden. Ein angesehener Mann aber, namens Proculus Julius, meldete dem Volke: der König sei ihm erschienen und habe ihm verkündet, daß er von den Göttern zum

Himmel erhoben worden sei, und zugleich, daß Rom nach dem Willen der Götter bestimmt sei, das Haupt des Erdkreises zu werden. Die reflektierende Kritik erzählte jedoch später auch, er sei von den Vornehmen aus dem Wege geräumt worden, weil er sich gegen sie ebenso hart und herrschsüchtig, als mild gegen die Niedrigen erwiesen habe.

## 61. Pyrrhos.

Von Th. Mommsen.

Römische Geschichte. Berlin 1874. Bd. I, S. 334. (Gekürzt.)

Nichts anderes als ein abenteuernder Kriegshauptmann war König Pyrrhos von Epeiros; er war darum nicht minder ein Glücksritter, daß er seinen Stammbaum zurückführte auf Nakos und Achilleus, und daß er, wäre er friedlicher gesinnt gewesen, als „König" über ein kleines Bergvolk unter makedonischer Oberherrlichkeit, oder auch allenfalls in isolierter Freiheit hätte leben und sterben können. Man hat ihn wohl verglichen mit Alexander von Makedonien; und allerdings, die Gründung eines westhellenischen Reiches, dessen Kern Epeiros, Großgriechenland, Sicilien gebildet hätten, das die beiden italischen Meere beherrscht und Rom wie Karthago in die Reihe der barbarischen Grenzvölker gedrängt haben würde, — dieser Gedanke ist wohl groß und kühn wie derjenige, der den makedonischen König über den Hellespont führte. Aber nicht bloß der verschiedene Ausgang unterscheidet den östlichen und den westlichen Heerzug.... Denn was man auch sonst ins Auge faßt, die eigene Macht, die Bundesgenossen, die Kräfte der Gegner: — überall erscheint der Plan des Makedoniers als eine ausführbare, der des Epeiroten als eine unmögliche Unternehmung; jener als die Vollziehung einer großen geschichtlichen Aufgabe, dieser als ein merkwürdiger Fehlgriff; jener als die Grundlegung zu einem neuen Staatensystem und einer neuen Phase der Zivilisation, dieser als eine geschichtliche Episode. Alexanders Werk überlebte ihn, obwohl der Schöpfer zur Unzeit starb; Pyrrhos sah mit eigenen Augen das Scheitern aller seiner Pläne, ehe der Tod ihn abrief. Sie beide waren kühne und große Naturen, aber Pyrrhos nur der erste Feldherr, Alexander vor allem der genialste Staatsmann seiner Zeit; und wenn es die Einsicht in das Mögliche und Unmögliche ist, die den Helden vom Abenteurer scheidet, so muß Pyrrhos diesen zugezählt und darf seinem größeren Verwandten sowenig zur Seite gestellt werden, als etwa der Connetable von Bourbon Ludwig dem Elften. — Und dennoch knüpft sich ein wunderbarer Zauber an den Namen des Epeiroten, eine eigene Teilnahme, die allerdings zum Teil der ritterlichen und liebenswürdigen Persönlichkeit desselben, aber mehr doch noch dem Umstande gilt, daß er der erste Grieche ist, der den Römern im Kampfe gegenübertritt. Mit ihm beginnen jene Beziehungen zwischen Rom und Hellas, auf denen die ganze spätere Entfaltung der antiken Bildung und ein wesentlicher Teil der modernen beruht. Der Kampf zwischen Phalangen und Kohorten, zwischen der Söldnerarmee und der Landwehr, zwischen dem Heerkönigtum und dem Senatorenregiment, zwischen dem individuellen Talent und der nationalen Kraft, — dieser Kampf zwischen Rom und dem Hellenismus ward zuerst durchgefochten in den Schlachten zwischen Pyrrhos und den römischen Feldherren; und wenn auch die unterliegende Partei noch oft nachher appelliert hat an neue Entscheidung der Waffen, so hat doch jeder spätere Schlachttag das Urteil lediglich bestätigt. Wenn aber auf der Walstatt wie in der Kurie die Griechen unterliegen, so ist ihr Übergewicht nicht minder entschieden in jedem anderen nicht politischen Wettkampf, und eben schon diese Kämpfe lassen es ahnen, daß der Sieg Roms über die Hellenen ein anderer sein wird, als der über Gallier und Phönizier, und daß

Aphroditens Zauber erſt zu wirken beginnt, wenn die Lanze zerſplittert, und Helm und Schild beiſeite gelegt iſt.

König Pyrrhos war der Sohn des Aakides, des Herrn der Moloſſer, welcher, von Alexander geſchont, als Verwandter und getreuer Lehnsmann nach deſſen Tode in den Strudel der makedoniſchen Familienpolitik hineingeriſſen ward und darin zuerſt das Reich und dann das Leben verlor. Sein damals ſechsjähriger Sohn ward von dem Herrn der illyriſchen Taulantier, Glaukias, gerettet und im Laufe der Kämpfe um Makedoniens Beſitz, noch ein Knabe, von Demetrios, dem Belagerer, wieder zurückgeführt in ſein angeſtammtes Fürſtentum, um es nach wenigen Jahren durch den Einfluß der Gegenpartei wieder einzubüßen und als landflüchtiger Fürſtenſohn im Gefolge der makedoniſchen Generale ſeine militäriſche Laufbahn zu beginnen. Bald machte ſeine Perſönlichkeit ſich geltend. Unter Antigonos machte er deſſen letzte Feldzüge mit; der alte Marſchall Alexanders hatte ſeine Freude an dem geborenen Soldaten, dem nach dem Urteile des ergrauten Feldherrn nur die Jahre fehlten, um ſchon jetzt der erſte Kriegsmann der Zeit zu ſein. Die unglückliche Schlacht bei Ipſos brachte ihn als Geiſel nach Alexandrien an den Hof des Ptolemäus, wo er durch ſein kühnes und derbes Weſen, ſeinen alles Nichtmilitäriſche gründlich verachtenden Soldatenſinn nicht minder des ſtaatsklugen Königs Aufmerkſamkeit auf ſich zog, als durch ſeine männliche Schönheit, der das wilde Antlitz, der gewaltige Tritt keinen Eintrag tat, die der königlichen Damen. Ebendamals gründete der kühne Demetrios ſich wieder einmal, diesmal in Makedonien, ein neues Reich, natürlich in der Abſicht, von dort aus die Alexandermonarchie zu erneuern. Es galt, ihn niederzuhalten, ihm daheim zu ſchaffen zu machen, und Ptolemäus, der ſolche Feuerſeelen, wie der epeirotiſche Jüngling eine war, vortrefflich für ſeine feine Politik zu nützen verſtand, tat nicht bloß ſeiner Gemahlin, der Königin Berenike, einen Gefallen, ſondern förderte auch ſeine eigenen Zwecke, indem er dem jungen Fürſten ſeine Stieftochter zur Gemahlin gab und dem geliebten „Sohn" zur Rückkehr in die Heimat ſeinen Beiſtand und ſeinen mächtigen Einfluß lieh. Zurückgekehrt in ſein väterliches Reich, fiel ihm bald alles zu; die tapferen Epeiroten, die Albaneſen des Altertums, hingen mit angeſtammter Treue und friſcher Begeiſterung an dem mutigen Jünglinge, dem „Adler", wie ſie ihn hießen. In den um die makedoniſche Thronfolge nach Kaſſanders Tod entſtandenen Wirren erweiterte der Epeirote ſein Gebiet bedeutend und widerſtand mit weit geringeren Streitkräften dem König Demetrios zur Bewunderung der Makedonier ſelbſt. Ja, als Demetrios in Makedonien vom Thron geſtürzt war, trug man dort dem ritterlichen Gegner, dem Verwandten der Alexandriden, denſelben freiwillig an. In der Tat, keiner war würdiger als Pyrrhos, das Diadem Philipps und Alexanders zu tragen. In einer tief verſunkenen Zeit, in der Fürſtlichkeit und Niederträchtigkeit gleichbedeutend zu werden begann, leuchtete hell Pyrrhos' perſönlich unbefleckter und ſittenreiner Charakter. Für die freien Bauern des makedoniſchen Stammlandes, die, obwohl gemindert und verarmt, ſich doch fernhielten von dem Verfall der Sitten und der Tapferkeit, ſchien eben Pyrrhos recht eigentlich zum König geſchaffen; er, der gleich Alexander in ſeinem Haus, in ſeinem Freundeskreiſe allen menſchlichen Beziehungen ſein Herz offen erhielt und das in Makedonien ſo verhaßte orientaliſche Sultanweſen ſtets von ſich abgewehrt hatte; er, der gleich Alexander anerkannt der erſte Taktiker ſeinerzeit war. Aber das ſeltſam überſpannte makedoniſche Nationalgefühl, das den elendeſten makedoniſchen Herrn dem tüchtigſten Fremden vorzog, bereitete der Herrſchaft des epeirotiſchen Fürſten ein ſchnelles Ende. Pyrrhos, der die Herrſchaft über Makedonien mit dem Willen der Makedonier nicht führen konnte und zu ſchwach, vielleicht auch zu hochherzig war, um ſich dem Volke gegen deſſen Willen aufzudrängen, überließ ſchon nach ſieben-

monatlicher Herrschaft das Land seiner einheimischen Mißregierung und ging heim zu seinen treuen Epeiroten. Aber der Mann, der Alexanders Krone getragen hatte, der Schwager des Demetrios, der Schwiegersohn des Lagiden und des Agathokles von Syrakus, der hochgebildete Feldherr, der wissenschaftliche Abhandlungen über die Kriegskunst schrieb, konnte unmöglich sein Leben darüber beschließen, daß er zu gesetzter Zeit im Jahre die Rechnungen des königlichen Viehverwalters durchsah und von seinen braven Epeiroten die landüblichen Geschenke an Rindern und Schafen entgegennahm, um sich alsdann am Altare des Zeus von ihnen den Eid der Treue erneuern zu lassen und selbst den Eid auf die Gesetze zu wiederholen und, diesem allen zu mehrerer Bekräftigung, mit ihnen die Nacht hindurch zu zechen. So wandten sich seine Blicke in die Weite. Die Könige, die um Makedoniens Besitz haderten, obwohl sonst in nichts einig, waren gern bereit, gemeinschaftlich zu helfen, daß der gefährliche Nebenbuhler freiwillig ausscheide; und daß die treuen Kriegsgenossen ihm folgen würden, wohin er sie führte, dessen war er gewiß. So entschloß sich Pyrrhos, auf seine makedonischen Pläne zu verzichten und im Westen eine neue Herrschaft für sich und die hellenische Nation zu gründen.

## 62. Römische Bilder.

Von W. Wägner und B. Volz.

Rom. Leipzig 1887. Bd. II. (Gekürzt.)

### a. Ein Besuch bei einem vornehmen Römer. (S. 318.)

Betreten wir das Haus eines vornehmen Römers, um die inneren Räume desselben, die Möbel und die ganze künstlerische Ausstattung kennen zu lernen. — Auf dem Fußboden im Eingang ist ein grimmiger Bullenbeißer in Mosaik angebracht mit der Inschrift: cave canem (hüte dich vor dem Hunde). In den einzelnen Zimmern finden wir nicht die Mannigfaltigkeit eines modernen Mobiliars, da die vielfachen Arten von Schränken, Konsolen u. dgl. fehlen; aber Tische, Stühle, Ruhebetten in wechselnden Formen, die Mosaik des Bodens, kostbare Teppiche, Statuen und Kunstwerke bieten reichen Ersatz. Man hatte in den Schlafzimmern zwar noch wie in früherer Zeit aufgemauerte Lagerstätten, aber auch Gestelle von Holz, Elfenbein oder Bronze, später von Silber, auf welche gestickte Decken und mit dem weichsten Flaume gefüllte Matratzen und Pfühle ausgebreitet wurden. Einige Stühle, ein schön geformter Waschtisch und eine Kleiderkiste vollendeten das Geräte des Schlafgemachs. Außerdem hat dasselbe ebenso wie die übrigen Räume einen reichen Schmuck an Skulpturen und Malereien. Besonders häufig findet man die Genrebildnerei angewendet, die zum Teil älteren Werken nachgeahmt ist. Da sieht man, um einige noch erhaltene Statuen dieser Art zu nennen, den Knaben mit der Gans, der siegesfroh den ergriffenen Vogel festhält und dem Beschauer die mutwillige, ausgelassene Kindesnatur zur Anschauung bringt. Das Urbild wurde wohl in besserer Zeit gleich nach dem großen Alexander gefertigt; allein die erhaltene Nachbildung ist des Musters nicht unwürdig. Vielleicht stammt sie aus der berühmten Künstlerschule von Rhodus, welche in der letzten Zeit der römischen Republik noch blühte. Ferner findet man den Dornauszieher, den Kuhmelker, eine jugendliche Astragalspielerin u. a.

Außer den Kunstwerken verdienen auch die Erzeugnisse des Kunsthandwerks Beachtung. Kandelaber, Henkelkelche und mannigfaches Schmuck- und Hausgerät von ausgezeichneter Arbeit in Bronze und Edelmetall ist uns erhalten, auch Hausaltäre von großer Schönheit. Einen besonderen Fabrikationszweig bildeten die Vasen und Krüge, welche in Arbeit und Bemalung vielfach an griechische Muster

ſich anlehnen oder wenigſtens erinnern. Da die Römer gern in möglichſt bequemer Lage der Ruhe pflegten, ſo fehlte es in den Gemächern nicht an Ruhebetten nach Art unſerer Sofas. Den linken Arm auf ein Polſter geſtützt, beſchäftigten ſie ſich mit Leſen und Schreiben. Daher bemerkt man an mehreren Ruhebetten Vorrichtungen für die Anbringung eines Leſepults mit Büchern und Schreibzeug. Verſchieden von dieſen Lagerſtätten ſind die Triklinien[1]) in den Speiſeſälen.

Das Triklinium iſt glänzend geſchmückt, die feine Moſaik des Fußbodens zeigt ſeltſamerweiſe in ihren Bildern Kehricht und von den Tiſchen herabgefallene Brocken. Aus dem tiefblauen Grunde der Wände ſcheinen die gemalten Bilder hervorzutreten. Es ſind leichte, ſchwebende Geſtalten, Tänzerinnen, Genien, geflügelte Eroten[2]), darunter auch ein eingelaſſenes, trefflich ausgeführtes Tafelbild, welches Leda darſtellt mit dem Neſt in den Händen, in dem die Säuglinge Helena und die Dioskuren ruhen. In verſchiedenen Niſchen ſind Porträtſtatuen mehrerer Kaiſer aufgeſtellt, auch die Büſte Homers. In den Ecken ſtehen Bildſäulen, nach alten Muſtern ausgeführt. Ein prachtvoll gearbeiteter Kandelaber von Bronze, deſſen Fuß von knieenden Knaben in Email getragen wird, iſt beſtimmt, mit wohlriechender Flamme das Gemach zu erhellen, wenn das Gelage bis in die Nacht fortgeſetzt wird. Das Speiſe-Triklinium ruht auf drei Marmorfüßen mit zierlicher Schwingung und iſt in Form eines Halbmondes gebildet. Außerdem befinden ſich im Zimmer noch andere Tiſche mit ſchön geformten Füßen von Jaſpis, Marmor und Bronze. Auf ihnen ſtehen Nippſachen, Amphoren und Koſtbarkeiten, welche den Reichtum des Hauſes vor Augen ſtellen. Da erblickt man Becher und Vaſen, mit Edelſteinen verziert, gläſerne Schalen, aus deren blaßgrünem Grunde dunkelgrüne Blumen und Arabesken hervorſchimmern. . . .

(S. 888.) Doch wenden wir uns von den glänzenden Gemächern der Hauptſtadt, in der ſoviel Glanz und Pracht mit Mühſeligkeit, Sorge und Verbrechen nahe beieinander wohnen, nach den friſchen Bergen des alten Sabinerlandes. Die patriarchaliſche Einfalt, der ländliche Fleiß auf dem eigenen beſchränkten Gütchen herrſcht auch hier nicht mehr. Landhäuſer, Gärten und Parkanlagen haben den Bauernſtand verdrängt, aber die Seeen blitzen noch aus Waldesdunkel und Wieſengrün hervor, und der Wechſel von Berg und Tal erfreut das Auge des Wanderers, der auf der wohlunterhaltenen Straße dahinſchreitet. Wir treten mit ihm in das prächtige Landhaus des reichen Spurinna. Da iſt alles wohnlich und bequem eingerichtet, keine Überladung, kein übertriebener Aufwand an Ornamenten und Schauſtücken, wohl aber Bildwerke, Statuen und Hausgeräte, die von edlem Kunſtſinn zeugen.

Die Ahnenbilder im Tablinum[3]) reden von dem Glanze des alten Hauſes; die Marmorſtatuen im Periſtyl[4]), das halbmondförmige Triklinium von Marmor und korinthiſchem Erz bezeugen den Reichtum des Eigentümers.

Im Atrium[5]) ſteht der Hausherr, ein würdiger Greis, bekleidet mit der Tunika von ägyptiſcher Leinwand und der Lacerna, einem ärmelloſen, oben aufgeſchlitzten Überwurfe, den eine goldene Fibula auf der Schulter feſthält. Es iſt noch früh am Tage; er nimmt ein frugales Frühſtück ein von Brot, Oliven und Rahmkäſe; dann geht er durch die Laubengänge des Gartens. Unterwegs beſichtigt er das wohlbeſtellte Vogelhaus, das Pfauen, Faſanen und anderes Ge-

---

[1]) Sitze für drei Perſonen. — [2]) Liebesgötter. — [3]) Zimmer an der ſchmalen Seite des Atriums, dem Eingange gegenüber. — [4]) Säulenſtellung rings um das Gebäude. — [5]) Saal, in den man aus dem Vorplatze (ostium) trat.

flügel bevölkern, und den Fischteich, der die Tafel mit seinen Bewohnern versorgt. Durch eine Hintertür tritt er ins Freie, wo seine Sklaven mit dem Einheimsen des Weizens beschäftigt sind. Alle arbeiten mit Lust; sie grüßen den alten Herrn ehrerbietig, aber ohne Furcht; denn Fesseln und Peitschen sind nicht üblich. Nachdem er hier gelobt, dort einen Säumigen getadelt hat, wandelt er nach dem Parke. Da ist an rieselnder Quelle unter schattigem Blätterdach ein Sitz eingerichtet. Er nimmt Platz und zieht eine Bücherrolle hervor, um darin in behaglicher Ruhe zu lesen. Es ist der griechische Dichter Theokrit, den er zur Unterhaltung mit sich genommen hat. Nach beendeter Lektüre kehrt er auf einem andern Wege ins Haus zurück, um sich durch ein zweites Frühstück zu stärken. Hierauf sieht er die Rechnungen seiner Verwalter durch, liest in verschiedenen Rollen, die seine ausgesuchte Bibliothek ihm bietet, und empfängt dann die Besuche mehrerer Nachbarn und Freunde. Mit ihnen unterhält er sich angelegentlich über Land- und Gartenbau, über verschiedene Dichter, auch über die Geheimnisse der Astrologie und Magie, die Kraft der Alraunwurzel und ähnliche Dinge.

Man ist noch im eifrigen Gespräche begriffen, als die Diener zu Tische rufen. Das Triklinium duftet von Rosen und Spezereien. Die Speisen sind einfach, aber gut und nahrhaft, die Platten und Teller aus Silber und korinthischem Erz von gediegener Arbeit. Zum Schlusse des Mahles finden sich einige Schauspieler ein, welche Scenen aus den Lustspielen des Menander vortragen. Nach diesem geistigen Genuß gruppieren sich die Gäste zum Spiel. In diesem Hause, wo Anstand und guter Ton vorherrschen, ist besonders das Spiel auf der tabula latruncularia, das unserm Schach nicht unähnlich ist, beliebt. Man sucht mit Steinchen von Glas, Elfenbein und Metall die Feindlichen zu schlagen oder festzusetzen. Die einbrechende Dämmerung trennt die heitere Gesellschaft, die nun die Ruhe aufsucht.

### b. Handel und Industrie. (S. 404.)

Der Verkehr zu Wasser und zu Lande, das Großgewerbe einzelner waren zur Zeit der römischen Kaiser in beständiger Zunahme, während der Mittelstand immer mehr zurückging. Rom blieb Mittelpunkt, das Herz des großen Staatskörpers; dahin flossen die Steuern und Schätze, welche die Beamten trotz aller Aufsicht erpreßten. Die Verschwendung der Großen sorgte freilich dafür, daß die Geldströme wieder in die Provinzen zurückfluteten. Alexandrien, Massilia, Gades, Byzanz, Antiochien, das ferne Palmyra, die Inseln Kos, Naxos, Rhodos und Delos waren Stapelplätze des römischen Welthandels.

Diese Handelsstädte und viele andere betrieben den Verkehr durch ihre zahlreichen Schiffe zu Wasser, wie durch Karawanen zu Lande. Einzelne Unternehmer unterhielten Schiffe auf dem Roten Meere, die aus Indien kostbare Stoffe, Schildpatt, Elfenbein und Gewürze holten. Karawanen brachten zu Lande Pelzwerk, serischen Stahl, seidene Zeuge und für die Fabriken auch rohe Seide. Der Senator Probus, der später Kaiser wurde, hatte sich durch solchen Handel und Geschäftsbetrieb ein Vermögen von mehr als 20 Millionen in liegenden Gründen und soviel bares Geld erworben, daß er den Sold des ganzen Heeres aufbringen konnte.

Noch reicher war der fast gleichzeitig lebende Firmus in Ägypten. Er versicherte, daß der Ertrag seiner Papierfabriken hinreiche, den Unterhalt eines Heeres zu bestreiten. Auch der Handel mit den Blemmyern, welche den Verkehr mit dem inneren Afrika unterhielten, war in seinen Händen, und noch größeren Gewinn führten ihm seine Handelsflotten aus Indien zu. Höchst einträglich waren

ferner die Fabriken in Metall, Elfenbein, Schildpatt, Wolle, Linnen und Purpur. Probus, der Vorsteher einer Färberei in Alexandrien, machte die wichtige Erfindung, dem Purpur Glanz zu geben, was seinem Fabrikat den reichsten Absatz verschaffte. Noch schöner gefärbte scharlachrote Zeuge erhielt man aus Persien, wo man wahrscheinlich Kermes statt der Purpurschnecke verwendete. Interessant ist, daß in den Fabriken zum Abschreiben der Bücher auch Mädchen verwendet wurden.

Nachteilig für den Privaterwerb waren die kaiserlichen Anlagen, welche ähnlichen Betrieb bezweckten. Es gab in allen Teilen des Reiches Webereien und Färbereien für den Hof; die Fabrikation der Waffen für die Kriegsmacht und das dahingehörige Maschinenwesen war vollständig in den Händen der kaiserlichen Regierung und geschlossenen Zünften von Metallarbeitern und Waffenschmieden übertragen. Die Gesellen mußten, ehe sie aufgenommen wurden, ein Probestück fertigen und wurden hierauf mit einem glühenden Eisen am Arme gezeichnet, damit sie nicht entlaufen konnten. In Gallien unterhielt man acht solcher Waffenfabriken, mit denen zugleich Zeughäuser und Arsenale verbunden waren. Eine sehr ergiebige Einnahmequelle waren ferner die Bergwerke, die, mit Ausnahme der hispanischen Silberminen, nur vom Staate ausgebeutet wurden. Man findet Spuren römischen Betriebes im Westerwald, wo jedoch der Ertrag von Silbererzen nicht bedeutend war, in Siebenbürgen, besonders aber in Oberägypten; daselbst wurde auf Gold gegraben. In heißer Bergwüste am Roten Meere fand man auch Smaragde, doch von geringem Gehalte. Einträglicher waren die Porphyrgruben in demselben Gebirgszuge, östlich vom Nil. Man hat daselbst zwei römische Ortschaften mit Mauern und Türmen entdeckt, wo Porphyrblöcke von sechzehn Meter Länge, desgleichen Sarkophage, Mörser und ähnliche Fabrikate zerstreut umherlagen. Seit dem Kaiser Claudius waren die Gruben unter dem Schutze von fünfhundert Soldaten in Betrieb. Man schiffte die Erzeugnisse mühseligen Fleißes nach dem Roten Meere und weiter auf bereitgehaltenen Fahrzeugen durch den Trajanskanal in den Nil und sofort nach Alexandrien. Als der Kanal versandete, gab man die Steinbrüche gänzlich auf.

## 63. Sittenverfall in Rom.

Von R. Wernicke.

Die Geschichte der Welt. Berlin 1883. Bd. I (Altertum), S. 663.

Die Freiheit Roms war zugrunde gegangen, und wie hätte dieselbe bewahrt bleiben können bei einem so ganz entarteten Volke, bei dem auch nicht mehr eine Spur von der alten Einfalt und Reinheit der Sitten zu finden war! — Habsucht, Prunksucht, Genußsucht und sinnlose Schwelgerei hatten alle Stände des Volkes in gleicher Weise ergriffen. Einzelne besaßen unermeßliche Reichtümer; so hatten die Güter des Crassus allein einen Wert von mehr als zehn Millionen Talern, und hielt er niemand für reich, der nicht imstande wäre, von seinem Vermögen ein ganzes Kriegsheer zu unterhalten. Dem Pompejus war ein asiatischer König an fünf Millionen Taler schuldig. Ebenso ungeheuer war die Schuldenlast anderer; so hatte Cäsar, als er nach Spanien ging, nicht weniger als etwa sechs Millionen Taler Schulden. Die Provinzen wurden dabei durch Erpressungen auf das furchtbarste ausgesogen. So fand Lucullus, als er als Statthalter nach Asien kam, diese Provinz in der traurigsten Lage. Sulla hatte dem Lande eine Strafe von 20 000 Talenten (über fünfundzwanzig Millionen Taler) auferlegt, und diese Summe war durch die hohen Zinsen schon auf das Sechsfache gestiegen. Zollpächter und Wucherer sogen das Land vollständig aus; viele gerieten in Sklaverei, andere wurden auf das scheußlichste mißhandelt; sie wurden gefoltert, mußten im Sommer den glühendsten Sonnenstrahlen ausgesetzt, im Winter bei der härtesten Kälte in Eis und Schnee stehen. Lucullus half ihnen, soviel er konnte; er verordnete, daß niemand mehr als zwölf Prozent Zinsen nehmen sollte, daß die Zinsen

nie das Kapital überſteigen dürften, und daß kein Gläubiger ſeinem Schuldner mehr als den vierten Teil ſeiner Einkünfte nehmen ſollte. Aber ſo menſchenfreundliche Statthalter wie Lucullus waren ſelten; die meiſten dachten nur darauf, wie ſie Schätze zuſammenhäufen wollten. Dieſe vergeudete man nachher wieder auf die ſinnloſeſte Weiſe. Beſonders große Summen verſchwendete man auf den Bau der Wohnhäuſer und der Villen. Das Haus des Clodius z. B. koſtete nicht weniger als 800,000 Taler zu bauen. Einmal wurde ein Haus in Rom für eine Million Taler verkauft.

Von außen konnten die Häuſer der Römer keinen beſonders glänzenden Eindruck machen, obgleich es ihnen auch im Äußeren an Schmuck nicht fehlte. Sie waren meiſtenteils ſehr niedrig, nur ein Stockwerk hoch, hatten entweder gar keine, oder doch nur kleine Fenſter und waren dabei ſehr unregelmäßig gebaut, indem ſich über einzelne Teile noch ein zweites Stockwerk erhob. Um ſo ſchöner und glänzender waren ſie im Innern. Die Zimmer waren ſämtlich um einen unbedeckten Raum gruppiert, der auf allen Seiten von bedeckten Hallen eingeſchloſſen war. Je größer ein Haus war, um ſo mehr ſolcher inneren Höfe hatte es. In der Mitte derſelben befanden ſich prächtige Brunnen und Gärtchen, und die ſie umgebenden Hallen wurden mit Säulen und Statuen geſchmückt. Die Wohn- und Schlafzimmer waren nur klein, deſto größer die Räume für den Empfang von Beſuchen, beſonders jene Höfe, die auch den ſie umgebenden Zimmern Licht und Luft gewährten. Die Fußböden beſtanden meiſtenteils aus Steingetäfel, oft waren ſie aber auch aus kleinen, bunten Stiften von Ton, Glas, Marmor und anderen zum Teil koſtbaren Steinen gebildet, welche man zu Gemälden oder wenigſtens geometriſchen Figuren zuſammenſetzte (Moſaikfußböden). Die Wände waren entweder mit künſtlichem oder wirklichem Marmor bekleidet, oder noch häufiger mit Malerei geſchmückt, wobei man die Farben, um ſie friſch zu erhalten, häufig mit einem Firnis von Wachs und Öl überzog. Auch das Holzwerk an den Decken wurde bemalt, oder mit koſtbaren Stoffen belegt. Ebenſo vergoldete und bemalte man die Vertiefungen zwiſchen dem Gebälk, oder legte ſie mit Elfenbein aus. In den Speiſeſälen hatte man ſogar Decken, die durch eine verborgene Maſchinerie ſich hoben und ſenkten.

Die Gerätſchaften in den Zimmern waren bei weitem nicht ſo zahlreich wie bei uns. Es gab weder Schreibtiſche, noch Glasſchränke, noch Kommoden, noch Wandſpiegel, ſondern nur Ruhebetten, Tiſche, Stühle und Kandelaber: aber dieſe waren dafür auch deſto prächtiger. Das Geſtell der Ruhebetten beſtand häufig aus Erz oder aus köſtlichem Holze, mit Elfenbein, Schildpatt und edlem Metall ausgelegt, und hatte oft elfenbeinerne, ſilberne oder goldene Füße; über die mit weichſtem Flaum gefüllten Polſter wurden purpurne, oft köſtlich gewirkte oder geſtickte Decken gebreitet. Ebenſo hatte man prächtige, gepolſterte Lehnſtühle und Armſeſſel. Ungeheurer Luxus wurde mit den Tiſchen getrieben. Ein Tiſch von afrikaniſchem Cypreſſenholz koſtete 71 500 Taler. Selbſt Cicero bezahlte einen Tiſch, deſſen runde Platte aus einem Stücke beſtand, mit mehr als 50 000 Talern. Außer dieſen koſtbaren Tiſchen, die gewöhnlich auf einer elfenbeinernen Säule ruhten, hatte man auch kleinere aus Marmor, Silber und Gold, meiſt viereckig. Auch an kunſtreich gearbeiteten Vaſen aus Bronze, Silber, Gold und anderem edlen Metall fehlte es nicht; ebenſo hatte man mit Edelſteinen beſetzte, ja ſogar ganz aus Edelſtein gefertigte Gefäße, und die kunſtreichen Glasarbeiten, welche namentlich aus Alexandrien kamen, übertrafen alles, was unſere Zeit in dieſer Art hervorgebracht hat; ſo wurde in einem Grabe bei Pompeji eine Glasvaſe mit herrlichen blauen und weißen Basreliefs gefunden.

Mit nicht geringerer Pracht waren die Villen der reichen Römer ausgeſtattet. Keiner verwandte darauf größere Summen als Lucullus. Alles, was zur Bequemlichkeit und Annehmlichkeit dient, fand ſich dort in reichſter Fülle: Gymnaſien[1]), Bäder, bedeckte Gänge, Rennbahnen, Gärten, Gemälde, Bildſäulen und Kunſtſachen. An der Seeküſte bei Neapel beſaß er ein Landgut, bei welchem er Berge durchſtechen und Kanäle vom Meere aus graben ließ, um das Seewaſſer in ſeine Fiſchteiche zu leiten. Selbſt im Meere ließ er Luſthäuſer bauen.

---

[1]) Turnhallen.

Außerdem beſaß er prächtige Villen bei Tusculum, mit offenen Sälen, Galericen und Warten, welche die herrlichſte Ausſicht gewährten. Pompejus, der ihn einſt dort beſuchte, tadelte ihn, daß er das Landhaus für den Winter habe zu luftig bauen laſſen. „Du trauſt mir doch weniger Verſtand zu als den Kranichen und Störchen", erwiderte ihm Lucullus lachend, „daß ich nicht meine Wohnung nach den Jahreszeiten verändern ſollte." Von dem Redner Hortenſius, dem Vater der Hortenſia, erzählt man, er habe ſeine Bäume mit Wein begoſſen.

Ebenſo wurden die ungeheuerſten Summen in den Gaſtgelagen verſchwendet. Einer der größten Feinſchmecker jener Zeit war Apicius, der ſich, als er ſein Vermögen bis auf etwa 250000 Taler verpraßt hatte, vergiftete, weil er fürchtete, er würde Hungers ſterben müſſen. Auch an der Tafel des Lucullus herrſchte ungewöhnliche Pracht und Verſchwendung, ſowohl in betreff der mit Purpur überzogenen Polſter und der goldenen, mit Edelſteinen beſetzten Trinkgeſchirre, als der ausgeſuchteſten, künſtlich zubereiteten Speiſen und Leckereien. Als er einſt allein war und eine einfachere Mahlzeit als gewöhnlich fand, fuhr er den Sklaven zornig an: „Wußteſt du denn nicht, daß Lucullus heute bei Lucullus ſpeiſt?" Cicero und Pompejus, die dies erfuhren, luden ſich unerwartet bei ihm zu Gaſte, aber mit der Bedingung, die Mahlzeit ſollte ſein, wie wenn er allein ſpeiſte. In der Tat gab er den Sklaven keine Anweiſung weiter, als daß er im „Apollo" ſpeiſen wolle. Er hatte aber verſchiedene Speiſezimmer, und für jedes war die Summe beſtimmt, welche die Mahlzeit in demſelben koſten mußte; der „Apollo" war das teuerſte; jede Mahlzeit in demſelben koſtete über 10000 Taler. So konnten nun Cicero und Pompejus von ihrem Staunen gar nicht zurückkommen, als ſie eine ſo glänzende Mahlzeit bereitet fanden wie noch nie, und ſie hatten ihren Zweck doch nicht erreicht.

Von der alten Einfachheit in den Speiſen war jetzt keine Spur mehr. Früher hatte man in keiner Haushaltung einen Koch gehabt, denn derſelbe würde keine Beſchäftigung gefunden haben; jetzt durfte er in keinem größeren Hauſe fehlen. Auch Bäcker hatte man nicht im Hauſe gehabt, und es gab auch in der Stadt niemand, der die Bäckerei als Gewerbe getrieben hätte; vielmehr war das Backen Sache der Frauen und Sklavinnen. Jetzt war das alles anders; ja man ging in unſinniger Verſchwendung ſoweit, daß man ſich nicht damit begnügte, durch die künſtliche Zubereitung leckerer Speiſen den Gaumen zu kitzeln, ſondern daß man vielmehr darauf ausging, die ſeltenſten Dinge aus allen Ländern, ohne Rückſicht auf ihre Schmackhaftigkeit, in möglich größter Fülle herbeizuſchaffen, bloß weil ſie recht teuer waren. Die Hauptmahlzeit begann zwiſchen zwei und drei Uhr nachmittags und dauerte oft bis tief in die Nacht hinein. Man eröffnete dieſelbe mit allerlei Gerichten, die nur dazu dienten, die Eßluſt zu reizen, mit leichtem Gemüſe, Schaltieren, leicht verdaulichen Fiſchen in pikanten Saucen u. ſ. w. Darauf folgte die eigentliche, urſprünglich aus zwei, ſpäter aus drei, ja oft aus ſieben Gängen beſtehende Mahlzeit und endlich als Nachtiſch Backwerk und dergleichen. Ein Hauptbeſtandteil eines ſchwelgeriſchen römiſchen Mahles waren Fiſche. Man ließ Muränen aus der ſiciliſchen Meerenge, ja aus Tarteſſus in Spanien kommen, Störe von Rhodus; eine Seebarbe von ſechs Pfund wurde oft mit mehr als vierhundert Talern bezahlt. Großer Luxus wurde mit den Auſtern getrieben, die man aus Brunduſium, Tarent, ja ſogar aus Britannien holte und nach dem Transport erſt eine Zeitlang mäſtete. Pfauen ließ man aus Samos kommen; Krammetsvögel mußte man das ganze Jahr hindurch auf der Tafel haben können; ja, man bereitete ganze Gerichte aus Flamingozungen und aus dem Gehirne dieſes Vogels. Bei Volksfeſten gab man außer dem heimiſchen Falerner drei Sorten fremder Weine (Sicilianer, Lesbier und Chier), und der Redner Hortenſius hatte in ſeinem Keller ein Lager von 10000 Krügen fremden Weines, jeden zu 33 Quart. Eine große Schar von Sklaven wurde zur Bereitung der Speiſen und zur Bedienung bei der Mahlzeit gehalten, und auch in dieſer Beziehung unterſchied ſich die ſpätere Zeit durchaus von der früheren.

In alter, einfacher Zeit begnügte man ſich mit wenigen Sklaven; ſelbſt Konſuln wurden nur von einer geringen Dienerſchaft begleitet, wenn ſie ins Feld zogen, und vielleicht nur ein Sklave wurde zur perſönlichen Bedienung gebraucht; in der letzten Zeit der Republik

dagegen dienten ganze Scharen von Sklaven nur zur Bedienung und Begleitung ihres Herrn. So hatte Clodius auf der Reise ein Gefolge von Sklaven bei sich, und selbst Cicero, der den mit der Zahl der Sklaven getriebenen Aufwand vielfach tadelt, meinte doch, die geringste Zahl, die ein anständiger Mann halten könne, sei zehn. Später stieg die Zahl der Sklaven wahrhaft ins Unglaubliche. Man hielt Tausende derselben; man mußte sie förmlich, wie die Soldaten, in Dekurien abteilen, um Ordnung in das Heer zu bringen; und die vornehmeren unter diesen Sklaven hielten sich oft selbst wieder Sklaven zu ihrer Unterstützung. Dem angesehensten war die Aufsicht über das ganze Hauswesen und die übrige Dienerschaft übertragen. Außer ihm gab es Kassierer, Ärzte, Chirurgen, Vorleser, Schreiber, Musiker unter denselben; auch an Narren und Zwergen fehlte es nicht. Zu den geringeren Sklaven gehörten die Türhüter, die, welche die Aufsicht über die Wohn- und Schlafzimmer führten, die ihren Herrn beim Ausgehen begleiteten; andere gingen ihm voraus, um ihm im Gedränge Platz zu machen; besonders groß aber war das Gefolge auf Reisen, wo man in der späteren Zeit das unsinnigste Gepränge mit Vorreitern und Läufern trieb. Für geschickte Sklaven wurden oft unglaubliche Summen bezahlt; so wird berichtet, daß für einen Sklaven circa 5000 Taler gegeben worden seien.

Die Lage der römischen Sklaven war eine sehr harte. Der Herr hatte unbedingte Gewalt über sie, konnte sie auf die grausamste Weise martern und töten; ja, es war gesetzlich bestimmt, daß, wenn ein Herr von einem seiner Sklaven ermordet war, alle seine Sklaven sterben mußten. Besonders taten sich die römischen Damen durch Härte gegen ihre Dienerinnen hervor, und es war selten, daß eine von den Sklavinnen, die sie bei der Toilette zu bedienen hatten, anders, als geschlagen, zerkratzt, oder mit Nadeln zerstochen, die Arbeit beendigte. Ist es zu verwundern, wenn bei solcher Behandlung die Sklaven im allgemeinen tückisch und feindlich gegen ihren Herrn gesinnt waren, den sie hassen und oft verachten mußten? Staunen muß man vielmehr darüber, daß es doch an Beispielen aufopfernder Treue und Hingebung von Sklaven gegen ihre Herren nicht fehlte.

Eine Lebensweise, wie die eben geschilderte, erforderte natürlich den Besitz ungewöhnlicher Geldmittel, und um sich durch hohe Ämter dieselben zu verschaffen, suchten die Bewerber um ein Amt (Kandidaten, d. h. Weißgekleidete, so genannt wegen der glänzend weißen Toga, die sie trugen) das Volk durch Bestechungen aller Art für sich zu gewinnen. Sie waren herablassend und zuvorkommend auch gegen die ärmsten Bürger. Ihr Haus stand einem jeden offen, und wenn sie ausgingen, redeten sie jeden, der ihnen begegnete, beim Namen an, erkundigten sich teilnehmend nach seinem Ergehen, nach seiner Familie, sagten ihm irgend etwas Verbindliches. Sie hielten sich besondere Sklaven, welche die Namen und Verhältnisse aller Leute in der Stadt kannten und nichts weiter zu tun hatten, als ihnen beim Ausgehen dieselben anzugeben. Doch solche Freundlichkeit genügte nicht; man mußte dem Volke wirkliche Vorteile verschaffen, um es für sich zu gewinnen. So durften denn Geld- und Getreideausteilungen nicht gespart werden. Der geizige Crassus speiste während seines Konsulats das Volk einmal an zehntausend Tischen und ließ jedem noch soviel Getreide geben, als er auf drei Monate brauchte. Cäsar veranstaltete eine Mahlzeit an 22 000 Tafeln, an denen etwa 200 000 Menschen speisten, und in jedem Zimmer befanden sich zwei Fässer voll Wein. Auch Sulla speiste das Volk auf dem Forum mehrere Tage lang. Außer solchen Mahlzeiten wurden zur Bestechung des Volkes besonders auch glänzende Spiele veranstaltet. „Brot und Spiele!“ das war das gewöhnliche Geschrei des römischen Pöbels.

Besonderes Wohlgefallen fand man an Tiergefechten und Fechterspielen. Schon seit den Zeiten des Marius und Sulla gab es Leute, die ein besonderes Gewerbe daraus machten, kräftige und gewandte Sklaven aufzukaufen und im Fechten zu üben, worauf sie dieselben dann an die Veranstalter von Festen vermieteten oder verkauften. Diese Fechtersklaven (Gladiatoren) mußten dann auf den Tod miteinander kämpfen. Verließ einen die Kraft, so senkte er die Waffen und rief auf solche Weise die Gnade des Volkes an, die ihm dadurch zuteil wurde, daß die Zuschauer den Daumen niederdrückten. Geschah dies nicht, so mußte er weiter kämpfen, bis er den tödlichen Streich empfing. Der Sieger erhielt als Belohnung

einen Palmzweig, oft auch Geld; der höchſte Lohn aber war ein hölzernes Schwert, durch deſſen Überreichung er von dem weiteren Dienſt als Gladiator befreit wurde. Bald ſuchte ein Feſtgeber den andern durch die Zahl der Gladiatoren zu übertreffen. Cäſar brachte zu den Spielen, die er als Ädil veranſtaltete, ſoviele zuſammen, daß man fürchtete, er wolle politiſche Zwecke dadurch erreichen, und durch ein Geſetz die Zahl der gleichzeitig auftretenden Gladiatoren beſchränkte. Dennoch ließ er dreihundertundzwanzig Paare miteinander kämpfen. Cicero veranlaßte auch ein Geſetz, daß Kandidaten während der zwei ihrem Amte vorangehenden Jahre keine Fechterſpiele veranſtalten ſollten; aber dies Geſetz ſcheint nicht lange beobachtet worden zu ſein. Zu den Tierkämpfen brachte man die wilden Tiere, die ſich zur Beluſtigung eines entarteten Pöbels untereinander zerfleiſchen mußten, in unglaublicher Zahl zuſammen. Der Geſchichtſchreiber Livius erzählt, daß einmal zugleich dreiundſechzig Panther, vierzig Löwen und eine Menge Elefanten losgelaſſen wurden. Sullas Stiefſohn Scaurus gab als Ädil einen Kampf zwiſchen hundertundfünfzig Tigern, fünf Krokodilen und einem Nilpferde; Pompejus ließ vierhundertundzehn Tiger, fünfhundert Löwen und hundert Elefanten zu einem einzigen Kampfe aus Afrika kommen; und doch wurde dies alles in ſpäterer Zeit noch weit übertroffen.

Die Amphitheater, in welchen dieſe Spiele veranſtaltet wurden, anfänglich bloße Brettergerüſte, die wieder weggenommen wurden, wenn die Spiele beendigt waren, wurden jetzt zu wahren Prachtgebäuden. Scaurus baute zu ſeinen Spielen ein hölzernes Amphitheater, das nur einen Monat ſtehen blieb. Dasſelbe konnte 80 000 Mann faſſen und hatte drei Stockwerke, getragen von dreihundertundſechzig Marmorſäulen, jede ſechsunddreißig Fuß hoch. Zwiſchen den Säulen ſtanden 3000 eherne Bildſäulen. Die Wände waren in den unteren Räumen mit Marmorplatten bekleidet, in der Mitte mit Glas, in den oberen Teilen mit vergoldeten Holztafeln und koſtbaren Gemälden und Teppichen; die Fußböden waren von Moſaik. — Ebenſo prachtvoll war das Amphitheater, welches Cäſar aufführen ließ. Es war reich mit Bildſäulen geſchmückt, die Sitze von Marmor, die Schranken von Jaſpis und Erz. Golddurchwirkte Teppiche waren über die Zuſchauerräume geſpannt, um ſie vor Sonnenglut und Regen zu ſchützen; wohlriechende Waſſer wurden durch künſtliche Maſchinerieen in die Höhe geführt und erfüllten, als feiner Staubregen niederfallend, den ganzen Raum mit den köſtlichſten Wohlgerüchen. — Das erſte ſteinerne Amphitheater in Rom ließ Pompejus aufführen; es wurde aber erſt unter Caligula vollendet. Es war auf 40 000 Zuſchauer berechnet und umſchloß zugleich einen großen, mit Bäumen bepflanzten und mit einem Springbrunnen und Bildſäulen geſchmückten Platz zur Erholung für die Zuſchauer.

Die Sitze für die Zuſchauer in den Amphitheatern liefen treppenartig und auf Bogengewölben ruhend rings um die Mauer, die das Ganze umſchloß. Die Sitzreihen waren vierzehn Zoll hoch und anfänglich ebenſo breit; ſpäter gab man ihnen aber eine weit größere Breite, bis zu ſechsundreißig Zoll, ſo daß man die Füße auf die nächſtunterſte Sitzreihe ſtellen konnte, ohne die darauf Sitzenden zu beläſtigen. Treppen durchſchnitten in gewiſſen Entfernungen alle Sitzreihen bis zu dem Gange hinunter, der die in dem tiefſten, mittelſten Raume befindliche Bühne (die Arena) umgab. Zuweilen hatte auch jede Treppe einen beſonderen Eingang von außen, der unter den Sitzgewölben fortgeführt wurde. Die Arena war durch Mauerwerk von den Sitzreihen geſchieden. Sie war entweder kreisförmig oder oval, und um ſie herum befanden ſich Gewölbe, die ſich weit unter die Sitzreihen hin erſtreckten und zu Behältern für die wilden Tiere, oder zum Aufenthaltsorte für die Gladiatoren dienten. Der unterſte Sitz, durch einen breiten Graben vom Kampfplatze getrennt und durch Gitterwerk gegen das Einbrechen der wilden Tiere geſchützt, hieß Podium und war für die Kampfrichter beſtimmt, denen die Liktoren zur Seite ſtanden. Auch der Veranſtalter der Spiele und die Veſtalinnen hatten hier ihren Ehrenplatz. An das Podium ſchloſſen ſich zunächſt die Sitze für die Senatoren, dann die für die Ritter, dann die für das übrige Volk. Ein Säulengang, der zu den Treppen führte, umgab oft das Ganze, und häufig ſtand über demſelben auch ein zweiter, dritter und vierter, von denen man durch Gänge und Treppen zu den höheren und niederen Sitzreihen gelangen konnte.

Nicht nur die unteren Volksklaſſen in Rom waren der Beſtechung zugänglich, ſondern ebenſo die vornehmſten. Cäſar gewann einen Volkstribun dadurch für ſich, daß er über 320000 Taler für ihn bezahlte; einem Konſul gab er an zwei Millionen, und ſolche Beſtechungen wurden auf die offenſte und ſchamloſeſte Weiſe betrieben. Dadurch mußte alle Sittlichkeit vollends untergraben werden, und dazu kam noch, daß das Familienleben gänzlich zerrüttet war.

Die hohe Achtung, welche man vor der Heiligkeit der Ehe hegte, machte in früherer Zeit Eheſcheidungen zu etwas ganz Unerhörtem. Schon ein altes, auf Romulus zurückgeführtes Geſetz beſtimmte, daß eine Frau ihren Mann gar nicht verlaſſen, der Mann aber die Frau nur wegen Giftmiſcherei und anderer ſchwerer Verbrechen verſtoßen dürfte. Wer ſich aus einem andern Grunde von ſeiner Frau ſchiede, von deſſen Vermögen ſoll ein Teil der Frau zufallen, das andere der Ceres geweiht werden; und wenn es auch übertrieben iſt, daß erſt 520 Jahre nach der Gründung Roms die erſte Eheſcheidung daſelbſt vorgekommen ſein ſoll, ſo war eine ſolche doch gewiß höchſt ſelten, und die Senatoren ſtießen ſogar einmal einen Senator aus dem Senat, weil er ſich ohne Zuziehung des Familiengerichts von ſeiner Frau geſchieden hatte. Deſto häufiger wurden die Eheſcheidungen ſeit den puniſchen Kriegen, und es iſt kaum zu glauben, wie leichtſinnig und willkürlich man dabei verfuhr. So verſtieß ein Mann ſeine Frau, weil ſie außer dem Hauſe ſich mit unbedecktem Haupte hatte ſehen laſſen, ein anderer die ſeinige, weil er ſie heimlich hatte mit einer Freigelaſſenen ſprechen ſehen, ein dritter die ſeinige, weil ſie ohne ſein Wiſſen gewagt hatte, den öffentlichen Spielen zuzuſchauen. Zuletzt trennte man ſich ebenſo ganz nach Belieben, wie man leichtſinnig die Ehe geſchloſſen hatte; ſelbſt die Angeſehenſten im Staate, wie Sulla, Cäſar, Pompejus, Antonius, Octavianus, verſtießen ihre Frauen ohne jeden vernünftigen Grund. Wieweit mußte es gekommen ſein, wenn ſelbſt ein Mann wie Marcus Cato kein Bedenken trug, ſich auf die Bitte eines Freundes von ſeiner Frau ſcheiden zu laſſen und dieſe demſelben abzutreten, nach dem Tode dieſes Freundes aber dieſelbe Frau zum zweiten Male zu heiraten. Man heiratete, um durch den Einfluß der Frau Macht zu gewinnen, und verſtieß die Frau, wenn eine neue Heirat mehr Gewinn verſprach, ſo daß der jüngere Cato ausrief: „Durch Weiber und Heiraten werden Heere und Ämter vergeben“. Und ebenſo leichtfertig löſten Frauen die Ehe auf, ſo daß ein alter Schriftſteller ſagt, ſie zählten ihre Jahre nicht nach der Zahl der Konſuln, ſondern ihrer Männer; ſie gingen aus, um zu heiraten, und heirateten, um ſich ſcheiden zu laſſen, während in alter guter Zeit eine Frau, die ſich zum zweiten Male ſelbſt nach dem Tode ihres Mannes vermählte, gar keine Achtung genoß.

Wie wir hierin einen traurigen Verfall der Sitten auch bei den Frauen bemerken, ſo iſt derſelbe auch in ihrer ganzen Lebensweiſe unverkennbar. In früherer Zeit hatten die Mütter ihren größten Ruhm darin gefunden, ihre Kinder trefflich zu erziehen. Jetzt kümmerten ſich die vornehmen Römerinnen um die Erziehung der Kinder gar nicht; vielmehr überließen ſie dieſelbe Sklaven, welche man Pädagogen nannte. In vornehmeren Familien nahm man dazu beſonders Griechen; denn es gehörte zum guten Tone, Griechiſch zu ſprechen, wie etwa heutzutage Franzöſiſch. Dieſe Pädagogen waren die ſteten Begleiter der Knaben; ſie führten dieſelben in die Schule und blieben auch während des Unterrichts bei ihnen, wie bei den Mädchen ihre Wärterinnen, und dieſe oft anmaßenden, mürriſchen und unwiſſenden Menſchen konnten natürlich für den Mangel einer ſorgſamen, liebevollen mütterlichen Leitung keinen Erſatz gewähren. Die Frauen dagegen brachten ihre Zeit mit nichtigen Dingen hin; ſie ſchauten den öffentlichen Spielen zu, oder ſie waren am Putztiſch beſchäftigt.

Das letztere erforderte allerdings viel Zeit. Wenn ſogar geachtete Männer, wie Hortenſius, ſtundenlang vor dem Spiegel ſtehen konnten, um die Toga in künſtliche Falten zu legen, ſo läßt ſich erwarten, daß die Frauen auf ihren Anzug keine geringere Sorgfalt verwandten. Die Palla wurde auf die zierlichſte Weiſe angelegt; man ſchminkte ſich weiß und rot, verbrauchte Salben und köſtliche Spezereien und Eſſenzen in verſchwenderiſcher Menge; auch der Haarputz erforderte keine geringe Mühe. Man gab dem Haare künſtlich eine rötliche Farbe, friſierte es oft in der unförmlichſten Weiſe, ſo daß ſich über der Stirn ein bogen-

förmiges, häufig aus mehreren Etagen beſtehendes Toupet erhob, welches nach der Mitte zunahm; Diademe und anderer Hauptſchmuck von Gold und Perlen durften auch nicht fehlen. Überhaupt war der Putz der römiſchen Damen ſehr koſtſpielig. Man trug Schmuckſachen aus Gold mit Perlen und Edelſteinen verziert, beſonders Halsbänder und Halsketten, die oft bis zur Bruſt hinabreichten, Armbänder, meiſt in Schlangenform, Ohrgehänge, Ringe. Von den daran befindlichen Perlen koſtete zuweilen eine einzige mehr als hunderttauſend Taler, und ſo können wir uns nicht wundern, wenn uns berichtet wird, daß eine Frau für mehr als zwei Millionen Taler Schmuckſachen an ſich getragen habe. . . . .

Zu dem allen kam nun noch der gänzliche Verfall der Staatsreligion. Die Ehrfurcht vor dem, was dem Römer ſonſt heilig geweſen, war längſt verſchwunden; die Bekanntſchaft mit helleniſcher Wiſſenſchaft und Philoſophie hatte den Glauben an die alten Götter aufs tiefſte erſchüttert, und bald war dem in Herrſchſucht, Habgier und Genußſucht untergegangenen Römer nichts mehr heilig. Götterbilder und Tempelſchätze wurden aus den unterworfenen Ländern nach Rom geſchleppt, um die dortigen Heiligtümer oder Kunſtſammlungen zu ſchmücken und die Habgier beuteluſtiger Eroberer zu befriedigen. In der Zeit der Proſkriptionen wurden auch in Rom ſelbſt die Tempel nicht mehr heilig gehalten; man riß die Geächteten von den Altären hinweg; man tötete ſie im Heiligtume ſelbſt. Man ſpottete über die Religion, wenn auch nicht alle ſoweit gingen, wie der ſittenloſe Clodius, der in Cäſars Hauſe die Myſterien entweihte und auf den Trümmern des von ihm zerſtörten Hauſes Ciceros zum Hohne einen Tempel der Freiheit errichtete, in welchem er die Bildſäule einer Hetäre als Gottheit aufſtellte. Mit dem troſtloſeſten Unglauben ging der traurigſte Aberglaube, ſelbſt bei den Gebildetſten, Hand in Hand; ſo bei Sulla, ſo ſelbſt bei Cäſar, der bei ſeinem vierfachen Triumphe die Stufen des Jupitertempels auf den Knieen hinaufrutſchte. Man warf bei allen möglichen Gelegenheiten das Los; Traumdeuter fanden vortrefflich ihre Rechnung; die Sterndeuterei wurde ſchon wiſſenſchaftlich betrieben; Geiſterbeſchwörungen waren an der Tagesordnung. So iſt es zu allen Zeiten geweſen; der Menſch kann ſich einmal dem Gefühle nicht entziehen, daß er von einer höheren, unſichtbar über ihm waltenden Macht abhängig iſt. Daher kam es auch, daß mit der zunehmenden Gleichgültigkeit gegen die Staatsreligion fremde Religionen in Rom immer mehr Eingang fanden, namentlich die geheimnisvollen Götterdienſte des Orients, wie die des perſiſchen Sonnengottes Mithras, der Iſis, des Oſiris, der Aſtarte und andere, die einen reichen Inhalt ahnen ließen und dadurch das kalte, leere Gemüt zu erwärmen und zu befriedigen verſprachen, aber gleichzeitig immer tiefer in Üppigkeit und Sinnenluſt hineinzogen. So mußte denn die Sittenloſigkeit immer furchtbarer überhandnehmen; Giftmiſcherei, Verbrechen der ſcheußlichſten Art vermehrten ſich auf die grauenerregendſte Weiſe. Ein Volk, das ſo ganz ſeine ſittliche Freiheit verloren hatte, konnte auch die äußere Freiheit ſich nicht länger bewahren, der es nicht mehr fähig und würdig war, und ſo mußte das Gebäude der römiſchen Republik, durch und durch morſch geworden und in ſeinen Grundfeſten erſchüttert, rettungslos zuſammenbrechen.

## 64. Charakter des Auguſtus.

Von K. Hoeck.

Römiſche Geſchichte vom Verfall der Republik bis zur Vollendung der Monarchie unter Konſtantin. Braunſchweig 1841 Bd. I, Abteil. 1, S. 421.

Über den Charakter des Auguſtus hat das Altertum geſchwankt und die neuere Zeit ſich nicht verglichen. Die Urteile ſind jedoch der Mehrzahl nach verdammend ausgefallen. Ja, man häuft gemeinhin nicht bloß Schmähungen ohne Maß und Ende auf die Eigenſchaften ſeines Herzens, ſondern erniedrigt mit auffallender Ungerechtigkeit auch die ſeines Geiſtes. Die kriegeriſche Vorſicht Auguſtus' wird häufig als Feigheit gedeutet; die Gehilfen bei der Gründung ſeines Prinzipats, Mäcen und Agrippa, ſollen deſſen eigentliche Schöpfer ſein, und erſterem ſoll der Herrſcher ſogar das Syſtem der Staatsverwaltung verdanken, dem er ſeinen Namen lieh. Allerdings war Auguſtus nicht ebenſo glücklich bei eigener Ausführung von Schlachten, wie in deren Anordnung und oberſter Leitung; indes gegen den Vorwurf der Feig-

heit schützten ihn unter anderem die Wunden, welche er bei der Erstürmung von Metulum erhielt, und von außerordentlichem Mute zeugt sein Benehmen gegen meuterische Legionen, wie sein Eindringen in das Lager des Lepidus auf Sicilien. Die Anschuldigung der Unselbständigkeit ist aber vollends ungereimt bei einem Manne, der, wie seine ganze Geschichte beweist, alle Verhältnisse und Personen einem Lebensplane dienstbar zu machen wußte, den er von seinem 18. Jahre an mit eiserner Konsequenz verfolgte. Wie man dem Augustus außerordentliche geistige Kräfte nicht absprechen kann, so sind auch seinem Charakter nicht alle Tugenden fremd. Selbst die Tadler mußten einräumen, daß neben der vermeinten Blutgier auch Beweise von Schonung und Weichheit des Gefühls bei dem Rätselhaften sich zeigen; daß der kalte Egoist auch hilfreiche Freigebigkeit gegen Notleidende übt und aufmerksame Sorge dem Wohle seiner Beherrschten widmet. Solche Widersprüche zu reimen, nahm man eine plötzliche Umwandlung Augustus' an, welche leicht das Wunderbarste von allem sein möchte. Die Geschichte bedarf dieser Hypothese nicht, um den Triumvir und den Kaiser zu verstehen.

Ein scharfer Verstand, schlaue Besonnenheit und ein brennender Ehrgeiz bildeten die natürliche Ausstattung Augustus'; die Schule Cäsars und der Stolz auf die Erbschaft dieses großen Mannes schufen den Usurpator. Mit klarer Überlegung und festem Willen unternahm er es, die Alleinherrschaft Roms zu erringen und sich zu sichern. Dieses Ziel war die Triebfeder seiner Handlungen, deren Wert von dem aufstrebenden Machthaber lediglich nach ihrer Zweckmäßigkeit gemessen wurde. Seine Herrschsucht bebte vor keiner Maßregel zurück, die ihm Förderung auf der Bahn zum Throne versprach. Von der Stufe seiner früheren Verhältnisse konnte Oktavian nur durch Verstellung sich ihm nähern, und er übte sie im weitesten Umfange. Täuschung, Unredlichkeit, Verrat bezeichnen überall seine Schritte. Die Liebe zu Cäsar war eine Maske seiner selbstsüchtigen Absichten; die angebliche Rache an dessen Mördern sollte das Blutbad von Tausenden entschuldigen. Jedoch Rachsucht beherrschte ihn sowenig, wie irgend eine andere Leidenschaft. Die Politik bildete das Gesetz seines Handelns; sie war der Grund alles Bösen, ja selbst das meiste Gute bei ihm hatte keine andere Quelle. Zu blutigen Maßregeln griff er nicht aus Lust am Morden, sondern weil sein Zweck sie gebot oder zu gebieten schien. Ohne Proskription der Reichen hatte er kein Heer, mit dem er die Republik stürzen konnte, und ohne den Mord der angesehensten Republikaner gab es keine Monarchie für ihn.

Als Rom zu des Siegers Füßen lag, hatten die Blutscenen ein Ende, weil Augustus sie jetzt unnötig fand und andere Maßregeln für nützlicher erkannte. Er gibt nun Beweise von Versöhnlichkeit, Milde, Gerechtigkeit und vielen anderen rühmlichen Eigenschaften. Der Grund davon liegt nicht etwa in einer unbegreiflichen Umwandlung seines Innern, sondern in seiner veränderten Stellung zu den Römern. Das Werk der Eroberung war vollbracht, das der Staatsreform begann; die Gemüter sollten versöhnt und gewonnen werden; der neue Herrscher wollte sich empfehlen. Von allen gehässigen Eigenschaften, welche an dem Triumvir hervortreten, ist ihm nur die Verstellung geblieben, weil er sie für unentbehrlich hielt, um sich zu sichern, was sie ihm hatte erwerben helfen. Auch der gewordene Herrscher erkannte wohl, was noch später Galba aussprach, daß Rom weder völlige Freiheit, noch gänzliche Knechtschaft ertragen könne; Heuchelei blieb eine tätige Gehilfin bei seiner Regierung und diente ihm, um die Widersprüche zwischen der kaiserlichen Gewalt und dem Schein der Republik zu heben.

Augustus' Leben war so ganz von der Politik durchschlungen, daß das Reinmenschliche zu sehr zurücktritt, um ein vollgültiges Urteil darüber zu gestatten. Selbst in seinem Familienkreise hatte er mannigfache Aufforderung zur Vorsicht und Zurückhaltung. Wie mußte sein Verhältnis zu Livia sein, wenn der Gemahl sich veranlaßt sah, die wichtigeren Gespräche mit ihr vorher aufzuzeichnen! Indessen die

kalte Gemeſſenheit wurde nicht ſtets und gegen alle Glieder ſeines Hauſes behauptet; ja, wir haben bei Sueton der Andeutungen genug, die es zeigen, daß Auguſtus' Inneres keineswegs den Regungen heiterer Gemütlichkeit verſchloſſen war. Gern ſah er ſich von ſeinen Enkeln umgeben, welche häufig mit ihm zuſammen ſpeiſten und ihn gewöhnlich auf Reiſen begleiteten; der Großvater beſchäftigte ſich ſogar mit ihrem Unterricht. Auguſtus hatte ein reges Gefühl für Freundſchaft und war ein ebenſo beſtändiger, als nachſichtiger Freund. Am häufigſten öffnete ſich ſein Herz zu unbefangener Vertraulichkeit im Hauſe Mäcens; hier verſchwand der Kaiſer, und der Menſch trat vollgültig hervor. — Es iſt weniger auffallend, daß die ſtarre Hülle einer kalten Staatsklugheit in den Augenblicken der Muße und Erholung bei dem Herrſcher ſank, als daß ſie nicht überhaupt das natürliche Gewand ſeiner äußeren Perſönlichkeit bildete. Auguſtus' Körpergeſtalt, eher klein als groß, aber von gefälligem Ebenmaß aller Teile, war keine ſteife, imponierende Erſcheinung, ſondern eine wohltuende. Mochte er ſchweigen oder reden, ein heiterer Friede ruhte auf ſeinem Geſichte, der ſolchen Zauber übte, daß der Arm des Meuchelmörders bei dem Anſchlag auf ihn erlahmte. Sein Auftreten wirkte auf die Umgebung zunächſt wie das eines biederen, würdevollen Alten. Nur dem genaueren Betrachter gewährte er einen bedeutſameren Eindruck; denn die großen und klaren Augen, vor denen ſich jeder getroffene Blick ſenkte, offenbarten die Schärfe ſeines durchdringenden Verſtandes. Wie dieſe Seelenkraft bei ihm alle anderen überragte, ſo hat auch die Politik, bis er das Ziel ſeiner Beſtrebungen erreicht, den Menſchen in ihm verdunkelt.

Die Geſchichte wird ſtets den Stab brechen über den blutbefleckten, heuchleriſchen Triumvir; doch den Tadel, welchen ſie auf den werdenden Herrſcher häuft, darf ſie nicht auf den gewordenen ausdehnen. Eine gerechte Beurteilung muß es anerkennen, daß der ſichere Beſitz der Herrſchaft nicht das einzige und letzte Ziel ſeines Lebens war, ſondern die Schöpfung einer neuen Staatsordnung. Mit einer Anſtrengung, welche noch die Mühe ſeines Emporringens überſtieg, rief er einen Zuſtand der Staatsgeſellſchaft hervor, bei dem er keineswegs ſeinen eigenen Vorteil allein im Auge hatte. Daß die Verfaſſung, welche er ſchuf, auf keinem andern Grunde ruhte, als dem der faktiſchen Gewalt, und daß der Zwieſpalt zwiſchen Form und Weſen ſich ein paar Jahrhunderte fortſetzte, war ein großes Unglück für die Beherrſchten und ein noch größeres für die Herrſcher. Jedoch die Schuld davon fällt weniger auf Auguſtus, als auf die Macht von Verhältniſſen, welche er nicht beſiegen konnte. Dem Reiche verlieh er, was er vermochte: Frieden, Ruhe, heilſame Geſetze und eine beſſere Verwaltung. Dafür ward ihm der laute Dank und das begeiſterte Lob ſeiner Zeitgenoſſen. Rom, Italien und die Provinzen waren ſeines Ruhmes voll. Mit allgemeiner Übereinſtimmung begrüßten ihn im Jahre 752 Volk und Senat als „Vater des Vaterlandes".

---

## b) Bilder aus der Geſchichte der Pädagogik.

### 65. Die Lehrweiſe des Sokrates.

Von K. L. Roth.

Griechiſche Geſchichte. Nürnberg 1849. S. 208.

Sokrates wandte ſich vorzugsweiſe an Jünglinge und junge Männer, weil er bei dieſen mehr Eingang zu finden hoffte, als bei Leuten gereiften Alters, die in ihren Angewöhnungen und Neigungen ſich ſchon feſtgeſetzt hatten. Und wo er ſodann einen Menſchen traf, deſſen Anlage etwas Gutes zu verſprechen ſchien, da erforſchte er zu allererſt, ob derſelbe geneigt ſei, über ſich und ſein Verhältnis zu Gott nachzudenken, von der Herrſchaft der Triebe und un-

klaren Meinungen los zu werden und ſein Leben ſo einzurichten, wie die Vernunft es einzurichten gebietet: wozu er denn diejenigen ermunterte, bei denen das Verlangen danach noch ſchlummerte, und vorzüglich durch geſchickte Fragen einen jeden dahin zu leiten wußte, daß er ſelbſt die Wahrheiten als eigene Überzeugung ausſprach, die Sokrates ihm beizubringen gedachte. Als er ſeinen älteren Sohn Lamprokles, der ihm nachmals durch einen frühzeitigen Tod entriſſen wurde, gegen die Mutter einſt erbittert ſah, redete er ihn an: „Sage mir doch, mein Kind, haſt du ſchon Menſchen geſehen, die man undankbar nennt?“ — „O ja!“ — „Und haſt du dir auch gemerkt, was ſie tun, daß man ſie ſo nennt?“ — „Allerdings! Wer Gutes empfangen hat und ſich nicht dankbar dafür erweiſt, während er ſich doch dankbar erweiſen könnte, den heißt man undankbar.“ — „Du glaubſt alſo wohl, der Undankbare gehöre in die Klaſſe der Ungerechten?“ — „Freilich.“ — „Haſt du dir's etwa ſo vorgeſtellt, daß es unrecht ſei, undankbar gegen Freunde zu ſein, dagegen aber recht, es gegen Feinde zu ſein?“ — „Ich meine, es ſei jeder ungerecht, der von Freund oder Feind Gutes empfangen hat und ſich nicht beſtrebt, ſeine Dankbarkeit dafür zu beweiſen.“ — „Demnach wäre der Undank wohl eine vollſtändige Ungerechtigkeit?“ — „Ja.“ — „Und alſo wäre jeder um ſo ungerechter, je größer die Wohltat iſt, die er empfangen hat und nicht mit Dankbarkeit erwidert?“ — „Ja.“ — „Nun, wo finden wir denn größere Wohltaten, die ein Menſch dem andern erweiſt, als die ſind, welche den Kindern von ihren Eltern erwieſen werden? Sie geben den Kindern das Leben, das größte aller Güter, in welchem alle anderen Freuden und Genüſſe begriffen ſind, womit die Götter den Menſchen ſegnen. Die Mutter bringt das Kind mit Schmerzen zur Welt, ſorgt für dasſelbe Tag und Nacht mit raſtloſer Anſtrengung, gibt ihm lange Zeit Nahrung aus ihrer Bruſt, und indem ſie ſich ſelbſt ganz vergißt, denkt ſie immer nur, wie ſie dem kleinen Geſchöpfe alles Gute erweiſen möge, das im Anfange ſeines Lebens nicht einmal ſagen kann, was es bedarf, und ſeine Wohltäterin auch nicht kennt. Dann, wenn die Jahre zum Lernen herbeikommen, ſchicken die Eltern das Kind zu dem Lehrer, von dem ſie glauben, daß ſein Unterricht demſelben heilſam ſein werde, und ſparen keine Koſten, um das Kind tüchtig und glücklich zu machen.“ — „Ja“, ſagte der Jüngling, „wenn ſie auch das alles und noch viel anderes der Art getan hat, ſo würde doch keiner es mit ihr aushalten können, weil ſie ſo böſe iſt.“ — „Welches von beiden“, erwiderte der Vater, „meinſt du, wäre ſchwerer zu ertragen, ein wildes Tier, oder eine böſe Mutter?“ — „Ich meine, eine ſolche Mutter.“ — „Hat ſie am Ende gar dich ſchon gebiſſen, oder gegen dich ausgeſchlagen, wie wohl hier und da Tiere den Menſchen getan haben?“ — „Das nicht, aber die Reden, die ſie führt, ſind ganz unerträglich.“ — „Und du, wie oft haſt du von der Wiege an ihre Geduld aufs äußerſte getrieben, wenn dir's unleidlich zumute war, bei Tage und bei der Nacht; und wie oft haſt du ſie durch Unwohlſein geängſtigt?“ — „Aber ich habe doch nie etwas geſagt oder getan, was entehrend für ſie geweſen wäre.“ — „Sollte es dir denn ſchwerer fallen, anzuhören, was deine Mutter ſagt, als von den Schauſpielern die entſetzlichen Dinge zu vernehmen, die ſie einander auf der Bühne ſagen?“ — „Ja die, ſollte ich meinen, machen ſich freilich nichts daraus, weil ſie wiſſen, daß der Tadel und die Drohung, die ſie hören müſſen, nicht die Abſicht hat, ihnen wehezutun.“ — „Und du kannſt noch erbittert ſein gegen deine Mutter, von der du weißt, daß ſie das, was ſie dir ſagt, niemals in böſer Abſicht ſagt, ja daß ſie dir alles Gute wünſcht, wie keinem andern Menſchen? oder meinſt du, deine Mutter ſei bös geſinnt gegen dich?“ — „O nein, das meine ich nicht.“ — „Und dieſe Mutter, die dir alles Gute wünſcht und mit Aufopferung dir ſelbſt erweiſt, dazu auch für dich zu den Göttern betet, dieſe magſt du böſe nennen? Wenn eine ſolche Mutter dir unerträglich iſt, ſo iſt dir wahrhaftig das Gute ſelbſt unerträglich. Aber ſage mir doch, ſind es wohl andere Leute, um deren Gunſt du dich glaubſt bemühen zu müſſen? Oder haſt du dich auf den Fuß geſetzt, daß du gar keinem Menſchen zu Gefallen leben, noch dich in ſeinen Willen fügen willſt?“ — „Das ſehe ich wohl, daß ich mich in andere fügen muß.“ — „Alſo wirſt du wohl auch den Nachbar dir zum Freunde machen wollen, damit er dir erlaube, dein Feuer bei ihm anzuzünden, und in Freude und Leid dir ſeine Teilnahme beweiſe?“ — „O ja!“ — „Und wenn du auf einer Land- oder Seereiſe einen Gefährten haſt, wird es dir gleichgültig

ſein, ob er freundlich oder feindlich gegen dich geſinnt iſt, oder wirſt du dich auch um deſſen Wohlwollen bewerben?" — „Ganz gewiß!" — „Alſo um ſolche Leute willſt du dich bemühen, und deiner Mutter, die unter allen Menſchen dich am meiſten liebt, glaubſt du nicht zu Gefallen leben zu müſſen?"

Wo es dem weiſen Sokrates gelungen war, den Sinn für ein tugendhaftes Leben zu erwecken, oder wo er überhaupt ein beſſeres Streben vorfand, da bemühte er ſich dann beſonders, die Notwendigkeit einer ſtrengen Prüfung ſeiner ſelbſt einleuchtend darzutun. War's ein Jüngling von ausgezeichneter Anlage, den er eben vor ſich hatte, ſo ſuchte er ihm zu zeigen, daß er ebenſo böſe und verderblich für das gemeine Weſen werden könne, wenn er ſeine großen Fähigkeiten nicht fürs Gute ausbilde, als er bei gehöriger Achtſamkeit auf ſich ſelbſt tugendhaft und reich an Verdienſten zu werden Hoffnung gebe. „Denn auch die Pferde und die Hunde von der edelſten Art", ſagte er, „werden, je nachdem man ſie erzieht, oder nicht erzieht, in hohem Grade gut oder in hohem Grade ſchlimm." Dabei lag es ihm ſehr am Herzen, die falſche Meinung von ſich ſelbſt zu zerſtören, welche der Menſch nach ſeiner Eigenliebe ſich zu bilden pflegt. Er hatte von einem Jüngling Euthydemus gehört, der einſt als Staatsmann auftreten wollte und zur Vorbereitung auf dieſen Lebensberuf ſich die Werke der berühmteſten Dichter und Gelehrten anſchaffte, und aus dieſen bereits ſoviel gelernt zu haben glaubte, daß er weit über anderen jungen Leuten zu ſtehen und künftighin ſowohl in der Führung öffentlicher Geſchäfte, als auch in der Kunſt des öffentlichen Vortrages der Erſte ſeiner Art zu ſein dachte. Sokrates fand ſich mit etlichen ſeiner jüngeren Freunde wie zufällig an demſelben Orte ein, wo er dieſen Euthydemus zu treffen gewiß war, und als ein Geſpräch auf die Bahn gebracht worden war über die Frage, ob wohl Themiſtokles bloß durch ſeine natürliche Anlage, oder durch den Umgang mit Männern von Einſicht ein ſo großer Staatsmann geworden ſei, ſagte er, ohne an Euthydemus das Wort zu richten, es ſei einfältig, zu glauben, man könne in geringfügigen Künſten nicht ohne den rechten Unterricht tüchtig werden, und die Kunſt der Staatsverwaltung, das allergrößte Geſchäft, fliege den Menſchen ſo von ſelbſt zu. Euthydemus, den er damit zum Widerſpruch und zur Teilnahme am Geſpräche reizen wollte, hielt ſich abſichtlich entfernt: er wollte jeden Schein vermeiden, als gehöre er zu des Sokrates Anhängern, und als lerne er von demſelben etwas für ſeine Kunſt. „Ich meine", ſagte Sokrates, „es muß ein ſchöner Redeeingang werden, auf welchen Euthydemus dort für ſein erſtes Auftreten vor dem Volke ſinnt. Der Eingang wird wohl alſo lauten: ‚Niemals, ihr Männer von Athen, habe ich von einem Menſchen etwas gelernt; und wenn ich von dem einen und dem andern hörte, daß ſie tüchtige Redner und Geſchäftsmänner ſeien, habe ich nie geſucht mit ihnen zuſammenzutreffen, ſondern ich habe vielmehr im Gegenteile es gemieden, nicht nur bei irgend jemandem etwas zu lernen, ſondern auch bloß zu ſcheinen, als lernte ich etwas. Dennoch aber will ich euer Ratgeber ſein, wie ich's von ſelbſt geworden bin.' Mit gleichem Rechte würde einer auf ſolche Art ſich zur Anſtellung als Arzt empfehlen, wenn er ſagte: ‚Niemals, ihr Männer von Athen, habe ich von einem Menſchen die Arzneiwiſſenſchaft gelernt; auch habe ich niemals geſucht, einen Arzt zum Lehrer zu bekommen, denn es war meine beſtändige Sorge, daß ich nicht nur nichts von Ärzten lernte, ſondern auch, daß der Schein nie auf mich fiele, als hätte ich dieſe Kunſt gelernt. Stellet mich aber doch immerhin als Arzt an; denn ich will's durch Experimente an euch lernen." Die Anweſenden lachten über den Redeeingang, und Euthydemus fing an aufzumerken, ſprach aber immer noch nichts. Sokrates ließ nicht nach, ſondern begann von neuem: „Es iſt doch wunderlich, daß die Leute, welche Zitherſpielen, Flötenblaſen, Reiten, oder ſonſt etwas der Art gründlich lernen wollen, ſich ganz und gar an die Meiſter in ſolchen Künſten halten und nach deren Anweiſung alle noch ſo mühſeligen Übungen vornehmen, während dagegen andere, die als Staatsredner und Verwalter der öffentlichen Geſchäfte auftreten wollen, ohne Vorbereitung und Unterricht nur aus ſich ſelbſt und durch ſich ſelbſt die Befähigung zum Berufe des Staatslenkers erlangen wollen, welcher eine ohne alle Vergleichung ſchwerere Aufgabe hat, als jeder, der eine ſeiner Künſte treiben will." Euthydemus, durch die Wahrheit der Bemerkung getroffen, ließ es jetzt geſchehen, daß Sokrates ein vertrautes Geſpräch mit ihm anknüpfte:

„Du haſt wohl, wie ich höre, eine ſchöne Sammlung von gelehrten Werken angelegt?“ — „Allerdings, und ich bin immer noch daran, ſie zu vermehren.“ — „Das iſt mir in der Tat höchſt achtenswert, daß du ſtatt Gold und Silber Schätze der Weisheit ſammelſt; denn offenbar lebſt du der Meinung, daß Gold und Silber die Menſchen nicht beſſer mache, dagegen aber die Ausſprüche der Weiſen ein Schatz ſeien, durch den man reich an Tugend werden könne.“ — Der Jüngling freute ſich des Lobes und meinte, Sokrates billige den Weg, den er eingeſchlagen hatte, um zu Einſichten zu gelangen. — Dieſer begann wieder: „Was iſt's denn für ein Fach, Euthydemus, für welches du dich durch Sammlung von Büchern vorbereiteſt? Etwa die Arzneiwiſſenſchaft? denn es gibt auch viele mediziniſche Werke.“ — „Das ja nicht!“ — „Oder die Baukunſt?“ — „Auch das nicht.“ — „Oder willſt du ein tüchtiger Geometer werden, wie Theodorus?“ — „Ein Geometer auch nicht.“ — „Oder etwa ein Aſtronom?“ — „Nein.“ — „Oder willſt du einmal Dichterwerke vortragen? denn es heißt, du habeſt dir den ganzen Homer angeſchafft.“ — „Das vollends gar nicht!“ — „So willſt du vielleicht ein tüchtiger Verwalter und Staatsmann werden?“ — „Ja, Sokrates, das iſt mein ernſtlicher Wunſch.“ — „Wahrhaftig, es iſt ein edles und großes Ding, wonach du Verlangen trägſt, die königliche Kunſt, wie ſie mit Recht genannt wird. Und haſt du dich darüber beſonnen, ob man in dieſem Stücke tüchtig werden könne, ohne gerecht zu ſein?“ — „Freilich: man kann ja ohne Gerechtigkeit nicht einmal ein rechter Bürger ſein.“ — „Und haſt du dich in den Beſitz dieſer Eigenſchaft geſetzt?“ — „Ich meine, Sokrates, ich ſollte für gerecht gelten, ſo gut als einer.“ — „Hat denn der Gerechte ſeine beſtimmte Verrichtung, wie etwa der Zimmermann?“ — „Ja, ich meine.“ — „Kann denn alſo der Gerechte ſeine Verrichtungen in gleicher Art nachweiſen, wie der Zimmermann die ſeinigen aufweiſen kann?“ — „Wie ſollte ich denn die Verrichtungen der Gerechtigkeit nicht angeben können? und die der Ungerechtigkeit noch obendrein, da man dergleichen alle Tage genug zu ſehen und zu hören bekommt.“ — „Nun wollen wir hier ein G und drüben ein U anzeichnen, und was wir als Verrichtung der Gerechtigkeit finden, zum G, das Gegenteilige aber zum U ſchreiben?“ — „Wenn du ja meinſt, daß wir's brauchen, ſo tue es immerhin.“ — Sokrates ſchrieb die Buchſtaben an und ſagte: „Findet das Lügen unter den Menſchen ſtatt?“ — „Freilich.“ — „Auf welche Seite ſchreiben wir's denn?“ — „Natürlich zur Ungerechtigkeit.“ — „Gibt's auch ein Hintergehen?“ — „Allerdings.“ — „Und wohin ſchreiben wir dieſes?“ — „Auch dieſes natürlicherweiſe zur Ungerechtigkeit.“ — „Und Beſchädigung des Eigentums?“ — „Auch dahin.“ — „Und Seelenverkauf?“ — „Ebenfalls.“ — „Alſo von alle dem kommt gar nichts zur Gerechtigkeit.“ — „Es wäre ſchlimm, wenn's anders wäre.“ — „Aber wenn einer, den man als Heerführer ausſendet, eine ungerechte, feindſelige Stadt erobert, und die Seelen in derſelben verkauft, wollen wir den ungerecht nennen?“ — „Nicht doch.“ — „Werden wir ſein Verfahren nicht als gerecht bezeichnen?“ — „Ganz gewiß.“ — „Und wenn er im Kriege die Leute hintergeht?“ — „Auch dies iſt Gerechtigkeit.“ — „Und wenn er derſelben Eigentum mit Liſt oder Gewalt wegnimmt, wird er nicht gerecht handeln?“ — „Allerdings! Ich ſetze voraus, daß du nur vom Verfahren gegen Feinde ſpreche ſt.“ — „Alſo müſſen wir wohl all das auch zum G ſetzen, was wir zum U geſetzt haben?“ — „So ſcheint es.“ — „Wollen wir's denn ſo feſtſtellen: dergleichen zu tun, ſei gerecht gegen die Feinde, aber ungerecht gegen die Freunde; und gegen die ſei man zu vollkommener Redlichkeit verpflichtet?“ — „Ganz recht.“ — „Nun denn, wenn ein Heerführer ſeine Leute entmutigt fände und deswegen eine Lüge anwendete, indem er ſagte, es ſei bundesgenöſſiſche Hilfe im Anzuge, und mit dieſer Lüge ſeinem Heere wieder guten Mut einflößte; wohin gehörte wohl dieſe Täuſchung?“ — „Ich denke, zur Gerechtigkeit.“ — „Und wenn einer ſähe, daß ſein krankes Kind Arzenei nötig habe, und weil es dieſelbe nicht einnehmen will, ihm das Heilmittel in Geſtalt eines guten Biſſens beibrächte, und es ſo durch eine Unwahrheit geſund machte, auf welche Seite müßten wir das ſchreiben?“ — „Ich meine, ebenfalls zum G.“ — „Wenn ich aber einen Freund hätte, der in verzweifelter Stimmung ſich ſelbſt ums Leben zu bringen drohte, und wenn ich dem ſein Schwert, oder ſonſt etwas der Art mit Liſt oder Gewalt wegnähme, wohin gehörte ich damit?“ —

„Sicherlich auch zur Gerechtigkeit.“ — „Meinſt du denn etwa, man dürfe auch gegen Freunde nicht in allen Stücken ganz redlich ſein?“ — „Keineswegs! Aber ich faſſe den aufgeſtellten Satz anders, wenn's erlaubt iſt.“ — „Das muß viel mehr noch geſtattet ſein, als ihn unrichtig zu faſſen. Aber, damit wir dieſen Punkt nicht außer acht laſſen: wenn man einen Freund in der Art hintergeht, daß derſelbe dadurch zu Schaden kommt, iſt es da eine größere Ungerechtigkeit, dies mit Willen oder nicht mit Willen zu tun?“ — „Ich kann nicht mehr für das einſtehen, was ich antworte; denn alles Bisherige erſcheint mir jetzt ganz anders, als ich vorher dachte; doch will ich ſagen, die Lüge mit Willen ſei eine größere Ungerechtigkeit, als die nicht mit Willen.“

„Glaubſt du, daß Gerechtigkeit ebenſo erlernbar und ein Gegenſtand des Wiſſens ſei, wie die Sprachlehre?“ — „Ja.“ — „Welchen von beiden erklärſt du für den beſſeren Sprachkenner, den, der mit Willen, oder den, welcher nicht mit Willen unrichtig ſchreibt und lieſt?“ — „Den, welcher es mit Willen tut; denn wenn er wollte, könnte er's ja auch recht machen.“ — „So müßte demnach jener ein Kenner der Sprache ſein, welcher mit Willen unrichtig ſchriebe; und wer's nicht mit Willen täte, wäre ein Nichtkenner der Sprache?“ — „Ganz recht.“ — „Wie iſt's aber mit der Gerechtigkeit? Welcher von beiden kennt ſie, der, welcher mit Willen lügt oder hintergeht, oder wer es nicht mit Willen tut?“ — „Natürlicherweiſe der, welcher es mit Willen tut.“ — „Iſt nicht deine Behauptung, daß der, welcher die Sprachlehre verſteht, ein beſſerer Sprachkenner ſei, als wer ſie nicht verſteht?“ — „Ja.“ — „Und daß der, welcher die Gerechtigkeit verſteht, gerechter ſei, als wer ſie nicht verſteht?“ — „Ich kann's nicht leugnen; und jetzt kommt mir's vor, als hätte ich auch dieſen Satz aufgeſtellt, ohne zu wiſſen, was ich ſagte.“ — „Weiter, wenn einer zwar die Wahrheit reden will, aber in ſeinen Behauptungen über einen und denſelben Gegenſtand ſich nie gleichbleibt, z. B. alſo von einem Wege ſagt, er führe gegen Oſten, und gleich darauf, er führe gegen Weſten, oder bei einer Berechnung jetzt mehr und dann wieder weniger herausbringt, was wirſt du von einem ſolchen Menſchen halten?“ — „Offenbar nichts anderes, als daß er das nicht weiß, was er zu wiſſen glaubte.“ — „Kennſt du Menſchen von der Art, welche man Sklavenſeelen nennt?“ — „Ja.“ — „Nennt man ſie ſo wegen ihrer Einſicht, oder wegen ihrer Unwiſſenheit?“ — „Natürlich wegen ihrer Unwiſſenheit.“ — „Bekommen ſie dieſen Namen wegen ihrer Unwiſſenheit im Schmiedehandwerke?“ — „Nicht doch.“ — „Oder etwa im Zimmerhandwerk?“ — „Auch nicht.“ — „Oder im Schuſtern?“ — „In alledem kann man unwiſſend ſein, ohne jenen Namen zu verdienen; ja im Gegenteile: gar viele, welche dieſe Stücke wohl verſtehen, gehören zu den Sklavenſeelen.“ — „Mithin gehörte wohl der Name denen, welche unwiſſend ſind in der Tugend und in der Gerechtigkeit?“ — „Ich denke, ja.“ — „So muß man alſo in jeder Weiſe ſich's angelegen ſein laſſen, daß man kein Sklave ſei?“ — „Wahrhaftig, Sokrates, ich meinte ganz und gar auf dem Wege der Studien zu ſein, der mich zu derjenigen Bildung leiten müßte, die einem Manne von edlem Streben wohl anſteht. Und jetzt, wie mutlos muß mich's machen, daß ich durch alle meine bisherige Bemühung nicht einmal ſoweit gekommen bin, deine Fragen über Dinge beantworten zu können, welche ich gerade am meiſten wiſſen ſollte, und daß ich keinen andern Weg vor mir ſehe, den ich einſchlagen könnte, um tüchtiger zu werden.“ — Auf dieſes antwortete Sokrates nicht, ſondern begann wieder: „Sage mir doch, Euthydemus, biſt du einmal nach Delphi gekommen?“ — „Ja, zweimal.“ — „Haſt du die Aufſchrift am Tempel bemerkt: ‚Kenne dich ſelbſt‘?“ — „Ja.“ — „Biſt du gleichgültig daran vorübergegangen, oder haſt du dich durch die Aufſchrift antreiben laſſen, über dich ſelbſt nachzudenken?“ — „Wahrhaftig nein; denn ich glaubte das gar nicht nötig zu haben, da ich nimmermehr etwas anderes wüßte, wenn ich nicht einmal mich ſelbſt kennte.“ — „Glaubſt du aber, man kenne ſich ſelbſt, wenn man nur ſeinen eigenen Namen weiß? Oder muß es ein Kennen ſein, wie das der Pferdekäufer, die erſt wiſſen müſſen, ob das Pferd lenkſam oder unlenkſam, ſtark oder ſchwach, ſchnellfüßig oder langſam und dergleichen iſt, bevor ſie ſagen, ſie kennen das Tier? Muß man auch in dieſer Art ſich ſelbſt hinſichtlich ſeiner Beſtimmung als Menſch erforſcht haben, um ſagen zu können, man kenne ſein eigenes Weſen?“ — „Ich

glaube, es ist so, daß, wer sein eigenes Wesen nicht kennt, sich selbst nicht kennt.“ — „Sehen wir nicht, wie die Selbstkenntnis den Menschen sehr viel Gutes bringt, und die Täuschung über sich selbst viel Schlimmes? Denn wer sich selbst kennt, weiß, was für ihn taugt, und versteht, was er vermag und was nicht; und indem er das treibt, was er versteht, setzt er sich in den Besitz dessen, was ihm nötig ist, und ist glücklich; was er aber nicht versteht, das läßt er liegen, und hütet sich dadurch vor Fehlgriffen und vor Mißgeschick; und in gleicher Weise kann er auch andere Menschen durchschauen, um dadurch das Gute sich zu verschaffen und dem Schlimmen auszuweichen. Wer sich aber nicht kennt, sondern sich über sein eigenes Wesen täuscht, der lebt auch in Unkenntnis anderer Menschen und Verhältnisse, weiß nicht, was ihm wirklich nötig ist; sein eigenes Tun und Treiben, wie der Charakter der Menschen, mit denen er umgeht, ist ihm unbekannt, und indem er überall fehlgreift, gerät er in lauter Mißgeschick. Das Glück, welches die Selbstkenntnis begleitet, zieht die Augen anderer Menschen auf sich: diese suchen den Mann, dem durch Kenntnis seiner selbst alles gelingt, zu bewegen, daß er sich ihrer Sachen auch annehme, und hoffen dann in ihren Wünschen durch ihn gefördert zu werden; wogegen zu einem Manne, der sich selbst nicht kennt und darum seine eigenen Sachen ungeschickt betreibt, niemand Vertrauen faßt, so daß er ungeehrt, ja in Hohn und Verachtung sein Leben hinbringt. Selbst ganze Staaten gewinnen durch Kenntnis und leiden durch Unkenntnis ihres Bestandes und ihrer Mittel; denn alle, die ohne Berechnung ihrer Kräfte sich in den Kampf mit überlegenen Gegnern einlassen, werden entweder ganz vernichtet oder verlieren doch ihre Unabhängigkeit.“ — „Ich gestehe dir's, Sokrates: die Selbsterkenntnis ist von außerordentlich großem Werte.“

## 66. Die Lehrer in Rom und die römische Jugenderziehung.

Von L. Friedländer.

Darstellungen aus der Sittengeschichte Roms in der Zeit von August bis zum Ausgang der Antonine. Leipzig 1881. Bd. 1, S. 280.

Dem Lehrerstande Roms fehlte in den ersten Jahrhunderten zum größten Teil die Sicherung der Existenz und die äußerliche Geltung, die ein öffentliches Amt gewährt. Der Unterricht wurde im Anfange der Kaiserzeit gar nicht, im zweiten Jahrhundert nur in sehr beschränktem Umfange als Angelegenheit des Staates betrachtet und auch als Kommunalangelegenheit wohl erst in dieser Zeit allgemein anerkannt.... In den ersten Jahren der Regierung Trajans gab es z. B. in Comum überhaupt keine Lehrer der Beredsamkeit, und die jungen Leute, die sich darin ausbilden wollten, mußten in Mailand studieren. Der junge Plinius schlug vor, die Besoldung eines Lehrers durch Beiträge der beteiligten Familien aufzubringen, und erbot sich, den dritten Teil der Summe beizutragen. Sie der Stadt ganz zu schenken, hielt ihn die Furcht vor Wahlumtrieben ab, die auf die Besetzungen der Lehrämter an solchen Orten, wo sie von der Gemeinde vergeben und besoldet wurden, häufig einen übeln Einfluß übten....

Die Grammatiker, d. h. die Lehrer, die den an die Lesung und Erklärung der Dichter geknüpften wissenschaftlichen Unterricht in beiden Sprachen erteilten, unterrichteten teils einzelne Schüler und traten nicht selten auch auf längere Zeit ganz in vornehme Häuser ein; teils hielten sie Schulen, und dies zogen die besseren und gelehrteren Lehrer wohl in der Regel vor; sie hielten sich, wie Quintilian sagt, eines größeren Schauplatzes für würdig, während nur die geringeren sich im Bewußtsein ihrer Schwäche dazu verstanden, sich nach Art von Pädagogen (Knabenaufsehern) einzelnen ganz zu widmen. Doch natürlich werden auch die besten Lehrer gegen hohes Honorar Privatunterricht erteilt haben. Mark Aurel war seinem Urgroßvater dafür dankbar, daß er einen solchen genossen, keine öffentlichen Schulen besucht und erkannt habe, daß man für diesen Zweck keine Kosten sparen müsse. Wohl immer waren es Leute geringen Standes, die sich dieser Tätigkeit widmeten, in Rom ganz besonders Freigelassene, Nichtbürger und Provinzialen, die bereits Julius Cäsar durch Verleihung des Bürgerrechtes an Lehrer zahlreich dorthin zu ziehen suchte. Eine sehr große Anzahl darunter war aus den griechischen Provinzen und

dem Orient, da der Unterricht in der griechischen Sprache und Literatur in Rom ganz besonders gesucht war.

Dafs die Mehrzahl der Lehrer nicht aus innerem Beruf, sondern lediglich des Erwerbes halber unterrichtete, darf man schon daraus schliefsen, dafs selbst unter den berühmtesten und durch wissenschaftliche Leistungen ausgezeichneten Grammatikern (Philologen) Roms im ersten Jahrhundert, von denen uns Sueton Nachricht gibt, mehrere entweder ganz zufällig zu diesen Studien gekommen sind, oder erst, nachdem es ihnen in anderen Berufsarten nicht geglückt war. Einige legten den Grund zu ihren Kenntnissen als Sklaven und Freigelassene im Dienste von Gelehrten, oder indem sie den Sohn der Herrschaft in die Schule begleiteten. Der berühmte Orbilius war zuerst Amtsdiener gewesen und hatte dann zu Fufs und zu Pferde im Heere gedient; der noch berühmtere M. Valerius Probus aus Berytus legte sich erst auf sprachliche Studien, als er die Hoffnung aufgeben mufste, eine Subalternoffizier-Stelle, um die er sich lange beworben hatte, zu erhalten. Ein dritter war ehemals Faustkämpfer gewesen; ein vierter hatte sich bei den Bühnen umhergetrieben und durch Mitarbeiten an Possen seinen Unterhalt erworben. Dagegen trat der spätere Kaiser Pertinax, der Sohn eines Freigelassenen, der Holzhandel trieb, aus dem Lehrerstande, in dem er seine Rechnung nicht fand, zum Kriegsdienste über.

Offenbar war die Ansicht sehr allgemein, dafs es ein hartes Brot sei, „in der Schule zu sitzen und Kinder zu unterrichten". Die Mühen und Beschwerden waren grofs, die Vorteile gering, und die wenigsten Lehrer mochte das Bewufstsein trösten und erheben, dafs es ein hoher, ja königlicher Beruf sei, „unschuldige Gemüter in guten Sitten und heiligen Wissenschaften zu unterweisen". Der Unterricht begann mit oder vor Tagesanbruch; der Lehrer mufste früher aufstehen als der Schmied oder Weber und den Dunst der von den Knaben mitgebrachten Lampen atmen, der die Büsten des Horaz und Vergil in der Schulstube schwarz räucherte. Die Dauer des täglichen Unterrichtes mag verschieden gewesen sein, doch mufs er öfter einen grofsen Teil des Tages ausgefüllt haben. Galen erzählt, dafs ein Grammatiker, Diodorus, der von epileptischen Krämpfen befallen worden war, wenn er während der Lehrstunden längere Zeit nichts genossen hatte, sich ganz wohl befand, seit er auf seinen Rat um die dritte oder vierte Stunde etwas in Wein getauchtes Brot zu sich nahm: dies dürfte also etwa die Mitte der Unterrichtszeit gewesen sein. Dagegen wird in griechisch-lateinischen Schulgesprächen erwähnt, dafs die Schüler zum Frühmahl, d. h. um die Mittagszeit nach Hause gehen, sich umkleiden und nach der Mahlzeit in die Schule zurückkehren.

Zur Erhaltung der Ordnung machten die Lehrer von Rohrstock und Peitsche, wie es scheint, sehr häufig Gebrauch. Dazu kamen die unbilligen Ansprüche der Eltern, über deren Rücksichtslosigkeit und Eitelkeit auf ihre Kinder schon Orbilius ein ganzes Buch voll Klagen schrieb. Von Schulstaub hatten die römischen Lehrer nicht zu leiden, da sie in halb oder ganz offenen Räumen auf flachen Dächern oder unmittelbar an der Strafse, und von dieser nur durch einen Vorhang getrennt, unterrichteten. Auch dauerten (abgesehen von den vielen Feiertagen) die Sommerferien vier Monate, denn im Sommer, sagt Martial, lernten die Knaben schon genug, wenn sie nur gesund blieben.

Soviel über die Erziehung der römischen Knaben. Was die Erziehung der Mädchen betrifft, so beziehen sich die uns erhaltenen Nachrichten zum allergröfsten Teil auf die Frauen der höheren Stände.

Der Mädchenstand der Römerinnen war kurz; kaum dem Kindesalter entwachsen, wurden sie schon verlobt und vermählt. Die Wünsche und Sorgen der Mütter, Verwandten und Wärterinnen; die von der Zärtlichkeit eingegebenen Liebkosungsworte und Schmeichelnamen; die tändelnde, das Kinderlallen nachahmende Sprache und die Schlaflieder der Ammen („lalla lalla lalla, schlaf Kindchen oder sauge"); den Gebrauch

der Kinderklappern und sonstigen Beschwichtigungsmittel (z. B. den Stein zu schlagen, an dem das Kind sich gestofsen hatte); den mannigfachen Aberglauben, der sich an alle Entwickelungsmomente des Kindesalters knüpfte (Pferde- und Eberzähne wurden z. B. den Kindern als Mittel leichten Zahnens angebunden); die Angst vor dem Beschreien und dem bösen Blick und die zahllosen Mittel und Amulette dagegen: — alles dies hatten die Kinderstuben jener Zeit mit den heutigen gemein. Ging die Mutter an einem Venustempel vorüber, so murmelte sie wohl ein Gebet an die Göttin, dafs dem Töchterchen Schönheit zuteil werden möchte, und fügte ein Gelübde hinzu. Überdies wurde natürlich nichts unterlassen, was zur Ausbildung einer tadellosen Gestalt beitragen konnte. . . . .

Als Spielzeug kleiner Mädchen dienten Blumen, bunte Steine, Muscheln (auch Bernstein), farbige Bälle und Kugeln (mit denen mannigfache zum Teil noch jetzt in Italien übliche Spiele gespielt wurden), Knöchel (Astragalen), mit denen spielend Mädchen öfter von Künstlern dargestellt wurden; vor allem Puppen, von denen mehrere (aus Terracotta und Elfenbein), zum Teil mit beweglichen Gliedern, in Kindergräbern gefunden worden sind. . . . Hatten die kleinen Mädchen sich müde gespielt, dann safsen sie erwartungsvoll zu den Füfsen der alten Wärterin, von deren Lippen das wohlbekannte: „Es war einmal ein König und eine Königin“ ertönte. Nicht blofs in diesem Anfange stimmt das römische Märchen mit unserem Haus- und Volksmärchen überein, es führte überhaupt die kindliche Phantasie in dasselbe bunte, glänzende Reich der Wunder. Auch unter seinen Heldinnen war die wunderschöne Königstochter, „so schön, dafs es mit Worten gar nicht zu sagen war“. Sie war die jüngste von dreien und wurde von ihren minder schönen Schwestern beneidet und mit bösen Ränken verfolgt, heiratete aber endlich doch den schönsten Bräutigam, während die beiden anderen zur Strafe ihrer Schändlichkeit einen schrecklichen Tod fanden. Auch wir kennen die angstvolle Spannung, die die kleinen Hörerinnen ergriff, wenn die Königstochter die drei schweren Arbeiten verrichten mufste, und das frohe Aufatmen, wenn ihr jede unter dem freundlichen Beistande wunderbarer Wesen gelang. Wenn sie auf Befehl der bösen Herrin einen grofsen Haufen verschiedener Sämereien bis zum Abend auseinanderlesen sollte, kamen Ameisen und verrichteten für sie das Geschäft. Das Schilfrohr am Flusse flüsterte ihr zu, wie sie Flocken von den Vliesen der wilden goldwolligen Schafe erhalten könne, und der Adler holte für sie das Wunderwasser aus der von Drachen bewachten Quelle.

Dann kamen die Jahre des Lernens. Die Mädchen lernten zunächst weibliche Arbeiten. Die Stickerei, die zu den Gewerben der Männer gehörte, scheint allerdings auch von Frauen betrieben worden zu sein, obwohl dies nie ausdrücklich erwähnt wird. Varro verlangt nur, dafs die Mädchen im Malen unterrichtet werden sollen, weil sie sonst die Stickerei von Teppichen und Vorhängen nicht beurteilen könnten. Hauptsächlich lernten sie spinnen und weben; denn auch damals wurden die Kleider für die Familie in Häusern, wo man auf gute alte Sitte hielt, unter der Mitwirkung oder doch Leitung der Hausfrau verfertigt. Bekanntlich mufsten selbst Augustus' Töchter und Enkelinnen spinnen und weben, und er trug gewöhnlich keine anderen Kleider, als von ihnen oder seiner Frau und Schwester gearbeitete. Q. Lucretius Vespillo (Konsul, 19 v. Chr.) rühmt in der Grabrede auf seine Gemahlin Turia unter anderen Tugenden, die sie mit allen ehrbaren Frauen gemein gehabt habe, auch ihren Fleifs bei der Wollarbeit. Selbstverständlich wurde dieser in den mittleren und unteren Ständen noch mehr zu den Pflichten der Hausfrau gerechnet, als in den höheren; und selbst Frauen, die auf matronale Ehrbarkeit keinen Anspruch machten, entzogen sich der allgemeinen Sitte nicht.

Den wissenschaftlichen Unterricht erhielten die Töchter der höheren Stände ohne Zweifel im Hause, und nur Geringere sandten die ihren in jeder Frühe in die Schule, die der Schulmeister, „dies den Knaben und Mädchen verhafste Haupt“, in strenger Zucht hielt; und zwar scheinen Knaben und Mädchen zuweilen zusammen in die Schule

gegangen zu sein. Martial fragt, ob es für einen Dichter wünschenswert sei, daſs ein aufgeblasener Lehrer seine Gedichte mit heiserer Stimme vorlese und er dadurch seinen heranwachsenden Mädchen und guten Jungen verhaſst werde. Das Grabdenkmal eines Schulmeisters zu Capua zeigt einen älteren Mann, auf einem erhöhten Thron sitzend, zu seiner Rechten einen Knaben, zu seiner Linken ein Mädchen. Nach den seltenen Erwähnungen des Mädchenunterrichtes darf man schlieſsen, daſs er ebenso wie der der Knaben wesentlich in der Lesung und Erklärung der geeigneten Dichter beider Sprachen bestand.

Ein christlicher Dichter aus der letzten Zeit des Altertums sagt, daſs die christlichen Lehrer selbst daran schuld seien, wenn die Mädchen statt der Schriften des Paulus und Salomo Vergil, Ovid, Horaz und Terenz läsen.

Besonderer Wert wurde auf die Ausbildung der Mädchen in Musik und Tanz gelegt. Catilinas Freundin Sempronia, in griechischer und römischer Literatur gebildet, tanzte und spielte besser, „als für eine rechtschaffene Frau erforderlich ist“.

Auf Grabdenkmälern bezeichnet zuweilen die Zither in der Hand der Mädchen die weibliche, wie die Schriftrolle in der der Jünglinge die männliche Bildung; und wenn Hieronymus von der christlichen Jungfrau verlangt, daſs sie für die Orgel taub sein, von Flöte, Lyra und Zither nichts wissen solle, so geht daraus hervor, daſs in der heidnischen Welt die Ausbildung in der Musik noch immer ein wesentlicher Bestandteil des Mädchenunterrichtes war. Die Kunst des Tanzes bestand vorzugsweise in rhythmischen Bewegungen des Oberkörpers und der Arme, und wie die heutigen Nationaltänze, die diesen Charakter im ganzen bewahrt haben, nicht am wenigsten zu der Grazie in Gang und Haltung beitragen, die die Römerinnen so sehr auszeichnet, so haben sie im Altertum ohne Zweifel ähnliche Wirkungen geübt. Ein edler Gang wurde an Frauen besonders geschätzt. Nicht bloſs Ovid sagt, es liege auch im Gange ein nicht gering zu schätzender Teil des Reizes; selbst auf einer Grabschrift aus der Zeit der Republik wird von der Verstorbenen gerühmt: „sie war von artiger Rede und von edlem Gange“. — Auſser dem Gesange lernten die Mädchen auch auf Saiteninstrumenten spielen; einige derselben wurden als weichlich und aufregend von strengeren Beurteilern verworfen, so wie manche griechische Tänze. Von ihrer Gesangskunst legten sie auch wohl öffentliche Proben ab. An Bettagen und Götterfesten gingen Chöre von dreimal neun Jungfrauen aus edlen Familien, Hymnen singend, der Prozession voraus; manche Frau, so hoffte Horaz, werde sich einst erinnern, wie sie als Mädchen das von ihm gedichtete Festlied geübt und gelernt habe. Bei Augustus' Bestattung sangen Kinder beiderlei Geschlechtes aus den vornehmsten Familien die Totenklage; bei der der Apotheose des Kaisers voransgehenden Totenfeier auf dem Forum sang an der Bahre ein Chor edler Knaben und ein Chor edler Frauen Lobgesänge auf den Verstorbenen, die in klagenden und feierlichen Weisen gesetzt waren. Übrigens scheinen Mädchen und Frauen sehr gewöhnlich die Fertigkeit erworben zu haben, Texte von Dichtern nach selbstgesetzten Melodieen auf der Laute vorzutragen, was nicht bloſs Statius von seiner Stieftochter, sondern auch der jüngere Plinius von seiner Gemahlin rühmt.

Unter solchen Beschäftigungen und Unterhaltungen, unter der Aufsicht von Wärterinnen und Pädagogen, reifte das Kind zur Jungfrau.

## 67. Das Schulwesen Deutschlands im Mittelalter.

Von G. L. Kriegk.

Deutsches Bürgertum im Mittelalter. Nach urkundlichen Forschungen. Neue Folge. Frankfurt a. M. 1871. S. 84.

Das Schulwesen der deutschen Städte des Mittelalters unterschied sich, abgesehen von den hier nicht mit behandelten Universitäten, in mehrfacher Hinsicht von dem heutigen. Es war, seinem Endzwecke nach, weder auf Wissenschaft und Bildung an und für sich selbst gerichtet, noch auch — was heutzutage das Ideal der Volksschule ist — auf eine formale Entwickelung der geistigen Kräfte und auf die sittliche Belebung des Menschen als solchen, sondern auf das rein

Religiöſe und Kirchliche und die geſchäftlichen Bedürfniſſe. Selbſt der Haupt-Unterrichtszweig jenes Zeitalters, der lateiniſche, hatte nicht die Erkenntnis des Altertums und die Ausbildung des Geiſtes durch die Sprache, die Geſchichte und die Schriftwerke der Römer zum Ziele; er diente vielmehr lediglich chriſtlich-kirchlichen und geſchäftlichen Zwecken. Erſt am Ende des Mittelalters machten die ſittlichen und rein geiſtigen Zwecke des Unterrichtes ſich geltend, und es trat im Bürgerſtande eine Reaktion ein, welche mitunter zu weit ging und ſich z. B. nicht bloß gegen die ſchlechte Behandlung des in der lateiniſchen Sprache liegenden Bildungsſtoffes, ſondern gegen dieſe Sprache ſelbſt richtete.

Neben den angedeuteten Grundmängeln des mittelalterlichen Schulweſens iſt als eine ſchöne Eigenſchaft dieſes Zeitalters hervorzuheben, daß der bei weitem größte Teil der Einwohner deutſcher Städte nicht ohne Schulunterricht aufwuchs, daß die meiſten derſelben leſen, ſchreiben und rechnen gelernt hatten, und daß es in den Städten ſogar noch Privat-Schulen neben den öffentlichen gab. Man macht ſich gewöhnlich von dem Bildungsſtande der Bürgerklaſſe des Mittelalters eine falſche Vorſtellung, indem man meint, die damaligen Stadtbürger hätten der Mehrzahl nach aller Schulkenntniſſe und der Fähigkeit zu leſen und zu ſchreiben ermangelt. Dieſe unrichtige Anſicht beruht darauf, daß man von den höheren Klaſſen, die wir in der Geſchichte vorzugsweiſe handelnd auftreten ſehen und von deren Gliedern allerdings ein großer Teil nicht einmal leſen konnte, auf die übrigen zurückſchließt. Und doch war am Ende des Mittelalters der Bürgerſtand beſſer unterrichtet, als der Adel, und ſelbſt als ein Teil der fürſtlichen Perſonen. Von den letzteren konnten manche noch gegen das Ende des 15. Jahrhunderts nicht leſen noch ſchreiben; der 1407 geſtorbene Landgraf Wilhelm I. von Thüringen z. B. ſagte ſelbſt kurz vor ſeinem Tode, er ſei nie in eine Schule gegangen und könne zu ſeinem Bedauern weder leſen noch ſchreiben.

Ganz anders verhielt es ſich mit dem Bürgerſtande, von deſſen Wiſſen und Bildung ſchon der Umſtand zeugt, daß die vielen am Ende des Mittelalters gemachten Erfindungen größtenteils von ihm ausgegangen ſind. Um von der vornehmeren Bürgerklaſſe, den Patriziern und den Kaufleuten, nicht zu reden, ſo enthalten manche ſtädtiſche Ausgabebücher als Beilagen Rechnungen von Schloſſern, Glaſern u. ſ. w., welche von dieſen eigenhändig geſchrieben ſind. Ebenſo finden ſich eigenhändige Eingaben von Handwerkern an die Stadträte aus dem 15. Jahrhundert in den Archiven. Das frankfurtiſche enthält ſogar die Bittſchrift einer Frau, welche damals nach 25jähriger Einkerkerung ſich eigenhändig im Gefängniſſe an den Rat wandte. Ebendaſelbſt befindet ſich ein Buch, welches unter der Aufſchrift „Das Buch der Schloſſergeſellen“ eingetragen iſt und die Statuten einer Bruderſchaft dieſer, außerdem aber die Namen aller ihrer Mitglieder von 1417—1524 enthält. Unter dieſen Namen befinden ſich mehrere hundert, welche von ihren allen Gegenden Deutſchlands angehörenden Trägern eigenhändig eingeſchrieben worden ſind. Alle dieſe Handwerksgeſellen hatten alſo Schulbildung erhalten. Von einer feſtſtehenden Orthographie war damals weder bei dem Klerus, noch bei den Laien die Rede; aber leſerlich ſind die erwähnten Schriften insgeſamt in der Tat nicht weniger, als die der Leute von gelehrter Bildung.

Von der Bildung der Bürgerklaſſe jener Zeiten und insbeſondere auch von ihrem Sinne für Bildung laſſen ſich noch andere und weit ſtärkere Beweiſe beibringen. Gar manche Bürger ſcheuten die Koſten nicht, um ihre für den Gewerbeſtand beſtimmten Kinder einem auswärtigen Schulmeiſter zu übergeben, wie wir dies z. B. von dem Augsburger Burkhard Zink wiſſen, welcher ſogar einen ſeiner Söhne, der ein Nebenkind war, im zehnten Lebensjahre nach Kaufbeuren in die Schule ſchickte (um 1450). Zu Nürnberg verbot der Rat ſchon im 15. Jahrhundert unter Strafandrohung die Goldmacherkunſt als eine Sache des Betruges. Ebenderſelbe Rat errichtete in nämlicher Zeit einen mathematiſchen Lehrſtuhl, bloß damit die des Lateiniſchen unkundigen jungen Handwerker und Künſtler Gelegenheit hatten, dieſe für ihren Beruf wichtige Wiſſenſchaft gründlich zu erlernen. Ein Frankfurter Kannegießer vermachte 1477 dem Karmeliterkloſter die nicht geringe Summe von 35 Goldgulden für deſſen Bibliothek, damit „die bucher, Gott dem herren zu ere, ſyner lieben mutter vnd dem gemeyn ſolck zu notze, deß da erlicher verwaret werdent“. Der 1522 geſtorbene Tuchhändler Jakob Heller war einer der gebildetſten Bürger von Frankfurt, kaufte ein Hauptwerk Albrecht Dürers, um es in die dortige Kirche zu ſtiften, ließ für vieles Geld das ſchönſte öffentliche Bildhauerwerk, welches Frankfurt aus jenen Zeiten beſitzt, verfertigen, ſchenkte

seiner Vaterstadt einen Beitrag von 50 Goldgulden zur Erbauung einer Bibliothek, sprach gewandt Lateinisch und vielleicht auch Französisch, so daß er 1506 zur Verhandlung mit einer französischen Gesandtschaft erwählt werden konnte; er besaß wertvolle Bücher und war in der Geschichte so sehr bewandert, daß König Maximilian I. ihn 1505 mit einer historischen Untersuchung beauftragte.

Die im Bürgerstand verbreitete Bildung und Aufklärung war sogar eine der Hauptvorbereitungen der Reformation, so wie dieser Stand selbst der erste Träger und tüchtigste Förderer derselben war. Endlich sind noch zwei Umstände hervorzuheben, aus denen ebenfalls hervorgeht, wie sehr die Schule und ihre Aufgabe von jenem Stande geschätzt wurden, nämlich der Betrag des den Lehrern gewährten Gehaltes und das Vorkommen besonderer Schulsiegel. Überall waren die städtischen Schullehrer so bezahlt, daß wir bis zum Ende des Mittelalters niemals eine Klage derselben vernehmen. Die Stadt Goch in Kleve hatte den Rektor ihrer Schule sogar besser gestellt, als jeden andern ihrer Beamten. Derselbe erhielt nämlich jährlich, außer der Wohnungsmiete, sowie dem Schulgeld und verschiedenen Geschenken der Kinder, acht Gulden, während der Stadtschreiber mit fünf Gulden besoldet und die beiden Bürgermeister zusammen auf nur fünf Gulden angewiesen waren (1419). Auch daß 1302 in Marburg ein Mann, welcher vorher Schulmeister gewesen war, unter den dortigen Schöffen erscheint, spricht für das damalige Ansehen der Schulen und der Lehrer. Ein besonderes Schulsiegel konnte nur mit Erlaubnis der Stadtbehörde geführt werden und bekundet deshalb ein gewisses Ansehen, welches dadurch der Schule offiziell zuerkannt war. Allerdings waren Schulsiegel nicht überall, ja überhaupt nur in wenigen Städten im Gebrauch. Mir sind bloß zwei bekannt geworden, beide kommen jedoch schon im 14. Jahrhundert vor. Das eine ist das der städtischen Lateinschule von Freiburg im Breisgau, vermittelst dessen der Kaufbrief über das 1334 erkaufte Schulhaus besiegelt ist. Es stellt einen seitwärts blickenden Engel dar mit einer Palme in der rechten und einem Buch in der linken Hand. Das andere ist das aus dem Jahre 1356 erhaltene Siegel der Schule zu Höxter. Es enthält einen sitzenden Schulmeister, mit einem faltenreichen Talar und einer runden Mütze bekleidet und mit der erhobenen Rechten die Rute über einen vor ihm knieenden Knaben schwingend, dem er mit der Linken das Kinn hält und den Kopf in die Höhe reckt; den Hintergrund füllen kleine Sterne.

Die Schulen des Mittelalters unterschieden sich von den heutigen noch durch den besonderen Umstand, daß sie der großen Mehrzahl nach nicht Sache des Staates oder der Stadtgemeinden waren, sondern vielmehr der Kirche. Allerdings gab es städtische Schulen; aber auch diese bestanden nicht in allen Städten und wurden zum Teil, wie z. B. um 1290 in Hamburg, von der Geistlichkeit beaufsichtigt und geleitet. Andere waren der letzteren und dem Rate zugleich untergeben, wie in Gerolzhofen, wo der Schulmeister von beiden zusammen angestellt wurde, jedoch dem Rate allein geloben und schwören, dem Pfarrer bloß geloben, nicht schwören mußte, in betreff des eigentlichen Schuldienstes allein an den Rat gewiesen war und dem Pfarrer gegenüber bloß verpflichtet war, mit seinen Schülern den Kirchengesang zu leiten und als Kirchendiener dem Pfarrer soweit zu Gebote zu stehen, daß er auch dessen Tisch decken und ihm den Wein aus dem Keller holen mußte, dabei aber freilich auch mit dem Pfarrer zu Tische sitzen durfte. Manche städtischen Schulen standen durchaus nur unter der Oberaufsicht und Leitung des Magistrates. Dies war z. B. der Fall mit der Freiburger lateinischen Schule, welche der letztere selbst verwaltete, und zwar so, daß dabei stets der Stadtschreiber das Referat hatte; denn Schulbehörden sind erst zur Zeit der Reformation entstanden.

Auch bei den Schulen machte sich, wie man sieht, die Gewohnheit des Mittelalters geltend, die öffentlichen Verhältnisse nicht nach einem bestimmten, konsequent durchgeführten Prinzip, sondern nach örtlichen und anderen zum Teil wandelbaren Rücksichten und Bedürfnissen zu regeln. Eine einzelne deutsche Stadt des Mittelalters bietet daher auch die an und für sich sehr befremdende Erscheinung dar, daß in ihr sogar das Stifts-Schulwesen, welches sonst überall eine rein kirchliche Angelegenheit war, vom Magistrat gesetzlich mit beeinflußt wurde. Dies ist die Stadt Wien. In ihr war nämlich 1296 dem Stadtrate das Recht, den Schulmeister des Stiftes St. Stephan zu ernennen, erteilt und diesem die Oberaufsicht über alle Schulen der Stadt verliehen worden. Der letztere war also gewissermaßen der Ober-Schulinspektor und ersetzte, da ihm sogar richterliche Gewalt erteilt war, die moderne Ober-Schulbehörde. Jedoch war dies nur in beschränkter Weise

der Fall. Seine Funktionen bezogen ſich nämlich, nach den einzelnen Angaben der betreffenden Urkunde, nicht auf die Gegenſtände und die Methode des Unterrichtes, ſondern bloß auf die Disziplin. Er hatte zwar das Recht, Schulen zu errichten und von allen Schulen der Stadt Gefälle zu beziehen; im übrigen aber war ſeine Gewalt darauf beſchränkt, daß ihm das Strafrecht über alle Schüler verliehen war. Er ſollte über alle Vergehen und Untaten der Schüler, mit alleiniger Ausnahme von Totſchlag und Lähmung, richten, namentlich über Diebſtahl, Ungehorſam, das Tragen von Schwertern oder Meſſern und das Spielen im Wirtshauſe. Die von ihm zu verhängenden Strafen ſollen ſein: Schläge („ſtarke peſem ſlege“), Ausſtoßung aus der Schule und Verbannung aus der Stadt, oder ſtatt des letzteren das Verbot, ſich dem geiſtlichen Stande zu widmen. Auch dieſe Beſchränkung der Schulinſpektion auf die Strafgewalt ging aus dem Zeitbedürfniſſe hervor, zumal da unter den zu beaufſichtigenden Schülern ſich junge Leute vom Alter unſerer Studenten befanden. Bei der in den letzten Jahrhunderten des Mittelalters herrſchenden Zuchtloſigkeit, Roheit und Ausſchweifung, und bei dem überall in großem Umfange waltenden Unweſen der ſogenannten fahrenden Schüler war die Handhabung der Disziplin der wichtigſte Teil des ganzen Schulweſens....

Die Schulen des Mittelalters laſſen ſich in dreifacher Hinſicht in zwei Klaſſen einteilen. Sie waren nämlich entweder von der Kirche geſchaffene und geleitete Lehranſtalten (Stifts- und Kloſterſchulen); oder Gemeinde-Inſtitute (scholae civicae). Sie waren ferner nach ihrem Bildungszwecke entweder ſolche, welche das für jedermann nötig erachtete Maß des Wiſſens erteilten (Volks- oder Trivialſchulen), oder für höher ſtehende Klaſſen beſtimmte, alſo auf eine beſondere Bildung zielende Anſtalten (scholae particulares, wie denn die Freiburger ſtädtiſche Lateinſchule auch wirklich das Partikular genannt wurde.) Sie wurden endlich noch nach ihrem Hauptlehrgegenſtande als lateiniſche und deutſche Schulen einander gegenübergeſtellt. Die letztere Einteilung würde von uns nicht gemacht werden, weil ſie mit der zweiten faſt identiſch iſt; ſie wurde aber im Mittelalter gemacht, und dies hat ſeinen Grund in der damals beſtehenden weit größeren Wichtigkeit des Lateiniſchen. Dieſes wurde einesteils als der Träger alles Wiſſens und jeder Bildung angeſehen, und ſeine fertige Kenntnis war nicht allein für den Kirchen- und Staatsdienſt unbedingt erforderlich, ſondern auch für jeden, der das Bedürfnis der Lektüre hatte, unentbehrlich. Deshalb bezeichnete man noch bis zur Reformation mit dem Wort schola allein nur eine lateiniſche Schule. Zu Freiburg im Breisgau hieß die ſtädtiſche Lateinſchule offiziell ſogar die „rechte Schule“ zum Unterſchied von der deutſchen Schule, deren Lehrgegenſtände man ſowenig als Bildungsmittel anſah, daß dieſelben in den Lehrplan jener Lateinſchule nicht aufgenommen, ſondern bloß in beſonders zu bezahlenden Nebenſtunden zu lehren geſtattet waren.

Der oben gebrauchte Ausdruck Trivialſchule iſt aus dem Mittelalter auf uns überkommen; er wird aber, wie bereits Mone bemerkt hat, jetzt in einem ſeinem mittelalterlichen Begriffe keineswegs entſprechenden Sinne für identiſch mit Volksſchule genommen. Das Mittelalter erkannte ſieben Wiſſenſchaften, welche man die ſieben freien Künſte nannte, als die Lehrgegenſtände des höheren Jugendunterrichts an, nämlich die Grammatik, Rhetorik, Dialektik, Arithmetik, Geometrie, Muſik und Aſtronomie. Von ihnen hielt man die drei erſteren für die Baſis des ganzen Unterrichtes und lehrte ſie vor den vier anderen, indem man ſie in der unteren Klaſſe der Schule vortrug. Die ſieben freien Künſte zerfielen deshalb in zwei Teile, welche das Trivium und das Quadrivium genannt wurden, und von denen jenes die drei erſteren, dieſes die vier letzteren umfaßte. Das Wort Trivialſchule bezeichnet alſo eigentlich Schule oder Schulklaſſe, in welcher die Grammatik, Rhetorik und Dialektik gelehrt wurden, alſo nicht eine Volksſchule, in der ja das Leſen, Schreiben und Rechnen bis vor nicht langer Zeit die alleinigen Lehrgegenſtände waren. Die letzteren waren ſogar nicht einmal in dem Ausdruck Trivium mit einbegriffen. Überhaupt wurden die Wörter Trivium und Quadrivium bloß von den Lehrgegenſtänden der gelehrten oder ſogenannten lateiniſchen Schulen gebraucht. Das Deutſch-Leſen, das Schreiben und das Rechnen bildeten die Unterrichtsgegenſtände der ſogenannten deutſchen Schulen des Mittelalters, welche unſeren Volksſchulen entſprachen. Sie wurden in den damaligen lateiniſchen Schulen teils gar nicht, teils bloß in Privatſtunden gelehrt....

Zur Bezeichnung des Jugendlehrers gebrauchte man im Mittelalter das Wort Schulmeiſter

(lateiniſch rector puerorum oder parvulorum, rector scolarium, [d. i. der Schüler], doctor puerorum, magister scolarium, provisor puerorum oder ludimagister), mochte nun von einem öffentlich angeſtellten, oder einem Privatlehrer, von dem Lehrer einer lateiniſchen, oder von dem einer deutſchen Schule die Rede ſein. Manchmal kommen ſtatt dieſes Wortes auch die Ausdrücke Lehrmeiſter (für eine Mädchenlehrerin die Wörter Lehrfrau und Lehrmeiſterin), Kinderlehrer und Kindermeiſter vor. Am Ende des Mittelalters ward auch der Name Poet gebräuchlich, jedoch nur für einen Lehrer der alten klaſſiſchen Sprachen, oder richtiger für einen Lehrer, welcher die jungen Leute in die damals zur Geltung gekommene humaniſtiſche Geiſtesbildung einzuführen vermochte. Man dachte bei dieſem Wort in der Tat, ſeinem eigentlichen Begriffe gemäß, an eine Art äſthetiſcher, namentlich auch in Hinſicht auf die Form ausgezeichneter Bildung, und zwar als Gegenſatz gegen das trockene, einſeitige Begriffsweſen und geſchmackloſe, tote Wiſſen, in welches die ſcholaſtiſche Weisheit ausgeartet war. Man nannte deshalb auch jene neue Richtung und Methode des Unterrichtes die Poeſie.

Abgeſehen von den Univerſitäten, welche in keiner unmittelbaren Beziehung zum deutſchen Bürgertum ſtanden, gab es in den Städten des Mittelalters nur zwei Arten von öffentlichen Schulen, eine lateiniſche und eine deutſche; neben ihnen aber beſtanden überall noch deutſche Privatſchulen. Die lateiniſche Schule war eine Vorbereitungsanſtalt für den geiſtlichen Beruf, für die Univerſitätsſtudien und für weltliche Ämter, zugleich aber auch eine Schule für das Bildungsbedürfnis vornehmer Laien. Dieſelbe ſtand unter der Leitung eines geiſtlichen Kollegiatſtiftes, oder, wo es ein ſolches nicht gab, unter der des Pfarrers oder eines Kloſters. Sie hieß im erſteren Falle die Stiftsſchule; am Ende des Mittelalters kam ſtatt deſſen der Name Pfaffenſchule auf, durch welchen man ſie von den der Stadtgemeinde untergebenen Schulen unterſcheiden wollte. Die Schule des Frankfurter Bartholomäusſtiftes hieß in ſpäterer Zeit auch die Pfarrſchule, weil die Bartholomäuskirche urſprünglich die alleinige und ſpäter die Haupt-Pfarrkirche war. Neben den ſtiftiſchen lateiniſchen Schulen gab es in ſehr vielen Städten noch eine rein ſtädtiſche, welche unter der Leitung der weltlichen Behörde ſtand. Die zweite Art von öffentlichen Schulen waren die Elementarſchulen, welche wir in der Regel Volksſchulen nennen, die aber im Mittelalter, ſowie noch lange nachher, deutſche Schulen hießen. Sie waren eine reine Angelegenheit der Stadtgemeinden.

Ehe wir dieſe verſchiedenen Schulen näher betrachten, wird es zweckmäßig ſein, zuerſt von den Dorfſchulen, den Privatſchulen und dem Mädchenunterricht zu reden. Dorfſchulen gab es im Mittelalter, ſowie im erſten Jahrhundert nach demſelben, ja in manchen Gegenden ſogar noch im 17. Jahrhundert kaum irgendwo. Hier und da erteilte irgendein Handwerksmann oder der Geiſtliche den Dorfkindern einigen Unterricht. Schulen aber entſtanden dort erſt durch die Vereinigung des Mesneramtes mit dem Schuldienſte. Dies und die weitere Entwickelung des Dorfſchulweſens hat Mone nachgewieſen und ſo dargeſtellt, daß ſeinen Angaben nichts weiter beizufügen iſt. In den Frankfurter Dörfern wird vor 1606 keine Schule erwähnt. Damals wurde zu Bornheim ein Schulhaus eingerichtet und ein Schulmeiſter eingeſetzt, dem man ſein Gehalt aus dem ſtädtiſchen Almoſenkaſten anwies. Vierzehn Jahre ſpäter (1620) war der Rat auf Bitten der Niederräder Gemeinde auch dieſem Dorfe zur Errichtung einer Schule behilflich. In betreff der anderen Dörfer habe ich keine Angaben gefunden[1]).

Privatlehrer und Privatſchulen kommen in den Städten ſchon früh vor. Man nannte die letzteren ebenfalls deutſche Schulen, weil in ihnen nichts als Deutſch-Leſen und -Schreiben und Rechnen gelehrt wurde. Sie führten folglich denſelben Namen, wie die unter ſtädtiſcher Verwaltung ſtehenden Volksſchulen. Auch dieſe ſind zum Teil erſt aus ihnen hervorgegangen, wie z. B. zu Freiburg im Breisgau, wo es bis 1561, außer den lateiniſchen Schulen, nur Privatſchulen gab und erſt damals eine der letzteren in eine ſtädtiſche Volksſchule umgewandelt wurde. Zu Reval nannte um 1400 der Biſchof die Privatſchulen Beiſchulen; offenbar mit demſelben Begriffe, welchen jetzt das Wort Winkelſchule hat. Eine eigentliche Aufſicht über die

[1]) Doch vgl. jetzt J. Müller, Quellenſchriften zur Geſchichte des deutſch-ſprachlichen Unterrichts, S. 325.

Privatſchulen gab es offenbar nicht. Es wird nirgends einer ſolchen gedacht; man ſah dieſe Anſtalten wohl nur als ein gleich anderen Gewerben ſich ſelbſt überlaſſenes Geſchäft an, wie dies nach der Reformation auch mit den damals neu entſtandenen Privatſchulen in einzelnen Städten der Fall war. Dagegen ſchrieb die braunſchweigiſche Schulordnung von 1478 den Privatſchulen vor, nicht mehr als zehn Knaben aufzunehmen und ſelbſt dieſe ſchon nach vollendetem ſiebenten Lebensjahre in eine öffentliche Anſtalt übergehen zu laſſen.

Die Lehrer dieſer Privatſchulen wurden, wie alle anderen Lehrer, Schulmeiſter, Kinderlehrer und Lehrmeiſter genannt. Außerdem erſcheint noch das Wort Modiſt, welches eigentlich ſoviel als Muſikus und Kantor bedeutete, in frankfurtiſchen Schriften aber manchmal als Titel derer, welche Privatunterricht erteilten, gebraucht wurde. Im dortigen Beedbuch von 1510 kommt ein ſolcher Lehrer zum erſten Male unter der Benennung „eyn dutſcher ſchulmeiſter“ vor, welche nachher daſelbſt dreihundert Jahre lang der Ausdruck für den Inhaber einer Privat-Volksſchule geblieben iſt. Übrigens entrichteten die meiſten Lehrer, welche in den Frankfurter Beedbüchern erwähnt wurden, eine Beede von nahe einem Gulden, und da dies der durchſchnittliche Beede-Betrag der Leute der Mittelklaſſe iſt, ſo läßt ſich daraus der Schluß ziehen, daß das Geſchäft der damaligen Privatlehrer nicht zu den wenig bedeutenden gehörte.

Privatlehrer, welche bloß eine einzelne Perſon unterrichteten und erzogen, alſo ſogenannte Hofmeiſter oder Hauslehrer, gab es im Mittelalter ebenfalls. Auch ſie hießen Schulmeiſter, ſowie praeceptores und magistri; am häufigſten jedoch nannte man ſie, und zwar auch in deutſcher Sprache, Pädagogen. Zu welcher Zeit das in vielfacher Bedeutung gebrauchte Wort Hofmeiſter zuerſt den Begriff Hauslehrer erhalten hat, iſt unbekannt. Indeſſen würde ſeiner ſelbſt wegen intereſſant ſein, dies zu ermitteln; denn wenn dieſes Wort wirklich von Hof (im Begriff Sitte oder Anſtand) herzuleiten iſt, ſo kann es nicht in neuerer Zeit gebräuchlich geworden ſein, und doch habe ich wenigſtens im Mittelalter es niemals identiſch mit Erzieher oder Hauslehrer gefunden. Intereſſant iſt die Angabe Lersners, daß der Stammherr des Frankfurter Zweiges derer Zum Jungen dem Hauslehrer ſeines Sohnes, welcher dieſen 1451 auch auf die Univerſität begleitete, ein Jahrgehalt von drei Gulden zahlte. Übrigens waren in Nürnberg die Hauslehrer, nach der um 1500 gemachten Schulordnung, der Aufſicht des Rektors der ſtädtiſchen Lateinſchule unterworfen, ſowie zugleich verpflichtet, demſelben beim Kirchengeſang, bei Prozeſſionen und in der Schule ſelbſt „Hilf und Beiſtand zu tun.“

Der Mädchenunterricht wurde teils von Privatlehrern oder Privatlehrerinnen, teils in Nonnenklöſtern, teils in Mädchenſchulen, welche vom Stadtrat unterhalten wurden, erteilt. Die Mehrzahl der Mädchen ſcheint, außer einiger Unterweiſung in der Religion, gar keinen Unterricht erhalten zu haben. Dagegen gab es aber auch Frauen, welche ſogar das Latein ſprachen und ſchrieben. Solche Frauen gehörten natürlich den höheren Ständen an. In der mittelalterlichen Geſchichte Frankfurts iſt mir allerdings nur eine einzige bis zu dieſem Grade unterrichtete Frau bekannt geworden: es war Katharina v. Oſtheim, genannt Scheffer, die ſich 1508 mit Hert Weiß zu Limburg verheiratete und 1548 ſtarb. Sie hat einen mit Fortſetzungen verſehenen Auszug aus der Limburger Chronik gemacht, welche unter dem Titel Historica varia ad res Francofurtenses spectantia auf der Stadtbibliothek aufbewahrt wird.

Die Mädchen wurden nicht bloß von Männern unterrichtet, ſondern es gab auch ſogenannte Lehrfrauen oder Lehrmeiſterinnen. Nicht als ſolche, ſondern als bloße Verpflegerinnen ſind einzelne Beguinen anzuſehen, welche arme Mädchen, beſonders Findlinge, zu ſich nahmen und großzogen. Privat-Mädchenſchulen werden in verſchiedenen Städten erwähnt, z. B. in Mainz (1300), in Speier (1362), in Überlingen (1456). Auch zu Frankfurt kommen ſolche Schulen im 14. und 15. Jahrhundert vor. Dort erwähnen z. B. die Beedbücher vom Jahre 1364 eine „Lyſe die die kinder leret“, und in einer Urkunde von 1440 findet ſich eine „Anne Conzen Griſſen tochter von Myldenburg, die die kinder lert“. Aus Zittau wird berichtet, daß dort 1564 die Mädchen bei deutſchen Schreibern leſen lernten. Neben dieſen Privatſchulen gab es auch ſolche Mädchenſchulen, welche von der Stadtbehörde unterhalten wurden, z. B. im 16. Jahrhundert zu Baden und Bruchſal. Hier und da ließ man die Mädchen die Knabenſchule beſuchen, und zwar nicht bloß eine deutſche, ſondern auch wohl eine lateiniſche, wie denn nachher noch lange nach der

Reformation in den meiſten ſtädtiſchen Volksſchulen Knaben und Mädchen zuſammen unterrichtet wurden. In Eßlingen ſonderte man erſt 1538 die Mädchen von den Knaben und errichtete eine eigene Mädchenſchule; in Frankfurt und anderen Städten dagegen beſuchten noch lange nachher Mädchen und Knaben zuſammen die Volksſchulen. In Überlingen tat man 1456 ſogar Knaben in eine für Mädchen beſtimmte Privatſchule, was damals der Lehrer der ſtädtiſchen Lateinſchule zum Gegenſtand einer Beſchwerde machte, weil es ſein Einkommen ſchmälere, und was die Verfügung zur Folge hatte, daß die Lehrerin jener Privatſchule ihm für jeden zugelaſſenen Knaben jährlich etwas zahlen mußte. Übrigens beſchränkte ſich der Unterricht aller jener Mädchenſchulen auf das Leſen, Schreiben und Rechnen.

Eine andere Art von weiblichen Lehranſtalten waren die in den Nonnenklöſtern gehaltenen Schulen, welche dort nötig waren, weil jedes zur Nonne aufzunehmende Mädchen leſen und ſchreiben gelernt haben mußte. Dieſe Nonnenſchulen, in welchen man auch das Lateiniſche lehrte, wurden mitunter auch von weiblichen Laien beſucht. Neuere haben ausgeſprochen, daß es auch in den Stiftsſchulen eine eigene Schule für Mädchen neben der für Knaben gegeben habe; ich habe jedoch nirgends eine beſtimmte Angabe hierüber gefunden. Dagegen iſt, nach dem bereits Bemerkten, anzunehmen, daß in ſolchen Schulen mitunter auch Mädchen die Elementarklaſſe der Knaben beſuchten.

Über die öffentlichen Schulen überhaupt ſind die Nachrichten, ſoweit ſie den Geiſt derſelben, ihren pädagogiſchen Charakter, ihre Organiſation und die Lehrmethode betreffen, ſehr ſpärlich. Schriften über das Schulweſen gab es in jener Zeit nicht; ebenſowenig dachte man damals an ein Syſtem des Unterrichtes, oder ſchrieb durch Verordnungen den Lehrern in einzelnen vor, wie und was ſie lehren ſollten; man überließ vielmehr alles als etwas Herkömmliches ſich ſelbſt. Die älteſte eigentliche Schulordnung, welche ich erwähnt gefunden habe, iſt die im Jahre 1478 zwiſchen dem Klerus und dem Rat von Braunſchweig vereinbarte, die ſich zugleich auf die dortigen Stifts-, Kloſter- und Stadtſchulen bezog; ſie iſt jetzt von Koldewey veröffentlicht. Die meiſten Schulordnungen aus früherer Zeit beſtehen aus den Dienſteiden oder -inſtruktionen der Lehrer; in dieſen iſt jedoch von Methode und Lehrplan keine Rede, der Disziplin wird in manchen ebenfalls nicht gedacht, und den Hauptinhalt bilden das Gehalt des Lehrers, ſein Verhältnis zu ſeinem Herrn, ſeine Leiſtungen beim Gottesdienſte, das Schulgeld und andere Äußerlichkeiten. Bekanntlich iſt dies auch mit den übrigen Dienſtinſtruktionen des Mittelalters der Fall, welche ebenfalls faſt nie die Amtspflichten im einzelnen angeben. Bei ſo bewandten Umſtänden muß man mühſam einzelne gelegentliche Bemerkungen und Data zuſammentragen, deren aber allzuwenig ſich finden, um vermittelſt ihrer ein Geſamtbild entwerfen zu können. Vielmehr ſetzen dieſelben uns nur in den Stand, einzelne Seiten und Verhältniſſe des Schulweſens darzuſtellen, zum Teil auch bloß anzudeuten. Man muß hoffen, daß die Forſcher noch weitere Einzelheiten auffinden und ſo das Bild nach und nach vervollſtändigen werden.

Die Lehrer gehörten zum Teil dem geiſtlichen Stande an. Die meiſten von ihnen aber waren Laien. Dieſe unterrichteten als angeſtellte Lehrer auch in Stiftsſchulen, nachdem in denſelben diejenigen Prälaten, welche der Scholaſtikus oder Scholaſter und der Kantor hießen, ſelbſt zu unterrichten aufgehört und bloß die obere Leitung zu führen begonnen hatten. Die Lehrer der Privatſchulen und die der ſtädtiſchen Lehranſtalten waren größtenteils urſprünglich Schreiber; mir wenigſtens iſt, ſo oft ich bei einem ſolchen Lehrer noch ein Gewerbe neben dem des Schullehrers angegeben fand, kein anderes als das eines Schreibers vorgekommen. Manche Lehrer jener Zeiten erſcheinen nämlich als Leute, welche zugleich durch Schreibergeſchäfte, oder auch als Notare ihr Brot verdienten; in einigen Städten war ſogar das Lehramt an der öffentlichen Schule mit dem Amte des Stadtſchreibers verbunden.

Die Verbindung des Schreibergeſchäftes mit dem Schuldienſte ſcheint nicht etwas Zufälliges geweſen, ſondern vielmehr aus der Beſchaffenheit des mittelalterlichen Elementarunterrichtes hervorgegangen zu ſein. Ich muß nämlich nach allem, was mir bekannt geworden iſt, annehmen, daß die Elementarlehrer des Mittelalters eine Art von Schreib-Leſe-Unterricht erteilten, indem ſie das Schreiben entweder vor oder doch zugleich mit dem Leſen lehrten. Ein ſolcher Unterricht war vor der Erfindung der Buchdruckerkunſt im Grunde etwas ſich von ſelbſt Verſtehendes. Sein

Bestehen wird aber auch durch bestimmte Nachrichten bestätigt. Fast ohne Ausnahme bezeichnete man damals das Geschäft eines Elementarlehrers so, daß das Lehren des Schreibens dem des Lesens vorangestellt wird, oder mit anderen Worten, daß von dem Lehrer gesagt wird, er lehre schreiben und lesen, nicht wie heutzutage, er lehre lesen und schreiben. Ferner kommt in einer Revaler Urkunde von 1413 ein Schreib- und Leselehrer vor, und seine Schule wird in derselben eine Schreibschule genannt. Ebenso heißt in einem Vertrage der Stadt Braunschweig mit ihren geistlichen Stiften die dortige Volksschule, in welcher bloß lesen und schreiben gelehrt ward, die Schreibschule; und in einem Schreiben, welches der Rat von Andernach 1417 an den von Frankfurt sandte, wird der Elementarunterricht überhaupt Schreibunterricht genannt. Ein Lehrer heißt nämlich in diesem Schreiben „der Schreibermeistere", und wird außerdem so bezeichnet: „ein schrijver, der bij uns leirde unßer burgerkinder schrijben". An einem dritten Orte endlich, in der Stadt Überlingen, ist 1456 die Rede von der Anstellung eines „deutschen Schreibers", welcher „deutsch schreiben und lesen lehren" solle.

Übrigens macht Mone in betreff des Unterrichtes zur Zeit des Mittelalters die interessante Mitteilung, daß es damals aus Holz geschnitzte Buchstaben gab, vermittelst derer man die Kinder lesen lehrte. In den letzten Jahrhunderten des Mittelalters aber kommen Wachstafeln vor, auf welche man mit hölzernen, gläsernen oder metallenen Griffeln schrieb. Sie waren offenbar aus dem Grunde gebräuchlich geworden, weil das Pergament zu gewöhnlichen Schreibereien, oder gar zu Schreibübungen allzu teuer war. In Schulen wurden sie sogar noch dann gebraucht, als das Linnenpapier längst erfunden war; denn in einer Nürnberger Schulordnung aus der Zeit um 1500 wird für die Elementarklasse der städtischen Lateinschule vorgeschrieben, die älteren Schüler sollten alle Vor- und Nachmittage eine frische Schrift ihrer Hand von Buchstaben oder etlichen Wörtern deutsch und lateinisch „in Wachs oder vff Papier" dem Lehrer zeigen, welcher dieselben kanzellieren oder unterstreichen und die Knaben zur Formierung guter Buchstaben und Schriften anleiten solle.

Außer dem Lesen und Schreiben waren noch das Rechnen und die von einem Geistlichen vorgetragene Religionslehre Gegenstände des Unterrichtes in der Volksschule. Auch über den Unterricht im Rechnen finden sich einige interessante Angaben. Daß bei demselben schon im 16. Jahrhundert das Kopf- und Tafelrechnen als zwei Lehrgegenstände behandelt worden seien, wird von Mone für wahrscheinlich gehalten; ich meinesteils habe in bezug hierauf keine Angabe gefunden. Interessant ist, was Mone über eine Baseler handschriftliche Anweisung zum Ziffernrechnen angegeben hat. Diese 1408 geschriebene Anweisung war, da sie in deutscher Sprache abgefaßt ist, nicht für gelehrte, sondern für Volks-Schulen bestimmt und verdiente wohl im Drucke mitgeteilt zu werden. Nach derselben legte man damals beim Rechenunterrichte sieben Species zugrunde, von denen doch zwei schon in anderen enthalten sind: die Addition, Subtraktion, Duplation (Verdoppelung von Zahlen), Mediation (Halbierung derselben), Multiplikation, Division und die radices (das Wurzelausziehen).

Besondere Rechenlehrer, d. i. Leute, deren Erwerb bloß im Erteilen von Rechenunterricht bestand, habe ich im Mittelalter nicht gefunden. Bei der geringen Zahl von Angaben, welche bis jetzt über Lehrmethoden und andere wesentliche Seiten des Unterrichtes im Mittelalter veröffentlicht worden sind, werden folgende urkundliche Mitteilungen über das Rechnen und dessen Unterweisung einigen Wert haben. Es gab im Mittelalter, selbst für den Gebrauch der Finanzbeamten, Rechenbretter, d. h. hölzerne Tafeln mit darauf gezeichneten Linien und Zahlen, deren man sich beim Rechnen bediente. Sie hießen auch Rechentische, Rechentafeln und Zählbrett-Tafeln. Schiefertafeln habe ich nirgends erwähnt gefunden, wohl aber einmal ein Brett zum Daraufschreiben mit Kreide. Außer den Rechenbrettern bedienten die Beamten bei ihren Geschäften sich auch der Rechenpfennige.

Über die Art, wie die Rechenbretter und Rechenpfennige gebraucht wurden, enthält Kirchhofs „Wendunmuth" folgende belehrende Angabe aus dem 16. Jahrhundert: „Das Leben dieser zergenglichen Welt und alle Menschen darinn sein wie ein rechen- oder zalpfennig; auff welche linien derselbige gelegt, soviel und mehr gilt und zeigt er ein summ an. Jetzt ist er auff der obersten linien und bedeut ein, zwey oder zehen, bißweilen hundert und drüber, tausend und noch mehr;

bald nimpt in der, so in dahin gelegt, rückt in auff ein linien, darunder er allweg zehen mal soviel weniger gilt, als er auff der linien drüber golten hat. Jetzt ist er auff dem hundert, denn im spacio drunter, jetzt auff dem zehen, denn auff dem ort, da er nit mehr denn eins, im hui nur ein halbs, jetzt ein gulden, ein album oder batzen, jetzt ein pfennig, heller u. s. w. bedeut. Was darffs viel wort? Ehe sich einer umbsicht, hebet der rechenmeister solchen pfenning gar hinweg, so ist er nichts mehr denn ein ander pfennig und ein stück messing."

Die arabischen Zahlzeichen, damals schlechtweg die Ziffern genannt, wurden in den Rechenbüchern des Frankfurter Rates am Anfange des Jahres 1494 zum ersten Male gebraucht, jedoch bloß vereinzelt und mitten zwischen den römischen. Ein wenige Wochen nachher gefaßter Ratsbeschluß aber verbot den Beamten, welche jene Bücher führten, sich der ersteren zu bedienen. Hierauf erscheinen die arabischen Ziffern zuerst wieder im Rechenbuche von 1546, wiewohl noch immer mit römischen untermischt, und es dauerte noch eine Zeitlang, bis sie ganz an die Stelle der letzteren traten.

In allen Schulen, den lateinischen, wie den deutschen, war neben dem Sprachunterrichte der Gesang der Hauptlehrgegenstand. Er war dies in einem Grade, wie weder vorher noch nachher jemals, jedoch nicht etwa, weil man ihn als ein Bildungsmittel ansah oder behandelte, sondern lediglich des Gottesdienstes wegen. Die Schule wurde als Dienerin der Kirche betrachtet und war namentlich dazu bestimmt, die Jugend nicht nur gehörig im Kirchengesang zu üben, sondern auch vermittelst ihrer einen Gesangchor für den Gottesdienst zu unterhalten. Der Kirchengesang hatte deshalb in der Schule eine so große Bedeutung, daß Papst Gregor I., nur weil er der eigentliche Schöpfer desselben war, der Schutzpatron der Schulen geworden ist, und daß dieses Gesanges wegen in allen Schulen ein Singchor von Schülern entstanden ist, der sich in verschiedenen Formen überall bis zum Beginne unseres Jahrhunderts erhalten hat. Den gottesdienstlichen Gesang teils allein zu verrichten, teils zu leiten, war geradezu einer der Hauptzwecke mittelalterlicher Schulen. In den Diensteiden der Lehrer war deshalb deren gesamte Amtsverpflichtung oft in die Worte zusammengefaßt, sie sollten die Schüler in den Wissenschaften und im Gesang (in litoris ac cantu) unterweisen; und in der braunschweigischen Schulordnung von 1478 wird den Lehrern das Lateinischsprechen und der „Sang" als die Hauptsache bei ihrem Unterrichte anempfohlen. In allen Hauptverordnungen für die Stiftsschulen wird stets sowohl der Sorge für den Gesang, als auch der Verwendung der Schüler beim Kirchengesange gedacht; in den Statuten des Baseler Domstiftes von 1289 wird als Hauptrücksicht bei der Wahl eines Schulrektors ausgesprochen, daß derselbe die zur Leitung der Schule „und des Chores" erforderlichen Eigenschaften besitze.

Auch in den städtischen Schulen wurde das Singen in der Kirche und die Einübung des Kirchengesanges als eine Hauptaufgabe derselben betrachtet, und der Lehrer vorzugsweise daraufhin beeidigt. Im Diensteid des Gerolzhofener Schulmeisters z. B. (1445) verpflichtet sich dieser unter anderem, „den chore ordenlich zu regirn vnd zu singen nach befehle des pfarrers". In Hamburg und Braunschweig mußte sogar eine Anzahl armer Schüler der Reihenfolge nach nachts in den Kirchen schlafen, um gleich bei den Frühmessen im Chor dienstlichen Beistand zu leisten. Dies führte natürlich Unfug herbei, indem die Schlafschüler (scholares dormitoriales), wie man die damit beauftragten Knaben nannte, allerlei Mutwillen in den Straßen trieben, weshalb man diese in Hamburg 1345 gemachte Einrichtung 1446 wieder abschaffte. Übrigens hatten diese Schlafschüler zugleich auch die Kirchengefäße, Meßgewänder und Ornate der Kirche zu bewachen und zu reinigen, sowie als Ballentreter bei der Orgel zu dienen und andere kleinere Verrichtungen zu tun. Ihren Namen haben sie von dem Umstande erhalten, daß in den Stiftsschulen manche arme Schüler nicht bloß freien Unterricht, sondern auch die Kost und das Recht, im Schlafsaal (dormitorium) zu übernachten, erhielten. Die Nürnberger Schulordnung aus der Zeit um 1500 schreibt in einem besondern Artikel vor, der Unterricht solle sowohl vor- als nachmittags damit begonnen und geschlossen werden, daß alle Schüler ein „veni sancte" oder ein anderes Kirchenlied absängen; und diese Einrichtung wird wohl überall bestanden haben.

In betreff der Methode des Gesangunterrichtes habe ich vergebens nach Angaben gesucht. Ein reichliches Material findet sich dagegen in betreff des Institutes der sogenannten Chorschüler

(chorales) vor, welches sehr alt war und sich später auch bei den Protestanten bis fast zu unserer Zeit erhalten hat. Die ganze Schule nahm, unter Leitung ihrer Lehrer, am Kirchengesange teil. Da dieser jedoch tagtäglich mehr als einmal und außerdem noch bei Trauungen, Beerdigungen, Begängnissen u. s. w. außerordentlicherweise erfordert wurde, so entstand schon früh ein besonderer Chor, welchem nur ein Teil der Schüler angehörte. Nun lag es in der Natur der Sache, daß man diesen aus den ärmeren Schülern bildete, in den Stiftsschulen namentlich aus den sogenannten panenses oder Brotschülern, d. h. denjenigen Schülern, welche außer dem freien Unterricht auch noch täglich, oder einen Tag über den andern, Brot erhielten, und aus den sogenannten scolares ad mappam oder ad scutellam, d. h. solchen, denen das Stift täglich die Kost gab. Beide Arten von Schülern waren für die ihnen erwiesene Wohltat zum Chorgesange verpflichtet. In den übrigen Schulen bestand dieselbe Verpflichtung ebenfalls für diejenigen, welche von der Entrichtung des Schulgeldes befreit waren. Hiermit war das Institut der Chorschulen von früh an zu einem Armeninstitut gemacht, und eine natürliche Folge davon war, daß die Chorschüler dasselbe benutzten, um sich auch außerhalb des Gottesdienstes durch Singen Geld zu verdienen. Später, namentlich in der protestantischen Zeit, war das letztere sogar der Hauptzweck des Schülerchores, und gerade weil dies der Fall war, erhielt sich das Chorinstitut der Schulen als Versorgungsanstalt für arme Schüler bis zur neuesten Zeit. In Frankfurt wird schon 1567 als etwas Herkömmliches bezeichnet, daß die ärmeren Schüler des Gymnasiums in der Stadt umherzogen und Almosen sammelten, womit offenbar die Chorschüler gemeint sind; und als damals der Rektor dies untersagt hatte, erlaubte es der Rat durch einen förmlichen Beschluß von neuem. Das Almosensammeln war aber so entschieden die Hauptsache geworden, daß der Rat in seinem Beschlusse des Singens gar keine Erwähnung tat.

Schon im 15. Jahrhundert kam vor, daß die Chorschüler bei besonderen Gelegenheiten sich ein Almosen ersangen, z. B., wie in Delitzsch, bei den Festmahlen des Rates, oder, wie in hessischen Städten, vor der Herberge einer durchreisenden fürstlichen Person. Im 16. Jahrhundert kam dies noch häufiger vor, und die Chorschüler sangen dabei nicht mehr bloß geistliche, sondern auch weltliche Lieder. Das letztere geht daraus bestimmt hervor, daß sie auch auf Hochzeiten und bei Festgelagen von Privaten auftraten. So findet sich z. B. 1516 beim Jahresfeste der Frankfurter Patrizier-gesellschaft „Limburg" eine Ausgabe eingeschrieben, „den studenten, die singen wolten, vnd dem spielmann mit der lauten". Daneben versteht sich ihre Verwendung bei ernsten Ereignissen des öffentlichen und Privat-Lebens ganz von selbst. Sie sangen z. B. bei einzelnen Beerdigungen und namentlich auch am Neujahrstage. In Wernigerode war das Neujahrssingen der Knaben der dortigen Oberschule, welche dafür mit Geld beschenkt wurden, schon um 1540 üblich, und erhielt sich nachher noch anderthalb Jahrhunderte lang. In Eßlingen verschafften sich die Singschüler durch ihr Herumsingen in der Stadt nicht bloß ein Almosen, sondern sie wurden auch von seiten des städtischen Spitals gut bedacht. Dieses reichte ihnen täglich zweimal Brot, sowie den Überrest vom Gesindeessen. Um den letzteren sich nach Hause zu tragen, hatte jeder von ihnen am Gürtel ein hölzernes Gefäß befestigt, und man nannte deshalb in Eßlingen die Chorschüler nur die Häfeleinsbuben.

Die geistlichen Lieder, welche die Schüler sangen, waren wie alle Kirchengesänge des Mittelalters lateinische. Erst die Reformation verwandelte dieselben in deutsche. In Eßlingen wurde den Chorschülern bereits 1549 befohlen, deutsch zu singen, damit man sie verstehe. Zu jener Zeit kam auch auf, daß dieselben außer dem einfachen Kirchenlied noch Figuralmusik oder sogenannte geistliche Arien in der Kirche, sowie vor den Häusern von Musikliebhabern vortrugen. Zu Frankfurt fand dies in der Kirche zum ersten Male 1573 statt. In dieser Stadt, in welcher das Chorinstitut des Gymnasiums erst im Anfange unseres Jahrhunderts abgeschafft wurde, hatte sich dasselbe nach und nach so ausgebildet, daß es im 18. Jahrhundert sogar in drei nach ihren Leistungen und Verwendungen verschiedene Chöre zerfallen war. Es bestand nämlich damals dort ein großer, ein kleiner und ein sogenannter Leichen-Chor. Der große Chor sang wöchentlich vor den Häusern der Gesangliebhaber teils Lieder, teils geistliche Arien. Der kleine Chor, welcher nicht kunstgeübt genug war, um die letzteren vorzutragen, zog ebenfalls jede Woche einmal durch die Straßen und sang vor den Wohnungen derer, welche zur Erweckung der Andacht ein geistliches Lied hören wollten, ein

ſolches ab. Der Leichenchor endlich, welcher aus einzelnen Mitgliedern der beiden anderen Chöre und einigen anderen Schülern beſtand, ſang bloß bei Beerdigungen, nämlich vor dem Sterbehauſe und am Grabe. Alle drei Chöre ſtanden unter der Aufſicht des Rektors, welcher das ihnen geſchenkte Geld in Empfang nahm und wöchentlich unter deren Mitglieder verteilte.

In Frankfurt entſtand am Ende des Mittelalters, neben den Chören der Stiftsſchulen, noch ein beſonderer Singchor von Schülern, deren Mitglieder die Sakramentsſchüler hießen. Im Jahre 1499 machten nämlich zwei Bürger eine Stiftung für zwei Schüler, welche, wenn das Sakrament zu Kranken gebracht wurde, vor demſelben mit Kerzen in der Hand hergehen und ſingen ſollten. Der Rat ſuchte dieſe Stiftung, wahrſcheinlich weil damals viele Sterbefälle vorkamen, anfangs zu verhindern, indem er jene Bürger erſuchen ließ, „dies vnderwegen zu laſſen, bring groſſen ſchrecken ins volg“. Doch hatte es in Frankfurt ſchon vorher Stiftungen gleicher Art gegeben, und um 1500 kommt ſogar eine gemeinſchaftliche Wohnung der Sakramentsſchüler vor, welche in der Nähe des Domes gelegen war. —

Die übrigen Lehrgegenſtände waren in den Volksſchulen das Leſen, Schreiben und Rechnen, in den ſtädtiſchen Lateinſchulen die lateiniſche Sprache und das Trivium, in den Stiftsſchulen dieſe beiden Gegenſtände und das Quadrivium. Was die anderen Sprachen betrifft, ſo war in den früheren Zeiten des Mittelalters hier und da auch deutſcher Sprachunterricht erteilt worden; wenigſtens werden in einem Reichenauer Bürgerverzeichniſſe des 9. Jahrhunderts carmina diversa ad docendam theodiscam linguam erwähnt. Griechiſch und Hebräiſch kommen erſt am Ende des Mittelalters in einzelnen Stiftsſchulen vor, z. B. 1520 in der Frankfurter Leonhardsſchule. Selbſt noch Luther war dem Unterrichte im Griechiſchen nicht gewogen. Er ſagte: man ſolle bloß Lateiniſch, nicht, wie manche bisher getan hätten, Deutſch, Griechiſch und Hebräiſch lehren und die armen Kinder nicht mit Mannigfaltigkeit beſchweren, welche nicht bloß unfruchtbar, ſondern auch ſchädlich ſei; auch nähmen die Schulmeiſter ſoviele Sprachen nicht zum Beſten der Kinder, ſondern um ihres eigenen Ruhmes willen vor.

Der Unterricht wurde in den Stiftsſchulen wie in den ſtädtiſchen Lateinſchulen in lateiniſcher Sprache erteilt, und die Lehrer waren verpflichtet, darauf zu ſehen, daß auch die Schüler miteinander Latein ſprachen. Ja, dies mußten die letzteren ſogar außer der Unterrichtszeit und auf der Straße tun. Man verfuhr in Hinſicht hierauf mit ſolcher Strenge, daß für das Eßlinger Gymnaſium 1548 geradezu befohlen wurde, jeder, der in der Schule Deutſch ſpreche, ſolle dies „von Stund an mit dem Hintern zahlen“. Bei den Anfängern war das Lateinſprechen natürlich noch nicht möglich: aber man ſorgte bei ihnen dafür, daß ſie dazu ſobald als möglich befähigt wurden. In der ſtädtiſchen Schule zu Nürnberg wurde z. B. um 1500 vorgeſchrieben, daß die Schüler der unterſten Klaſſe, während ſie noch buchſtabieren und leſen lernten, jeden Tag einige lateiniſche Wörter mit ihrer Verdeutſchung ſich einprägen ſollten. Schon in der nächſtfolgenden Klaſſe aber (der mittleren) durften ſie in der Schule, im Chor, in der Kirche und deren Hofe, ſowie in der Prozeſſion nur Lateiniſch reden, und jeder Verſtoß gegen dieſe Vorſchrift ward mit der [unten näher beſchriebenen] Ehrenſtrafe des Lupus und Aſinus und, wenn es an einem Tage dreimal vorgekommen war, mit Rutenſchlägen beſtraft.

In derſelben Schule begann der tägliche Unterricht ſtets damit, daß der Lehrer die Schüler verlas und die Schulverſäumniſſe beſtrafte. Der Lehrgang ſelbſt beruhte vor allem darauf, daß die Schule aus mehreren Klaſſen beſtand. In den meiſten Stiftsſchulen hatte man deren zwei, nämlich eine für das Trivium und eine für das Quadrivium. Die Nürnberger Lateinſchule dagegen zerfiel in drei Klaſſen, welche man jedoch nicht mit dieſen Worten bezeichnete, ſondern den erſten, zweiten und dritten Zirkel, oder wohl auch die jüngſten, mittleren und älteſten Schüler nannte. (Melanchthon gebrauchte ſtatt deſſen die Namen: erſter, zweiter und dritter Hauſen.)

Der Beginn des Schulkurſus fand in manchen deutſchen Städten am 12. März, als dem Tage des Schutzpatrones der Schulen, des heiligen Gregorius, ſtatt; in anderen, z. B. in Braunſchweig, wurden jährlich zweimal, gleich nach Oſtern und nach Michaelis, neue Schüler aufgenommen, und ein neuer Kurſus begonnen. Die Eröffnung der Schule am Gregoriustage gab Anlaß zur Entſtehung eines der mittelalterlichen Schulfeſte, des Gregoriusfeſtes oder, wie es auch hieß, des Biſchofsſpiels. Die Kinder, welche an dieſem Tage in die Schule getan

wurden, zogen zuerſt in die Kirche, wo der Pfarrer eine Anrede an ſie hielt, und dann durch die Straße in die Schule, wobei die Leute ihnen Brezeln ſchenkten. Nach und nach wandelte ſich dieſer einfache Hergang des erſten Schulbeſuches, bei der im Mittelalter herrſchenden Lebensluſt und Freude am Scherzhaften, beſonders aber am Vermummen, in ein immer luſtiger werdendes Feſt um. Die neuen und die alten Schüler zogen, geführt von einem als Biſchof verkleideten Knaben und zwei niederen Geiſtlichen, unter Glockengeläute in die Kirche, wo ſich der Schülerbiſchof mit dieſen Geiſtlichen am Altar niederſetzte. Nach Anhörung der Rede des Pfarrers und nach Abſingung eines Gregoriusliedes verließ der Zug der Kinder die Kirche und bewegte ſich unter Geſang zum Schulhauſe, wobei die Knaben, in mancherlei Verkleidungen und mit den ihnen geſchenkten Brezeln behangen, ihrem Biſchof folgten. Später kam noch hinzu, daß dieſes Feſt mit der Aufführung einer geiſtlichen Komödie beſchloſſen wurde. Für dasſelbe gab es hier und da bereits im 14. Jahrhundert Stiftungen zu Anſchaffung und Verteilung von Brezeln. Schon früh nahm die Geiſtlichkeit Anſtoß an der mit dieſem Feſte verbundenen Mummerei und an dem Scherze, welchen die Kinder unterwegs mit ihrem Biſchof trieben. Sie verbot daher dasſelbe. Deſſenungeachtet erhielt es ſich, wiewohl nicht als Schuleröffnungs-Feſt am Gregoriustage, ſondern als ſogenanntes Biſchofsſpiel auf Faſtnacht, auf Andreä, am Nikolaustage, oder zur Weihnachtszeit, noch lange. In Hamburg war den Schülern vom Andreastage an bis zum 28. Dezember, folglich vier Wochen lang, erlaubt, mit ihrem Biſchof durch die Straßen zu ziehen. Dort trieben ſie außerdem auch noch am Gregoriustage das Biſchofsſpiel. In Braunſchweig, wo ſie außer einem Biſchof auch noch einen Abt aus ihrer Mitte ernannten, dauerten die mit dieſem Feſt verbundenen Mummereien und Beluſtigungen vom Nikolaustage an bis zum 28. Dezember und waren mit öfteren Knabenprozeſſionen und zum Schluſſe mit einer Schmauſerei verbunden; das ganze Feſt wurde aber dort 1407 durch einen vom Papſt beſtätigten Beſchluß des St. Blaſius-Stiftes unterdrückt. Übrigens war das Biſchofsſpiel der Knaben auch in England gebräuchlich.

Der Lehrſtunden oder, wie man im Mittelalter ſie nannte, Lektionen waren in den meiſten Schulen täglich vier an der Zahl. Doch gab es auch Schulen mit fünf, oder auch nur mit drei täglichen Lehrſtunden, wie z. B. die Speyerer Domſchule im 14. Jahrhundert. Ja, für die Schule zu Halle ſchrieb Brenz in ſeiner Kirchenordnung von 1526 ſogar nur zwei vor, eine am Vor- und eine am Nachmittag, und zwar mit der Motivierung: „dan es nichts nutz iſt, das man die Jungen einen gantzen Tag zwing by ein ander zu ſitzen“. Sonſt nahm gerade im 16. Jahrhundert die Zahl der Lehrſtunden zu; ſo erhielten z. B. die Badener Lateinſchule 1541 und die Freiburger 1558 täglich ſechs, erſtere ſogar ſechs und eine halbe, das Eßlinger Gymnaſium aber 1548 in den drei oberen ſeiner vier Klaſſen nicht weniger als acht. Daß am Mittwoch nachmittag der Unterricht ausgeſetzt war, kommt meines Wiſſens zuerſt in der Schulordnung der Stadt Baden von 1541 vor. Die Verteilung der Lehrſtunden war faſt überall ſo gemacht, daß gleichviele auf den Vor- und Nachmittag fielen. Hier und da gab es auch noch eine abendliche Lehrſtunde, z. B. an der Speyerer Domſchule und in der cleviſchen Stadt Goch. In der Freiburger Lateinſchule wurde 1558 eine Einrichtung gemacht, welche Thomas Platter bereits 1542 auch beim Baſeler Gymnaſium getroffen hatte: man ordnete nämlich die vier täglichen Lehrſtunden ſo an, daß ſowohl vor- als nachmittags in ihre Mitte eine freie Stunde gelegt wurde, welche entweder zur Erholung der Schüler, oder zum Arbeiten derſelben beſtimmt war. Auch in der Schule von Baden war 1541 der dreiſtündige Vor- und Nachmittagsunterricht durch eine Freiſtunde unterbrochen, welche nicht in der Schule, ſondern zu Hauſe zugebracht wurde. Der Nachmittagsunterricht begann faſt überall um 12 Uhr, weil man im Mittelalter allenthalben um zehn oder elf Uhr zu Mittag ſpeiſte und zwölf Uhr ſchon zum Nachmittag gerechnet ward. Am Vormittag begann in den meiſten Städten der Unterricht im Sommer um ſechs und während des Winters um ſieben Uhr, in manchen (wie zu Baden, zu Freiburg im Breisgau und zu Gerolzhofen) ſogar um fünf Uhr des Sommers und um ſechs Uhr des Winters. In den meiſten Städten erhielt ſich dieſer frühe Beginn des Schulunterrichtes noch bis zum 18. Jahrhundert. Selbſt im äußerſten Nordoſten des deutſchen Sprachgebietes, nämlich zu Reval, begann die vornehmſte der dortigen Schulen noch 1627 um ſechs Uhr des Sommers und um ſieben Uhr des Winters; zu Frankfurt aber wurde noch 1765, bei der Verbeſſerung der Gymnaſialordnung, die Frage aufgeworfen, ob

nicht der alte „löbliche“ Gebrauch, den Unterricht um halb sieben Uhr zu beginnen, wiederhergestellt werden solle.

Von Schulprüfungen zeigt sich im Mittelalter keine Spur. Zwar nahm in den Stiftsschulen der mit der Aufsicht über dieselben betraute Prälat (der Scholaster) von Zeit zu Zeit eine solche vor; aber dies kann man doch nicht als eine Prüfung, sondern bloß als eine Schulvisitation ansehen. Für die geistlichen Zöglinge der Konstanzer Schule stellte 1506 der Bischof einen Gelehrten als besonderen Prüfungsmeister an, damit derselbe sie vor ihrer Ordination examiniere, was früher der dortige Domscholaster getan hatte. Auch von Schulprämien habe ich im Mittelalter nirgends etwas entdeckt. Sie kamen nebst den eigentlichen Schulprüfungen erst in der Reformationszeit auf. Zu Eßlingen gedenkt ihrer bereits die Schulordnung von 1548; in Frankfurt werden sie 1561 beim Gymnasium zum erstenmal erwähnt; in den dortigen Volksschulen aber wurden sie erst 1782 eingeführt.

Regelmäßig wiederkehrende Einstellungen des Unterrichts während einer gewissen Zeit, oder Schulferien, gab es im Mittelalter nirgends; die Schüler erhielten nur diejenigen Tage frei, an welchen kirchliche Hauptfeste gefeiert wurden und deshalb alle Arten von Arbeiten eingestellt waren. Jedoch war nicht überall an Sonn- und Feiertagen der Schulunterricht eingestellt. In Nürnberg z. B. fand, wie wir bereits wissen, an denselben regelmäßig Schulunterricht statt, und in Landau war dem Lehrer der Lateinschule geradezu verboten, wegen eines in der Woche eintretenden Feiertages den Unterricht auszusetzen. Dagegen hatte fast überall der Lehrer das Recht, den Schülern einmal einen oder mehrere freie Wochentage „durch luft und spils willen irem libe zu trost“ zu gewähren. Auch geschah es mitunter, daß die Schüler dem Lehrer Geld für die Gewährung eines freien Tages anboten, und dieser darauf einging. Ja, man muß fast annehmen, daß die Schüler jedesmal, wenn ihnen ein oder mehrere Tage freigegeben wurden, diese Vergünstigung zu bezahlen hatten. Auf der Meißener Gelehrtenschule gab es noch im ganzen 16. Jahrhundert keine Ferien. Am frühesten habe ich regelmäßige Ferien bei der Freiburger Lateinschule erwähnt gefunden, für welche die Schulordnung von 1558 vorschrieb, daß es nur im Herbst Ferien geben sollte, dieselben aber nicht über vierzehn Tage dauern dürften. Beim Frankfurter Gymnasium werden sie vor 1585 nicht erwähnt; sie umfaßten bei demselben damals die nächsten drei Wochen nach dem jährlichen Examen.

Das Abhandensein von Ferien mußte im Mittelalter den Schulfesten eine größere Bedeutung geben, zumal da Festlichkeiten überhaupt damals bei allen Ständen und Volksklassen eine weit größere Rolle spielten als heutzutage. Von diesen Festen sind die am häufigsten erwähnten das Gregoriusfest und Bischofsspiel, die Schulkomödien und das Virgatum-Gehen. Des zuerst genannten ist bereits oben ausführlich gedacht worden, sowie der Schulkomödien in meiner Schrift über das deutsche Bürgertum. Auch das Virgatum-Gehen ist in dieser Schrift schon behandelt; ich bin aber mittlerweile in den Stand gesetzt worden, über dasselbe ausführlichere Mitteilungen zu machen und namentlich seine Entstehung anzugeben. Dieses Schulfest war allerdings dasselbe, was jetzt die Maifeste und andere Ausflüge der Jugend in die freie Natur sind. Allein es war mit einem die mittelalterliche Schuldisziplin bezeichnenden Gebrauche verbunden und hatte einen ganz andern Entstehungsgrund, als die Maifeste, das sogenannte Maisengrün und ähnliche Schulfreuden der neueren Zeit, wenn nicht etwa einige dieser heutigen Feste noch Überreste des ehemaligen Virgatum-Gehens sind.

Die Rute, in den lateinischen Schulen die virga genannt, war das Haupt-Strafmittel bei der Jugend des Mittelalters und wurde damals so häufig angewandt, daß jede Schule einen starken, immer wieder Ersatz heischenden Bedarf derselben hatte. In manchen Schulen wurde deshalb den sogenannten Kustoden, d. i. den zu Aufsehern ernannten Schülern, manchmal ein Tag freigegeben, damit sie im Walde Ruten schnitten. Dies geschah in der Revaler Domschule noch im Jahre 1627. Auch in Frankfurt herrschte dieser Gebrauch, was daraus hervorgeht, daß man daselbst die Schulrute die Kustos-Birga nannte. Die letztere wird dort bei folgender, in den städtischen Liebfrauenstifts-Akten erwähnten Gelegenheit angeführt: „Ein Fürsprech reichte 1504 eine Injurienklage gegen mehrere Mitbürger ein und bezichtigte dieselben namentlich, daß sie, weil er schon mehrmals sich beschwerend an den Bürgermeister gewandt habe, ihn einen den Schulmeister

zu Hilfe rufenden Schüler nennten und auf der Straße ihm nachriefen, ob er vielleicht wieder zum Bürgermeiſter laufe, um die Kuſtos-Virga zu holen".

In manchen Städten war von alter Zeit her gebräuchlich, daß an einem Sommertage die ganze Schuljugend in den Wald zog, um die nötigen Ruten herbeizuſchaffen. Man nannte dies in Baſel den Rutenzug, an anderen Orten aber das Virgatum-Gehen, weil die Schüler nach dem Ausdruck einer Schulordnung von 1578 „virgatum, ut vocant, producuntur". Bei demſelben pflegte die Schule einen ganzen Tag im Freien zuzubringen, wie bei unſeren Maifeſten, und da man im Mittelalter den Scherz in den Ernſt einzumiſchen liebte, ſo machte auch die damalige Jugend aus einer für ſie im Grunde traurigen Sache ein Feſt der Freude. Luſtig zogen die Schüler, von den Lehrern geführt und von der halben Stadt begleitet, hinaus in den Wald. Dort tummelten ſie ſich, wenn die Ruten geſchnitten waren, mit Maien geſchmückt, herum, führten allerlei Spiele und gymnaſtiſche Übungen auf und wurden von Eltern und Lehrern bewirtet. Mit ihrer Plage beladen, kehrten ſie abends in komiſchem Aufzuge, ſcherzend und entſprechende Lieder ſingend, zur Stadt zurück.

Das Feſt des Virgatum-Gehens artete zuletzt aus, indem Muſik und Tanz an die Stelle der Leibesübungen traten, auch Trommler, Pfeifer, Lauteniſten und andere Muſikanten mitzogen. Es wurde deshalb in Regensburg 1554 verboten. Fünf Jahre ſpäter erlaubte man es zwar wieder, jedoch mit Beſeitigung der Inſtrumentalmuſik, mit Verbieten des Tanzes, mit Abſonderung der Mädchen von den Knaben, und mit dem Befehle, daß es nicht mehr im Walde, ſondern in einem Stadtgraben, ſowie an einem und demſelben Tage nicht von mehreren Schulen zugleich gefeiert werde. In manchen Städten blieb dieſes Feſt bis weit in die neuere Zeit hinein beſtehen. In Regensburg, wo es ſich 1426 zum erſtenmal erwähnt findet, hat es ſich bis in unſer Jahrhundert hinein erhalten. Dort wurde es ſpäter das Vakatum (der Tag der Vakanz) genannt, wahrſcheinlich weil, wie Gemeiner meint, die eigentliche Bedeutung des Wortes virgatum (d. i. um Ruten zu holen) aus dem Gedächtniſſe geſchwunden war.

Von den vielen anderen Schulfeſten erwähnen wir ſchließlich nur noch eines, weil dasſelbe in Deutſchland wohl kaum bekannt geworden iſt. Es iſt das Gelage, welches bereits 1390 die Revaler Domſchüler jährlich zweimal, nämlich in der Woche nach Michaelis und im Sommer, hielten, und welches in der letzteren Jahreszeit auf dem Felde gehalten wurde. —

Wenn wir nun zur Beſprechung der Disziplin in den mittelalterlichen Schulen und zu den bei ihrer Handhabung angewandten Mitteln übergehen, ſo muß vor allen Dingen eine dem Mittelalter eigentümliche Erſcheinung dargeſtellt werden, weil dieſelbe den größten Einfluß auf den ſittlichen Zuſtand der Schulen ausgeübt hat. Wir meinen das jahrhundertelang vorgekommene, ſowie noch nach dem Mittelalter ſich lange Zeit erhaltende Treiben der ſogenannten fahrenden Schüler, oder, wie ſie zuletzt hießen, der Bachanten (Verkehrung des Wortes Vaganten, d. i. Umherſtreifenden). Es waren dies junge Leute, welche von einer Stifts- oder Stadtſchule oder Univerſität zur anderen wanderten und ſich dabei Nachtlager und Koſt, oder das Geld dafür durch Betteln verſchafften. Sie führten faſt insgeſamt ein unſittliches Leben, erlaubten ſich mitunter als Quackſalber, Taſchenſpieler, Schatzgräber, Sänger u. dgl. m. Betrügereien und wirkten durch ihr Beiſpiel ſo verführeriſch, daß immer wieder andere Schüler ſich auf die Wanderung begaben, und daß auch nicht wenige Mönche das Kloſter verließen, um ſich der gleichen Lebensweiſe hinzugeben. Die Zahl dieſer Schulvagabunden war ſo groß, daß um 1400 in der Stadt Breslau allein ſich zu gleicher Zeit deren mehrere Tauſend aufgehalten haben ſollen.

Ein ſolches Treiben war nur in Deutſchland und nur in einem Zeitalter möglich, in welchem die vielfache Spaltung der Nation in Staaten, Gemeinden, Standes- und Gewerkskorporationen, ſowie eine ebenſo große Mannigfaltigkeit der Rechtsverhältniſſe das Beſtehen und die Handhabung einer wirklichen Polizeigewalt unmöglich machten. Hierin allein lag jedoch der Grund des Aufkommens und der langen Fortdauer jener Erſcheinung nicht; es wirkten vielmehr noch andere Umſtände mit. Namentlich beförderten die vielen von frommen Leuten geſtifteten Schulſtipendien, welche größtenteils in wöchentlichen oder auch täglichen Brotausteilungen beſtanden, jenes Treiben.

Ebenſo wirkte der Umſtand mit, daß diejenigen Stiftsſchüler, die ſich zum Chorgeſang ver-

pflichteten, dafür Geld oder Brot erhielten, und daß dieſelben auch bei Leichenbegängniſſen und anderen Gelegenheiten ſich ein Almoſen erſangen. Es war dies eine beſondere Form des Bettelns, welche einem fahrenden Schüler, wenn er in den Singchor der Schule eintrat, ſeine Exiſtenz erleichterte. Außerdem war aber auch das Betteln ſelbſt von oben herab geſtattet, weil man im Mittelalter und noch lange nachher ſich ein Gewiſſen daraus machte, dasſelbe an und für ſich ſelbſt zu verbieten. Die Nürnberger Bettelordnung von 1478 und die Würzburger von 1490 ſprachen ſogar geradezu aus, daß einem fahrenden Schüler, wenn er nur die Schule fleißig beſuche, erlaubt ſei, Almoſen zu betteln.

Für Schüler, namentlich für herangewachſene, war es alſo eine leichte Sache, von einer Stadt zur andern zu ziehen, durch den Beſuch einer Schule ſich ſo lange, bis ſie weiterzogen, am Genuß der Stipendien zu beteiligen und alles außerdem noch Nötige bei den Bürgern zu erbetteln oder zu erſingen. Ein ſolches Leben war gerade für ſie leichter zu führen, als für andere Bettler, weil der Schulbeſuch ſie in den Stand ſetzte, ſich unterwegs durch allerlei Künſte, Erzählungen, gelehrte Dienſtleiſtungen beliebt zu machen. Zugleich hatte dasſelbe für ſie nicht bloß den die Jugend anziehenden Reiz eines bunten, wechſelreichen Lebens, ſondern auch, bei der ſchlaffen Schuldisziplin, den ebenſo großen Reiz eines luſtigen Zuſammenſeins im Wirtshauſe und beim Haſardſpiele.

Dies alles allein erklärt jedoch das ſo lange Zeit in Deutſchland beſtandene Unweſen der fahrenden Schüler nicht. Es lag vielmehr noch ein anderer und vielleicht gerade der wichtigſte Grund desſelben im deutſchen Nationalcharakter ſelbſt. Dieſer Grund iſt die angeborene Wanderluſt der Deutſchen, die ſich zum Unterſchied von anderen Völkern noch bis auf unſere Zeit bei den deutſchen Studenten und Handwerksburſchen erhalten hat. Faſt in allen Biographieen, welche uns aus dem deutſchen Mittelalter überliefert worden ſind, zeigt ſich eine große Beweglichkeit und ein Hin- und Herwandern der jungen Leute vom Gewerb- wie vom Gelehrtenſtande. Ja, die Sache iſt durchaus deutſch, daß der franzöſiſche Lexikograph Ducange als Ausländer kein Verſtändnis für ſie hatte und die fahrenden Schüler, weil er mehrere Konzilienbeſchlüſſe gegen ſie vorfand, für eine Sekte („ordo seu secta“) hielt.

Wir haben es alſo mit einem beſonderen Charakterzug des deutſchen Volkes zu tun. Dieſer wirkte im Mittelalter auf eine ſo tief eingreifende Weiſe, daß Mone gewiß recht hat, wenn er vermutet, von den vielen für arme Schüler gemachten Stiftungen ſei ein Teil durch den von den fahrenden Schülern getriebenen Unfug veranlaßt worden und aus der Abſicht hervorgegangen, dieſe vermittelſt des Stipendiengenuſſes in bleibende Verbindung mit einer Kirche zu bringen und dadurch vom Umherſchweifen abzuhalten. Sehr auffallend iſt die äußerſt ſeltene Erwähnung der fahrenden Schüler in einer Stadt wie Frankfurt, welche unausgeſetzt einen ſtarken Zuzug von Fremden hatte. Ich habe die fahrenden Schüler in frankfurtiſchen Schriften des Mittelalters ſogar nur ein einziges Mal (1480) erwähnt gefunden, obgleich es in Frankfurt drei Stiftsſchulen und nicht wenige Stiftungen für Schüler gab. Einen Erklärungsgrund weiß ich nicht dafür aufzufinden, außer daß jene Schüler dort vielleicht ſtets mit dem öfters vorkommenden allgemeinen Ausdrucke „fahrende Leute“ bezeichnet worden ſind. In anderen Städten fand das Umgekehrte ſtatt: Ulm führte um 1500 ſogar den Beinamen grandis Bachandria. Übrigens gab es ſchon im 14. Jahrhundert (1390) auch eine Bruderſchaft der fahrenden oder (was dasſelbe iſt) elenden Schüler; ſie hatte ihren Sitz in Worms.

Die Schuldisziplin mußte durch die fahrenden Schüler in allen Städten ſehr beeinträchtigt werden und ſchon um ihretwillen ſchwer zu handhaben ſein. Hierzu bedenke man noch, daß damals überhaupt die Menſchen derber, roher und ſchwerer zu leiten waren. Deshalb iſt denn auch in den Amtseiden der Lehrer und in anderen Vorſchriften für die Stifts- wie für die übrigen Schulen die Rede von Lärmen, Plaudern, Schreien und anderen Ungezogenheiten, welche ſogar während des Gottesdienſtes vorkämen und von den Lehrern nicht geduldet werden ſollten. Ebenſo wird aus Braunſchweig berichtet, daß ſowohl während des Gottesdienſtes in der Kirche, als auch bei Prozeſſionen der jugendliche Übermut zuweilen durch Backenſtreiche und Zupfen am Ohr niedergedrückt werden mußte. Eine Übereinkunft zwiſchen den geiſtlichen Vorſtehern zu Braunſchweig von 1370 geſtattete ſogar jedem Rektor, ſolche Strafen bei Prozeſſionen auch den anweſenden Zöglingen einer andern Schule als der ſeinigen zu erteilen: ein Beweis, wie nötig dieſelben waren. Selbſt

von Dolchen, welche die Schüler trügen und in die Schule mitbrächten, iſt öfters die Rede. Das letztere bezieht ſich allerdings nicht ſtets auf Knaben, ſondern hauptſächlich auf die jungen Leute, die ſich in der oberen Klaſſe der Stiftsſchule befanden. Indeſſen ſpricht auch die Eßlinger Schulordnung von 1548 für das dortige ſtädtiſche Gymnaſium das Verbot aus, Weidmeſſer und Dolche in die Schule mitzubringen. Ebenſo werden 1296 in Wien und hundert Jahre ſpäter bei der Speyerer Domſchule die Schwerter und Stechmeſſer den Schülern beſonders verboten, ſo daß wir aus allen dieſen Angaben auf das ſittliche Weſen der Schuljugend in ganz Deutſchland zurückſchließen können. Da nun ebenſo damals in Wien, wie 1456 in der Stadt Überlingen die Behörde ſich gegenüber dem Schulrektor verpflichtete, die der Strafe ſich widerſetzenden Schüler aus der Stadt zu treiben, ſo ſieht man, daß es hauptſächlich die fremden Schulzöglinge, d. h. die fahrenden Schüler, waren, gegen welche jenes Verbot gerichtet war. Auch der Wirtshausbeſuch und das Spielen um Geld, welches beides den Schülern hier und da verboten werden mußte, deutet darauf hin.

Das überall am häufigſten gebrauchte Strafmittel war die Rute. Die häufige Anwendung dieſes Strafmittels war ebenſo ſchon im 14. Jahrhundert den Schulrektoren geradezu befohlen, wie ſie noch in der Eßlinger Schulordnung von 1548 den Lehrern zur Pflicht gemacht wird. In Heidelberg wurde 1567 ein Pädagoglehrer ſogar entlaſſen, weil er „die Rute nicht brauchen wolle gegen die Jungen". Vergebens hatte der verſtändige Mann ſich durch die Erklärung zu rechtfertigen geſucht: man müſſe zwar Zucht halten, aber bei der Strafe auch das Alter der Schüler berückſichtigen; unter den ſeinigen befänden ſich Leute von 19 Jahren, und dieſe zu ſchlagen ſei unvernünftig, unnütz und zwecklos, man könne auch mit Worten ſtrafen. Übrigens waren es niemals die Backen, die Hände und der Rücken, ſondern ſtets ein gewiſſer anderer Teil des Körpers, an welchem die Strafe vollzogen wurde. Überall wurde es hiermit auf gleiche Weiſe gehalten. In der Nürnberger Schulordnung von 1500 hielt man für nötig, dies beſtimmt auszuſprechen. „Der Schulmeiſter ſoll" — heißt es daſelbſt — „bei ſeinen Collaboratoribus vnd Mithelfern verfügen vnd auch ſelbs daran ſeyn, die Knaben mit Rutten in die Hintern zimlicher weis vnd nit vff die Häupter, Hennd oder ſunſt greblich zv ſtraffen vnd zv hawen." Mancher Lehrer ſcheint auch damals am Schlagen ſeine Freude gehabt und dasſelbe über Gebühr geübt zu haben. Dies geht u. a. daraus hervor, daß das Frankfurter Bartholomäusſtift nötig fand, in den Amtseid ſeines Schulrektors die Worte aufzunehmen, er wolle, ſoweit es möglich ſei, den Schülern nicht unverdienterweiſe wehetun.

Vom Beginne des 16. Jahrhunderts an erſcheint als Zuchtmittel in den lateiniſchen Schulen neben der Rute noch der ſogenannte Asinus. Dieſes Mittel kommt damals, ſowie noch im 17. Jahrhundert, in Nürnberg, Ulm, Baſel und anderen Städten vor. Was unter dieſem Worte zu verſtehen iſt, geht deutlich aus folgender Verfügung des Freiburger Stadtrates von 1608 hervor: „Vnd damit ferners latina lingua deſto mehr exerciert, ſoll ſo woll in des präceptoris, als cantoris vnd darbei rectoris lection (d. i. Lehrſtunden) ein höltzerner Eſell vff einem prett geſchnitten oder gemalt verordnet werden, wie auch vor dieſem ſolches gehalten vnd durch jedwede lection präceptoris, post finitam lectionem, denſelben nachgefragt vnd zu wahrer disciplin zu reiten vfferlegt worden". Es mußte alſo jeder ſtraffällig gewordene Schüler am Ende der Lehrſtunde ſich dem Schimpfe unterziehen, einen in der Schulſtube ſtehenden hölzernen Eſel zu beſteigen. In Nürnberg, wo neben dieſem Eſel auch noch ein Wolf (Lupus) gebräuchlich war, wurde um 1500 für die zwei oberen Klaſſen der Lateinſchule verordnet, daß jeder, welcher an einem Tage dreimal den Lupus oder Aſinus gehabt habe, noch dazu mit Ruten beſtraft werden ſolle. Es gab übrigens mehrere Arten dieſes Eſels, nämlich einen Asinus morum, garrulitatis et strepitus, welcher in allen Lehrzimmern ſtand, einen Asinus Germanismi in den oberen Klaſſen für die Schüler, die ſich der deutſchen Sprache ſtatt der lateiniſchen bedienten, und einen Asinus solecismi in der oberſten Klaſſe für diejenigen, die ſich beim Lateiniſch-Sprechen und -Schreiben grobe Verſtöße zuſchulden kommen ließen.

Zur Erhaltung der Ruhe und Ordnung waren in manchen Schulen mehrere Schüler zu Aufſehern beſtellt. In Nürnberg nannte man dieſelben die Aufmerker, in anderen Städten die Kuſtoden. Auch in betreff des Unterrichtes pflegte man ſich der Mithilfe einzelner Schüler zu

bedienen. Zu Nürnberg wurde um 1500 sogar für die unterste Klasse, in welcher man bloß lesen und schreiben lehrte, verordnet, daß diejenigen Schüler, welche nicht recht vorankämen, durch die fähigeren unterrichtet werden sollten. An manchen Orten, z. B. in Eßlingen, waren die Chorschüler bei Verhinderung eines Lehrers zum Aushelfen in der Schule verpflichtet.

Über die Schülerzahl in den einzelnen Klassen habe ich gar keine Angaben gefunden, über die Gesamtzahl der eine Schule besuchenden Schüler aber nur drei. Von diesen betrifft eine die Baseler Stiftsschulen, die beiden anderen die Stiftsschulen Frankfurts. Für die ersteren war 1289 angeordnet worden, daß jede von ihnen nur dreißig Schüler aufnehmen solle. In den drei Frankfurter Stiftsschulen aber betrug 1478 die Schülerzahl zusammen 318 Knaben, und 1482 nahmen dort 136 Schüler von St. Bartholomäi, 101 von Liebfrauen und 81 von St. Leonhard an einer Prozession teil. Aus beiden Angaben läßt sich auf einen für jene Zeit starken Schulbesuch vor seiten der Laien schließen.

Das Schulgeld hat ein Dominikaner des 14. Jahrhunderts, Berthold Huenlen, für einen Sold erklärt, um welchen der Lehrer die reicheren Schüler zu bitten habe; die Bitte sei aber, fügte jener Mann hinzu, wenn der Lehrer ein bestimmtes Gehalt beziehe, als eine Simonie anzusehen. Er wollte, wie man sieht, den Unterricht ohne Bezahlung oder, wenn man desselben zum Lebensunterhalt bedürfe, doch nur gegen ein beliebiges Geschenk der Schüler erteilt haben. Soweit ging man jedoch im Mittelalter sonst nirgends, und es gab meines Wissens in Deutschland weder eine Stifts- noch eine städtische Schule, welche unentgeltlichen Unterricht erteilte, oder mit anderen Worten keine Freischulen. Bloß die Armen hatten an den meisten Orten den Schulunterricht frei, an anderen, z. B. in Überlingen und Nürnberg, entrichteten sie ein geringeres Schulgeld als die Reichen. Der Betrag des Schulgeldes war nach Ort und Zeit verschieden. Um jedoch einige Angaben hierüber zu machen, bemerken wir, daß das Schulgeld in Hamburg herkömmlicherweise vierteljährlich 2 Schillinge betrug, in Nürnberg um 1500 vierteljährlich 2 Schillinge in Gold (d. h. 25 Pfennige des Nürnberger Geldes zu Siebenkees' Zeit), in Gerolzhofen 1445 vierteljährlich 21 Pfennige, zu Landau im 15. Jahrhundert für die unterste Klasse der städtischen Lateinschule ebenso 16 Heller, für die folgende 2 Schillinge und für die dritte oder oberste $2\frac{1}{2}$ Schillinge Heller. In der Frankfurter Liebfrauenstifts-Schule, an welcher das Schulgeld auf Übereinkunft beruhte, mußte 1453 der Patrizier Winrich Monis für seinen Sohn jährlich $^2/_3$ Gulden (also 16 Schillinge) bezahlen. Außer dem Schulgeld hatten die Schüler an manchen Orten, z. B. in Überlingen, noch ein besonderes Geld für den Gesangunterricht zu entrichten.

In dem Schulgeld war nur an wenigen Orten alles, was die Schüler zu geben hatten, einbegriffen. Ich habe dies nur in Nürnberg gefunden, wo die Ordnung von 1500 u. a. verfügte: jeder Schüler habe dem Lehrer alle Quatember für „Holz, Licht, Fenster, Ausdreyb Kern, Kirchtag Newjargelt und anderes" nicht mehr als 2 Schillinge in Gold und jeder arme Schüler alle Woche 1 Pfennig zu zahlen. Sonst waren überall mit dem Schulbesuche noch andere Ausgaben teils als Geschenke, teils als obligatorische Zahlungen verbunden. Dieselben bestanden in Beiträgen für die unentbehrlichen Bedürfnisse der Heizung und Beleuchtung, außerdem aber auch in Leistungen, welche ursprünglich nichts als Geschenke gewesen waren, nach und nach aber bis zu dem Grade pflichtgemäß geworden waren, daß man z. B. in der Stadt Goch 1419 und in Landau bald nachher die Verordnung nötig fand, mit Ausnahme des Schulgeldes ständen alle Abgaben an den Lehrer im Belieben der Schüler und ihrer Eltern, sowie 1445 in Gerolzhofen, außer dem Neujahrsgeld sei man demselben zu keinem Geschenke verbunden.

Mit der Sorge für Holz und Licht wurde es in den einzelnen Städten auf verschiedene Weise gehalten. In der einen zahlte jeder Schüler ein bestimmtes Geld dafür, in der andern brachte jeder Holz und Licht mit. Das Lichtgeld wurde mitunter so entrichtet, daß jedes Kind dem Lehrer jährlich eine oder mehrere Wachskerzen abgab, wogegen dann der Lehrer die Lichter stellte (zu Goch für je sechs Kinder eines); an anderen Orten, z. B. in Gerolzhofen, hatten die einzelnen Schüler der Reihe nach das Lehrzimmer zu erleuchten. Auch mit der Beheizung desselben verfuhr man auf verschiedene Weise. In der zuletzt genannten Stadt herrschte der sonderbare Gebrauch, daß jeder Schüler täglich seine Holzportion mit in die Schule brachte, und dabei war vorgeschrieben, daß jedes Kind, auch das eines reichen Vaters, das Holz selbst tragen müsse, sowie daß der Lehrer kein

Geld dafür nehmen dürfe, und daß Eltern, denen dieſe Einrichtung nicht behage, ihre Kinder während des Winters zu Hauſe behalten könnten. Auch in Landau mußte jedes Kind im Winter täglich ein Scheit Holz bringen, damit die Schulſtube zweimal gewärmt werden und auch der Schulmeiſter „ſin ſtobell wormen“ könne; ein auswärtiger Schüler dagegen hatte ſtatt deſſen jährlich 1 Schilling zu entrichten.

Als Geſchenke für den Lehrer werden vielerlei Dinge angegeben, nämlich Oſtereier, Faſtnachtskuchen, Urbanikuchen, Kirchweihgeſchenke, Faſtnachtshühner, Wein bei Schulfeſten und anderes mehr. Zu Freiburg im Breisgau nannte man alle ſolche Geſchenke das Partem des Lehrers. Die am meiſten gebräuchliche Gabe war die auf Neujahr dargereichte oder, wie dieſelbe zu Freiburg hieß, das „Gutejaer“. Dem Rektor einer Frankfurter Stiftſchule gab der junge Patrizier Monis 1453 zum Neujahr einen Turnoſen, ſowie dem oberſten von deſſen Gehilfen 14, den beiden anderen je 9 Pfennige. Die im Mittelalter überall üblichen, an manchen Orten (z. B. in Gerolzhofen) den Schülern geradezu vorgeſchriebenen Neujahrsgeſchenke waren altherkömmlich und erhielten ſich bis zur neueſten Zeit; in Frankfurt z. B. brachten noch 1808 die Gymnaſiaſten ihren Lehrern ein Geldgeſchenk auf Neujahr, ſowie außerdem noch am Johannistage. In der Landauer ſtädtiſchen Lateinſchule war noch eine eigentümliche Abgabe an den Lehrer vorgeſchrieben, deren Zweck ich nicht zu erklären vermag. Dort mußten nämlich die Schüler dem Lehrer Kirſchkerne liefern, und dieſem war dabei befohlen, von den durch Fleiß ausgezeichneten Schülern nicht über ſechs Pfund zu verlangen.

Über das Gehalt der Lehrer und ihre äußere Lage iſt folgendes zu bemerken. Ihre Anſtellung war, wie alle Anſtellungen im Mittelalter, ſtets eine temporäre; außerdem fand ſie ſelten für eine beſtimmte Zeit ſtatt, vielmehr ward gewöhnlich drei- bis ſechsmonatige Kündigung vorbehalten. Neben dem Schulgeld erhielt der Lehrer noch ein Jahresgehalt, welches bald in barem Geld, bald in Früchten, bald in beidem zugleich beſtand. Gab es kein beſonderes Schulgebäude, ſo gewährte man ihm auch eine Mietsentſchädigung. Für ſeine Mithilfe beim Gottesdienſte wurde er an manchen Orten beſonders bezahlt; ſo erhielt er z. B. in Gerolzhofen von einer kurzen Vigilie 3 Pfennige, von einer langen 6 Pfennige und, wenn er eine Leiche mit der Prozeſſion begleitete, ebenfalls 6 Pfennige, ſowie jährlich für die geſungenen Frühmeſſen 3 Pfund Heller, für das Salve und für den Pſalter je 1 Gulden. Auch für andere Nebengeſchäfte verwendete und bezahlte man mitunter den angeſtellten Lehrer: in Goch z. B. hatte er für 2 rheiniſche Gulden jährlich die Stadtuhr zu beſorgen. Übrigens mußte er in den Schulen des Baſeler Domſtiftes von ſeinem Gehalte die zum Unterricht erforderlichen Bücher anſchaffen und bei ſeinem Abgang diejenigen von ihnen, welche beim Geſangunterricht gebraucht wurden, zurücklaſſen. In den Amtseiden der Lehrer iſt vorzugsweiſe und mitunter bloß von ihrer Bezahlung die Rede; namentlich iſt dies bei den Lehrern der Volksſchulen der Fall. Die letzteren erſchienen ſomit ſchon früh, wie nachher noch jahrhundertelang, als ein den Handwerkern gleichgeſtelltes Erwerbsgeſchäft. Die Dienſtinſtruktion des Lehrers an der Überlinger ſtädtiſchen Lateinſchule von 1456 enthält ſogar zwei Artikel, durch welche das Amt des ſtädtiſchen Lehrers geradezu für ein zünftiges Gewerbe erklärt wird.

Die erſte deutſche Schule Frankfurts ward 1531 durch den Schuhmacher Jakob Medenbach gegründet. Dieſer reichte am 22. Juni 1531 eine Bittſchrift des Inhaltes ein: Er habe „aus nothwendigen Urſachen in dieſen geſchwindten Zeiten ſein Handwerck des Schuhmachens verlaſſen“ und bitte um die Erlaubnis, „eine deutſche Schulen vffzurichten und die Kinder nach rechter Art ſchreyben vnd leſen zu unterweyſen vnd darneben die evangeliſche Schriften auch zu ercieren“. Noch am nämlichen Tage geſtattete der Rat ihm, „dewtzſch ſchuel zu halten“. Dieſer erſte proteſtantiſche Volksſchullehrer Frankfurts war ein Glaubenseiferer und geriet dadurch, als ſeine Schule kaum ein Jahr beſtanden hatte, in Bedrängnis. Als er nämlich im Herbſt 1532 in der Bartholomäuskirche eine Predigt mit anhörte, ſtellte ihn eine Frau wegen ſeines Glaubens zur Rede; es kam darüber nicht bloß zu einem Gezänk, ſondern jene Frau behauptete auch, von ihm geſchlagen worden zu ſein. Sie verklagte ihn deshalb, und er wurde zu einer Gefängnisſtrafe verurteilt. In einem Gnadengeſuche, welches er aus dem Gefängnis einſandte, nennt er ſich einen „offlichen deutſchen Schulhalter“ und ſagt, „er habe ſiebenzig vnd mehr Schulkinder täglich zu verſehen und zu lernen“. Er hatte alſo bei ſeinem Unternehmen vom erſten Anfange an Glück gehabt.

## 68. Proben aus dem „Orbis pictus“ des Amos Comenius.

Joh. Amos Comenii Orbis sensualium pictus. Noribergæ 1683.

Vollständiger Titel:

JOH. AMOS COMENII

# ORBIS SENSUALIUM PICTUS.

*Hoc est:*

Omnium fundamentalium in mundo rerum, & in vitâ actionum,

Pictura & Nomenclatura.

*Editio auctior & emendatior; cum Titulorum juxtà atq: Vocabulorum Indice.*

## Die ſichtbare Welt.

Das iſt:

Aller vornehmſten Welt-Dinge/ und Lebens-Verrichtungen/

Vorbildung und Benamung.

Aufs neue aufgelegt/ und an vielen Orten verbeſſert; neben einem Titel- und Wörter-Regiſter.

[Vignette mit der Umſchrift:]
OMNIA SPONTE FLUANT ABSIT VIOLENTIA REBUS.

*Cum Gratia & Privil. Sac. Cæs. Majestatis, & Serenis. Electoris Saxonici.*

NORIBERGÆ.
Sumtibus Michaelis & Joannis Friderici Endteris.
Anno Salutis CIↃ IↃC LXXXII.

## Vortrag an den Leſer.

DEr Unwiſſenheit Artzneymittel iſt die Kunſt-Lehre / welche den Gemütern in den Schulen ſoll beygebracht werden; Aber alſo / daß es ſey eine waare / eine vollkommene / eine klare / und eine fäſte Kunſt-Lehre. Waar wird ſie ſeyn / wann nichts / als was zum Leben nützlich iſt / gelehret und gelernet wird; damit man nicht nachmals Urſach habe / zu klagen: Wir wiſſen nicht / was nothwendig zu wiſſen iſt / weil wir nicht / was nothwendig / gelernet. Vollkommen wird ſie ſeyn / wann das Gemüt zubereitet wird zur Weißheit / die Zunge zur Wolredenheit / und die Hände zu ämſiger Ubernehmung der Lebensverrichtungen: Dieſes wird alsdann ſeyn das Saltz des Lebens / nemlich Wiſſen / Thun und Reden. Klar / auch dannenhero ſtät und fäſt / wird ſie ſeyn / wann alles / was gelehret und gelernet wird / nicht tunkel oder verwirrt / ſondern deutlich / wol unterſchieden und abgetheilet iſt / wann die Sinnbare Sachen den Sinnen recht vorgeſtellet werden / damit man ſie mit dem Verſtand ergreiffen könne. Ich ſage und widerhole mit hoher Stimme / daß dieſes letzere die Grundſtütze ſey aller der andern Stücke: weil wir weder etwas ins Werk ſetzen / noch vernünftig andreden können / wenn nicht zuvor alles / was zu thun oder wovon zu reden iſt / recht verſtehen lernen. Es iſt aber nichts in dem Verſtand / wo es nicht zuvor im Sinn geweſen. Wann nun die Sinnen / der Sachen Unterſchiedenheiten wol zu ergreiffen / fleiſſig geübet werden / das iſt ſo viel / als zur gantzen Weisheit-Lehre / und weiſen Beredſamkeit / und allen klugen Lebensverrichtungen den Grund legen. Welches weil es von den Schulen in gemein vernachläſſet wird / und man den Lehr-Knaben zu lernen vorgibet / was ſie nicht verſtehen / und was auch ihren Sinnen nicht recht vor- und eingebildet worden: daher geſchihet es / daß die Lehr- und Lern-Arbeit ſchwer ankommet / und wenig Nutzen ſchaffet.

Demnach / ſo ſehet hier ein neues Hülff-Mittel vor die Schulen! Aller vornehmſten Welt-Dinge und Lebensverrichtungen Vorbildung und Benamung. Dieſe mit euren Lehrlingen zu durchwandern / laſſet euch nicht verdrieſſen / ihr Schul- und Lehrmeiſter! Was und wieviel Gutes daraus zu hoffen und zu erwarten / will ich mit wenigem andeuten:

Es iſt / wie ihr ſehet / ein kleines Büchlein: aber gleichwol ein kurtzer Begriff der gantzen Welt und der gantzen Sprache / voller Figuren oder Bildungen / Benamungen und der Dinge Beſchreibungen.

I. Die Bildungen / ſind aller ſehbaren Dinge (zu welchen auch die unſichtbaren etlicher maſſen gezogen werden) in der gantzen Welt / Vorſtellungen / und zwar nach eben derſelben Ordnungen / nach welcher ſie in der Sprachen-Thür beſchrieben werden; und mit ſolcher Vollkommenheit / daß gar nichts nothwendiges und Hauptſächliches darvon gelaſſen worden.

II. Die Benamungen / ſind die über eine jede Figur geſetzte Obſchrifften oder Titel / welche die ganze Bildung durch ein allgemeines Wort ausdrucken.

III. Die Beſchreibungen / ſind die Auslegungen der unterſchiedlichen Stücke des Gemähls / mit ihren eignen Namen alſo ausgedruckt / daß beydes den Gemähl-Stücken / und dann auch deren Namen einerley Zahl beygeſetzet iſt / welche / wie eins auf das andere deute / darthut und anzeiget.

Dieſes Büchlein / auf dieſe Art eingerichtet / wird dienen / wie ich hoffe: Erſtlich / die Gemüther herbey zulocken / daß ſie ihnen in der Schul / keine Marter / ſondern eitel Wolluſt einbilden. Dann bekandt iſt / daß die Knaben (ſtracks von ihrer Jugend an) ſich an Gemälden belüſtigen / und die Augen gerne / an ſolchen Schauwercken / weiden. Der aber zuwegenbringt / daß von den Würtz-Gärtlein der Weißheit die Schreckſachen hinweg bleiben / der hat etwas Groſſes geleiſtet.

Darnach dienet dieſes Büchlein / zu erwecken / den Sachen anzuhäfften / und immer je mehr und mehr auszuſchärpffen / die Aufmerkſamkeit: welches auch etwas Groſſes iſt. Dann die Sinnen (die vornehmſten Führere des zarten Alters / als bey denen das Gemüte ſich noch nicht in die unkörperliche Betrachtung der Dinge erſchwinget / ſuchen allemal ihren Gegenſtand / und wann ſie denſelben nicht haben / werden ſie abgenützet / und kehren ſich / an ſich ſelbſt Verdruß habend / bald da- bald dorthin; wann aber dieſelbe vorhanden iſt / werden ſie erfrölicht / und gleichſam lebendig / und laſſen ſich / biß ſie die Sache recht ergriffen haben /

gerne daran häfften. Wird alſo diß Büchlein / die Gemüther / ſonderlich die flüchtigen / gefangen zu nehmen / und zu höhern Kunſt-Fleiß vorzubereiten / gute Dienſte thun.

Daraus wird der dritte Nutz folgen / daß nemlich die Knaben hieher gelocket / und zur Aufmerkſamkeit angebracht / die Wiſſenſchaft der vornehmſten Welt-Dinge Spiel- und Schertz-weis in ſich ziehen. Mit einem Wort: den Vorhof und die Sprachenthür deſto annehmlicher zu bewandeln und zu behandeln / wird dieſes Büchlein dienen / dahin es auch vornehmlich gemeinet iſt.

So aber jemanden gefiele / daſſelbe auch in der Mutterſprache vor den Tag zu bringen / verſpricht es noch drey Nutzbarkeiten.

I. Wird es eine Erfindung ſeyn / viel leichter / als bißher geſchehen / die Knaben leſen zu lehren. Zumalen / weil ein Figurliches Alfabet vorangefügt worden / nämlich die Schrifft-zeichen aller Buchſtaben / und darneben das Bildnis des Thieres / deſſen Stimme derſelbige Buchſtab ausdrucket. Dann aus Beſchauung des Thier-Bildes kan ſich der Abc-Schüler leichtlich erinnern / wie ein jeder Buchſtab leichtlich auszuſprechen: biß ſeine Einbildung / durch die Ubung befäſtiget / ihn in allem fertig mache. Wann er nachmals auch in einer Buchſtabir-Tafel (welche dieſem Büchlein vorzufügen / vor unnöthig erachtet worden) ſich etwas bewandert gemacht / kan er fortſchreiten zur Betrachtung der Figuren / und der darüber geſetzten Titel-ſchrifften. Da abermal die Beſchauung des abgebildeten Dings / ihn des Namens deſſelben erinnern wird / und wie der Figur-Titel zu leſen ſey. Und wann er alſo das ganze Buch durchgelauffen / kan es nicht fehlen / daß er nicht / durch die bloße Bild-Uberſchrifften / leſen lerne: Und zwar / welches zu beobachten / ohne Zuthuung der beſchwerlichen Kopfmartirung / der ins gemein gebräuchlichen Buchſtabirung / welche auf ſolche Weiſe gäntzlich kan vermieden werden. Dann die offt-wiederholte Durchlauffung dieſes Büchleins wird ihme / durch die unter den Figuren befindliche Beſchreibungen / ohne andere Beyhülffe / die Leßfertigkeit in den Kopf bringen.

II. So wird auch diß Büchlein dienen / wann es in den Teutſchen Schulen Teutſch gebraucht wird / die gantze Mutterſprach aus dem Grunde zu erlernen: weil / durch vorgedachte Beſchreibungen / die Wörter und Redarten der Sprache / jedes und jede an ſeinem Ort angeführet worden. Es könnte auch hinten angehängt werden eine Teutſche kurtze Sprachlehre / welche den allbereit-gefaſten Redverſtand in ſeine Stücke verſtändlich abtheilete / die Abwandelungen der einzelen Wörter vorwieſe / die zuſammengeſetzten aber in gewiſſe Lehrſätze verfaſſete.

III. Entſtehet auch hieraus noch ein neuer Nutzgebrauch / daß nemlich / durch die Teutſche Uberſetzung / auch die Lateiniſche Sprach deſto leicht-erlerniger gemacht wird: wie in dieſer Ausgabe zu erſehen iſt / indem das Büchlein durchaus alſo überſetzt worden / daß ein Wort dem andern und eine Zeile der andern / gegeneinander über / in allem gleichſtimmet / und es alſo ein Buch iſt / aber von zweyen Sprachen / gleichwie ein Menſch mit zweygetheilter Kleidung. Und könnten hinten zugethan werden etliche Sprach-Anmerckungen / und Erinnerungen; allein von denen Stücken / in welchen die Lateiniſche Sprach-Art von der Teutſchen abtritt: dann worinn ſie einander gleich ſind / da iſt auch keiner Erinnerung vonnöthen.

Im übrigen / weil die erſten Aufgaben der Lehrlinge ſollen wenig / kurtz / einfach und ohne Umſtände ſeyn: Als iſt dieſe Bilder-Schul / allein mit den erſten bloſſen Abriſſen der Dinge erfüllet worden / nemlich mit den Haubt-Sachen und Haubt-Wörtern / als der ganzen Welt / der ganzen Sprache / und unſrer ganzen Verſtändnis der Dinge / Grund-Stützen. Eine vollkommene Beſchreibung der Sachen / eine ausführlichere Erlernung der Sprache / und ein helleres Liecht des Verſtandes / ſo der eines / wie billich / geſuchet wird / kan in andern Büchern gefunden werden / wohin dieſer kleine ſichtbare Begriff aller Künſte ein Wegweiſer iſt.

Ich muß noch etwas mehrers von dem nützlichen Gebrauch dieſes Buchs / wegen der Knaben / anführen.

I. Man gebe es denen Knaben unter die Hand / ſich damit / nach eignem Belieben / zu beluſtigen, in Beſchauung der Figuren / und dieſelben ihnen bekannt zu machen / auch zu Haus / ehe man ſie zur Schule ſchicket.

II. Darnach kan man ſie nach und nach befragen/ ſonderlich/ wann ſie nun zur Schule gehen/ was diß oder jenes ſey oder heiße: damit ſie nichts ſehen/ das ſie nicht nennen können; und nichts nennen/ das ſie nicht weiſen können.

III. Es ſollen ihnen aber die benennten Sachen nicht allein in der Figur/ ſondern auch an ihnen ſelber gezeiget werden/ als nemlich die Leibes-Glieder/ die Kleider/ Bücher/ Haus und Hausgeräthe/ ꝛc.

IV. Man ſoll auch ihnen zulaſſen/ die Gemählе mit der Hand nachzumahlen/ ſo ſie Luſt darzu haben; ja/ ſo ſie keinen haben/ muß man ihnen Luſt darzu machen: Erſtlich darum/ damit ſie dadurch gewohnet/ einem Ding recht nachzuſinnen und darauf ſcharffe Achtung zu geben; dann auch abzumercken die Ebenmaß der Dinge/ in Gegeneinanderhaltung derſelben; Endlich/ die Hände geübt und färtig zumachen/ welches zu vielen gut iſt.

V. Wann etliche Sachen deren hierinn Meldung geſchihet/ nicht können vor Augen geſtellt werden/ wäre es den Lehrknaben gar fürträglich/ wann man ihnen dieſelben ſelblich vorzeigete. Zum Beyſpiel/ die Farben/ die Geſchmacke/ u. dg. welche hier mit der Drucker-Farbe nicht haben können ausgebildet werden. Und wäre dieſer wegen wol zu wünſchen/ daß in einer jeden vornehmen Schul die ſeltene/ zu Haus nicht gemeine Sachen beygelegt würden/ damit man/ ſo offt man mit den Lehrknaben darvon handelt/ dieſelben zugleich vorweiſen könnte.

Sodann würde dieſe Schule ein wahrhafftiger Schauplatz der ſichtbaren Welt/ und der Verſtand-Schulen Vorſpiel ſeyn. Aber hiervon genug: laſſt uns zu dem Werck ſelber ſchreiten.

Syrach 25. 5.

## Wann du/ in der Jugend/ nicht ſamleſt: was wilſt du im Alter finden?

---

Aus der Einleitung. (S. 8 ff.)

| Hie habes | Hier haſt du | Vivus, a, um, lebendig. |
|---|---|---|
| vivum & vocále | ein lebendiges und ſtimm- | Vocális, c. 3. e, n. 3. ſtimmbar. |
| | [bares | Alphabéthum, n. 2. das Alfa- |
| *alphabéthum.* | Alfabeth. | beth. |

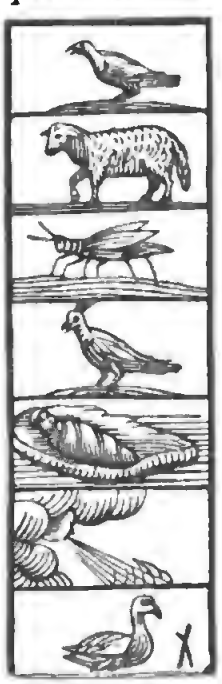

| | | |
|---|---|---|
| Die Krähe krächzet/ *Cornix* f. 3. cornicátur, | *á á* | A a |
| das Schaf blöcket/ *Ovis* f. 3. balat, | *bé é é* | B b |
| der Heuſchreck zitzſchert/ *Cicáda* f. 1. stridet, | *cí cí* | C c |
| der Widhopf rufft/ *Upupa* f. 1. dicit, | *du du* | D d |
| das Kind wemmert/ *Infans* c. 3. éjulat, | *é é é* | E e |
| der Wind wehet/ *Ventus* m. 2. flat, | *fí fí* | F f |
| die Gans gackert/ *Anser* m. 3. gingrit, | *ga ga* | G g |

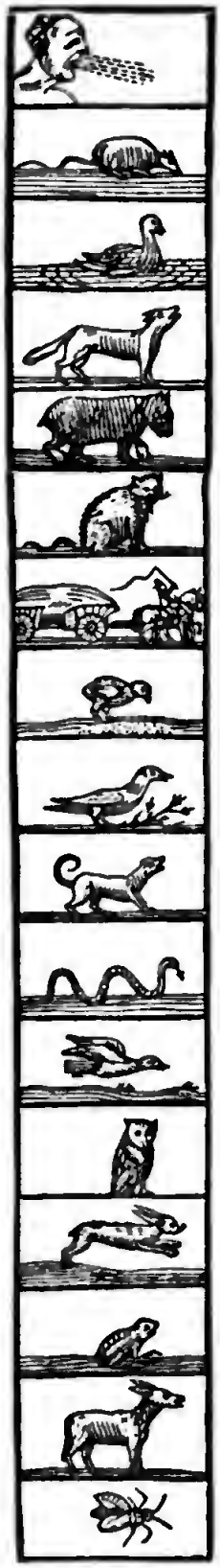

der Mund hauchet/ *Os* n. 3. halat, } *hâh hâh* | H h

die Maus pfipfert/ *Mus* m. 3. mintrit, } *i i i* | I i

die Ente ſchnackert/ *Anas* f. 3. tetrinnit, } *kha kha* | K k

der Wolff heulet/ *Lupus* m. 2. úlulat, } *lu ulu* | L l

der Beer brummet/ *Ursus* m. 2. múrmurat, } *mum mum* | M m

die Katz mautzet/ *Felis* f. 3. clamat, } *nau nau* | N n

der Fuhrmann rufft/ *Auriga* m. 1. clamat, } *ó ó ó* | O o

das Küchlein pipet/ *Pullus* m. 2. pipit, } *pi pi* | P p

der Kuckuck kucket/ *Cuculus* m. 2. cucúlat, } *kuk ku* | Q q

der Hund marret/ *Canis* c. 3. ríngitur, } *orr* | R r

die Schlange ziſchet/ *Serpens* c. 3. ſibilat, } *si* | S s

der Heher ſchrehet/ *Gráculus* m. 2. clamat, } *tae tae* | T t

die Eule uhuhet/ *Bubo* m. 3. úlulat, } *u u* | U u

der Haſe quäcket/ *Lepus* m. 3. vagit, } *vá* | W w

der Froſch quacket/ *Rana* f. 1. coáxat, } *coax* | X x

der Eſel hgaet/ *Asinus* m. 2. rudit, } *y y y* | Y y

die Breme ſummet/ *Tabánus* m. 2. dicit, } *ds ds* | Z z

S. 198 f.:

XCVII. Schola.

XCVII. Die Schul.

*Schola* 1 f. 1.
est *officina*, f. 1.
in qua
novelli *animi*

ad *virtútem* formantur;
& distínguitur
in *classes*.
*Præceptor*, 2 m. 3.
sedet in *cáthedrâ*; 3.
*discípuli*, 4
in *subsellíis*: 5
ille docet;
hi discunt.
Quædam
præscribuntur illis
*cretâ*
in *tabellâ*. 6
Quidam
sedent ad *mensam*,
& scribunt: 7
Ipse córrigit 8
*mendas*.
Quidam stant,
& récitant,
*memóriæ* mandáta. 9
Quidam confabulantur, 10
ac gerunt se
petulantes
& negligentes:
hi castigantur
*férulâ* (*báculo*) 11

& *virgâ*. 12

Die Schul 1
iſt eine Werkſtatt/
in welcher
die jungen Gemüter
zur Tugend angewehnet werden; 2
und wird abgetheilt
in Claſſen.
Der Schulmeiſter 2
ſitzt auf dem Lehrſtul; 3
die Schüler/ 4
auf Bänken: 5
jener lehret;
dieſe lernen.
Etliches
wird ihnen vorgeſchrieben
mit der Kreide
an der Tafel. 6
Etliche
ſitzen am Tiſche/
und ſchreiben: 7
Er verbeſſert 8
die Fehler.
Etliche ſtehen/
und ſagen her/
was ſie gelernet. 9
Etliche ſchwätzen/ 10
und erzeigen ſich
mutwillig
und unfleiſſig:
die werden gezüchtigt
mit dem Bakel 11

und der Rute. 12

Novellus, a, um, jung (neu).
Animus, m. 2. das Gemüt.
Virtus, f. 3. die Tugend.

Classis, f. 3. die Claß.

Cáthedra, f. 1. der Lehrſtul.
Discipulus, m. 2. der Schüler.
Subsellium, n. 2. die Bank.

Creta, f. 1. die Kreide.
Tabella, f. 1. die Tafel.

Mensa, f. 1. der Tiſch.

Menda, f. 1. & um, n. 2. der Fehler.

Memória, f. 1. das Gedächtnis.

Pétulans, o. 3. mutwillig.
Négligens, o. 3. unfleiſſig.

Férula, f. 1. (Báculus m. 2. & um, n. 2.) der Bakel (Stecken).
Virga, f. 1. die Rute.

S. 62 f.

XXIX. Ferae bestiae.

XXIX. Wilde Thiere.

*Bestiæ*
habent acútos
*ungues & dentes,*

suntque carnivoræ.
Ut, *Leo*, 1 m. 3.
*Rex* m. 3. quadrúpedum,
jubátus,
cum *leænâ;*
maculósus
*pardus;* m. 2. (*panthéra*, [f. 1.) 2
*tigris*, 3 f. 3.
immanissima omnia;

villósus
*ursus;* 4 m. 2.
rapax
*lupus*, 5 m. 2.
*Lynx*, 6 o. 3.
pollens *visu;*
caudáta
*vulpes;* 7 f. 3.
astutissima omnium.
*Erinaceus*, 8 m. 2.
est aculeátus.
*Melis*, 9 f. 3.
*latebris* gaudet.

Die wilden Thiere
haben ſcharffe
Klauen und Zähne/

und ſind Fleiſchfreſſig.
Als der Löw/ 1
der König der vierfüſſigen/
bemähnet/
ſamt der Löwin;
das fleckichte
Panterthier; 2

das Tiegerthier/ 3
das grauſamſte unter allen;

der zottichte
Beer; 4
der reiſſende
Wolff; 5
der Luchs/ 6
der ein ſcharff Geſicht hat;
der langgeſchwäntzte
Fuchs; 7
der Liſtigſte unter allen.
Der Igel/ 8
iſt ſtachelicht.
Der Dachs/ 9
verkriegt ſich gern.

Bestia f. 1. das wilde Thier.
Acútus, a, um, ſcharff.
Unguis, m. 3. die Klaue.
Dens, m. 3. der Zahn.
Carnivorus, a, um, Fleiſchfreſſig.

Quadrupes, o. 3. vierfüſſig.
Jubatus, a, um, bemähnet.
Leæna, f. 1. die Löwin.
Maculósus, a, um, fleckicht.

[ſamſte.
Immanissimus, a, um, grau-
Omnis, o. 3. e. n. 3. alles.
Villosus, a, um, zotticht.

Rapax, o. 3. reiſſend.

Visus, m. 4. das Geſicht.
Caudátus, a, um, langgeſchwäntzt.
Astutissimus, a, um, Liſtigſte.

Aculeatus, a, um, ſtachelicht.

Látebra, f. 1. der Schlupfwinckel (verborgene Ort.)

---

**Aus dem Beſchluß.** (S. 214 f.)

Alſo haſt du geſehen in einem kurtzen Begriff/ alle Dinge/ die gezeigt werden können/ und haſt gelernet die vornehmſten Wörter/ der Lateiniſchen/ und Teutſchen Sprache. Fahre nun fort/ und leſe fleiſſig andre gute Bücher/ daß du werdeſt gelehrt/ weis und fromm. Gedenke hieran: fürchte GOTT/ und ruffe ihn an: daß er dir verleihe den Geiſt der Weißheit. Gehab dich wohl!

## 69. Wie der Domherr Eberhard v. Rochow Volksſchulen gründet.

Von E. v. Rochow.

Geſchichte meiner Schulen. Schleswig 1795. S. 1.

Meine Freunde verlangen von mir eine Sache, die mir ſchwer eingeht. Ich ſelbſt ſoll die Geſchichte meiner Schulen ſchreiben und bekanntmachen. Mein Einwand, daß in eines andern Munde manches ein Intereſſe gewönne, welches jetzt vielleicht einen widrigen Eindruck macht, hat ſie nicht befriedigt. Sie meinen ſogar, ich müſſe der guten Sache wegen ſelbſt das zweideutige Licht nicht ſcheuen, in welchem mein Charakter manchem erſcheinen könnte. — Nun gut. Ich will ihren Wünſchen mich fügen, auch dieſes Märtyrertum übernehmen und die Wahrheit ſchreiben, ſo gut als ich weiß und kann.

Als in den Jahren 1771 und 1772 ſehr naſſe Sommer einfielen, viel Heu und Getreide verdarb, Teurung entſtand, auch tödliche Krankheiten unter Menſchen und Vieh wüteten, da tat ich nach meiner Obrigkeitspflicht mein mögliches, den Landleuten auf alle Weiſe mit Rat und Tat beizuſtehen. Ich nahm einen ordentlichen Arzt für die Einwohner auf meinen Gütern an, der, unentgeltlich von ihrer Seite, ſie, gegen ein jährliches Gehalt von mir, mit freier Medizin verſehen und heilen ſollte. Sie erhielten ſchriftliche Anweiſungen und mündlichen Rat, wie durch allerlei Vorkehrungen und Mittel (wobei ſie freilich auch ihrerſeits tätig ſein mußten) dem Fortgang der Epidemie zu ſteuern ſei. Aber böſe Vorurteile, Verwöhnung und Aberglaube, nebſt gänzlicher Unwiſſenheit an Leſen und Schreiben, machten faſt alle meine guten Abſichten fruchtlos. Sie empfingen zwar die Mittel, die ich bezahlte, nahmen ſie aber nicht ein und ſcheuten ſogar die Mühe, dem, nur eine kleine Meile entfernt, in Brandenburg wohnenden Arzte von dem jedesmaligen Zuſtande der Patienten ꝛc. Nachricht zu geben. Die einfachſten Vorkehrungen und Reinigungsanſtalten, die ich ihnen mündlich und ſchriftlich empfahl, waren ihnen teils zu mühſam, teils hatten ſie ſolche vergeſſen, und das Schriftliche konnten ſie nicht leſen. Dagegen brauchten ſie heimlich die verkehrteſten Mittel, liefen zu Quackſalbern, Wunderdoktoren, ſogenannten klugen Frauen, Schäfern und Abdeckern, bezahlten dort reichlich und ſtarben häufig dahin. In tiefer Demut möchte ich an dieſem kundbaren Beiſpiele den Regenten und Landesvätern der Völker den hohen und unſchätzbaren Wert der Aufklärung durch beſſere Schulen hier nochmals an das Herz legen! Schon bloß von ſeiten der Finanz betrachtet, die durch Entvölkerung der Länder verliert und bei Wohlſtand und Erhaltung nützlicher Individuen gewinnt, fallen alle Einwürfe der Aufklärungsfeinde dahin. Oder gehört etwa nicht zu jedem Tun und Laſſen und Gewerbe *Nachdenken* und *Vordenken*, damit es gelinge? Der Dumme denkt aber nicht gehörig weder *nach* noch *vor*, weiß ſich nicht zu helfen, kann guten Rat nicht würdigen, und wird ebendarum ein Opfer der Ereigniſſe.

In bitteren Gram verſenkt über dieſe ſchrecklichen Folgen der Dummheit und Unwiſſenheit, ſaß ich einſtmals, es war am 14. Februar 1772, an meinem Schreibtiſche und zeichnete einen Löwen, der in einem Netze verwickelt daliegt. — „So“, dachte ich, „liegt auch die edle, kräftige Gottesgabe Vernunft, die doch jeder Menſch hat, in ein Gewebe von Vorurteilen und Unſinn dermaßen verſtrickt, daß ſie ihre Kraft ſowenig, wie hier der Löwe die ſeinige, brauchen kann. Ach, wenn doch eine Maus wäre, die einige Maſchen dieſes Netzes zernagte; vielleicht würde dann dieſer Löwe ſeine Kraft äußern und ſich losmachen können!“ Und nun zeichnete ich gleichfalls als Gedankenſpiel auch die Maus hin, die ſchon einige Maſchen des Netzes, worin der Löwe verwickelt liegt, zernagt hat. Wie ein Blitzſtrahl fuhr mir der Gedanke durch die Seele: „Wie, wenn *du* dieſe Maus würdeſt?“ Und nun enthüllte ſich mir die ganze Kette von Urſachen und Wirkungen, *warum* der Landmann ſo ſei, als er iſt: Er wächſt auf als ein Tier unter Tieren. Sein Unterricht kann nichts Gutes wirken. Der gröbſte Mechanismus herrſcht in den Schulen. Sein Prediger ſpricht hoch- und er plattdeutſch. Beide verſtehen ſich nicht. Die Predigt iſt eine zuſammenhängende Rede, die er wie zur Frone hört, weil ſie ihn ermüdet, indem er, an Aufmerken und Periodenbau nicht gewöhnt, ihr nicht folgen kann, ja ſelbſt, wenn ſie gut iſt — und wie oft iſt ſie das? — das Bündige bei ihm nicht Überzeugung wirkt. Niemand bemüht ſich, die Seelen ſeiner Jugend

zu veredeln. Ihre Lehrer sind gewöhnlich, wie Christus es nennt, blinde Leiter, und so leidet denn der Staat bei diesem Zustande der Sachen, nach welchem sein Flor sich in einem beständigen Kriege gegen die verheerende und zerstörende Dummheit befindet, mehr Verlust als in der blutigsten Schlacht. „Gott!“ dachte ich, „muß denn das so sein? Kann der Landmann, diese eigentliche Stärke des Staatskörpers, nicht auch verhältnismäßig gebildet und zu allem guten Werke geschickt gemacht werden? Wieviel tüchtige Menschen hätte zum Beispiel ich in diesen Jahren nicht meinem Vaterlande gerettet, die jetzt ein Raub ihrer entsetzlichen Stupidität geworden sind! Ja! ich will die Maus sein. Gott helfe mir!“

Und nun schrieb ich gleich denselben Morgen die Titel der dreizehn Kapitel, woraus mein Schulbuch für die Lehrer der Landleute sein sollte, nieder, und zwar auf die andere Seite des Blattes, worauf der Löwe, das Netz und die Maus stand, welches Blatt ich zum Andenken bewahre, vom geneigten Leser aber hoffe, wegen dieser Mikrologie Verzeihung zu erhalten.

Zu Mittag zeigte ich meinen Plan meinem neuen verständigen Prediger, Herrn Stephan Rudolph, der erst ein Jahr im Amte stand. Er billigte ihn und riet mir des Theologischen wegen, so darin vorkäme, mit Herrn Ober-Konsistorialrat Teller in Berlin zu korrespondieren. Dieser nannte meine Arbeit gemeinnützig und unterstützte mich edelmütig mit gutem Rat. So ward denn das erste meiner literarischen Produkte schnell fertig, daß es schon auf Ostern 1772 unter dem Titel: „Versuch eines Schulbuches für Kinder der Landleute oder zum Gebrauch in Dorfschulen“, Berlin bei Fr. Nicolai, erschien und das Motto führte, welches doch nur die erste Ausgabe hat: „Difficile est proprie communia dicere“ (Horatius)[1]).

Daß ich mit diesem Buche vorzüglich die Lehrer, und zuvörderst nur sie bilden wollte, so wie man etwa die Amme kuriert, um dem Kinde gedeihliche Nahrung zu verschaffen, wird man leicht einsehen.

Wie ich mich denn auch in der Vorrede für die Lehrer in Landschulen besonders verwendete, deren spärliches Einkommen, auf das ungewisse Schulgeld sonderlich von armen, kinderreichen Eltern angewiesen, ohne Nebenprofession, die bald der Hunger zur Hauptbeschäftigung machte, sie, besonders mit einer Familie, schlechterdings nicht zu nähren vermöchte. Denn in „Büschings Reise nach Reckan“ wird man finden, daß mancher Landschullehrer Einkommen etwa 12 Rtlr. war.

Ich bat daher, jedem wenigstens 100 Rtlr. jährlich zu geben, wogegen der ganze Schulunterricht unentgeltlich sein müsse, damit alle Entschuldigungen, z. B. armer Eltern, wegen des Zurückbehaltens der Kinder aus der Schule, wegfielen. — Man wird alles dieses in der „Vorrede des Versuches eines Schulbuches ꝛc.“ mehr entwickelt lesen können.

Während der Zeit nun, als ich nicht ohne die Bangigkeit eines neuen Schriftstellers erwartete, wie das Publikum über meine Schrift urteilen würde, erhielt ich einen Brief von dem damaligen Chef des Geistlichen und Ober-Schul-Departements, nun verstorbenen Geh. Staats- und Justiz-Minister Freiherrn v. Zedlitz, folgenden Inhaltes:

„Hochwürdiger und Hochwohlgeborener Herr, insonders Hochzuehrender Herr!

Daß ein Dombert für Bauernkinder Lehrbücher schreibt, ist selbst in unserem aufgeklärten Jahrhundert eine Seltenheit, die dadurch noch einen höheren Wert erhält, daß Kühnheit und guter Erfolg bei diesem Unternehmen gleich groß sind. Heil, Lob und Ehre also dem vortrefflichen Manne, den nur die Rücksicht auf die Allgemeinheit des Nutzens, welcher gestiftet werden kann, zu solchen Unternehmungen antreiben konnte.

Ew. Hochwürden müssen von mir keinen bestimmten Dank erwarten, er würde mit einer Sache in keinem Verhältnis stehen, deren Wert ganze künftige Generationen preisen müssen. Lassen Sie mich vielmehr Sie von nun an als einen Mann betrachten, der zur Beförderung der großen Absichten des besten Königs mir in der Verbesserung des Unterrichtes der Landjugend so kräftige Beihilfe leisten kann und der Patriotismus genug hat, diesen Beistand leisten zu wollen.

Ew. Hochwürden wird nicht unbewußt sein, daß des Königs Majestät die Interessen eines Kapitals von 100000 Rtlr. zur Salarierung der Dorfschulmeister in der Kurmark ausgesetzt

[1]) „Schwierig ist es, das Allgemeine zu individualisieren.“

haben, und daß Höchſtdieſelben vornehmlich wünſchten, Schulmeiſter aus Sachſen zu dieſem Behufe herüber zu bekommen.

Nach Ew. Hochwürden Meinung ſind 100 Rtlr. für einen Schulmeiſter genug. Ich hatte anfänglich keine größere Beſoldung im Sinne; allein ich glaube kaum, daß ſich dieſes ſo genau und allgemein beſtimmen läßt, weil ich es für ſehr verderblich halte, wenn der Dorfeinwohner für den Unterricht ſeines Kindes annoch ein gewiſſes wöchentliches Schulgeld zahlen muß, inmaßen dieſes Schulgeld, ſo gering es iſt, dennoch in dieſen beklemmten Zeiten den Landmann ſehr oft mit Grunde abhalten kann, ſeine Kinder zur Schule zu ſchicken. Vielmehr hielte ich es für gut, daß jedes Kind vom fünften Jahre an in die Schule gehen müßte, und daß der Prediger kein Kind zum Abendmahl annehmen dürfte, welches nicht einen zu beſtimmenden Grad von analogiſcher Gelehrſamkeit erreicht hätte.

Es würde dannenhero auch die Beſoldung mit der Anzahl der Kinder eines Dorfes im Verhältnis ſtehen müſſen. Und da aller Unterricht, wie Ew. Hochwürden ſo richtig bemerken, dahin gehen muß, daß die Bauernkinder zur Treibung ihres künftigen Gewerbes aufgeklärter gemacht, und der Verſtand nach ihrem Verhältnis bearbeitet werde, ſo fällt es in die Augen, daß ein dergleichen Unterricht weit mühſamer werden muß, als wenn der Schulmeiſter den Jungen eine Seite aus Luthers Katechismo auswendig lernen läßt.

Die Sache wird dadurch immer einen großen Schritt weiter kommen, wenn wir Leute erhalten, welche Kopfs genug haben, die Jugend nach dieſer Methode zu unterrichten; und in voller Zuverſicht auf Ew. Hochwürden rühmlichen Eifer wage ich es, dieſelben zu erſuchen, ſich um einige dergleichen Subjekte, vornehmlich aus Sachſen, zu bewerben und mir demnächſt einige Nachricht zukommen zu laſſen, ob nicht fürs erſte mit einem Diſtrikt um Reckan herum ein Verſuch zu machen möglich ſei. Dieſe Leute würden offenbar, wenn ſie durch Ew. Hochwürden herübergerufen wären, auch mehr Zutrauen zu Ihnen haben, und es würde offenbar mehr Vorteil ſein, wenn man ganze Diſtrikte mit guten Schulmeiſtern auf einmal beſetzte, als wenn alle zehn Meilen einer angeſetzt würde.

Ew. Hochwürden ſollen hierbei mit keinem Auftrag belaſtet werden; ich verpflichte mich aufs heiligſte, von Ihnen nichts zu fordern, als was Ihnen ſelbſt Ihr Eifer für das allgemeine Beſte abfordern wird. Ich erſuche Sie nur, das Talent, was Ihnen die Vorſicht gegeben hat, anzuwenden, und werde mir's zur Ehre rechnen, wenn Sie über dieſes Sujet und über die zu treffende Einrichtung mir dero Meinung unzurückhaltend zu eröffnen die Gefälligkeit haben wollten.

Ich bin mit einer Hochachtung, die ich auszudrücken nicht imſtande bin,

Euer Hochwürden gehorſamſter Diener

Berlin, den 17. Juni 1773. Zedlitz.

Herrn Domherrn v. Rochow auf Reckan p. Brandenburg.“

Man wird es mir hoffentlich nicht als Ruhmredigkeit auslegen, daß ich dieſen Brief hier beifüge, weil ich ohne deſſen Mitteilung keine Geſchichte meiner Schulen ſchreiben konnte: denn er iſt die Grundlage zu allem, was durch mich in dieſem Fache nachher geſchehen iſt. Auch kann dieſer Brief zum Beweiſe dienen, daß ich nicht eigenmächtig oder in ein fremd Amt greifend verfuhr, ſondern nach Aufträgen von meinen Vorgeſetzten handelte.

Nun entſpann ſich eine weitläufige Korreſpondenz zwiſchen dem Miniſter und mir über Schulſachen, von welcher ich itzo nur ſoviel beibringe, daß der Miniſter mich verſicherte, er habe dem Könige — und Friedrich II. dachte gerade damals mit Ernſt an den ſtatiſtiſchen Wert beſſerer Landſchulen — von meinem Buche Bericht erſtattet; der König habe es gnädig aufgenommen und ihm befohlen, durch mich ſächſiſche Schulmeiſter ins Land zu ziehen und die Landſchulen nach meinem Plan zu organiſieren.

So ſichtbar ſegnete die Vorſehung mein kleines Senfkorn, daß es bald ein Bäumchen wurde. Denn ich, dem kurz vorher ein in dergleichen neue Einrichtungen ſchwerlich einſtimmender Prediger und eben damals der alte Schullehrer in Reckan durch den Tod Platz machten, konnte nun, von allen Hinderniſſen von obenher befreit, an die Einrichtung einer neuen Schule denken.

Aber wider die Anſetzung von Schulmeiſtern aus einem andern Lande ſtritt ich mit dem Miniſter aus mancherlei Gründen, vornehmlich von der hieſigen plattdeutſchen Sprache hergenommen, die, den Oberſachſen unbekannt, ihnen die erſten Zugänge in die Kinderſeelen verſchlöſſe, da nur Bekanntſchaft mit Hoch- und Plattdeutſch es möglich mache, letzteres durch erſteres, welches doch einmal Lehr- und Befehlsſprache iſt, zu verdrängen. Und ich war endlich ſo glücklich, meinen Gründen Eingang zu verſchaffen, ſo daß von ſächſiſchen Schulmeiſtern nicht mehr die Rede war.

Ein geweſener Primaner aus der halberſtädtiſchen Domſchule zu des ſeligen Rektor Struenſee Zeiten, namens Heinrich Julius Bruns, aus dem halberſtädtiſchen Dorfe Rohrsheim gebürtig, war ſeit ſechs Jahren in meinem Hauſe als Muſikus und Schreiber geweſen. Ihm hatte ich viele meiner Ideen über Schulſachen mitgeteilt, manches Heft abſchreiben laſſen von dem, was ich auch nicht zum Druck beſtimmte; meine Bibliothek ſtand ihm offen, und als mein beſtändiger Tiſchgenoſſe machte die Zunahme der Kultur ſeines Geiſtes, wie ſeiner muſikaliſchen Fertigkeit, mir manches Vergnügen.

Aber im Jahre 1771 ward er als Kantor und Organiſt an die halberſtädtiſche Johanneskirche berufen. Er nahm den Ruf an, und ich verlor ihn ungern. Doch einer liberaleren Denkungsart, hauptſächlich durch Bekanntſchaft mit den beſten Schriften, gewohnt, mochte ſein neues Amt und der mechaniſche Schulſchlendrian für ihn ſeine eigenen Schwierigkeiten haben. Denn als er hörte, daß mein alter Schullehrer geſtorben ſei, ſchrieb er an mich und bot ſich ſelbſt an zu der vakanten Stelle, mit dem Verſprechen, wenn ich ihn vor Nahrungsſorgen ſchützen wollte, mit Gottes Hilfe meine Ideen zu realiſieren.

Man kann denken, wie gern ich in dieſen Umſtänden dieſes Erbieten annahm. Ich gab ihm jährlich 180 Rtlr. nebſt einigen Emolumenten, als vier Fuder Heu jährlich, einen Garten und, gleich meinen übrigen ackerloſen Untertanen, die Erlaubnis, in meinen niedrig liegenden Brachäckern auf angewieſenen Plätzen, auf ſeine Koſten durch Umgraben Lein, Hirſe, Kartoffeln und Mohrrüben ꝛc. für ſich beſtellen zu laſſen.

Er legte alſo dort ſein Amt nieder, kam zu mir, und nun entwarf ich den Lektionsplan der neuen Schule, wie er in „Niemanns Buche ꝛc.“ ſteht, wohin ich, ſonderlich in die erſte Ausgabe, um manches nicht wiederholen zu müſſen, verweiſe.

Mein unerſchütterlicher Grundſatz, den auch Herr Bruns ſich gefallen ließ, war: Nur das Verſtehen des Gelehrten macht die Lehre nützlich.

Daß die Nürnberger Fibel zu abgeſchmackt, der kleine Katechismus und die Bibel aber zu hoch für die Leſeübungen der erſten Schulzeit ſei, wußten wir beide. Dieſem Mangel abzuhelfen, ſchrieb ich geſchwind den erſten Teil des Kinderfreundes, ließ ihn auf meine Koſten bei den Gebrüdern Halle in Braudenburg drucken, und wir wurden eins, daß das Leſen in demſelben und das Katechiſieren über das Geleſene die erſte und wichtigſte Schularbeit ſein ſollte. Zu dieſem Endzweck übten wir uns täglich einige Monate lang im Katechiſieren, wobei bald er, bald ich Lehrer oder Kind vorſtellten.

Indes ward die Schule mit den Kindern aus Reckan und dem nahegelegenen Vorwerke Mesdünck auf meinem Hofe gehalten, wozu ich eine Stube räumte. Denn es fehlte auf meinen Gütern an Schulhäuſern, da die alten den Einſturz drohten. Ich entſchloß mich alſo, deren drei, ganz neu und zweckmäßiger als die alten, in welchen es den Kindern an Platz und Licht fehlte, zu erbauen. Das Schulhaus in meinem Wohnorte Reckan iſt ganz maſſiv und hat nach der Straßenſeite die Aufſchrift: „Laſſet die Kindlein zu mir kommen und wehret ihnen nicht. Matth. 19, 14.“ Dieſes ward im Jahre 1774 bezogen.

Nun kam es noch darauf an, die Eltern, wegen ihrer Vorurteile gegen alles Neue, der neuen Einrichtung und Schulordnung, worein ſie ſich fügen ſollten, hold und geneigt zu machen. Denn am 2. Januar 1773 ſollte die neue Schulordnung und Lehrart beginnen.

Außerdem, daß ich bereits mit meinem einſichtsvollen Prediger über die Hauptſachen ſchon einig war, ſo half mir die Erfindungskraft meiner vortrefflichen Frau die Eltern gewinnen. Sie hatte, mir unwiſſend, am Neujahrsnachmittag ein kleines Feſt veranſtaltet, wozu die ſämtlichen Eltern der Schulkinder eingeladen waren. Gewählte Kinder, die meine Frau gekleidet und geſchmückt hatte, führten in Gegenwart unſer aller und ihrer Eltern ein Drama auf, davon die Proſa von meinem Prediger und die Reime von dem damaligen Feldprediger des Leib-Karabiner-Regiments, jetzigen Inſpektor zu Tangermünde, Herr Haniſch, ſind. Der Kantor Bruns hatte es ſie auswendig lernen laſſen, und ſie machten es ſo gut, daß unzählbare Tränen der Eltern floſſen, und dieſe gleich nachher verſprachen, mir in allen Stücken zu Willen zu leben und die gute Sache zu befördern, welches ſie auch bisher ehrlich getan haben.

Wenn man erwägt, wie ungemein viel daran gelegen war, die Eltern der Schulkinder

für die neue Lehr- und Schulordnung zu gewinnen, so wird man mir verzeihen, daß ich dieser kleinen Mittel umständlich erwähnte, zugleich aber dem guten Willen meiner Gattin dieses Denkmal meiner Dankbarkeit stifte.

Der erste Teil meines Kinderfreundes ging indes so häufig ab, daß, der vielen Nachdrücke ohnerachtet, von den Gebrüdern Halle in Brandenburg über 2000 Exemplare verkauft wurden. Und mit diesem Büchlein begann eine neue Epoche für meine reckanische Schule. Denn die anderen beiden Schulen hatten noch ihre alten Methoden und Lehrer.

Sie wurde nun bekannt, und nachdem der Minister v. Zedlitz durch die berlinischen Herren Ober-Konsistorialräte Sack, Spalding, Teller und Dietrich davon berichten lassen, deren Bericht als Augenzeugen günstig ausfiel, ward sie ein Gegenstand allgemeiner Neugierde, auch wohl, obgleich sehr einzelner, Nachahmung.

Endlich kam auch der Minister selbst, und als er das zweite Mal nach Jahresfrist wiederkam, so erteilte er über den Befund der Sache beigehendes schriftliche Zeugnis:

„Ich habe in diesen Tagen die v. Rochowschen Landschulen abermals besucht und neue Ursachen gefunden, damit zufrieden zu sein, und zu bemerken, daß der wichtige Unterschied zwischen Theologie und Religion beobachtet, und nicht sowohl auf Vielwisserei und Auswendiglernen, sondern darauf gehalten wird, daß den Kindern alles und jedes deutlich gemacht und das, was ihnen undeutlich ist, nicht durch Metaphern, durch Substituieren anderer ihnen ebenso undeutlich seiender Ausdrücke oder bildlicher Ausdrücke, sondern durch Begriffe, die ihnen schon bekannt sind, erklärt, und überhaupt Gelegenheit gezeigt wird, das ihnen Vorgetragene in ihrem Leben anzuwenden, welches denn wohl der einzige wahre Weg ist, die Absicht aller Pädagogik, nämlich bessere und fürs lange Leben brauchbarere Menschen zu bilden, zu erreichen.

Reckan, den 26. Mai 1779. Zedlitz."

Dieser Schulbesuch nahm nun in den ersten zehn Jahren dermaßen zu, daß mehr als tausend Personen, worunter mehrmals regierende Fürsten waren, und von allen Konfessionen, selbst der römisch-katholischen, auch Juden, meine reckanische Schule besuchten. Viele Kandidaten, selbst aus Ungarn, Dänemark ꝛc., hielten sich hier mehrere Monate auf, um dem Unterrichte beizuwohnen und nachher von dem Lehrer, welcher indes von des Königs Majestät den Kantortitel und 120 Rtlr. Gehalt beigelegt erhalten, so daß ich ihm nur noch jährlich 60 Rtlr. nebst den Emolumenten als eine Prämie fürs Bahnbrechen gab, allerlei Auskunft über Lehr- und Methodensachen zu begehren.

Die Willigkeit, welche dieser dabei bewies, machte ihn zwar allenthalben geehrt und beliebt, aber die unablässige Anstrengung mußte ihm schaden, wie er denn auch seine Brustbeschwerden von daher ableitete. Ich war nun äußerst verlegen, wie ich dieser schädlichen Celebrität steuern sollte. Endlich sagte ich in der Vorrede zu meinem Handbuche für Lehrer, die aufklären wollen und dürfen, das Nötigste darüber, und bat, unsere Dorfschule doch ja nicht für ein Lehrerseminarium anzusehen.

Nun setzte ich auch in meinem Dorfe Gettin mit Pensionierung des alten, noch lebenden Schullehrers, eines Schneidermeisters, einen neuen Lehrer, gleichfalls aus der halberstädtischen Domschule, namens Lindemann, und als der Küster in Matre, welches Dorf Krahne heißt, starb, ebenfalls einen Schüler aus dieser halberstädtischen Domschule, namens Schliepbacke, der noch sein Amt daselbst treulich verwaltet. Auch diese beiden erhielten von des Königs Majestät 120 Rtlr. nebst dem Kantortitel, wobei sämtliche kleine Hebungen von der Gemeine nach leidlichen Taxen ihnen darauf angerechnet waren, sie aber allen Unterricht inkl. Schreiben und Rechnen ganz unentgeltlich geben mußten.

Diese später ins Amt tretenden Lehrer zu bilden, hatte ich mir nun durch die Bildung des Kantor Bruns sehr erleichtert.

Denn außerdem, daß ich mit den neuen mich täglich im Katechisieren übte, durften sie nun das Praktische täglich bei dem Kantor Bruns sehen, welcher in kurzem meine Erwartungen übertraf und, sofern es auf Verstandesübungen ankommt, Muster wurde. Mutig überwand er die Schwierigkeit, der mühsam gelernten Schul- und Systemsprache sich zu entäußern, die Sprache des gemeinen Menschenverstandes zu studieren und sich dem engen Ideenkreise der Anfänger anzupassen.

Doch bald im Anfang erging über meine neue Schuleinrichtung eine kleine Verfolgung. Der damalige, nun verstorbene Diöcesansuperintendent in Brandenburg ließ bei Gelegenheit der Kirchenvisitation meine zwei neuen Cantores, davon der zu Gettin erst zehn Wochen im Amte war, mit ihren Schulkindern vor den Altar treten, und gab diesem auf, über den dritten Artikel des kleinen Katechismus Lutheri seine Kinder zu katechisieren. Als dieser sich entschuldigte, daß er in der kurzen Zeit seines Schulamtes noch nicht bis zum dritten Artikel sich hinarbeiten können, indem es den Kindern an allen Vorkenntnissen gänzlich gefehlt habe, so erhob der Superintendent eine laute und wehmütige Klage vor den versammelten Gemeinen, daß, wie er sehe, der dritte Artikel hier nicht mehr in Ehren gehalten werde ꝛc.

Dieser Wink auf Ketzerei, der so leicht einer neuen Anstalt hätte gefährlich werden können, tat aber diesmal keine Wirkung. Das Volk blieb ruhig, und ich begegnete dem Herrn Visitator mit meiner vom Berliner Oberconsistorio erhaltenen schriftlichen Instruktion, kraft welcher es gebilligt wurde, daß man von dem, was noch nicht oder gar nicht verstanden werden kann, also auch noch nicht nützlich ist zur Besserung, nichts lehrt, gegen das Ende der Schulzeit aber den ganzen kleinen Katechismus aus Gehorsam gegen die landesherrlichen Verordnungen auswendig lernen läßt, obgleich mit den darin lehr- und verstehbaren Sachen (nur nicht in der Katechismusform) die Kinder längst und durch die ganze Schulzeit bekannt gemacht worden sind. Überdem erhält ja der Prediger diese Kinder zur speziellen Bearbeitung, ehe sie konfirmiert werden, wo er Zeit und Gelegenheit genug hat, das Positive der in jeder Konfession landesüblichen Dogmatik ihnen einzuflößen. . . .

Da ich aber doch wegen der etwanigen Folgen des vorerwähnten Auftrittes besorgt sein mußte, so meldete ich das Geschehene dem Oberconsistorio und bat, mich vor ähnlichen Ereignissen sicher zu stellen. Bald erging an den Herrn Superintendenten der Befehl, nicht eher von der Kirchenvisitation zu berichten, bevor er nicht auch die reckanische Schule besonders visitiert, welches er noch nicht getan hatte, und auch davon berichten könnte.

Dies geschah sogleich und endigte sich mit einer brüderlichen Umarmung zwischen dem Herrn Visitator und dem Kantor in der Schule, und des ersteren größter Zufriedenheitsbezeugung.

Nun war ich auch von dieser Seite sicher, und alles hatte den besten Fortgang. Doch ward noch häufig dem Grundsatz der besseren Methode zuwidergehandelt, welcher ewig ist: »Lehre nichts, als was du selbst verstehest und anderen verständlich machen kannst«.

Zum Exempel die aus der alten Schulordnung beibehaltenen Wochensprüche, d. i. die jede Woche von den Kindern auswendig gelernt werden mußten. Zum Teil waren sie, wie manche vorgeschlagene Verse, für Lehrer und Schüler zur Zeit unerklärbar. Auch fand sich manches in Liturgie, Gesangbüchern ꝛc., welches arg mit der Schullehre kontrastierte. Dem Schlechteren im Gesangbuche konnte ich endlich abhelfen. Denn als das neue verbesserte Berliner Gesangbuch erschien, da schenkte ich jedem Individuo in meinen fünf Ortschaften ein gebundenes Exemplar. Ein halbes Jahr vorher war dieses neue Gesangbuch schon in den Schulen gebraucht worden, und also, weil die Kinder ihren Eltern schon manchen schönen, auswendig gelernten Vers daraus hergesagt hatten, ward mein Geschenk mit Dank angenommen. Nicht lange nachher ward es in den Kirchen, am Geburtstage des verstorbenen Königs, ohne Murren eingeführt, obgleich benachbarte Gemeinen dessen Einführung tumultuarisch verworfen hatten. Diese Einführung beim öffentlichen Gottesdienste geschah zuerst in Reckan. Kurz nachher baten meine übrigen Ortschaften per deputationem um dasselbe, und so besteht dessen Gebrauch bis auf den heutigen Tag.

Aber die Liturgie überstieg meine Kräfte. Zwar war ich schon mit meinem verständigen Prediger dahin übereingekommen, daß derselbe die jura stolae, was Beichtgeld und Taufgebühren betrifft, nach eigener Evaluation eines Durchschnittes verschiedener Jahre, von mir mit 80 Rtlr. jährlich vergütet annehmen möchte, welches denn auch von dem Oberconsistorio nachher ordentlich konfirmiert und immer als Befreiung aller zu dieser Pfarre gehörigen Individuen, jedoch exkl. des Beichtgeldes und der Taufgebühren der Herrschaft, bestehen wird.

Doch blieb so manches, was ich gern geändert hätte, aber nicht konnte. Indes wurde

der gettiniſche Kantor Lindemann nach Potsdam zu einer Lehrſtelle ins große Waiſenhaus berufen, und weil ſie einträglicher war, zog er dahin. Ein Primaner aus der halberſtädtiſchen Johannisſchule, namens Schäfer, folgte ihm in der gettiniſchen Schulſtelle. Dieſer junge Mann hatte viel Talent und den edlen Willen, ſeinem Muſter, dem Kantor Bruns, nachzueifern. Sein Charakter war dabei rein und liebenswürdig. Nie ward auch leichtlich ein Lehrer von Eltern und Kindern zärtlicher beweint, als da ihn die geſchwinde Lungenſucht, Folge eines leichten dreitägigen Fiebers, während welchen der Tod ſeines Vaters ihn zu einer Reiſe nach Halberſtadt nötigte, der beſſeren Welt zuführte.

Sein Nachfolger iſt ſeit einigen Jahren der Kantor Thümmel aus dem halberſtädtiſchen Lehrerſeminario. Auch dieſer gibt die beſte Hoffnung, ſeinem Vorgänger ähnlich zu werden.

Der größte Verluſt, welcher meinen Anſtalten drohte, war der nahe Tod meines Kantors Bruns. Eine veraltete Lungenſucht hatte ihn ſchon ſeit Monaten außerſtand geſetzt, zu lehren. Sein zweiter, ſechzehnjähriger Sohn — der älteſte war im Lehrerſeminar zu Halberſtadt — lehrte indes die kleineren, und ein ehemaliger Schüler der gettiniſchen Schule, namens Schmidt, von einundzwanzig Jahren, der ſich dem Landſchulfache gewidmet, die größeren Kinder; dieſe vertraten denn ſeine Stelle ſo gut ſie konnten; und dieſer gefürchtete Verluſt iſt erfolgt: im September des verwichenen Jahres ging mein Freund, nach langen mit exemplariſcher Geduld getragenen Leiden, in einen neuen Wirkungskreis hinüber.

Sein Nachfolger ſollte ſein neunzehnjähriger älteſter Sohn Eberhard Bruns, der ſchon einige Zeit im halberſtädtiſchen Schulſeminar geweſen war, ſein. So wünſchte es der ſterbende Vater, und ich konnte, beſonders von der Seite die Sache betrachtet, daß die Lehrmethode durch den, der keine andere von Jugend auf kannte, wohl am ſicherſten werde befolgt werden, nicht viel dawider haben, da es dem jungen Eberhard Bruns bei einem ungewöhnlichen Fleiße keineswegs an Lehrmaterialien fehlte. — Aber er verbat meinen Antrag mit der ſeiner Beſcheidenheit Ehre machenden Äußerung: er ſei zu jung und wiſſe noch viel zu wenig, um einem ſolchen Vater im Amte zu folgen.

So wählte ich denn den älteſten Seminariſten des dortigen S. L. Seminarii, namens Liebentraut, der nun ſeit einigen Monaten mir die beſte Hoffnung gibt, die Anſtalt am Werte nicht ſinken zu laſſen.

Schwerlich hat wohl je ein Mann ſeines Standes hienieden einen größeren Wirkungskreis gehabt, als der ſelige Kantor Bruns. Über ſechzig mehrenteils ſchon mit ausgezeichnetem Beifall in Lehrämtern Stehende, wovon ich ſtatt vieler Einländer nur einen Hartung in Berlin und Kluckhuhn in Potsdam, der vielen Ausländer unerwähnt, nenne, lernten von ihm und werden mit mir des guten Bruns Andenken ehren. Er hatte, wie Sirach im letzten Kapitel ſagt, treulich getan, was ihm befohlen war, — viele zur Gerechtigkeit geführt. Viel Lohn wartet ſeiner!

Eine drei Fuß hohe Urne ſoll in meinem Garten ſeinem Andenken geweiht ſein mit der ſimpeln Aufſchrift: „H. J. Bruns. Er war ein Lehrer.“

## 70. Ignaz v. Felbiger.

Von J. Neumaier.

Leitfaden für den Unterricht in der Pädagogik. Tauberbiſchofsheim 1875. S. 41.

Der eigentliche Reformator des katholiſchen Schulweſens iſt Ignaz v. Felbiger (1724—1788). Zunächſt machte er ſich um das Schulweſen in Schleſien verdient, gab aber zugleich den Anſtoß zu einer neuen Entwickelung des Schulweſens in ganz Deutſchland. Felbiger, ein heller Kopf, erkannte die Mängel des damaligen Schulweſens und war vom lebhaften Drange beſeelt, eine Reform desſelben einzuleiten. Zu dieſem Zwecke beſuchte er verſchiedene Muſterſchulen in Deutſchland, unter anderen die berühmte Muſterſchule zu Berlin, von Hecker geleitet, ebenſo die in Kloſterbergen. Als er zurückkam, trat er ſogleich reformierend in Schleſien auf und entwarf den Plan zu einer völligen Umgeſtaltung des Schulweſens.

Demgemäß gründete er an vielen Orten neue Volksschulen, führte die Schulpflichtigkeit und die Sonntagsschulen ein, entwarf passende Lehrpläne und Schulordnungen und gab mehrere vortreffliche Schulbücher heraus. Von besonderem Vorteile war es, daß er zu Sagan eine Lehrerbildungsanstalt gründete, worin er selbst Unterricht erteilte. Bald wurden durch seine Anregung auch an anderen Orten Lehrerseminare gegründet, worunter das zu Breslau das bedeutendste wurde. Diese Anstalt mußten die bereits im Dienste stehenden Lehrer 6 Wochen lang besuchen. Auch erwirkte er eine königliche Verordnung, wonach die jungen Geistlichen das Seminar besuchen und sich mit der neuen Lehrmethode bekannt machen mußten.

Nachdem Felbiger das Schulwesen in Preußisch-Schlesien geordnet hatte, wurde er von der Kaiserin Maria Theresia nach Wien berufen, um das Schulwesen in Österreich zu verbessern. Hier gründete er drei Arten von Schulen: 1) Normalschulen, womit zugleich ein Lehrerseminar verbunden war, in jeder Hauptstadt eine; 2) sogenannte Hauptschulen, eine Art höherer Bürgerschulen, in jedem Kreis der Provinz eine; 3) sogenannte Trivial-, d. h. Elementarschulen in den kleineren Städten, Marktflecken und Dörfern. Das entschlossene Auftreten Felbigers hatte zur Folge, daß in allen deutschen Ländern bei katholischen Fürsten und Reichsstädten sich ein reger Eifer für die Herstellung eines geordneten Volksschulwesens zu erkennen gab.

Durch Felbiger erhielt das ganze Volksschulwesen eine neue Einrichtung, indem er nicht nur die Methode des Unterrichtes verbesserte, sondern auch eine bessere Schulordnung und Schulzucht, sowie, gleich Rochow, den gemeinsamen Unterricht einführte, so daß die Schüler nicht mehr, wie früher, einzeln abgehört, sondern zusammen unterrichtet wurden, wobei sie gleiche Schulbücher benutzen mußten. Auch sollten die Schüler von gleichen Kenntnissen zu einer Klasse vereinigt und diese wieder in Unterabteilungen zerlegt werden.

Eine wesentliche Verbesserung war die Einführung der katechetischen Unterrichtsmethode, d. h. Felbiger drang darauf, daß die Kinder durch verständiges Fragen und Antworten geistig angeregt und zum klaren Verständnis des betreffenden Lehrgegenstandes geführt wurden; er verlangte, der Lehrer solle sich durch fleißiges Abfragen überzeugen, ob die Schüler den Unterricht verstanden haben.

Bei solchen Lehrgegenständen, welche dem Gedächtnisse eingeprägt werden sollten, gebrauchte Felbiger besondere mechanische Vorteile, indem er die sogenannte Buchstaben- und Tabellenmethode einführte. Erstere besteht darin, daß nur die Anfangsbuchstaben der auswendig zu lernenden Sätze und Wörter von dem Lehrer an die Tafel geschrieben und die übrigen von den Schülern ergänzt werden, bis die betreffenden Sätze erlernt waren. Die zweite, von Hähn in Berlin entlehnt, bestand darin, daß der Lehrer von dem behandelten Unterrichtsstoff eine kurze Skizze oder übersichtliche Zusammenstellung entwarf. Dies hatte zum Zweck, daß sich die Schüler den Gegenstand tiefer einprägten, sodann auch die Ordnung kennen lernten, in welcher eines auf das andere folgt und mit ihm zusammenhängt.

Mit dem Buchstabier- und Leseunterricht sollte zugleich das Schreiben verbunden, und beim Erlernen der Buchstaben die genealogische Ordnung eingehalten werden. Beim gemeinsamen Lesen und Nachsprechen mußten die Kinder den gleichen Ton einhalten, der ihnen vom Lehrer bezeichnet wurde, wobei aber zur Vermeidung der Eintönigkeit öfterer Wechsel des Tones einzutreten hatte.

Bezüglich der Schulordnung führte Felbiger besondere Kommandowörter und Zeichen ein. Sollte eine Abteilung an die Reihe kommen, so mußte sie auf ein gegebenes Zeichen, z. B. Klopfen mit einem Schlüssel, sofort zu dem sich anschicken, was verlangt wurde. Machte ein Schüler einen Fehler, und wollte ihn ein anderer verbessern, so hatte dies durch Emporheben der Hände und Hinstrecken der Finger zu geschehen. Was die Strafen und Belohnungen betrifft, so schaffte Felbiger die seither

üblichen barbarischen Strafen ab und behielt nur die Züchtigung mit der Rute bei. Die gewöhnliche Strafe war die Versetzung auf den für ungehorsame Schüler bestimmten Platz.

Endlich wurde von Felbiger ein früher nicht gekanntes Institut, nämlich die Sonntagsschule, eingeführt. Zum Besuche der Fortbildungsschule waren die bereits aus der Elementarschule entlassenen Schüler bestimmt, insbesondere die Lehrjungen und Handwerksburschen. Der Lehrer hatte nach der Kirche die jungen Leute in zwei Stunden im Lesen, Schreiben und Rechnen zu unterrichten, das früher Erlernte zu wiederholen und die sonntäglichen Evangelien unter Leitung des Pfarrers zu erklären. — Die Reformen Felbigers fanden nicht nur in Österreich und Böhmen überall Eingang, sondern auch in anderen katholischen Ländern, namentlich im Bistum Mainz, Trier, Würzburg, Bamberg, Konstanz. Felbiger legte somit den Grund zu einem ordentlichen Schulwesen im ganzen katholischen Deutschland, und die meisten Verbesserungen, welche das Schulwesen in Beziehung auf Unterrichtsmethode, Schultechnik und Schuldisziplin aufzuweisen hat, rühren von diesem Schulmanne her.

## 71. Aus Dinters Leben.

Dinters Leben. Von ihm selbst beschrieben. Ein Lesebuch für Eltern und Erzieher, für Pfarrer, Schulinspektoren und Schullehrer. Mit einem Faksimile[1]. Neustadt an der Orla 1830.

[S. 1.] Geboren wurde ich in der kursächsischen, jetzt königlich sächsischen Mittelstadt Borna, drei Meilen von Leipzig, zwei Meilen von Altenburg, 1760, den 29. Februar, abends um 5 Uhr. Mein Vater hatte den Titel als Kammer-Kommissarius und war Rechtsgelehrter. . . . . Er war einer der fröhlichsten Männer, die ich in meinem Leben gekannt habe. Er freute sich einer blühenden Gesundheit und Kraft, eines sehr reichlichen Auskommens, eines glücklichen Temperaments, und, ohne sich leicht etwas zu versagen, genoß er doch alles so, daß er's lange genießen konnte. Seine Heiterkeit ging oft in das über, was man in unserer ernsteren, steiferen, aber darum nicht besseren Zeit Ausgelassenheit, vielleicht gar Ungezogenheit nennen würde. Damals lachte man darüber. . . . . .

[S. 5.] Er konnte an seinen fünf Söhnen (von seinen zwei Töchtern war eine tot geboren, die andere starb 24 Wochen alt) alles leiden, nur nicht Furchtsamkeit, Verlegenheit. Er war oft in der Woche vier Tage abwesend und reiste auf seinen Gerichtsbestallungen umher. Aber wenn er einmal zu Hause war, so sah er's sehr gern, wenn seine Jungen um ihn her schwärmten. Mehrmals schickte er mich, denn Furchtsamkeit litt er durchaus nicht, im Finsteren in den Garten. „Gustel, hole meine Tabakspfeife aus dem Garten. Sie liegt an dem und dem Orangeriebaume!" Wehe dem, der dann nicht gegangen wäre! Sogar auf den Oberboden schickte er mich in der Nacht, ohne Licht. Die Mutter war ängstlich. „Der Junge kann doch die Treppe herunterstürzen!" — „Besser einen weniger", rief er einmal erzürnt aus, „als einen unbrauchbaren Hasen." Daher war auch unter uns allen von Aberglauben keine Spur. . . . . .

[S. 19.] Mein Vater weissagte mir oft, ich würde einst viel Lärmens in der Welt machen, weil ich sie mit einem Geschrei betreten hatte, das der Vater bei seiner Nachhausekunft drei Häuser weit hatte hören können. Arzt und Mutter sahen das bloß als ein Zeichen einer kräftigen Natur an. In der Tat hatte ich als Knabe kein Übel zu überwinden, als Masern und Blattern, von denen mich diese (damals kannte man die Einimpfung der Schutzblattern noch nicht) sehr gelind durchließen. Mit den ersten muß es auch wenig zu bedeuten gehabt haben. Wenigstens scherzte meine Mutter oft über die Eitelkeit, mit der ich als dreijähriger Maser-Patient, mich im Spiegel besehend, gesagt haben soll: „Ach guter, lieber Gott, laß mir die schönen Masern! Ich sehe gar zu hübsch damit aus."

---

[1]) Dasselbe lautet:

„Ein Künstler, der mich abbilden wollte, müßte sich entweder an der Wahrheit oder an der Ästhetik versündigen. Beides soll mit meinem Willen nie geschehen.

29. 12/2. Dinter."

Behandelt wurde ich als Knabe nicht nach neueren Grundsätzen, vielmehr als ob man's darauf anfinge, mich zu verweichlichen. Soweit als ich zurückdenken kann, bekam ich früh meine drei Tassen Thee, nachmittags Schlag 3 Uhr ebensoviel Kaffee. Der Tisch bei meinem Vater war täglich sehr gut besetzt und mußte es sein, um des oft unerwartet uns besuchenden Landadels willen, von dem mein Vater lebte. Wir Kinder bekamen von allem. Nur in einem Stücke ging's streng her: Wir durften keine Speise verweigern. Wer die erste verweigerte, bekam mit der Erklärung: „Du hast heute keinen Appetit", auch von keiner der folgenden. Das war von gutem Einflusse auf unser Leben.

[S. 25.] Unsere viel in das Kind hineinstopfenden Lehrer klagen so oft über Mangel an Lust und Fleiß. Nicht ohne ihre eigene Schuld. Sie geben zu viel und lassen zu wenig selbst finden. Was bei dem Volke die Sokratik gibt, die Freude am Selbsterwerbe, das muß der Lehrer der Kinder ausgebildeter Stände dadurch bewirken, daß er von den genannten Dingen nicht zuviel gibt, sondern die Schüler bloß anweist, wo sie es selbst suchen können. Wenn der Magen überladen ist, den ekelt die beste Speise an, und nichts wäre unsinniger, als ihm Hände und Füße festhalten, den Mund aufbrechen und ihn zum Essen zwingen.

[S. 56.] Im ganzen genommen scheint meine Bildungsgeschichte den Gedanken zu bestätigen, der jedoch nicht zu weit ausgedehnt werden darf: Es ist nicht notwendig, daß dem Menschen alles, was er wissen muß, in besonderen Lektionen vorgetragen werde. Regt in ihm nur die Lust und die Kraft an, und zeigt ihm die Hilfsquellen, dann wird er von sich selbst mehr werden, als alle Lektionen und Collegia aus ihm zu machen imstande sind. Pestalozzi drückte das späterhin so aus: Der Junge muß bei mir lernen lernen; deutlicher: lernen, wie er lernen, wie er sich selbst zu Kenntnissen helfen, durch die Schwierigkeiten hindurcharbeiten soll.

[S. 173—174.] Ich rauche nicht Tabak, und doch war mir's Bedürfnis, die Hände bei solchen Lektionen, wo bloß gesprochen, nicht gelesen noch geschrieben wurde, nicht unbeschäftigt zu lassen. Was tat ich anfangs mehrere Jahre? Ich schloß Federn. Der Reinlichkeit wegen hatte ich dabei stets drei Gefäße vor mir, eins mit den ungeschlossenen Federn; in das zweite tat ich die geschlossenen, in das dritte die Kiele. Das war nützlich, denn mein Haus bedurfte nun der auf meinem Dorfe gewöhnlichen Federschließer nicht. Aber es war auch lästig. Wenn mich jemand besuchte, so mußten jederzeit drei Töpfchen auf die Seite geschafft werden. Dabei blieb's, bis mein Bauriegel mein Haus bezog. Dieser konnte stricken und überzeugte mich, dies beschäftige ebensogut die Hände und habe die Unbequemlichkeiten des Federschließens nicht. Ich wurde sein Schüler im Stricken, wie er der meinige im Lehren. Ich lernte es mit allen seinen Zugaben, Naht, Zwickel, Zieraten-Stricken, und kann's noch. Ich habe die Strümpfe für mein Haus gestrickt, bis ich nach Königsberg kam. Als königlicher Rat wollte ich's denn doch, weil es den neuen Landsleuten aufgefallen sein würde, nicht fortsetzen.

[S. 182—183.] Junger Mann! Wenn du in ein Amt kommst, das dich mit Arbeit zu erdrücken droht, erschrick nicht! Wer viel will, kann viel. Mir waren 32 Lektionen laut Stundenplans vorgeschrieben, 22 im Seminare, 10 in der Übungsschule. Damit war verbunden die Aufsicht über fünf Schulklassen und über die Spinnanstalt, die mit der Armenschule zusammenhing. Von Weihnachten bis zum Palmsonntage hatte ich außerdem den Konfirmandenunterricht zu erteilen. Ich mußte mich auf eine Menge Lehrstunden, die ich noch nie gegeben hatte, vorbereiten. Unter den 32 vorgeschriebenen Lehrstunden war eine, in der ich die sogenannte Musterkatechisation zu halten hatte, als Vorbild für die Seminaristen. Für die Jünglinge waren nur drei unter den Augen des Direktors zu haltende Übungsstunden bestimmt. Offenbar zu wenig. Allerdings waren unter den Seminaristen viele Novizen; aber wenn ich nur 24 der Übung Bedürftige rechnete, so traf jeden die Reihe zu katechisieren in acht Wochen einmal. Ich bestimmte also wöchentlich, außer den drei schon angeordneten, noch sechs Abend- und (Sonnabends) eine Morgenstunde zu praktischen Übungen auf meiner Stube. Die Sonntage wendete ich in den ersten Jahren zur Vorbereitung auf

meine Stunden an. Freilich hatte ich nun außer der Eßstunde und abends von 7 Uhr an selten frei. Aber die Folge? Merk's, junger Mann! Ich habe durch diese Notwendigkeit beharrlich arbeiten gelernt. Ich arbeite in meinem 69. Jahre in den meisten Wochen 83 Stunden und nie unter 70. Das könnte ich nicht, wenn ich's damals nicht gemußt hätte. Glaub's, junger Schulmann, es sterben mehr Leute am Zuwenigtun, als am Zuvieltun.

[S. 242.] Ich wurde in eine Gesellschaft geladen, in welcher vier Pädagogen der Hauptstadt zugegen waren. Man mochte wohl auf jede Äußerung des neuen Schulrates aufmerksam sein. Jemand, ich weiß nicht wer, forderte meine Hauptansicht vom Schulwesen. Ich antwortete bestimmt: „Das Schulwesen ist ein Wagen, der auf vier Rädern fortrollt. Sie heißen Bildung, Besoldung, Aufsicht, Freiheit! Zertrümmern sie hier in Berlin eins von diesen vier Rädern, so geht der Wagen (ich glaube den Ausdruck gebraucht zu haben: das ganze Karretchen) nicht von der Stelle."

[S. 244.] Ich sah [in Königsberg] bald ein, daß mein achtungswürdiger Vorfahrer für die Gymnasien viel, für das Elementarschulwesen wenig getan hatte. Ich beschloß also, dem Ausspruche Jesu zunächst Gehör zu geben: Den Armen werde das Evangelium gepredigt. Ich revidierte kurz nach meiner Ankunft auf einer Reise 43 Landschulen und 2 Stadtklassen, und — in keiner von ihnen war auch nur ein Kind, das einen Brief selbständig aufsetzen konnte. Ich klagte darüber in der Session. Einer der geistlichen Räte antwortete: „So etwas muß man aber auch von Bauernjungen nicht fordern". Ich antwortete: „Ich hab's als Pfarrer in Sachsen (in Kitscher und Görnitz) gefordert, ich werd's als Rat in Preußen auch verlangen."

[S. 245.] Heute, da ich dies schreibe (den 19. Oktober 1828), habe ich 2175 Meilen Weges auf Revisionsreisen gemacht, und von rein-deutschen Orten ist keiner, dessen Schule ich nicht revidiert, von Ostpreußens Städten, Hohenstein (halbpolnisch) ausgenommen, keine, in der ich nicht gewesen bin.

[S. 272.] „Einmal sehen wirkt mehr, als fünfmal verfügen."

[S. 277.] Ich nenne alle meine preußischen Seminaristen Du, so lange ich mit ihnen zufrieden bin. Wenn ich einen Sie nenne, so ist das eine bedeutende Strafe. Mein S. war zu gelinde, er konnte kein Kind ernst tadeln. Seine Schule zu W. war daher bei der ersten Revision nicht, was eine Seminaristenschule sein soll. Ich nannte ihn bei der Revision Sie. Er weinte und schwieg. Nach einiger Zeit besuchte er mich. — Ich: „Was wollen Sie bei mir?" Er: „Ich wollte Sie bitten, meine Schule wieder zu revidieren." Ich: „Daß ich mich noch einmal ärgere?" Er: „Nein! Ich will mir nur das Du wieder verdienen!" — Er verdiente sich nicht nur das Du, sondern auch eine bessere Stelle.

[S. 268.] Nur der Schullehrer wird allmächtig, der in seiner Gemeine alt wird. Es liegt viel Wahres in dieser Ansicht. Wenigstens verdient diese Meinung das Nachdenken derer, die auf die Entscheidung Einfluß haben.

[S. 341.] Unter zwei Königen habe ich gelebt; zwei Staaten habe ich mein Vaterland genannt. Ich war in Sachsen glücklich. Mein Friedrich August war nicht nur König, er war Mensch; wie glücklich ich mich unter ihm, vorzüglich als Residenzbewohner in seiner Nähe fühlte, habe ich in diesem Buche schon beschrieben. Und Friedrich Wilhelm, ich lebe unter ihm nicht minder glücklich, als ich unter meinem herrlichen Friedrich August war. Er gibt jetzt 130000 Tlr. zur Erbauung zweier preußischen Kirchen, hilft jetzt meinen armen Polen zu einem neuen Schullehrer-Seminar, hat so manchen Wunsch mir erfüllt, um der Sache der Nachwelt, der Menschheit willen, und ich hoffe sie noch zu erleben, die Zeit, wo kein Menschenbildner und Christenerzieher in Preußen schlechter bezahlt wird, als der Dorfhirte. In zwölf Jahren hat er dem fürsprechenden Ministerium keinen billigen Wunsch, der mein Schulwesen betraf, versagt. Gott segne ihn! Ich war von ganzem Herzen Sachse, und bin von ganzem Herzen Preuße, und bleibe es wahrscheinlich bis an mein Ende, es wäre denn, daß der, welcher mir einst das Auge zudrücken soll, anderswo als auf preußischem Boden seinen Wirkungskreis fände.

[S. 340.] Und so sehe ich in jeder Hinsicht ohne Furcht der Zukunft entgegen. Sterben? Nun, wahrlich dafür fürchte ich mich nicht. Das Einpacken (vasa colligere nennt's der Lateiner) mag kein angenehmes Geschäft sein. Aber Reisen ist wahrlich nichts Unangenehmes, zumal Reisen ins Vaterland, zum Vater. Ein Gott, der mir's hier so wohl gehen ließ, macht alle guten Geister in seinem Himmel glückselig; mich auch. Und wenn er mich droben wieder zum Schulmeister macht und mir ein Heer Geisterchen für seinen Himmel zu bilden anvertraut, so erfüllt er den heißesten meiner Wünsche, macht mich so selig, daß ich selbst Gabriel und Raphael um ihre Herrlichkeit nicht beneide!

## 72. Wie kann und muß der Lehrer seine Schüler dazu anführen, daß sie beobachten, was eine gute Schulzucht erfordert?

Von B. Overberg.

Anweisung zum zweckmäßigen Schulunterricht für die Schullehrer im Fürstentum Münster. Münster 1844. S. 104.

Erste Regel: Suchet euch vor allen Dingen Ansehen, Liebe und Zutrauen bei euren Schülern zu erwerben.

Ohne in Ansehen bei euren Schülern zu sein, werdet ihr wenig oder gar nichts bei ihnen ausrichten; euer Unterricht, eure Ermahnungen, Verweise, Drohungen und Strafen, alles wird vergebens sein, wenn sie keine Ehrfurcht gegen euch haben, euch geringschätzen oder gar verachten. Euch in Ansehen bei euren Schülern zu setzen oder zu erhalten, ist also eine wichtige Pflicht für euch.

a) Untaugliche Mittel dazu. — Mancher Lehrer sucht sich durch ein finsteres, mürrisches, verdrießliches Gesicht, mancher durch beständiges Schelten und Poltern, mancher sogar durch den fleißigen Gebrauch des Stockes und der Rute in Ansehen zu setzen. Dies ist freilich ein sehr bewährtes Mittel, Kindern Furcht und Schrecken vor ihren Lehrern einzujagen; aber sich bei ihnen Achtung und Ansehen zu erwerben, dazu ist es ein sehr untaugliches Mittel. Die Kinder werden einen so harten Lehrer als ihren ärgsten Feind hassen, Erbitterung und Rache wird ihr Herz erfüllen, und mit Abscheu gegen ihn, gegen das Lernen und gegen die Lehren selbst, die er ihnen beibringen will, werden sie zur Schule kommen. Solche Lehrer sind eine Pest der Schulen und wahre Verderber der Jugend. — Ebenso verkehrt, wie diese harten Lehrer, handeln auch auf der andern Seite diejenigen, welche, um sich die Liebe der Kinder und ihrer Eltern zu erwerben, gar kein Ansehen behaupten, ihren Schülern allen Willen lassen, immer durch die Finger sehen und die Bosheiten derselben kaum mit einem ernsten Verweise bestrafen. Wenn diese auch nicht so vielen gleich auffallenden Schaden anzurichten scheinen, als jene strengen und menschenfeindlichen Zuchtmeister, so verderben sie doch die Jugend nicht weniger. Die anfängliche Liebe derselben gegen ihren Lehrer wird bald in eine gar zu große Vertraulichkeit und in einen daraus entstehenden Mangel der Achtung ausarten, und sie werden zuletzt allen ihren Mutwillen ohne Scheu ausüben, da sie wissen, daß sie keine Strafen zu befürchten haben. Und ist es erst einmal soweit gekommen, so ist alle Frucht seiner Arbeiten und Bemühungen unwiederbringlich verloren. — Auch bringen sich diejenigen Lehrer um alle Achtung bei ihren Schülern, die sich in ihrer Gegenwart oft blöde und verlegen zeigen, oder viel über den Mutwillen, die Trägheit und Achtlosigkeit in einem klinselnden Tone keifen und klagen.

b) Taugliche Mittel, sich Ansehen bei den Kindern zu verschaffen. — Um euch in den gehörigen Respekt bei den Kindern zu setzen, haltet die Mittelstraße zwischen zu großer Strenge und zu großer Gelindigkeit: seid väterlich ernsthaft; euer ganzes Betragen sei männlich, gesetzt, bescheiden-dreist und anständig; vermeidet alles, was den Kindern Anlaß geben kann, euch zu verachten, über euch zu lachen oder zu spotten; sehet besonders dahin, daß eure Schüler einen würdigen Begriff von eurer Geschicklichkeit und Tugend bekommen und euch als ein Muster betrachten, welches sie schwerlich erreichen werden. Dies setzt in Ansehen und ist von Kindern

nicht so gar schwer zu erlangen, wenn ihr euch nur ernstlich bestrebet, recht geschickt und tugendsam zu werden, und euch überall so betraget, daß die Leute nichts anderes als Gutes mit Wahrheit von euch sagen können. Dabei müsset ihr auch die notwendige Klugheit haben, eure Schwäche nicht zu sehr merken zu lassen. Wenn ihr etwas unrecht machet oder saget, und kein Kind es merkt, so suchet es heimlich zu verbessern; hat es aber schon einer oder der andere bemerkt, so ist es am besten, es sogleich, ohne bestürzt oder verlegen zu tun, offenherzig zu gestehen: „Ich verredete, ich versah mich, es ist so und so" ꝛc. Denket nicht, daß diese Klugheitsregel bei Kindern, besonders bei den kleineren, unnötig sei. Sie sind in der Tat nicht so einfältig, als sie manchmal scheinen; sie sehen schärfer, als man denken sollte, besonders in solchen Dingen, die eine Beziehung auf sie haben. Sie spüren gemeiniglich bei aller ihrer Unerfahrenheit und Unwissenheit die Beschaffenheit ihres Lehrers, seine schwache oder starke Seite weit eher aus, als dieser ihre Fähigkeiten, Neigungen und Gemütsart kennen lernt; sie wissen oftmalen von ihren Entdeckungen einen solchen Gebrauch zu machen und so viele eingebildete Vorteile für sich daraus zu ziehen, als man ihnen nicht zutrauen sollte. Behutsamkeit in Gegenwart der Kinder ist euch also sehr notwendig, wenn ihr euer Ansehen unter ihnen behaupten wollt. Ist dies einmal verloren, so ist es nicht leicht wiederherzustellen, und der Schaden, der daraus entsteht, ist oftmals nicht wieder gutzumachen.

Zu den angeführten Mitteln, euch in Ansehen zu setzen, gehört auch besonders, daß ihr euch eine wahre Liebe und ein herzliches Zutrauen bei euren Kindern zu erwerben suchet. Diese Liebe und dies Zutrauen erhalten und schützen euer Ansehen mehr als alles übrige und bahnen euch den Weg zu den Herzen eurer Schüler, um sie desto leichter zum Guten zu lenken. Bei den meisten Kindern ist es nicht schwer, Liebe und Vertrauen zu erlangen; aber freilich müsset ihr, um sie zu erlangen, selbst eine herzliche Liebe zu euren Schülern haben und ihnen dieselbe bei jeder Gelegenheit zu erkennen geben. Ihr müsset sie durch euer ganzes Betragen zu überzeugen suchen, daß ihr sie liebet und für ihr wahres Beste sorget. Deswegen müsset ihr das Beispiel eines recht verständigen und gütigen Vaters stets vor Augen haben, und demselben, soviel euch möglich ist, in dem Verhalten gegen eure Schüler nachahmen. Ihr könnet es ihnen auch wohl bei einer schicklichen Gelegenheit sagen, daß ihr sie lieb habet, und daß ihr wünschet, sie möchten euch wieder lieben, und ein herzliches Zutrauen zu euch haben; aber euer Herz muß auch mit dem übereinkommen, was ihr mit dem Munde saget, und eure Werke müssen es zeigen.

Zur Erweckung der Liebe und des Zutrauens bei den Kindern müsset ihr auch immer (nur die Fälle ausgenommen, wo das schlechte Betragen der Kinder das Gegenteil nötig macht) mit einem heiteren und fröhlichen Gesichte in die Schule kommen. Dies ermuntert die Kinder und erwirbt euch bei denselben schon gleich bei eurer Ankunft Liebe und Zutrauen. Und das ist sehr natürlich: sehen die Schüler euch mit einem finsteren und verdrießlichen Gesichte zu ihnen kommen, so befürchten sie für sich manches Unangenehme; sie werden niedergeschlagen, mürrisch und verlieren alle Lust zum Lernen; erblicken sie euch aber mit einem heiteren, offenen Gesichte, seid ihr selbst munter, so teilet ihr ihnen gleichsam eure Heiterkeit und Lust zur Arbeit mit und flößet ihnen Leben und Munterkeit ein. Es versteht sich von selbst, daß diese Munterkeit bei euch keine leichtsinnige Lustigkeit sein und nichts Läppisches an sich haben, sondern mit einer väterlichen Ernsthaftigkeit und einem gesetzten Wesen verbunden sein muß. Mit einer solchen, eurer Würde anständigen Heiterkeit und Munterkeit begebet euch also jedesmal zu euren Schülern; lasset sie gleich anfangs, wie auch die ganze Schulzeit über auf eurem Gesichte lesen, daß ihr euch freuet, sie zu sehen und zu unterrichten. Selbst alsdann, wann ihr verdrießlich und mißvergnügt seid, müsset ihr euch Mühe geben, eure üble Laune zu verbergen. Durch fortgesetzte Übung könnet ihr es wirklich dahin bringen.

Und dies, daß ihr euch Mühe gebet, mit einer heitern Miene vor euren Schülern zu erscheinen — auch selbst dann, wenn euch nicht wohl zumute ist —, hat allemal eine doppelt gute Wirkung: denn eure Heiterkeit erweckt in euren Schülern Frohsinn, Aufmerksamkeit, Lust zum Lernen und Liebe gegen euch; dies alles wird wieder auf euch zurückwirken, euren Trübsinn zerstreuen, euren Verdruß vermindern und Freude, oder doch mehr Zufriedenheit in euer Herz zurückbringen.

## 73. Pestalozzis Persönlichkeit.

Von K. J. Blochmann.

Pestalozzi. Züge aus dem Bilde seines Lebens und Wirkens. Leipzig 1846. S. 69.

Wie die herrlichen Alpenländer mit ihren Riesenfelsen, Seeen, Gletschern und Matten, über welche ich zu Pestalozzi wanderte, eine neue Welt für mich waren, die mich mit Wonne und Entzücken erfüllte, so öffnete sich mir auch in den Räumen des von Karl dem Kühnen einst erbauten Schlosses zu Yverdun eine neue Welt herrlicher Ansichten aus dem geistigen Lebensgebiete, die meine Seele befruchteten und schlummernde Keime zu frischer, lebenskräftiger Entwickelung brachten; und ich lege gern mit so vielen das dankbare Geständnis ab, daß die Jahre, die ich in ihnen verweilte, zu den schönsten und gewinnreichsten meines Lebens gehörten.....

Die Züge der im Vordergrunde stehenden großartigsten Persönlichkeit Pestalozzis selbst nur einigermaßen befriedigend zu zeichnen, wird mir jetzt ebensoschwer, als mir's einst in seiner Nähe ward, sie aufzufassen, da sie soviel Gegensätze und mannigfache Zerrissenheit darbieten. Sein Antlitz selbst spiegelte den Abdruck derselben. Das Ganze seiner Gesichtszüge war vielartig gewoben und verändert, durch die verschiedensten Gemütsaffekte bewegt. Bald lag darauf die zarteste Weichheit und Milde, bald herzzerreißender Schmerz und Traurigkeit, bald furchtbarer Ernst und bald ein Himmel voll Liebe und Wonne. Seine tiefliegenden Augen quollen oft wie Sterne hervor, ringsum Strahlen werfend; oft wieder traten sie zurück, als blickten sie in eine innere Unermeßlichkeit. Seine Stirn war abgerundet, hinter des Alters Furchen die Glut der Jugend verbergend; der Ton seiner Stimme vielfach moduliert, dem sanften, lieblichen Worte und dem Donner des Zornes gleich dienstbar. Sein Gang war ungleich, bald hastig, bald bedächtig und wie im Sinnen verloren, bald kühn und imponierend, seine Brust breit gewölbt, sein Nacken dick und gebogen, und stark und straff die Muskeln seiner Glieder. Von kaum mittlerer Größe und von schmächtiger Gestalt, trat doch in Haltung und Bewegung eine Fülle von Dauer und eine Kraft hervor, mit der er unsäglichen Stürmen Trotz bot. Alles in seiner äußeren Erscheinung kündigte eine Persönlichkeit an, in der alle Saiten der menschlichen Natur tönten, und die zum Träger tiefgreifender Ideen bestimmt war.

Ich habe wenige Menschen kennen gelernt, aus deren Lebensmitte ein so reicher Strom der Liebe floß, als aus seinem Herzen. Die Liebe war recht eigentlich sein Lebenselement, der unversiegbare göttliche Trieb, der von Jugend auf all seinem Streben und Wirken Richtung und Ziel gab. Wie es aber in der Natur der Liebe liegt, sich den Bedürfenden zuzuwenden, die Mangel Leidenden und Gedrückten zunächst zu erfassen, so zog ihn der Drang seiner Liebe mit einer nie gestillten Glut zu den Hütten der Armen im Volke, zu den Bedrängten und Unterdrückten. Diesen wollte er alles, was er an äußeren und inneren Gütern empfangen hatte, zu freudigem Opfer bringen; dafür war ihm nichts zu schwer und nichts zu teuer, denn er suchte nie das Seinige.....

Mit der Aufopferungskraft seiner Liebe verband er die höchste Uneigennützigkeit. Hatte er doch schon früher sein und seiner Frau Vermögen für seine menschenbeglückenden Bestrebungen eingesetzt und selbst in Kummer und Sorgen gelebt, um anderen zu helfen. In Yverdun war wohl der fünfte Teil seiner Zöglinge unentgeltlich aufgenommen. Ich war oft Zeuge, daß, wenn ein Vater mit dem vollen

Vertrauen und ſehnſuchtsvollen Wunſche, ſein Kind ihm zu übergeben, zu ihm kam, ihm aber ſeine Mittelloſigkeit geſtand, er ihn teilnehmend fragte: „Was könnet Ihr tun?“ Und ward dann vielleicht nur der vierte Teil der an ſich nicht beträchtlichen Penſion als das Mögliche bezeichnet, Peſtalozzi wies ihn gewiß nie von ſich. Geben, helfen, erfreuen, den letzten Gulden mit jemandem teilen, war ihm ſo natürlich, wie dem Menſchen das Atmen. Vor den Toren Baſels gab er einmal einem Bettler, den er im elendeſten Zuſtande traf, ſeine ſilbernen Schnallen von den Schuhen und band letztere mit Stroh zuſammen, um in die Stadt gehen zu können. Die große Liebe machte es ihm nicht allein möglich, zeitliche *Schätze* und *Bequemlichkeiten* aufzuopfern, ſie gab ihm auch eine Kraft der *Selbſtbeherrſchung* und der *Beharrlichkeit*, die um ſo größer und bewunderungswürdiger erſchien, je größer die Stürme waren, durch welche er ſich durchkämpfen mußte.

Der Kraft der Liebe ſchreibt er ſelbſt in einem Briefe an Stapfer die Überwindung aller Schwierigkeiten zu, welche ihm die Umſtände und ſeine eigenen Gebrechen in den Weg legten: „Wenn ich mein Werk, wie es wirklich iſt, anſehe, ſo war kein Menſch auf Erden unfähiger dazu, als ich. Es forderte ungeheures Geld, ich hatte nicht einmal geheures. Es forderte kalte, ruhige Anſichten, ich war der unruhigſte Tropf; mein Kopf war ſo warm, daß ihn die Welt meiner Umgebung ſchon für verbrannt anſah; aber ich fand Männer der höchſten Ruhe zum Dienſte meines Werkes. Es forderte tiefe, mathematiſche Kenntniſſe; wenn eine unmathematiſche Seele gedacht werden kann, ſo bin ich ſie. Mein Werk forderte Sprach- und Schulkenntniſſe und ökonomiſche Ordnung, ich hatte keine und ſetzte es doch durch. *Das tat die Liebe; ſie hat eine göttliche Kraft, wenn ſie wahrhaftig iſt und das Kreuz nicht ſcheut.*“

Mit dieſer Liebe war in ihm ein hoher Grad von *Anſpruchsloſigkeit*, *Beſcheidenheit* und *Demut* innigſt verbunden. Von letzterer insbeſondere zeugen alle ſeine Schriften, am meiſten die, welche er ſeinen „Schwanengeſang“ nannte, in welcher er im Anfange ſeiner achtziger Jahre auf ſein mühſeliges und kampfreiches Leben mit Wehmut und Dank zurückblickt und voll rührender Demut *nur ſich* anklagt, nur ſeine Schwächen, ſeine Regierungsunfähigkeit als Urſache der Zerrüttungen bezeichnet, denen ſeine Anſtalt, wie faſt jede ſeiner früheren Unternehmungen, unterlag. Unvergeßlich durch mein ganzes Leben wird mir der Eindruck bleiben, den wenige Monate nach meinem Eintritte in die Anſtalt eine Rede Peſtalozzis auf mich machte, die er an einem Bußtage vor allen Gliedern ſeines Hauſes hielt. Sie war von Anfang bis zu Ende ein prüfender, tiefer Blick in ſich ſelbſt, ein Bekenntnis ſeiner Schwachheit, ſeiner Ungenügſamkeit und Untüchtigkeit für das große, ſchwere Werk ſeines Lebens und eine Demütigung vor Gott, der jenes Zöllners ähnlich, der an ſeine Bruſt ſchlug und rief: „Gott ſei mir Sünder gnädig!“ Was ſind doch alle Bußpredigten der geprieſenſten Kanzelredner, welche die Sünde derer, *zu denen* ſie ſprechen, mit aller Stärke der Beredſamkeit darſtellen, gegen die Macht der Worte einer ſo tief gedemütigten Seele, *die nur von ihrer Schuld* redet. Wir alle, Große und Kleine, waren ſo mächtig erſchüttert, daß gewiß jeder im ſtillen zu ſich ſprach: „Wenn der, den du hoch verehrſt und liebſt, alſo vor Gott ſich demütigt, was ſollſt *du* tun?“

Dieſer Demut ſtand in jenem Gemüte ein *Mut*, ein *Heldenmut* zur Seite, wie ſolcher in gleicher Kraft in keines Menſchen Seele, die nicht demütig iſt, zur Erſcheinung kommt ... Er hatte durch die Demut *allein* jenen Heldenmut, mit dem er bei immer neuer Verkennung, immer neuer Zerſtörung ſeiner Hoffnungen beharrlich feſthielt an dem Werke ſeines Lebens bis zur Stunde ſeines Todes..... Auch bei einzelnen Ereigniſſen ſeines Lebens, namentlich bei eintretenden Gefahren, bewies Peſtalozzi beſonnene und mutige *Entſchloſſenheit*.... Dabei war er doch harmlos und hingebend wie ein Kind, *mild* und *gefällig*, *zartſinnig* und *gefühlvoll*. Seine Gemütlichkeit war oft zum Entzücken, und ſeine Kindlichkeit

machte ihm, so oft sie frei und ungetrübt waltete, alle Gemüter untertänig. Nie habe ich von ihm ein feindseliges Wort über irgend einen Menschen gehört.....

Sein immer reger Geist übte auf seinen Körper eine seltene Kraft aus, die ihn selbst unter den heftigsten Schmerzen oft tätig erhielt. Seine Tätigkeit, sein Fleiß war außerordentlich; mit seltenen Ausnahmen war er jeden Morgen um zwei Uhr wach und begann seine schriftstellerischen Arbeiten; den Tag über war er viel mit Fremden beschäftigt, die seine Anstalt besuchten. Seine Unterhaltung war geistreich, anregend, originell, seine Sprache bilderreich, die Anwendungen oft überraschend wie der Blitz. Die Rastlosigkeit seines Strebens zeugte von der seltenen Kühnheit seines Geistes, das gewaltige Emporstreben einer ungebundenen Kraft, welche mehr mächtig anzuregen, als unmittelbar auf Menschen zu wirken vermochte: es fehlte ihm die ruhige Besonnenheit, Klarheit, der sichere Takt im Handeln, die gesellige Gewandtheit. Aber Großes und Unvergänglichkeit ist unserem Geschlecht durch ihn geworden und wird als ein segensreiches Vermächtnis ihm bleiben. Die Gebrechen und Unvollkommenheiten hat der Tod hinweggenommen. So oft, wenn ich den Unvergeßlichen anschaute, da ich ihm noch nahestand, erschien er wie ein großgewordenes Kind mit aller Herrlichkeit der kindlichen Natur, aber auch mit den Schwächen und Unvollkommenheiten derselben. Die Reinheit und Unschuld, der Glaube und die Liebe, die Milde und Hingebung des Kindes schmückten und adelten seine Seele bis ins Greisenalter; aber die Ruhe und Besonnenheit, die Umsicht und Vorsicht, die klare Herrschaft über Zustände und Personen, die den Mann zieren, mangelten ihm in hohem Grade. Aber wer will gegen den liebenswürdigen, begeisterten Greis einen Stein aufheben? Wie rührend waren diesfalls seine Selbstgeständnisse: »Zum Gewöhnlichen zu schwach, unruhig und unvorsichtig fast bei jedem Vorfalle, unüberlegt fast bei jedem Entschlusse, ungeschickt, unbehilflich und ungewandt fast in allem, was ich anfangen und leiten soll, sehe ich mich in einer Lebenslage, welche die höchste Ruhe, die größte Vorsicht, die tiefste Überlegung, Geschicklichkeit und Gewandtheit anspricht. Mein Werk forderte Heldenkraft, ich blieb untätig; es forderte Weisheit des Lebens, ich hatte sie nicht; es forderte Kenntnisse, ich suchte sie nicht; es forderte Wirtschaft, ich war unwirtschaftlich; es forderte Regelmäßigkeit und Ordnung, ich war unordentlich und zerstreut, — und doch gelang mein Werk, Gott hob mich Elenden aus dem Staube, wie er wenig Elende aus dem Staube hob.«

Er war die belebende Seele seines ganzen Hauses, alle durchdringend mit der Tiefe seines Geistes, mit der Reinheit seines Willens und der Stärke seiner Liebe..... Über alle Schwächen und Fehler dieser großartigen Natur breiten sich die Strahlen seines hohen Geistes und seines liebekräftigen Gemütes so siegreich aus, daß die starken Schatten seines Lebens zwar nicht zu verkennen sind, aber das Gesamtbild desselben und seine erhabenen Gestaltungen von jedem Betrachtenden stets mit Bewunderung und Liebe werden angeschaut und gewürdigt werden.

## 74. Winke für Lehrer.

Von A. Diesterweg.

Wegweiser zur Bildung für Lehrer. Essen 1835.

### a. Ratschläge für das Studieren. (S. 25.)

1. Halte dich an die Hauptschriften eines jeden Lehrfaches, welches du kennen lernen willst, d. h. an solche, welche von Männern herrühren, die anerkanntermaßen in demselben etwas geleistet haben! — Suche also nicht zuerst Belehrung in encyklopädischen Schriften, nicht in Zeitschriften und fliegenden Blättern, sondern studiere ein Werk, das sich ausschließlich mit dem Gegenstande, den du kennen lernen willst, beschäftigt! Die Lektüre von Zeitschriften, die sich über unser Fach verbreiten, ist gut und nützlich zur Anregung und Erfrischung — versteht sich, wenn sie vom Leben, von frischen Menschen, ausgehen —, und um mit den Erscheinungen der Gegenwart,

die, wenn auch an ſich nicht ſehr bedeutend, doch, weil ſie in unſere Zeit fallen, ein vorübergehendes Intereſſe haben, bekannt zu werden und zu erfahren, was etwa für ein längeres Studium auszuwählen und anzuſchaffen ſei. Das Leſen vieler Zeitſchriften aber raubt unendlich viel Zeit und verflacht den Geiſt notwendig. Und wenn man nichts weiter tut, als Zeitblätter leſen, ſo iſt der Prozeß der eigentlichen Fortbildung gehemmt. Hauptſchriften ſeien die tägliche geſunde Hausmannskoſt, Zeitſchriften und Ähnliches die Beigabe für Sonn- und Feiertage. Es taugt nicht, wenn man alle Tage feiert.

2. Zu derſelben Zeit ſtudiere *nur ein* Fach! — Wie es eine ſehr wichtige, leider noch nicht gehörig beachtete, aber auch bei der Ausführung mit vielen Schwierigkeiten kämpfende didaktiſche Regel iſt, die Lehrgegenſtände der Schule mehr *nach-* als *nebeneinander* zu treiben, ſo halte man es bei der Löſung der Aufgabe der Selbſtbildung. Das Vielerlei und Durcheinander verdirbt und verwüſtet Leib und Seele. Jener gedeiht, wenn man ſich an *einer* geſunden Speiſe ſättigt; dieſe erſtarkt, wenn man zu derſelben Zeit ſeine Kraft auf *einen* Punkt richtet. Was man etwa noch gleichzeitig treibt, muß *daneben* geſchehen, Neben- und Beiwerk bleiben, etwa um der erfriſchenden Abwechſelung willen.

3. Suche ſchon beim erſten Studieren eines Buches alle einzelnen Teile, alle einzelnen Sätze, ja alle einzelnen Begriffe und Vorſtellungen vollſtändig zu begreifen und zu verſtehen; gehe erſt dann, wenn dieſes gelungen iſt, oder wenn du vergebens das rechte Verſtändnis geſucht haſt, weiter; merke dir aber gleich, was dir etwa dunkel geblieben ſein ſollte, richte beim Fortgang deine Aufmerkſamkeit beſonders auf die dunkeln Stellen, dringe demnächſt, wenn die einzelnen Teile gehörig erfaßt ſind, in den Zuſammenhang des Ganzen ein und ſuche die Überſicht desſelben zu gewinnen!

### b. Suche den Unterricht intereſſant zu machen. (S. 148.)

Was unſere Teilnahme, unſere Aufmerkſamkeit in vorzüglichem Grade in Anſpruch nimmt, was unſer Lebensſpiel auf eine naturgemäße Weiſe erregt und erhöht, nennen wir intereſſant. Es iſt natürlich, daß wir uns mit dem Intereſſanten gern beſchäftigen. Denn die Luſtgefühle des Menſchen lieben Steigerung des inneren Lebensſpieles. Will man ſich daher der ungeteilten Aufmerkſamkeit einer verſammelten Menge bemächtigen, ſie feſſeln, ſo muß man danach trachten, ihr durch unſere Perſönlichkeit oder durch die Art und Weiſe, wie wir einen Gegenſtand behandeln, was dann wieder ein Ausfluß der Perſönlichkeit iſt, reines Intereſſe einzuflößen oder intereſſant zu werden. Das Intereſſante erregt nicht ein gemeines, ſondern ein höheres, ein freies oder reines Intereſſe, das nur der Menſch, der gebildete Menſch, kennt, und das ſelbſt wieder ſchon an und für ſich zur Bildung beiträgt. Für den Lehrer aber hat die Fähigkeit, den Unterricht intereſſant zu machen, noch ein höheres Intereſſe, weil ſie den Erfolg hat, daß der Schüler ein freies Wohlgefallen an dem Wahren, Schönen und Guten bekommt und ſich mit dieſen großen Dingen gern beſchäftigt. Wir fragen daher: Wodurch wird der Unterricht intereſſant? und antworten: 1) durch den Wechſel, 2) durch die Lebendigkeit des Lehrers, 3) durch ſeine ganze übrige Perſönlichkeit. „Der Wechſel iſt die Würze des Lebens“, ſagt ein bekanntes Sprichwort. Wie ſollte es nicht ein Bedürfnis für die Jugend ſein, denſelben (meiſt an *ſich* trockenen und toten, in ſeiner Wichtigkeit fürs Leben ꝛc. von der Jugend nicht erkennbaren) Lehrſtoff in mannigfaltigen Formen und Geſtalten erſcheinen zu ſehen? Denn in der Mannigfaltigkeit der Stoffe kann der Lehrer die Abwechſelung in der Regel nicht ſuchen, ſondern in der Form der Behandlung, in der Manier. Ehe das Kind den einfachſten Buchſtaben gut ſchreiben kann, muß es ihn tauſendmal ſchreiben. Bedenket, Lehrer, was dazu erfordert wird! Darum denket auf Mannigfaltigkeit, Veränderung und Wechſel! — Aber der Wechſel tut nicht alles, nicht einmal das meiſte; mehr ſchon die Lebendigkeit, die Erregtheit, die Friſche des Lehrers, ſeine natürliche (alſo natürlich-ſichtbare, nicht gemachte) Luſt zu lehren

und ſich mit Kindern zu beſchäftigen, ſeine Freude an dem Gelingen ſchwacher Verſuche ꝛc. Wir haben aber geſehen, daß die Unterrichtskunſt nicht eine Kunſt, mitzuteilen, ſondern zu erregen, zu wecken, zu beleben ſei. Aber wie willſt du ohne Erregtheit erregen, ohne Selbſttätigkeit das Schlafende wecken, ohne Leben beleben können? Nur das Leben erzeugt Leben; von dem Tode aber geht der Tod aus. Darum eigne dir möglichſt friſche Lebendigkeit an! Dieſe beſteht nicht in äußerer Haſt, unruhigem Fechten mit den Händen, nicht in Mienen und Grimaſſen; ſondern ſie iſt das Leben des Geiſtes, das ſich freilich auch in dem Geſichte, in der Haltung des Leibes und in der Bewegung der Glieder kundtut. Manche Menſchen ſind in dieſer Beziehung ungemein vor anderen von der Natur begünſtigt. Die Erziehung tut aber auch viel dazu, wie man an den Kindern bewegter Eltern, an den Schülern bewegter Lehrer ſehen kann. Darum kann auch jeder Lehrer, der ſich die Bildungsfähigkeit erhalten hat, viel dazu beitragen, daß er die rechte Lebendigkeit gewinne; z. B. durch den Umgang und die Anſchauung erregter Menſchen und Lehrer; durch nüchterne, naturgemäße Lebensweiſe (denn vieles hängt dabei vom Körper ab), der es nicht an belebendem Wechſel fehlt; durch die Vorſtellung von dem Werte und der Bedeutung des Lebens, in Tätigkeit zugebracht, indem wir doch nur ſoviel gelebt haben, als wir tätig geweſen ſind; durch die Anſchauung der unendlichen Tätigkeit in dem Naturleben, beſonders wenn der Frühling die Erde beſucht; durch den Umgang mit der Welt der Kinder und durch höhere, religiöſe Verſtändigung über den Zweck des Daſeins und den Gedanken an eine Vorſehung, die den Menſchen berufen hat, daß er wirke, ſolange es Tag iſt. Kurz, durch deine ganze Perſönlichkeit ſuche den Unterricht intereſſant zu machen. Gehört man in dieſer Beziehung nicht zu den von der Natur hoch Begünſtigten, nun, ſo eigne man ſich an, was und wieviel man kann! Der redliche Wille und das freudige Wirken vermögen nicht alles, aber ſehr viel!

# B. Beſchreibende Naturkunde.

## 1) Aus der Naturkunde.

„Eine wunderbare Heiterkeit hat meine ganze Seele eingenommen, gleich den ſüßen Frühlingsmorgen, die ich mit ganzem Herzen genieße. Ich bin allein und freue mich meines Lebens in dieſer Gegend, die für ſolche Seelen geſchaffen iſt, wie die meine. Ich bin ſo glücklich, ſo ganz in dem Gefühl von ruhigem Daſein verſunken, daß meine Kunſt darunter leidet. Ich könnte jetzt nicht zeichnen, nicht einen Strich, und bin nie ein größerer Maler geweſen, als in dieſen Augenblicken. Wenn das liebe Tal um mich dampft, und die hohe Sonne an der Oberfläche der undurchdringlichen Finſternis meines Waldes ruht, und nur einzelne Strahlen ſich in das innere Heiligtum ſtehlen, ich dann im hohen Graſe am fallenden Bache liege, und näher an der Erde tauſend mannigfaltige Gräschen mir merkwürdig werden; wenn ich das Wimmeln der kleinen Welt zwiſchen Halmen, die unzähligen, unergründlichen Geſtalten der Würmchen, der Mückchen, näher an meinem Herzen fühle, und fühle die Gegenwart des Allmächtigen, der uns nach ſeinem Bilde ſchuf, das Weben des Alliebenden, der uns in ewiger Wonne ſchwebend trägt und erhält — mein Freund! wenn's dann um meine Augen dämmert, und die Welt um mich her und der Himmel ganz in meiner Seele ruht, wie die Geſtalt einer Geliebten: dann ſehne ich mich oft und denke: ach, könnteſt du das wieder ausdrücken, könnteſt dem Papiere das einhauchen, was ſo warm und voll in dir lebt, daß es würde der Spiegel deiner Seele, wie deine Seele iſt der Spiegel des unendlichen Gottes!"

J. v. Goethe („Werthers Leiden").

### 75. Das Leben in der Schöpfung.

Von A. v. Humboldt.

Anſichten der Natur. Stuttgart 1849. Bd. II, S. 3.

Wenn der Menſch mit regſamem Sinne die Natur durchforſcht, oder in ſeiner Phantaſie die weiten Räume der organiſchen Schöpfung mißt, ſo wirkt unter den

vielfacher Eindrücken, die er empfängt, keiner so tief und mächtig als der, welchen die allverbreitete Fülle des Lebens erzeugt. Überall, selbst nahe an den beeisten Polen, ertönt die Luft von dem Gesange der Vögel, wie von dem Summen schwirrender Insekten. Nicht die unteren Schichten allein, in welchen die verdichteten Dünste schweben, auch die oberen ätherisch reinen sind belebt. Denn so oft man den Rücken der peruanischen Kordilleren, oder, südlich vom Leman-See, den Gipfel des Weißen Berges bestieg, hat man selbst in diesen Einöden noch Tiere entdeckt. Am Chimborasso, fast 8000 Fuß höher als der Ätna, sahen wir Schmetterlinge und andere geflügelte Insekten. Wenn auch, von senkrechten Luftströmen getrieben, sie sich dahin als Fremdlinge verirrten, wohin unruhige Forschbegier des Menschen sorgsame Schritte leitet, so beweist ihr Dasein doch, daß die biegsamere animalische Schöpfung ausdauert, wo die vegetabilische längst ihre Grenze erreicht hat. Höher als der Kegelberg von Teneriffa auf den schneebedeckten Rücken der Pyrenäen getürmt, höher als alle Gipfel der Andeskette schwebte oft über uns der Kondor, der Riese unter den Geiern. Raubsucht und Nachstellung der zartwolligen Vikunas, welche gemsenartig und herdenweise in den beschneiten Grasebenen schwärmen, locken den mächtigen Vogel in diese Region.

Zeigt nun schon das unbewaffnete Auge den ganzen Luftkreis belebt, so enthüllt noch größere Wunder das bewaffnete Auge. Rädertiere, Brachionen und eine Schar mikroskopischer Geschöpfe heben die Winde aus den trocknenden Gewässern empor. Unbeweglich und in Scheintod versenkt schweben sie in den Lüften, bis der Tau sie zur nährenden Erde zurückführt, die Hülle löst, die ihren durchsichtigen, wirbelnden Körper einschließt und (wahrscheinlich durch den Lebensstoff, welchen alles Wasser enthält) den Organen neue Erregbarkeit einhaucht. — —

Neben den entwickelten Geschöpfen trägt der Luftkreis auch zahllose Keime künftiger Bildungen, Insekteneier und Eier der Pflanzen, die durch Haar- und Federkronen zur langen Herbstreise geschickt sind. Selbst den belebenden Staub, welchen, bei getrennten Geschlechtern, die männlichen Blüten ausstreuen, tragen Winde und geflügelte Insekten über Meer und Land den einsamen weiblichen zu. Wohin der Blick des Naturforschers dringt, ist Leben oder Keim zum Leben verbreitet.

Dient aber auch das bewegliche Luftmeer, in das wir getaucht sind, und über dessen Oberfläche wir uns nicht zu erheben vermögen, vielen organischen Geschöpfen zur notwendigsten Nahrung, so bedürfen dieselben dabei doch noch einer gröberen Speise, welche nur der Boden dieses gasförmigen Ozeans darbietet. Dieser Boden ist zweifacher Art. Den kleineren Teil bildet die trockene Erde, unmittelbar von Luft umflossen; den größeren Teil bildet das Wasser, vielleicht einst vor Jahrtausenden durch elektrisches Feuer aus luftförmigen Stoffen zusammengeronnen und jetzt unaufhörlich in der Werkstatt der Wolken, wie in den pulsierenden Gefäßen der Tiere und Pflanzen, zersetzt. — —

Unentschieden ist es, wo größere Lebensfülle verbreitet sei, ob auf dem Kontinent, oder in dem unergründeten Meere. In diesem erscheinen gallertartige Seegewürme, bald lebendig, bald abgestorben, als leuchtende Sterne. Ihr Phosphorlicht wandelt die grünliche Fläche des unermeßlichen Ozeans in ein Feuermeer um. Unauslöschlich wird mir der Eindruck jener stillen Tropennächte der Südsee bleiben, wenn aus der duftigen Himmelsbläue das hohe Sternbild des Schiffes und das gesenkt untergehende Kreuz ihr mildes planetarisches Licht ausgossen, und wenn zugleich in der schäumenden Meeresflut die Delphine ihre leuchtenden Furchen zogen.

Aber nicht der Ozean allein, auch die Sumpfwasser verbergen zahllose Gewürme von wunderbarer Gestalt. Unserem Auge fast unerkennbar sind die Cyklidien, die Euglenen und das Heer der Naiden, teilbar durch Äste, wie die Lemna, deren Schatten sie suchen. Von mannigfaltigen Luftgemengen umgeben und mit dem Lichte unbekannt, atmen die gefleckte Askaris, welche die Haut des Regenwurmes,

die silberglänzende Leukophra, welche das Innere der Usernaide, und ein Pentastoma, welches die weitzellige Lunge der tropischen Klapperschlange bewohnt. So sind auch die verborgensten Räume der Schöpfung mit Leben erfüllt. Wir wollen hier bei den Geschlechtern der Pflanzen verweilen: denn auf ihrem Dasein beruht das Dasein der tierischen Schöpfung. Unabläſſig sind sie bemüht, den rohen Stoff der Erde organisch aneinanderzureihen und vorbereitend durch lebendige Kraft zu mischen, was nach tausend Umwandelungen zur regsamen Nervenfaser veredelt wird. Denselben Blick, den wir auf die Verbreitung der Pflanzendecke heften, enthüllt uns die Fülle des tierischen Lebens, das von jener genährt und erhalten wird.

Ungleich ist der Teppich gewebt, welchen die blütenreiche Flora über den nackten Erdkörper ausbreitet; dichter, wo die Sonne höher an dem nie bewölkten Himmel emporsteigt; lockerer gegen die trägen Pole hin, wo der wiederkehrende Frost bald die entwickelte Knospe tötet, bald die reifende Frucht erhascht. Doch überall darf der Mensch sich der nährenden Pflanzen erfreuen. Trennt im Meeresboden ein Vulkan die kochende Flut und schiebt plötzlich, wie einst zwischen den griechischen Inseln, einen schlackigen Fels empor, oder erheben, um an eine friedlichere Naturerscheinung zu erinnern, die einträchtigen Lithophyten ihre zelligen Wohnungen, bis sie nach Jahrtausenden, über den Wasserspiegel hervorragend, absterben und ein flaches Koralleneiland bilden, so sind die organischen Kräfte sogleich bereit, den toten Fels zu beleben. Was den Samen so plötzlich herbeiführt, ob wandernde Vögel oder Winde, oder die Wogen des Meeres, ist bei der großen Entfernung der Küsten schwer zu entscheiden. Aber auf dem nackten Steine, sobald ihn zuerst die Luft berührt, bildet sich in den nordischen Ländern ein Gewebe sammetartiger Fasern, welche dem unbewaffneten Auge als farbige Flecken erscheinen. Einige sind durch hervorragende Linien bald einfach, bald doppelt begrenzt; andere sind in Furchen durchschnitten und in Fächer geteilt. Mit zunehmendem Alter verdunkelt sich ihre lichte Farbe. Das fernleuchtende Gelb wird braun, und das bläuliche Grau der Leprarien verwandelt sich nach und nach in ein staubartiges Schwarz. Die Grenzen der alternden Decke fließen ineinander, und auf dem dunklen Grunde bilden sich neue, zirkelrunde Flechten von blendender Weiße. So lagert sich schichtenweise ein organisches Gewebe auf das andere, und wie das sich ansiedelnde Menschengeschlecht bestimmte Stufen der sittlichen Kultur durchlaufen muß, so ist die allmähliche Verbreitung der Pflanzen an bestimmte physische Gesetze gebunden. Wo jetzt hohe Waldbäume ihre Gipfel lustig erheben, da überzogen einst zarte Flechten das erdenlose Gestein. Laubmoose, Gräser, krautartige Gewächse und Sträucher füllen die Kluft der langen, aber ungemessenen Zwischenzeit aus. Was im Norden Flechten und Moose, das bewirken in den Tropen Portulaca, Gomphrenen und andere fette, niedrige Uferpflanzen. Die Geschichte der Pflanzendecke und ihre allmähliche Ausbreitung über die öde Erdrinde hat ihre Epochen, wie die Geschichte der wandernden Tierwelt.

## 76. Die Alpenrose, die Königin der Alpenblumen.

Von *F. v. Tschudi.*

Das Tierleben der Alpenwelt. Leipzig 1854. S. 250.

Ein Blümchen blüht in Lieblichkeit
Auf hoher Alpen Rücken;
Es weiß der Myrte dunkles Kleid
Mit Rosenrot zu schmücken.

Als Königin der Alpenpflanzen ist längst schon mit vollem Rechte die herrliche Alpenrose bezeichnet worden. Sie gewährt einen wahrhaft bezaubernden Anblick, wenn ihre Sträucher ganze Felsen- oder Rasenpartieen mit den buchsartigen, saftgrünen Blättern bekleiden, aus denen die zierlich gebildeten, karminrot leuchtenden Glockensträußchen und braunen Knospenzapfen sich so freundlich abheben. Mit welcher Wonne begrüßt der müde, keuchende Wanderer den ersten Alpenrosen-Strauch und eilt trotz

aller Erſchöpfung im Fluge zu dem Felſen empor, von dem die Röschen ihm die lächelnden Grüße der Alpennatur zuwinken; wie oft begleiten ſie mit ihrer ewigen Anmut ihn mitleidig durch lange Felſenlabyrinthe und verkünden ihm Leben und volles Genüge in ihrer öden Welt von grauſenhaften Steintrümmern! Überall gleich reizend, ziert ſie tauſendfältig das tauſendfältig wechſelnde Land ihrer Heimat und glüht bald als einzelne Roſenflamme über dem polternden Sturze des Eisbaches, bald überzieht ſie die ganze Fläche des Berges, der ſich mit ſeinem Purpurteppich im Spiegel des Alpenſees malt, oder ſtreut ihre Blüten geſellig in den vielfarbigen Flor der Alpen. Gleich freundlich wie dem Menſchen, dem ſie oft, wenn er unaufhaltſam dem Abgrunde zugleitet, ihre rettenden Stauden entgegenſtreckt und dem ſie in bitterkalten Sommertagen willig zum Feuerherde folgt, bietet ſie im harten Winter dem ſanften Volke der Alpenhühner ihre zarten Sproſſen und Knoſpen, um es vor dem nagenden Hunger zu ſchützen. Der Gebirgswanderer findet an dieſen lieben Stauden ſo recht einen Maßſtab für die ſtufenweiſe Entwickelung der Alpenpflanzen. Bei 4000 Fuß Seehöhe findet er die braunen Kapſeln mit halbangereiftem Samen! bei 5000 Fuß ſteht die herrliche Pflanze im höchſten Flor; bei 6000 Fuß beginnt der ſonnigſte Knoſpenzapfen die erſte Blüte aus der Pyramide zu löſen, und 500 Fuß höher fangen die Knoſpen erſt an ſich zu bräunen, ungewiß, ob dieſer Sommer ihnen die Entfaltung vergönnen werde. Der Schlag und die Tracht der Alpenroſen iſt übrigens in den verſchiedenen Gebirgen ſehr verſchieden; nie haben wir ſie üppiger, mit größeren, tiefer gefärbten Glocken und Büſcheln geſehen, als in den Gebirgen Graubündens. Die gewimperte, die roſtfarbene und die rein weiße Alpenroſe ſind beſondere Arten.

Die reizende Königin der Alpenblumen iſt von einem glänzenden Hofſtaate umgeben, von denen keine es wagt, mit ihr um die Gunſt des Menſchen zu werben, ſo bunt, ſo reich ſie auch geſchmückt ſind. Unter ihnen treten beſonders die Gentianen hervor, die in den verſchiedenſten Formen und Farben den Alpenraſen ſchmücken und viele Arten aufweiſen. Die hohe Purpur-Gentiane, ſowie die punktierte und die gelbe erheben ſtolz ihre leuchtenden Blumenwirtel aus den niedrigen Kräutern der Nachbarſchaft, während die ſtielloſe und die Frühlings-Gentiane millionenfältig ihre purpurblauen Glocken über die keimende Raſendecke hinſtreuen. Sowie der Schnee ſein ſchmutziges Kleid von den hohen Triften zurückzieht, ſprießt ungeduldig oft dicht neben ewigem Gletſcher das überaus zierliche Alpenglöcklein mit ſeinen lilafarbenen, fein ausgezahnten Blumen aus dem feuchten Grunde; die hochgelben, weitduftenden Aurikeln bekleiden mit den niedlichen Steinbrech-Arten ganze Felſenpartieen; die roſenroten Silenen bilden große, weithin leuchtende Raſenplätze; die prächtigen Anemonen-Arten, die blauen und weißen Kugelblumen, die kräftigen Ranunkeln, die weißen Alſinen, die blauen Ehrenpreiſe, die Schafgarben, Fingerkräuter, der duftige Thymian, die herrliche rotblütige Berg-Hauswurz und die blaue Alpenaſter, die zierliche Dryas, die roten Läuſekräuter, die ſcharfriechenden Lauche, die oft ganze Geröllhalden durchwachſen, die herrlichen Veilchenarten, die bunten Orchideen, unter ihnen das ſtark vanilleduftige Kammblümlein, die ebenſo ſtark riechenden, ſchmucken Seidelbaſte, die aromatiſchen Artemiſien, die Glockenblumen und Habichtskräuter, die blaue Alpenaklei, die bunten Huflattiche, die vielfarbigen Schmetterlingsblumen, die Alpen-Sommerröschen und die Polſter der Azaleen gehören zu den lieblichſten Kindern der Alpenflora. Jedes von ihnen hat ſein eigenes Geſchäft, ſeinen Ort, ſeine Zeit; die einen verſchönern kahle Felſen, die anderen die Rinnſale der Gletſcherwaſſer, die Ufer der Bäche und Hochalpſeeen, die Schuttreviere, die Wälder und Buſchplätze; andere bewachen die Gletſcher- und Schneetälchen, umgeben die fetten Plätze der Alphütten, kleiden die Weiden ein, oder ſiedeln ſich auf der dünnen Dammerde der Flühen an. Jedes findet ſein Reich und ſeine Stelle, wo es die Anmut ſeiner lieblichen Natur entfaltet. Außer dieſen leuchtenden und duftenden Blumen bedecken viele kraftvolle

Kräuter und Halbsträucher mit ihren dichten, saftgrünen Blätterzgruppen oft große, von Büschen durchzogene Gehänge und bilden mit den nachbarlichen Moosen hohe, elastische Polster, die den Wanderer freundlich zu kurzer Rast einladen; und wer sich je schon in diesen grünen Divans gebettet hat, um die sonnenglühenden Bergkuppen, das tiefe Tal, den blauen Alpensee zu erblicken, oder in lautleser Stille die nahende Gemse zu beobachten, kennt gar wohl den Reiz einer solchen Einladung.

## 77. Die Linde.

Von J. Funcke.

Der Waldkultus und die Linde in der Geschichte, in Sagen und Liedern. Köln 1869. S. 45.

Von den Bäumen, die dem heimischen Boden Schatten geben, ist die Linde einer der schönsten. In dem Umfang ihres aufstrebenden Stammes und in der Höhe kaum hinter der Eiche zurückbleibend, übertrifft sie dieselbe in dem Reichtum ihrer Verästung und Verzweigung und durch die Fülle ihrer blätterdichten, weiten Krone.

In der Ehre, welche ein hohes Alter gewährt, wird sie von keinem andern deutschen Baume übertroffen. Man gibt ihr eine Lebensdauer von achthundert bis tausend Jahren. Der großen Linde bei Neustadt im Königreich Württemberg geschieht urkundlich schon in den Jahren 1229 und 1408 Erwähnung. Vieler Männer Arme umspannen sie nicht, und mehr als hundert steinerne Säulen sind hingestellt, um die Äste, die sie rings weit ausstreckt, zu stützen.

Die Linde ist durch ganz Deutschland und die Schweiz, soweit man dort die deutsche Zunge hört, reichlich verbreitet, im Süden und Westen vorherrschend die breitblätterige, im Osten und Norden mehr die kleinblätterige, beide Arten gleich an Größe und Umfang mit saftgrünen, herzförmigen Blättern, jene heller, diese dunkler, jene mit früheren, diese mit späteren Blüten.

Als Waldbestand, der größere Flächen bedeckt, wird sie selten angetroffen. Man könnte sich der Vorstellung hingeben, sie liebe und suche, gleich manchen Tieren, die Nähe des Menschen und sie begleite ihn gern zu den Stätten seiner Ruhe und Tätigkeit und siedele sich an, wo höhere Gedanken seine Seele bewegen. Man sieht sie vor dem Hause des Pfarrers, des Amtmannes, des Schulzen und neben der Ruhebank vor der Tür des Schenkwirtes, bei den Ausgängen der Dörfer, Weiler und Städte und vor den Toren zerfallener Burgen, neben den Grenzmalen der Gemeinden und Gemarkungen, auf Kreuzwegen und auf ehemaligen Gerichtsstätten. Über die Ruhestätte der Herde in der Weide, über den Brunnen, den die menschliche Hand gegraben, über die Quelle, die aus dem Felsen springt, breitet sie ihr schützendes Dach, und in gleicher Weise birgt sie den frommen Beter vor den Strahlen der Sonne bei den Kapellen im Felde, bei den Stationsbildern und vor dem Bilde des Gekreuzigten. Auf den Plätzen, welche die Gotteshäuser der ländlichen Bevölkerung umgeben, und wo der Mensch seine letzte Ruhestätte findet, teilt sie seine Einsamkeit. Die Erinnerung an herrliche Männer ist mit ihr verwachsen. Über der Grabstätte Klopstocks bei Ottensen haucht eine Linde, gepflanzt von Metas Schwestern, ihre Düfte aus. Und eine große Linde bei Stuttgart, in der schönen Promenade aufwärts nach der Höhe, heißt die Uhlandslinde.

Die Liebe und Verehrung der Linde ist bei unserem Volke nicht von gestern her. So wie man die Linde auf deutschem Boden fast überall antrifft, so deuten auch unzählige Namen in unserer Sprache auf eine gleiche Liebe unserer Vorfahren. Niemand bezweifelt den Familiennamen Linde, zur Linden, Zerlinden, von der Linden u. dgl. Und nicht minder tragen viele Weiler, Dörfer, Ortschaften, Burgen, Städte, Klöster und Wallfahrtsorte ohne Widerrede von Linde ihren Namen.

Mannigfach ist in Sage und Geschichte die enge Verbindung des Baumes mit

dem Urſprung ausgezeichneter Ortſchaften aufbewahrt. In der Stadt Raſtenburg war einſt ein Angeklagter zum Tode verurteilt worden. Am Tage vor der Hinrichtung erſchien ihm die heilige Jungfrau, tröſtete ihn und gab ihm ein Stück Holz und ein Meſſer mit dem Auftrage, etwas zu ſchnitzen. Er ſchnitzte darauf ein Marienbild mit dem Chriſtuskinde auf den Armen. Als die Gerichtsherren das Bild ſahen und von der Erſcheinung der heiligen Jungfrau hörten, erachteten ſie es als einen Wink von oben und ſetzten den Verurteilten in Freiheit. Dieſer aber trug das Bild nach einer Linde und ſtellte es in derſelben auf, und ſeitdem verlor der Baum ſeine Blätter nicht mehr und blieb immer grün. Wegen ſolchen Wunders holten die Raſtenburger das Bild von ſeinem Platze und trugen es in ihre Kirche; da es aber am andern Morgen wieder in der Linde ſtand, ſo baute man unter derſelben eine Kapelle. So entſtand der Wallfahrtsort „Heiligenlinde".

Auch zur Erinnerung für die Nachkommen an wichtige Ereigniſſe und rühmenswerte Taten erachtete man den Jahrhunderte überdauernden Baum für die ſicherſte Urkunde. — An vielen Orten in den deutſchen Landen wird noch die Linde gezeigt, unter welcher bis in die letzten Jahrhunderte hinab die Gerichtsſitzungen gehalten wurden.

Wie die Sage ſo gern in der Linde ihre heimatliche Stätte ſucht, ſo rankt ſich überall in den weiten deutſchen Landen das Volkslied um ihre gebogenen Äſte und ihre herzförmigen Blätter und duftende Blüten tragenden Zweige. — Im deutſchen Heldenliede, in welchem faſt noch ungemildert der heidniſche Geiſt unſerer Vorfahren weht, iſt es vor allen anderen Bäumen die Linde, unter welcher gewaltige Taten vollbracht werden. Unter einer Linde tötete der Nibelungenheld den Drachen; ein Lindenblatt verurſachte zwiſchen ſeinen Schultern die verwundbare Stelle, als er ſich im Blute des erlegten Tieres wälzte, und unter einer Linde wurde er von Hagen ermordet.

Neben den Blumen, dem grünen Graſe und dem tauigen Klee, dem laubigen Walde und dem ſüßen Sang der Nachtigall iſt es von allen Bäumen faſt ausſchließlich die Linde, welcher die Minneſänger ihre Huldigung darbringen, und man findet keinen unter ihnen, der nicht von dem ſchönen Baume und der Nachtigall in dem ſchattigen Laubdache geſungen hätte.

Bei dieſem Reichtum der Poeſie, die von alters her durch das grüne Laub der Linde rauſcht, iſt es nicht zum Verwundern, wenn wir auch die neueren Dichter gern in ihrem Schatten finden und ſie, gleich den Bienen, ihre Schätze aus dem Baume heimtragen ſehen. Klopſtocks hoher, der Religion, der Freundſchaft und der Liebe zugewandter Dichternatur war die Linde ein wertes, ernſtes Symbol. Vor der Wohnung des Pfarrers zu Grünau in Voß' „Luiſe" (I, 1) ſtehen zwei breitlaubige Linden. Bei Schiller findet man den Lindwurm, der in der Nähe des ſchattenreichen Baumes ſein Lager aufzuſchlagen liebt. Während der Dichter auf keltiſcher Erde die heilige Jungfrau unter einer Eiche erſcheinen läßt („Jungfrau von Orleans" I, 10), ſtellt er auf altdeutſchem Boden Tells mutigen Knaben unter einer Linde auf (III, 3), und als die herrliche Gertrud ihrem Gatten Werner Stauffacher Mut ins Herz ſpricht, ſitzt er auf der Bank vor ſeinem Hauſe in dem Schatten des Baumes (I, 2).

In Heiterkeit, Schalkheit und Ernſt konnte Goethen die Linde nicht fern ſein. — Könnte bei Hölty, Salis und Matthiſſon, dem Kleeblatt der Dichter deutſcher Gefühlspoeſie, die Linde fehlen? — Auch von den neuen Dichtern möchte ſchwerlich einer zu finden ſein, der dem Baume nicht ſeine Huldigung dargebracht hätte. Viele feierten die Linde in ſelbſtändigen Gedichten. Agnes Franz hat dem lieblichen Bilde der Eltern- und Kindesliebe in dem Gedichte „Die Linden" einen ſchönen, ſinnigen Ausdruck gegeben; auch v. Eichendorff in wehmütigen Klängen und in heiteren Tönen. Geibel hat von dem Baume geſungen, auch H. Heine

in seiner Art. Reinere Töne klingen von der Harfe des schwäbischen Dichters (Uhland) durch die deutschen Gauen. — Tieck, der Romantiker, ist zu sehr mit dem christlichen Mittelalter befreundet, als daß bei ihm nicht der Linde ihr volles Recht hätte zuteil werden sollen.

Der Mut und die Kraft eines Volkes spricht sich aus in den Schlachten, die es schlägt, und in seinen Kämpfen für das Recht; seine Sittlichkeit in der Heilighaltung der Familie, sein frommer Sinn im Inhalt und in der Form seiner Religion; aber seine ganze Natur in seinen Gebräuchen und Sitten, in seinen Sagen, Märchen und Liedern, denn sie schöpfen aus allen Quellen seines Daseins, in Freud' und Leid, in der Erhebung und im Mißgeschick.

Überschaue ich mit einem Blicke, wie von der Höhe eines Berges über Täler, Hügel und Fernen, alles, was sich im Gemüte und im Gedankenkreise unseres Volkes an die Linde anschließt, in der Vergangenheit wie in der Gegenwart, so meine ich, kann man mit Fug und Recht sagen, daß dem Baume bei uns eine gleich große Bedeutung beiwohne, wie in der Vorzeit bei den Athenern dem Ölbaum und bei den Skandinaviern der Esche, und daß kein anderer Baum ihr diese Stelle streitig machen könne.

Das Heldenlied verlegt unter den Baum seine Taten, die Sage in tausendfachen Arabesken verschlingt sich mit ihren Zweigen, das Lied der Dichter feiert sie, und das Volkslied summt durch ihre Blüten. Sie ist der Gerichts- und Versammlungssaal des Volkes, das Symbol der Tapferkeit und des Sieges, und zur Ehre heroischer Taten pflanzt man den Baum. Sie deckt mit ihrem schützenden Laubdach, so wie die Gräber der Hingeschiedenen, die geheiligten Stätten stillen Gebetes, sie ist das Gewölbe des Brunnens, das Zelt des müden Wanderers, die Stätte ländlicher Feste und der verschwiegene Zeuge beglückter und trauernder Liebe, während die Nachtigall aus ihrem Dunkel die langgezogenen Töne dahinflötet.

Es war ein Irrtum unseres Klopstock, des herrlichen deutschen Mannes und Dichters, wenn er das keltische Bardentum auf deutschen Boden übertrug und den Baum des keltischen Kultus, die Eiche, als den Baum feierte, dessen Wurzeln in der Gemütstiefe unseres Volkes die erste Stelle hätten. Wenn seine große Dichternatur zum Durchbruch kam, feierte er die Linde, und deshalb steht auch auf seiner Grabstätte nicht die Eiche, sondern die Linde. Klopstocks Beispiel folgten die Stolberge und Denis. Und in den Freiheitskriegen, als es galt, alle Urkräfte des Volkes zu einem Keile zuzuspitzen, glaubten die mutigen Männer des Wortes und des Schwertes kein zutreffenderes Symbol deutscher Kraft zu finden, als die Eiche.

Wohl ist die Eiche ein herrlicher Baum, und die Schauer, welche Plinius und Seneca unter ihren grünen Gewölben empfanden, ziehen auch durch unsere Seele, wenn wir uns in die einsamen Tiefen der Eichenwälder verlieren, wie sie in unseren Landen in ihrer Pracht über die Höhen der Berge und Abhänge dahinziehen. Und wohl ist auch die Eiche ein Bild der Kraft und Unbeugsamkeit, aber auch oft ein Bild jener Unbeugsamkeit, die zum Störrigen wird. Sie beugt sich im Walde, wo sie steht, vor dem Orkane nicht, aber der Orkan legt ihr die störrigen Äste zu Füßen. Die Linde in ihrer Isoliertheit, der eigenen Kraft vertrauend, wiegt die Äste bei den Stößen des Sturmes, aber sie überwindet ihn durch Festigkeit, Ausdauer und Elastizität, und sie steht da nach allen Angriffen in ihrer alten Herrlichkeit.

Wir wollen die Eiche als Symbol der Kraft und Unbeugsamkeit unseres Volkes nicht missen, ebensowenig als die herrlichen Waldungen unseres Vaterlandes; aber der Baum am Herzen unseres Volkes bleibt die Linde; noch pflanzt es an den Stellen, die es liebt und verehrt, wie vordem den Baum, und noch geht die Sage, daß der Blitz an demselben vorüberfahre.

## 78. Das tägliche Leben der Vögel. (1858.)

Von A. Brehm.

Das Leben der Vögel. Glogau 1861. S. 208.

„Wir luſtigen Bürger in grüner Stadt,
Wir ſingen und lärmen,
Arbeiten und ſchwärmen
Vom Morgen zum Abend und werden ſatt."
Tieck.

Kein anderes Tier verſteht es, ſoviel zu leben, als der Vogel lebt; kein anderes Geſchöpf weiß ſo ausgezeichnet hauszuhalten mit ſeiner Zeit, wie er. Ihm iſt der längſte Tag kaum lang, die kürzeſte Nacht kaum kurz genug. Seine beſtändige Regſamkeit geſtattet ihm nicht, die Hälfte ſeines Lebens zu verträumen und zu verſchlafen: er will wach, munter, fröhlich die Zeit durchmeſſen, welche ihm gegönnt iſt. Im Bewußtſein ſeines glücklichen Seins ſcheint er die Arbeit als Spiel, den Jubelgeſang aber als hochwichtiges Werk zu betrachten. An dieſes muß er zuerſt und zuletzt denken; ihm vor allem muß die ſchönſte Zeit des Jahres und Tages gewidmet ſein.

Alle Vögel erwachen außerordentlich früh aus dem kurzen Schlummer der Nacht. Noch deckt dieſe mit dunklem Fittiche das Land, noch iſt ſie kaum zur Hälfte vorübergegangen: da grüßen die hinlänglich geſtärkten Vögel bereits den Tag. Sie ſind frühere Verkünder desſelben als das Morgenrot, frühere noch als der fahle Schimmer im Oſten, welcher dem Morgenrot vorangeht. „O, es gewährt einen unvergleichlichen Genuß", ſagt unſer Naumann, „einen ſchönen Maimorgen in einem von Singvögeln belebten Laubwalde zuzubringen. Alle Kehlen wetteifern miteinander und ſuchen ſich gegenſeitig zu übertreffen. Schon nach zwölf Uhr nachts eröffnet der Kuckuck das Konzert mit ſeinem einförmigen Rufe und wiederholt ihn dann, auf einer Stelle bleibend, mehr als hundertmal. Nicht lange nach ihm beginnt der Pirol ihn mit ſeinen Orgeltönen zu begleiten. Kaum zeigt ſich eine Spur der Morgendämmerung, ſo ſtimmen der ſchwarzrückige Fliegenfänger und der Gartenrotſchwanz ihre melancholiſchen Weiſen an; dann folgt der gelbbrüſtige Sänger mit ſeinem melodieenreichen Allegro, die Königin aller, die Nachtigall, mit ihren ſchmelzenden Harmonieen, die Amſel und die Zippdroſſel. Iſt Feld in der Nähe, ſo hört man jetzt auch die Feldlerchen ihr Liedchen wirbeln. Endlich iſt völlige Dämmerung eingetreten, und nun miſchen alle übrigen Sänger, Fitis, Grasmücken, Finken ꝛc. ihre Lieder ſo durcheinander, daß man kaum eins von dem andern unterſcheiden kann." — Im Nadelwalde iſt die Reihenfolge eine etwas andere. Hier vernimmt man nach dem erſten Kuckucksruf gewöhnlich den herrlichen Geſang der Heidelerche, welche Welcker „des Äthers Nachtigall" nennt; dann poltern Auer- und Birkhahn darein; nach Amſel, Zippe, Waldrotſchwanz und Rotkehlchen laſſen ſich Krähen und Häher vernehmen; dann folgen die Tauben, Meiſen, Goldhähnchen, Laubſänger, Kleiber, Spechte, und nach ihnen endlich die Finken, Ammern, Flühvögel u. a.

Sie alle ſingen ihr Morgenlied mit nüchternem Magen und ziehen erſt nach Aufgang der Sonne nach Nahrung aus. Diejenigen, welche der Tageskönigin die erſten Grüße brachten, verſtummen mit ihrem Erſcheinen; die ſpäter erwachten ſingen noch etwa anderthalb bis zwei Stunden länger. Gegen das Ende ihres Geſanges hin beginnen viele bereits zu freſſen, wie die eigentlichen Sänger überhaupt ſelbſt inmitten des eifrigſten Geſanges jedes vorüberſchwirrende oder laufende Kerbtier aufnehmen. Während der Niſtzeit werden die erſten Tagesſtunden zum Erbauen des Neſtes verwendet; die Arbeit wird durch Geſang gewürzt. Nun aber tritt eine gewiſſe Stille ein; bloß dann und wann vernimmt man einige kurze Strophen: die Sänger ſind jetzt mit ihrem Frühſtücke beſchäftigt. Die Räuber durchſtreifen in größerer oder geringerer Höhe ihr Gebiet; Krähen, Elſtern, Dohlen, Ammern, Lerchen, Pieper, Droſſeln, Stare, Tauben und Hühner werfen ſich auf Felder und Heiden; Würger und Fliegenfänger beginnen die Umſchau von ihren Warten; Spechte, Kleiber, Baumläufer, Meiſen und Goldhähnchen klettern und hüpfen von Zweig zu Zweig, und alle anderen ſuchen im Feld und Walde, im Gebüſch

und an Bächen ihr tägliches Brot. Hat ihnen die freigebige und reiche Mutter dasſelbe geſpendet, dann fliegt ein jeder, gewöhnlich zu gewiſſen Stunden, nach einem günſtig gelegenen Gewäſſer, um zu trinken, worauf der eine früher, der andere ſpäter einem ſtilleren Orte zuwandert, an welchem er ruhig verdauen kann.

Das Einnehmen von Speiſe und Trank geſchieht auf ſehr verſchiedene Weiſe. Während die meiſten ihre Nahrung mit dem Schnabel allein aufnehmen, gebrauchen einige, z. B. die Papageien, Raubvögel ꝛc., die Füße, andere, namentlich die Spechte, die Zunge mit beim Freſſen. Erſtgenannte führen ihre Speiſe ſehr zierlich mit einem Fuße zum Schnabel; die Raubvögel halten ſie mit beiden Fängen feſt, und einige Falken rupfen die Beute erſt ſorgfältig vor dem Verſchlingen, wie auch manche Körnerfreſſer die Körner enthülſen und ſchälen. Die Spechte ſpießen Kerfe, welche ſich in Ritzen verkrochen haben, mit der Zunge an und ziehen ſie dann zugleich mit derſelben in den Schnabel; der Wendehals ſteckt die Zunge in Ameiſenhaufen und zieht ſie zurück, wenn ſie mit den erboſten Kerbtieren bedeckt iſt. Diejenigen, welche einen weiten Rachen haben, verſchlingen große Biſſen oder ganze Tiere auf einmal; ſo die Pelikane und Kropfſtörche fußlange Fiſche, die Bartgeier große Knochen und die Geier derbe Fleiſchſtücke; die, deren Mundöffnung klein iſt, zerſtückeln die Beute ſoviel als nötig. Einzelne, namentlich die langſchnäbeligen Sumpfvögel, werfen den Biſſen mit der Schnabelſpitze in die Höhe und ſaugen ihn mit dem offenen Rachen wieder auf; andere endlich ſchieben ihn mit der Zunge in den Schlund, ſchlingen alſo förmlich wie die Säugetiere. Das Auswürgen der unverdaulichen Stoffe in Gewöllen geſchieht unter großer Anſtrengung, fürchterlichem Augenverdrehen und wahrhaft kläglichem Gebärdenſpiel. . . . Einige Vögel bewahren ſich Speiſereſte auf oder legen ſich Vorratskammern für den Winter an. So ſpießt der Dorndreher Käfer auf Dornen, um ſie bei ſchlechtem Wetter zu verzehren; der Nußhäher trägt Eicheln ein, und ein amerikaniſcher Specht durchlöchert ganze Agavenſtämme, um in den Höhlungen derſelben harte Früchte bis zum Winter zu bergen.

Beim Trinken waten einige bis an das Waſſer heran oder in dasſelbe hinein, beugen den Kopf herab, nehmen einen Schluck und heben nun den Kopf wieder hoch empor, um das Waſſer in den Magen hinablaufen zu laſſen; wir ſehen dies täglich bei Gänſen und Hühnern. Andere, namentlich die Schwalben und fliegenden Seevögel, trinken im Fluge, indem ſie dicht über dem Waſſer dahinſtreichen und den Schnabel raſch einmal eintauchen, oder aber ſie halten ſich eine Zeitlang durch Flattern in geeigneter Höhe über dem Spiegel des Gewäſſers und ſaugen dabei etwas Waſſer ein; ich habe dies am Nil auch von unſeren Haustauben beobachtet. Die ernſten Geier und alle Langbeine laufen lange am Strande auf und ab, wenn ſie durſtig ſind, und trinken in Abſätzen; die Finken trinken gern in Geſellſchaft, nähern ſich dazu dem Waſſer, ſoweit es die nächſten Gebüſche zulaſſen, ſtürzen plötzlich von ihren Ruheſitzen herab zu dem köſtlichen Naß, nehmen ſich einen Mund voll, kehren zurück und wiederholen dieſes Spiel ſo lange, bis ſie geſättigt ſind. Alle eigentlichen Waſſervögel trinken gleich im Schwimmen, und zwar ſelbſtverſtändlich Seewaſſer ebenſogern als ſüßes. Sie ſowie die Aas-, Reptilien-, Fiſch- und Körnerfreſſer ſcheinen ſehr viel Waſſer zu bedürfen. Die Inſektenfreſſer dagegen trinken wenig, und die Edelfalken, Adler und Enten oft ſehr lange Zeit gar nicht. Im allgemeinen ſcheint der Genuß des Waſſers ihnen ebenſo zuzuſagen, als einem Menſchenkinde der eines guten Glaſes Wein; wenigſtens ſcheinen ſie ſich nach geſtilltem Durſte höchſt behaglich zu fühlen. Freilich beginnt gewöhnlich ſofort nach dem Trinken das Geſchäft der Verdauung, welches bei ihnen immer ein ſüßes Nichtstun erzeugt.

Der durch Speiſe und Trank geſättigte Vogel, welcher jedoch irgend etwas beſonders Leckeres ſtets noch zu ſich nimmt, fliegt langſam einem Ruheorte zu, ſetzt ſich dort zurecht, ordnet die Federn einigermaßen, lupft die Flügel, entleert ſich, ſetzt ſich gerade, zuweilen nur auf ein Bein, ſchließt die Augen ganz oder halb und läßt nun Kropf und Magen ihr Werk verrichten. Man muß die Fleiſch- und Körnerfreſſer, alſo diejenigen, welche im Kropfe erſt die Speiſe zur Verdauung vorbereiten, beobachten, um die Behaglichkeit der Ruhe nach genoſſener Mahlzeit kennen zu lernen. Nur ein Wiederkäuer kann ſo ſtillvergnügt, obſchon

gedankenlos, daliegen, um vorzuverdauen, wie es der Vogel tut. Er denkt an gar nichts mehr, wenn er verdaut; ſelbſt ſeine Sicherung erſcheint ihm eine dem hochwichtigen Geſchäfte des Verdauens untergeordnete Sache. Die Geier vergeſſen ſich zuweilen bei recht vollem Kropfe ſoweit, daß ſie ſich mit Händen greifen laſſen, und brechen gewöhnlich das Gekröpfte von ſich, wenn ſie ſich in die Notwendigkeit verſetzt ſehen, ihre geiſtigen und leiblichen Kräfte zu gebrauchen. Mehrere Sumpf- und Waſſervögel ſchlafen während der Dauer dieſer Beſchäftigung: kurz jeder einzelne Vogel verliert an Regſamkeit, Fröhlichkeit und Beweglichkeit, wenn er vollkommen geſättigt iſt; — und hieraus iſt die mittägliche Stille der Wälder zu erklären.

Mit der Mitte des Nachmittags hat dieſer Halbſchlummer geendet; der Inhalt des Kropfes iſt glücklich in den Magen befördert worden, und der Vogel muß auf Erſatz denken. Bei weitem die meiſten ſeiner Klaſſe freſſen nachmittags und abends wieder; doch finden dabei viele Abſtufungen ſtatt. Während die Kerfjäger ſolange offene Tafel halten, als die Sonne am Himmel ſteht, begnügen ſich die meiſten Körnerfreſſer mit zwei Hauptmahlzeiten, ja ſelbſt mit einer, wie die Geier, Geieradler, Falken ꝛc., aber nur wenn ſie ſich ordentlich vollfreſſen können; ſo pflegen die Kraniche im Sudan nur frühmorgens die Getreidefelder zu beſuchen, kehren aber immer mit einem bis zur Zunge gefüllten Magen zu ihren Flußinſeln zurück. Die Geier freſſen hauptſächlich in den Mittagsſtunden, alſo in der größten Tagesglut. . . .

Während der Nachmittagsſtunden wird auch noch eine wichtige Arbeit abgetan: die Reinigung. Alle Vögel ſind bekanntlich ſehr reinlich und nur ſehr wenige machen davon eine Ausnahme (etwa die Spechte, welche ſich mit Harz und Lehm beſchmieren; die Baumläufer, welche ſich an naſſen Stämmen grau färben; die Geier, welche ſich auf kurze Zeit mit Blut und Unrat beſudeln, und die Marabus, welche ihre Ständer oft mit dem eigenen Gepräge überkleiſtern). Jene große Tugend bedingt aber viele Mühe und fleißige Sorgfalt; und in der Tat vergehen kaum einige Minuten, ohne daß der Vogel ſich putzt und ordnet. Gleichwohl bedarf er noch täglich einer allgemeinen Reinigung, und zwar trockener und naſſer Bäder.

Die trockenen Bäder, oder das Paddeln im Sande, erſetzen vielen, wenn auch nicht allen Erdvögeln, die Bäder im Waſſer, dienen aber auch im allgemeinen zur kräftigen Vertreibung des Ungeziefers. Unſere Haushühner bedienen ſich, wie alle ihre Familienverwandten, nur des trockenen Bades und geben uns Gelegenheit, dieſe Art der Reinigung zu beobachten. Unter dichten Gebüſchen, in ſtaubreichen Schuppen, überhaupt da, wo ſandige oder ſtaubige Erde wenig vom Regen angefeuchtet werden kann, ſieht man ihre „Paddellöcher" oder Badenulden zur betreffenden Zeit ſelten leer. Sie legen ſich entweder mit dem ganzen oder mit dem halben Unterkörper in ſie hinein, verurſachen durch Schlagen mit den Flügeln und Füßen einen dichten Staub und ſträuben dann das Gefieder, damit dieſer bequem zwiſchen die Federn eindringen kann. Auch werfen ſie ſich wohl mit den Füßen geradezu Erde auf ihren Körper; jedenfalls wird das ganze Gefieder überall tüchtig eingeſtäubt. Das Bad ſcheint ihnen höchſt behaglich zu ſein. Sie verweilen oft halbe Stunden lang in ihrer Mulde und liegen manchmal mehrere Minuten regungslos da. Dann erheben ſie ſich, ſchütteln ſich gehörig, ſchlagen mit den Flügeln, kratzen ſich mit dem Fuße hier und da ein wenig und ordnen das Gefieder mit dem Schnabel. Im Winter muß Schnee den Staub erſetzen. Einige Vögel, z. B. Finken und Sperlinge, baden ſich wie jene im Sande, aber auch noch im Waſſer, wie es viele andere ihrer Klaſſe tun. Dann hat das Sandbad den alleinigen Zweck, die läſtigen Hautſchmarotzer zu vertreiben.

Das Waſſerbad wird von der großen Menge in ſehr verſchiedener Weiſe ausgeführt. Manche Arten baden ſich oft, andere ſeltener; einige ſpritzen ſich das Gefieder flüchtig ein, andere näſſen es ſo gründlich durch, daß ſie nach beendetem Bade kaum fliegen können. Die Landvögel laufen zum Baden an einer ſeichten Stelle ins Waſſer und verurſachen hier durch Schlagen mit den Flügeln einen dichten Regen, zucken auch wohl einzelne Federn noch beſonders in das Waſſer; die Waſſervögel beſorgen es gleich im Waſſer ſelbſt.

Nach beendigtem Waſſerbade beginnt das ſorgfältigſte Putzen des Federkleides. Der Landvogel fliegt dazu auf einen der nächſten Bäume, ſchüttelt die Hauptmaſſe des am Gefieder hängenden Waſſers ab, zieht nun die Federn durch den Schnabel, legt ſie in Ordnung und ölt ſie ſchließlich aus ſeinen Bürzeldrüſen ein. Das letztere iſt für die Schwimmvögel noch viel notwendiger als für die Landvögel, und wird deshalb von ihnen auch weit ausführlicher beſorgt. Trotz ihrer zweckdienlichen Beſchaffenheit nimmt die Feder bei langwährendem Schwimmen und Tauchen Näſſe an und muß daher von Zeit zu Zeit wieder zu neuem Gebrauche hergerichtet werden. Der Waſſervogel muß alſo das Geſchäft des Putzens täglich mehreremal vornehmen. Es geſchieht bei ihm teils während des Schwimmens, teils und hauptſächlich auf dem Lande. Jeder Schwimmvogel richtet ſich, ſobald er das feſte Land betritt, gerade auf und ſchüttelt durch lebhafte Flügelbewegungen und Zucken der Haut ſoviele der an ſeinen Federn hängenden Waſſertropfen ab, als möglich. Sodann lockert er mit dem Schnabel das ganze Gefieder auf, ſchüttelt es wieder ab und fährt hiermit ſo lange fort, bis ihm ſein Federkleid den geeigneten Grad von Trockenheit zu haben ſcheint. Nun hebt er die über ſeinen Fettkäſtchen, den beiden Bürzeldrüſen, liegenden Federn auf, preßt mit dem Schnabel etwas von dem durch dieſe Drüſen abgeſonderten Öle heraus und trägt es dann auf beide Innenſeiten und das Äußere des unteren Schnabels auf. Jede Feder, welche der Einölung bedarf, wird einzeln durch den Schnabel gezogen und dabei geglättet und zurechtgelegt. Die große Beweglichkeit ſeines Halſes macht es dem Vogel möglich, alle Federn ſeines Körpers, mit alleiniger Ausnahme derer des Kopfes und Oberhalſes, einzufetten; letztere werden aber ſo lange auf den bereits gefetteten Federn der Bruſt, des Vorderflügels und Nackens eingerieben, bis ſie ebenfalls die nötige Menge Öl empfangen haben. Flügel und Vorderbruſt werden immer mit ganz beſonderer Sorgfalt behandelt, nicht minder die wichtigen Steuerfedern, an denen gewöhnlich die ganze Arbeit beendet wird.

Nach vollendetem Bade und Putzen fühlt ſich der Vogel ungemein behaglich. Die Reinigung iſt ihm ein wahres Lebensbedürfnis; er erkrankt, wenn er ſie nicht verrichten kann. So ſorgſam er ſonſt das Waſſer meidet und namentlich vor dem Regen entflieht[1]), ſo lebhaft ſehnt er ſeine Waſchungen herbei. Wenn dann nun auch das Putzgeſchäft beendet iſt, verträumt er gern ein Stündchen im Vollgenuß der äußeren und inneren Wärme. Daher ſieht man viele Vögel, namentlich die Geier, Hühner, Ibiſſe, Tauben und andere, gern ſich ſonnen, wobei ſie ſich oft höchſt gemütlich platt auf eine Seite oder auf den Bauch legen, oder aber, wie es die Scharben und Schlangenhalsvögel tun, reihenweiſe an recht warme Felſenwände und ähnliche Orte ſetzen und mit den Flügeln wedeln. Ganz leiſes Flüſtern, welches man in dieſer Lage vernehmen kann, ſcheint die höchſtmögliche Behaglichkeit auszudrücken.

Ein Teil des Tages wird, wenigſtens von vielen, der Geſelligkeit gewidmet. Auch die größtenteils nur paarweiſe lebenden Vögel kommen gern auf einige Zeit zuſammen, jedoch nicht, oder nur in ungeordneter Weiſe, während der Brutzeit, weil ihnen dann zu ſolchen Dingen keine freie Zeit bleibt. Manche, z. B. die Kolkraben, ſtatten ſich förmliche Beſuche ab. Jedes Paar dieſer ſtattlichen und ſchlauen Tiere bewohnt nämlich, wie die meiſten der einſam lebenden Vögel, ſeinen ſcharf begrenzten Kreis und duldet innerhalb desſelben kein anderes Paar ſeiner Art. Nach geſchehener Mahlzeit beſuchen ſich aber die Nachbarn auf ein Stündchen, plaudern und ſpielen, d. h. fliegen in herrlichen Schraubenlinien zuſammen herum und kehren dann nach Hauſe zurück. Raben, Nebel- und Saatkrähen, Geier, Milane, Stare und andere geſellig lebende Vögel halten ihre Zuſammenkünfte meiſt gegen Abend vor dem Schlafengehen ab. Die neuankommenden werden von der bereits verſammelten Geſellſchaft mit lautem Schreien, ja ſelbſt mit tanzartigen Verbeugungen begrüßt; letzteres habe ich wenigſtens von den Königskranichen

[1]) Außer den Sumpf- und Waſſervögeln machen hiervon nur die Schwalben, welche gern noch im Regen jagen, und die Tauben, welche ſich oft geradezu hinlegen, um ſich beregnen zu laſſen, eine Ausnahme.

in Afrika vielfach beobachtet. Es sieht ungemein spaßhaft aus, wenn eine Herde dieser stolzen und schönen Vögel einen vorüberfliegenden ihrer Art begrüßt. Sein Flug wird sorgfältig beobachtet, und jeder Ruf des Fliegenden mit einer lauten Einladung beantwortet. Hat dieser Erfolg, so drücken fast alle ihre Freude durch sonderbare, nur mit dem Tanz zu vergleichende Bewegungen aus; dann laufen sie dem Ankömmling entgegen und schwatzen gar angelegentlich mit ihm. Manche Arten fliegen wohl auch auf die sich Nahenden zu; jedenfalls drücken alle auf irgend eine Art ihr Vergnügen aus, ihn zu sehen.

Wenn eine derartige Zusammenkunft zum Zweck der Versammlung vor dem gemeinschaftlichen Schlafengehen stattgefunden hat, währt sie länger als gewöhnlich. Die männlichen Singvögel vertreiben sich inzwischen die Zeit mit Gesang, zu welchem sie durch ihre Nebenbuhler in dieser edlen Kunst auf das lebhafteste aufgemuntert werden; die nicht stimmbegabten lassen bloß einzelne Töne hören und ordnen sich dabei, wie zur Unterhaltung, noch das Gefieder. Von Minute zu Minute vermehrt sich die Schar der Versammelten; sie kommen einzeln oder paarweise aus dem ganzen Umkreise herbeigeflogen. Jedenfalls sind sie schon vorher genau über den Ort der Zusammenkunft unterrichtet; denn man sieht auch bei denen, welche von fern her zur Versammlung aufbrechen, eine entschiedene Sicherheit in der zu wählenden Richtung des Fluges. Große, erhaben oder einzeln stehende Bäume und Baumgruppen, unbebaute Felder, Inseln und Felsenriffe sind solche Wahlplätze; sie werden immer mit Sorgfalt ausgesucht. Manche Singvögel lieben sie so, daß sie dieselben auch zur Zeit des Brutgeschäftes besuchen, während die Gattin im Nest auf den Eiern sitzt; sie kehren dann aber pflichtschuldigst nach Hause zurück und schlafen nicht gemeinschaftlich, wie außerdem.

Nach dem Eintreffen aller Mitglieder einer zusammenschlafenden Gesellschaft beginnen die Vorbereitungen zum Zu-Bett-gehen. Nur die ganz harmlosen Vögel brechen ohne weiteres zu ihren Schlafplätzen auf; alle vorsichtigen lassen sie erst genau von Spähern durchsuchen und warten das Ergebnis der Forschungen derselben ab, ehe sie ihren Sammelplatz verlassen. Raben und Kraniche, die schlauesten Gesellen, welche ich kenne, sind, zumal wenn sie einmal gestört worden waren, mit einmaligem Aussenden der Kundschafter noch nicht zufrieden, sondern unterwerfen deren Aussagen regelmäßig einer nochmaligen Prüfung durch andere erfahrene Mäunchen. Erst nach erlangter Überzeugung der Sicherheit erhebt sich plötzlich die ganze Gesellschaft mit Geschrei, welches aber sofort verstummt, und fliegt geräuschlos dem Schlafplatze zu, wo alle vorsichtigen Vögel vollkommen still sich niederlassen. Bloß die auf Inseln oder in Brüchen, Seeen und sehr dichten Bäumen schlafenden und sorgloseren Vögel schwatzen und lärmen noch lange nach ihrer Ankunft fort, manche in wahrhaft ohrzerreißender Weise. Zu Bette gehende Sperlinge zanken sich entsetzlich, bevor sie sich eingerichtet haben; in reichbewohnten Sümpfen vernimmt man ein Lärmen, Schreien, Quaken, Schnattern, Pfeifen, Zwitschern, Trommeln, Kreischen, Krächzen und Rufen, daß man taub werden möchte, bis tief in die Nacht. Erst nach und nach wird es stiller. Das Geplärr sinkt zum Geplauder, das Gekrächz zum Geflüster herab. Eine Stimme nach der andern verklingt, und um Mitternacht sind alle, welche hier schlafen, wie die übrigen Tagvögel verstummt, und auch die Nachtvögel, weil sie gerade beim Fressen sind, ruhig; nach kurzer Zeit beginnt das Leben neu sich zu regen. . . . .

Der Schlaf ist bei allen kurz und leicht, erfordert auch bei einigen eine gewisse fortdauernde Bewegung. Die auf Bäumen und auf der Erde schlafenden Vögel haben zwar ein Herabfallen im Schlafe nicht zu befürchten, wohl aber die auf dem Wasser schwimmend ruhenden ein Antreiben an das Ufer. Sie müssen sich also durch gleichmäßiges, unbewußtes Rudern so auf einer Stelle erhalten, daß sie durch Wind und Wellen nicht von dem Orte abgetrieben werden. Die auf Bäumen schlafenden sitzen mit stark zusammengebogenen Fersengelenken auf einem Aste, viele auf einem Beine, wobei dann das andere Bein in den Bauchfedern, der Kopf in den Rückenfedern versteckt ist; bloß die Ziegenmelker legen sich der Länge nach auf einen stärkeren Ast, was sie, da sie Tagschläfer sind, zugleich sehr vor Entdeckung sichert. Höhlenbrüter schlafen gern in Baumlöchern; in unserem Garten hat sich z. B. ein Grünspecht einen Starkübel vorgerichtet und benutzt

ihn regelmäßig in Abweſenheit ſeiner rechtmäßigen Beſitzer. Manche Waldvögel ſchlafen, auf den Fußwurzeln hockend, andere, auf beiden Füßen neben oder in dem Waſſer ſtehend; einzelne legen ſich wohl auch platt auf den Bauch nieder. Die eigentlichen Tagſchläfer wählen ſtets die verſteckteſten Plätze zu ihrem Schlummer und ſuchen ſich während des Schlafes möglichſt an die nächſten Gegenſtände anzudrücken.

Eine Störung der Nachtruhe wird von allen Vögeln ſehr übel vermerkt. Die meiſten erheben ein entſetzliches Geſchrei und fliegen auf, wagen es aber nicht, weit zu gehen, ſondern laſſen ſich ſehr bald wieder nieder, kehren auch oft zu ihrem früheren Orte zurück. Vorſichtige oder mißtrauiſche ſchlafen nach einer Störung nicht wieder und durchfliegen ruhelos die Nacht. Alle plötzlich erwachten ſind entſchieden ſchlaftrunken und taumeln bewußtlos hin und her; einzelne Arten faſſen ſich aber ſchnell und wiſſen dann auch der Gefahr noch gewöhnlich zu entrinnen.

Bei ruhigem Schlafe träumen die Vögel oft und lebhaft, wie man an Stubenvögeln bemerken kann. Aus ihrem Benehmen kann man einigermaßen auf den Inhalt des Traumes ſchließen. Der zur Zugzeit flatternde Vogel träumt gewißlich von der Ferne und der Wanderluſt, der im Frühling leiſe zwitſchernde von Geſang und Liebe. Was ſie zu anderen Zeiten träumen mögen, weiß ich nicht; wahrſcheinlich aber webt ihnen der Traumgott gar bunte Bilder vor die Seele, von Fliegen und Schwärmen, Singen und Lieben, Leben und Glücklichſein, was alles ihnen vielleicht ſchon der kommende Morgen bringt.

## 79. Die Zugvögel und der Grund ihres Wanderns.

**Von B. Altum.**

Der Vogel und ſein Leben. Münſter 1875. S. 252.

Zugvögel im engeren Sinne ſind diejenigen, welche, wie Kuckuck, Pirol, Schwalben, Nachtſchwalbe, Laub-, Rohr-, Erdſänger, Fliegenſänger u. v. a. mehr oder weniger ohne bedeutenden Aufenthalt aus ihrer nördlichen Heimat im Herbſte zum warmen Süden wandern, und im Frühlinge ebenſo direkt aus ihrem Winteraſyl zur nördlichen Heimat wieder überſiedeln. Es drängt ſich uns hier ſofort die Frage auf: *Warum flieht der Vogel im Herbſte plötzlich aus jener Gegend, die ihn geboren?* Iſt es die unerträglich herbe Witterung, iſt es Nahrungsmangel, welche ihn vertreiben? Wir wiſſen die Antwort auf jene Frage ſehr wohl: der Vogel zieht, um in der Heimat im nahrungsleeren Winter nicht zu verhungern. Allein, wenn er aufbricht, erfreut ſich ſeine Heimat noch des ſchönſten Herbſtwetters, und Nahrung iſt dort für ihn noch in großer Fülle vorhanden; er ſelbſt leidet, wie ſeine körperliche Beſchaffenheit das beweiſt, noch nicht die allermindeſte Not. Ja es ſind gerade die Zugvögel vor den Standvögeln dann ſehr wohlbeleibt, ihr Körper iſt in eine dicke Specklage (als Reſerveproviant für die Reiſe) eingehüllt, eine für unſere teleologiſche Naturauffaſſung fürwahr nicht unerhebliche Tatſache. Diejenigen Vögel häufen, ähnlich wie die Winterſchläfer unter den Säugetieren, Nahrungsſtoff auf, denen eine ſolche Verproviantierung vorzugsweiſe zuſtatten kommt! Nahrungsmangel alſo drückt den Vogel zu dieſer Zeit noch in keiner Weiſe. Man findet zur Zeit, wann der Mauerſegler ſeine Jungen füttert, in ſeinem Rachen dicke Speiſeballen von der Größe einer Haſelnuß. Sie beſtehen aus einer großen Menge meiſt ſehr kleiner Inſekten, ganz kleiner Käfer, Ichneumoniden, Mücken u. dgl.; nur einzeln findet ſich eine große Tipula oder Ephemeride dazwiſchen. Die Nacht vom 3. auf den 4. Auguſt iſt für unſere Gegend in normalen Jahren der Termin ſeiner Abreiſe nach Afrika; allein jene kleinen Inſekten ſchwärmen noch bis in den Oktober hinein in großer Menge bei uns umher. Ganz dasſelbe können wir von ſämtlichen Zugvögeln behaupten, deren Nahrung wir unterſucht haben. Im Herbſte 1868, nach einem für unſere Gegend ſelten warmen und trockenen Sommer, in dem die Mauerſegler und ihre Jungen auch keinen einzigen Tag wegen trüber Witterung hatten hungernd in ihrem Verſtecke lauern müſſen, war alt und jung in der Nacht vom 23. auf den 24. Juli ver-

ſchwunden, alſo reichlich 1½ Wochen früher als in normalen Jahren abgereiſt. Wärme und ſtets reichliche Nahrung hatte die Entwickelung ihres Organismus beſchleunigt. Es fehlte aber am 24. Juli durchaus noch nicht an paſſender Inſektennahrung. Ähnliches wie vom Mauerſegler könnte ich über die Abreiſe der Vögel im Herbſt 1868 überhaupt berichten. Alſo: Warum flieht der Vogel unſere Gegend? Daß dieſe ſeine Heimat ihm nach einiger, kürzerer oder längerer Zeit den Tiſch nicht mehr deckt, das, wie geſagt, wiſſen *wir*, und wir begreifen deshalb ſehr wohl die Notwendigkeit ſeines Zuges. Aber das kann doch der Vogel nicht wiſſen. Er ſelbſt hat nie die Armut ſeiner Geburtsſtätte während des Winters erfahren. Die Nachtigall, der Kuckuck, welche ſie erfahren hätten, würden für alle Zukunft des Reiſens überhoben ſein. Ich hielt eine Reihe von Jahren hindurch mehrere Blaukehlchen, denen es geſtattet war, den größten Teil des Tages außerhalb des Käfigs bei mir in meinem Studierzimmer umherzufliegen. Sie wurden außerordentlich zahm, nahmen mir die Mehlwürmer aus der Hand, ja flogen zu mir herauf, um ſie zwiſchen meinen Lippen fortzunehmen. Sie liefen vor mir auf meinem Tiſch umher, gar gewöhnlich ſogar auf dem Papierblatte, worauf ich eben ſchrieb. Kurz, ſie waren durchaus vollſtändig an meine Perſon und ihre ſonſtige Umgebung und Verhältniſſe gewöhnt. Da plötzlich im Herbſte wird des Nachts mein Vögelchen im Bauer unruhig, ein lautes, etwas ſchnalzendes „Tack" bekundet die Aufregung, es beginnt in demſelben hin und her zu laufen, ja flattert zumal in mondhellen Nächten gar arg umher, zerſtößt ſich die Umgebung des Schnabels blutrünſtig, zerſchlägt ſich an den Drahtſtäbchen des Käfigs ſeine Schwingen; es will fort, um jeden Preis fort. So Nacht auf Nacht; am Tage hingegen das zufriedenſte Tierchen, zutraulich wie immer. Nach einiger Zeit legt ſich allmählich der nächtliche Ungeſtüm, den ganzen Winter hindurch weiß mein liebes Vögelchen nichts mehr von jener Unruhe; aber mit gleicher Heftigkeit bricht Anfang April der nächtliche Lärm wieder hervor, und *als er aufhört, da ſind draußen die Blaukehlchen angekommen*. Ich füge hinzu, daß ich mein erſtes Blaukehlchen bereits im Neſtkleide beſeſſen hatte. Jeder, welcher derartige Zugvögel hält, wird leicht die gleiche Erfahrung machen können. Es ſind Fälle vorgekommen, daß Wachteln ſich durch ihren nächtlichen Ungeſtüm zur Zugzeit im Käfig ſelbſt getötet haben. Zur Erklärung ſolcher im höchſten Maße intereſſanten Erſcheinungen reicht ſo offenbar eine Zuflucht zu dem Verſtande und der Berechnung der „geiſtig ſo hochbegabten" Vögel nicht aus, daß ſogar unſere Gegner in der Deutung der tieriſchen Lebenserſcheinungen hier die Segel ſtreichen, nicht auf der Tiere Verſtand pochen, ſondern ausdrücklich zu einem „unerklärlichen Ahnungsvermögen" derſelben ihre Zuflucht nehmen. . . . .

Der Vogel wandert im allgemeinen zum Süden, aus unſeren Gegenden etwa zum warmen Afrika, um dort das Ungemach und die Not des heimatlichen Winters ſpurlos an ſich vorübergehen zu laſſen. Allein auch dort iſt ſein Verhalten allen unſeren Forſchern nicht gehörig klar. „Warum", fragt ein Afrikareiſender, „warum gehen manche unſerer Zugvögel ſo außerordentlich weit in das glühende Afrika hinein? Es iſt unleugbar, daß ſie auch weiter nördlich Nahrung im Überfluß finden würden, und dennoch gehen ſie Hunderte von Meilen weiter. Was ſuchen ſie im Innern, da ſie das ihnen Nötige doch auch ſchon weiter, viel weiter nördlich finden können? Das Warum hat noch keiner erforſcht." Wenn dieſe letzte Behauptung, ſeit jener dieſes ſchrieb, noch wahr iſt, ſo will ich der erſte ſein, der, ohne freilich an Ort und Stelle geforſcht zu haben, einen, wie ich glaube, nicht unvernünftigen Grund dafür aufſtellt. Der Vogel handelt nie in *menſchlicher* Weiſe, reiſet nicht *mit Abſicht* irgend wohin, um dort ſein Glück zu machen, non agit, wir wiederholen den Satz, sed agitur, er wird zu beſtimmtem Zwecke verwendet, und dieſer iſt hier ein *doppelter*: erſtens wird er ſelbſt vor dem Hungertode, der in ſeiner Heimat ſein Los ſein würde, geſchützt, und dieſer Zweck könnte gewiß ſchon weit nördlicher erreicht werden;

zweitens aber ist er bestimmt, durch Verzehren seiner Nahrung als wohltätige, ja notwendige Hemmung auf seine Umgebung einzuwirken. Wir haben auf letzteres mehrfach hingewiesen, z. B. als wir von dem Zwecke des Sichscharens unserer Körner- und Beerenfresser sprachen. Ohne diesen Eingriff von seiten der Vögel und ohne diese Hemmung in der Lebensentfaltung der umgebenden Natur würde sehr bald das Gleichgewicht in der Natur auf die empfindlichste Weise gestört sein. In ihrer Heimat wirken die Vögel in dieser Weise während derjenigen Jahreszeit, in welcher diese störende Macht fremden Lebens in so unerschöpflichem Maße sich entfaltet und sich entfaltet hat; nach fremdem Lande aber werden sie aus ganz denselben Gründen dirigiert: also nicht bloß, damit sie selbst erhalten werden, sondern wahrlich nicht minder, um auch dort dieses wichtige zweite Amt energisch zu verwalten, und zwar ebenfalls genau zu der Zeit, wann sich die übergroße Masse von Tier- und Pflanzenleben in unerhörter Fülle dort erschließt. Derselbe Grund also, welcher die das Gesäme abweidenden Vogelscharen hier bei uns notwendig macht, läßt auch dort aus den verschiedenen Landen diese Kontrolleure der übrigen Natur zusammenströmen. Wollten nun aber alle diese Zugvögel dort, also im unteren Niltale, verbleiben, so könnten sie sich nach obiger Behauptung, der zu mißtrauen wir keinen Grund haben, da jener ja an Ort und Stelle war, dort, wie eben zugestanden, allerdings wohl hinreichend nähren; allein die südlicher gelegenen Gegenden blieben dann ohne der Vögel wohltätigen Einfluß. Ruht eine höhere lenkende Hand über dem Ganzen und sorgt diese deshalb nicht bloß für die Heimat des Vogels und für Nordafrika, sondern nicht minder auch für die südlichen Gegenden dieses Weltteiles, so kann es uns nicht mehr merkwürdig und unerklärlich erscheinen, warum unsere Polizei auch dorthin gesandt wird. Mir will es erscheinen, als sei diese sonst schwer begreifliche Tatsache eine Naturnotwendigkeit und als solche schon allein für sich vollkommen ausreichend, um einzusehen, daß das Tier nicht in seinem eigenen Namen, sondern in höherem Auftrage handelt. Die Vögel also verweilen in ihrer Heimat wie in ihrem Winterquartiere nicht bloß, um selbst satt zu werden, sondern auch, um mit sicherer und gewichtiger Hand einzugreifen in das Getriebe der sich entfaltenden Natur; dazu ihre bewunderungswürdige Verteilung nach Arten und Individuen, dazu ihr so äußerst verschiedener Aufenthalt in den verschiedenen Jahreszeiten, dazu ihr Trieb, stets vereinzelt zu leben oder sich zeitweise zu ungeheuren Flügen zusammenzuscharen, dazu überhaupt ihre sämtlichen Lebensäußerungen. Wir sind vollkommen gewiß davon, daß unsere Luftreisenden, welche Hunderte von Meilen weiter in das glühende Afrika hineinziehen, als ihre eigene Existenz es erheischt, dort ebenso notwendig sind, als diejenigen Scharen, welche sich bei uns den Winter hindurch umhertreiben, für unsere Gegend.

## 80. Der Wiedehopf.

Von K. Ruß.

Meine Freunde. Lebensbilder und Schilderungen aus der Tierwelt. Berlin 1878. S. 15.

Der dunkel-wundervolle Waldesdom hat uns aufgenommen in seine herrlichen Hallen. Wenn irgendwo, so tritt uns hier in der trauten Waldeseinsamkeit die hehre Stille und feierliche Ruhe der Natur recht wohltuend entgegen. Es müßte wahrlich ein eisiges Herz, ein verstocktes Gemüt sein, das teilnahmlos und gleichgültig bleiben wollte für die hohe Schönheit und Größe der Natur inmitten eines prächtigen Hochwaldes.

Sehr früh sind wir herausgewandert; der soeben anbrechende Tag beginnt in den ersten einzelnen Stimmen sich zu regen. Doch keineswegs stören diese Laute die Waldesstille, gerade sie machen sie uns noch weit mehr fühlbar. Die holde Botin des auf den Flügeln eines lauen Märzwindes daherziehenden Frühlings, die sangesreiche Grasdrossel, läßt ihre Freudenrufe das Waldtal weithin durchschallen. Und von allen

Seiten erheben sich gleichsam antwortende Töne, von allen Seiten wird's regsam und lebendig. Fink und Rotkehlchen, Hänfling und Bachstelze, sie schmettern und zwitschern in die Wette, und viele, viele andere singen und klingen, so gut und brav, als ihnen die Schnäbel gewachsen sind. Dazwischen läutet unaufhörlich das silberne Frühlingsglöckchen der Finkmeise, das alle Schläfer zu wecken und alle noch in der Ferne weilenden Genossen zu rufen scheint: kommt, kommt, freut euch der herrlichen Frühlingszeit, freut euch des schönen Lebens!

Immer lauter, immer volltöniger wird der Sing und Sang, das Liebe-, Wonne- und Freudenkonzert rings um uns her. Immer neue Laute erwachen und immer neue Stimmen fallen ein. Auch die kleine und allerkleinste Welt der Amphibien und Kerbtiere beginnt, von den wärmenden Sonnenstrahlen belebt, sich zu rühren und zu melden. Bald summt und surrt, pfeift, zirpt und zischt es rings allenthalben, und in dem Getön der tanzenden Mückenschwärme verschwimmt so melodisch das „hung, hung!" der Unken im fernen Teiche. Dennoch ist das so viellautige Frühlingskonzert noch immer nicht vollständig — da ja gerade die zartesten und lieblichsten der befiederten Sänger noch nicht heimgekehrt sind von der weiten Reise. Vor allen fehlt noch der neckische und doch so lieb und traut die ganze Stimmenmannigfaltigkeit durchhallende Ruf des Kuckucks.

Inzwischen ist's wieder stille geworden im tiefen, dunkeln Walde. Sobald die Sonne höher gestiegen, ist eine der Stimmen nach der andern verstummt, und nur das einförmige Summen der vielgestalteten Kerbtierwelt erstirbt in dem linden Rauschen des Windes in den dichten Kronen der alten Föhren. Während wir, langsam dahinschlendernd, uns dem Vorholz nähern, welches an weite Wiesen und Triften grenzt, hören wir plötzlich einen neuen, uns ganz unbekannten Ruf. Fast glauben wir, es sei der eines Kuckucks aus der Ferne; allein dies kann ja nicht der Fall sein, da jener weichliche Vogel noch gar nicht angekommen ist. Bei aufmerksamem Lauschen hören wir, daſs dieser Ruf nicht bloſs schwächer als der des Kuckucks, sondern auch, anstatt gleich jenem nur zweisilbig, als ein dreilautiges „huphuphup!" erschallt. Wir schleichen vorsichtig und lautlos näher und bleiben dann hinter einem hohen und dichten Wacholderbusche stehen, bis sich uns auf der den Waldesrand begrenzenden Trift endlich jener geheimnisvolle Rufer zeigt.

Dort weiterhin weiden Rinder, und an einer Stelle zwischen ihnen und dem Walde erblicken wir einen wunderlichen Vogel, der sogleich unsere volle Aufmerksamkeit in Anspruch nimmt. Es ist ein Wiedehopf, ein gelb-roter, schwarz und weiſs gestreifter oder gehänderter Vogel mit einer schönen, in eine schwarze Spitze auslaufenden Federtolle und langem, spitzigem Schnabel. Während wir uns still und regungslos verhalten, treibt er dort sein drolliges Spiel, an dem wir uns je länger desto mehr ergötzen. Mit den seltsamsten Verbeugungen läuft er auf der Erde hin und her, läſst die Flügel halb herunterhängen, klappt den Federbusch abwechselnd auf und nieder. Dann erhascht er hurtig einen Käfer, verzehrt ihn jedoch keineswegs so ohne weiteres, sondern nachdem er ihn totgedrückt, wirft er ihn in die Luft empor, fängt ihn dann tief im Schnabel auf und schluckt ihn hinunter. Mit einemmal fährt er höchst erschreckt empor — ein über ihm hinflatterndes Meischen hat ihm Furcht eingejagt. Noch weit ängstlicher zeigt er sich, als eine Krähe daherzieht, denn sobald er sie erblickt, huscht er schleunigst in einen dichten Baumwipfel. Und erst nachdem die vermeintliche Gefahr vorüber, läſst er sein schwermütiges „huphuphup!" erschallen und fliegt wieder auf die Trift hinab.

Allerdings hat er aber auch Ursache dazu, so furchtsam zu sein, denn seines nicht sehr gewandten Flugs wegen ist er den Angriffen vieler Raubvögel ausgesetzt. Dafür hat ihn die Natur aber mit einer ganz eigentümlichen List ausgestattet. Nachdem wir seinem beweglichen, lustigen Spiele noch eine Weile zugeschaut, ist er mit einemmal unseren Augen entschwunden. Erst nach einigem Suchen finden wir ihn nun in ganz

sonderbarer Lage; er hat sich platt auf die Erde geworfen, Flügel und Schwanz weit ausgebreitet, den Kopf emporgebogen und den Schnabel in die Höhe gerichtet. So gleicht er auf das täuschendste einem Häufchen verfärbter Blätter oder einem bunten Lappen — und wie er in dieser Weise uns, wenn auch nur für Augenblicke getäuscht, so gelingt ihm dies noch besser mit dem vorüberstreifenden Habicht, der ahnungslos über ihm dahinzieht. Erst nach einer geraumen Zeit erhebt sich der Wiedehopf wieder, flüchtet der Sicherheit wegen doch noch hurtig in den Kieferwipfel und läfst erst hier ein fröhliches „wäck, wäck!“ hören.

Der Wiedehopf ist ein überaus nützlicher Vogel, welcher von den Larven oder Maden der allerschädlichsten Kerbtiere und von diesen selbst sich ernährt. Dabei ist es merkwürdig, dafs er alle seine Beute des langen, zangenartigen Schnabels wegen in die Höhe werfen mufs, um sie verschlingen zu können. Er lebt bei uns in Deutschland fast überall, mindestens in allen den Gegenden, wo Wiesen und Ebenen mit Waldungen wechseln; doch ist er eigentlich immer nur selten zu finden. Im Morgenlande ist er viel häufiger und auch gar nicht so scheu und furchtsam wie bei uns; in der Levante soll er sogar oft geschossen und gegessen werden. Seine Heimat erstreckt sich über fast ganz Europa, Nordafrika und einen Teil von Asien.

Ungeachtet er niemals bei uns zahlreich vorkommt und noch dazu seines schenen Wesens wegen nur selten genau beobachtet werden kann, spielt er doch im Volksleben und sogar in der Volkspoesie eine grofse Rolle. Schon Älian erzählt von ihm: „Ein freundlicher Vogel, der wohl weifs, dafs er früher ein Mensch gewesen (König Tereus von Thrakien wurde bekanntlich in einen Wiedehopf verwandelt) und sein Nest nicht nur in Einöden und Gebirgen hant, sondern es auch, um die Menschen davon abzuhalten, mit widerlichem Schmutze bestreicht. Ein Wiedehopf hatte einst sein Nest in eine Mauerspalte gebaut, welche ein Mann mit Lehm zumauerte. Doch als der Vogel das Nest verschlossen fand, suchte er sich ein Kräntlein, bei dessen Berührung sofort der Eingang sich öffnete. Dies Verschliefsen und Öffnen wiederholte sich dreimal; doch der arglistige Mann sammelte sorgfältig das Kräntlein und gebrauchte es, um die Turen von Schatzkammern zu öffnen und die Schätze zu stehlen.“ Wem fällt da nicht unwillkürlich das ähnliche Märchen vom Schwarzspecht mit dem Öffnungskrante ein —?

Ungleich hübscher ist der Volksglaube, der uns den „Vogel Hophop“ als des Kuckucks Küster erscheinen läfst, der, einige Tage früher ankommend, als jener ehrwürdige Meister und auch einige Tage später als er abziehend, gleichsam als sein Gehilfe bei verschiedenen feierlichen Handlungen gilt. Nach anderer Auffassung wird er auch des Kuckucks Knecht genannt.

Aufserdem hat ihm der Volksmund noch eine ganze Reihe von Namen beigelegt: Puppergesell, Gänsehirt, Herdenvogel und aufserdem Stinkvogel oder -hahn, Schmutzhahn, Dreckkrämer, Dreck- und Kotvogel. Den ersteren, sowie die in allen Sprachen ähnlich lautenden: Wiedehopf oder Wiedehopp, hat er jedenfalls von seinen Rufen erhalten. Um die letzteren aber zu verstehen, müssen wir ihn noch einmal aufsuchen, und zwar so recht inmitten seiner Tätigkeit.

Mehrere Wochen später gehen wir wieder nach dem Walde hinaus. An dem neben der Viehweide sich hinziehenden Waldrande fällt uns plötzlich ein aufserordentlich übler Geruch auf. Unseren Widerwillen überwindend, gehen wir demselben nach und entdecken mit seiner Hilfe einen hohlen Baum, in dessen Tiefe das Nest unseres Freundes sich befindet. Hier allerdings, im Anschauen und Anriechen dieser Herrlichkeit, möchten wir, trotz aller seiner Vorzüge — seines aufserordentlich grofsen Nutzens für den Haushalt der Natur, seines so allerliebst schnurrigen Gebarens und seines hübschen Gefieders — doch ein für allemal auf die Freundschaft des Wiedehopfes verzichten; allein unser Forschergeist gibt dies nicht zu.

Wären wir etwas früher gekommen, so würden wir in der Höhlung, gleichviel ob in einem Baume, Felsen- oder Mauerloch, ein nur mit wenigen Halmen und Federchen

ausgelegtes Nest und in demselben fünf grünlich-weifse oder bläuliche Eier gefunden haben. Jetzt sitzen bereits Junge darinnen, und rings um dieselben hat sich ein abscheulicher Wall von ihrem Unrat aufgehäuft, der ihnen und auch den Alten ebenden häfslichen Duft verleiht. Nach der Angabe mehrerer Naturforscher soll derselbe zwar nicht hiervon allein, sondern von einer ammoniakalischen Feuchtigkeit herrühren, welche das Weibchen aus einer Drüse absondert. K. Rnfs hat mehrere Wiedehopfe (freilich nicht gerade zur Brütezeit) erlegt, doch dies niemals ergründen können. Auch die hervorragendsten Vogelkundigen sagen hierüber nichts. Dem sei indessen, wie ihm wolle, — dieser Geruch und ebenso sein Herumstöbern auf den Triften, wo er die Käfer, Maden und anderes aus dem Dünger heraussucht, sind die Ursachen, dafs man ihm soviele, nicht besonders schön klingende Namen gegeben.

Im übrigen ist der Wiedehopf ein durchaus sauberer Vogel, der sich stets ein reines, glänzendes Gefieder erhält und auch später den häfslichen Duft völlig verliert. Deshalb hat man ihn sogar als Stubenvogel gern. Jung aufgezogene werden sehr zahm und gewähren in ihrem drollig-lustigen Betragen viel Vergnügen. Es sei jedoch fern von mir, die Leser dazu anzuregen, dafs sie junge Wiedehopfe sich zu verschaffen suchen und solche wohl gar den ohnehin Unheil genug in der Vogelwelt anrichtenden Hirtenhuben abkaufen sollen. Im Gegenteil, nachdem ich noch besonders darauf hingewiesen, dafs er auch zu den Vögeln gehört, die den bekannten Engerlingen oder Maikäferlarven, den Maulwurfsgrillen und anderen der allerschädlichsten Kerbtiere, namentlich den so sehr üblen harten Rüsselkäfern, welche in den Waldungen argen Schaden anrichten und nur wenige andere Feinde haben, emsig nachstellen, sei sein Schutz allen Natur- und Menschenfreunden dringend an das Herz gelegt! Alle Land-, Garten- und Waldbesitzer wollen recht sorgsam über ihn wachen und nicht nur das Ausstören seines Nestes, das Fortschiefsen der alten und jungen Wiedehopfe verhindern, sondern für die Hegung und Vermehrung der so wichtigen Vögel auch dadurch Sorge tragen, dafs sie an den Waldrändern, in der Nähe von Triften und Lehden alte, hohle Bäume stehen lassen, oder passende Nistkästchen für sie aufhängen.

Der alte, für seine Brut zärtlich besorgte Wiedehopf hat uns unterdessen durch sein ängstliches „örr!“ mehrmals daran gemahnt, seine Jungen nicht länger durch unsere Gegenwart in Furcht zu setzen. Wir wenden uns nun auch gern hinweg, dem tiefsren Walde wieder zu. Mit den höher steigenden Schatten beginnen sich jetzt alle Stimmen wieder zu regen, welche an jenem Morgen unsere Brust mit Entzücken erfüllten, und noch viele neue dazu. Eine kleine, reizende Liete oder Waldwiese breitet sich vor uns aus, an deren Rande sich eine stattliche, vielhundertjährige Eiche erhebt. Und auf den schwellenden Polstern des sie umgebenden Moosteppichs lassen wir uns nieder, um einen wundervollen Frühsommerabend in trauter Waldeinsamkeit zu verleben.

Allmählich ersterben die Stimmen der in den Gebüschen rings um die Wiese her singenden Grasmücken, Finken, Ammern u. a. m., eine nach der andern, nur noch der wundervolle Flötenton der Golddrossel hallt aus dem Vorholz herüber, dann und wann gleichsam ergänzt durch einen in der Ferne verschwimmenden Kuckucksruf. Dann aber erheben sich die Wonnelaute einer Meisterin der Waldabendlieder, der schönen Schwarzdrossel im Tannendickicht — so lieblich, dafs sie uns tief ins Herz dringen und an der Hand unserer wogenden Einbildung uns hinüberwiegen ins Reich der Poesie und Träume.

„Hupfupfupf!“ ruft über uns in der Eiche der alte Vogel leise; „hupfupfupf!“ flüstert er noch einmal und fächert mit dem schönen Federbusch und winkt uns mit dem langen Schnabel, als wolle er uns etwas erzählen. Und in den lispelnden Blättern wird's lebendig, in den wogenden Nebeln auf der Wiese regt und bewegt es sich. Eine schöne morgenländische Sage zieht in lichten Bildern an unseren Blicken vorüber. „Der Vogel Hudhud, eben unser Wiedehopf, war als ein verschwiegener, treuer Liebesbote bekannt und geschätzt. Besonders wert war er Sabas holder Königin und dem

König Salomo, die beide ihm gegenseitig so manches Geheimnis anvertrauten. Sie räucherten und erquickten ihn auch mit Ambra und Myrrhen und setzten den prächtigen Federbusch auf seinen klugen Kopf, zum Lohn aller seiner treuen Dienste. Aber ach, seine hohen Besitzer starben, und der verwaiste Vogel mußte sich einen anderen Zufluchtsort suchen. Er flog zum König Simurg auf dem Gebirge Kaf, der ihn ebenso freundlich aufnahm, ihn die List lehrte, durch Verstellung seinen räuberischen Verfolgern zu entgehen, und ihn dann hinaussandte in das ferne Abendland."

Immer höher steigen die Schatten, immer unbestimmter — damit aber auch gestaltenreicher — werden die Bilder ringsumher. Ein Häschen springt dicht vor uns auf den Fußsteig; dann treten Rehe auf die Wiese heraus, dicht neben uns in den Zweigen hüpft ein Nonnenmeischen hin und her, ein zutrauliches, herziges Vögelchen. Nach einer Weile rauscht ein Flug Dohlen vorüber — düstere und doch sehr nützliche Vögel. In dem dichten Gipfel einer hohen Buche kost girrend ein Wildtaubenpärchen, am Rande des die Wiese in malerischen Krümmungen durchwindenden Bächleins läuft eine Bachstelze mit wiegendem Schwanze, und eine Schar kleiner Goldhähnchen wispert in den Kiefernzweigen. Sie alle begeben sich jetzt heiter und froh zur Ruhe und suchen ihre Schlafstätten auf.

Noch können wir alle diese Tiere deutlich unterscheiden und uns ihres lieblichen Wesens erfreuen, doch immer dämmeriger wird's und immer stiller im weiten, schweigenden Walde. Auch die Schwarzdrossel ist schon verstummt, und nur das Rauschen des Abendwindes hallt daher, mehr fühlbar als hörbar. Dann werden hier und da neue Töne wach, das „huhu!" einer Eule, der Trompetenruf eines Reihers. Doch auch sie erschrecken und ängstigen uns nicht; wir kennen ihre Urheber ja genau und wissen sie nach Verdienst zu schätzen: die Eule zu den nützlichen, den Reiher zu den schädlichen Vögeln.

Immer dunkler wird es — wir müssen zum Heimgange aufbrechen. Noch einmal horchen wir auf das Rauschen der Bäume, das Flüstern der zur Ruhe gegangenen Vögelchen und das wunderliche Geschrei der Eule; noch einmal lassen wir alle Eindrücke des Waldabends an unserm inneren Auge vorüberziehen. Wir gehören nicht zu den Menschen, von denen es heißen kann: „Der Wind im Hain, das Laub am Baum jagt ihm Entsetzen zu"; uns erscheint der Wald überall schön und hehr, wie im lichten Sonnenschein, beim süßen Geschmetter seiner befiederten Heerscharen und dem fröhlichen Ruf: „kuckuck, kuckuck!" so auch in der feierlichen Dämmerstunde bei den Waldabendliedern der Schwarzdrossel und dem schwermütigen „huphuphup!" des Kuckucks-Küsters. Und nicht minder wohl fühlen wir uns in seinen Hallen in der schwarzen, finstern Nacht, beim schauervollen Windesrauschen und der Eule schauerlichem „huhu!". Bevor wir aber aufbrechen, lauschen wir noch einen Augenblick dem sanften „zschip!" eines zutraulichen Rotkehlchens — das uns und der ganzen Menschenwelt eine Bitte zulispelt, eine innige Bitte, und eine ernste, dringende Mahnung zugleich: Schutz dem Walde und allem seinem Leben! Und zustimmend klappt der alte Wiedehopf seinen Federbusch auf und nieder. Gute Nacht, Huphuphup!

## 31. Der Löwe.

Von H. Masius.

Die Tierwelt. Essen 1862. S. 58.

Das Katzengeschlecht zeigt das Raubtier in höchster Vollendung. Ausgerüstet mit furchtbarer Stärke und seltener Schärfe der Sinne, voll List und Gelenkigkeit, dauernd im Lauf, unerreicht im Sprung, nicht zu sättigen in ihrem Blutdurst, sind

ſie recht eigentlich die Würger der Tierwelt. Ihre Formen, die bei unſerer Hauskatze in ſchmeichelnder Verkleinerung auftreten, vereinigen die weichſte Geſchmeidigkeit mit der zäheſten Spannkraft. Der geſtreckte Leib, jeder Windung fähig, hat auch in der lebhaft bunten Farbe und in der meiſt geringelten, gefleckten Zeichnung durchaus das Schlangenartige, welches dem Charakter dieſer Tiere ſo ſehr entſpricht. Die ſchleichend gekrümmten Füße bergen unter dichtem Haar die hervorſchnellenden Krallen. Der Kopf iſt kurz, faſt gerundet, das Ohr klein, das Auge leuchtend, die Zunge mit ſcharfen Warzen beſetzt. Ein langer, ringelnder Schweif erhöht den Ausdruck wilder Schönheit und dient zum Teil ſogar als Waffe. Das Gebiß zeigt oben vier, unten drei Backenzähne, vor denen ein meſſerſcharfer dreizackiger Reißzahn ſteht.

Die großartigſte Geſtalt dieſer Gruppe iſt der Löwe (Felis leo), ſeit uralten Zeiten als König der Tiere gefeiert. Mut, wenn auch nicht Großmut, Stolz und Beſonnenheit ſcheinen ihn über die Katzennatur zu erheben. Es iſt die Majeſtät des Schreckens und der Gewalt, die ihn umgibt. — Im Sumpfrohr, „wo Gazellen und Giraffen trinken", in einſamer, buſchiger Felſenkluft hat er ſein Lager. Dort liegt er während des Tages meiſt im Schlafe. Weckt ihn die Abenddämmerung, dann richtet das ſtolze Tier ſich auf, und nun erſchallt jenes Gebrüll, das die Herden heulen macht, und vor dem der Beduin im fernen Zeltdorf erſchrocken verſtummt. In der Tat kommt nichts aus dem weiten Reich der Töne dieſem Laute gleich, welcher den Mut und die Kraft des Mutigſten und Kräftigſten verkündet. Erſt dumpf röchelnd, faſt ſeufzend, ſchwillt er bald in langgezogenen Stößen an, bis er zuletzt donnergewaltig die Luft erfüllt. „Rad" (Donner) nennt deshalb auch der Araber das Löwengebrüll, und ſeine Sprache, ſonſt ſo überreich an Naturbezeichnungen, hat dafür nur dieſes einzige Wort. Sobald der erſte Ton erdröhnt, bergen die Tiere der Wildnis ſich angſtvoll, oder verſuchen zu fliehen, denn ſie wiſſen, daß der Löwe jetzt über meilenweite Strecken ſeinen Raubzug beginnt. Durch die dichteſte Finſternis glüht ſein ſtieres Auge her; von Minute zu Minute nähert ſich ſein Gebrüll; endlich in einem ungeheuren Sprunge ſetzt er über die ſechs Fuß hohe Wand des Pferchs, packt das Schaf, das Maultier, das Rind, und ehe noch die Wächter im Zelte ſich aufraffen, iſt er mit der Beute verſchwunden. Wo er der Herde nicht näher zu kommen vermag, belauert er den Eber, jagt er die Antilope, oder er ſchleicht der Karawane oder dem räuberiſchen Kabylen nach. Oft folgt ihm in ſcheuer Ferne das Geheul des Schakals, der von den Reſten des Königsmahles ſich ſättigt.

Daß der Löwe den Menſchen nicht angreife, iſt Fabel; wenigſtens wagt bei Nacht kein Araber, allein und ohne Waffen ſein Lager zu verlaſſen. Katzenartig ſtreckt er ſich zum Sprunge, der bis zu einer Weite von vierzig Fuß ſeines Zieles ſicher iſt, und mit *einem* Schlage ſeiner Pranken hält und zerreißt er das galoppierende Pferd ſamt dem Reiter. Daß ein ſolches Tier, welches jedes Menſchenleben bedroht und unter den Herden Verheerungen anrichtet, die nur nach Tauſenden abzuſchätzen ſind, Gegenſtand eifriger Verfolgung wird, begreift ſich von ſelbſt. Aber dieſe Jagd gehört zu den gefährlichſten. Denn

„Sein ruhmatmendes Herz kennt
Weder Furcht noch Entfliehn",

ſagt ſchon Homer, und der Jäger, der es mit ihm wagt, kann nicht anders gehen, als „mit dem Leben in der Hand". Unter den Europäern iſt der Franzoſe Gérard als Löwenjäger zu hohem Rufe gelangt; die Araber ſelbſt verehren ihn faſt wie einen Minotaurustöter. Er hat auf ſeine eigene Hand fünfundzwanzig Löwen erlegt und die anſchaulichſte, lebendigſte Beſchreibung des kühnen Dramas gegeben. Gewöhnlich beſchleicht ein ganzer Stamm von Beduinen wohlbewaffnet und vorſichtig das Lager des Löwen, welches die breite Fährte verrät. „Aus der Klaue den Löwen!" heißt es hier wörtlich. Denn wenn die geſpreiteten Finger einer Manneshand die Spur nicht decken, ſo weiß der Araber, daß er es mit einem volljährigen männlichen Löwen

zu tun haben wird; im Gegenteile erkennt er an der kleineren Fährte die Löwin oder den jungen Löwen. Das ſchlafende Tier erwacht inzwiſchen, denn es hat den Schritt des Feindes gehört. Es hebt den Kopf, ſchnellt empor, ſträubt die Mähne und antwortet mit einem markerſchütternden Gebrüll auf das herausfordernde Geſchrei der Araber. Dieſe haben ſich in große Gruppen verteilt, ſchießen ins Gebüſch und ſchmähen den Trägen. Da tritt der Löwe hervor und rings wird's ſchreckensſtill; aber jede Hand liegt am Gewehr. Er bleibt ſtehen, mit funkelnden Augen die Gegner meſſend, die ſich ſo dicht aneinanderdrängen, daß ein Burnus ſie bedecken würde; dann wandelt er grollend-ſtolzen Schrittes an den Feuerröhren einher, peitſcht mit dem Schweife die Erde, daß ſie ſtäubt, und verkündet mit einem neuen entſetzlichen Gebrüll den Talbewohnern die Schlacht, die ſich nun entſpinnt. Oft auch duckt er ſich zum Sprunge und ſchmiegt die gewaltige Geſtalt ſo dicht an den Boden, daß nur der Kopf aus dem dunkeln Mantel der Mähne hervordroht. In dieſem Augenblicke gilt es, den Meiſterſchuß zu tun. Auf einen Ruf des älteſten unter den Beduinen krachen dreißig Gewehre, und war das Glück günſtig, ſo rollt ſich das rieſige Tier wie eine Schlange unter dem mörderiſchen Regen und ſtirbt ohne Klage. Aber nur ſelten wird der Löwe ſo getroffen. Meiſt reizen ihn die Wunden zur raſendſten Wut, und er ſtürzt mitten in den Haufen der bleichen Männer, dem einen ein Auge, dem andern einen Arm ausreißend und über den dritten mit einem Schrei ſich herwerfend, der das Blut erſtarren macht. Dies iſt der furchtbarſte Augenblick. Den Vorderfuß auf die Bruſt ſeines Opfers geſtemmt, den Schweif hoch aufſchwingend, die Mähne wild geſträubt, ſo ſteht er triumphierend da. Von Zeit zu Zeit ſtreicht er ſeine große, rauhe Zunge über den Sterbenden, dann zieht er die Lippen zurück und bleckt das Gebiß. Unterdeſſen haben die Freunde des Unglücklichen die Mutigſten in der Schar zur Rettung aufgefordert, und ſie gehen in dichter Reihe, das Gewehr angelegt, den Finger am Drücker, auf den Löwen zu, der ſie kommen ſieht und erwartet. Aber um den zu Rettenden nicht zu töten, gilt es, dem Tiere ganz nahe zu kommen, ehe ein Schuß getan wird. Gewöhnlich opfert ſich ein Verwandter, der allein zu dem Löwen tritt und die anderen Jäger etwa zwanzig Schritte hinter ſich zurückläßt. Schwinden dem Löwen allmählich die Kräfte, ſo zermalmt er den Kopf des Mannes, der unter ihm liegt, und zwar in dem Augenblicke, als er das Rohr des Gewehres ſich zu ſeinem Ohre ſenken ſieht. Dann ſchließt er die Augen und erwartet den Tod. Fühlt er ſich dagegen noch ſtark, ſo beeilt er ſich, den Jäger in ſeinen Klauen zu töten, um ſich auf den Verwegenen zu ſtürzen, der jenem zu Hilfe zu kommen wagt.

Außer dieſer eigentlichen Jagd gibt es noch andere Weiſen, ſich des Löwen zu bemächtigen oder ihn zu erlegen. Die Buſchmänner belauern den Schlafenden und ſchießen ihn vom Gipfel eines Baumes herab mit vergifteten Pfeilen. Andere Stämme fangen ihn in Gruben, in denen er dann unter zahlloſen Flintenſchüſſen der Männer und unter Steinwürfen der Weiber langſam verendet. Kühne Beduinen erſchleichen auch wohl in Abweſenheit der Löwen das Lager derſelben und ſtehlen die Jungen. Sie wickeln die jungen Tiere in ihre Burnus, damit ſie keinen Laut von ſich geben können, und tragen ſie den Reitern zu, die am Waldſaume warten, um, mit den jungen Löwen vor ſich, den Räubern derſelben hinter ſich, ſogleich im geſtreckten Galopp davonzujagen. Aber auch ein ſolches Unternehmen iſt gefahrvoll. Im März des Jahres 1840 hatten ſich ſechzig Araber vereinigt, um die Jungen einer Löwin zu rauben. Es war ihnen geglückt, ſich der Tiere zu bemächtigen, und lärmend traten ſie den Rückweg an, da ſie von der entfernten Löwin nichts mehr fürchten zu dürfen glaubten, als der Scheik Sedek, der etwas hinter den Seinigen zurückgeblieben war, die Löwin aus dem Gebüſch heraus- und gerade auf ſich zukommen ſah. Er rief ſogleich ſeinen Neffen Mezaoud und ſeinen Freund Ali ben Braham zu Hilfe. Die Löwin aber warf ſich wütend dem herbeieilenden Neffen ent-

gegen. Dieſer ließ ſie herankommen und drückte dann ſein Gewehr ab. Das Gewehr verſagte. Mezaoud warf raſch die Waffe von ſich und ſtreckte der Löwin den linken Arm entgegen, um welchen er ſeinen Burnus gewickelt hatte. Die Löwin packte den Arm und zermalmte ihn unter ihren Zähnen; der mutige Jüngling aber ergriff unterdeſſen, ohne einen Schritt zurückzuweichen oder einen Schmerzenslaut auszuſtoßen, das Piſtol, das er unter dem Burnus trug, ſchoß der Löwin zwei Kugeln in den Leib und nötigte ſie ſo, ihn loszulaſſen. In demſelben Augenblicke aber ſtürzte ſie ſich auf Ali ben Braham, der ihr vergeblich mit einem Schuß den Rachen zerſchmetterte; er wurde an beiden Achſeln gepackt und niedergeriſſen und verdankte ſeine Rettung nur dem Tode der Löwin, die auf ihm verendete. Doch war ihm die rechte Hand durchgebiſſen und der Leib über der Rippengegend zerfetzt. Ali ben Braham lebt noch, aber verſtümmelt. Mezaoud ſtarb folgenden Tages an ſeinen Wunden.

Die Geſtalt des Löwen in ſeiner furchtbaren Schönheit iſt einer der dankbarſten Stoffe für Plaſtik und Malerei geworden. Wie die Dichter ſeit Homer immer wieder auf dieſes heroiſche Bild des Mutes und der Kraft zurückgegangen ſind, braucht nicht erwieſen zu werden. Erſcheint doch auch der Meſſias, den uns das Neue Teſtament als das Lamm zeigt, welches der Welt Sünde trägt, in der kühnen Bilderſprache des Alten Bundes als der zürnende Löwe von Israel. — Der Löwe erreicht eine Höhe von drei Fuß und eine Länge von fünf; der Schweif mißt zwei Fuß. Dennoch ſind die Formen desſelben trotzig-gedrungen und ſtraffer geſpannt, als die geſchmeidig-windenden Geſtalten des Tigers und des Leoparden. Vorzüglich ſchön iſt der koloſſale Kopf im Schmucke der wallenden Mähne. Seine Stirn, viereckig und gerade abfallend, gleicht einer ehernen Tafel; ſie hat mehr als Fußbreite. In der Mitte leicht vertieft, ſchwillt ſie in der Gegend der Augenbrauen an; aus dieſer „Wolke“ (wie es Ariſtoteles treffend nennt) drohet ſein majeſtätiſcher Zorn. Das Gebiß iſt von der Weiße des Elfenbeins, die Klauen ebenholzſchwarz. Das Gewicht ſeines Körpers wechſelt zwiſchen 500 und 600 Pfund, ſein Alter zwiſchen 30 und 50 Jahren. Der Löwe findet ſich in den heißen Zonen Aſiens und Afrikas; doch erträgt er, wie der bengaliſche Tiger, auch große Kälte.

Für den furchtbarſten gilt der dunkelfarbige (ſchwarze) der Berberei; für den ſeltenſten der mähnenloſe Löwe von Guzerate, deſſen Bild ſchon auf den Skulpturen von Perſepolis erſcheint.

## 82. Die Gemſe.

Von *F. v. Tſchudi.*

Das Tierleben der Alpenwelt. Leipzig 1854. S. 338.

Die Gemſen, die einzige Antilopenart Europas, ſind es vor allen anderen Tieren, die unſeren Hochgebirgen einen hohen Reiz verleihen; jene ſchönen, flüchtigen Felſenziegen, die in kleinen Herden durch die einſamſten Gegenden der Alpen ſtreifen, die höchſten Bergkämme reizend beleben und in ſauſenden Jagden über ſtundenlange Eisfelder dahinfliegen. Traulich und friedlich zum eigenen geſelligen Leben und harmlos gegen alle Geſchöpfe, würden ſie ſich den Herden des Alpenviehes zugeſellen und könnten gezähmt werden, wenn nicht das ſtets feindliche Auftreten des Menſchen ihnen eine faſt unüberwindliche Scheu gegen ihn eingeflößt hätte.

Die Gemſe iſt bekanntlich der Ziege ſehr ähnlich, beſonders der Alpenziege, unterſcheidet ſich aber von ihr durch die pechſchwarzen, hakenförmig gekrümmten Hörnchen, die längeren Beine, den geſtreckteren Hals und den kürzeren, gedrängteren Körperbau. Dieſer iſt im ganzen elaſtiſch, beſonders der Hals dehnbar. Auf allen vieren ſtehend, kann ſie ſich ſo in die Höhe recken, daß ſie ſechs Fuß hoch reicht, wobei ihre Schwere faſt ganz auf den Hinterfüßen ruht. Der Kinnbart fehlt ihr ſtets ebenſowohl als dem Steinbocke. Im Frühlinge iſt die Gemſe am lichteſten gefärbt, hell-, faſt weißlich-grau, im Sommer wird ſie rehfarben-rötlich-braun, im Herbſte dunkelt ſie allmählich ab, bis ſie im Dezember ſchwärzlich-braun-

grau, nicht ſelten ſogar kohlſchwarz wird. Mit der Färbung wechſelt ſie die Haare nicht jedesmal, und wahrſcheinlich beſtimmt die Verſchiedenheit der Nahrung, verbunden mit den Einflüſſen der Luft und mit der Wirkung des Lichtes, einzig die Farbenänderung. Von jedem der beiden großen, ſchwarzen, ſtark konvexen, höchſt ausdrucksvollen Augen läuft ein dunkelbrauner, breiter Strich nach der Schnauze. Im Winter wird der Pelz äußerſt dicht, die oberen groben und brüchigen Haare werden bei älteren Tieren an zwei Zoll lang. Die Füße der Gemſe ſind weit dicker, als die der Ziege; ſie kann die mit einer erhöhten Randeinfaſſung umgebenen Hufe, beſonders der Vorderfüße, ſtark auseinanderſpreizen, was ihr beim Lauf übers Eis oder auf ſchmaler Felſenſohle wohl zuſtatten kommt. Die Spitzen der ſehr feſten Hörner ſind ſcharf und fein, eine treffliche Waffe, mit der ſie ſich gegen Adler und Geier verteidigt und, wenn ſie gereizt wird, raſch den Hunden den Bauch aufſchlitzt, während ſie gegen Menſchen nie eigentlich kämpft.

Der gewöhnliche Sommeraufenthalt der Gemſen ſind die unwegſamſten und höchſten Teile der europäiſchen Hochalpen, der Pyrenäen, Karpathen und des ſüdlichen Kaukaſus. Im Sommer gehen ſie nicht ins Tal, wenn ſie nicht etwa verſprengt werden. Mit Tagesanbruch weiden ſie an den Bergwänden hinunter, bleiben gewöhnlich von 9 bis 11 Uhr am Rande ſenkrecht abfallender, oft belaubter Felſen liegen, ſteigen während des Mittags wieder langſam graſend in die Höhe, ruhen bis gegen 4 Uhr an der Schattenſeite rauher Schluchten, wiederkäuend, womöglich dicht am Schnee, den ſie außerordentlich lieben, und weiden den ganzen Tag wieder fleißig bis Sonnenuntergang. Am munterſten ſcheinen ſie aber im Spätherbſte und Vorwinter zu ſein. Dann haben wir ſowohl ganze Herden als einzelne Paare in den übermütigſten Spielen und Scheinkämpfen ſtundenlang beobachtet. Auf den ſchmalſten Felſenkanten treiben ſie ſich wie toll umher, ſuchen ſich mit den Hörnchen hinunterzuſtoßen, machen an einem Orte einen verſtellten Angriff, um ſich blitzſchnell auf einen andern, bloßgegebenen, zu ſtürzen, und necken ſich auf die mutwilligſte Art. Gewahren ſie aber, wenn auch in noch ſo großer Entfernung, einen Menſchen, ſo ändert ſich augenblicklich die Scene. Alle Tiere vom älteſten Bock bis zum kleinſten Zicklein ſind auf der Lauer und machen ſich fluchtbereit. Rührt ſich auch der Beobachter nicht von der Stelle, ſo kehrt doch den guten Tieren die Laune nicht wieder. Langſam ziehen ſie bergan, ſpähen von jedem Block, an jedem Abgrundsrande und laſſen keinen Augenblick die mögliche Gefahr aus dem Auge. Gewöhnlich gehen ſie dann ganz in die Höhe. Am Rande der oberſten Felſenkrone ſtellt ſich das ganze Rudel nebeneinander auf, guckt unaufhörlich in die Tiefe und bewegt die weißglänzenden Köpfe fortwährend bedenklich in den Lüften umher. Im Sommer ſieht man dann die Gemſen ſchwerlich wieder an dieſer Stelle; im Herbſte, wo die Gebirge einſamer ſind, jagen ſie oft ſchon nach einer Stunde wieder in hellem Galopp die Abhänge herunter und beziehen den alten Spielplatz. Während der Nacht liegen ſie in der Höhe zwiſchen Felſen und Blöcken, oft in Grotten und unter Steinvorſprüngen, am liebſten in kleine Truppe geſammelt. Wir haben bemerkt, daß ſie im hohen Sommer ſtets die weſtlichen und nördlichen Bergſeiten vorziehen, in den übrigen Jahreszeiten aber mehr die öſtlichen und ſüdlichen. Sowie im Herbſte der Schnee die freien Hörner der Alpen verſilbert und allmählich immer tiefer und tiefer ſich in die Bergweiden herunterzieht, ziehen ſich auch die Gemſen tiefer nach den oberen Bergwäldern zurück, bis ſie dieſelben im Winter als förmliche Standquartiere bezogen haben. Zu ſolchen wählen ſie gern die Südſeite des Gebirges, oft in der Nähe bloßer, ſteiler Halden, an denen der Wind den Schnee fleißig wegfegt; die breitäſtigen Schirm- oder Wettertannen, deren Arme faſt bis auf den Boden niederhängen und das lange dürre Gras vor Schnee ſchützen, ziehen ſie jedem andern Quartiere vor. Sowie aber der Frühling die Schneedecke der oberen Berge dünner macht, eilen dieſe Alpentiere zu ihren heimatlichen Höhen zurück und leben halb im Schnee und halb im Grünen.

Die Gemſen ſind in mancher Beziehung die „Renntiere des Gebirges", nicht nur wegen ihrer Genügſamkeit, ſondern auch wegen ihrer wunderbaren Schnelligkeit und zähen Lebensdauer. Wohin die gut kletternde Alpenziege längſt nicht mehr ſteigt, in den unzugänglichſten Grasbetten der ſteilſten Hörner, auf den fußbreiten Steinbänken, die bandartig ſich

von Felskuppe zu Felskuppe ſchlingen, da weiden die Gemſen, wie von der Natur beſtimmt, auch dieſen verloreuen Teil ihrer Pflanzengaben noch auszunutzen, behaglich das dürftige, aber kräftige und nahrhafte Kraut der Alp ab und werden gegen den Herbſt ſehr fett davon, 60, 80 bis 100 Pfund ſchwer. Außer dieſen Alpenkräutern ſind auch die jungen Triebe und Knoſpen der Alpenroſen, Alpenerlen, Weiden, Tannen, Wacholder ein gewöhnliches Gemſenfutter. Im Winter magern dann die Gemſen wie alle Alpentiere beträchtlich ab, zwar nicht gerade aus Mangel an Nahrung; denn dieſe findet ſich mit Ausnahme ganz kurzer Zeit während des ſtarken Schneefalles im ganzen Gebirge noch ziemlich reichlich vor, aber ſie hat geringeren Nahrungswert. Das lange, dürre Gras der lichten Vorwälder und der vom Winde reingefegten Schneeblößen, auch allerlei Moos und Flechten bieten keinen hinlänglichen Erſatz für die herrlichen Futterkräuter der Sommeratzung. Öfter wagen ſie ſich dann an die ſchneefreien Stellen ins Tal an Quellen und freſſen auch die langen meergrünen Bartflechten ab, die von den Wettertannen niederhängen, wobei ſich aber hin und wieder eine mit den Hörnern in den Äſten verwickelt, hängen bleibt und verhungert. In einigen Gebirgen finden ganze Gemſenherden an Heuſchobern die prächtigſten Futtervorräte, wo es Sitte iſt, das den Sommer über gewonnene Wildheu in den Alpen ſelber in eiförmigen Schobern im Freien aufzubewahren. Sehr oft ſammeln ſich die Gemſenfamilien in der Nähe dieſer trefflichen Magazine und freſſen ſo große Löcher hinein, daß ſie ſich in denſelben zugleich vor den Winterſtürmen ſchützen können. Kommen dann vor der Schneeſchmelze die Wildheuer an die ausgehöhlten Stöcke, ſo fliehen die wohlgenährten Tiere luſtig und pfeifend über alle Grate davon. Auch vom Durſte haben die Gemſen nicht zu leiden, da ſie überall gern die Eiszapfen belecken und häufig die Naſe in den Schnee ſtecken. Wie alle Wiederkäuer lieben auch ſie das Salz in hohem Grade und beſuchen deshalb beſonders gern die „Sulzen“ oder Kalkfelſen, an denen ſich Bitterſalz findet, wo ſie ſich oft ſo durſtig lecken, daß ſie wie toll zum erſten beſten Waſſer laufen müſſen, um zu trinken.

Wie die meiſten Tiere ihrer Art, leben die Gemſen geſellſchaftlich zu fünf, zehn bis zwanzig Stück beieinander. Früher waren Rudel von ſechzig Stück keine große Seltenheit. Sie ſind muntere, zierliche, höchſt kluge Tiere. Jede ihrer Bewegungen verrät außerordentliche Muskelkraft, Behendigkeit, Friſche und Anmut. Doch iſt dies beſonders dann der Fall, wenn das Tier aufmerkſam oder im Sprung iſt. Sonſt ſtehen ſie oft krummbeinig und unſchön da, namentlich in der Gefangenſchaft, und ziehen matt die Beine nach ſich; ſie ſind lau, wie die Jäger ſagen, und haben auch auf der Ebene einen faulen, ſchleppenden Gang. Aufgeſcheucht aber nehmen ſie blitzſchnell eine andere Natur an und gewinnen in kühner Haltung etwas Schwunghaftes und Geiſtvolles. Ihre Muskeln werden ſtramm und elaſtiſch wie Stahlfedern, und mit dem Winde fliegen ſie in herrlichen Sätzen über Kluft und Eis. Man muß ſie ſelber geſehen haben, um ſich einen Begriff von ihrer ſtaunenswerten Schnellkraft, von der unbegreiflichen Sicherheit ihrer Bewegungen und Sprünge machen zu können. Von einem Felſen zum andern ſetzen ſie über weite und tiefe Klüfte und halten ſich im Gleichgewichte auf kaum zu entdeckenden Unebenheiten, ſchnellen ſich mit den Hinterfüßen auf und erreichen ſicher den fauſtgroßen Abſatz, dem ſie feſten Auges zuſpringen. Iſt die Gemſe ſtark angeſchoſſen, ſo ſondert ſie ſich von der Herde ab, zieht ſich zwiſchen verborgenes Geſtein zurück, leckt ſich unaufhörlich und wird leicht heil, oder ſie verendet in unerſteiglicher Kluft ohne Gewinn für den Jäger.

Ihr außerordentlich ſcharfer Geruch, ihr Geſicht und feines Gehör und ihr höchſt ausgebildeter Ortsſinn ſchützt die Gemſen vor vielen Gefahren. Wenn ſie truppweiſe lagern, ſo ſtellen ſie eine Wachtgemſe aus, die, während die übrigen weiden oder ſpielen, in einiger Entfernung allein weidet, jeden Augenblick ſich umſieht und witternd die Naſe in die Luft ſtreckt. Ahnt ſie Gefahr, ſo pfeift ſie hell auf, und die übrigen fliehen ihr im Galopp nach. Es iſt ein heller, ſchneidender, etwas gezogener Ton, der wahrſcheinlich durch die Vorderzähne entſteht. Das ſchärfſte Sinneswerkzeug der Gemſen iſt ohne Zweifel ihr Geruchsvermögen. Sie wittern den Jäger, der im Winde ſteht, in ungeheurer Entfernung ſowohl von

der Seite her als aus der Tiefe, da die in die Höhe ſteigende erwärmte Talluft ihnen die Ausdünſtung des Menſchen zuträgt. Dann wird ſofort alle Sinnenſchärfe aufs äußerſte geſpannt, um den Ort der Gefahr ausfindig zu machen. Das Ohr und das Auge wetteifert mit der ſchnobernden Naſe. Der endliche Anblick des Jägers beruhigt ſie; ſie betrachten ihn einen Augenblick neugierig. Bewegt er ſich nicht, ſo ſtehen ſie auch ſtille; ſobald er ſich aber rührt, nehmen ſie nach einer gewohnten Richtung und nach einem bekannten, nicht allzu fernen Rettungsorte die Flucht. Dabei geſchieht es ſehr ſelten, daß das fliehende, erſchrockene Tier ſich im Sprunge an Felswänden hin verirrt, wo es nicht mehr vor- und rückwärts kann. Dann balanciert es, mißt raſch den nächſten Abſprung, legt ſich auf dem Felſen faſt auf den Bauch und verſucht es, das Unmögliche möglich zu machen; es ſpringt in den Abgrund und ſucht einen auch nur fauſtgroßen Vorſprung zu erreichen, um die Schärfe des Falles durch wenigſtens augenblickliches Aufſtehen zu mildern. Hat es auch dazu keine Gelegenheit, ſo läßt es ſich dennoch hinunter und zwar mit zurückgedrängtem Kopf und Hals, die Laſt des Körpers auf die Hinterfüße ſtemmend, die dann ſcharf am Felſen hinunterſchnurren und ſo die Schnelligkeit des Sturzes möglichſt aufhalten; ja die Geiſtesgegenwart des Tieres iſt ſo groß, daß es beim Gewahren eines rettenden Vorſprunges im Falle mit Leib und Füßen noch rudert und arbeitet, um ihn zu erreichen, und ſo im Sturze eine krumme Linie beſchreibt. Oft zerſchellen dann die Gemſen; doch iſt es ſicher, daß ſie über 16—18 Fuß breite Klüfte ohne Anſtand ſetzen, Sprünge in eine Tiefe von 24 Fuß und darüber ausführen und über 14 Fuß hohe, ſenkrechte Mauern in einem Satze ſpringen, wobei ſie auf der andern Seite ſogleich leicht auf allen vieren ſtehen. Auf weichem Schnee, wo ſie tief einfallen, oder auf klaren Gletſchern gehen ſie langſamer, ſind daher auch hier am beſten zu jagen. Am vorſichtigſten aber gehen ſie auf dem Firnſchnee, oder auf friſchem Gletſcherſchnee, der die Schlünde verräteriſch verhüllt. Hier hat man ſie oft umkehren ſehen, wo Menſchen behutſam vorwärtsgehen. Selbſt beim Ruhen ſtrecken ſie ſich nur ſehr ſelten ganz platt auf dem Boden aus; ihre gewöhnliche Haltung iſt zu augenblicklicher Flucht bereit. Sie liegen auch gern in lichtem Gebüſch, um ſich ſicherer zu verbergen, doch am liebſten an einer Terraſſe, wo der Rücken gedeckt iſt, die Seiten frei ſind und vorwärts ſich ein freier Überblick über das Gelände bietet.

Die Gemſenziege wirft unter einem trockenen, verborgenen Felſenvorſprunge ein Junges, ſelten zwei. Dieſes folgt der Mutter alsbald über Stock und Stein, und wenn es zwölf Stunden alt iſt, vermag es der Menſch ſchon nicht mehr einzuholen. Wird aber die Mutter erlegt, ſo kehrt das Junge gewöhnlich zu ihrer Leiche zurück und läßt ſich bei ihr ergreifen. Es iſt nicht ſchwer, junge eingefangene Gemſen zu zähmen. Sie erhalten zunächſt Ziegenmilch, dann feines Gras und Kräuter, auch Kohl, Rüben und Brot. In ihrem Benehmen haben ſie viel Ziegenartiges, meckern wie die Zicklein, folgen dem Herrn treulich nach, vertragen ſich mit den Hunden und nehmen ſelbſt von Fremden Speiſen an. Die Hörnchen brechen im dritten Monat hervor; ausgewachſen iſt der Hörnerſchmuck aber erſt im dritten Jahre. Die Färbung iſt lichter als bei den alten. Sie lieben in ihrem Einfange etliche Steinabſätze, auf denen ſie ſich gern poſtieren. Im Winter darf man ihnen kein warmes Lager bereiten, ſondern bloß unter einem offenen Dächlein ein wenig Streu. Mitten im Winter liegen ſie am liebſten unter dem offenen Fenſter, durch welches der Wind mit Schneegeſtöber luſtig hineinpfeift. Sie werden weder ſo alt, noch ſo kräftig wie die freien Gemſen; oft bricht auch bei ihnen die angeborene Wildheit wieder hervor, und ſie verletzen Fremde mit ihren Hörnern gefährlich.

Außer dem Menſchen verfolgen die großen Raubtiere gern die Gemſen. Im Engadin geſchah es, daß ein Bär einer Gemſe bis ins Dorf nachlief, wo dieſe ſich in einen Holzſchuppen rettete. Im Winter, wo ſie ſich in die einſameren Wälder zurückziehen, lauert ihnen der Luchs eifrig auf; im Sommer iſt ihnen der Lämmergeier und etwa der Steinadler gefährlich. Jener hebt die Jungen leicht in die Lüfte und ſucht die Alten, die am Rande der Abgründe weiden, mit den Flügeln hinunterzuſtoßen, um ſie in der Tiefe zu verzehren. Auch geſchieht es nicht ſelten, daß eine Lawine eine ganze Herde überraſcht und verſchüttet, oder loſe

Steine, die während des Frühlings und Sommers überall von den Höhen stürzen, einzelne erschlagen.

In allen Teilen der Alpen sind die Gemsen noch viel häufiger, als man gemeinhin glaubt, da man bei Alpenreisen im Sommer ihrer nur wenige gewahr wird, und die oft ausgesprochene Befürchtung, es möchten die Gemsen in einigen Jahrzehnten wie die Steinböcke ausgerottet sein, ist durchaus unbegründet. Solange die Alpen stehen, werden sie auch Gemsen beherbergen. Abgesehen von der Schwierigkeit der Jagd und von der sich entschieden immer mehr verringernden Anzahl eigentlicher Gemsenjäger, schützt schon die Beschaffenheit ihrer Region die Tiere vor völliger Ausrottung ganz sicher. Dazu kommt der verhältnismäßige Schutz der Jagdgesetze, die immer größere Seltenheit der für die Gemse gefährlichen Raubvögel und Vierfüßler und endlich die außerordentliche Vorsicht, Klugheit und Schnelligkeit der Tiere, die in dieser Hinsicht den Steinböcken gar sehr überlegen sind. Wenn auch in der Schweiz alljährlich 600—700 Gemsen geschossen würden, was kaum der Fall ist, so würde der Gemsenstand dadurch allein nicht bedrohlich geschwächt werden.

## 83. Ameisenkriege.

Von L. Oken.

Allgemeine Naturgeschichte. Stuttgart 1835. Bd. V, Abt. 2, S. 960.

Obschon unter den Ameisen nichts als Liebe, Eintracht und Gleichheit zu herrschen scheint, so vertilgen sie dennoch einander, wenn sie sich zu sehr vermehrt haben; sie legen sich aber keine Schlingen, bedienen sich keiner Schlauheit und keines Auflauerns, wie viele andere Insekten, wodurch die harmlosen Ameisen oft selbst gefangen werden, sondern greifen im offenen Felde und mit wohlgeordneten Heeren einander an; auch wenn sie andere Insekten fangen, so geschieht es immer durch offenen Angriff. In heißen Ländern greifen sie selbst Mäuse und Ratten an, bei uns aber skelettieren sie dieselben, sowie die Eidechsen, nur wenn sie tot sind, und die Mai- und Roßkäfer sind die größten Tiere, an welche sie sich wagen. Ihre Waffen sind die Kiefer, der kleine Stachel und das saure Gift, welches eine schwache Röte auf der Haut verursacht. Die Arbeiter sind jedoch allein die kriegsfähigen, die anderen nehmen sogleich die Flucht, wenn es gilt. Die stachellosen beißen zuerst eine Wunde und suchen schnell ihren Hinterleib und das Gift hineinzubringen. Ist der Feind entfernt, so richten sie sich auf, schieben den Bauch zwischen den Beinen durch und spritzen das Gift, soweit sie können; so sieht man oft von der ganzen Oberfläche eines Haufens einen Regen von Ameisensäure in die Höhe fahren, der fast wie gebrannter Schwefel riecht. Unter allen Feinden fürchten sie aber andere Ameisen am meisten, und dabei sind die kleinsten nicht die, welche am wenigsten zu fürchten sind, weil sich mehrere zugleich an die Beine der größten hängen, sie herumzerren und an der Flucht hindern. In ihren Kämpfen muß man über ihre Wut erstaunen; sie lassen sich eher die Beine ausreißen, als daß sie nachgeben; oft bleiben abgerissene Köpfe oder ganze Tote an den Beinen der fortlaufenden hängen, so sehr haben sie sich eingebissen. Bei gleicher Größe werden die mit zweiringeligem Bauchstiel Meister, weil sie einen Stachel haben, wie z. B. die roten, deren Stiche dann mit Recht die Ameise fürchtet. Die Stachelameisen sind in unserer Gegend die kleinsten. Die größeren greifen die kleineren unversehens an, fassen sie oben auf dem Leibe und erwürgen sie mit den Kiefern; merken es aber die kleinen vorher, so holen sie die andern, welche in Masse herbeiströmen. Die Roßameisen kommen aus ihrem Baue bis vor die Tore der blutroten, welche um die Hälfte kleiner, aber viel zahlreicher sind, sich auch tapfer wehren, aber doch großenteils zugrunde gehen und dann oft über 50 Schuh weit ihre Wohnungen verlegen, indem sie alles mitnehmen, was ihnen wert ist. Unterwegs werden kleine Truppe als Wache ausgestellt, welche eine ankommende Roßameise sogleich anpacken; eine springt ihr auf den Leib, klammert sich um ihren Kopf und übergießt sie mit Gift; dabei wälzen sie sich über und über; endlich kommen

andere zu Hilfe und beißen sie tot oder nehmen sie gefangen. Will man aber regelmäßige Kriege sehen, so muß man in die Wälder gehen, wo die rotbraunen Ameisen ihre Herrschaft über alle vorbeigehenden Insekten behaupten und mit ihresgleichen von verschiedenen Nestern Krieg führen, wie es im Mittelalter benachbarte Städte getan haben. Manchmal rücken aus zwei Haufen, die über 100 Schritte voneinander entfernt liegen, die Heere so zahlreich aneinander, daß sie den ganzen Weg 2 Schuh breit bedecken und in der Mitte miteinander kämpfen. Tausende ringen einzeln miteinander und suchen sich mit den Kiefern in die Gefangenschaft zu schleppen. Das eigentliche Schlachtfeld hat 3 Schuh ins Geviert und riecht stark nach Ameisensäure; überall liegen Tote, mit Gift bedeckt, herum, während ganze Truppen und Glieder sich an Beinen und Kiefern halten und sich hin und her zerren. Der Kampf beginnt gewöhnlich zwischen zweien, die sich mit den Kiefern packen, sich gegeneinander aufrichten, um das Gift wechselseitig nach dem Feinde zu spritzen; dann fallen sie auf die Seite und ringen lange miteinander im Staube, bis endlich eine dritte herbeikommt und den Sieg entscheidet; aber bisweilen eilen mehrere dazu und packen sich an den Füßen, so daß oft sechs bis zehn aneinanderhängen. Gegen die Nacht ziehen sich beide Heere allmählich in die Städte zurück, indem sie die Toten liegen lassen, die Gefangenen aber mitnehmen. Vor Sonnenaufgang rücken sie aber wieder noch viel wütender gegeneinander, und das Schlachtfeld wird 6 Schuh breit; gegen Mittag kann der siegende Teil das Schlachtfeld 10 Schuh weiter gerückt haben. Die Kampfbegierde ist so heftig, daß man sie stören kann, ohne daß sie an einem hinlaufen. Das Wunderbarste dabei ist, daß sich die Ameisen erkennen und die Freunde von den Feinden zu unterscheiden wissen. Sie gehen zwar immer mit offenen Kiefern aufeinander los, greifen sich auch manchmal an, lassen aber gleich wieder ab und streicheln sich mit den Fühlhörnern, wenn sie zu einem Stock gehören. Während des Kampfes gehen dennoch alle Geschäfte im Neste vor, und immer schleppen die einen Gefangene nach Hause, während die anderen im Kampfe bleiben, und andere in den Wald gehen, um Nahrung zu holen. Kommt ein Regen, so ziehen sich die Heere zurück und vermeiden in der Folge die Nachbarschaft des anderen Haufens. Anders gestalten sich die Kriege der rotbraunen mit den blutroten. Diese erwarten jene in kleinen Truppen in der Nähe ihres Nestes, rücken dicht geschlossen vor, ohne sich zu trennen, und packen einzeln jeden Feind, der sich zu weit vorgewagt hat. Dieser Krieg ist sehr unterhaltend. Beide Parteien legen sich in den Hinterhalt und suchen sich zu überrumpeln. Rücken aber die rotbraunen mit Gewalt vor, so werden die zu Hause sogleich um Hilfe gebeten, und ein großes Heer dringt sogleich in Masse aus den Toren heraus, um die einzelne Schar des Feindes zu umzingeln. Das kann man wochenlang alle Tage sich erneuern sehen zwischen zwei ziemlich entfernten Haufen, wenn sie nur an demselben Zaune liegen und ihre Wege in das wechselseitige Gebiet streifen. — Die braunroten scheinen auch spielen zu können. An schönen Tagen sitzen sie haufenweise auf ihrem Neste in einer allgemeinen Bewegung, wie die des siedenden Wassers; jede schwingt die Fühlhörner mit erstaunlicher Geschwindigkeit und streichelt mit den Vorderfüßen sanft den Kopf der anderen; dann richten sie sich paarweise auf, ringen miteinander, werfen sich herum und fassen sich bald an den Kiefern, bald am Halse oder am Hinterleibe, ohne Gift auszuspritzen und ohne sich etwas zu tun; zuletzt lassen sie los und laufen auf eine andere zu, mit derselben zu ringen u. s. w. Bei anderen sieht man diese kriegerischen Spiele nicht. Man sieht sie vorzüglich auf solchen Haufen, die eine günstige Lage haben, in der Nähe von vieler Nahrung und Wasser, etwa von einem Zaune gegen feindliche Besuche geschützt. — Bisweilen sieht man auf dem Neste Ameisen, die sich herumdrehen, als wenn sie den Schwindel hätten, zwei, drei Minuten lang; dann laufen sie auf eine andere los, fassen sie am Bein oder Fühlhorn und lassen sie gleich wieder gehen, um nach einer anderen zu rennen; wahrscheinlich kommt das vom

Sonnenstich her. — Andere spielen miteinander wie Hunde, indem sie sich aufrichten, sich umdrehen, um sich auszuweichen, tun, als wenn sie sich beißen wollten, sich umwerfen u. s. w. Manchmal werden sie von einer besonderen Krankheit befallen. Sie können nicht mehr gerade gehen, sondern laufen immer in einem Kreise herum von 1 Zoll Durchmesser, wohl tausendmal in einer Stunde, und so sieben Tage lang, Tag und Nacht. Bisweilen nehmen sie etwas Honig, den man ihnen anbietet, laufen aber gleich wieder davon. Das tun jedoch nur einzelne. Andere Krankheiten hat man an ihnen nicht beobachtet.

## 84. Der Hering.

Von Th. Mügge.

Reise durch Skandinavien. Hannover 1844. Bd. II (Skizzen aus dem Norden), S. 23.

Kaum gibt es ein wunderbareres Geschöpf als den Hering, dessen Geschichte in den tiefsten Tiefen des großen Salzwassers noch gar nicht so genau erforscht ist, als man meinen mag. Unter allen den kaltblütigen Geschlechtern in beschuppter Haut ist das seine wahrscheinlich das zahlreichste; denn wer zählte die ungeheuren Schwärme, welche jährlich aus den Meerestiefen aufsteigen, an allen Küsten des nördlichen Europas erscheinen, zu Milliarden gefangen werden, zu Milliarden eine Beute der Raubfische und Vögel erliegen, und doch immer wieder in der gleichen, zahllosen Fülle zum Vorschein kommen. — Der Hering erscheint und verschwindet mit bewunderungswürdiger Regelmäßigkeit. Lebt er eine Zeitlang in dem hohen Polarmeere, hat er dort in Tiefen, wohin kein Senkblei reicht, seinen geheimen Staat gegründet, und zieht er von dort, wie die Reitervölker der Steppen, jährlich aus, um die Meere zu durchschwärmen? Man kann sich solchen Träumen hingeben, wenn man von den Heringskönigin hört, welche die Schwärme anführen und in ihren silberglänzenden Rüstungen ihnen vorausziehen. Die Heringskönige sind Sensenfische, welche zehn Fuß lang werden und häufig, als Prinzen und Herzöge, in Wahrheit den Kreuzzug zu leiten scheinen. — Man weiß nun wohl, daß der Hering im Frühjahr an die norwegische Küste schwimmt, um zu laichen, und wieder abzieht, sobald dieses Geschäft verrichtet ist; aber es erscheinen im Sommer und Herbst auch andere Scharen, entweder von solchen, die nicht Milch noch Rogen enthalten, oder Schwärme von junger Mannschaft, welche vielleicht von fernen Brütplätzen kommen, um ihren Weg in das große, submarine Königreich zu nehmen, wo junge Prinzen der herrschenden Familie sie in die Zahl ihrer getreuen Untertanen einregistrieren lassen.

Zu allen Zeiten aber ziehen einzelne, unermeßliche Heere aus, bald nach Schottland hinüber, bald in die Ostsee, bald an Hollands Küsten, bald in die Fjorde der Finnmarken, oder tief hinab an die norwegische und schwedische Küste, durch Kattegat und Sund, und so genau ist der Mensch von ihrem Kommen und Gehen unterrichtet, daß er alles vorher zu ihrem Empfange vorbereiten kann. — Woher sie kommen, wohin sie gehen, das weiß er freilich nicht; aber den Fischern und Kaufleuten ist es auch genug: sie sind da! und er eilt, diesen Besuch zu benutzen. — Merkwürdig ist es aber, daß eine fast regelmäßige Ab- und Zunahme der Schwärme bemerkt wird, als herrsche darin auch Ordnung und Gesetz; zuweilen auch verlassen sie aus uns unbekannten Ursachen auf eine Zeitlang oder für immer, manches Mal ganz plötzlich, die bisher stark besuchten Küsten und zeigen sich nicht wieder. So ist es Gothenburg gegangen, wo der Hering früher in zahlloser Menge erschien, und jetzt seit einer Reihe von Jahren nichts mehr gefangen wird. Die Fischer an der Küste sind verarmt; dagegen hat der Andrang des Tieres zur norwegischen Westküste, von Bergen bis Kap Lindesnaes, außerordentlich zugenommen. Möglich jedoch, daß sich dies periodisch ändert. Schon in diesem Jahre (1844) hatte man eine bedeutende Abnahme gespürt; es wurden 100000 Tonnen Heringe weniger gefangen als im vorigen.

Dagegen haben sich einige Streifpartieen wieder in den Gothenburger Scheren gezeigt, und vielleicht sind diese von einem mächtigen Heringskönige oder -kaiser abgeschickt worden, welcher nach ihren günstigen Berichten nun im nächsten Jahre eine seiner Horden dahin aufbrechen läßt, weil die Ursachen seines allerhöchsten Mißfallens verschwunden sind. Der arme schwedische Fischer jubelt bei diesen Hoffnungen, und Gothenburg, das schwer durch das Ausbleiben des Herings gelitten hat, würde Freudenfeste anstellen und Ehrenpforten bauen, wenn er wieder einzöge. In Bergen und Stavanger aber bangt man davor schon jetzt. Diese Städte haben durch die zunehmende Heringsfischerei ungemein gewonnen, die Ausfuhr hat Geld ins Land gebracht, das norwegische Papiergeld ist über Pari gestiegen, der Wohlstand des Ganzen gewachsen. — Der verminderte Fang hat nun schon im letzten Jahre den Kurs wieder herabgedrückt, und es läßt sich wohl nicht leugnen, daß, wenn die Heringsfischerei abnimmt, dies für die Finanzverhältnisse Norwegens sehr fühlbar werden wird. So wirkt ein Tiergeschlecht auf Leben und Wohl der Menschen ein, und ganze Länder werden durch sein Kommen oder Nichtkommen erfreut oder in Trauer gesetzt. — Der Hering erscheint jährlich dreimal an der Küste von Norwegen, aber der Hauptfang geschieht im Februar. Es ist dies die Frühlingsfischerei, sie liefert die größte Menge und die fetteste, größte Art des Fisches, der Vaarsild, Frühlingshering, genannt wird. Der Fang geschieht vornehmlich an dem Küstenstriche zwischen Bergen und Stavanger, hauptsächlich um und bei Stranoe, Selboe und den Inseln bis Skudesnaes hinab am Eingange des großen Bukkefjord. Auf diesem Raume sind im Februar wenigstens 2000 Böte, die mit 12000 Menschen bemannt sind, mit Heringsfischerei beschäftigt. Die Fischer begeben sich Ende Januar auf die Inseln hinaus, mieten Plätze und Hütten und empfangen Vorschüsse für ihren Fang von den Kaufleuten, die sie mit dem, was sie nötig haben, versorgen. Alle haben auch wohl das Jahr über manche Schulden schon gemacht, welche auf ihr Conto geschrieben sind, um durch den Heringsfang gedeckt zu werden. Sie tun sich nun in Gesellschaften zusammen und bestimmen die Teilung, fügen sich den gesetzlichen Anordnungen, lassen sich Fischplätze anweisen, wo sie ihre Netze auswerfen sollen, treffen Verabredungen mit dem Empfänger ihrer Ware und erwarten dann die Heringsschwärme, denen sie ungeduldig täglich bis ins Meer hinaus entgegenfahren, um den lang ersehnten, silberblauen Schein zu entdecken, welcher das Nahen der Beute anzeigt.

Noch ehe jedoch diese Stunde schlägt, verkünden schnelle und fürchterliche Wächter den Heranzug des Tieres. Einzelne Walfische streichen an der Küste hin und werden mit lautem Jubel begrüßt; denn der Walfisch ist der sichere Verkünder des Herings. Es ist, als habe er den Auftrag erhalten, den Menschen die Botschaft zu bringen, sich zum Angriffe bereit zu machen. Sein Schnauben in der ungeheuren Wasserwüste, seine Fontänen, die aus den Wogen steigen, wunderbare Springbrunnen, welche in den Lüften funkeln, sind seine Sprache: „Gebt acht! wir liefern sie euch, seid bereit und fertig.“ Hat der Walfisch seine Sendung vollbracht, so jagt er zurück zu seinen Gefährten und hilft ihnen den geängstigten Hering rascher gegen die Küste treiben, wo sich dieser in den Scheren zwischen die Inseln und Klippen drängt und, um den grimmigen Feinden draußen zu entkommen, anderen noch schrecklicheren in die Hände fällt. Denn hier erwarten ihn die Fischer mit ihren Netzen. — Jedes Boot hat deren sechsunddreißig, die meisten zwei Faden lang und einen Faden tief. — Mehrere werden aneinandergeknüpft, und man stellt sie in Reihen auf, mit Steinen unten beschwert und von Holzklammern oben gehalten. — Wären die Netze größer, so würden sie reißen; denn der Hering steht so dicht zusammen, daß, wenn der Fang gut ist, in jeder Masche des Netzes auch ein Fisch steckt. Dabei ist seine Menge so ungeheuer, daß er zuweilen eine Wand bildet, welche bis auf den Grund hinabreicht, und von deren Druck nach oben die Böte dann mehrere Zoll hoch aus dem

Waſſer gehoben werden. — Achtzehn Netze ſtellt jedes Boot und wirft die andere Hälfte aus, ſobald es die erſte mit dem Fang herausgezogen. Und während nun jene ſich wieder füllt, rudern die Fiſcher mit den anderen Opfern ihrer Schlauheit zum Strande, wo der Kaufmann wartet. Dort werden ſie gezählt und ihm überliefert. Schaluppen ſtehen bereit, in deren Raum die Fiſche geworfen werden, und ſobald die Fahrzeuge gefüllt, eilen ſie nach Stavanger oder Bergen.

Dort nun eröffnet ſich an der Deutſchen Brücke ein neues Schauſpiel. Arbeiter karren den Hering aus den Schiffen unter die weiten Durchgänge der Häuſer. Hier ſitzen, von Tonnen umringt, eine gehörige Anzahl Menſchen, größtenteils alte Frauen, die, mit dem Meſſer in der Hand, das Werk des Auskehlens verrichten. Die Karren werden bei ihren Plätzen umgeſtürzt, ſo daß ſie halb in Fiſchbergen vergraben ſind, und ſie ergreifen den einen nach dem andern, ſchneiden ihm die Kehle auf und reißen mit einem kunſtgemäßen Zug Gedärm und Eingeweide heraus. Dann werfen ſie ihn in die bereitſtehenden Tubben, und ſie haben in dieſer Arbeit eine ſolche Virtuoſität, daß viele tauſend Fiſche täglich dieſelbe Prozedur erfahren.

Sobald die Tubben gefüllt ſind, werden ſie von anderen Arbeitern an den Platz des Einſalzens gefahren, dort in die Fäſſer gepackt, mit der Salzlake begoſſen, vom Böttcher geſchloſſen, und nun, in den Magazinen aufgeſtapelt, ſind ſie zur Ausfuhr fertig und bereit. Wenn man bedenkt, daß in den letzten guten Zeiten von Bergen allein jährlich beinahe 300 000 Tonnen Heringe ausgeführt ſind, kann man ſich wohl einen Begriff von der Lebendigkeit und Größe dieſes Handels machen. Alle gewinnen dabei. Das Holz zu den Tonnen kommt aus den Wäldern, und die Eigentümer derſelben, die Bauern, welche es heranfahren, die Handwerker, welche es verarbeiten, die Frauen und Kinder, die den Hering kehlen, die Männer, welche ihn herbeiſchaffen, die Fiſcher und Schiffer, die Bootsleute und Reeder, vor allen aber die Kaufleute, teilen den Vorteil.

Kehren wir einen Augenblick noch zu den Fiſchern auf Skudesnaes zurück. — Hier geht der Fang ununterbrochen vier Wochen lang und oft noch länger vor ſich. Wieviel Fiſche auch täglich in dieſer ungeheuren Zahl von Netzen herausgezogen werden, die Maſſe der übrigbleibenden ſcheint dadurch nicht vermindert. Immer neu drängt ſich das unermeßliche Heer herauf an die Oberfläche, und draußen vor den Scheren, oft mitten zwiſchen den Fiſcherböten, liegen die Wale, wie abgerichtete Schäferhunde, auf der Lauer, und ſcheuchen die furchtſame Herde zurück, wenn ſie Miene macht, ſich entfernen zu wollen. Menſch und Walfiſch haben einen Bund geſchloſſen zur Vernichtung des unglücklichen, widerſtandsloſen Gefangenen, der ihrer Wut allein durch ſeine unvertilgbare Menge ſpottet, welche ſich zur Schlachtbank drängt. Hunderte von Walen haben das Heeringsheer herangetrieben, ſie haben es ſchon weit im Meere erſpäht, als es, von unbekannten Urſachen gezwungen, aus den Tiefen emporſtieg. Kühnen Wüſtenräubern gleich haben ſie dem Zuge aufgelauert, täglich ihn angefallen, ihren gierigen Hunger geſtillt, und jetzt liegen ſie, rieſenhaften Baumſtämmen gleich, bewegungslos dicht vor dem Fiſchwalle, der nicht mehr entgehen kann, und in ihre geöffneten Rachen ziehen ſie, wie im Strudel, mit jedem Atemzuge eine Anzahl lebender Geſchöpfe hinab, deren Blut und Fleiſchſtücke mit grünlichem, übelriechenden Waſſer vermiſcht, ihre Naſenlöcher in hohen Fontänen wieder ausſpritzen. Der Walfiſch an der norwegiſchen Küſte iſt der Heringsjäger, der Finnfiſch, welcher, zwanzig bis vierzig Fuß lang, auf ſeinem Rücken eine große Floſſe trägt. Das mächtige Tier ſchwimmt in ſeinem Element mit der Schnelligkeit eines Vogels. Trotz ſeiner unförmigen Geſtalt und ſeiner ſcheinbaren Trägheit iſt er in allen ſeinen Bewegungen ein Muſterbild der Kraft und Gelenkigkeit. Jetzt noch auf der Oberfläche des Meeres ruhend, iſt er im nächſten Augenblicke verſchwunden und tief hinabgeſunken; im andern ſieht man ſeine hohe Rückenfloſſe weit davon wieder emportauchen und wie ein Pfeil durch das Waſſer rauſchen. Jetzt iſt er hier, jetzt

dort und immer beschäftigt, den Raub zu verschlingen, der ihm aufstößt. Wie viele Tonnen Heringe täglich von diesen Ungeheuern verbraucht werden, ist leicht zu denken; aber die Fischer machen sie ihnen nicht streitig, sie haben ja dennoch mehr, als sie nehmen können. Der Walfisch ist im Gegenteil Gegenstand ihrer Sorge; niemand darf ihn beleidigen, niemand ihn von seinem Platze treiben; er ist ihr Gefährte, ihr Freund und Diener, den sie lieben, und der Fisch scheint dies wohl zu wissen, denn so scheu und empfindlich er auch sonst ist, ruhig liegt er hier zwischen den Barken und verspeist, ganz unbekümmert um alles Geschrei und Gelärm, seinen Anteil an der gemeinsamen Beute. Daher sind denn auch die Schiffer einig darüber, daß der Wal ein so kluges und verständiges Geschöpf sei, wie irgend eins auf Erden, und sie erzählen viele Beispiele, welche Zeugnis dafür geben. Eines darunter ist folgendes: Ein Fischer war vor einigen Jahren bei Skudesnaes mit dem Fange beschäftigt; rundumher lagen mehr als hundert Böte in gleicher Arbeit; dicht neben dem seinen aber ruhte ein ungeheurer Wal, der sich nicht im geringsten genierte und beim Heraufziehen der Netze kein Haar breit aus dem Wege ging. Er vertilgte eine Tonne Heringe zum Frühstück in völliger Gemütsruhe und schlief vielleicht halb und halb dabei; denn er schüttete seine übelriechende Fontäne über das Boot aus und kehrte sich nicht einmal daran, daß die Räuder desselben seinen Rücken streiften. Der Fischer, als ein erfahrener Mann, ließ sich dies von dem unhöflichen Tiere in Betracht des Bündnisses und der sonstigen guten Dienste gefallen; sein Knabe aber fürchtete sich, die Hände ins Wasser zu stecken und das Netz aufzuziehen dicht am aufgesperrten Schlunde des Ungeheuers, in welchem die Tourbillons von Wasser und Heringen verschwanden. Er nahm daher hinter dem Rücken des Vaters den Bootshaken und gab der schwarz aufragenden Insel eine hinterlistige Erinnerung, zu verschwinden. Der Stoß half wie mit Zaubergewalt; denn kaum war er empfunden, als das Tier mit Blitzesschnelle fünfhundert Ellen weit mitten durch den Fischplatz, zwischen Böten und anderen Walen hinschoß. Plötzlich aber kehrte es um, nahm denselben Weg zurück, und als wisse es genau, wo und an wem es die Beleidigung zu rächen habe, suchte und fand es das Boot mit dem verräterischen Knaben und zerschmetterte es mit einem Schlage seines Schwanzes. — Solche Beispiele mögen dazu gekommen sein, um die Fischer Achtung vor ihren Freunden zu lehren, die eine so ungeheure Kraft besitzen, daß das stärkste Boot davon in Splitter zerfliegt.

Aber der Walfisch ist es nicht allein, der die Beute mit dem Fischer teilt. Luft und Wasser beleben sich mit gefräßigen Räubern, die unermüdlich im Vernichten sind. — Delphine, Kabeljaue, Schellfische und Haie umschwärmen in Scharen die Verfolgten und machen wütende Angriffe auf ihre Phalanx; aus der Luft stürzen die unzähligen Schwärme wildschreiender Möwen, Seeraben, Scharben und Fischadler. Alle Klippen und Felsen sind bedeckt mit den unersättlichen Räubern; von unten dringen sie aus den tiefsten Meerestiefen, von oben schießen sie aus den Wolken nieder und der Mensch läßt sie gewähren, sie treiben dasselbe Geschäft, wie er. Ein besonders glückliches Ereignis ist es für die Fischer, wenn der Hering, gejagt von seinen Feinden, dicht an die Küste geht und in die Buchten derselben tritt. Ist dies der Fall, so wird die Bucht, wenn es irgend angeht, sogleich durch große Netze abgesperrt, und dann sind alle die armen Eindringlinge verloren, sie werden mit Gemächlichkeit aufgefischt. Auf diese Weise wird ein Fang oft ungeheuer reich. Man hat acht- bis zehntausend Tonnen schon aus einer Bucht gezogen, und ebensoviele waren erstickt durch das gewaltsame Zusammendrängen des Tieres. Ohne Zweifel kann man annehmen, daß jährlich an den Küsten Norwegens, Englands, Hollands und in der Ostsee weit über tausend Millionen Heringe gefangen und wohl eine noch größere Zahl von den Raubtieren verschlungen werden. Endlich im März senken sich die Scharen mehr und mehr in die Tiefe, und mit dem Ende

des Monats verschwinden sie gewöhnlich ganz. Der Fang ist beendet, und die Fischer ziehen nach Hause, um zu empfangen, was sie vom Kaufmann zu fordern haben; aber dies ist meist, trotz aller Gunst des Schicksals, doch nur eine geringe Summe. Man hat vorher geborgt, das Leben ist teuer, der Fisch wohlfeil, und bald pocht das alte Elend wieder an die schmutzige Hütte des Armen, dessen Hoffnung sich dann auf den nächsten Glücksstern seiner Netze richtet. Wieviel Gefahren, wieviel Mühen und fast übermenschliche Anstrengungen erfordert dies Gewerbe, wieviel entsetzliche Not und Leiden bringt es mit sich, und doch ist es bei diesen Menschen eine Leidenschaft, von der sie nicht lassen können. Mit dem Fischer ist es, wie mit dem Jäger und dem freien Hirten auf den Bergen, der beides ist: alle verachten den ruhigen, stillen Landmann. Die Netze werfen auf den wilden Meereswellen, mit den Angeln an den Bootsseiten die Wogen zerteilen, das ist auch eine kühne Jagd, die oft plötzlich lohnt, wie dem Schützen sein verwegenes Klimmen über Abgründe und Felsenhörner, wenn er Renntierscharen nachzieht. Da gilt es Mut in Gefahren zeigen, ein unverzagtes Herz im Busen tragen, da gilt es zu wagen, sich den Zufallsspielen des Glücks anzuvertrauen, und was täte der Mann lieber? Es liegt tief in seiner Brust ein wilder Trieb, das Schicksal zu versuchen.

Unter allen Beschwerden ist aber wohl keine so furchtbar, wie die des Fischfanges an diesen Küsten. Man denke sich dies nordische Meer am Ende des Januarmonats, von Orkanen zerpeitscht, die mit rasender Wut über nackte Klippen jagen. Man denke sich diese Brandungen, diese eisigen Wogen, diese kalten Regengüsse, diese Schneestürme, die Elemente verbündet und im Aufruhr; dann erst erscheint es doppelt wunderbar, wie zähe die Kraft des Menschen, wie kühn sein Wollen, wie gierig sein Verlangen nach Gewinn, wie sonderlich seine Körper- und Geistesorganisation. Er, der sich nur durch Kunst des ewig beweglichen Elementes bemächtigt hat, der sich nur mit Verachtung seines Lebens darauf erhält, er fragt nicht nach Sturm und Eis und den entsetzlichsten Entbehrungen. Eine Art Raserei bemächtigt sich seiner: die Fische sind da! und er muß sie fangen, sie töten, mit Walen und Adlern um den Preis streiten! Diese Empfindungen hat er mit zur Welt gebracht, er hat sie mit der Muttermilch eingesogen, er kann nicht anders. Gebt dem armen Fischer ein gutes Feld, das ihn ernährt, wenn er halb soviel arbeitet, als in seinem lecken Boote; er wird es verschmähen, wie der Jäger das bequeme Haus verschmäht. Die Sehnsucht des einen hängt an den Meereswogen, die des andern an dem rauschenden Waldesdunkel; der eine träumt von ungeheuren Netzen und dem Gewimmel silberglänzender Beute darin, der andere von dem Horngeäst weidender Herden, von dem Knall seines Feuerrohrs und fließendem Blut. — Von dem Frieden des Hauses, von dem Rauschen der Ährenfelder, von der heimischen Stille des Lebens wissen sie nichts. Armut und Elend wiegen bei den Kindern der Erde die Last des geordneten Lebens nicht auf. Auf den Bergen schweifen, auf den Wellen fahren dünkt denen, die dazu geboren wurden, viel schöner, als in Städten wohnen und an vollen Tischen sitzen.

## 85. Das Meer.

Von K. A. Berthold.

Darstellungen aus der Natur. Köln 1869. S. 134.

Bei dem ersten Anblicke des Meeres werden wohl die meisten zuerst eine gewisse Enttäuschung empfinden, da sie, den gewöhnlichen, mehr dichterischen Beschreibungen vertrauend, eine räumliche Unendlichkeit zu sehen erwarten und statt dessen die bestimmteste Begrenzung der Aussicht finden. Die Meeresfläche nimmt, vom Strande aus gesehen, nur den halben Horizont ein: sie wird von der Linie der Küste und von dem halbkreisförmigen Himmelsrande in einer Schärfe abgeschnitten, daß sich nirgends, außer bei fernen Nebeln, der Blick in das Undeutliche und scheinbar Unendliche ver-

siert. Auch ich muß gestehen, jene Enttäuschung empfunden zu haben, als ich zum ersten Male nach jahrelang gehegtem Verlangen das Meer sah, und zwar von dem Gestade der Nordsee aus in der Nähe des hannoverschen Amtsstädtchens Dorum.

Erst nachdem das nicht angenehme Gefühl der Enttäuschung geschwunden war, empfand die befreite Seele die Erhabenheit des Meeres, die Schönheit, die ewig jung und doch alt ist, die durch alle Jahrtausende noch die Urfrische des ersten Schöpfungsmorgens bewahrt! — Je länger die Blicke über die Meeresbahnen dahingleiten, desto mehr werden sie gefesselt von der unendlichen Ruhe und dem beweglichen Leben des erdumgürtenden Elementes. Denn unveränderlich breitet sich das große Flutgefilde unter dem Himmelsgewölbe aus, heute so wie morgen und durch alle Zeiten; aber trotz dieser Gleichmäßigkeit und Ruhe, welche Beweglichkeit, welche stete Veränderung!

Millionen Wellenspitzen tauchen auf und sinken nieder, sinken nieder und tauchen auf, und rauschen und hallen, sausen und klingen bald leiser und bald lauter in einem fort in eintönig-süßer Melodie wie Gesänge, und wunderbare Träume wiegen die Seele ein. Es ist ihr, als wollte ihr im Anblicke der Meeresschönheit ein neues Leben tagen, ein Glück, das wir in frühester Kindheit ahnten und nicht nennen konnten. Jetzt aber wissen wir, daß in der Empfindung des Schönen das Heimweh nach Gott schlummert. — Wenn nun längere Zeit die großartigsten Anschauungen alle Gedanken in Anspruch nahmen, zieht sich der Geist gern wieder aus der ungewohnten Weite in beschränkte Enge zurück und neigt sich mit Liebe zu den kleinsten Dingen. So war es mir damals, nachdem ich stundenlang vom grasigen Deiche aus das Meer beschaut hatte, hinwieder recht erquicklich, den Strand entlang zu wandern und die mir noch unbekannten Gewächse und die ausgeworfenen Meertiere zu betrachten. Entenschwärme flogen auf und fischende Raubmöwen tummelten sich kreischend über den Wellen umher; ihr Geschrei, halb wie Lachen und halb wie Klage tönend, stimmte ganz zu der freien Meereinöde und dem verlassenen Gestade. Allmählich sank die Sonne in die Fluten; ich stieg zum Deiche zurück und sah sie untergehen.

Damals glaubte ich schon durch diese eine Wanderung am Strande erfahren zu haben, welchen Eindruck das Meer hervorbringt; doch sah ich bald darauf meinen Irrtum ein. Am folgenden Tage traf ich auf einem Streifzuge längs der Nordseeküste einen alten, ehrlichen Muschelfischer, der gern bereit war, mit mir eine wirklich kühne Seefahrt in seiner ziemlich gebrechlichen Jolle zu unternehmen.

Mitten in der Nacht wurde die Fahrt begonnen, weil da die Flut in das schilfige Siel hineinschwoll, welches sich bis in die Nähe der Hütte unseres „Hinrik“ erstreckte. Mit einiger Mühe machten wir die Jolle flott; der Schiffspatron richtete die beiden dreieckigen Segel. Der Wind blies ungewöhnlich stark aus Osten und trieb uns schnell auf die offene See.

Wasser und Himmel waren dunkel. — Oben glänzte das Sternbild des Bären, nach dem einst Odysseus schaute, als er auf pfadloser Flut gen Ithaka steuerte, und nach dem sich auch mein Schiffshauptmann richtete, da er keine Magnetnadel besaß oder zu gebrauchen verstand. Wir steuerten auf einer Tiefe, auf der Rubins-Balge, zwischen einer Menge verborgener, breiter Sandbänke stets nach Westen, indem wir die zu äußerst im Meere gelegene Bremer Bake weit rechts ließen.

Kalt und feucht durchschauerte uns der Nachtwind, von Seegeruch geschwängert. Nach einigen Stunden graute der Morgen. Das Land war bereits dem Anblicke entschwunden, ein goldiger Purpurstreif umsäumte den östlichen Himmel und den dunkeln Bogen der See. Noch war das Gewässer grau, immer deutlicher sah man die Wogen mit ihren Schaumkronen; sie kamen herangezogen in unzähligen Scharen; die eine dicht hinter der andern, und sie rauschten und schluchzten und schlugen klatschend an die Planken des Schiffchens und zogen weiter durch das endlose Meer.

Die Sonne ging auf, und das Meer leuchtete in Freude auf. Hier und da tauchte ein kleiner Delphin aus dem Waſſer, Möwenſchwärme flogen lärmend umher, und langgeſchwänzte Seeſchwalben ſchoſſen wie Pfeile über die Wellenſpitzen, die ſie mit ihren Schwingen trafen. Nicht weit von uns ragte die Spitze eines amerikaniſchen Schiffes aus der See, welches in der Neujahrsnacht 1858 hier untergegangen war. Wir ſegelten ernſt vorüber und bedauerten die Leute, die hier ihr Leben gelaſſen hatten.

Das war ein herrlicher Morgen! Pfeilſchnell, von einer friſchen Briſe gejagt, glitt unſere braune Jolle mit ihren ziegelroten, gelappten Segeln über das klare Azurblau der Meerfläche; die Wogen ſprangen munter und prunkten mit goldenen Geſchmeiden im Sonnenlichte. Hier unten ſahen wir nichts als das Meer, durch welches unſer Schifflein fuhr; oben ſahen wir nichts als das erhabene Himmelsgewölbe, aus deſſen Blau die Sonne gleich einem blendenden Diamant niederſah.

Erſt jetzt bekam ich einen eigentlichen Eindruck von der Größe des Ozeans, wie das Schiff immer und immer weiterfuhr, während die rieſige Scheibe der Meeresfläche unverändert unter dem Himmel wie unter einer majeſtätiſch gewölbten, laſurblauen Kuppel ruhete. . . . .

Erſt bei Helgoland, welches etwa acht deutſche Meilen von Kuxhaſen und der Elbmündung entfernt liegt, gewahren wir das ganze Meer in ſeiner Großartigkeit. Hier gewinnt das Waſſer bereits eine bedeutende Tiefe; hier ſteigt die Flut bis neun Fuß empor. Von der Spitze des Inſelfelſens, von der Falm aus, der Lieblingsſtelle lungernder Lotſen in der Nähe des Leuchtturmes, erblicken wir das freie, hohe Meer in ſeiner ganzen Majeſtät. Weht aber erſt eine „doppelt gereffte Marsſegelkühlte“, wie die Schiffer ſagen, oder brauſt gar ein Sturm über das Waſſer, dann möchten wir nichts vermiſſen, was wir von einem eigentlichen Meere erwarten. Zudem iſt die Stelle die einzige der deutſchen Nordſee, welche ſich durch einen großen Reichtum meerbewohnender Gewächſe und Tiere auszeichnet. Mit ſteilen und zerklüfteten, aus roten Keupermergeln und ähnlichen Arten des Buntſandſteins aufgebauten Wänden erhebt ſich die Felsinſel mit den wilden Bauwerken ihrer Gatts aus der See, an ihrer höchſten Spitze unweit des Nordhorns 210 Fuß über den Spiegel des Waſſers gehoben. Wo die roten Klippenwände der Inſel mit ihren Vorſprüngen, Pfeilern und Bögen ſich dem Meere entgegendämmen, treibt auch die Brandung ihr wechſelvolles Spiel. Man kann ihr ſtundenlang zuſchauen, ohne zu ermüden. Hier beleckt das Waſſer mit glatten, ſchmeichelnden Zungen den Strand; dort ſchlagen krauſe und ſtarke Wogen wie gewaltige Tatzen an die Felſen; dort ſchießen dichte, ſchäumende Waſſergarben hoch empor und ſtürzen brauſend in ſich zuſammen; hier zerblättern ſie ſich nach allen Seiten auf glatter Fläche, gleich kriſtallenen, im Nu verſchwindenden Bäumchen. Es iſt ein raſtloſes, halbdeutliches Geſtalten und Auflöſen; dennoch erkennt man in dem ganzen Durcheinander eine feſte Regel, wie man ſelbſt in dem Kampfesraſen ſturmgepeitſchter Meereswogen immer noch die Geſetze der Wellenbildung erkennt. . . . .

## 86. Über das Meerleuchten.

Von J. Kayſer.

Phyſik des Meeres. Paderborn 1873. S. 181.

Wir ſaßen an einem Herbſtabende [1]) in einem Hotel zu Oſtende, als ſich die Kunde: „Phosphorescence de la mer!“ — „Meerleuchten!“ — verbreitete. Es mochte 9 Uhr ſein; erwartungsvoll eilten wir zum Strande. Von dem Steindamme bot ſich ein bezaubernder Anblick. Der Abend war dunkel, der Himmel bedeckt, weder Mond noch Sterne ſchienen. Die Luft regte ſich kaum, aber lau umfing ſie die Glieder. Das Meer hatte ſich eben von

[1]) Am 14. September 1860.

der Tiefebbe aufgerafft und kehrte zur Flut zurück. Der belebte Wellenſchlag am Strande erfolgte in regelmäßigen Takten mit melodiſchem Rauſchen. Aber aus dem Schoße der Gewäſſer leuchteten helle Blitze hervor, als ob die See dem dunkeln Himmel das Licht zurückgeben wollte, welches ihr Spiegel am Tage aufgeſogen. Zunächſt am Strande breiteten die umſchlagenden Wellen der Brandung eine Lichtgarbe nach der andern aus und bedeckten den ſandigen Boden wie mit flüſſigem Feuer. Hinter den Wogen der Brandung leuchteten andere und andere Wellenkämme auf, — bis zu zwanzig habe ich gezählt. Schweift der Blick von dem leuchtenden Proſcenium zu dem dunklen Hintergrunde, ſo feſſelt bald da, bald dort ein leuchtender Punkt das Auge, der, ſich vergrößernd, heranſchwimmt, bis er auf einmal in blitzähnlichen Streifen über die Fläche dahinzuckt und im Dunkel erliſcht, um einer neuen Flamme Platz zu machen. Bricht ſich eine Woge an dem Brückenkopfe des Haſeneinganges, ſo ſpeit ſie Feuerſtrahlen in die Lüfte.

Es iſt keine geringe Überraſchung bei dem bekannten Experimente der Chemie, Kaliumkügelchen im Waſſer wie von ſelbſt auflodern zu ſehen; aber noch größer iſt das Erſtaunen, wenn man mit Augen ſchaut, wie ein lebhaftes Feuer in ſo reichlicher Fülle aus dem Elemente aufleuchtet, das ihm ſo feindſelig iſt.

Kaum hatte ich mich von der erſten Überraſchung erholt, als der Poſtdampfer für Dover, „Belgium“, welcher ſchon am Nachmittage den Hafen verlaſſen hatte, abfuhr. Da nahm die Scene eine noch prächtigere Geſtalt an. Die Schaufelräder wühlten nach allen Seiten hin leuchtende Waſſermaſſen auf, die in zahlloſen, funkelnden Tropfen als Feuerregen auf die Oberfläche des Meeres zurückfielen. Kähne, welche von dem Schiffe zurückfuhren, zogen feurige Furchen durch den Waſſerſpiegel, die plätſchernden Ruder ſtreuten Funken in die Luft.

Ich ſtieg vom Steindamme hinab, um das ſeltſame Feuerwerk aus der Nähe zu ſchauen. Selbſt im Sande, ſoweit er feucht war, zeigten ſich unter den Fußtritten Funken, und man glaubte über glühende Kohlen zu wandeln. Ich rührte mit meinem Stocke in einer Vertiefung, welche bei der Flut mit Meerwaſſer angefüllt war, und das Waſſer fing an zu glühen. Ich ſchlug mit der Hand darauf, und es war, als ob ich ſchlummernde Flammen weckte. Ich ſchöpfte Waſſer, ſchleuderte es in die Luft und — ſäte Funken. Leckte eine überſchlagende Welle bis zu den Füßen heran, ſo war der ganze Rand wie mit Millionen Diamanten „reinſten Waſſers“ und Perlen herrlichſten Schmelzes beſetzt.

Ein eigentümlicher Anblick bot ſich den Augen, als ein Badegaſt aus einem Badekarren ins Waſſer ſtieg. Wahrſcheinlich konnte ein John Bull mit obligatem Spleen ſich das paradoxe Vergnügen nicht verſagen, im glühenden Meere ein kühlendes Bad zu nehmen. Gleichviel! mir bereitete er aus Meerwaſſer ein Feuerwerk, ſo mannigfaltig und ſeltſam, als ſich die lebendigſte Phantaſie kaum erſinnen kann. Man denke ſich: ein Menſch eilt wohlgemut in die glühenden Waſſer, taucht unter die leuchtende Flut, ſpritzt mit Händen und Füßen Funken um ſich her und bläſt Feuer aus Naſe und Mund, als er den Kopf wieder über das Meer erhebt; iſt über und über mit tauſend leuchtenden Punkten wie mit Sternen beſät, da er zu dem Badekarren zurückgeht.

Erſt ſpät konnte ich mich von dem Schauſpiele dieſer Meeresillumination trennen; immer von neuem fühlte man ſich durch den magiſchen Zauber gefeſſelt. Man wollte ſich an dem Anblicke vollſtändig ſättigen, weil zu befürchten ſtand, der Genuß würde ſo bald nicht wieder geboten. Doch dieſe Beſorgnis ſollte ungegründet ſein: während eines dreiwöchigen Aufenthaltes in Oſtende hat das Meer noch elfmal brillant illuminiert! Und jedesmal hat das Phänomen einen gleichen Zauber auf mich geübt. Freilich gibt es auch wohl keinen Platz, von dem ſich das Meerleuchten ſo prächtig ausnimmt, als von dem weltberühmten Steindamme von Oſtende. Und aus dem Munde dieſer lebendigen Polyglotte konnte man in deutſcher, italieniſcher, franzöſiſcher ꝛc. Sprache vernehmen, daß die Phosphoreszenz des Meeres ſich nirgendwo ſo impoſant präſentiere. Ich bin auf Helgoland nachts zwiſchen 11 und 12 Uhr hinausgefahren, um das Meerleuchten zu beobachten; ſtudieren ließ es ſich dort beſſer, bewundern weniger, weil es ſich nicht in ſolcher Ausdehnung und Pracht entwickelte.

Das Meerleuchten iſt jedoch keineswegs eine Eigentümlichkeit der Nordſee oder des Kanals. In den tropiſchen Meeren wird das Phänomen viel häufiger beobachtet und erſcheint noch brillanter; namentlich wird der Indiſche Ozean als der Herd bezeichnet, auf dem faſt Nacht für Nacht dieſes heilige Feuer des Neptun glüht. „Wer das Phänomen nicht unter den Wendekreiſen, beſonders in der Südſee, geſehen, hat nur eine unvollkommene Vorſtellung von der Majeſtät dieſes großen Schauſpiels", ſagt Humboldt. Auch hat man dort das Leuchten in der Tiefe bemerkt, wenn gefangene Haifiſche mehrere Faden tief umhertobten. In kälteren Zonen leuchtet nur die Oberfläche; die Anſicht jedoch, das Licht, welches in den Äquatorialmeeren dem Schoße des Ozeans entſtrömt, ſei viel intenſiver, muß aufgegeben werden. Denn das glänzendſte Meerleuchten, welches mir wenigſtens bekannt iſt, ward in der Lorenzbai (Canada) beobachtet.

Bei der ſo augenfälligen Brillanz der Meeresphosphoreszenz muß es auffallen, daß wir das Phänomen ſo ſelten erwähnt finden. Kein Plato, kein Pindar, kein Cicero, kein Vergil haben ein Auge, wenigſtens haben ſie kein Wort dafür gehabt. Plinius, der einen leuchtenden Fiſch bewundert, zeigt kein Staunen über die Pracht des leuchtenden Meeres. Selbſt der meereskundige Homer, der den herrlichen Dulder Odyſſeus auf ſeinen Fahrten nicht ſelten durch das nächtliche Meer begleitet, läßt dasſelbe nirgendwo funkeln und ſtrahlen. Ja, der weltkundige Ariſtoteles, der alles kennende Polyhiſtor ſeiner Zeit, fand darin kein leuchtendes Fragezeichen für ſeinen forſchenden Geiſt. Die einzige Stelle aus den uns erhaltenen Schriften und Fragmenten des Altertums, welche ſich darauf deuten ließe, dürfte ſich in dem Periplus des Hanno finden, der ſüdlich vom Götterwagen (Deorum vehiculum) den Ozean wie von Feuerſtrömen brennen ſah. Das Meerleuchten ſcheint dieſem Paſſus genauer zu entſprechen, als die feuerſpeienden Berge, welche man gewöhnlich darin erkennen zu müſſen glaubt.

Daher konnte man ſich leicht zu dem Glauben hinneigen, die Alten hätten das Phänomen der leuchtenden See gar nicht gekannt. Es iſt ſomit nicht zum Verwundern, wenn Athanaſius Kircher, einer der größten Gelehrten des 17. Jahrhunderts, behauptet, Amerigo Veſpucci habe dasſelbe zuerſt beobachtet. Auch von den neueren Dichtern iſt die leuchtende Scene nur ſpärlich beſungen worden. Selbſt Camoens, den Humboldt wegen ſeiner ſchönen ozeaniſchen Schilderungen den Poeten des Meeres nennt, hat in ſeinen Luſiaden desſelben nicht gedacht. Eine Ausnahme ſcheinen nur einige engliſche Dichter zu machen. Coleridge z. B. beſchreibt das Meerleuchten in ſeiner ſchaurig-ſchönen Ballade „The ancient mariner" — „Der alte Matroſe" — in folgenden glühenden Verſen:

„Und in des Schiffes Schatten ſah
Ich große Waſſerſchlangen,
Sie ſchlängeln ſich in weißer Spur;
Wenn ſie ſich bäumen, ſind ſie nur
Mit flockigem Feuer umhangen.

Und in des Schiffes Schatten gern
Sah ich ihr blinkend Fell;
Wie Sammet, ſchwarz und blau und grün,
Sie ſchwimmen her, ſie ſchwimmen hin,
Die Spur wie Gold ſo hell."

Schöner noch iſt die Schilderung des Meerleuchtens, welche der treffliche Krabbe entwirft. Sie zählt zu dem Schönſten, was darüber geſagt iſt:

„Und nun zum Meere wende dein Geſicht;
Welch Glanz der Wogen, ſiehſt's dort leuchten nicht?
Ein Steinwurf, ſelbſt der leiſe Ruderſchlag
Ruft aus der Tiefe helle Flammen wach.
Berühr am Strande nur die helle Phosphorflut,
Und deine Hand blitzt auf von kalter Glut.
Staun an das Wunder hier! — man tritt und ſieht
Auf Sand, der funkelt, und auf Naß, das glüht."

Was Wunder, wenn eine ſo frappante Erſcheinung, wenn das Glühen und Flammen des feuerfeindlichen Elementes die verſchiedenartigſten Erklärungen fand? Die Frage: „Woher kommt das Aufleuchten des Meerwaſſers?" mußte ſich jedem nachdenkenden Beobachter aufdrängen. Die ſeltſamſten Hypotheſen wurden zur Beantwortung dieſer Frage aufgeſtellt. Die Alten, welche hinter jeder Naturkraft einen Gott oder Halbgott witterten, werden ſich das Leuchten des Meeres in ihrer kindlichen Einbildung als eine Wirkung des Kaſtor und

Pollux gedacht haben, denen ſie auch die elektriſchen Flammen zuſchrieben, welche in gewitterſchwülen Nächten auf den Maſten der Schiffe leuchten. Im fromm-gläubigen Mittelalter löſte die beiden Dioskuren Sankt Elmo ab, das iſt der heilige Erasmus, der im fünften Jahrhundert zu Mola di Gaëta den Märtyrertod erlitt. Er predigte inmitten von Sturm und Ungewitter, der Himmel über ihm und ſeiner Zuhörerſchaft aber blieb ruhig und klar. Daher rufen ihn die Schiffer als ihren Patron in Sturmesnöten an.

Erſt im ſiebzehnten Jahrhundert fing man an, ſich ernſtlich mit einer wiſſenſchaftlichen Beantwortung dieſer Frage zu beſchäftigen. Doch wir übergehen dieſe Erklärungsverſuche, welche der Phyſik entlehnt waren. Als Brand aber, der im Urin nach Gold ſuchte, 1699 zu Hamburg den Phosphor entdeckt hatte, wurde bald bemerkt, daß dieſer elementare Stoff in atmoſphäriſcher Luft ſchon bei 8 Grad Wärme eine träge Verbrennung, d. h. eine langſame Verbindung mit Sauerſtoff eingeht, — ein Prozeß, der mit ſchwachen Licht- und Wärmeerſcheinungen verbunden und unter dem Namen Phosphoreszenz bekannt iſt. Dasſelbe Phänomen wird bei faulenden organiſchen Subſtanzen beobachtet, die meiſt phosphorhaltig ſind: damit ſchien das Geheimnisdunkel, welches über dem Leuchten des Meeres ſchwebte, verſcheucht zu ſein. Denn es lag nahe, die vielen im Meere vorhandenen Überreſte animaliſcher und vegetabiliſcher Stoffe, welche in Zerſetzung und Fäulnis begriffen ſind, zur Erklärung des Meerleuchtens heranzuziehen. „Ein Produkt dieſer Gärung“, ſagt Canton, der dieſe Theorie zuerſt ausführlich erörterte, „lagert ſich als öliger Schleim über die Oberfläche des Meeres und verwiſcht ſich beim Kontakt mit der atmoſphäriſchen Luft langſam mit Sauerſtoff. Dadurch entwickelt ſich Licht und Wärme — das Meer phosphoresziert.“ Dieſe Theorie hat in der Tat ſoviel Verlockendes, daß ihr noch jetzt viele Phyſiker ergeben ſind. An faulenden Überreſten von zahlloſen Seetieren und Meerpflanzen ſchwimmt eine ſolche Unmaſſe im Ozean; die Phosphoreszenz faulender Stoffe, welche jedermann, z. B. an altem Weidenholz, beobachtet, iſt ſo evident, daß es allerdings den Anſchein gewinnen konnte, nunmehr ſei der wahre Grund des Meerleuchtens gefunden. Beſtätigt ſah man dieſe Anſicht in der Tatſache, daß in tropiſchen Regionen das Meer, welches zur Nachtzeit leuchtete, am Tage mit einem milchigen Safte bedeckt erſchien.

Gleichwohl kann eine genauere Unterſuchung dieſer Hypotheſe über das Meerleuchten nicht beiſtimmen, mag auch eine ſo große Anzahl Phyſiker ſich zu ihr bekennen, mögen auch ganze Völker ſie durch die Bezeichnung Phosphoreszenz adoptiert haben. Denn jener milchige Schleim löſte ſich unter dem Mikroſkop in Myriaden kleiner Tierchen von weißlicher Farbe auf, die an der Oberfläche des Meeres ſchwimmen. Ferner hat man in tropiſchen Gegenden das Meer ſelbſt in einer Tiefe von 40 Fuß leuchten ſehen. In ſolcher Tiefe iſt aber kein Phosphoreszieren, d. h. langſame Miſchung mit Sauerſtoff, möglich, weil ſich dort kein freier Sauerſtoff befindet. Endlich zeigt ſich das Meerleuchten auch bei ſolcher Temperatur, welche dem Zerſetzen organiſcher Stoffe höchſt ungünſtig iſt und das Phosphoreszieren nicht geſtattet. Bei Neufundland glüht der Atlantiſche Ozean trotz ſtrengſter Kälte. Zu Oſtende ſah man die Nordſee in ſehr intenſivem Lichte, als ein Reaumurſches Thermometer nur 6 Grad über Null zeigte. Alexander v. Humboldt behauptet geradezu, die Wärme ſei ohne beträchtlichen Einfluß auf das Phänomen. Für Zerſetzungsprozeſſe und Phosphoreszieren iſt aber die Temperatur von entſchiedenſter Bedeutung.

Welches iſt denn aber die wirkliche Urſache dieſes leuchtenden Phänomens, wenn es weder in phyſiſchen noch in chemiſchen Kauſalitäten ſeine Erklärung findet? Das Leuchten des Meeres rührt aus dem Tierreiche her; Tiere ſind es, welche die Glut entzünden, ſo uns vom Meeresgewoge entgegenleuchtet; animaliſche Organismen ſind's, welche die Blitze entſenden, ſo aus dem Schoße des Ozeans auffahren.

Leuchtende Tiere aus dem Inſektenreiche ſind bekannt genug. Schon Plinius nennt ſie stellae volantes — flatternde Sterne.

Wie das Feſtland, ſo hat auch das Meer ſeine Leuchttiere. Im Reiche der Fiſche iſt die Leuchtkraft allerdings nur ſpärlich vertreten; ja, es iſt zweifelhaft, ob es wirklich Fiſche gibt, die im eigentlichen Sinne ſelbſt leuchten. Zwar ſpricht Plinius von einem Fiſche,

der auf hohem Meer in ruhigen Nächten leuchte, indem er seine feurige Zunge aus dem Munde und anderthalbfüßige Hörner aus dem Meere strecke und deshalb Laterne genannt werde. Aber diese Meerlaterne des Plinius ist bis jetzt vergebens gesucht worden, ebenso vergebens wie die berüchtigte Seeschlange. Wahrscheinlich hat sich der römische Naturforscher eine Verwechselung mit einem niedrigeren Seetiere zuschulden kommen lassen. Einen leuchtenden Haifisch (Squalus fulgens) beschreibt auch Bennet. Er ließ ein eingefangenes Tier dieser Art in eine dunkle Stube bringen. Der ganze untere Teil des Körpers und des Kopfes strahlte einen hellen, grünlichen Phosphorschein aus. Der von seinem eigenen Lichte erhellte Raubfisch soll einen wahrhaft schaurigen Anblick bieten und als schlechter Schwimmer durch seinen Schein, ähnlich wie die Fischer mit Fackeln, Fische anlocken, um sie zu erhaschen.

Verbreiteter ist die Leuchtkraft unter den wirbellosen Seetieren. Unter den Krustentieren des Meeres haben wir die Sapphirine zu nennen; das ist ein mikroskopisches oder doch nur wenig Linien langes Tierchen, welches gewöhnlich in einiger Entfernung von Küsten angetroffen wird. Meyen fand bei den Azoren eine unendliche Schar dieser Tiere, welche mit blaßgrünem Lichte funkelten und ein allgemeines Leuchten einer großen Seestrecke veranlaßten. Leuchtende Meerwürmer haben Ehrenberg und Quatrefages beobachtet. Sie halten sich an flachen Meeresstellen zwischen den Steinen und Seepflanzen auf. Beobachtet man diese leuchtenden Tiere unter dem Vergrößerungsglase, so sieht man zwei Reihen Funken an den Seiten des Körpers, da, wo die Füße ansetzen. Das Licht erscheint, wenn letztere in Bewegung gesetzt werden, zuerst in einzelnen Punkten, die bald in Lichtlinien zusammenfließen und endlich in ein kontinuierliches Glühen des Rückens übergehen. Man vermutet die Ursache des Leuchtens in der Tätigkeit der Muskeln, welche die Füße bewegen. Im Mittelmeere, in der Nord- und Ostsee sind es die Gattungen der Nereïs, Syllis und Polynoë, welche als leuchtkräftig erkannt werden. Aus den mannigfachen Arten der Schaltiere gehören hierher die Pholaden, namentlich Pholas dactylus, das sind Bohrmuscheln (so genannt, weil sie sich in das harte Gestein eine runde Öffnung als Wohnung graben). Sie sondern einen leuchtenden Schleim aus und erscheinen daher ganz mit Licht übergossen.

Weil an den Boden gefesselt, können diese Muscheln jedoch kaum einen Beitrag zu dem Funkeln des Meeres liefern. Um so mehr beteiligen sich aber an dem Seefeuerwerk jene Mollusken, welche Manteltiere (Tunicata) heißen. Vor allem müssen wir da die Salpen anführen, welche in allen warmen Meeren angetroffen worden sind. Sie schwimmen entweder einzeln oder in zusammenhängenden Ketten. Schweben letztere, wie in den Tropenmeeren häufig der Fall, in dicht gedrängten Scharen unter der Oberfläche hin, so scheint das ganze Meer eine Lichtmasse zu sein. Das glühendste Licht verbreitet die sogenannte große Feuerwalze (Pyrosoma gigantea). Diese „Feuerköpfe“ erreichen eine Länge von sechs bis sieben Zoll und sind aus einer Anzahl kleiner Individuen so zusammengewachsen, daß der Mund nach außen gekehrt, der dicke Hinterleib der Walzenröhre zugewendet ist. In diese pressen sie das Wasser, nachdem es ihre Kiemen gestreift hat, hinein und, da sie an dem einen Ende geschlossen ist, aus derselben heraus; dadurch bewegt sich das ganze Tierkonglomerat vorwärts. Unter dem Munde eines jeden Individuums liegt eine weiche undurchsichtige Substanz von rötlichbrauner Farbe und konischer Form. Durch das Mikroskop unterscheidet man darin dreißig bis vierzig rote Pünktchen. Von diesen konischen Körperchen geht die Feuerkraft aus. Wenn man einen solchen Tierstock berührt, so glimmen von der Berührungsstelle erst einzelne Lichtpunkte auf, verbreiten sich dann über den ganzen Cylinder, als steckten sie sich gegenseitig an. Die einzelnen Funken werden heller und heller und dehnen sich mehr und mehr aus, fließen in eine bläulichgrüne Lichtmasse zusammen, bis endlich der ganze Zapfen wie ein weißglühender Eisenstab im hellsten Lichtglanze dasteht. Das sind die geschickten Feuerwerker des Meeres, welche, scharenweise neben den Schiffsplanken hinziehend, das Wasser in dunkler Nacht mehrere Faden tief so prächtig illuminieren, daß Thun- und Haifische über dem finsteren Abgrund sichtbar werden. Herr v. Bibra erzählt in seiner „Reise nach Chili“, daß er eines Abends sechs bis acht Pyrosomen auffing und von denselben ein Licht erhielt, welches reichlich genug war, um bei dessen Scheine lesen zu können. Er machte sich das Vergnügen,

einem Fremde, der unwohl im Bette lag, eine kurze Beſchreibung dieſer Tiere in der ſonſt ganz dunkeln Koje bei ihrem eigenen Scheine vorzuleſen.

Auch die Seeſterne haben leuchtende Arten aufzuweiſen, z. B. die Orphiura fragilis, ein kleiner Meerſtern mit fünf dünnen, runden Armen an der Körperſcheibe. Beim Leuchten bleibt letztere dunkel, die Arme aber ſchimmern und ſcheinen gelbgrün, wenn das Tier ſich unruhig bewegt. Unter dem Vergrößerungsglaſe löſt ſich das verſchwommene Licht in einzelne Lichtringel auf, welche den Gliederungen des Sternarmes entſprechen.

In den tropiſchen Meeren ſteigen zwiſchen dem Leuchten und Funkeln der Oberflächenſchichten des Waſſers oft größere Lichtmaſſen wie zahlloſe Leuchtkugeln auf und manifeſtieren ſich, je näher ſie kommen, immer beſtimmter als feſt umgrenzte Feuerbälle. Das ſind leuchtende Meduſen oder Quallen (Pelagia noctiluca). Dem Dr. Möbius erzählte ein Naturfreund, er habe auf dem Mittelländiſchen Meere zwiſchen Frankreich und Afrika, als er nach dem Zuſammenſtoße ſeines Schiffes mit einem andern eine Zeitlang im Boote zubringen mußte, bei den Bewegungen, die das Rad am Dampfer machte, faſt unter dem Kiel hinweggeſehen: ſo glühten die zahlreichen Meduſen, wenn ſie in den Wellenſchlag gerieten. Andere leuchtende Quallenarten ſind die Ozeanien, von den Rippenquallen die Beroë und Cidippe, aus den Röhrenquallen Hippopodius. Letztere iſt wie die Pyroſome eine Vereinigung von röhrenförmigen Individuen, die bei Nacht gelblichweiß leuchten, wenn man ſie berührt. Im Roten Meere fand Ehrenberg leuchtende Korallenpolypen, Meyen im Hafen von Valparaiſo leuchtende Seeroſen, und Darwin bei den Falklandsinſeln Glockenpolypen, welche bei Berührung ſehr ſchön grün leuchteten, indem das Licht ſtets von unten nach oben an den Zweigen entlang glitt.

Doch alle dieſe zahlreichen Lichtträger des Meeres würden zur Richtigſtellung des Beweiſes für unſere Behauptung, daß das Meerleuchten dem Tierreiche entſtamme, noch nicht ausreichen, wenn es nicht gelungen wäre, unter jener großen Klaſſe lebendiger Weſen, welche uns erſt das vervollkommnete Mikroſkop zu Geſichte bringt und die unter dem Namen Infuſionstierchen bekannt ſind, leuchtkräftige Arten mit unzähligen Individuen im Seewaſſer zu entdecken. In der Oſtſee und im Mittelmeere ſind es Kranztierchen, deren Größe meiſtens kaum die Dicke eines Kopfhaares erreicht; in der Nordſee iſt es die Noctiluca scintillans, welche, in Millionen und aber Millionen Exemplaren das Meer bedeckend, die funkelnden Blicke entſendet.

Damit war es um jede andere Erklärungsweiſe des Meerleuchtens geſchehen. Da in dem funkelnden Waſſertropfen, worin das unbewaffnete Auge nichts als klares Waſſer zu erkennen vermochte, lebendige Weſen beobachtet wurden, welche Licht ausſtrahlten, während die Flüſſigkeit ringsumher keine Spur von Lichtwirkung zeigte, konnte kein Vernünftiger mehr daran denken, das Meerleuchten auf eine beſondere Zuſtändlichkeit des Seewaſſers als ſolche zurückführen zu wollen.

Als im vorigen Jahrhundert der Streit über die Urſachen des Meerleuchtens am heftigſten entbrannt war, entdeckten Vianelli und Griſellini im Adriatiſchen Meere ein kleines Tierchen, welches unſtreitig die Fähigkeit beſitzt, im Dunkeln zu leuchten. Es war die Nereïs noctiluca marina, die Linné in ſeinem „Systema naturae“ anführt und von der oben ſchon die Rede geweſen. Sie trugen keinen Augenblick Bedenken, in der Leuchtkraft dieſer Tierchen die eigentliche Urſache des Meerleuchtens zu erkennen. Nachdem dieſer erſte Schritt geſchehen, folgten ſich raſch die Entdeckungen neuer Arten leuchtender Seetiere. Im Jahre 1776 veröffentlichte Spalanzani ſeine genialen Forſchungen über eine leuchtende Meduſe des Mittelmeeres — Pelagia phosphorea. Im Anfange dieſes Jahrhunderts machte Viviani vierzehn neue Species von Leuchttierchen bekannt, die er ſämtlich im Buſen von Genua gefunden hatte, und durch die er das Meerleuchten illuſtrierte. Den Studien und Entdeckungen der Italiener im Mittelmeere ſchloſſen ſich die Beobachtungen in nördlicheren Gegenden an.

Bisher ſind wir nur behauptend verfahren; denn wir führten noch keine Beweiſe für die Theſe an, daß das Phänomen des Meerleuchtens von leuchtenden Tierchen herrühre. Da die einſchlägigen Experimente ſo einfach und leicht ſind, daß auch der Dilettant ſie ohne Schwierigkeit anſtellen kann, ſo will ich nur die Verſuche beſchreiben, die ich bei einem längeren

Aufenthalte in Oſtende und in dem Seebade Blankenberghe bei Brügge ſelbſt vornahm. Das erſte Experiment, wodurch die aufgeſtellte Behauptung zur Wahrheit erhoben wird, beſteht darin, daß man von dem leuchtenden Meerwaſſer ſchöpft und dasſelbe durch ein Filtrum von doppeltem Leinen ſchüttet. Das Waſſer, welches vor dem Filtrieren, wenn geſchüttelt, noch ſtark im Dunkeln leuchtet, verliert ſein Feuer, ſobald es filtriert iſt. Man mag es rütteln, ſoviel man will, kein Funke entfährt ihm. Dagegen bleiben auf dem Filtrum leuchtende Pünktchen zurück. Unterſucht man dieſe leuchtenden Pünktchen mit einem Mikroſkope von nur mäßiger Vergrößerung, ſo erkennt man deutlich die leuchtenden Tierchen. Tileſius ſtellte dieſes Experiment bei ſeiner Forſchungsreiſe mit Kruſenſtern auf den entlegenſten Meeren an; das Reſultat war ſtets dasſelbe: das filtrierte Waſſer verlor ſeinen Lichtſchein, während das Reſiduum der Filtra ſeine Leuchtkraft bewahrte und unter dem Mikroſkope leuchtende Tierchen als Lichtträger nachwies.

Schöpft man dagegen Meerwaſſer, welches auch in der tiefſten Dunkelheit nicht leuchtet, ſo ſucht man mit dem kräftigſten Mikroſkope nach den vorhin erwähnten Animalkulen vergebens. Iſt das Meerleuchten ſehr ſtark und ſchön, ſo findet man auf dem Filtrum eine viel größere Anzahl von Leuchttieren, als man darauf bemerken kann, wenn das Waſſer aus ſchwach leuchtender See geſchöpft iſt.

Gießt man von ſtark leuchtendem Meerwaſſer einige Tropfen in ein kleines Uhrglas und bringt dieſes unter ein Mikroſkop von nur mäßiger Vergrößerung, ſo ſieht man die kugeligen Tierchen deutlich an der Oberfläche umherſchwimmen. Die Leuchttierchen halten ſich gern an der Oberfläche des Waſſers auf. Nur durch Erſchütterung gelangen ſie unter die Oberfläche hinab. Füllt man z. B. eine Flaſche mit Seewaſſer, das aus dem leuchtenden Meere geſchöpft iſt, läßt dieſelbe einige Zeit ruhig ſtehen und zieht dann mittels einer Röhre Waſſer von dem Boden der Flaſche in ein Glas, ſo bemerkt man ſelbſt beim Schütteln kein Leuchten dieſes Waſſers, obwohl das Waſſer in der Flaſche beim leiſeſten Rütteln funkelt, obwohl jenes mit dieſem ganz dieſelbe chemiſche Zuſammenſetzung, ganz dieſelben mechaniſch darin ſchwebenden Organismen hat, aber man findet auch keine Noktiluken darin. Dieſes Experiment läßt ſich noch deutlicher machen, wenn man zwei Gläſer mit gleich leuchtendem Waſſer nimmt, den Inhalt des einen filtriert und das auf dem Filtrum bleibende Reſiduum dem andern zumiſcht. Im Dunkeln zeigt dann das filtrierte Waſſer keine Spur von Leuchtkraft, während in dem andern die Glut ſich verdoppelt hat. Dr. Verhaeghe hat ſich die Mühe gegeben, alle Noktiluken mit einer feinen Pincette aus dem einen Glaſe aufzufangen und in das andere zu ſetzen. Das Reſultat war dasſelbe, obwohl durch dieſe Manipulation auch kein Pflanzenfäſerchen aus dem einen in das andere Glas gebracht war.

Dieſe Experimente, die ebenſo leicht anzuſtellen als durch anderweite zu vermehren ſind, legen das unwiderlegliche Zeugnis dafür ab, daß kleine Tierchen die direkte Urſache des Meerleuchtens ſind. Millionen und Millionen dieſer kleinen Infuſorien, die im Meere umherſchwimmen und einen hellen Schein von ſich geben, bringen das brillante Phänomen des Meerleuchtens hervor. Wie in der Milchſtraße unzählige Fixſterne ſich zu dem weißen Schimmer vereinigen, der ſich über das Himmelsgewölbe hinzieht, ſo verſammeln ſich noch zahlreichere Scharen winziger Leuchttierchen zu den glühenden Blitzen, welche über die Meeresoberfläche dahinfahren. Wir tun hier einen Einblick in die geheime Werkſtatt der Natur, die unter der Leitung einer höheren Weisheit mit den kleinſten Mitteln die größten Reſultate ſchafft.

Mit dem Nachweis, daß das Meerleuchten von animaliſchen Lichtträgern herrührt, iſt das Rätſel jedoch keineswegs gelöſt; wir ſtehen vielmehr vor einem neuen Geheimniſſe. Denn nun erhebt ſich die Frage: „Iſt es ein eigenes Licht, welches von dieſen Tieren ausgeht, in ihnen erzeugt wird, ſo daß ſie an ſich leuchten, oder iſt es nur ein äußeres Licht, das ſie reflektieren? Und müſſen wir nach allem, was wir über die leuchtenden Feſtlandstiere wie über die leuchtenden Seetiere erfahren haben, ſchon ahnen, daß es ein Licht iſt, welches in dazu geeigneten, beſonderen Organen dieſer Weſen produziert wird, welcher Art iſt dann dieſes Licht, welches von jenen kleinen animaliſchen Organismen ausſtrahlt?“ Zur Beantwortung dieſer

noch nicht in allweg endgültig gelöſten Fragen bemerken wir kurz folgendes: Die Lichterſcheinung iſt an den lebendigen Organismus gebunden; im toten Zuſtand iſt kein Funken ſichtbar. Dieſe Effulguration iſt von einem äußeren Reiz abhängig. Schöpft man Waſſer aus dem leuchtenden Meere in eine Flaſche, ſo ſieht man kein Aufleuchten, wenn und ſolange das Waſſer im Zuſtande der Ruhe iſt. Das Funkeln zeigt ſich aber bei jedem Rütteln, wodurch das Waſſer erſchüttert wird; leuchtende Kügelchen ſteigen in dem Waſſer auf und ab. — Der äußere Reiz braucht jedoch nicht durch Stoß bewirkt zu werden; ſcharfe Flüſſigkeiten, als Säuren, Alkohol ꝛc., reagieren in gleicher Weiſe.

Unter dem Mikroſkope erſcheint dem aufmerkſamen Auge das Leuchten als eine Reihe raſch hintereinanderfolgender Funken, die von einzelnen Punkten des Lichtträgers ausgehen; doch ich laſſe hierüber beſſer den genauen Forſcher Quatrefages reden. „Bei einer Vergrößerung von 10—12 Durchmeſſern“, ſagt er, „ſieht man, daß das Licht ſich oft abwechſelnd auf verſchiedenen Stellen des Körpers zeigt. Bei einer Vergrößerung von 60 Diametern erſcheinen die lichten Stellen als ſehr kleine glänzende Punkte, die, ſich auf einem weißen Grunde da und dort ablöſend, erſcheinen und verſchwinden. Bei einer Vergrößerung von 150 Durchmeſſern ſieht man die Aufeinanderfolge der Funken, welche von einzelnen Punkten des Körpers hervorblitzen, ganz deutlich.“ Ehrenberg will ſogar das Organ des Leuchtens in den Wärzchen erkannt haben, die ein ſehr ſtarkes Mikroſkop über den ganzen Körper der Photocharis cyrrigera verbreitet nachwies.

Demgemäß iſt das Leuchten des einzelnen Tierchens ein elektriſches Funkenſpiel, welches dem animaliſchen Kondenſator entlockt wird, und keineswegs Folge des langſamen Verbrennens einer ſchleimigen Flüſſigkeit, wie Spalanzani meinte und Leukart noch vor kurzem ausſprach, oder des von Tieren ausgeatmeten Phosphorwaſſerſtoffes, wie Tileſius behauptete. Alexander v. Humboldt ahnte mit richtigem Gefühle den eigentlichen Kauſalitätsnexus dieſer Erſcheinung, wenn er in den „Anſichten der Natur“ ſagt: „Die hier entwickelten Betrachtungen machen es wahrſcheinlich, daß in den kleinſten lebendigen Organismen, die dem bloßen Auge entgehen, in dem Kampfe ſchlangenartiger Gymnoten, in den aufblitzenden Leuchtinfuſorien, welche die Phosphoreszenz des Meeres verherrlichen, wie in der donnernden Wolke und in dem Erd- und Polarlichte (dem ſtillen magnetiſchen Wetterleuchten), das als Folge einer verſtärkten Spannung des inneren Erdkörpers der plötzlich veränderte Gang der Magnetnadel viele Stunden lang vorher ankündigt, ein und derſelbe Prozeß vorgeht.“

## 87. Geſchichte eines Waſſertropfens.

Von A. Grube.

Biographieen aus der Naturkunde. Stuttgart 1869. 1. Reihe. S. 11.

„Tröpflein muß zur Erde fallen,
Muß das zarte Blümchen netzen,
Muß mit Quellen weiterwallen,
Muß das Fischlein auch ernähren,
Muß im Bach die Mühle ſchlagen,
Muß im Strom die Schiffe tragen,
Und wo wären denn die Meere,
Wenn nicht erſt das Tröpflein wäre?“

Mancher arme Tropf unter den Menſchenkindern hat nicht ſoviel erlebt, als der kleine, winzige Waſſertropfen, von welchem ich dir jetzt eine Geſchichte erzählen will.

Im Schoße des großen, weiten Meeres ſprangen im hellen Sonnenſcheine tauſend und aber tauſend kleine Tropfen wie luſtige Kinder auf dem Schoße ihrer Mutter und ließen ſich vom Winde hin und her ſchaukeln. Ein Söhnchen in der zahlreichen Tropfenfamilie war beſonders mutwillig und wollte immer am höchſten ſpringen, aber er fiel, ſo wie ſeine anderen Brüder, immer wieder in den Schoß der Mutter zurück. Zuweilen hing er ſich an die Floſſen eines Delphins, ließ ſich von dieſem eine Strecke weit forttragen und ſprang mit ihm tanzend empor; aber höher vermochte er nie zu ſpringen, als der Fiſch ſelber, und wie dieſer niederfiel und untertauchte, ſo mußte er folgen. Als wäre er an einen Faden gebunden, ſo zog es ihn immer zur Waſſerfläche zurück. Wenn er dann aufſchaute zum klaren, blauen Himmel,

der wie ein zweiter Ozean hoch über dem Meere sich wölbte, und an welchem die strahlende Sonne spazieren ging, so erfaßte ihn die Reiselust, eine gewaltige Sehnsucht, sich bis in die Luft zu den Wolken emporzuschwingen, mit diesen durch das blaue Luftmeer zu schiffen und von oben herab die Erde zu beschauen. Da bat und flehete denn der kleine Tropf die Sonne an, daß sie ihn doch einmal zu sich emporziehen und mitnehmen möchte auf ihre große Reise um die Erde herum. Der lieben Sonne gefiel der kühne Mut des Wichtleins, und sie gewährte seine Bitte. Sogleich schickte sie einige von ihren Strahlen ab, und im Nu waren diese unten im Meere angelangt, um das Tröpfchen mit sich zu nehmen hoch in die Luft. Damit es aber dem armen Tropfe nicht an Reisegefährten gebreche, nahmen die Sonnenstrahlen noch eine große Schar anderer Tröpflein mit, wovon jedoch unser Wandersmann gar nichts gewahrte, denn die ganze Reisegesellschaft war schon von der Sonne in unsichtbare Luft verwandelt worden. Darum merkte es auch die Frau Mutter See nicht, daß der kleine Sohn samt seinen Brüderchen ihr von der Frau Base Sonne jetzt entführt ward. Im schnellsten Laufe eilten alle Tropfen der Sonne zu; sie stiegen immer höher und höher, bis es ihnen ganz schwindelig wurde. Als sie hoch genug gestiegen waren, kamen sie an einen Luftstrom — denn da oben gibt es auch Flüsse und Bäche, wie unten auf der Erde, nur ist kein Wasser darin, sondern Luft —; in diesen Luftstrom sprangen sie hinein und ließen sich von demselben fortführen weit über das Meer hinweg dem Lande zu. Als geübte Schwimmer brauchten sie nicht viel Zeit; in einer Stunde hatten sie hundert Meilen gemacht. Das war eine Lust, so schnell durch den Luftozean hinzusegeln, viel schneller, als Fische schwimmen und Vögel fliegen können! Und wie erstaunten sie, als tief unter ihnen eine ganze neue Welt sich zeigte! Sie schauten hernieder auf grüne Wiesen und wallende Kornfelder, auf Bäume und Büsche und Städte und Dörfer. Hier pflügte ein Bauer mit seinem Ochsengespann einen Acker, dort sprengte ein Reiter auf mutigem Rosse einher; hier schwang sich ein Adler zu der unsichtbaren Tropfenfamilie hinauf, als wolle er sie begrüßen, und schoß dann wieder herab gleich einem Pfeile; dort hüpften in dichtbelaubten Wäldern allerlei bunte Vögel und sangen. Wie die Sonne alles schaut, was sich auf Erden begibt, so hatten auch die Tropfen helle Äuglein bekommen und ließen's am Schauen nicht fehlen. Alles war ihnen neu, und als sie im Schoße ihrer Meeresmutter verborgen ruhten, da hätten sie es nimmer sich träumen lassen, so etwas wie eine Stadt, ein Pferd oder einen Acker zu sehen. In ihrer großen Bewunderung und Freude hatten sie gar nicht darauf geachtet, daß die Sonne immer tiefer am Himmel niedergesunken war. Jetzt tauchte sie an eben der Stelle in das Meer hinab, von wo sie ihre Reise begonnen hatte. Da dünkte es unserem Tröpflein, das anfangs am mutwilligsten gewesen war, gar nicht mehr so lustig in den hohen Luftschichten, zumal es hier mit jeder Minute kälter und dunkler ward. Der arme Tropf schaute sich nach einem Obdach um; aber von einer Herberge für die Nacht war auf diesen lustigen, öden Gefilden nichts zu entdecken. So faßte er denn den Entschluß, lieber auf der Erde zu übernachten, die ihn mit ihren Wiesen und Bäumen und Blüten so freundlich angelacht hatte. Gedacht, getan! Leise und ungesehen schwebte er in die Tiefe hinab. Je tiefer er kam, desto schwerer ward er; er fühlte, wie er aus dem unsichtbaren Dunst sich in einen sichtbaren Wassertropfen verwandelte; er fiel immer schneller und schneller und langte endlich auf einem Rosenbusche an. Eine halberblühte Knospe öffnete ihm gastfreundlich die Tür, und hurtig schlüpfte das Tröpflein hinein; denn in dem grünen Häuschen war ihm ein duftiges Bette zubereitet zur Ruhe für die Nacht. Als der Morgen graute, und im Osten der Himmel sich rötete, war auch das Tröpflein schon munter und sah nun mit freudigem Erstaunen, wie es seine Nachtruhe gehalten in den zarten Rosenblättchen, die gleich den Strahlen des Morgenrotes glänzten. Frisch und wohlgemut kam es aus seinem duftigen Bette hervor und setzte sich auf den Rand eines Blumenblattes. Hier erwartete es die liebe Sonne, und als sie prächtig und majestätisch, gleich einer Königin, am Himmel aufstieg, wünschte es ihr einen freundlichen guten Morgen. Die Sonne freute sich des kleinen, hellen Tropfens und spiegelte ihr Antlitz in ihm ab, daß er schöner leuchtete, als der Diamant. „Nimm mich wieder auf zu dir, o liebe Sonne, und laß mich wiederum mit dir reisen, weit über die Erde hinweg!“ — so rief der

kleine Tropf der Morgenſonne entgegen, und dieſe erhörte abermals ſeine Bitte. Ihre Strahlen zogen ihn ſchnell zum Himmel empor, und luſtig ſchwebte er wieder fort über Städte und Länder, über Berg und Tal. Doch als der Tag immer heißer und ſchwüler ward, gingen dem übermütigen Geſellen die Kräfte aus; er wollte ſtillhalten und ausruhen. Aber auf ſeinem Wege ſtand kein Grashalm, blühete keine Roſe, war kein Schatten für den müden Wanderer zu finden. Er hätte weinen mögen vor lauter Müdigkeit und ſchrie in ſeiner Not zur guten Sonne: „Laß mich wieder hinab auf die Erde oder zu meiner Mutter, dem Meere!“ Als er dies geſprochen, hörte er tauſend und aber tauſend Stimmchen über und neben ſich, die riefen alle dasſelbe und ſtimmten in ſeine Bitte ein; denn es waren ſeine Brüderchen, die unſichtbar neben ihm ſchwammen und welche getreulich dem kühnen Springinsfeld nachgefolgt waren. Da erbarmte ſich die liebe Sonne und ſchickte einen kühlen Wind, der alle die kleinen Tröpfe zuſammentrieb in eine graue Wolke, die je größer wurde, je mehr Tropfen zuſammenkamen. In dem dichten Nebel konnten ſich die Brüderchen anfangs gar nicht erkennen, ſie drängten und drückten ſich einander und wußten nicht, wie ihnen geſchah, bis ſie auf einmal in ſichtbare, runde Waſſertröpflein ſich verwandelt ſahen, ſich alle bei der Hand faßten und in ſchnellem Laufe der Erde zueilten. Das rauſchte und plätſcherte, als das kleine Heer auf der Erde unten ankam! Die Menſchen aber ſprachen: „Es regnet!“ Ein Teil der Tropfen fiel auf einen hohen Berg und unſer kleiner Held gleichfalls. Doch der hohe Fall tat ihm gar nicht wehe; munter und guter Dinge ſprang er an dem ſteilen Felsabhange hinunter, und ſeine Brüderchen hinter ihm drein, wie die Soldaten hinter ihrem General. Bald war wieder ein ganzes Heer beiſammen, und jeder hielt ſo eng und feſt an dem andern, daß ſie anwuchſen zu einem ſchäumenden Waldbache, der keck im frohen Übermute der Jugend vorwärtsſtrömte. Kamen ſie an einen ſpitzen und eckigen Stein, der ſich ihnen trotzig in den Weg ſtellte, ſo verſuchten ſie, wer zuerſt hinüberſpringen konnte, und der kleine General brachte es immer am höchſten. Zuweilen hüpfte er auf einen Erdbeerſtrauch, der am Rande des Baches gewachſen war, und ſchlüpfte dann neugierig in die weißen Blüten oder ſetzte ſich auf die roten Beeren, als wollte er verſuchen, wie ſie ſchmeckten; oder er kletterte auch wohl auf die Blätter einer überhängenden Erle und ſchaukelte da ſo lange, bis er auf ſeine Gefährten im Bache herunterfiel und mit dieſen dann luſtig weiterrannte. Als ſie ſo zuſammen eine Strecke fortgehüpft waren, immer bergab, hörten ſie im Tale drunten etwas klappern, und wie ſie näher kamen, erblickten ſie ein Haus, vor dem lagen zwei große rund zugehauene Steine und ſtanden ein paar Eſel, die von einem weißbeſtäubten Manne mit Säcken beladen wurden. An der Hinterſeite des Hauſes drehte ſich ohne Aufhören ein Rad, über welches der Bach hinwegbrauſte. Es war eine Mühle. Im Innern derſelben wurden durch das drehende Rad ſolche große Steine gleich jenen, die vor der Tür lagen, ſchnell wie im Fluge herumgewirbelt, viel ſchneller, als der Kreiſel, welchen der Knabe peitſcht, ſich zu drehen vermag. Das waren die Mühlſteine, welche fleißig arbeiteten, das Korn zu weißem Mehl zu zerreiben. Welcher Rieſe war es aber, der die Kraft beſaß, das Mühlrad ſamt den ſchweren Steinen ſo hurtig zu drehen und zu ſchwingen? Niemand anders, als unſere kleinen Tröpfe, die zu Tauſenden über das Rad hinabſprangen und ſo kräftig auftraten, daß es ſich vor ihnen beugte. Wie klein und winzig iſt ein Waſſertröpflein allein, in Wahrheit ein armer Tropf; aber wenn die Kleinen ſich verbinden, feſt wie Brüder aneinanderhalten, dann gewinnen ſie Rieſenkraft und ſind groß! Das Tröpflein mit ſeinen Brüdern hinterdrein machte mutig den halsbrechenden Sprung, und als es hinabſtürzte, war es, als müßte es im ſchäumenden Waſſerſtrudel unter dem Rade ſein Grab finden. Aber bald arbeitete es ſich mutig empor und ſchwamm weiter ſo ruhig und wohlgemut, als ſei ihm nichts geſchehen. Sein Weg führte zu einem Teiche, worin der Bach mündete. Auf dem Teiche ſchwammen Enten und Gänſe, am Rande hatten die Fröſche ihre Wohnung aufgeſchlagen, ließen ſich's wohl ſein in der warmen Sonne und ſtimmten luſtig ihren quakenden Rundgeſang an. Aus dem Schlammboden erhoben ſich Karpfen und Schleien, plätſcherten und ſprangen über den Waſſerſpiegel empor, ſo übermütig, als wären ſie Delphine des Meeres. Das machte unſerem kleinen Tropf viel Spaß,

und er beſchloß, eine Zeitlang in dieſer kleinen Welt zu verbleiben. Die Enten erkor er zu ſeinen Schiffchen, mit denen er rechts und links, den Bach aufwärts und abwärts zum Teiche zurückſchiffte; die Fröſche waren ſeine Pferdchen, die er keck beſtieg, um mit ihnen über die Grashalme zu ſpringen und auf der Wieſe ſpazieren zu reiten. Doch endlich war es dem Kleinen, der aus dem großen, unendlichen Meere ſtammte, im winzigen Müllerteiche doch zu eng und zu klein, und er wäre gern wieder zur Sonne aufgeſtiegen, um mit ihr durch die Lüfte zu ſegeln nach dem Weltmeere zurück, aus welchem er mit ſo viel Kühnheit entwiſcht war. Schon wollte er der Sonne ſeinen Wunſch wieder vortragen, ſiehe, da kam eine Frau mit der Gießkanne in der Hand, beugte ſich zu dem Teiche herab, erhaſchte das Tröpflein in ihrem Gefäß und ſpritzte es auf die naſſe Leinwand, welche neben dem Teiche zum Bleichen aufgeſpannt war. Da ſaß nun der arme Tropf auf dem Trockenen, und er wäre ſchier verſchmachtet, hätte nicht die gute Sonne mit ihren hellblinkenden Augen zu rechter Zeit ſeine Not bemerkt. Raſch zog ſie ihn mit ſeinen Brüderchen aufwärts, ſo daß keine Spur von ihnen auf der Leinwand zurückblieb, und wohlgemut ſchwamm er wieder im blauen Luftmeere dahin. Die Sonne wollte aber nicht fortwährend von kleinen Tröpfchen beläſtigt werden, und um eine Zeitlang Ruhe zu haben, auch dem wanderluſtigen Geſellen etwas die Reiſeluſt zu vertreiben, ſchickte ſie ihn jetzt über die Oſtſee in das weite Flachland der ruſſiſchen Ebene, wo es ſehr kalt und wenig Merkwürdiges zu ſehen iſt. Die Reiſe war lang, und als der Tropfen müde und matt am ruſſiſchen Himmel anlangte, war es ihm nicht mehr zu heiß. Ein ſcharfer Wind wehte vom Nordpol her, der machte die Luft ſehr froſtig, und es kamen wieder Tauſende von Waſſertröpfchen zuſammen, als wollten ſie aneinander ſich wärmen. Doch mit dem Erwärmen war es jetzt ſchlecht beſtellt, denn die Sonne ſtand tief am Horizont, und ihre ſchrägen Strahlen vermochten kaum den trüben Nebel zu durchdringen. Die Tropfen wollten ſich ihre Not klagen und Rat halten, was nun zu tun ſei, da, o Wunder, geſchah plötzlich eine Verwandelung. Jedes Waſſertröpflein ward zu einem weißen, ſilberhellen Sterne, geziert mit feinen Nadeln und Härchen, ſo zart und fein, wie die Härchen auf dem Flügel des Schmetterlings, und wie weiße Schmetterlinge ſchwebten nun die Eisſternchen, im bunten Tanze durcheinanderhüpfend, zur Erde herab. Da ſagten die Menſchen: „Es ſchneit!“

Unſer kleiner, nun zu Schnee gefrorener Held war aber auf einem Acker niedergefallen, und Tauſende ſeiner Brüder mit ihm. Gleich einer warmen Winterdecke, aus weichen, weißen Eiderdunen zuſammengenähet, legten ſie ſich über das Feld hin und ſchützten die im Schoße der Erde keimenden Körner und Würzelchen vor dem ſtrengen Winterfroſte. Sie ſelber fühlten weder die erſtarrende Winterkälte, noch den rauhen Nordwind, der über die weiße Schneefläche dahinſauſte; ſie ſahen und hörten nichts, denn ſie ſchliefen den langen Winterſchlaf. Die Sonne war weit, weit von ihnen fortgereiſt, blickte aber doch aus fernem Lande oft gütig auf die eingeſchlafenen kleinen Tröpfe hernieder, und dieſe wurden dann ſchön wie funkelnde Edelſteine und ſtrahlten, als wären ſie ſelber leuchtende Sonnen und blinkende Sternlein geworden. Wohl ein halbes Jahr lang mochten ſie ſo ihren Schlaf der Erſtarrung durchgeſchlummert haben, da ſtieg die liebe Sonne wieder höher am Himmel auf, kam immer näher heran und ließ durch warme Frühlingslüfte ihre Ankunft dem ganzen Heere der Waſſertropfen melden, die alle in weißer Uniform unbeweglich auf dem Felde in Reih' und Glied lagerten. „Stehet auf, ihr Schläfer, und rüſtet euch zum Marſche!“ — ſo erſcholl der laute Weckruf, und dieſe Stimme ward von allen gehört. Munter regten und hurtig bewegten ſich alle, ſie warfen das Schneekleid ab, um ſchneller marſchieren zu können, und nun konnte man wieder die fließenden, nackten Waſſertröpflein ſchauen. Eine Abteilung von ihnen ſenkte ſich in die Erde hinab, um den keimenden Körnlein einen Labetrunk zu bringen, denn dieſe hatten lange gedurſtet, und wie ſie tranken, wurden ſie zuſehends größer und ſtärker und ſtreckten die grünen Köpfchen aus der Erde hervor. Eine zweite Abteilung ſtieg gerade zum Himmel an, ſetzte ſich in die großen Wolkenſchiffe und ſegelte mit dieſen nach Süden in die heißen Länder, die ſehnlichſt nach Regen verlangten. Aber unſer kleiner Held war weder in der erſten Abteilung, denn er hatte nicht Luſt, ſich in der Erde zu verbergen, noch in der zweiten,

denn er war ſchon zur Genüge in dem Luftmeer geſegelt: ſondern er ſtellte ſich an die Spitze der dritten Truppe, die jetzt von dem Acker weg zur Talrinne hinabzog und hier in langen Zügen in geſchloſſenen Gliedern talabwärts ſich bewegte. Dieſe kriegsluſtigen Tropfen hatten ſich zu einem mutig daherbrauſenden, wildſchäumenden Gießbache gebildet und ſangen freudig: „Friſch vorwärts zum Meer, friſch vorwärts zum Meer!“ Da ſchallte ihnen, noch viel lauter, als ſie ſelber ſangen, die Antwort von tauſendmal tauſend Stimmen entgegen aus einem größeren Bach, der auch des Weges zog und das gleiche Reiſeziel verfolgte: „Glück auf, ihr Brüder, zur frohen Wanderſchaft!“ Beide Heere der Waſſertropfen floſſen jetzt in eins zuſammen. Das war ein Plaudern, ein Murmeln und Lärmen, als immer mehr Tröpflein zuſammenkamen und ſich fragten und wiedererkannten und des Wiederſehens freuten! Das Heer der kleinen Reiſigen wuchs mit jeder Minute; immer mehr und mehr Begleiter fanden ſich ein, und wie erſtaunten ſie, als es plötzlich in ein breites Flußtal ging, und ein ſtarker, breiter, voller Strom ſtolz ſeine Wellen ihnen entgegenwälzte. Unſer kleiner Wagehals ſprang vor Freude auf die Schultern ſeiner Kameraden und eilte über dieſe hinweg, um der erſte zu ſein, den prächtigen Strom zu begrüßen.

Dieſer war nicht wenig erfreut, zu ſehen, wie ſoviel rüſtiges, friſches Volk in allerlei Bächen ihm zuſtrömte und ſeine Macht vermehrte. Die Tröpflein aber waren nicht wenig ſtolz darauf, zu einem ſo großen Fluſſe zu gehören, durch den ſie ſtark wurden, die ſchwerſten Laſtſchiffe zu tragen! Bald fuhr ein Kahn, mit zentnerſchweren Bauſteinen beladen, auf ihrem Rücken dahin, und ſie trugen ihn ſo leicht, als wäre er von Papier; bald peitſchten die Räder eines Dampfſchiffes, vollgepackt mit Kiſten und Warenballen und vollbeſetzt mit Menſchen groß und klein, ſcharf in die glatte Fläche hinein, und dann brauſte das Tropfenheer ſchäumend und wogend im heftigſten Zorne auf, als wollte es ſich auflehnen gegen den unwillkommenen Zwang; bald ſtürzten die Tropfen in ihrem Übermut auf die ſteinernen Pfeiler einer Brücke los, die feſt und kühn ihre Bogen über die ganze Breite des Stromes geſchlagen hatte, als wollten ſie die Feſtigkeit des Baues erproben und das Menſchenwerk wieder zerſtören. Jeden Augenblick ſah der gute Tropf etwas Neues, kleine und große Städte, Mühlen, die gleich ſchwimmenden Inſeln mitten im Strome ſtanden, Schleuſen, in denen er ſich gefangen ſah, wenn er die große Heerſtraße verließ, aber aus denen er immer glücklich entwiſchte. Doch das merkwürdigſte Schauſpiel erwartete ihn, als er an einer großen Handelsſtadt vorbeifuhr und in den Hafen derſelben mündete. Da wimmelte es von Schiffen aller Art, breiten und ſchmalen, hohen und niedrigen; noch nie hatte er ſo viele ſchwimmende Häuſer zuſammen geſehen. Es war anzuſchauen wie ein lebendiger Wald, aus dem Grunde des Meeres gewachſen, ſo viele Maſtbäume ragten da empor. Und Fahnen und Wimpel, rot und blau und grün und weiß, flatterten luſtig in der Luft. Matroſen aus allerlei Volk und in verſchiedenen Kleidungen ſangen und tranken und arbeiteten auf dem Verdeck. Und rings in einem großen Halbkreiſe ſtanden ſchöne Paläſte, ſo hoch wie die Kirchtürme, dahinein wurden die Warenballen geſchafft und an Rollen aufgewunden bis in die oberſten Räume. Das alles betrachtete das Tröpflein, auf dem Steuerruder eines Kauffahrteiſchiffes ſitzend; es hätte wochenlang daſitzen mögen und die Zeit wäre ihm nicht lang geworden.

Indeſſen, als eines Tages die Matroſen desſelbigen Schiffes ihr Lied anſtimmten: „Morgen da geht's — in die wogende See!“ da ward der kleine Meeresſohn doch ergriffen von heftiger Sehnſucht, heimzukehren zu der lieben Mutter, von der er ſchon ſo lange getrennt war. Er hüpfte und ſprang voll Freude und Ungeduld, als die Segel aufgeſpannt und die Anker gelichtet wurden; er kletterte auf den oberſten Rand des Steuerruders und ſegelte mit dem Schiffe luſtig dem Meere zu. Es dauerte gar nicht lange, da ſchwand zu beiden Seiten das Land; große und ſtarke Wogen, vor denen die kleinen Flußwellen ſich beugten, ſtürzten heran, als wollten ſie letztere begrüßen und heimholen zu der Mutter, die längſt auf ihre Ankunft harrte. Nun ſprang unſer Held von ſeinem Sitze herab und ſtürzte ſich in das frohe Getümmel, um den erſtaunten Brüdern, die im Meere zurückgeblieben waren, ſeine

Wanderfahrten zu erzählen, wieweit er gereiſet, wo er geweſen, was er geſehen. Das Meer aber, mit einem dunkelgrünen Feſtkleide angetan, freute ſich der zurückkehrenden Kinder, öffnete die Arme, und alle ſanken an die liebe Mutterbruſt. —

Wenn du einmal an einem heitern, ſtillen Sommerabende am Strande des Meeres ſpazieren gehſt, und gar kein Lüftchen ſich rührt, ſo hörſt du doch noch ein leiſes Murmeln und geheimnisvolles Rauſchen und weißt nicht, von wannen das kommt. Siehe, das ſind die Tröpflein, die ſich wunderſame Geſchichten erzählen von den weiten Reiſen, die ſie gemacht. Und dann gedenke daran, daß der liebe Vater im Himmel, der alle Tropfen im Meere gezählet hat und ſie behütet, daß keines ſich verliert und verloren gehet, auch deine Schritte lenkt und dich ſicher geleitet durch die Irrgänge des Erdenlebens in das Meer der Ewigkeit.

## 88. Der Seeſturm.

Von H. Steffens.

Die vier Norweger. Breslau 1837. 1. Novelle, S. 245.

Der Sturm brach wieder hervor, wütender als je. Häuſerhoch erhoben ſich die Wellen und trugen das Schiff auf den ſchäumenden Gipfel, um es wieder in den Abgrund zu verſenken. Wie klein erſchien das Schiff, wenn die mächtigen Wellen, ein kühnes Gewölbe bildend, ſich weit über die Maſten erhoben, auf den Spitzen in Schaum zerſplitterten, und Flinthough ſich in ein naſſes, wandelbares Tal verſenkt ſah, während die Talwände das Schiff ergriffen und wieder wie tanzend auf den wildbewegten Gipfel hinaufſchleuderten. Die Sonne ſchien hell, und ſo großartig erſchien dem Erſtaunten das Schauſpiel, daß jedes Gefühl der Gefahr verſchwand. Der Schiffer wußte nicht, wo ſie waren. Aus ſeinen fortgeſetzten Beobachtungen ſchloß Flinthough, daß ſie ſich vor der Mündung der Elbe befinden müßten. Der Schiffer leugnete es, und es entſpann ſich ein heftiger Streit. Da entdeckten ſie ein Schiff. Bald erſchien es auf dem Gipfel der Wellen tanzend, wenn ſie in der Tiefe ſchwebten; dann ſchauten ſie von dem Gipfel hinab auf das hinuntergeſchleuderte Schiff. Beide näherten ſich einander abſichtlich. Für einen Augenblick waren ſie einander ganz nahe. Durch ein Sprachrohr fragte man, wo die Schiffe ſich befänden. „Dicht vor der Mündung der Elbe!“ tönte von dem Schiffe aus die Antwort. Aber der Augenblick der Annäherung der Schiffe war zu kurz, die heftigſte Bewegung des Meeres ſchleuderte ſie wie durch einen Zauber auseinander. Der Wind wütete heftig aus Weſten. Vor ihnen lag die gefährliche Mündung des Fluſſes, und es war unmöglich, ſich vom Lande entfernt zu halten. Sie waren genötigt, in die Elbe hineinzuſegeln, ſo bedenklich, ſo gefährlich es auch ſchien. Bald entdeckten ſie die großen, auf einer Seite ſchwarzen, auf der andern Seite weißen Tonnen, die, durch mächtige Anker feſtgehalten, zwiſchen ſich den Weg bilden, den die Schiffe nehmen müſſen. Flinthough hatte, als die Reiſe ſo langwierig ward, den Matroſen geholfen; er verſtand es ſchon, die Taue zu handhaben, die Segel aufzuziehen, herabzulaſſen, einzureffen. Jetzt ſtand er im Maſtkorbe, um die Tonnen zu entdecken, die wegen der hohen Wellen auf dem Verdecke nicht zu erkennen waren. Ein Matroſe ſtand auf einer, er auf der andern Seite, mit den Blicken emſig die zweite Tonne ſuchend, wenn ſie die erſte aus den Augen verloren hatten. „Eine ſchwarze Tonne rechts!“ ſchrie der Matroſe; „eine weiße Tonne links, ſechs Schiffslängen entfernt!“ rief Flinthough durch den heulenden Sturm nach dem Verdeck hinunter. Es war, was die holländiſchen und niederländiſchen Seeleute ein „Boſe-Wedder“ nennen. Bald ſchien die Sonne hell, dann verhüllte ſie ſich plötzlich; ein Regen, von dem Sturm gepeitſcht, ſtürzte herunter; der Himmel verfinſterte ſich, daß man kaum eine Schiffslänge weit ſah. In einem Augenblicke war die Finſternis verſchwunden, und die hellſcheinende Sonne trat wieder hervor. So wechſelte es unaufhörlich. Vier Männer waren mit Stricken an das Ruder feſtgebunden, um es zu regieren. Eine

dumpfe Stille herrſchte auf dem Schiffe, nur durch die Befehle des Schiffers und des Steuermannes unterbrochen. Aufmerkſam, mit ſteter Anſtrengung, aber ohne einen Laut hören zu laſſen, arbeiteten die Matroſen. Man entdeckte das hohe Helgoland, welches, einer ſeltſamen Feſtung ähnlich, ſchroff, aus verſchiedenfarbigen Schichten beſtehend, die wie Baſtionen hier und da hervorſprangen, völlig flach dalag. Die Häuſer und Kirchen erkannte man, man erblickte die Treppe, die von unten nach der oberen bewohnten Fläche führte. Lange kreuzte das Schiff, Notzeichen wurden gegeben, die Brigg zeigte ſich wieder, noch ein drittes Schiff erſchien. Alle Augenblicke erwartete man Menſchen auf der Treppe zu erblicken, hoffte, daß Böte mit Lotſen von der flachen, ſandigen Erdzunge, die unten an der Inſel in die wütenden Wellen hineintauchte, erſcheinen würden. Man hoffte vergebens. Es war ſpät, es war augenſcheinlich, daß niemand ſich herauswagte. Man mußte es wagen, ohne Lotſen weiter zu ſegeln. Ein ſtummer Schrecken bemächtigte ſich aller, als ſie ohne ſchützende Hilfe den Weg fortſetzten. Die zwei Schiffe folgten. Immer tiefer ging es in die Mündung hinein. Man glaubte zu merken, daß der Wind nachließ; aber der Abend näherte ſich, die Finſternis nahm zu, die Tonnen waren nicht mehr zu erkennen. Das flache Land lag auf beiden Seiten in weiter Ferne, und als es dunkler war, trat etwa eine Meile rechts vom Schiffe das düſtere Feuer aus dem Leuchtturm zu Neuwerk, bald wie in Wellen hineingehaucht, dann ſich wieder erhebend über die wildbewegte Waſſerfläche hervor. Man unterſuchte den Grund; auf wenige Klaftern fand man Sand und wagte es, die Anker auszuwerfen.

Es ſchien, als wollte der Anker haften, und plötzlich fingen die Seeleute an, Hoffnung zu ſchöpfen. Flinthough hatte durch drei Tage und Nächte — ſolange hatte der wütende Sturm gedauert — kein Auge zugetan. Er warf ſich in unſäglicher Ermattung auf die Koje. Kaum lag er, als das Schiff furchtbar erſchüttert wurde. Die Erſchütterung teilte ſich allen Teilen mit, ein dumpfes Krachen begleitete den Stoß. Flinthough ſprang erſchrocken aus der Koje. Kaum ſtand er, als eine zweite Erſchütterung ihn faſt zu Boden warf. „Gott, wir ſind verloren!“ ſchrieen die Seeleute; alles ſtürzte auf das Verdeck. Die erſchrockenen Matroſen ſetzten die Pumpen in Bewegung, aber das helle Waſſer ſtrömte herein und benahm ihnen jede Hoffnung. Man ſchrie, betete, heulte, rang die Hände. Fünf engliſche Matroſen, die in Norwegen Schiffbruch gelitten hatten, waren als Paſſagiere am Bord. Man hatte ſie bis jetzt kaum bemerkt. Die Gefahr machte ſie tollkühn, und ſie verſuchten, ſich des großen Bootes zu bemeiſtern, um ſich zu retten. Zum Glück betrug die Zahl der übrigen Männer gerade das Doppelte. Die Gefahr ſchien vergeſſen; mitten in der Finſternis entſpann ſich ein kurzer Kampf. Die engliſchen Matroſen wurden überwältigt und gaben ihr Vorhaben auf. Aber das Schiff ſog immer mehr Waſſer, die Gefahr wurde immer dringender; da ergriffen die Matroſen die Äxte, auf der linken Seite des Schiffes wurden alle Taue durchgehauen: die Hiebe trafen jetzt die Maſten und klangen furchtbar in die Finſternis, in den heulenden Sturm hinein. Endlich brachen ſie und ſtürzten mit entſetzlichem Gekrach nach der rechten Seite, wo die Taue ſie noch feſthielten. Alle Mannſchaft hatte ſich auf die linke Seite gerettet. Das Schiff neigte ſich tief nach der Seite, wo die Maſten fielen, die Wellen ſchlugen hoch und ſchäumend auf und ſchienen es verſchlingen zu wollen. Aber ſchnell wurden auch rechts die Taue gekappt: die Maſten, von den Wellen ergriffen, verſchwanden in der finſteren Ferne, und das verſtümmelte Schiff ſchwamm, immer tiefer ſinkend, auf dem ſtürmenden Meere, während die Wellen ſich ſchäumend an ſeinen Seiten brachen und die gefährlichen Stöße nach und nach ſich erneuerten. Alles geſchah in großer Unordnung, ohne Befehl, wie inſtinktmäßig, während man Gebete murmelte, ſeufzte, heulte. Nun wurden die Stöße immer ſchwächer. Die Ebbe hatte ſchon angefangen, ehe man den Anker warf. Wie ſie zunahm, ſank das Schiff immer tiefer in den ſandigen Grund; endlich ſtand es ruhig, feſt, und die Wellen ſchlugen an,

ohne es zu bewegen. Die Seeleute ſchöpften Atem. Für dieſen Augenblick ſchien jede Gefahr verſchwunden. Jetzt dachte man daran, zu retten, was einem jeden das Teuerſte war. Man ſtieg in den unteren Raum mit Laternen hinunter. Da fiel es Flinthough ein, daß ſeine Briefſtaſche mit der Anweiſung, ſein einziger Reichtum, in dem Koffer lag, den man in den Raum gebracht hatte; er ſah, wie man in Eile mit den Laternen hin und her rannte; vergebens verſuchte er eine zu erhalten: in wildem Getümmel bewegten ſich alle untereinander. Keiner achtete auf den andern; jeder Befehl hatte aufgehört, und bald verſchwanden die Laternen; ein jeder ſuchte ſie dem andern zu entreißen, und eine nach der andern wurde zerſchlagen. Schimpfend, ſich wechſelſeitig mit Vorwürfen überhäufend, ſtanden die Matroſen nun in der Finſternis da. Kaum vermochte man die einzig übrig gebliebene Laterne, die trübe in der Kajüte brannte, zu retten. Aber die Hoffnung wuchs immer mehr, denn das Schiff war völlig ruhig, das Waſſer ſtieg nicht, der Leuchtturm brannte wiulend in der Ferne. „Wir bleiben hier ſitzen", ſprach der Schiffer, „bis der Tag grauet; der Sturm nimmt auch wohl bis dahin ab, und dann rudern wir ans Land und werden wohl noch das Glück haben, den größten Teil der Ladung zu retten." Alle fühlten ſich ermuntert durch dieſe Rede; die Matroſen drängten ſich in die Kajüte hinein, wo alle Schränke offen waren, Koffer geöffnet umherſtanden, Kleider und Papiere, Segel und Geräte allerlei Art unordentlich zuſammengehäuft waren. Wein, Rum, Genevre wurden preisgegeben, alle Reſte der Lebensmittel rückſichtslos verzehrt, und ein jeder Unterſchied zwiſchen Höheren und Niederen war völlig verſchwunden. Alle ſchienen zufrieden, beſonders machte die freudige Geſprächigkeit des 14jährigen Kajütenjungen einen tiefen, rührenden Eindruck auf Flinthough. Jener drängte ſich an ihn, dem er wohl die größte Teilnahme zutraute, heran und war unerſchöpflich in Erzählungen von früheren Unglücksfällen, die er oder ſeine Eltern und Bekannten überſtanden hatten, in dem eigentümlichen bewegten Ton, den jedermann unter ſolchen Umſtänden annimmt.

„Wie ſeltſam!" ſagte Flinthough, der die Hoffnungen der übrigen keineswegs teilte, zu dem Alten gewandt und leiſe, „es ſind lauter erfahrene Seeleute, es iſt keiner unter ihnen, der nicht weiß, daß die Flut noch vor Mitternacht eintreten wird, daß dann die Gefahr wieder da iſt, ja geſteigert wird. Und doch ſcheinen ſie ſich alle gefliſſentlich zu täuſchen."

Der Geiſtliche fing an, die Seeleute auf die bevorſtehende Gefahr vorzubereiten, aber ein betäubendes Geſchrei gebot ihm Stillſchweigen. „Der katholiſche Hund", ſchrie ein Matroſe, „will uns in Verſuchung führen, will unſern Glauben erſchüttern." Van der Nael zog ſich ſtillſchweigend zurück, und nur der Steuermann näherte ſich den Freunden und teilte ſeine Beſorgniſſe wegen der nahe bevorſtehenden Gefahr leiſe mit. „Wir ſind kaum zu retten", ſagte er, „und dieſe törichte Ruhe wird bald verſchwinden."

Es dauerte nicht lange, und das Unglück, was ein jeder vorausſehen konnte, war da. Flinthough bemerkte zuerſt, daß das Waſſer in der Kajüte ſtieg. Man glaubte ihm nicht. Aber es war leider nur zu wahr. Es ſtieg mit jeder Minute; loſe Stühle wurden durch das ſteigende Waſſer gehoben, umgeworfen und ſchwammen in der Kajüte; das Schiff fing an zu ſchwanken; dann erneuten ſich die Stöße immer vernehmlicher, immer ſtärker, und an die Stelle der Zuverſicht trat plötzlich die blindeſte Angſt. Alle liefen wild durcheinander; ein betäubendes Angſtgeſchrei erhob ſich. Zwei Böte waren hinabgelaſſen, aber durch den Sturm losgeriſſen und fortgetrieben worden. Zum Glück war noch ein drittes Boot da. Es war ein norwegiſches Lotſenboot, welches für einen Hamburger Kaufmann mitgenommen worden war und, an der Seite des Schiffs feſt angebunden, noch unzerſtört gefunden wurde. Die Gefahr ſteigert jedes Geſchick, das Boot wurde mit Vorſicht losgebunden, hinabgelaſſen und ſorgfältiger als die übrigen feſtgehalten. Doch keiner wagte ſich

hinein. Die fürchterlichen Stöße drohten mit augenblicklichem Untergang. Einige wollten den Bugſpriet abhauen und, ſich auf dieſem ins Meer ſtürzend, ſchwimmend ihr Leben retten. Da ſprang ein kühner Matroſe in das Boot. Flinthough war der zweite. Eben war das Boot durch die Wellen vom Schiffe entfernt, und Flinthough im Begriff, zwiſchen beide in das Meer zu ſtürzen; der Geiſtliche ſah es, ergriff den Fallenden bei den Haaren und ſchleuderte ihn in das Boot hinein. Magdalena, die den Geiſtlichen nie verließ, ſtand händeringend neben ihm. Er ergriff ſie und warf ſie hinab. Das Beiſpiel wirkte, alle übrigen folgten. Aber das Boot war ſtark belaſtet, kaum ragte der Rand über das Waſſer, und die Nähe des Schiffes war höchſt gefährlich. Mit großer Mühe, den Tod vor Augen, entfernte man das Boot. Das verſtümmelte Schiff lag wie eine dunkle Maſſe da; der Schaum der anſchlagenden Wellen ſpritzte hoch hinauf und umhüllte es. Als man hinſah, erblickte man noch eine Geſtalt. Der Kajütenjunge wurde vermißt, man ſah ihn die Hände angſtvoll ausſtrecken; ſein Geſchrei vernahm man kaum, es ward von den Wellen, von der Brandung übertönt. „Der arme Junge; aber wer kann ihm helfen! zurückzugehen wäre zu gefährlich", ſagten ſie. Man wollte fortrudern. Da erhob ſich der Geiſtliche wie eine drohende Geſtalt und ſtand kühn aufgerichtet in dem ſchwankenden Boote. „Das Grab gähnt zu euren Füßen", rief er, „die ſtrafende Gerechtigkeit ragt mit ihrem rächenden Arm aus einer jeden Welle. Könnt ihr Erbarmen erwarten, wenn ihr keins erweiſt? Zurück, ich gebiete es euch im Namen des Vaters, des Sohnes und des heiligen Geiſtes." Unwillkürlich, als drohete ihnen der nahe Tod, wenn ſie nicht gehorchten, führten die Rudernden das Boot zurück. Einzelne wagten ihre Stimme dagegen zu erheben, aber leiſe, kaum vernehmlich. Mit Gefahr kamen ſie in die Nähe des Schiffes, der kühne Steuermann ſprang auf das Verdeck, ſetzte den Knaben herunter und ſtieg wieder ein. Zum zweiten Male mußten ſie dieſelbe Gefahr bekämpfen, und als ſie aus der Brandung des Schiffes heraus waren, machten alle ſich ein Verdienſt aus einer Tat, die ſie alle abgewieſen hatten. Aber die Gefahr war nicht verſchwunden. Man hatte einen Kompaß und die einzige noch brennende Laterne gerettet. Die Laterne löſchte aus, in der Finſternis konnte niemand die Richtung beſtimmen. Noch immer wütete der Sturm, jede Welle drohte das überfüllte Boot zu verſchlingen. Sie durchſchnitten die Wellen. Zwei Matroſen ruderten; für eine größere Anzahl war kein Platz. Wechſeln konnten ſie nicht, eine jede Unterbrechung brachte Gefahr. Flinthough hatte ſich auf den Boden hingeſtreckt, um die Rudernden nicht zu hindern. So lag er da und ſah die brauſenden Wellen hoch über ſich ragen und hörte engliſche, däniſche, plattdeutſche, holländiſche Gebete murmeln, und wie die Ruderſchläge ſo ſeltſam in den Sturm hineintönten. Ein dumpfes Bewußtſein des nahen Todes durchdrang ihn. Zuweilen, wenn ungeachtet aller Mühe der Rudernden eine Welle das Boot in einer halb ſchiefen Richtung traf, füllte ſich daſſelbe mit Waſſer und drohte zu verſinken. Dann hörte man einen Angſtſchrei, das Waſſer bedeckte Flinthough, die Sinne vergingen ihm, und er glaubte, in den Abgrund zu verſinken. Wenn er dann nach einiger Zeit die Augen wieder öffnete und die murmelnden Gebete und die Ruderſchläge hörte zu dem Sauſen des Meeres, und die empörten Wellen ſah und die ruhige Geſtalt des Alten, dünkte er ſich von einem ſeltſamen Traume befangen. Mehrere Stunden vergingen ſo in ſteter Gefahr; man bemerkte wohl, wie das Boot ſich von dem feſten Lande entfernte und nach dem Meer zu geführt wurde. Der Morgen dämmerte; da ſah man eine dunkle Maſſe vor ſich und erkannte eine Brigg. Man kam näher. Es war das ſchon erwähnte Schiff, welches ſie nun zum dritten Male ſahen. Dieſe Erſcheinung erfüllte alle mit Freude; es ſchien ihnen ein Zeichen, daß dieſes Schiff zu ihrer Rettung beſtimmt ſei. Sie erreichten es glücklich, und nicht ohne Mühe und Gefahr gelangten alle auf das Schiff.

## 89. Sonnenaufgang auf dem Ätna.

Von J. H. Campe.

Reisebeschreibungen. 4. Ausgabe. Braunschweig 1820. Bd. VII, S. 102.

In den Trümmern eines alten Gebäudes ruhten wir ein wenig und stärkten uns; unterdes hatten wir Zeit, die erhabenen Gegenstände der Natur um uns her in stiller Betrachtung zu bewundern und ihren Schöpfer anzubeten. Der Himmel war völlig heiter, und sein unermeßliches Gewölbe erschien im ehrwürdigsten Glanze und in unbeschreiblicher Majestät. Wir wußten nicht gleich, woher der stärkere Eindruck, den der Anblick desselben hier auf uns machte, rühren möchte, bis wir mit Erstaunen bemerkten, daß wir unendlich mehr Sterne sahen, und daß ihr Licht weit glänzender schien, als wir es je gesehen hatten. Die Weiße der Milchstraße sah jetzt wie eine reine Flamme aus, die durch den Himmel schoß, und wir konnten mit bloßen Augen ganze Haufen Sterne bemerken, die in niedrigen Gegenden unsichtbar sind. Das machte, daß wir nun schon durch zehn- bis zwölftausend Fuß dicker Dünste, welche jeden Strahl verschlucken oder verdunkeln, hinangeklimmt waren. Wir erstaunten über die Deutlichkeit, womit wir hier alles sahen, und riefen einstimmig aus: „Welch ein Platz zu einer Sternwarte!“ Wir bemerkten weit unter uns ein Licht, das sich unter den Bäumen zu bewegen schien; es mochte vielleicht ein Irrlicht sein. Auch beobachteten wir hier verschiedene von jenen Lufterscheinungen, die man Sternschnuppen nennt. Diese schienen noch ebensohoch über uns zu sein, als man sie auf der Ebene zu sehen glaubt, ein Beweis, daß diese Entzündungen sich in einem höheren Raum ereignen müssen, als wir die Grenzen unseres Dunstkreises auszudehnen pflegen. Wir machten uns nun von neuem auf den Weg und erreichten bald den Fuß des großen Schlundes, welcher auf allen Seiten steil in die Höhe steigt und aus lauter Asche und anderen verbrannten Materien besteht, welche der Mund des Feuerberges ausgeworfen hat. Der Umfang dieses kegelförmigen Trichters muß wenigstens zwei Meilen betragen. Auch er war überall mit Schnee und Eis belegt; aber zum Glück für uns bestand die Oberfläche davon aus einer ziemlich dicken Lage von Asche. Wäre dies nicht gewesen, so würden wir diesen steilen Gipfel des Berges nie haben ersteigen können, weil der Schnee allenthalben wegen der durchdringenden Kälte der Luft mit einer dicken Eisrinde überzogen war.

Nach einer Stunde beschwerlichen Kletterns kamen wir auf einen von Schnee entblößten Platz, wo wir einen angenehmen warmen Dunst verspürten, den der Berg aushauchte. Von diesem Platze hatten wir ungefähr noch neunhundert Fuß bis zur höchsten Spitze des Berges. Und auch diese wurde nun glücklich, und zwar noch zeitig genug, erstiegen, um das wunderbarste und prächtigste Schauspiel zu sehen, welches die Natur in ihrer größten Erhabenheit und Herrlichkeit darzubieten vermag.

Doch hier muß jede Beschreibung zu kurz kommen; denn keine menschliche Einbildungskraft hat es wohl je gewagt, sich ein Bild von einer so herrlichen und prächtigen Schaubühne zu schaffen, noch gibt es auf der ganzen Oberfläche der Erde schwerlich einen andern Punkt, der soviele erhabene Gegenstände vereinigte. Diese erstaunliche Höhe, zwölftausend Fuß über der Fläche der Erde, die sich hier gleichsam in einem Punkt zusammenzieht, ohne einen andern benachbarten Berg von gleicher oder ähnlicher Höhe, auf welchem Auge und Einbildungskraft, auf ihrer Reise in die Welt hinunter, ausruhen und von ihrem Erstaunen sich erholen könnten; diese Spitze, die sich am Rande eines bodenlosen Schlundes erhebt, der so alt als die Welt ist und oft Feuerströme und glühende Felsen mit einem die ganze Insel erschütternden Donner auswirft, und endlich, von dieser Spitze herab eine unumschränkte Aussicht auf die mannigfaltigsten und schönsten Gegenden in der Natur, samt der aufgehenden Sonne, die im Osten hervoreilt, um diesen wunderbaren Schauplatz zu erleuchten: welche Gegenstände!

Nach und nach entzündete sich der ganze Dunstkreis und zeigte uns, doch nur erst halb erhellt, die grenzenlose Aussicht um uns her: Meer und Land sahen noch finster und verworren aus, als ob sie sich eben erst aus dem ursprünglichen Mischklumpen herausarbeiteten; Licht und Finsternis schienen noch nicht voneinander geschieden, bis endlich der östliche Himmel sich immer mehr entzündete, und die große Scheidung dadurch vollbracht wurde. Die Sterne verloschen, die Schatten verschwanden, die Wälder, die uns zuvor tiefe, finstere Abgründe zu sein schienen, von welchen kein Strahl zurückkam, um uns ihre Gestalt und Farbe zu zeigen, stellten sich uns jetzt als eine neue Schöpfung dar, die von einem Augenblick zum andern immer belebter und schöner erschien. Die Bühne erweiterte sich, der Gesichtskreis dehnte sich nach allen Seiten aus, — bis endlich die Sonne, gleichsam als Stellvertreter des großen Schöpfers, mit unbeschreiblicher Herrlichkeit im Osten hervortrat und mit ihren allbelebenden Strahlen das erhabene Schauspiel vollendete.

Hier, lieber Leser, lege ich die Feder hin; ich kann nicht weiter beschreiben; ich kann nur hinsinken und anbeten, und ich bin überzeugt, auch du würdest, wärest du ein Augenzeuge dieses unbeschreiblich großen und rührenden Auftrittes gewesen, bei der bloßen Erinnerung daran dein Antlitz verhüllen und in Tränen der Freude, des Entzückens und der Anbetung zerfließen.

Alles schien uns ein Zauber zu sein, und wir konnten uns kaum überzeugen, daß wir noch auf Erden waren. Unsere an so erhabene Gegenstände nicht gewöhnten Sinne waren betäubt und verwirrt; erst nach einiger Zeit fanden wir uns vermögend, sie voneinander zu unterscheiden und sie einzeln zu betrachten. Zwischen uns und der Sonne, die aus dem Meere zu steigen schien, lagen unermeßliche Flächen von See und Land; die liparischen, pomarischen, alicudischen Inseln und Strombolo und Volcano lagen mit ihren rauchenden Gipfeln unter unseren Füßen; auf ganz Sicilien sahen wir wie auf eine Landkarte hinab, und wir konnten jeden Fluß in allen seinen Krümmungen, von seiner Quelle an bis zur Mündung verfolgen. Die Aussicht war auf allen Seiten schlechterdings unbegrenzt; kein einziger Gegenstand im ganzen Gesichtskreise, der sie unterbrechen konnte; das Auge verlor sich allenthalben im Unermeßlichen, und ich bin versichert, nur die Unvollkommenheit unserer Sehkraft war schuld daran, daß wir die Küsten von Afrika, ja sogar die von Griechenland, nicht entdeckten, denn beide mußten jetzt notwendig über unserem Gesichtskreise liegen.

Der schönste Teil des Schauplatzes ist unstreitig der Berg selbst und die Insel Sicilien samt der dazu gehörigen Menge kleinerer Inseln. Alle diese Inseln schienen durch eine Art Zaubertäuschung, aus Gründen, die ich hier nicht erklären kann, ganz hart am Fuße des Ätna zu liegen und ihn gleichsam einzufassen, so daß ihre Entfernung nicht zu bemerken war.

---

# 2) Bilder aus der Erd- und Völkerkunde.

## 90. Das Reisen im Altertume.

Von H. Göll.

Kulturbilder aus Hellas und Rom. Leipzig 1878. Bd. I, S. 88. (Gekürzt.)

Die vielfachen Erleichterungsmittel des Verkehrs, besonders die Eisenbahnen, haben in unserer Zeit die Reiselust in solchem Grade gesteigert, die Zahl der Touristen in solchem Umfange vermehrt, daß unbestritten niemals früher die Menschheit eine solche Beweglichkeit und Rührigkeit im Reisen gezeigt hat. Wir bemitleiden schon unsere Großväter und Väter, die ihre Sehnsucht nach der Ferne so selten zu befriedigen imstande waren, denen soviele herrliche Genüsse im Gebiete der Natur, Kunst und Menschenkenntnis

verſagt geblieben ſind. Wir fragen aber auch billigerweiſe, wie weit andere Völker in früherer Zeit in dieſem Punkte der Kultur vorgeſchritten waren, und vergleichen beſonders nicht ohne Intereſſe in dieſer Beziehung die Sitten der Hellenen und Römer mit den unſrigen. . . .

Zeus, der Vater der Götter und Menſchen ſelbſt, war im Altertum der Beſchützer der Herbergeſuchenden, und wie im Mittelalter von den Klöſtern im Namen der Religion den Pilgern und Reiſenden Unterkommen und Verpflegung zuteil wurde, ſo achtete ſich der Hellene durch den Willen der Gottheit zu gaſtlicher Aufnahme der Reiſenden verpflichtet, die bei dem damaligen Mangel aller öffentlichen Gaſthäuſer auch übel genug daran geweſen wären. . . .

Während im alten Hellas der gemeine Mann mit dem Knotenſtock oder der Lanze in der Hand zu Fuß ſeine Straße zog, fuhren edelgeborene, beſonders ältere Leute in dem teils mit Pferden, teils mit Maultieren beſpannten Wagen.

Man hat ſich früher mit der falſchen Vorſtellung getragen, daß die Einkehr in öffentlichen Gaſthäuſern entweder gar nicht, oder doch nur in ſehr beſchränktem Maße und von ſeiten der Unbemitteltſten ſtattgefunden hätte. Allein es läßt ſich ſchon im voraus annehmen, daß die edle Sitte der Gaſtfreundſchaft bei dem ſteigenden Verkehr der Staaten, bei der Zunahme der Reiſen nicht allen Unterkommen verſchaffen konnte. Athen und das wegen ſeiner Gaſtlichkeit gerühmte Korinth waren oft von Fremden überfüllt, die unmöglich alle bei Gaſtfreunden logieren konnten. Es war das Gewerbe der Gaſtwirte in Hellas ein ſehr verachtetes, teils, weil es überhaupt zu den auf Gelderwerb hinauslaufenden Beſchäftigungen gehörte, teils, weil es der Tugend der Gaſtfreundſchaft geradezu zu widerſprechen ſchien, teils, weil die Wirte im allgemeinen wegen Prellerei und Schlechtigkeit verrufen waren. . . .

Was nun die verſchiedenen Arten betrifft, auf welche die Reiſenden in der hiſtoriſchen Zeit ihren Weg zurücklegten, ſo merkt man, im Vergleich zu der homeriſchen Zeit, eine merkwürdige Abnahme im Gebrauche der Wagen. Über die Konſtruktion der im gewöhnlichen Leben gebräuchlichen Fuhrwerke ſind nur ſehr dürftige Nachrichten vorhanden. Am meiſten zur Reiſe benutzt wurde wohl das auf Monumenten vorkommende zweiräderige Gefährt, deſſen auf drei Seiten mit einer Lehne umgebener Sitz auf der Achſe ruht, während die Gabeldeichſel mit dem Joche den Pferden auf dem Rücken liegt. — Öfter als des Fahrens bediente man ſich zum Fortkommen des Reitens. Demoſthenes mietete für makedoniſche Geſandte ein Maultiergeſpann und begleitete ſie ſelbſt zu Pferde bis Theben. Die Maultiere benutzte man ebenfalls zum Reiten und legte ihnen einen bequemen Sattel mit Rückenlehne auf; doch ſcheint der Gebrauch mehr den Damen und den verweichlichten Männern anheimgefallen zu ſein. — Sonſt wanderte man gewöhnlich zu Fuße, und ſelbſt eine öffentliche Geſandtſchaft der Athener an Philipp ſcheint nicht anders gereiſt zu ſein. Man erleichterte ſich den Marſch, indem man einen oder mehrere Sklaven mitnahm, die das aus Lebensmitteln, Geſchirr und beſonders den Lagerdecken für die Nacht beſtehende Gepäck in einem Reiſeſacke nachtrugen. . . .

Die griechiſchen Straßen waren bequem und wohlgebaut, und wenngleich Strabo meint, daß die Griechen drei Dinge vernachläſſigt hätten, die bei den Römern mit den größten Koſten und der mühſeligſten Arbeit unternommen worden ſeien: den Bau der Kloaken, der Waſſerleitungen und der Heerſtraßen, — ſo müſſen wir bedenken, daß unſere beſten Chauſſeen im Vergleich mit den herrlichen römiſchen Kunſtſtraßen wohl bei Strabo nicht beſſer weggekommen ſein würden! Die Wege ſtanden unter Obhut des Hermes. Überall befanden ſich die ihm geweihten Pfeiler und heiligen Steinhaufen, denen jeder Wanderer nach altem, frommem Brauch einen Stein zuwerfen ſollte. Auf den Kreuzwegen dagegen ſtand die dreihauptige Geſtalt der die Wege beſchirmenden, aber auch oft die Reiſenden durch Geſpenſter neckenden Zaubergöttin Hekate. Vor den Bildern beider Gottheiten legte man allerhand Speiſen hin, die wohl der hungrige

Wanderer ohne Verſündigung genießen konnte. Auch geſtattete man gewiß gern den Reiſenden, im Vorübergehen von den Früchten der Obſtbäume zu eſſen. Die Rückſicht auf das Gebot der Religion verſchaffte dem irrenden Wanderer auch überall bereitwillige Zurechtweiſung. Die Hermesſäulen enthielten ſpäter auch Angaben über die Entfernungen und andere Zurechtweiſungen für die Reiſenden; ja ſelbſt der Paßplackereien und Viſitationen war der Reiſende ſchon nicht ganz enthoben, wenn es auch im allgemeinen wohl unrichtig iſt, daß ſtets zu Reiſen ins Ausland Päſſe erteilt worden ſeien. War nämlich ein Staat im Kriegszuſtande, ſo mußten die Auspaſſierenden mit Legitimationszeichen, die das Staatsſiegel trugen, verſehen ſein. In Sparta freilich waren alle Reiſen ins Ausland ohne ſpezielle Erlaubnis der Ephoren ſtreng unterſagt. Auch Plato mißbilligte die in den andern Staaten herrſchende Freiheit, nach Belieben reiſen zu dürfen, und verordnete in ſeinen Geſetzen, daß niemand vor dem vierzigſten Jahre das Vaterland verlaſſen ſollte! . . .

In bezug auf den Zweck finden wir alle Arten der Reiſen bei den Griechen vertreten; ſelbſt die Badereiſen fehlten wenigſtens in ſpäterer Zeit keineswegs. Aus einer Menge Bäder, die teils zum Vergnügen, teils ihrer Heilkraft wegen beſucht wurden, nennen wir hier nur Ädepſos, über das Plutarch folgendes ſchreibt: „Ädepſos auf Euböa, wo die heißen Quellen ſind, iſt ein Ort, der von Natur viel Vergnügen darbietet und, mit Gebäuden und Wohnungen verſehen, ein gemeinſchaftlicher Aufenthaltsort für ganz Hellas geworden zu ſein ſcheint. Es wird viel Geflügel und Wild dort gefangen, und ebenſo liefert das Meer leckere Fiſche für die Tafel. Am meiſten blüht der Ort im Spätfrühling, denn viele leben dann in Geſelligkeit und Überfluß zuſammen.“ Und fragt man endlich nach den Koſten der Reiſen in jener Zeit, ſo kann man freilich nur mit ein paar Notizen der Alten antworten. Zu Demoſthenes' Zeit erhielt eine aus drei Männern beſtehende Geſandtſchaft für drei Monate 1000 Drachmen Reiſegeld, der Mann alſo täglich ungefähr 2 M. 80 Pf. Auslöhnung. Immerhin war alſo damals das Reiſen teurer als 180 Jahre nach Demoſthenes in Italien, wo man dem Gaſtwirt für ſeinen ſämtlichen Bedarf ein Viertel Obolos oder vier Pfennige zahlte.

Bei den Römern wurde das Band der Gaſtfreundſchaft nicht weniger heilig gehalten als bei den Griechen. Auch ſie hatten den Glauben an Gottheiten, die den Fremden ſchützten und rächten, und unter denen Jupiter voranſtand. Der Fremde genoß in Rom Sicherheit, wenn er auch ſonſt ebenſowenig wie in den griechiſchen Staaten einen Anſpruch auf Staatsſchutz hatte. Die dem Fremden angetane Verhöhnung galt als Verletzung der guten Sitte, und bei Plautus muß ſich jemand, der es getan, gefallen laſſen, daß man zu ihm ſagt: „Du biſt gewiß ein Sklave und ein nichtswürdiger und böſer Menſch, da du einen Fremden und Ankömmling verſpotteſt“.

Wie die Griechen gaben auch die Römer, wenn ſie ſich auf der Reiſe befanden, der Einkehr beim Gaſtfreunde den Vorzug. Die Landhäuſer, welche an der Heerſtraße lagen, wurden natürlich beſonders heimgeſucht, und Columella gibt darum den Rat, die Villa ja nicht an die Straße zu bauen, „weil durch die Plünderungen der vorübergehenden Wanderer und durch die ewige Beherbergung der Einkehrenden das Vermögen geſchwächt wird“. Wem aber auf ſeiner Straße die Häuſer gaſtfreier Bekannten fehlten, der mußte eben auch ſeine Zuflucht zu den öffentlichen Wirtshäuſern nehmen. Aber Leute von Stand betrachteten die Einkehr in einer ſolchen Herberge, des Mangels am Komfort und der gewöhnlichen plebejiſchen Geſellſchaft wegen, nur als eine gern gemiedene Notwendigkeit.

Die verſchiedene Weiſe, wie man ſich bei den Römern hinſichtlich der Einkehr behelfen mußte, veranſchaulicht recht deutlich Plutarch im Leben des jüngeren Cato in folgenden Worten: „Seine Reiſe [nach Aſien] machte er auf dieſe Weiſe. Mit Tagesanbruch ſchickte er ſeinen Bäcker und ſeinen Koch nach dem Orte voraus, wo er einkehren wollte; dieſe begaben ſich ruhig und beſcheiden in die Stadt, und wenn ſich daſelbſt kein Freund ſeines Vaters oder ein Bekannter fand, ſo trafen ſie im Wirtshauſe

Anſtalten zu ſeiner Aufnahme, ohne jemanden zu beläſtigen; war aber kein Wirtshaus vorhanden, ſo wandten ſie ſich an die Obrigkeit und nahmen gern das ihnen gegebene Unterkommen an. Da man ihnen aber nicht überall glaubte und ſie vernachläſſigte, weil ſie vor den Behörden weder lärmten noch drohten, ſo wurden ſie oft von Cato eingeholt, ehe ſie etwas ausgerichtet hatten, und er ſelbſt wurde über die Achſel angeſehen und für einen niedrigen und furchtſamen Menſchen gehalten, da er ſich in ſolchen Fällen, ruhig wartend, auf ſein Gepäck ſetzte. Manchmal ließ er aber auch die Oberen vor ſich fordern und ſagte ihnen: ‚Ihr Unhöflichen, ändert eure Unfreundlichkeit gegen die Fremden und glaubt nicht, daß immer Leute wie ich kommen. Sucht vielmehr durch liebreiche Aufnahme ihr Ungeſtüm zu beſänftigen, da ſie nur einen Vorwand brauchen, euch dasjenige mit Gewalt zu nehmen, was ihr nicht freiwillig gebt.‘“

Die Fußreiſen wurden bei dem ſteigenden Hange der ſpäteren Römer zur Bequemlichkeit immer ſeltener, und wer es machen konnte, pflegte wenigſtens zu reiten. Hinſichtlich der Wagen trifft man bei den Römern bereits eine große Mannigfaltigkeit und ein Wechſeln der Mode. Da gibt es Wagen galliſchen, belgiſchen und britiſchen Urſprungs; zweiräderige, leichte Kabrioletts, die beſonders gern zur Reiſe verwendet und mit flinken Ponies galliſcher Raſſe beſpannt wurden; vierräderige Planwagen, deren Zugtiere der Reiſende ſelbſt lenkte; Gepäckfuhrwerke und Staatskaroſſen, die mit Platten von getriebenem Silber und Gold geziert waren und oft den Wert eines Landgutes hatten. Seit der Zeit der erſten Kaiſer kam auch die Sänfte zur Reiſe in Gebrauch, die in Griechenland nur von Frauen und Kranken benutzt wurde. Sehr bequem war es allerdings, auf weicher Matratze ausgeſtreckt, durch Baldachin und Vorhänge gegen Regen, Sonnenſchein und Staub geſchützt, von ſechs oder acht breitſchulterigen Sklaven ſich tragen zu laſſen. Ja, Verres ließ ſich ſeine Kiſſen mit Malteſerroſen ſtopfen und reiſte mit einem Roſenkranze auf dem Haupte, einem zweiten um den Hals, außerdem ein kleines Netz voll Roſen in der Hand haltend! Welcher Luxus überhaupt in der ſpäteren Zeit auch auf der Reiſe entfaltet wurde, welcher Troß von Dienerſchaft die Herren begleitete, davon gibt eine Stelle Senecas eine ausreichende Vorſtellung. „Jedermann reiſt nun ſo“, ſchreibt er, „daß numidiſche Reiter voranſprengen, eine Schar von Läufern vor ihm her eilt. Man hält es für eine Schande, wenn nicht Leute dabei ſind, welche die Begegnenden aus dem Wege treiben und durch eine große Staubwolke verkünden, daß ein anſtändiger Menſch komme. Jedermann hat jetzt Maultiere, die kriſtallene und ziſelierte Gefäße von großem Werte tragen. Es iſt eine Schande, wenn es ſcheint, als habe man Gepäck, das ohne Gefahr zuſammengerüttelt werden könne. Jedermanns Pagen fahren mit eingeſalbten Geſichtern, damit nicht Sonne oder Kälte der zarten Haut ſchade. Es iſt eine Schande, wenn ſich niemand unter den begleitenden Lieblingsſklaven findet, deſſen geſundes Antlitz ein Pflaſter nötig hat.“ Dagegen ſagt der Philoſoph von ſeiner eigenen Reiſebequemlichkeit: „Der Wagen, auf den ich geſtiegen bin, iſt ein bäuerlicher; den Maultieren ſieht man es an, daß ſie vom Spazierengehen leben; der Kutſcher iſt nicht des Sommers wegen ohne Schuhe. Kaum gewinne ich es über mich, dieſes Fuhrwerk für das meinige gelten zu laſſen.“

In außerordentlich gutem Zuſtande befanden ſich aber die Landſtraßen, in deren Anlegung die Römer für alle Zeiten Muſterhaftes geleiſtet haben. Die Rückſicht auf den Staat, welchem eine bequeme Verbindung der gewonnenen Provinzen mit dem Herzen des Reichs notwendig war, führte zur Entwickelung der Wegebaukunſt, und mit der ſtaunenswerten Energie, welche das Römervolk überhaupt kennzeichnet, ſuchte man alle natürlichen Bodenverhältniſſe, denen man ſich in anderen Ländern gemütlich anzubequemen pflegte, zu bewältigen. Wo ſich Berge entgegenſtellten, wurden ſie durchbrochen; wo eine Senkung des Bodens die gleichmäßige Fortführung des Weges ſtörte, wurde dieſelbe durch feſte Dämme ausgeglichen; wo tiefe Talgründe und reißende Ströme die direkt laufende Bahn durchſchnitten, wurden ſie mit kühnen Bogen überwölbt. Erhöhte Fußwege zogen ſich an beiden Seiten der ſoliden Heerſtraße hin, Auftrittſteine für die

Reiter, Ruheplätze für die Wanderer, Meilensteine fehlten an den Hauptstraßen fast nirgends, und herrliche Tempel, prächtige Familiengrabmäler und hier und da stolze Triumphbögen bildeten gleichsam den Vordergrund des umgebenden Landschaftsgemäldes.

Wie aber der Straßenbau durch politische Gründe gefördert wurde, so waren auch die unter Augustus entstehenden Posteinrichtungen, die schon lange vorher im Orient, besonders im persischen Reiche, bekannt gewesen waren, eine Folge des Zentralisationssystems. Sueton berichtet, daß der erste Kaiser, nur um schneller und leichter erfahren zu können, was in den Provinzen vorfiele, auf den Militärstraßen zuerst in gleicher Entfernung rüstige Boten und dann Fuhrwerke aufgestellt habe. Später scheint vorzüglich Trajan die Postanstalt erweitert und verbessert zu haben. Damals waren schon überall in der Entfernung einer Tagereise Mansionen oder Stationen errichtet mit Baulichkeiten zum Nachtlager für die Reisenden, mit Scheunen, Stallungen, Bädern, sowie mit besonderen, für die kaiserliche Familie bestimmten Räumen. Zwischen diesen Hauptrastorten lagen je fünf bis acht Mutationen oder Posthaltereien, wo bloß Pferdewechsel stattfand. Auf jeder Mutation standen bis zu vierzig Pferde, Maulesel und Ochsen. Der Kurierdienst wurde zu Pferde geleistet, und die Kuriere, deren jede Station nicht mehr als täglich fünf bis sechs befördern durfte, führten die Depeschen in einem Felleisen bei sich, dessen Gewicht zuerst auf dreißig, dann auf hundert Pfund bestimmt ward, und ließen sich gewöhnlich von einem Postillon begleiten.

Das Maß und die Tragkraft der Reisewagen war genau bestimmt, und die Stellmacher verfielen in hohe Strafe, wenn sie dieses Gesetz nicht einhielten. Vierräderige Wagen sollten zehn Zentner Last tragen und im Sommer mit acht, im Winter mit zehn Pferden oder Maultieren bespannt werden; zweiräderige mit zwei Zentner Last dreispännig fahren. Die Mitte zwischen beiden hielt ein leichter, vierräderiger Wagen, der bis zu sechs Zentner halten sollte. Personen durften höchstens drei auf einem Wagen sitzen. Von der ersten Art wurde freilich täglich nur ein Wagen befördert, und es war dabei streng verpönt, weiter als 500 Schritte von der Heerstraße abzubiegen. Trotzdem wäre diese Einrichtung schon recht bequem und zweckmäßig zu nennen, wenn nicht das ganze Institut nur von Staatsbeamten hätte benutzt werden dürfen. Die regelmäßige Schnelligkeit der Extrapost kam der unserer Eilwagen ungefähr gleich. Den Weg von Antiochia bis Konstantinopel (etwa 100 Meilen) legte man in nicht vollen sechs Tagen zurück.

## 91. Die Bodenwirtschaft bei den Römern.

Von Th. Mommsen.

Römische Geschichte. Berlin 1874. Bd. I, S. 824. (Gekürzt.)

Die Bodenwirtschaft war entweder Guts- oder Weide- oder Kleinwirtschaft, wovon die erste in der von Cato entworfenen Schilderung uns mit großer Anschaulichkeit entgegentritt.

Die römischen Landgüter waren, als größerer Grundbesitz betrachtet, durchgängig von beschränktem Umfang. Das von Cato beschriebene hatte ein Areal von 240 Morgen; ein sehr gewöhnliches Maß war die sogenannte Centuria von 200 Morgen. Wo die mühsame Rebenzucht betrieben ward, wurde die Wirtschaftseinheit noch kleiner gemacht; Cato setzt für diesen Fall einen Flächeninhalt von 100 Morgen voraus. Wer mehr Kapital in die Landwirtschaft stecken wollte, vergrößerte nicht sein Gut, sondern erwarb mehrere Güter; wie denn wohl schon der Maximalsatz des Occupationsbesitzes von 500 Morgen als Inbegriff von zwei oder drei Landgütern gedacht worden ist. — Vererbpachtung ist der italischen Privat- wie der römischen Gemeindewirtschaft fremd; nur bei den abhängigen Gemeinden kam sie vor. Verpachtung auf kürzere Zeit, sowohl gegen eine feste Geldsumme als auch in der Art, daß der Pächter alle Betriebskosten trug und dafür einen Anteil, in der Regel wohl die Hälfte der Früchte empfing, war nicht unbekannt, aber Ausnahme und

Notbehelf; ein eigener Pächterstand hat sich deshalb in Italien nicht gebildet. Regelmäßig leitete also der Eigentümer selber den Betrieb seiner Güter; indes wirtschaftete er nicht eigentlich selbst, sondern erschien nur von Zeit zu Zeit auf dem Gute, um den Wirtschaftsplan festzustellen, die Ausführung zu beaufsichtigen und seinen Leuten die Rechnung abzunehmen, wodurch es ihm möglich ward, teils eine Anzahl Güter gleichzeitig zu nutzen, teils sich nach Umständen den Staatsgeschäften zu widmen. — Von Getreide wurden namentlich Spelt und Weizen, auch Gerste und Hirse gebaut; daneben Rüben, Rettiche, Knoblauch, Mohn und, besonders zum Viehfutter, Lupinen, Bohnen, Erbsen, Wicken und andere Futterkräuter. In der Regel ward im Herbst, nur ausnahmsweise im Frühjahr, gesät. Für die Bewässerung und Entwässerung war man sehr tätig und z. B. die Drainage durch geblendete Gräben früh im Gebrauch. Auch Wiesen zur Heugewinnung fehlten nicht, und schon zu Catos Zeit wurden sie häufig künstlich berieselt. Von gleicher, wo nicht von größerer wirtschaftlicher Bedeutung als Korn und Kraut waren der Ölbaum und der Rebstock, von denen jener zwischen die Saaten, dieser für sich auf eigenen Weinbergen gepflanzt ward. Auch Feigen-, Apfel-, Birnen- und andere Fruchtbäume wurden gezogen und ebenso teils zum Holzschlag, teils wegen des zur Streu und zum Viehfutter nützlichen Laubes, Ulmen, Pappeln und andere Laubbäume und Büsche. Dagegen hat bei den Italikern, bei denen durchgängig Pflanzenspeisen, Fleischspeisen nur ausnahmsweise und dann fast nur Schweine- und Lammfleisch auf den Tisch kamen, die Viehzucht eine weit geringere Rolle gespielt als in der heutigen Ökonomie. Obwohl man den ökonomischen Zusammenhang des Ackerbaues und der Viehzucht und namentlich die Wichtigkeit der Düngerproduktion nicht verkannte, so war doch die heutige Verbindung von Acker- und Viehwirtschaft dem Altertum fremd. An Großvieh ward nur gehalten, was zur Bestellung des Ackers erforderlich war, und dasselbe nicht auf eigenem Weideland, sondern im Sommer durchaus und meistens auch im Winter im Stall gefüttert. Dagegen wurden auf die Stoppelweide Schafe aufgetrieben, von denen Cato 100 Stück auf 240 Morgen rechnet; häufig indes zog der Eigentümer es vor, die Winterweide an einen großen Herdenbesitzer in Pacht zu geben oder auch seine Schafherde einem Teilpächter gegen Ablieferung einer bestimmten Anzahl von Lämmern und eines gewissen Maßes von Käse und Milch zu überlassen. Schweine — Cato rechnet auf das größere Landgut zehn Ställe —, Hühner, Tauben wurden auf dem Hofe gehalten und nach Bedürfnis gemästet, auch, wo Gelegenheit dazu war, eine kleine Hasenschonung und ein Fischkasten eingerichtet, — die bescheidenen Anfänge der später so unermeßlich sich ausdehnenden Wild- und Fischhegung und -züchtung. — Die Feldarbeit ward beschafft mit Ochsen, die zum Pflügen, und Eseln, die besonders zum Düngerschleppen und zum Treiben der Mühle verwandt wurden; auch ward wohl noch, wie es scheint, für den Herrn ein Pferd gehalten. Man zog diese Tiere nicht auf dem Gut, sondern kaufte sie; durchgängig waren wenigstens Ochsen und Pferde verschnitten. Auf das Gut von 100 Morgen rechnet Cato ein, auf das von 240 drei Joch Ochsen, ein jüngerer Landwirt Saserna auf 200 Morgen zwei Joch; Esel wurden nach Catos Anschlag für das kleinere Grundstück drei, für das größere vier erfordert. — Die Menschenarbeit ward regelmäßig durch Sklaven beschafft. An der Spitze der Gutssklavenschaft (familia rustica) stand der Wirtschafter (vilicus, von villa), der einnimmt und ausgibt, kauft und verkauft, die Instruktionen des Herrn entgegennimmt und in dessen Abwesenheit anordnet und straft. Unter ihm stehen die Wirtschafterin (vilica), die Haus, Küche und Speisekammer, Hühnerhof und Taubenschlag besorgt; eine Anzahl Pflüger (bubulci) und gemeiner Knechte, ein Eseltreiber, ein Schweine- und, wo es eine Schafherde gab, ein Schafhirt. Die Zahl schwankte natürlich je nach der Bewirtschaftungsweise. Auf ein Ackergut von 200 Morgen ohne Baumpflanzungen werden zwei Pflüger und sechs Knechte, auf ein gleiches mit

Baumpflanzungen zwei Pflüger und neun Knechte, auf ein Gut von 240 Morgen mit Olivenpflanzungen und Schafherde drei Pflüger, fünf Knechte und drei Hirten gerechnet. Für den Weinberg brauchte man natürlich mehr Arbeitskräfte: auf ein Gut von 100 Morgen mit Rebpflanzungen kommen ein Pflüger, elf Knechte und zwei Hirten. Der Wirtschafter stand natürlich freier als die übrigen Knechte: er allein wird auch Aussicht gehabt haben, im Fall des Wohlverhaltens von dem Herrn die Freiheit zu erlangen. Im übrigen bildeten alle einen gemeinschaftlichen Hausstand. Die Knechte wurden eben wie das Großvieh nicht auf dem Gut gezogen, sondern in arbeitsfähigem Alter auf dem Sklavenmarkt gekauft, auch wohl, wenn sie durch Alter oder Krankheit arbeitsunfähig geworden waren, mit anderm Ausschuß wieder auf den Markt geschickt. Das Wirtschaftsgebäude (villa rustica) war zugleich Stallung für das Vieh, Speicher für die Früchte und Wohnung des Wirtschafters wie der Knechte; wogegen für den Herrn häufig auf dem Gut ein abgesondertes Landhaus (villa urbana) eingerichtet war. Ein jeder Sklave, auch der Wirtschafter selbst, erhielt seine Bedürfnisse auf Rechnung des Herrn in gewissen Fristen nach festen Sätzen geliefert, womit er dann auszukommen hatte; so Kleider und Schuhzeug, die auf dem Markte gekauft wurden, und von denen die Empfänger nur die Instandhaltung selber beschafften: so monatlich eine Quantität Weizen, die jeder selbst zu mahlen hatte, ferner Salz, Zukost — Oliven oder Salzfisch —, Wein und Öl. Die Quantität richtete sich nach der Arbeit, weshalb zum Beispiel der Wirtschafter, der leichtere Arbeit hat als die Knechte, knapperes Maß als diese empfing. Alles Backen und Kochen besorgte die Wirtschafterin, und alle aßen gemeinschaftlich dieselbe Kost. Es war nicht Regel, die Sklaven zu fesseln; wer aber Strafe verwirkt hatte oder einen Entweichungsversuch befürchten ließ, ward angeschlossen auf die Arbeit geschickt und des Nachts in den Sklavenkerker eingesperrt. Regelmäßig reichten diese Gutssklaven hin; im Notfall halfen, wie sich von selbst versteht, die Nachbarn sich mit ihren Sklaven gegen Tagelohn einer dem andern aus. Fremde Arbeiter wurden sonst für gewöhnlich nicht verwandt, außer in besonders ungesunden Gegenden, wo man es vorteilhaft fand, den Sklavenstand zu beschränken und dafür gemietete Leute zu verwenden, und zur Einbringung der Ernte, für welche die stehenden Arbeitskräfte nirgends genügten. Bei der Korn- und Heuernte nahm man gedungene Schnitter hinzu, die oft an Lohnesstatt von ihrem Eingebrachten die sechste bis neunte Garbe oder, wenn sie auch dreschen, das fünfte Korn empfingen: — so z. B. gingen jährlich umbrische Arbeiter in großer Anzahl in das Tal von Rieti, um hier die Ernte einbringen zu helfen. Die Trauben- und Olivenernte ward in der Regel einem Unternehmer in Accord gegeben, welcher durch seine Mannschaften, gedungene Freie oder auch Fremde oder eigene Sklaven, unter Aufsicht einiger vom Gutsbesitzer dazu angestellter Leute das Lesen und Pressen besorgte und den Ertrag an den Herrn ablieferte; sehr häufig verkaufte auch der Gutsbesitzer die Ernte auf dem Stock oder Zweige und ließ den Käufer die Einbringung besorgen.....

Die Bauernwirtschaft war von der des Gutsbesitzers hauptsächlich nur verschieden durch den kleineren Maßstab. Der Eigentümer selbst und seine Kinder arbeiteten hier mit den Sklaven oder auch an deren Statt. Der Viehstand zog sich zusammen, und wo das Gut nicht länger die Kosten des Pfluges und seiner Bespannung deckte, trat dafür die Hacke ein. Öl- und Weinbau traten zurück oder fielen ganz weg. — In der Nähe Roms oder eines andern größeren Absatzplatzes bestanden auch sorgfältig berieselte Blumen- und Gemüsegärten, ähnlich etwa wie man sie jetzt um Neapel sieht, und gaben sehr reichlichen Ertrag.

Die Weidewirtschaft ward bei weitem mehr ins Große getrieben als der Feldbau. Das Weidelandgut (saltus) mußte auf jeden Fall beträchtlich mehr Flächenraum haben als das Ackergut — man rechnete mindestens 800 Morgen — und

konnte mit Vorteil für das Geschäft fast ins Unendliche ausgedehnt werden. Nach den klimatischen Verhältnissen Italiens ergänzen sich daselbst gegenseitig die Sommerweide in den Bergen und die Winterweide in den Ebenen: schon in jener Zeit wurden, eben wie jetzt noch und großenteils wohl auf denselben Pfaden, die Herden im Frühjahr von Apulien nach Samnium und im Herbst wieder zurück von da nach Apulien getrieben. Die Winterweide indes fand, wie schon bemerkt ist, nicht durchaus auf besonderem Weideland statt, sondern war zum Teil Stoppelweide. Man zog Pferde, Rinder, Esel, Maulesel, hauptsächlich um den Gutsbesitzern, Frachtführern, Soldaten u. s. w. die benötigten Tiere zu liefern; auch Schweine- und Ziegenherden fehlten nicht. Weit selbständiger aber und weit höher entwickelt war infolge des fast durchgängigen Tragens von Wollstoffen die Schafzucht. Der Betrieb ward durch Sklaven beschafft und war im ganzen dem Gutsbetrieb ähnlich, so daß der Viehmeister (magister pecoris) an die Stelle des Wirtschafters trat. Den Sommer über kamen die Hirtensklaven meistenteils nicht unter Dach, sondern hausten, oft meilenweit von menschlichen Wohnungen entfernt, unter Schuppen und Hürden; es lag also in den Verhältnissen, daß man die kräftigsten Männer dazu auslas, ihnen Pferde und Waffen gab und ihnen eine bei weitem freiere Bewegung gestattete, als dies bei der Gutsmannschaft geschah.

## 92. Deutsche Weihnachtsbräuche in der Familie.

Von A. Richter.

Originalbeitrag zur „Cornelia" von Pilz. Leipzig 1863. Bd. VI, S. 184.

Wollte man eine Kinderschar, und möchte sie auch aus vielen Tausenden bestehen, nach dem schönsten Feste des Jahres fragen, — jubelnd würde von allen Seiten die Antwort: „Das Weihnachtsfest!" erfolgen. Welcher Zauber liegt für ein Kind schon in dem Worte Weihnachten! Es bedarf nur, dafs der Vater, der eben einen Brief gesiegelt, den Wachsstock ausbläst — und jubelnd rufen die Kinder, indem der Duft des Wachses das Zimmer durchzieht: „Es riecht nach Weihnachten!" Kein Monat im Jahre vergeht, in dem die Kinder nicht des herrlichen Festes gedächten. Während der einen Hälfte des Jahres sprechen die Kinder von den Freuden des letztverflossenen, während der andern Hälfte von den Hoffnungen des kommenden Weihnachtsfestes.

Und wenn dann die langersehnte Stunde schlägt, das Glöckchen, das Schellengeläute des heiligen Christes sich hören läfst, die Tür des grofsen Familienzimmers sich öffnet und strahlender Lichterglanz den staunenden Kindern entgegenströmt, dann gibt es etwas, das doch noch heller leuchtet und strahlt, als die Menge der Wachskerzen auf dem grünen Tannenbaume, — das sind die Augen des Kindes, die Liebe empfangen, die Augen der Eltern, die Liebe spenden. Sollten aber wirklich die Geschenke allein es sein, die den Kindern das Weihnachtsfest zum schönsten Feste des Jahres machen? Gewifs nicht. Ebenso grofsen oder gröfseren Anteil an der Freude der Kinder haben die lieblichen Gebräuche und Sitten, die sich im Laufe der Zeit an dieses Fest angesetzt haben und die nicht allein christlichen Ursprungs sind, sondern zum grofsen Teil zurückweisen in die graue Vorzeit deutsch-heidnischen Altertums. Es kann der Lieblichkeit dieser Gebräuche keinen Eintrag tun, wenn wir es hier unternehmen, einige derselben — wenigstens diejenigen, die in der Familie sich eingebürgert haben — bis zu ihrem Ursprunge zu verfolgen und zu erklären. Sprechen wir dabei von denjenigen, die sich aus dem deutschen Heidentume bis in unsere Zeit herübergerettet haben, zuerst.

Als das Christentum unseren Vorfahren gepredigt und mit ihm auch die Feier des Weihnachtsfestes ihnen gebracht wurde, feierten dieselben bereits ein Fest, das in dieselbe Zeit fiel wie das Weihnachtsfest und das auch, zwar nicht dieselbe, doch eine ähnliche Bedeutung hatte. War nämlich das christliche Weihnachtsfest ein Fest der Erinnerung an das Licht, an das neue Leben, das mit dem Heiland der Welt anfing, so war jenes heidnische Fest ein Fest der Freude darüber, dafs nun (mit dem 21. Dezember)

die Erde den schlimmsten Tag des Winters hinter sich hatte und einer Zeit entgegenging, in der die Sonne immer höher und höher stieg, einer Zeit, die den Frühling mit seinem wärmenden Strahle und mit seinem grünen Kleide wieder zurückbrachte. Man nannte dieses Fest das Fest der Winter-Sonnenwende, weil am 21. Dezember die Sonne sich zu wenden, ihre Bahn zu ändern scheint.

Den grünen Schmuck der Erde, das fröhliche Gedeihen von Blüten und Früchten, schrieben unsere Vorfahren dem Walten der seligen Götter zu. Während des Winters aber schlief die Erde und mit ihr Blüte und Frucht. Die Götter schienen tot oder in tiefen Schlaf versunken. Die kleinen, freundlichen Elfen in Bächen und Flüssen lagen gebunden und gefesselt von der Eisrinde, die böse Geister über ihnen ausgebreitet hatten. Durch die Lüfte zogen im heulenden Sturme finstere, den Menschen feindliche Geister, und auch über die Erde schritten sie, Tod und Verderben bringend und besonders den Kindern auflauernd. Da kommt die Winter-Sonnenwende und mit ihr die Hoffnung besserer, freundlicherer Tage. Die Götter, Wodan, ihr oberster, an ihrer Spitze, kehren auf die Erde zurück und gewinnen nach und nach im Kampfe die Oberhand über die bösen Geister, und die Erde wird wieder des Göttersegens teilhaftig. Noch heute lebt die Erinnerung an diesen Einzug und an den Kampf mit den finsteren Gewalten in der Redensart: „Das wütende Heer (an manchen Orten: das Wodansheer) zieht durch die Lüfte". Nur ist Wodan, der den Alten ein freundlicher, wohlwollender Gott war, später, nach der Einführung des Christentums, dem Volke zu einem Unholde und bösen Geiste geworden, von dem es in seinen Sagen noch heute erzählt. Das deutsche Volk hat sich aber nicht damit begnügt, von dem Umzuge, den die Götter zur Weihnachtszeit auf der Erde halten, in seinen Sagen zu erzählen. Es hat vielmehr diesen Umzug auch nachgeahmt, und von diesen Nachahmungen hat sich ebenfalls manches bis auf unsere Zeit erhalten. In vielen Gegenden Norddeutschlands, z. B. in den Umgebungen von Hannover, Brandenburg, Zerbst u. s. w., hält in der Zeit vor Weihnachten der sogenannte Schimmelreiter seinen Umzug. Das ist gewöhnlich ein Bauernbursche, der sich an der Brust ein Sieb befestigt hat, an dem vorn ein Pferdekopf angebracht ist und das dann mit einem weifsen Betttuche behangen wird. So erhält der Bursche das Ansehen eines Reiters auf einem Schimmel, und in dieser Weise zieht er von Hof zu Hof, von Haus zu Haus, fragt die Kinder, ob sie beten können, und läfst sie dann ihre Verslein und Liedchen hersagen. Diejenigen Kinder, welche in dieser Probe gut bestehen, beschenkt er mit Äpfeln, Nüssen und Pfefferkuchen, während er die, die nichts gelernt haben, oder über welche die Eltern Klage führen, mit einer Rute, die er in der Hand führt, straft. Dieser Schimmelreiter ist niemand anders, als Wodan, von dem die Vorfahren erzählten, dafs er auf einem weifsen Rosse dem Zuge der Götter voranreite. Das wird auch klar aus dem Namen desselben. Er heifst nämlich in den meisten Gegenden, besonders in Norddeutschland, Ruprecht. Dieses Wort ist entstanden aus „Hruodperath", einem früheren Beinamen Wodans, der so viel als „ruhmglänzend" bedeutete.

An anderen Orten erscheint jetzt der Ruprecht gewöhnlich am Weihnachtsheiligabend in der Gestalt eines alten, in Pelzwerk oder auch in Stroh eingehüllten, härtigen Mannes, der an fleifsige und artige Kinder Äpfel und Nüsse, an faule und unartige dagegen Rutenhiebe austeilt. In Sachsen ist der Schimmelreiter ebenfalls nicht mehr üblich. Dafür erzählen die Kinder dort, dafs am Weihnachtsheiligabend, nachdem der Ruprecht vorher dagewesen ist, der heilige Christ auf einem mit Geschenken reich beladenen und mit einem Schimmel bespannten Schlitten sich nahe, in den Hänsern einkehre und da bescheere. Damit nun der Schimmel des heiligen Christes vor dem Tore recht ruhig stehe und der heilige Christ recht viele Geschenke abladen könne, legen die Kinder, sobald es dunkel wird, ein Bund Heu vor das Tor als Futter für den Schimmel. Ich habe Kinder gekannt, deren Eltern keine Viehwirtschaft besafsen, und die sich daher zu Weihnachten auch nicht ein Bund Heu für den Schimmel von ihren Eltern erbitten konnten. Dieselben sammelten und trockneten während des Sommers

auf öffentlichen Grasplätzen sorgsam etwas Heu, das sie ein halbes Jahr lang ebenso sorgsam aufbewahrten, um es dann vor das Tor legen zu können.

Selbst Abbilder des alten Gottes Wodan gab und gibt es noch zu Weihnachten, und gerade diese Bilder mögen die Kinder unter dem Christbaume nicht gern vermissen. Freilich merkt man ihnen jetzt fast nichts mehr an von der strahlenden, lichten Schönheit des alten Gottes; es sind nämlich die Rosinen- und Pflaumenmänner, die noch jetzt auf dem Weihnachtsmarkte von armen Kindern feilgeboten werden und dann unter dem Christbaume ihren Platz finden, nichts anderes, als rohe Abbildungen des alten Gottes. Weil aber die wenigsten Menschen das noch wissen, so ist es nicht zu verwundern, dafs der Gott in diesen Pflaumenmännern schliefslich zu einem mit Leiter und Besen ausgerüsteten Essenkehrer geworden ist. Auch die Männer und Reiter aus Pfefferkuchenteig, die jetzt an den Christbaum gehangen werden, sind ursprünglich Abbilder des Wodan gewesen. Der Christbaum selbst ist eine Erinnerung an die altheidnische Zeit. Man suchte nämlich an dem Sonnenwend-Feste, das ja die Aussicht auf den Frühling eröffnete, sich die Freuden des Frühlings zu vergegenwärtigen, soweit es der freilich noch immer herrschende Winter gestattete. Das frische, saftige Grün des Frühlings war es, das man vor allem feierte, und wie man an den eigentlichen Frühlingsfesten Birken als Maibäume vor die Türen pflanzte, so pflanzte man zum Feste der Winter-Sonnenwende in Ermangelung anderer grüner Bäume die immergrünen Tannenbäume vor die Häuser, behing sie mit bunten Bändern und besteckte sie mit Lichtern.

Hatte man schon in der Heidenzeit sich nicht damit begnügt, von dem Umzuge und Einzuge der Götter in den Sagen zu erzählen, sondern hatte man diesen Einzug in den verschiedensten Weisen versinnbildlicht dargestellt, so begnügte sich das deutsche Volk, als es zum Christentume bekehrt war, auch bald nicht mehr damit, die liebliche Erzählung von der Geburt des Weltheilandes von seinen Predigern vorlesen zu hören oder selbst zu lesen, sondern es machte sich auch daran, diese Erzählung selbst darzustellen. Schon die fromme Kaiserin Helena, Konstantins des Grofsen Mutter, hatte in der Kirche, die zu Bethlehem über der Höhle errichtet war, welche als die Geburtsstätte des Heilandes bezeichnet wurde, eine kostbare Krippe aus weifsem Marmor errichten lassen. So liefs auch der heilige Franciscus von Assisi im Jahre 1221 mit Erlaubnis des Papstes in seiner Kirche eine kostbare Krippe aufrichten, und um den Stall der Geburt anzudeuten, stellte man einen Ochsen und Esel daneben. Bald gab es fast keine Kirche mehr, in der nicht eine mehr oder weniger kostbare Krippe oder Wiege, manchmal sogar mit einem Bilde des göttlichen Kindes, während der Weihnachtsfeiertage aufgestellt wurde. Später safsen sogar an den Seiten desselben zwei Personen, Joseph und Maria darstellend. Joseph wiegte das in der Krippe liegende Kind, während Maria ein liebliches Wiegenlied sang. Zuweilen sang auch die ganze Gemeinde das Wiegenlied mit, oder es trat nur eine Schar Kindlein singend an die Wiege heran. Als nach der Reformation die Aufstellung von Krippen in den Kirchen seltener wurde, fing man an, diesen Gebrauch in den Wohnhäusern nachzuahmen. Diese in den Familien aufgestellten Krippen waren wohl manchmal die gröfste Weihnachtsfreude der jubelnden Kinderschar, und nicht selten waren dieselben sogar mit wahrer Pracht ausgestattet. So liefs sich der Bürger Moser in Bozen eine solche für den Preis von 10000 Gulden herstellen. Aber auch mit geringem Aufwande war es möglich, eine Kinder wie Erwachsene in gleicher Weise erfreuende Darstellung der Geburtsgeschichte des Herrn herzustellen, und an mancher mochte wohl ein geschickter Bürger oder Landmann das meiste selbst geschnitzt und zusammengestellt haben. Konnte man ja doch ein hohles Häuschen im Spielwarenladen schon für wenige Groschen, ein hölzernes Öchslein oder Eselein, oder ein Männchen, das einen Hirten vorstellen kann, gar schon für einige Pfennige kaufen. Ein Berg aus Pappe und mit aufgeleimtem Sande war leicht herzustellen, und das Moos, das die grünen Wiesen andeuten sollte, lieferte der freigebige Wald umsonst.

Ein Bewohner des sächsischen Erzgebirges schildert die in den Bürger- und Bauer-

häusern seiner Heimat noch jetzt alle Weihnachten aufgehauten Krippen so: „Sie sind in Holz geschnitzte Darstellungen der Geburtsgeschichte Christi, nnd manche sind wirklich kunstreich und sehr schön. Da sieht man auf einem Berge die Stadt Bethlehem. Vorn ist ein Stall mit offenen Wänden, in dem man neben Ochs und Esel das Christkind in der Krippe und Maria und Joseph sieht. Auf der andern Seite stehen die Hirten, welche die Schafe hüten, und über ihnen schweben Engel, welche die Geburt Christi verkündigen. Im Hintergrunde kommen auf einem Bergpfade die drei Weisen aus dem Morgenlande auf Rossen und Kamelen, von Dienern begleitet, heran und ziehen nach dem Sterne, der über dem Stalle strahlt. Das ganze Bildwerk hat oft einen bedeutenden Umfang, und wenn es in der Weihnachtszeit in den Familien, die eines solchen Besitzes sich rühmen, aufgebaut, jede Figur an ihren Platz gestellt, und das Ganze durch ringsum angebrachte Lichter erleuchtet ist, so wird das Zimmer von Beschauern nicht leer, ja es kann oft kaum die Menge fassen, und wenn man einen gebirgischen Knaben fragen wollte, was ihm an Weihnachten das Liebste sei, seine Geschenke oder die Anschauung der strahlenden Krippe, er würde wohl meist das letztere nennen."

Aufser so grofsen Krippen, wie sie hier beschrieben, findet man freilich auch oft recht kleine, die aber dennoch den Kindern nicht weniger Vergnügen machen. Manchmal ist nur das Brettchen, auf dem der lichterstrahlende Tannenbaum steht, in eine Krippe umgewandelt. Um das Brettchen herum zieht sich, oft von Kinderhand gefertigt, ein zierlicher Lattenzaun, und anf das Brettchen selbst ist eine Moosdecke geleimt. In einer Ecke steht eine Krippe, oft auch von Kindern selbst angefertigt, in ihr, das Christuskind vorstellend, ein kleines Wickelpüppchen, während neben ihr Ochs nnd Esel ihren Platz gefunden haben. In der andern Ecke des „Gärtchens", wie es die Kinder anch nennen, ist eine Herde hölzerner Schäfchen aufgestellt, die von den Hirten gehütet werden. Über der Spitze des Baumes aber schwèbt ein Englein, das ein Band mit der Inschrift: „Ehre sei Gott in der Höhe!" in den Händen hält.

Ebenfalls im sächsischen Erzgebirge findet man noch eine andere Art von Krippen. Sie bestehen ans hölzernen, mit buntem Papier überzogenen Pyramiden, wie sie auch in Städten zum Verkauf ansgeboten werden, und sind genau in vier Stockwerke abgeteilt. Auf dem untersten Brettchen findet sich eine Darstellung der Geburt Jesu, wie sie schon beschrieben ist. Im zweiten Stockwerke sind gewöhnlich die Christenverfolgungen dargestellt, indem ans flimmernden Steinen kleine Höhlen gebant sind, in denen kleine, hölzerne Figuren, die ersten Christen vorstellend, stehen. Im dritten Stockwerke stehen Figuren, die Bischöfe, Mönche, Ritter, den Papst, Luther u. s. w. vorstellen und das Mittelalter andenten sollen, während auf dem obersten Brettchen Soldaten, weltliche und geistliche Beamte, Handwerker aller Art u. s. w. die neueste Zeit bezeichnen. Die zu diesen Darstellungen gehörigen Figuren liefern die erzgebirgischen Spielwaren-Fahriken. Aber nicht nnr in Dentschland war und ist die Aufstellung von Krippen ühlich. Man findet diese Gewohnheit anch in Italien, Frankreich und England. In Polen trägt ein verkleideter Schulknabe eine Krippe dnrch das Dorf und singt bei der Vorzeigung derselben ein Weihnachtsliedchen.

Weiter als in den Krippen ging man mit der Darstellung der heiligen Weihnachtsgeschichte in den sogenannten „Weihnachtsspielen". Leute eines Ortes vereinigten sich, entweder auf einer eigens dazu errichteten Bühne oder in den Wohnstuben ihrer Nachbarn, die Geschichte der Gebnrt Jesu aufzuführen. Der Text dieser volkstümlichen Schauspiele ward meistens nnr von Mund zu Mund fortgepflanzt. Zuweilen hatte einer im Dorfe eine Abschrift desselben, daun leitete dieser die Vorbereitungen und Aufführnngen. Ähnlich also wie bei dem berühmten Oberammergauer Passionsspiel. Jetzt sind die Weihnachtsaufführnngen immer seltener geworden; dio Gelehrten aber haben dafür gesorgt, dafs die den Leuten noch erinnerlichen Texte aufgeschrieben worden sind, und so besitzen wir jetzt Weihnachtsspiele aus Sachsen, Böhmen, Schlesien, Thüringen, den Rheinlanden, Kärnten, Salzburg, Mähren und aus Deutsch-Ungarn. Wenn sich der

Text derselben auch meistens an die Worte der Heiligen Schrift anlehnt, so ist doch auch mancherlei hinzugedichtet worden und oft, wie es des Volkes Weise ist, recht Gemütliches und Naives. So besonders in den Scenen, wo die Hirten auf dem Felde die Verkündigung hören und sich dann mit ihren Geschenken (z. B. Wolle, Milch, einem Lamm, einem Apfel u. dgl.) nach Bethlehem aufmachen. In einem erzgebirgischen Weihnachtsspiel kommt ein junger Hirt mit zu dem neugeborenen Kindlein, der nichts als ein altes, hartes Brotrindchen in seinem Korbe hat und dieses mit den Worten: „Da, Alter, iſs du's!" dem Joseph gibt, weil es das Kindlein doch nicht erbeiſsen könnte. Auch in der Scene, wo der Engel erscheint, machen die Weihnachtsspiele gern ihre Späſse. Da weckt ein Hirt einen andern sehr fest schlafenden mit den Worten: „Steh auf, uns ist ein Kind geboren". Dieser aber antwortet schlaftrunken: „Was, ein Kind ist erfroren?" Ebenso wird in der Scene, als Joseph und Maria nach Bethlehem kommen und keine Herberge finden können, mancher Spaſs gemacht. Da tritt in einem Spiele ein geiziger Wirt auf, bei dem der Knecht für die Fremden bittet, im andern ein gutmütiger Wirt, der die Fremden gern aufnähme, wenn er es vor seiner bösen Frau, unter deren Herrschaft er steht, wagen dürfte. In einem andern Spiele bringt eine mitleidige Magd der Maria Zutat zu einem Brei für das Kindlein. Dem einfachen Sinne des Volkes waren solche Erweiterungen der heiligen Geschichte durchaus nicht anstöſsig, und jung und alt hörte mit der gröſsten Ehrfurcht und Andacht zu. Tritt doch in einem ungarischen Weihnachtsspiele, das auch den bethlehemitischen Kindermord mitbehandelt, sogar der Teufel, der den gottlosen Herodes holt, in fürchterlicher Gestalt auf.

Im Gefolge der Aufführungen war, wenn sie in ein Haus traten, gewöhnlich auch Ruprecht. Vor der Aufführung stellte derselbe mit den Kindern und mit dem Gesinde des Hauses ein Examen an, das, wenn es übel ablief, wohl auch Schläge zur Folge hatte. An manchen Orten hat die Stelle des Ruprecht der Apostel Petrus eingenommen. Wieder an anderen Orten tritt das Christuskindlein mit einem Engel auf und fragt vor der Aufführung nach dem Betragen der Kinder und des Gesindes. Er lobt dann die Braven, ermahnt die, über welche geklagt wird, und verteilt Geschenke. Dieses sogenannte „Christkindelspiel" ist an vielen Orten das einzige, was sich von den Weihnachtsspielen noch erhalten hat.

Ein seltener Brauch herrschte im Mittelalter an dem vierten Weihnachtstage, dem sogenannten „Kindeltage", der dem Andenken der zu Bethlehem ermordeten unschuldigen Kindlein gewidmet ist. Dieser Tag wurde nämlich zu einem seltsamen Feste für die Schuljugend gemacht, bei dem sie das Recht hatte, einen unter sich zum Bischofe zu wählen. Dieser hieſs der Kinderbischof. In feierlichem Zuge und im bischöflichen Ornate wurde der gewählte Knabe in die Kirche geführt; dort erhielt er einen Ehrenplatz am Altare, auf dem er während des ganzen Gottesdienstes verweilte. Zum Schlusse des Gottesdienstes muſste er selbst eine geistliche Rede halten. Darauf folgte ein feierlicher Umzug durch die Stadt, voran der Kinderbischof zu Pferde und ihm nach die ganze fröhliche Kinderschar in den verschiedensten und lächerlichsten Maskon.

Seit Jahrhunderten schon ist diese Sitte aufgehoben worden, da sie gar bald zu Scenen führte, die des Gotteshauses nicht würdig waren. Eine andere Sitte am Kindeltage hat sich aber bis auf unsere Tage erhalten. In Süddeutschland ist es nämlich Brauch, daſs an diesem Tage die Kinder mit Ruten aus Wacholder- oder Tannenreisern umherziehen, die Erwachsenen mit diesen Ruten, wie sie sagen, abkehren und dafür kleine Geschenke erhalten, ähnlich wie dies in Norddeutschland zu Fastnacht der Fall ist. In Schwaben nennt man jenen Gebrauch „Fitzeln" oder „Pfeffern".

Zum Schluſs sei noch einer in Norddeutschland üblichen Sitte gedacht, bei welcher sich sogar der alte Name des heidnischen Sonnenwend-Festes, das man auch „Julfest" nannte, erhalten hat. In Holstein, Mecklenburg und den angrenzenden Ländern wickelt man nämlich Geschenke für Bekannte und Verwandte in eine möglichst groſse Zahl von Umhüllungen, z. B. in zwanzig oder dreiſsig Bogen Papier. Während der Bescherung

werden sie dann, ohne daſs man weiſs, von wem sie kommen, zur Tür hereingeworfen, und dabei wird der Name dessen gerufen, für den sie bestimmt sind. Zuweilen wird auch der Name des Empfängers auf die Umhüllung geschrieben. Ein solches Geschenk heiſst „Julklapp“, und der Ruf, den man bei dem Werfen hören läſst, heiſst also ungefähr: „Julklapp für den Papa“ oder: „Julklapp für Hänschen“ u. s. f.

## 93. Die Religion der alten Germanen.

Von K. Wernicke.

Geschichte der Welt. Berlin 1883. Bd. I (Altertum), S. 514.

Über die Religion der Germanen finden wir bei den römischen Schriftstellern nur sehr mangelhafte Nachrichten. Dazu kommt, daß in Deutschland selbst bei der Einführung des Christentums alles, was an das Heidentum erinnerte, aus mißverstandenem Glaubenseifer vertilgt wurde. Die uns erhaltenen Bruchstücke deutscher Götterlehre aber stehen um so weniger in strengem Zusammenhange miteinander, je mehr die Germanen in Deutschland in verschiedene Stämme gespalten waren, bei denen sich schwerlich ein allen gemeinsames vollständiges System der Götterlehre je ausgebildet hat. Am meisten entwickelt erscheint die germanische Religion in den Sagen der germanischen Bewohner Skandinaviens, bei denen sich auch das Heidentum fast drei Jahrhunderte länger und ungestörter erhielt, als in Deutschland.

Nach dieser nordischen Mythologie war im Anfange der Zeit weder Himmel noch Erde, sondern nur eine gähnende Tiefe. In diese blickte Alfadur (Allvater), der unsichtbare, ewige und unveränderliche Schöpfer des Weltalls, und spaltete sie in zwei Teile, in Norden (Nifliheim), von wo Dunkel und grimmige Kälte, und in Süden (Muspellheim), von wo Licht und Wärme ausgeht. Aus einem in der Mitte liegenden Brunnen flossen zwölf Giftströme. Je mehr sich dieselben von ihrer Quelle entfernten, um so mehr erstarrte das in ihnen enthaltene Gift, und so entstand Reif und Eis, welches die Tiefe ausfüllte. Angeweht von der milden Luft des Südens, begann es zu schmelzen und zu triefen, und durch die Kraft dessen, der die Hitze sandte, belebte sich der Tropfen, und es entstand daraus der Riese Ymir, von dem das Geschlecht der Riesen ausging. Ebenso entstand daraus die Kuh Audhumbla, von deren Milch Ymir sich nährte. Sie selbst nährte sich dadurch, daß sie die salzigen Eissteine leckte, und dadurch entstand Buri, ein großer, schöner und starker Mann, dessen Enkel Odin, Vile und Ve den Riesen Ymir erschlugen. Als dieser fiel, entströmte seinen Wunden eine so große Menge von Blut, daß alle Riesen bis auf einen, von dem das jüngere Riesengeschlecht stammt, darin ertranken. Buris Enkel schleppten darauf Ymirs Leichnam mitten in die Kluft und erschufen aus seinem Blute die See, aus dem Fleische die Erde, aus den Knochen die Berge, aus den Zähnen und zerbrochenen Knochen die Felsen und Klippen, aus dem Schädel den Himmel, an welchem sie die aus Muspellheim herübergeflogenen Feuerfunken befestigten, so daß alles dadurch erleuchtet wurde. Die Erde war rund und von einem tiefen Meere umgeben, dessen Strand (Jötunheim) die Riesen bewohnen sollten, und um sie gegen dieselben zu schützen, wurde aus den Augenbrauen Ymirs die Burg Midgard (Mittelfeste) erbaut. Am Strande fanden Odin, Vile und Ve zwei Bäume, aus denen sie zwei Menschen erschufen, Askr und Embla. Odin gab ihnen Seele und Leben, Vile Witz und Gefühl, Ve Sprache, Gehör und Gesicht. Die drei Götterbrüder (Asen) ordneten nun die Welt. Sie setzten an den Himmel die Lenker von Sonne und Mond, welche auf Wagen fahren, von Wölfen verfolgt, die von den Riesen stammen und sie zu verschlingen drohen. Einer vom Geschlechte der Asen vermählte sich mit einer Riesentochter, der schwarzen Nacht, welche Odin mit ihrem Sohne, dem glänzenden Tage, an den Himmel versetzte, damit sie auf schnellen Rossen täglich die Erde umritten.

Im Himmel bauten sich die Götter die Burg Asgard. Dort befanden sich zwölf aus Gold und Edelsteinen zusammengesetzte Götterburgen. Auf Idavöllr, einer reizenden Ebene, hatten sie ihre Gastmahle und Kampfspiele. Dort ist Walhalla, ein glänzender Goldpalast, der bis in die Wolken reicht, und vor dessen Eingang sich ein Hain befindet, dessen Bäume goldrote Blätter haben. Dort ist auch Wingolf, das Heiligtum der Göttinnen, dort endlich auch die Gerichtsstätte über Götter und Menschen unter der Esche Ygdrasill. Ringsum sind die Sitze für die zwölf

Götter des hohen Götterrates. Eine Brücke, aus Luft, Feuer und Waſſer zuſammengeſetzt, verbindet Asgard mit der Erde.

An der Spitze der zwölf oberen Götter ſteht Odin (deutſch Wuotan), der Vater der Götter und Menſchen, einäugig und mit einem grauen, breiten Hute. Er iſt der weiſe Lenker der Welt, der Lehrer der Menſchen in kunſtreichen Erfindungen, der Ordner der Kriege und Schlachten. Er entſendet die jungfräulichen Göttinnen des Heldentodes, die Walküren, daß ſie ihm die Einherier erleſen, die Helden, welche ſie durch einen Kuß in der Schlacht zum Göttermahle in Walhalla laden, wo dieſelben an den Kampfſpielen der Götter teilnehmen und nach dem Mahle auf immergrünen Gefilden am Arme der Walküren luſtwandeln. Ihm war der Mittwoch heilig. Odins Gemahlin iſt Frigg, die Mutter der Götter und Beſchützerin der Ehen. Odins und der Frigg Sohn iſt Thor (Donar), der Donnerer, der auf einem Wagen durch den Himmel fährt und einen gewaltigen Hammer führt; ihm war der Donnerstag heilig. Odins zweiter Sohn iſt Baldr (Baldur), der Gott des Lichts und der Schönheit. Der vierte der Aſen iſt Niord, der Beherrſcher des Meeres und der Flüſſe; der fünfte iſt Niords Sohn Freyr (Herr), der Gott der Sonne, des Friedens und der Fruchtbarkeit. Seine Schweſter Freya iſt die Göttin der Liebe und des Mondes, in deren Gefolge ſich Snotra, die Göttin der Schamhaftigkeit, und Geſion, die jungfräuliche Göttin der Unſchuld, befinden. Ihr war der Freitag geweiht. Der ſechſte der hohen Götter iſt der einhändige Tyr, Odins Sohn, der weiſe und tapfere Gott der Krieger; der ſiebente iſt Bragi, der Gott der Dichtkunſt, mit einer goldenen Harfe, deſſen Gemahlin Idun, die Göttin der Unſterblichkeit, die goldenen Äpfel bewahrt, deren Genuß Unſterblichkeit verleiht. Der achte iſt Heimdall, der Wächter der Himmelsbrücke; der neunte der ſchweigende Gott Widar, der ſtärkſte nach Thor; der zehnte Wali, ein trefflicher Bogenſchütze; der elfte, Thors Stiefſohn, Uller; der zwölfte endlich Forſete, Baldrs Sohn, der Gott des Friedens.

Zu den niederen Göttinnen gehörten außer den Walküren noch die drei Nornen, die Schickſalsgöttinnen, welche Vergangenheit und Zukunft kennen und über Leben und Tod der Sterblichen entſcheiden.

Nicht zum Geſchlechte der Aſen gehörig, aber mit Odin befreundet iſt Loke, ſchön, aber boshaft und ſchadenfroh, das Sinnbild des Feuers in ſeinen verderblichen Wirkungen. Mit einem Rieſenweibe erzeugte er drei Ungeheuer: die ſcheußliche, halb ſchwarze, halb menſchenfarbige Todesgöttin Hel, den Wolf Fenris und die Midgardſchlange. Die Götter wußten, daß ihnen dieſe drei Weſen großes Unheil bringen würden. Sie ſchleuderten deshalb die Schlange in das Weltmeer, wo ſie ſo wuchs, daß ſie mit ihrem Leibe die ganze Erde umſchlingt, indem ſie ſich ſelbſt in den Schwanz beißt. Hel warfen ſie nach Niſtheim; den Wolf aber feſſelten ſie mit einem Zauberbande, das die im Innern der Erde wohnenden Zwerge (Schwarzelfen genannt, im Gegenſatz gegen die Lichtelfen) verfertigt hatten, an einen Felſen. Auch Loke wurde an Felſen gefeſſelt, weil durch ſeine Argliſt Baldr, der weiſeſte, beredteſte und beſte der Aſen, den Tod fand.

Die Aſen ſind nicht ewig, ſie ſind ſogar dem Alter unterworfen und nur durch den Genuß der Äpfel Iduns ſchützen ſie ſich gegen dasſelbe; endlich aber naht ihrer Herrſchaft der Untergang. Furchtbare Zeiten brechen dann herein, voll Frevel, Krieg und Blutvergießen; drei Jahre dauert der Winter. Dann verſchlingen die beiden Wölfe Sonne und Mond; Loke und ſeine Kinder werden befreit und vereinigen ſich mit Surtur, dem Beherrſcher von Muſpellheim, gegen die Aſen. Der Fenriswolf verſchlingt Odin und wird dann ſelbſt getötet; Thor erlegt die Midgardſchlange, ſtirbt aber von ihrem Gifte; die Erde ſinkt ins Meer zurück, und die Welt geht in Feuer aus der Südwelt unter. Dann aber ſchafft Allvater einen neuen Himmel und eine neue Erde, in denen kein Übel mehr iſt. Auch die Götter kehren, zu vollendeterem Daſein erhoben, nach Idaoëllr zurück. Nur Odin und Thor fehlen unter ihnen; aber an die Stelle des erſteren tritt der wiedergekehrte Baldr, an die des letzteren treten ſeine beiden Söhne, Mut und Stärke; die Rieſen und Ungeheuer haben für immer ihren Untergang gefunden.

In der nordiſchen Religion findet ſich auch, wie ſchon aus dem oben Bemerkten hervorgeht, der Glaube an eine Fortdauer der Seele nach dem Tode, nur freilich ſo, daß der Zuſtand und der Aufenthalt der Seele durch die Todesart beſtimmt wird. Nur wer den Heldentod in der Schlacht geſtorben iſt, wird des Aufenthaltes und der Seligkeit in Walhalla teilhaftig. Wer nicht im Kampfe

gefallen, oder wer ein Lügner, Dieb und ehrloſer Menſch geweſen iſt, fällt der Toteugöttin Hel anheim, deren Gebiet Helheim ſich am äußerſten Ende von Jötunheim in Niſlheim, von einem Strome umfloſſen, befindet. Doch blickt auch eine reinere Anſicht durch in der Lehre, daß nach der durch Alfadur bewirkten Erneuerung der Welt Walhalla nicht wiederentſtehen wird, ſondern neue Wohnungen den Seligen bereitet werden. Dann wird der Reiche, der Starke von oben, Gericht halten, und die Guten und Tugendhaften werden in Gymle, wo es am beſten iſt, und in anderen Sälen wohnen; die Meineidigen, Verführer und alle, die böſe waren, aber werden nach dem Leichenſtrand verſtoßen, wo ſie im Schlangenſaale in Giftſtrömen waten.

Dies war in allgemeinen Umriſſen die Religion der im Norden unſeres Erdteils wohnenden germaniſchen Stämme. Jedenfalls war es urſprünglich eine Naturreligion. Die Aſen ſind die Kräfte, welche den Wechſel in der Natur ordnen, aber gleichzeitig auch ſelbſt demſelben unterworfen ſind. So iſt Odin die Sonne, Thor der Blitz. Über allen Naturkräften aber waltet ewig und unveränderlich der eine unſichtbare Alfadur, der Herr und Schöpfer von Himmel und Erde und allem, was dazu gehört. Auf dieſe beſondere Geſtaltung und weitere Ausbildung der Götterſagen aber ſcheinen die Erinnerungen aus der Urzeit des Volkes, die Sagen von Einwanderungen und dergleichen, beſonderen Einfluß geübt zu haben. Jedenfalls bildet dieſe Religion ungeachtet ihrer Dunkelheit ein ehrenvolles Zeugnis für den tiefen Geiſt und den ſittlich-ernſten Sinn der germaniſchen Völker.

Unter den Göttern, die im eigentlichen Deutſchland verehrt wurden, genoß Wuotan oder Wodan die allgemeinſte und höchſte Verehrung; beſonders lange erhielt ſich dieſe im nördlichen Deutſchland. Nach ihm empfing nicht nur der Mittwoch den Namen Wodensday, ſondern auch die Sage hat ſeinen Namen bewahrt in dem „wütenden Heere".

Nächſt ihm ſtand am höchſten der rotbärtige Donar oder Thonar (Thor), der über Wolken und Regen gebietet und ſich durch Donner und Blitz verkündigt. Ihm war die Eiche heilig. Beiden an Macht am nächſten ſtehend, dachte man ſich den Kriegsgott Zio oder Tiu (Tyr), der dem ihm geweihten Dienstag den Namen gab und auch Er (Ear, Eor) genannt wurde. Von ihm hatte die berühmteſte Feſte der Sachſen, die Eresburg, ihren Namen, und ihm war die in der Nähe derſelben befindliche Irminſul (Irminſäule) geweiht. Auch der nordiſche Freyr wurde in Deutſchland verehrt unter dem Namen Fro. Er wurde um Fruchtbarkeit des Landes und um Frieden angefleht, und unter den Tieren war ihm beſonders der Eber heilig. Auch der Lichtgott Baldr wurde in Deutſchland unter dem Namen Paltar angebetet. Sein Sohn Forſete, bei den Frieſen Foſite genannt, hatte ein Heiligtum auf der Inſel Helgoland, die deshalb auch früher Foſitesland hieß.

Eine bedeutende Stelle unter den germaniſchen Göttern nahmen Sonne und Mond ein, während dieſelben in der nordiſchen Mythologie nur eine untergeordnete Rolle ſpielen. Ihnen waren die beiden erſten Tage der Woche geweiht, und auch in den Namen mehrerer Orte finden ſich Hinweiſungen auf die weite Verbreitung ihres Dienſtes.

Die Göttinnen wurden ſämtlich als umherziehende Göttermütter gedacht, welche den Menſchen den Ackerbau und die häuslichen Geſchäfte und Künſte, wie das Spinnen und Weben, lehren und ſo den Frieden und die Ruhe des Landes beſchirmen. Als Hauptgöttin wird die Mutter Erde genannt (Nerthus oder Hertha). Ihr gehörte, wie Tacitus ſagt, auf einer Inſel des Ozeans, vielleicht der Inſel Rügen, ein heiliger Hain. In dieſem befand ſich ein mit einem Gewande verhüllter Wagen, den nur der Prieſter berühren durfte. Dieſer wußte es, wenn die Göttin im innerſten Heiligtume weilte, und führte ſie dann auf ihrem von Kühen gezogenen Wagen im Lande umher. Während ihres feierlichen Umzuges herrſchte überall, wohin ſie kam, Friede und Freude; die Waffen wurden verſchloſſen, und man begann keinen Krieg, bis die Göttin in ihren Tempel zurückkehrte. Dann wurden Wagen, Gewänder, ja die Göttin ſelbſt in einem geheimnisvollen See gebadet, die dabei beſchäftigten Sklaven aber in den See verſenkt. — Hertha iſt eine milde, freundliche und gütige Göttin, die nur zürnt, wenn ſie Unordnung in der Haushaltung wahrnimmt. In Mitteldeutſchland erſcheint ſie unter dem Namen Holda, und noch bis auf den heutigen Tag hat ſich in manchen Gegenden in der Volksſage die Frau Holle erhalten, welche fleißigen Mädchen die Spindeln ſchmückt und ihnen über Nacht die Spulen vollſpinnt, faulen

Dirnen aber den Rocken anzündet und beſchmutzt. Ähnlich erſcheint in Oberdeutſchland die Frau Berhta oder Berchta. Sie fährt auf einem Wagen, begünſtigt Ackerbau und Schiffahrt und führt die Aufſicht über das Spinnen; nur erſcheint ſie gewöhnlich nicht in freundlicher, ſondern in abſchreckender, furchtbarer Geſtalt. Auch der Dienſt der Freya, der ſchönen, liebenswürdigen Schweſter Freyrs, war in Deutſchland weit verbreitet, wie auch nach ihr der Freitag genannt wurde.

Auch ihre alten Helden vergötterten die Germanen, beſonders den Gott Tuisco, einen Sohn der Erde, deſſen Sohn Manus der erſte Held und der Stammvater aller Menſchen war. Von ſeinen drei Söhnen Ingo, Isco und Hermino leitet die Sage die drei Hauptſtämme der Germanen, die Ingävonen, die Iscävonen und die Herminonen, ab.

Auch an übernatürlichen weiblichen Weſen fehlt es den Deutſchen nicht. Ihre Aufgabe iſt es, den Sterblichen Heil oder Unheil, Sieg oder Tod zu verkündigen und zu bereiten. Mit Weisheit erſpähen und lenken ſie das Schickſal des Menſchen und ſtehen ihm warnend und ratend zur Seite. Weisſagend und Gaben ſpendend erſcheinen ſie bei ſeiner Geburt; im Kampfe ſtehen ſie ihm bei und verleihen ihm Sieg. Unter verſchiedenen Namen, als Schwanenjungfrauen, Alraunen u. ſ. w. halten ſie ſich in Wäldern, auf Bergen, an Flüſſen und Seeen auf und können ſich unſichtbar machen. Die eigentlichen Schickſalsgöttinnen waren die drei Nornen, die das Schickſal erſpähen und verhängen und ſpinnend oder webend gedacht wurden. Urſprünglich war der Glaube an ſie gewiß unter allen germaniſchen Völkern heimiſch. Von den Schlachtenjungfrauen, den Walküren, iſt bereits die Rede geweſen.

Neben jenen vergötterten und halbgöttlichen Weſen dachte man ſich noch eine ganze Reihe anderer Weſen, die nur durch Umſtände oder Zufall bewogen werden, mit den Menſchen zu verkehren. Zu ihnen gehören die Wichte oder Elbe (Elfen), teils glänzende und ſchöne, gute Geiſter, in ſchimmernden Gewändern, oft ſo klein, daß ſie in Blumenkelchen wohnen können, teils ſchwarz und häßlich, in grober Kleidung. Sie ſtehen unter einem König und wohnen in den Gebirgshöhlen, wo ſie Schätze ſammeln und köſtliche Waffen ſchmieden. Im Gegenſatze zu den ſchlauen Elben und Zwergen ſtehen die dummen Rieſen, die auf Bergen und Felſen hauſen. Hierher gehören ferner die oft tückiſchen Waſſernixen, männliche und weibliche Geiſter der Flüſſe, Bäche und Seeen, die beſonders Tanz, Muſik und Geſang lieben. Sie geſellen ſich auch oft zu den Menſchen; noch mehr aber iſt dies der Fall bei den Kobolden, freundlichen Hausgeiſtern, die im Hauſe oder im Gehöft ihre Wohnung nehmen, und deren Anweſenheit Glück und Segen in das Haus bringt.

Den Dienſt der Götter verwalteten teils der Fürſt oder der Familienvater, teils Prieſter, welche auch den Willen der Götter in öffentlichen Angelegenheiten erforſchten, die Volksverſammlungen leiteten und an Frevlern und Staatsverbrechern die Todesurteile zu vollſtrecken hatten; eine beſondere Prieſterkaſte aber hatten die Germanen nicht.

Tacitus ſagt, wegen der Größe und Erhabenheit der Gottheit hätten es die Germanen für unmöglich gehalten, dieſelbe in menſchlicher Geſtalt darzuſtellen, und in der Tat hat man auch nirgends unzweifelhaft germaniſche Götterbilder gefunden. Jedenfalls gehören dieſelben, wenn es wirklich ſolche gibt, erſt einer ſpäteren Zeit an. Man verehrte die Gottheit in heiligen Hainen, auf Bergen (ſo auf dem Brocken), auf Steinen, an Quellen oder unter heiligen Bäumen, unter welchen die Donereiche bei Geismar in Heſſen am berühmteſten war. In Tempeln ſchloß man nach dem Berichte des Tacitus die erhabene Gottheit nicht ein; wenigſtens geſchah auch dies erſt ſpäter und nur im hohen Norden.

Unter den allen germaniſchen Völkern gemeinſamen Feſten ſind beſonders zu nennen das Julfeſt um die Zeit des kürzeſten Tages, das Oſterfeſt beim Beginn des Frühlings und ſtatt deſſen bei den ſüdlicheren Stämmen das Feſt der Sommer-Sonnenwende, welche beide mit Anzünden von Feuern auf den Bergen gefeiert wurden. Dieſe drei Feſte wurden ſpäter in chriſtliche umgewandelt; das erſte in das Weihnachts-, das zweite in das chriſtliche Paſſah-, das dritte in das Johannisfeſt; aber noch jetzt haben ſich bei denſelben in verſchiedenen Gegenden Deutſchlands manche an die heidniſchen Feſte erinnernde Gebräuche erhalten.

## 94. Gruben bei Klausthal.

Von H. Heine.

Reisebilder. Hamburg 1848. Tl. I, S. 128.

Das Befahren der zwei vorzüglichsten Clausthaler Gruben, der „Dorothea“ und „Karolina“, fand ich sehr interessant, und ich muß ausführlich davon erzählen. Eine halbe Stunde vor der Stadt gelangt man zu zwei großen, schwärzlichen Gebäuden. Dort wird man gleich von den Bergleuten in Empfang genommen. Diese tragen dunkle, gewöhnlich stahlblaue, weite, bis über den Bauch herabhängende Jacken, Hosen von ähnlicher Farbe, ein hinten aufgebundenes Schurzfell und kleine, grüne Filzhüte, ganz randlos, wie ein abgekappter Kegel. In eine solche Tracht, bloß ohne Hinterleder, wird der Besuchende ebenfalls eingekleidet, und ein Bergmann, ein Steiger, nachdem er sein Grubenlicht angezündet, führt ihn nach einer dunkeln Öffnung, die wie ein Kaminfegeloch aussieht, steigt bis an die Brust hinab, gibt Regeln, wie man sich an den Leitern festzuhalten habe, und bittet, angstlos zu folgen. Die Sache selbst ist nichts weniger als gefährlich; aber man glaubt es nicht im Anfang, wenn man gar nichts vom Bergwerkswesen versteht. Es gibt schon eine eigene Empfindung, daß man sich ausziehen und die dunkle Delinquententracht anziehen muß. Und nun soll man auf allen vieren hinabklettern, und das dunkle Loch ist so dunkel, und Gott weiß, wielang die Leiter sein mag. Aber bald merkt man doch, daß es nicht eine einzige, in die schwarze Ewigkeit hineblausende Leiter ist, sondern daß es mehrere von fünfzehn bis zwanzig Sprossen sind, deren jede auf ein kleines Brett führt, worauf man stehen kann, und worin wieder ein neues Loch nach einer neuen Leiter hinableitet. Ich war zuerst in die Karolina gestiegen. Die Leitersprossen sind kotig-naß. Und von einer Leiter zur andern geht's hinab, und der Steiger voran, und dieser beteuert immer, es sei gar nicht gefährlich; nur müsse man sich mit den Händen fest an den Sprossen halten und nicht nach den Füßen sehen und nicht schwindelig werden und nur beileibe nicht auf das Seitenbrett treten, wo jetzt das schnurrende Tonnenseil heraufgeht, und wo vor vierzehn Tagen ein unvorsichtiger Mensch hinuntergestürzt und leider den Hals gebrochen. Da unten ist ein verworrenes Rauschen und Summen, man stößt beständig an Balken und Seile, die in Bewegung sind, um die Tonnen mit geklopften Erzen oder das hervorgesinterte Wasser heraufzuwinden. Zuweilen gelangt man auch in durchgehauene Gänge, Stollen genannt, wo man das Erz wachsen sieht, und wo der einsame Bergmann den ganzen Tag sitzt und mühsam mit dem Hammer die Erzstücke aus der Wand herausklopft. Bis in die unterste Tiefe bin ich nicht gekommen; unter uns gesagt, dort, bis wohin ich kam, schien es mir bereits tief genug: — immerwährendes Brausen und Sausen, unheimliche Maschinenbewegung, unterirdisches Quellengerieſel, von allen Seiten herabtriesendes Wasser, qualmig aufsteigende Erddünste, und das Grubenlicht immer bleicher hineinflimmernd in die einsame Nacht. Wirklich, es war betäubend, das Atmen wurde mir schwer, und mit Mühe hielt ich mich an den glitscherigen Leitersprossen. Ich habe keinen Anflug von sogenannter Angst empfunden; aber, seltsam genug, dort unten in der Tiefe erinnerte ich mich, daß ich im vorigen Jahre ungefähr um dieselbe Zeit einen Sturm auf der Nordsee erlebte, und ich meinte jetzt, es sei doch eigentlich recht traulich-angenehm, wenn das Schiff hin und her schaukelt, die Winde ihre Trompeterstückchen losblasen, zwischendrein der lustige Matrosenlärm erschallt und alles frisch überschauert wird von Gottes lieber, freier Luft. Ja Luft! — Nach Luft schnappend, stieg ich einige Dutzend Leitern wieder in die Höhe, und mein Steiger führte mich durch einen schmalen, sehr langen, in den Berg gehauenen Gang nach der Grube „Dorothea“. Hier ist es luftiger und frischer, und die Leitern sind reiner, aber auch länger und steiler als in der „Karolina“. Hier wurde mir auch besser zumute, besonders da ich wieder Spuren lebendiger Menschen gewohrte In der Tiefe zeigten sich nämlich wandelnde

Schimmer; Bergleute mit ihren Grubenlichtern kamen allmählich in die Höhe, mit dem Gruße: „Glück auf!“ und mit demſelben Widergruße von unſerer Seite ſtiegen ſie an uns vorüber; und wie eine befreundete ruhige und doch zugleich quälend rätſelhafte Erinnerung trafen mich mit ihren tiefſinnig-klaren Blicken die ernſt-frommen, etwas blaſſen und vom Grubenlicht geheimnisvoll beleuchteten Geſichter dieſer jungen und alten Männer, die in ihren dunkeln, einſamen Bergſchachten den ganzen Tag gearbeitet hatten und ſich jetzt hinaufſehnten nach dem lieben Tageslicht und nach den Augen von Weib und Kind.

Mein Cicerone ſelbſt war eine kreuzehrliche, pudeldeutſche Natur. Mit inniger Freudigkeit zeigte er mir jene Stelle, wo der Herzog von Cambridge, als er die Grube befahren, mit ſeinem großen Gefolge geſpeiſt hat, und wo noch der lange, hölzerne Speiſetiſch ſteht, ſowie auch der große Stuhl von Erz, worauf der Herzog geſeſſen. Dieſer bleibe zum ewigen Andenken ſtehen, ſagte der gute Bergmann, und mit Feuer erzählte er, wie viele Herrlichkeiten damals ſtattgefunden, wie der ganze Stollen mit Lichtern, Blumen und Laubwerk verziert geweſen, wie ein Bergknappe die Zither geſpielt und geſungen, wie der vergnügte, liebe, dicke Herzog ſehr viele Geſundheiten ausgetrunken habe, und wie viele Bergleute, und er ganz beſonders, ſich gern würden totſchlagen laſſen für den lieben Herzog und das ganze Haus Hannover. — Innig rührt es mich jedesmal, wenn ich ſehe, wie ſich dieſes Gefühl der Untertanentreue in ſeinen einfachen Naturlauten ausſpricht. Es iſt ein ſo ſchönes Gefühl, und es iſt ein ſo wahrhaft deutſches Gefühl! Andere Völker mögen gewandter ſein und witziger und ergötzlicher; aber keines iſt ſo treu wie das treue deutſche Volk. Wüßte ich nicht, daß die Treue ſo alt iſt wie die Welt, ſo würde ich glauben, ein deutſches Herz habe ſie erfunden.

Wie die deutſche Treue hatte uns jetzt das kleine Grubenlicht ohne viel Gefacker ſtill und ſicher geleitet durch das Labyrinth der Schachte und Stollen; wir ſtiegen hervor aus der dumpfigen Bergnacht, das Sonnenlicht ſtrahlt — Glückauf!

Die meiſten Bergarbeiter wohnen in Klausthal und in dem damit verbundenen Bergſtädtchen Zellerfeld. Ich beſuchte mehrere dieſer wackeren Leute, betrachtete ihre kleine häusliche Einrichtung, hörte einige ihrer Lieder, die ſie mit der Zither, ihrem Lieblingsinſtrument, gar hübſch begleiten, ließ mir alte Bergmärchen von ihnen erzählen und auch die Gebete herſagen, die ſie in Gemeinſchaft zu halten pflegen, ehe ſie in den dunkeln Schacht hinunterſteigen, und manches gute Gebet habe ich mitgebetet.

## 95. Goethes Haus in Weimar.

Von K. Immermann.

Memorabilien. Hamburg 1843. Bd. III, S. 181.

An einem freien Platze, den ein Brunnen lebendig macht, zeigt ſich in graurötlicher Tünche, die Fenſter mit ſchwarzen Einfaſſungen umgeben, ein zweiſtöckiges Haus, geräumig dem Anſehen nach, aber durch nichts über das Maß der Wohnung eines wohlhabenden Bürgers hinausgeſtellt. Wir treten über die Schwelle und befinden uns in einem Hausflur, den eine gelbliche Steinfarbe hell und heiter erſcheinen läßt. Wir ſteigen die mit maſſiv gemauerten Wangen verſehene Treppe hinan, die ſich mit breiten Stufen in der ſachteſten Hebung emporſchwingt. Ihre Größe muß uns überraſchen, ſie ſteht in keinem Verhältnis zu den übrigen Dimenſionen des Gebäudes und nimmt das Unterhaus zumeiſt für ſich weg. Intereſſant iſt es, zu hören, wie es entſtand. Während ſeines römiſchen Aufenthaltes wurde das Goethe vom Herzog geſchenkte Haus aufgebaut, auch eine entſprechende Treppe war bereits fertig; da ſah Goethe in Rom eine, deren Bauart ihn entzückte. Sofort ließ er eine Zeichnung davon machen und ſchickte dieſe nach Deutſchland mit dem Befehl, eine ſolche Treppe in ſeinem Hauſe anzubringen. Vergebens waren alle Gegenvorſtellungen über die Alpen hin; es mußte

ihm gehorcht werden. Als er zurückkam, sah er sich das Treppenwerk, welches ihm sein Unterhaus wegnahm, nachdenklich an, stieg kopfschüttelnd, aber schweigend hinauf und hat auch nachmals nie von der Sache gesprochen.

Im oberen Vestibül blicken uns aus Mauerniſchen die Gestalten des Schlafes und des Todes und das riesenhafte Haupt der Juno entgegen. Auch römische Zeichnungen, die über der Treppe hängen, erinnern an jenes Land, nach dessen Verlassen er, wie er zu sagen pflegte, nie wieder recht glücklich geworden ist.

Ein längliches, gelbes Sälchen tut sich auf. Darin speiste er mit seinen Gästen. Meyersche Zeichnungen bedecken die Wände; auch die Nebenwände rechts und links zeigen nur Dinge, die der Kunst angehören. Da ist nun überall Vergangenheit und Erinnerung; denn da ist nichts, was nicht in die Periode seiner Bildung verschlungen wäre. Gerührt überblicken wir die geringen und armen Sachen, an denen der große Mann sich aufzubauen wußte.

Rechts von diesem Sälchen sehen wir in das sogen. Deckenzimmer; warum Goethe dasselbe vorzugsweise so benannte, weiß man nicht, da alle Zimmer mit Stuck verzierte Decken haben. Links liegt sein blaues Empfangszimmer, und dahinter das sogen. Urbinozimmer, nach dem Bilde des Herzogs von Urbino, welches er aus Italien mitbrachte, getauft. Auf der Schwelle des Empfangszimmers begrüßte uns ein freundliches: „Salve!“ Goethe kam, wenn er Menschen empfing, nie auf dem Wege von der Treppe aus, den wir gewandert sind; er ging vielmehr von seinem Arbeitszimmer durch einen Verbindungsgang in das Urbinozimmer, und aus diesem trat er dann, vorbereitet und gefaßt, den Fremden entgegen. Er liebte es nicht,

„daß ihn der Augenblick
Blindwütend, finsterherrschend mit sich führe“.

Dies sind nun die Räume, welche anderen bei seinen Lebzeiten zugänglich waren.

Die Beschreibungen, welche sich in Denkwürdigkeiten und Reiseblättern von diesen Gemächern finden, hatten mir alle ein unrichtiges Bild von ihnen gegeben. Ich erwartete eine gewisse Pracht, wie sie wohl jetzt in den Häusern derer gefunden wird, welche ihre Umgebungen zu schmücken Talent und Mittel besitzen. Zu dieser Annahme hatten mich die schimmernden Worte der Besucher verleitet. Sie sahen den Zeus, und darum erweiterten sich die Wände um ihn zu Tempelhallen, welche von seinem Abglanze strahlten. Vermutlich wäre es mir auch so gegangen. Nun man aber durch die verlassenen Räume geht, verschwindet die Täuschung und macht einer bescheidenen Wahrheit Platz. Es ist eine Wohnung, bequem, anständig, heiter, aber durchaus einfach, im Stile früherer Einrichtungsart, hin und wieder selbst etwas vernützt; es ist die Wohnung eines Altvaters, dessen beste Erinnerungen sich an Möbeln, Leisten und Farben knüpfen, die von langer Zeit herrühren, und die er daher um sich erhalten wissen mag, wenn sie auch unscheinbar zu werden und abzubleichen begonnen haben.

Wir gingen durch kleine Verbindungsgemächer quer durch das Haus dem Studier- und Arbeitszimmer zu. In einem der kleinen Gemächer machten wir auf einen Augenblick Halt; es ist das, in welchem er speiste, wenn er mit seinen Kindern allein war. Ein Laubdach vor diesem Zimmerchen wirft einen grünen Schein hinein; mit einem Schritte ist man im Garten, in welchem Goethe in freien Stunden jeden hellen Sonnenblick zu genießen pflegte. In der Ecke steht ein Gartenhäuschen, worin er seinen physikalischen Apparat aufbewahrte.

Im Vorzimmer des Museums [illegible] ich in Schränken und unter Glaskasten an den Wänden umher Stufen, Steine, Konch[illegible]n, Versteinerungen, überhaupt alles, was Gegenstand seiner naturwissenschaftlichen Betr[illegible]ngen geworden war. Alles fand ich sehr sauber gehalten und mit einer gewissen Zierlich[illegible]ngeordnet. Eine Tür rechts war geöffnet, da blickte ich in die Bibliothek.

Jetzt tat der Bibliothekssekretär Kr[illegible], der frühere Schreiber Goethes, der treue Wächter dieses Allerheiligsten, die Tür des [illegible]beitszimmers auf, und da wurde mir ein

rührender Anblick. Ich erinnerte mich aus Eckermanns „Geſprächen“ der gelegentlichen Äußerungen Goethes, die mich hohe Einfachheit hier erwarten ließen; aber wieder war die Wirklichkeit anders. Dieſes kleine, niedrige, ſchmuckloſe, grüne Zimmerchen mit den dunkeln Rouleaux von Raſch, den abgeſchabten Fenſterbrettern, den zum Teil morſch gewordenen Rahmen war alſo der Ort, von dem aus ſich eine ſolche Fülle des glänzendſten Lichtes ergoſſen hatte! Ich fühlte mich tief bewegt; ich mußte mich zuſammennehmen, um nicht in eine Weichheit zu geraten, die mir die Kraft zur Anſchauung geraubt hätte.

Nichts iſt von ſeiner Stelle gerückt; Kräuter hält mit frommer Strenge darauf, daß jedes Blättchen, jeder Federſchnitzel am Orte bleibe, wo er lag, da der Meiſter entſchlief. Noch zeigt die Uhr die Todesſtunde, halb zwölf; ſie ſtockte damals, der Zufall ſchuf ein Wunderähnliches. Neben ihr ſteht am Fenſter rechts das kleine Schreibtiſchchen, welches der Großvater für die Enkel machen ließ, die er nach dem Tode des Vaters wieder unter ſeine eigene Obhut und in ſeine nächſte Nähe nahm. Das Wölfchen war ſein Liebling, Walther weniger; Alma mußte, um ſtillſitzen zu lernen, an dem Schreibtiſche neben den Brüdern Seidenläppchen zupfen. Da liegen ſie noch in einem Briefcouverte.

Tauſend Gegenſtände, von denen das Zimmerchen erfüllt iſt, reden von dem Weſen und Weben des Geiſtes. Ringsumher an den Wänden laufen niedrige Schränke mit Schubfächern, in denen Schriften aufbewahrt wurden; darüber befinden ſich Repoſitorien, worein Goethe die Sachen ſtellte, mit denen er ſich eben beſchäftigte. Das Holz iſt altersbraun, ein Schrank von poliertem und glänzendem Kirſchbaum ſticht dagegen ab; die Schwiegertochter redete ihm denſelben auf, Goethe mochte lange das gleißende Möbel nicht leiden, „das ihn zerſtreue“. — Darum iſt auch kein Kunſtwerk im Zimmer, wie man auch vergeblich ſich nach einem Spiegel und Sofa umſieht. Letzteres bedurfte er ſchon deshalb nicht, weil er den ganzen Tag über ging und ſtand. Er las ſtehend, er ſchrieb ſtehend, er verzehrte ſelbſt ſein Frühſtück an einem hohen Tiſche ſtehend. Ein gleiches Verhalten empfahl er jedem, für den er ſich intereſſierte, als Leben erhaltend angelegentlich, ſowie daß die Hände auf den Rücken gehalten würden, wodurch, wie er ſagte, die Bruſt vor jeder Verengung und Zuſammenpreſſung bewahrt werde.

Sehen wir uns in dieſer ehrwürdigen Werkſtatt noch etwas genauer um! Hier liegt eine ſchwarzgefärbte Halbkugel aus Pappe, auf welche Goethe mittels einer gläſernen Kugel voll Waſſer bei hellem Sonnenſchein alle Regenbogenfarben zu entzünden liebte. Damit hat er ſich ſtundenlang, beſonders nach dem Tode ſeines Sohnes, beſchäftigen können, und ſeine größte Freude iſt geweſen, wenn der bunte Schein ſich ſo recht kräftig hervorlocken ließ. Dort ſteht die kleine Büſte Napoleons aus Opalfluß, die ihm Eckermann aus der Schweiz mitbrachte, die ihm Sachen der Farbenlehre beſtätigte und ihm zum wahren Entzücken gereichte! Über jene Flaſche, die uns da auf dem andern Tiſche gezeigt wird, jauchzte er wie ein Kind. Es war roter Wein darin geweſen, ſie hatte auf der einen Seite umgelegen, und als Goethe ſie zufällig gegen das Licht hielt, ſo ſah er darin die allerſchönſten Kriſtalliſationen des Weinſteins in Blätter- und Blumenform abgeſetzt. Begeiſtert rief er ſeine Nächſten zuſammen, zeigte ihnen dieſes Schauſpiel, ließ eine brennende Kerze bringen und drückte mit Feierlichkeit ſein Wappen in Siegellack auf den Pfropfen, damit kein Zufall dieſe Erſcheinung zerſtören möge. — Napoleons Gipsabdruck fiel am Tage der Schlacht von Leipzig vom Nagel herab; ein Stück des Randes brach aus, ohne daß gleichwohl das Antlitz des Helden verletzt wurde[1]).

Reinlich war Goethe über alle Maßen. Es verdroß ihn, daß der kleine Comptoirkalender, den er zu gebrauchen pflegte, ſich das Jahr hindurch nicht ſauber halten wollte. Da machte er eigenhändig ein pappenes Futteral dazu. In der Mitte des Zimmers ſteht ein großer, runder Tiſch. Da ſaß der Abſchreiber, dem Goethe diktierte, während er den Tiſch

---

[1]) In jener Schrankniſche hängt der Verſtümmelte noch. Goethe hat um das Bild mit roten Buchſtaben ein darauf paſſendes lateiniſches Citat ſetzen laſſen.

unaufhörlich umwandelte. Die Arbeit begann um 8 Uhr morgens und dauerte oft bis 2 Uhr nachmittags ohne Unterbrechung.

Abends, wenn Goethe sich wieder, wie er in den letzten Jahren immer tat, in dieses stille Zimmer zurückgezogen hatte, sah ihm der Bediente nach den Augen, ob diese freundlich und aufgeweckt waren. Ließ sich darin ein Begehren nach Mitteilung und Gesellschaft verspüren, so rückte er stillschweigend den Lehnsessel zum Tisch, bereitete ihm ein Polster auf demselben, setzte einen Korb zur Seite, in den Goethe sein Tuch legte; und dann nahm Goethe Platz, harrend, ob ihn ein Freund besuchen möge. Den Nächsten war unterdessen Nachricht gegeben worden, und wer wäre nicht gern, wenn er konnte, gekommen! — Dann saß er mit seinem kleinen Zirkel bis gegen 11 Uhr in traulicher Unterhaltung, ließ ihnen Wein und kalte Küche geben; er selbst genoß schon seit Jahren am Abend nichts mehr.

Nun sollte ich auch noch seine letzte Lagerstatt sehen! Zwar ist er nicht liegend gestorben, sondern, wenn auch nicht, wie dem Imperator ziemt, stehend, doch wenigstens sitzend. Links an das Arbeitszimmer stößt das Schlafzimmer. Es ist auch ganz klein, schmucklos, noch abgenützter als das Arbeitszimmer. Nur in seinen höheren Jahren sorgte Goethe in der Art für sich und sein Lager, daß er zwischen dem Bette und den daranstoßenden Wänden eine wollene Decke an Ringen aufziehen ließ, um die Kälte der Wand von sich abzuhalten. Außer dieser Vorrichtung und einem schmalen Teppiche vor dem Bette ist auch nichts von Weichlichkeit oder bequemem Wesen hier sichtbar. Das Bett selbst ist niedrig, mit einer alten, rotseidenen Decke überlegt, so schmal, daß ich nicht begreife, wie sein großer Körper darin Platz haben konnte.

Bis in diese Kleinigkeiten hin prägt sich uns das Bild eines Weisen, eines großen Mannes aus, der Schmuck und Zier an ihrem Orte gelten läßt, aber um sich in seiner unmittelbarsten Nähe nur das Einfachste sehen will, weil er sich selber die größte Zierde ist.

Da, zu Häupten des Bettes, steht nun der Lehnstuhl, in dem dieses majestätische Leben ausatmete. Alle Stimmen sind völlig einig darin, daß der Tod ohne Kampf, ohne Schmerz, ohne Gefühl der Annäherung eingetreten sei, ja, daß niemand den eigentlichen Zeitpunkt seines Eintrittes gemerkt habe. Die Schwiegertochter hatte ihren Arm um seinen Leib geschlungen, seine Hand in der ihrigen; so saß sie wohl anderthalb Stunden vor seinem Ende. Die unbequeme Stellung versetzte sie in einen Zustand der Betäubung. Als sie aus derselben erwachte, sah sie ihm behutsam, ohne sich zu rühren, unter dem Schirm in die Augen. Da war er tot. Man weiß nicht, wielange er vorher gestorben. Sie stieß einen heftigen Schrei aus und sank in Ohnmacht. Die Freunde, welche im Naturalienkabinette versammelt waren, drangen herein. Man nahm die Ohnmächtige von der Leiche und streckte diese sanft auf das Lager aus.

Ich trat in ein ziemlich geräumiges Zimmer, welches von dem Arbeitszimmer durch mehrere Räume getrennt lag. Darin, sowie in dem anstoßenden Gelasse, sind die Kunstsammlungen aufbewahrt. Ein breites Repositorium enthält die Mappen mit Handzeichnungen und Kupferstichen. Die Ordnung, in welcher sie zusammenliegen, soll sehr eigentümlich und aus besonderen Gedankenfolgen Goethes, die sich ihm bei Betrachtung der Sachen entwickelten, entsprungen sein. In einer Menge von Schubfächern liegen die höchst bedeutenden Münzen und Medaillen. Jeder noch übrige Platz an den Wänden ist von Glasschränken eingenommen, hinter deren Scheiben sich Bronzen, Altertumsstücke, Fragmente aller Art zeigen. In einem dieser Schränke stehen die Merkwürdigkeiten; darunter sah ich zwei Dinge, mit denen sich die Einbildungskraft meiner Knabenjahre lebhaft beschäftigt hatte, nämlich die dem Großvater Textor von den Nürnbergern als Meßpräsent verehrten Handschuhe und den hölzernen Becher voll Pfefferkörner. Diese Sachen waren mir damals durch den ersten Teil von „Wahrheit und Dichtung" sehr merkwürdig geworden. —

Ich verließ dieses geweihte Haus in der frommen Stimmung, die mir von der Natur beschieden ist. Mich weht nun einmal der Atem Gottes nur in der Natur und in der Menschheit an. — Hierher soll man junge Leute führen, damit sie den Eindruck eines gesetzten, redlich verwandten Daseins gewinnen. Hier soll man sie drei Gelübde ablegen lassen: das des Fleißes, der Wahrhaftigkeit, der Konsequenz.

# 96. Zwei deutſche Höhlen.

## a. Die Dechenhöhle.

Nach J. Steinbach.

Leſebuch für die Oberklaſſen katholiſcher Volksſchulen. Münſter 1875 S. 192.

Das anmutige Sauerland mit ſeinen äußeren Naturſchönheiten iſt auch im weiteren Vaterlande wohlbekannt. Das reizende Ruhrtal mit ſeiner grünen Wieſenſohle und den bewaldeten Gebirgszügen, die viele Meilen weit ins Land hinausſchauenden Bruchhauſer Steine, das romantiſche, von ſenkrechten, turmhohen Felſen eingeengte Hönnetal, die Baiverhöhle mit ihrem Reichtum an Knochenüberreſten vorſintflutlicher Tiere, — dieſes alles hat ſchon manchen Wanderer angezogen und erfreut. Ein Naturwunder aber hat es ſeit Jahrhunderten geborgen, bis vor kurzem noch von keinem Menſchenauge geſehen, und das allein wird imſtande ſein, Scharen von Reiſenden in die Täler des ſchönen Landes zu locken. Dieſes Wunder iſt die im Jahre 1868 entdeckte Dechenhöhle, zu deren Beſichtigung ſchon jetzt die Eiſenbahn täglich Hunderte von Neugierigen aus der Nähe und Ferne herbeiführt.

Dort, wo zwiſchen Iſerlohn und Letmathe die Eiſenbahn in einer Höhe von etwa 40 Fuß an dem ſteilen Abhange eines Kalkſteingebirges hinläuft, ſtießen im Juni des Jahres 1868 einige mit Steinbrechen beſchäftigte Arbeiter auf eine Höhlung in dem Felſen. Die Arbeiter verfolgten dieſelbe und entdeckten mancherlei merkwürdige Tropfſteingebilde, welche ſie abbrachen und an Freunde von Naturſeltenheiten verkauften, wobei ſie aber die Entdeckung der Höhle ſorgfältig zu verheimlichen ſuchten. Doch gerade der Verkauf der Tropfſteingebilde mußte notwendig die Aufmerkſamkeit auf den Ort des Fundes lenken. Die Eiſenbahndirektion machte ſich durch Ankauf der Oberfläche des Berges zur unbeſchränkten Eigentümerin der Höhle, ließ, da der entdeckte Eingang unbequem war, einen andern in gleicher Ebene mit dem Bahnplanum in den Felſen einſprengen und überhaupt den Beſuch für jeden bequem und leicht machen.

Die Höhle verzweigt ſich in zwei Abteilungen, welche ſich unter mancherlei, ſtellenweiſe merkwürdig zerklüfteten und zerriſſenen Windungen weit in den Berg hineinziehen. Ihre Breite iſt nicht überall dieſelbe. Bald iſt ſie ſo enge, daß kaum zwei oder drei Perſonen nebeneinander gehen können; bald dehnt ſie ſich zu geräumigen Hallen und Grotten aus, welche nach den verſchiedenen Gebilden, die ſie enthalten, verſchiedene Namen tragen. Auch wechſelt die Höhe der Decke an einzelnen Stellen. Indes während das Gewölbe nirgends über 20 bis 25 Fuß hoch iſt, gibt es doch keine einzige Stelle, wo man nicht bequem aufrecht gehen könnte.

Man lieſt und hört manchmal in Höhlenbeſchreibungen von Säulen, Orgeln und anderen Kunſtgegenſtänden, welche durch die Tropfſteingebilde vorgeſtellt werden ſollen. Der nicht wiſſenſchaftliche Beſucher denkt dabei natürlich an wirkliche, nach den Regeln der Kunſt gebaute und zuſammengeſtellte Formen und findet ſich gewöhnlich getäuſcht. So ging es mir bei der tropfſteinhaltigen Kluſenſteiner und Sundwiger Höhle. Hier aber findet auch die anſpruchsvollſte Erwartung ihre volle Befriedigung. Dieſer Reichtum an Bildungen, verbunden mit der überraſchendſten Abwechſelung in Form und Anordnung, läßt das Auge nie ruhen. Bei jedem Schritte treten uns neue Gebilde entgegen, bei jedem Schritt nimmt ihre Fülle zu. Faſt nirgends ſieht man das nackte Geſtein der Decke oder der Seitenwände hervortreten; überall hängen Zapfen, Nadeln u. ſ. w.; überall ſtehen Säulen, Kegel und Pyramiden, kleine und große, einzelne oder in Gruppen, teils weiß wie Porzellan, teils grau, teils rötlich. — Doch machen wir einen geordneten, wenn auch flüchtigen Gang durch die einzelnen Teile der Höhle.

Nachdem wir uns mit einer Einlaßkarte und einem Beleuchtungsſcheine verſehen haben, welcher uns eine Illumination, vermittelſt mehr als 100 Kerzen, zur Verfügung ſtellt, treten wir, geführt von einem Eiſenbahnbeamten, durch die ſtarke eichene Eingangstür zunächſt in einen ziemlich engen Gang, der ſich jedoch bald zu einem bedeutenden Raume erweitert. Dieſer Raum iſt die ſogen. Kirchen- und Kanzelhalle. Sie hat ihren Namen von einem Gebilde, gleich einer von der Decke herabhängenden Kanzel. Unter den Tropfſteinformen bemerken wir beſonders zwei maſſive graue Kegel, welche am Ende dieſes Raumes ſtehen und gleich einem Doppelpoſten den Zugang zu der Königshalle bewachen. Dieſe iſt ebenfalls ſehr geräumig. Neben einem zweiten Doppelpoſten vorbei gelangen wir in die Vorhanghalle. Ohne die zahlreichen Zapfen,

Nadeln u. ſ. w. zu berühren, welche hier wie faſt überall an der Wölbung hängen, lenken wir unſere bewundernde Aufmerkſamkeit auf ein Gebilde, welches wie der natürlichſte Vorhang an dem ſchräg anſteigenden Gewölbe herniederhängt. Hier bedarf es nicht der Hilfe der Phantaſie, um die Ähnlichkeit zu entdecken. Man glaubt beim Scheine eines hinter das Gebilde gehaltenen Lichtes die Fäden der weißen Leinwand und am Rande ſogar eine ſchmale, geſtickte Garnitur zu bemerken. Selbſt die Falten würden bei einem wirklichen Vorhange nicht anders fallen, wie hier. Er hat eine Länge von 5 bis 6 Fuß, eine Breite von 1 Fuß und ungefähr die Dicke eines Porzellantellers. Solcher Vorhänge gibt es mehrere in der Höhle. Dieſer aber iſt der größte und ſchönſte.

Hierauf folgt wieder einer der ſchönſten Räume, die Orgelhalle. An der Seitenwand ſtehen in zwei übereinander befindlichen Reihen Gruppen von größeren und kleineren Säulchen, welche recht wohl mit den Pfeifen einer Kirchenorgel verglichen werden können. Selbſt die Muſik fehlt nicht. Fährt man nämlich mit einem Stäbchen über dieſe Pfeifen, ſo klingen ſie in unterſchiedlichen Tönen wie Stahlſtäbe von verſchiedener Länge und Stärke, welche frei auf einem Reſonanzboden ſtehen. Aus einiger Ferne hinſchauend, glaubt man eine koloſſale Hand wahrzunehmen, welche gerade verſteinerte, als ſie im Begriff war, in die Saiten einer Harfe zu greifen. Dann kommt die Laube, ſogenannt wegen ihrer Form. Sie hat außer zapfenförmigen und korallenähnlichen Geſtaltungen keine beſonders merkwürdigen Gebilde. In der folgenden Gletſchergrotte wird der Boden etwas uneben und abſchüſſig. Gebilde wie vorhin. Jetzt erhebt ſich die Decke plötzlich bis zu einer anſehnlichen Höhe nnd nimmt förmlich die Geſtalt eines gotiſchen Spitzbogengewölbes an. Dieſer Raum heißt die Vorhalle oder der Dom. Rechts ſcheint durch die Ritzen einer Tür das Tageslicht herein. An dieſer Stelle wurde die Höhle aufgefunden, weshalb der Ort Vorhalle getauft wurde.

Hier haben wir das Ende der Höhle erreicht. Wir lenken unſere Schritte wieder zurück, betrachten die ſchönſten Punkte noch einmal bei Magneſiumbeleuchtung, durch welche ein zauberhafter Effekt hervorgebracht wird, und wollen mit der vollſten Befriedigung die Höhle verlaſſen, nachdem wir dem freundlichen Führer ein gutes Trinkgeld in die Hand gedrückt haben. Der Schalk aber ruft uns zurück und ſagt lachend: „Zum Danke will ich Ihnen noch eine hübſche Kleinigkeit zeigen“. Er führt uns nun zu einer vorhin kaum bemerkten Seitenſpalte, wo wir vermittelſt einer in den Felſen gehauenen Treppe von etwa 20 Stufen hinaufſteigen in die noch reichhaltigere — zweite Abteilung der Höhle.

Hier findet unſere Phantaſie die reichlichſte Nahrung. Während wir drunten in der erſten Abteilung faſt nur Eindrücke aus dem wirklichen Leben empfinden, glauben wir uns jetzt in eine fremde Welt der Märchen verſetzt. Wir befinden uns gleichſam auf einer Emporbühne. Vor uns erhebt ſich bis zur Leibeshöhe eine Art Bruſtwehr, die mit der Decke durch einen oder zwei Pfeiler von unregelmäßiger Dicke in Verbindung ſteht. Zwiſchen dieſen Pfeilern hindurch blicken wir in eine anſehnliche, halbkreisförmige Niſche, deren unterer Teil mit Waſſer angefüllt iſt. Das Baſſin hat eine Tiefe von 5 Fuß. Dieſer wunderliebliche Punkt heißt die Nixengrotte. Du fragſt nach der Nixe? Siehe dort, rechts an dem ſanft anſteigenden Ufer des kleinen Teiches, ruht da nicht eine weißgekleidete ſchlummernde Geſtalt, deren Haupt durch einen darüber geworfenen Mantel verdeckt iſt? Wir wenden den Blick und ſchauen tief hinunter in die düſtere, zerklüftete Gruftgrotte, zu der uns eine zweite Treppe hinabführt. Längliche, am Boden liegende Gebilde, Sarkophagen ähnlich, machen den Eindruck, als befinde man ſich in einem ſchauerlichen Totengewölbe, während die einmal erregte Einbildungskraft in Spalten und Niſchen Gnomen und Kobolde hervorzaubert, welche uns mit grinſenden Geſichtern anzuglotzen ſcheinen. Doch fürchten wir uns nicht; die Unholde ſind gebannt! Derlei abenteuerliche Geſtaltungen bemerken wir häufig; doch gehört eine günſtige Beleuchtung und immer etwas Phantaſie dazu, um an den grauen Maſſen Geſichter mit Naſe, Augen, Mund und Ohren wahrzunehmen.

Schön, wie ihre Namen, ſind die folgenden Teile, die Palmengrotte und die Alhambrahalle. Dort ſteht, wie von kunſtreicher Hand gemeißelt, eine frei vom Boden bis zur Decke hinaufreichende regelmäßige, ſchlanke Säule, weiß, wie pariſcher Marmor. Sie hat inſofern Ähnlichkeit mit dem Stamme des Palmbaumes, als, wie dieſer, ihre Fläche überall kleine Un-

ebenheiten zeigt, als seien es die Narben von abgefallenen Palmblättern. Hier schimmert eine ganze Gruppe von Säulen, Kegeln und Doppelkegeln. Strahlt der prächtige Raum in bengalischem Lichte, so kommt es uns vor, als haben hier die unterirdischen Baumeister einen Feenpalast zu bauen begonnen, an dem noch die letzte, ordnende Hand fehlt.

In der Kristallgrotte erblicken wir allerlei am Boden liegende, regelmäßig kristallisierte Körperchen, welche im Kerzenscheine wie Diamanten flimmern. Unserer Anschauungsweise getreu, sehen wir darin die verborgenen Schätze der unterirdischen Geister. Ein Drahtgitter schützt sie vor der Zerstörung.

Was die Pyramidengrotte enthält, sagt ihr Name. Der darauffolgende Teil heißt die Kaiserhalle. Welchen Beziehungen er diesen pomphaften Namen verdankt, wird nicht angegeben. Vielleicht hat die in einer engen Seitennische stehende Reihe statuenähnlicher Gebilde den Anlaß dazu geboten.

Zuletzt sehen wir in die düstere Wolfsschlucht hinein. Diese trägt einen ganz verschiedenen Charakter von den übrigen Teilen der Höhle. An den Wänden und an der Decke glitzern keine Tropfsteingebilde, wohl aber liegen Massen von Felsentrümmern in wildem Gewirr durch- und übereinander. Es ist, als ob der Berggeist an dieser Stelle Widerstand in seiner stillen Wirksamkeit gefunden und in unbändiger Wut die Fesseln zerrissen und die mächtigen Blöcke durcheinandergewirbelt habe, um dann den Ort seiner Tätigkeit auf ewig zu verlassen.

In jüngster Zeit wird die Höhle nicht mehr durch Kerzen, sondern durch Gas beleuchtet.

## b. Die Baumannshöhle.

Von C. G. F. Brederlow.

Der Harz. Braunschweig 1846. S. 212.

Die Baumannshöhle liegt ungefähr 25 Lachter über der Sohle des Tales am linken Bodeufer in einem schwarzbunten Kalkberge des Nebelholzes, 20 Lachter unter der Bergspitze; ihre Erstreckung zieht ungefähr in der 10. und 11. Stunde nach Norden zu. In diesem Berge hat die Natur ein hohes, schönes Felsentor gewölbt, unter welchem man durch eine enge Schneckenwindung hinabschaut in die unheimliche Nacht; Felsenstücke hängen herab, Untergang drohend dem Haupte dessen, der vorwitzig in die Geheimnisse der Unterwelt dringen will. Dennoch ist nicht die geringste Gefahr, die Höhle zu befahren, wofern man dem Führer genau folgt, sich nicht von ihm entfernt und nicht erhitzt hinabsteigt.

Die Höhle ist seit Jahrhunderten bekannt; in einer Nebenhöhle der ersten Höhle, welche aber den wenigsten Reisenden gezeigt wird, übrigens auch erst 1842 wiederentdeckt sein soll, stehen viele Namen eingehauen und die Jahreszahl 1571; früher hieß sie Bumannshöhle. Unerwiesen möchte es sein, ob von Fr. Baumann sie ihren Namen führt; entdeckt hat er die Höhle nicht, aber zuerst befahren und in ihr nach Erzen gesucht. Das Labyrinth der unterirdischen Tiefen verwirrte den sonst unerschrockenen Bergknappen, er ging in die Kreuz und Quer, stieg in die felsigen Abgründe und verlor zuletzt Bahn und Richtung; vergebens nach dem Ausgange suchend, erlosch ihm endlich auch das spärliche Grubenlicht; drei Tage tappte der Unglückliche in dieser gräßlichen Bergnacht umher; zum Tode erschöpft, gelangte er durch Zufall wieder an den Ausgang, hatte noch soviel Kraft, auf die Wundergebilde der Höhle aufmerksam zu machen, und starb. Mag dem kühnen Baumann, der ein Opfer seiner Forschung wurde, immerhin die Ehre gegönnt werden, diese berühmte Höhle nach seinem Namen getauft zu haben. Herzog Rudolf August ließ sie erweitern, gefahrlos fahrbar machen und gab den Nachkommen des angeblichen Entdeckers, der Familie Becker und Schienemann, die Privilegien, die Reisenden hineinzuführen.

Wohlan, die Grubenlichter sind angezündet, die schwarzen Grubenkittel übergezogen; wir fahren hinab. Die dunkle Nacht wird dem allmählich sich gewöhnenden Auge zur Dämmerung. Der flackernde Schimmer der dampfenden Grubenlichter macht die herabhängenden großen Felsstücke in der feuchten Dunkelheit noch grausender; sie scheinen sich zu bewegen. Oft gebückt mit unsicherem Tritte auf schlüpferigem Boden; oft durch enge Felsspalten sich windend, bald steil in die Höhe, bald jäh auf dünner Fahrt über Abgründe hinunter; jetzt durch einen weiten, hallenden Dom, worin die entfernten Lichter des hoch oben stehenden Führers wie die Sterne am tief dunkeln

Abendhimmel leuchten; dort an einem Brunnen vorbei, der wie der Styx kalt und ſtumm ſeine Wellen kräuſelt; überall aber dies ewige Tröpfeln des ſickernden Waſſers, das wie ein Geflüſter der immer wachen Berggeiſter klingt: — durch ſieben Haupthöhlen, die 800 Fuß (783 F.) ſohlige Länge zählen und unter welchen die erſte allein mit 32 Fuß zur Höhe ſteigt, wandert man unter den Trümmern der Zerſtörung, neben Abgründen, einſturzdrohenden Felſen, in den geheimnisvollen, unterirdiſchen Kammern der immer ſchaffenden Natur. — Das in dieſe Tropfſteinhöhle vom Tage hereinſickernde Waſſer hat kohlenſauren Kalk abgelöſt, der ſich in der Höhle wiederabſetzt und die Stalaktiten erzeugt, welche das Innere der Höhle in verſchiedenen Formen überziehen. Je naſſer draußen die Witterung, deſto mehr tröpfelt drinnen das Waſſer. Alles iſt mit Kalkſinter überzogen; die Knochen der Tiere, die ſich hierher gerettet und ihren Untergang fanden (Höhlenbär), ſind kalziniert; die wunderlichen Figuren (die Hauptſache für den Führer und für den ungebildeten Reiſenden) ſind von Tropfſtein gebildet, welcher dicht und feſt iſt, etwas durchſcheinend, oft glänzend weiß im Bruche, oft mit gelblichbraunen Ringen. Das Hauptgeſtein der Höhle iſt ein ſchwärzlicher Marmor. — Wahrſcheinlich iſt dieſe und alle ähnlichen Höhlen durch Aufblähung entſtanden, wovon überhaupt der dolomitiſche Blaſenkalk des älteren Flötzgebirges Beweiſe genug liefert. Zugleich bleibt die Baumannshöhle ein großes und merkwürdiges Beiſpiel, wie offene Räume im Gebirge durch Einſaiungen von oben allgemach ausgefüllt werden; aus dem verdunſtenden Waſſer ſetzt ſich eine Schicht nach der andern an, und durch fortwährendes Abſetzen des Tropfſteins am Boden und an den Wänden werden auch dieſe Räume endlich ausgefüllt werden. Darauf hat man allerdings wohl etwas zu gewagte Schlüſſe über das Alter der Erde gründen und daraus beweiſen wollen, daß, da ſich in der Baumannshöhle 20 000 Ringe übereinander fänden, und zur Entſtehung eines jeden Kalkſinterringes ein Jahr nötig wäre, ſchon aus der Baumannshöhle auf ein zwanzigtauſendjähriges Alter unſerer Erde geſchloſſen werden müßte. — Unter allen Stalaktiten dieſes faſerigen Kalkſinters iſt das eigentliche Prachtſtück die ſogen. klingende, 8 Fuß hohe Säule, von welcher nach der Sage ein unnützer Bojar, der 1712 im Gefolge Peters des Großen die Höhle beſuchte, mit zu derber Fauſt das Kopfſtück abgeſchlagen hat. Aber das Intereſſanteſte der Höhle ſind durchaus nicht etwa die phantaſtiſchen Gebilde ſelbſt, ſondern die ewig fortdauernde Bildhauerarbeit der Natur, die kühnen Wölbungen, die gigantiſche Bogenſpannung, dieſe ſchwebenden Felskoloſſe in Verbindung mit jenen Stalaktiten, die als rieſige Träger und Pfeiler uns entgegenſtarren. Es überfällt uns ein eigener Schauer in dem unterirdiſchen Dome, den die Natur ſich ſelbſt in ihrem Schoße errichtet hat; dazu noch das Grauen der Nacht, das heimliche Plätſchern des tröpfelnden Waſſers, das gedämpfte Echo, die wunderlichen Schattenbildungen und unbeſchreiblich ſchönen Lichtreflexe bei ſtärkerer Illumination, alle nur denkbaren Nuancen vom grellſten Licht bis zum ſchwärzeſten Schwarz bei einer bengaliſchen Flamme oder bei den koboldartigen Sprüngen eines angezündeten Schwärmers, oder hier ein Choral von Männerſtimmen: — es iſt ein ungeheurer Eindruck, welchen die Höhle auf jeden macht, der irgend Sinn für Großes, Gefühl für Erhabenes hat. Und noch iſt ihr Ende bei weitem nicht erforſcht; es müßte wirklich von ſeiten der Landesbehörden dazu etwas geſchehen. Vor zwei Jahren veranlaßte ein kühner Amerikaner die jetzigen Führer zu einer weiteren Entdeckungsreiſe; nie betretene Abgründe wurden durchſucht, neue Höhlen eröffnet, ſeltene Schönheiten, Grotten mit ganzen Säulenreihen ſtellten ſich dem ſpähenden Auge dar, und immer öffneten ſich neue Zugänge und neue Portale, und immer tiefer gings von Schlotte zu Schlotte; — aber plötzlich fingen die Grubenlichter an dunkler zu werden und das Glas des rettenden Kompaſſes zerbrach, — da war ſchleunige Rückkehr notwendig. Man war 24 Stunden umhergeirrt im Höhlenlabyrinthe. Bei dem Hinaufſteigen zu Tage fängt man mit wahrhaftiger Freude den erſten fernen Schimmer des halb hineingliţernden Sonnenlichtes auf; ſobald die milde, ſchmeichelnde Sommerluft warm und labend uns wieder umfächelt, und unſere Füße wieder den grünen Vergteppich unter ſich haben, da iſt's, als wenn wir aus einem großen, ängſtlichen Traume zum wirklichen Leben erwachten! — Das dargebotene Waſſerbecken erinnert an die ſchwarze Höllenfahrt und dient zugleich als Klingelbeutel zur Aufnahme eines kleinen Douceurs an die Magd des Führers für dargereichten, notwendigen Waſchapparat.

## 97. Bayerische Hochgebirgsdörfer.

Von G. Kohl.

Reise in Steiermark und im bayerischen Hochlande. Leipzig 1853. S. 319.

Ein kerniges, gesundes und frisches Geschlecht bewohnt die bayerischen Voralpentäler. Alles ist hier so wohlhäbig, reinlich und ansprechend, daß man darüber fast die Schönheit der Gegend vergißt. Die Häuser sind so malerisch gebaut, daß jedes als eine wahre Zierde seiner Umgebung erscheint, und mit ihnen keine Bauernhäuser irgend einer andern Gegend Deutschlands verglichen werden könnten. Die Dächer dieser Häuser breiten sich in einem ziemlich flachen Winkel und mit breit überstehendem Vordache über die Bewohner aus. Sie sind fast durchweg mit Schindeln und großen Steinen, zur Befestigung der Schindeln, belegt. An dem Rande der Dächer befinden sich die sogenannten Windbretter, die rund herumlaufen, und diese Windbretter sind in der Regel mit frommen, und oft sehr gut gewählten Sprüchen geziert. Bei einem Hause las ich z. B. folgende gute Lehre: „Überschätze dich und das Deinige nicht, verachte mich und das Meinige nicht!" Diese Inschriften sind immer recht gut geschrieben und eine wahre Zierde des Hauses; auch ist das ganze Haus mit sehr lebhaften und freundlichen Farben bunt bemalt.

Rund um die Häuser herum läuft, wie in Steiermark, Tirol und der Schweiz, eine Galerie mit Geländer von buntgeschmücktem Holzwerk. Gewöhnlich haben sie über der unteren, kleineren Galerie noch eine obere, größere. Der Fenster und Türen sind viele, und auf ihre Einrahmung verwenden sie viel Schmuck und Farbe.

Die bayerischen großen Dorfwirtschaften, in denen der Fremde einkehrt, gehören in der Regel reichen Bauern, und man vergißt oft, daß man in einem Wirtshause sei. Die Schlafzimmer haben prachtvoll bemalte, mächtige Federbetten, altmodische Schränke, Spiegel und Kommoden, die voll sind von den Vorräten der Wirtin. Alle Möbel sind mit hübschen Gläsern, kleinen Porzellanfiguren, altmodischen Uhren und anderen Gerätschaften und Familienerbstücken ausgeschmückt, zwischen welchen gemachte Blumenbouquets und Äpfel zur Zierde liegen. Man könnte sich daher ebensogut einbilden, ein geehrter Familienfreund, als ein zahlender Fremdling zu sein. Auch sind die Leute voll Anstand und Höflichkeit. Jedesmal, wenn die Kellnerin herumkam in dem Zimmer, um die Talglichter zu putzen, bat sie bei jedem Tische erst um die Erlaubnis dazu. „Mit Verlaub!" sagte sie und putzte das Licht. Welch' ungemeine Höflichkeit, sogar für eine Handlung um Erlaubnis zu bitten, für welche man Dank erwarten sollte! Endlich wünschte sie uns eine „gehorsame" gute Nacht. Mit unserer Erlaubnis leuchtete uns die Wirtin die Treppe hinauf; mit Verlaub öffnete sie uns die Tür: mit Verlaub fragte sie an, wann wir den Kaffee beföhlen; mit Verlaub wünschte sie nochmals eine „gehorsame" gute Nacht.

Am andern Morgen zeigte uns die Wirtin ihre „Kästen". So nennen die Bauern hier ihren Braut-, Haus- und Familienschatz, in welchem Vorräte von allen möglichen Dingen, die man im Hause brauchen kann, aufbewahrt werden. Da die Wirtschaft, in der wir uns befanden, mit den dazu gehörigen Äckern, Alpen, Mühlen, Schmieden, Brauereien ꝛc. auf 90 000 Gulden geschätzt ward, so waren die Kästen sehr bedeutend und füllten nicht weniger als drei Zimmer aus. Man wählt in der Regel die besseren Zimmer des Hauses dazu und schmückt deren Inneres so bunt und prachtvoll mit Tellern, Krügen, Schüsseln, mit Leinwand, Wolle, Strümpfen, Knopfsammlungen und Sparbüchsen aller Art aus, daß das Ganze einer wahren Kunstausstellung gleicht. Die einzelnen Stücke Leinwand sind z. B. in großen Rollen übereinandergelegt, und zwar so, daß die Enden dieser Rollen zum Schranke herausgucken. Hier sind sie mit roten Fäden, mit Sternchen und Blümchen nach allen möglichen Mustern ausgenäht; auch stecken Blumenbouquets, Gold- und Silberflittern in den Zwischenräumen der Rollen.

Jedes Kind hat seinen eigenen Schatz und seine eigene Sparbüchse; denn es

ist eine Sitte dieser bayerischen Bauern, sogleich bei Geburt eines Kindes einen solchen Schatz für dasselbe anzulegen. Die Sparbüchsen und Schüsselchen der Kinder waren reichlich mit Gold- und Silbermünzen aller Art gefüllt. Zwischen Leinwandrollen der Töchter steckten silberne Löffel und andere silberne Geräte, Geschenke von Paten und Verwandten, und in und auf allen Schränken standen vergoldete und bemalte Wachsstöcke. Es sind dies Andenken von diesem und jenem werten Menschen. Ebenso wie die Wachsstöcke gehören zu solchen Geschenken auch die Rosenkränze, die sich, aus allerlei Stoffen, z. B. aus Silber und Korallen, gearbeitet, durch die Leinwandrollen hinschlängeln.

Bei Festlichkeiten im Hause, bei Taufen, Hochzeiten u. s. w., werden die Schränke alle geöffnet und den Gästen ihre Pracht geoffenbart. Ich mußte erstaunen über die Masse von Silberzeug, welche unsere Wirtin hier zusammengehäuft hatte, über die silbernen und goldenen Münzen für ihre Töchter, die silbernen und vergoldeten Knöpfe der Männer, die Menge silberner Schnüre, wie die bayerischen Mädchen sie an ihrem Mieder tragen, dann auch über die vielen Dutzend silberner Löffel, Messer und Gabeln für jedes der Kinder. Allerdings liegen auf diese Weise oft mehr als 20 000 Gulden ganz tot und nutzlos in den Kästen; aber mir scheint, als handelten die bayerischen Bauern immer noch klüger, als manche Bürgersfrau in Wien, die für so- und soviel tausend Gulden Spitzen, Gaze und Seide oft an einem Tage in Schmutz, Staub und Regen verschleppt.

## 98. Ein Bild der Städte aus dem 13. Jahrhundert.

Nach **F. W. Barthold.**

Geschichte der deutschen Städte und des deutschen Bürgertums. Leipzig 1851. Bd. III, S. 9.

Hohe, oft doppelte Mauern, Graben und Wall umgürteten das streitbare Geschlecht in den Städten, das immer des Angriffes gewärtig sein mußte. Wehrtürme krönten die Mauern. Sie ragten in gemessenem Abstande empor und waren von mannigfacher Bauart, rund, eckig, spitz, flach. Um die Städte war das ganze Weichbild mit einem Graben, einer Landwehr, umzogen, deren Zugänge feste Warten bezeichneten. Wächter lugten aus ihnen nach den Landstraßen aus, meldeten durch Zeichen jede Gefahr oder das Herannahen reisender Kaufmannszüge, denen in unsicherer Zeit ein bewaffnetes Geleit entgegenging. Inwendig an der Mauer der Stadt durfte sich niemand anbauen; dergleichen Anbauten drohten Gefahr des Verrats oder hinderten das Besteigen der Zinnen. In den meisten Städten wandten sich die Straßen gekrümmt, oft im Sacke endend, hin und her. Seit den Zunftkämpfen schloß man sogar einzelne Gassen durch Tore oder hing nachts Sperrketten ein. Das Rathaus, auch wohl Bürgerhaus genannt, ragte über alle Gebäude weltlichen Gebrauchs hervor; auf seinem schlanken Turme hing die Glocke mit den Glöcklein, die zur Rats-, zur Gemeindeversammlung oder sonst ernsten Dingen riefen. Auf ihm lugte der Wächter ins Weichbild aus. Kirchen und Rathäuser, Kaufhallen und Zunfthäuser wurden gemeinsam mit großer Ausdauer prachtvoll aufgebaut, besonders die Kirchen. Himmelhoch erhoben sich die Türme. Soest, das späterhin fast bis zum Dorfe herabsank, zählt noch jetzt sechs betürmte Kirchen und Kapellen. Zur Zeit seiner Blüte hatte es zehn stattliche Gotteshäuser und gegen achtundzwanzig Kapellen, die Krankenhäuser, Pilgerherbergen, Mariengärten und anderen kirchlichen Anstalten nicht gerechnet.

Die Bürgerhäuser blieben Jahrhunderte hindurch sehr einfach. Sie bestanden nur aus Fachwerk und ragten mit dem Giebel nach der Straße. Die oberen Stockwerke traten über die unteren hervor und verengten die schmalen Gassen so sehr, daß sie kaum den Himmel blicken ließen. So leichte beengte Bauart begünstigte die ungeheuren Feuersbrünste, welche alle unsere Städte in schrecklicher Wiederkehr heimsuchten, aus denen sie aber auch ebensoschnell sich wiedererhoben.

Die häusliche Einrichtung entsprach der Einfalt des Zeitalters. Der Hausrat, ohne Putz, war dem einfachsten Bedürfnis gemäß und roh gearbeitet. Beim Mahle aßen Mann und Frau aus einem Teller; ein oder zwei Becher dienten der ganzen Familie; Fackeln und Laternen leuchteten bei Nacht den Schmausenden; Kerzen gab es nicht. Die Glasur irdener Gefäße kam um diese Zeit erst auf. Selbst in vermögenden Häusern wohnte der Sohn des Hauses mit seiner jungen Frau im Hinterstübchen bei den Eltern; ohne eigene Wirtschaft, ging er bei ihnen zur Kost.

Dennoch aber fand selbst schon jenes Jahrhundert gesetzliche Beschränkung der Prunkliebe und Schwelgerei nötig, die besonders bei Festen geübt wurde. Das erste Gesetz der Art finden wir bei den fröhlichen, prassenden Wormsern im Jahre 1220. Ritter, Richter und Ratleute, mit Beistimmung der gesamten Gemeinde, untersagten die Gastmähler und Gelage, welche man im Hause des Gestorbenen zu halten pflegte, wenn dieser zu Grabe getragen war. Wer dagegen fehlte, sollte dreißig Schillinge der Stadtbaukasse zur Strafe zahlen. Die strengen Niedersachsen duldeten bei Hochzeiten nicht mehr als zwölf Schüsseln und drei Spielmänner der Stadt, die Breslauer (um 1290) dreißig Schüsseln und vier Spielleute. Gegen das Ende des dreizehnten Jahrhunderts setzte der alte und neue Rat zu Soest fest, daß beim Verlöbnis kein Wein zu trinken sei; doch durfte der Bräutigam der Braut ein Paar Lederschuhe und ein Paar Holzschuhe senden. Bei der Hochzeit waren den Reichsten fünfzig Schüsseln, aber nur fünf Gerichte, jede Schüssel zwölf Pfennige wert, gestattet.

Unter den Künsten blühte besonders die Goldschmiedekunst. Sie schuf köstliche Schreine für die Leiber der Heiligen, Kelche mit heiligen Bildern, Kreuze mit der Gestalt des Erlösers. Auch die Kunst des Siegelschneidens stand in hohem Ansehen. Die Städte hatten seit dem Ende des zwölften Jahrhunderts überall ein besonderes Wappen, welches meistens das reichverzierte Bild des Patrons der Hauptkirche enthielt. Lübecks Siegel zeigt bedeutsam das Schiff auf hoher Flut; der alte Steuermann mit spitzer Kappe leitet das Fahrzeug durch die Wogen; ein Jüngling am Tauwerk weist nach oben (auf den göttlichen Beistand hindeutend). Köln hatte als ältestes Wappen den heiligen Petrus, mit den Schlüsseln auf dem Stuhle sitzend; Magdeburg hatte seit uralter Zeit eine Jungfrau über den Zinnen sich erwählt; Worms zeigte den Lindwurm und deutete damit vielleicht auf den Drachen, den Siegfried erschlug. Hamburg mit vielen anderen Städten behagte das dreifach betürmte Stadttor; Berlins ältester Bär schritt aufrecht zum Angriff und trug nicht Halsband und Kette.

Hinter den düsteren Mauern der Städte wurde Gesang und Saitenspiel gepflegt. Auch diese Kunst bildete sich nach der Sitte der Zeit in Zunft und Schule aus und erheiterte das ernste Leben der Bürger. Manche Städte unseres Vaterlandes waren erfüllt mit einer Anzahl von Spielleuten. Fiedel, Harfe, Pfeife und Zinke waren ihre Instrumente. Alte Heldensagen ließ man in Liedern erklingen. Auch die Lust an der Natur war aus dem freien Landleben in die dumpfen Gassen eingezogen. Überall sehen wir in deutschen Städten das Frühlingsfest mit Jubel und Tanz im Freien begehen. Man dachte sich den Winter als einen feindseligen Riesen, den Sommer als einen holden, noch knabenhaften, aber starken Jüngling, welcher gewaffnet in den Wald zog, den gehaßten Gegner zu suchen und zu überwältigen. Ein Knabe zog daher als Sommergott an der Spitze gewaffneter Genossen in den Wald. Er trug Laub- und Blumenkränze um Stirn, Brust und Schulter und kehrte, nachdem Scheinkämpfe im Walde gehalten waren, als Sieger mit Jubel heim. Sein Gefolge führte, zum Beweise des Sieges, grüne Birkenzweige mit sich. Ein hoher, glattgeschälter Baum mit grüner Krone wurde aufgepflanzt. Unter Leibesübung und Spiel, mit Gesang und Tanz verlebte man den Tag. Diese Sitte war aus dem Dorfe mit den eingebürgerten Bauern in die Stadt gezogen, verwandelte

ſich aber im 14. Jahrhundert in einen Auszug der Schützenbrüderſchaften. Ein bunter Frühlingsvogel wurde nun von der Stange herabgeſchoſſen, und der beſte Schütze bekränzt. Nur die Ratsherren begingen hier und da noch für ſich einen Mairitt unter feſtlicher Muſterung des waffengeübten Volkes. In der Frühe des erſten grünen Maitages ritt der jüngſte Ratsherr, einen bekränzten, ſchönen Knaben voran, mit den ſtattlich geputzten Ratsverwandten in den Wald hinaus, führte den Mai ein und verlebte den Abend mit Weib und Sippſchaft im laubgeſchmückten Rathauſe bei feſtlicher Koſt und bei Tanz. Die Straßburger begingen am 1. Mai ein luſtiges Schifferſtechen auf dem Rhein, wobei im Jahre 1286 die Brücke, auf der ſich viele Zuſchauer befanden, zuſammenſtürzte.

Das Kriegsweſen lag noch den Bürgern ob. Jeder zünftige Meiſter mußte mit Waffen verſehen ſein. Dieſe waren von der verſchiedenſten Art und den wunderlichſten Namen. Im gewöhnlichen Leben auf Markt und Gaſſen, zumal vor Gericht, war das Tragen derſelben verboten. Auf Reiſe und Fahrt ging dagegen jedermann bewehrt. Jede Zunft war im Beſitz eigener Banner und Zeughäuſer. Die Zunftmeiſter waren die Führer gegen den Feind. Als Waffe, die am geeignetſten ſich der Fauſt des Zünftlers bot, hatte das 13. Jahrhundert die Armbruſt, deren Erfindung dem Morgenlande gehört. Die Bürger gebrauchten ſie mit ſchrecklichem Nutzen von den Zinnen ihrer Städte. Es entſtanden die Schützengilden der Kaufleute und Handwerker. Braunſchweig ging in der Ausbildung des Schützenweſens voran. Dort gab es ſchon im Jahre 1268 eine Schützenſtraße, und das Armbruſtſchießen nach dem Vogel auf hoher Stange blieb noch lange neben dem Feuerrohr in Anwendung. Mit Freudenſpielen mancherlei Art ergötzte ſich die Bürgerwehr. So baten die Magdeburger den tapfern Bruno v. Stövenbeck, ein beſonderes luſtiges Freudenſpiel zu erſinnen. Herr Bruno lud darauf mit ſeinen, wohlgeſetzten Briefen die Kaufherren von Goslar, Hildesheim, Braunſchweig, Quedlinburg, Halberſtadt und andere Nachbarn zu Pfingſten nach Magdeburg. Alsbald fanden die Geladenen ſich zahlreich ein, die Goslarer mit verdeckten Roſſen, die Braunſchweiger in Grün, andere in beſonderer Rüſtung und Kleidung. Mit Speeren wurden die Gäſte von Gewappneten empfangen, indem ſie nicht ohne Strauß einziehen wollten. Inzwiſchen erhoben ſich auf einer Inſel in der Elbe Zeltreihen, und auf Schilderbäumen wurden die Wappenſchilder aufgehängt. Folgenden Tages, nach Meſſe und nach Mittagsmahl, zog man hinaus und erlaubte jedem Fremden, den Schild deſſen zu berühren, mit dem er kämpfen wollte. Ein alter Kaufmann aus Goslar verdiente den ſchwer erworbenen Kampfpreis.

Bei all dem heiteren und fröhlichen Leben war aber jene Zeit nicht frei von Roheit und Grauſamkeit. Die Judenverfolgungen, die Räubereien, die blutigen Hinrichtungen, die oft wiederkehrende grauenvolle Hungersnot, die Verheerungen der Seuchen und manches andere erwecken ein tiefes Grauen vor jener Zeit.

## 99. Die ungariſche Pußta.

Von E. Schwab.

Land und Leute in Ungarn. Leipzig 1865. Bd. I, S. 175.

Noch liegen tiefe Stille und nächtliches Dunkel auf der Pußta; meilenweit ſchmettert kein mutiger Hahnenruf in die immer kühler werdende Luft, graue Dünſte ſchweben leichthin über den Boden: da dämmert leiſe am öſtlichen Himmel der Tag herauf, jubelnd ſteigt die Heidelerche empor und begrüßt das Weben der Morgenröte, welche immer raſcher, immer feuriger den Horizont umſäumt.

Aber auch unten regt ſich das neu erwachende Leben; das Brüllen einzelner Rinder miſcht ſich in das meckernde Blöken der jungen Schafe, und zwiſchendurch ſtößt ein feuriger Hengſt ein Gewieher aus, hell wie eine Schlachttrompete; unruhig ſchnauben die Pferde und ſtampfen den Boden mit wechſelnden Hufen. Da erheben

ſich die großen, langhaarigen weißen Hunde, dehnen ſich ſchlaftrunken, gähnen und ſchauen mit ihren klugen ſchwarzen Augen nach den Hirten, die ſich teils unter den Herden geſchäftig herumtreiben, teils die einfache Lagerſtatt verlaſſen, die kegelförmige Erd- oder Rohrhütte, welche, kaum etwas größer als das luſtige Obdach eines Feldhüters, dem Hirten faſt nur zur Aufbewahrung der Nahrungsmittel und Kleidung dient und ihn unter Tag bloß beim Platzregen und Hagelſchlag aufnimmt. Hürde um Hürde öffnet ſich; grunzend und unverträglich drängen ſich die Schweine heraus; bedächtig ſchreiten die ſtattlichen, langgehörnten Rinder hervor, raſch die kleinen, beweglichen Pferde. Hinter jedem Trupp Pferde reiten ein, zwei Hirten, mehrere aber hinter den Scharen der Rinder; läſſig traben die Hunde nebenher; pfeifend und ſingend laufen die munteren Buben der Hirten nach, welche von dem zwölften Jahre an bei dem Vater bleiben, weit vom Dorfe, und ſie blicken ſtolz auf den Paria unter den Hirten, den Gänſejungen, herab, der gleichgültig ſeine zahlreichen Pfleglinge in langſamem Schritte aus dem fernen Gehöfte treibt, während ſie vielleicht in dieſem Augenblicke, obſchon meiſt barfuß, ſich auf ein Pferd ſchwingen dürfen.

Die Sonne iſt mittlerweile in glutroter Pracht und abenteuerlich groß aufgegangen und ſtrahlt ein Meer von Licht und Wärme auf die baumloſe, nahezu wagrechte Ebene herab. Weder Ortſchaften noch Meiereien, weder Waldungen noch Gebüſche, weder Berge noch Bodenanſchwellungen beſchränken den endloſen Geſichtskreis; nur da und dort taucht vor dem ſpähenden Auge der lange Arm eines Ziehbrunnens oder die Turmſpitze einer fernen, fernen Dorfſchaft auf. Wiewohl die Heide im März, von den Fluten der mit der Theiß verbundenen Wäſſer größtenteils bedeckt, einem kleinen Meere glich, ſo blieben nur wenige Lachen als Zeugen der jährlich wiederkehrenden, teilweiſe wohltätigen Überſchwemmung zurück, und auch der Steppenfluß Hortobágy durchirrt nur ſtockend, ohne eigentliches Flußbett, ſtellenweiſe im Boden verſickernd, die einförmige Steppe [1]). Die waſſerarmen Tümpel ſind mit Schilf, Riedgras und Binſen bedeckt und werden von ſcheuen Waſſervögeln beſucht, welche in ihrer Ruhe nur durch nachſtellende Raubtiere, meiſt große Falken, geſtört werden. Der ſodareiche Boden hat ſein herrliches Frühlingskleid bereits abgelegt und eignet ſich meilenweit nicht zum Anbau der Feldfrüchte; denn entweder iſt er zu feucht, oder er wird durch die Sommerhitze zur mürben, in Staub zerfallenden Krume ausgedorrt, ſo daß er wegen der Armut an Pflanzen bloß eine dürftige Fauna beherbergt. Der ſpärliche Graswuchs bietet den Schafen, Rindern und Pferden nur kärgliche Weide, und auch dieſe verkümmert, wenn im Hochſommer der bis zur Wurzel verbrannte Raſen einem gelben dürren Stoppelfelde gleicht, bis vielleicht ein zufälliger Herbſtregen neue Keime erweckt.

Die Herden haben ſich nach allen Seiten über die Ebene zerſtreut und weiden anfangs ruhig und behaglich. Bis zu den entfernteſten Weiden hat der Csikós die Pferde getrieben, und die unruhigen, halbwilden Tiere laſſen es ſich ſelbſt auf der magerſten Hutung gefallen; trotz der Glocken, welche die alten Stuten am Halſe tragen, zerſtreuen ſie ſich unaufhörlich und werden nur durch den karikás, eine fabelhaft lange Peitſche mit ganz kurzem Stiel, zuſammengehalten; aber immer unerträglicher werden bereits die Stiche und Biſſe der Inſekten, unabläſſig umkreiſt der Csikós die wild und ſcheu werdenden Roſſe, und ſchon iſt ſein ſchweißtriefendes Pferd ganz ermüdet. Da hält er ſtill — ein Pfiff — und aus der kaum zu bändigenden Herde ſprengt mit gehobenem Schweife und fliegender Mähne ſein Lieblings-

[1]) Puſzta nennt man in Ungarn jeden beträchtlichen Strich Landes, ſei er nun einige Hundert Joch oder einige Quadratmeilen groß, innerhalb deſſen kein Dorf ſteht. Ungarn enthält gegen 3000 Puſzten; die zweitgrößte iſt der Hortobágy, Beſitz der Gemeinde Debreczin — um wenig kleiner als die Gemarkung der Stadt Maria-Thereſiopel, welche faſt 18 Quadratmeilen umfaßt. Auf dem Hortobágy weiden an 30000 Rinder.

pferd vor; mit einem Sprunge ist er auf dem ungesattelten und ungezügelten Pferde und jagt den Ausreißern nach, daß die Mente[1]) im Winde flattert. Wie festgegossen erscheint er auf dem Wildfange, das Bild des verwegensten und sichersten Naturreiters.....

Die Sonne steigt höher und höher, und auch die Pußta entfaltet allgemach ihr eigenes Leben. Adler und Falken wiegen sich in den blauen Höhen, schweben eine Weile scheinbar regungslos und schießen pfeilschnell auf ein Steppenhuhn oder ein kleines Nagetier herab; Trappen eilen über die Fläche zu den entfernten Weizen- und Rapsfeldern; Gänse und Kraniche fliegen von einem Tümpel zum andern; Reiher und Rohrdommeln lauern am Rande der Pfützen; Kibitze streichen klagend am Boden hin; kleine Eidechsen huschen im Grase, und zahllose Erdziesel treiben sich herum, fahren blitzschnell in ihr Versteck, gucken neckisch hervor und beginnen bald wieder ihr früheres Spiel; Mistkäfer von allen Farben und Größen schwirren summend und läutend von Ort zu Ort; lärmend und vielgeschäftig läßt sich ein Schwarm von Staren nieder; schwerfällig und krächzend nähern sich Raben und Krähen den wühlenden und grunzenden Schweinen. Zwei Insekten sind in der Pußta unbekannt, die Heuschrecke und die Biene. Der Mangel an Bäumen, Wasser, an saftigen und duftigen Blumen, endlich die Hitze des Sommers machen, daß nicht einmal die Erdbiene fortkommt.

Die Luft wird immer heißer; warme Luftströme steigen senkrecht empor, Staub und dünne Hälmchen mit sich führend. Über alle Pflanzen fließen und zittern glitzernde Lichtwogen; in der Ferne beginnt an warmen, dunstigen, hellsonnigen, stillen Tagen im Hochsommer, seltener im Frühling und Herbst, délibáb (die Fata morgana) die trügerischen Luftgebilde zu weben, bald den Wellenschlag des strömenden Wassers, bald die Spiegelfläche eines Teiches nachahmend, seltener Hütten und Dörfer, Herden und Menschen heranzaubernd.....

Wenn die Sonne anfängt, sich zu senken, erwacht zum zweitenmal das eigentliche Leben der Steppe; auch die Herden erhalten ihre Frische allmählich wieder, das Rind nimmt die unterbrochene Siesta auf, ehe es seine zweite Mahlzeit antritt; begierig sind die Schafe wieder mit dem Abrupfen der Gräser beschäftigt; die Pferde werden munterer, und wenn sich zwei Roßherden zufällig nahekommen, so bezeugen die Hengste gute Lust, mit den Zähnen und Vorderfüßen aufeinander einzuhauen; die Schweine verlassen das Wasser, um wieder die Erde aufzuwühlen, die Gänse, um Toilette zu machen; die Reiher und Störche fliegen auf, wenn ein paar badelustige Gänsejungen und Kinder der Schweinehirten sich bis an den Hals in dem von den Tieren aufgerührten Pfuhle herumwälzen, und wahrhaft herzzerbrechend quaken die Frösche in breitgetretenen, langgezogenen Tönen.

Mit dem Wechsel der Tageszeit wechselt die Beleuchtung der Pußta und die Farbe des Himmelsgewölbes; kein Maler, kein Dichter vermag die Zartheit der Tinten, in welchen die Ferne schwimmt, zu veranschaulichen[2]).

Endlich sinkt die Sonne hinab, ein blutig-roter Riesenball in einem gespenstigen, zugleich fahlen und glutroten Meere; lange noch nach ihrem Untergange schwebt ihr Bild über dem Horizonte.

„Nun schleichen aus dem Moore kühle Schauer
Und leise Nebel übers Heideland."

.... Nun gewährt die Steppe plötzlich ein überraschendes Bild: überall, bei jeder Hürde, steigen flackernde Feuer auf bis zum fernsten Horizont und stechen grell gegen den nächtlichen Himmel ab. Die Hirten bereiten und verzehren ihr Nachtmahl;

[1]) Ein zierlicher Spenzer, der gewöhnlich seitwärts umgehängt wird.

[2]) Die gelungensten Landschaftsbilder aus dem ungarischen Tieflande, die anziehendsten Schilderungen aus dem Tierleben der Pußta und dem Treiben der menschlichen Bewohner der Ebene entwarf der genialste magyarische Dichter, Petőfi.

einige Kühe und Mutterſchafe werden gemelken, und nachdem alles beſorgt iſt, beſuchen manche Hirten ihre Nachbarn und plaudern oder ſpielen, um das Feuer gelagert. Auf die Bitte der Hirten erzählt der számadó (Oberhirt) ſeinen bojtáren (Gehilfen oder Untergebenen) uralte Sagen und Mären, z. B. wie die Magyaren in ihre jetzige Heimat eingewandert und ſie mit dem Schwerte erkämpft, Charakterzüge aus dem Leben des unvergeßlichen Matthias des Gerechten und der großen Helden der Vorzeit u. a. Rings herrſcht tiefes Schweigen, und keiner der Lauſchenden wagt es, ihn zu unterbrechen. Erſt ſpät in der Nacht verſtummt ſein beredter Mund, und bald umfängt alle der ſüße Schlaf.....

Nur der Sonntag macht einen Abſchnitt in dem Leben auf der Pußta; dann begeben ſich die Hirten, an denen gerade die Reihe iſt, auf flinken Roſſen — nur der Schafhirt trottet auf ſeinem bedächtigen Grauchen — in die Dorfſchaft zu den Ihrigen, oder in die Cſárda. Die Burſche tanzen aufjauchzend und unermüdet auf einem Fleck in der dunſtigen Stube und ſchwingen in der einen Hand ihre Tänzerin, in der andern die lang- und breithalſige Flaſche. Die Alten ſetzen ſich in einer Ecke auf die Bank und laſſen ſich ihre Lieder vorgeigen (jeder hat ein, zwei Lieblingslieder, welche ihm der Zigeuner auf eine eigene Weiſe vorſpielen muß) und verſinken bei den wehmütig-klagenden Tönen in Gedanken an die entſchwundenen ſchönen Tage der Jugend, bis die Muſik in tollen Weiſen auflodert und die Tänzer luſtberauſcht den Boden klirrend ſtampfen; dann ſtoßen ſie wohl die Flaſche kräftig nieder und ſpringen mit leuchtenden Augen auf, hingeriſſen von den uralten heimiſchen Klängen.

## 100. Ein Stiergefecht zu Sevilla.

Von L. Thomas.

Bilder aus der Länder- und Völkerkunde. Zur Belehrung und Unterhaltung für häusliche Kreise. Leipzig 1856. S. 172.

Mehr als 14000 Menſchen hatten ſich in der Arena von Sevilla verſammelt, dem Stierkampfe beizuwohnen: Menſchen aus allen Ständen, von jedem Alter und Geſchlecht, geſchmückt wie zu einem ſeltenen Feſte, und alle in einem ſolchen Rauſch von Erwartung und einem ſolchen Taumel von Jubel und Freude, wie der Nordländer in ſeinem ganzen Leben nicht einen Menſchen ſieht. Das Auge iſt geblendet von dem Farbenſchimmer der maleriſchen Trachten, von dem Schwenken der Fahnen und Tücher und von dem Glanze der Sonne — denn es iſt 4 Uhr nachmittags. Dazu wogt, wie fernes Meeresbrauſen, über der ganzen Verſammlung geſchäftiges, verlangendes Gemurmel, aus dem hier der Ruf einer hindurchdrängenden Majo (Stutzers), dort das Geſchrei einer halberſtickten Matrone hervortönt; weiter drüben erklingt der gellende Schall eines Blechhorns, näher hier das Raſſeln einer Trommel, der ſpitze, durchdringende Laut einer Pfeife: ein buntes, durcheinanderdröhnendes Orcheſter, von dem ungeduldigen Volke probiert, um ſchon jetzt die Wut des Kampfes, der ſich allgemach vorbereitet, zu ſchüren.

Der Kampfplatz iſt von amphitheatraliſch ſich erhebenden Bänken und Logen umgeben; in der Mitte der letzteren befindet ſich die Loge des Corregidor (Aufſehers), der die Spiele ausrüſtet und leitet, darunter der Sitz des Muſikchors. Die unterſte Bankreihe erhebt ſich ſechs bis acht Fuß über dem Erdboden, ſo daß die Zuſchauer bequem über die hölzerne Wand hinwegſehen können, welche ringförmig die „placa des toros“ (Kampfplatz) umläuft und noch durch einen acht bis zehn Fuß breiten Gang von den eigentlichen Sitzen getrennt iſt. Dieſe Wand hat vier breite Flügeltore, durch welche die Lanzenreiter einziehen, einen beſonderen Eingang für die Stiere und acht ſchmale Öffnungen, durch welche die leichtfüßigen Chulos aus der Arena in den inneren Gang ſchlüpfen können, wenn ſie zu ſcharf verfolgt werden. Nicht weit von der Pforte, durch welche der Stier eintritt, hinter einem Verſchlage ſtanden zwei Männer, ein Arzt und ein Prieſter mit dem Viatikum, damit dem Kämpfer, der vielleicht heute blut ſollte, die ärztliche Hilfe und der geiſtliche Troſt nicht fehle.

Mit dem Schlage halb fünf öffnete sich das der Corregidorloge gegenüberliegende Tor, und unter Trompetenschmettern erschienen zuerst sechs lanzenschwingende Picadores zu Pferde. Es waren kräftige Männer; ein breitrandiger, grauer Filzhut überschattete das dunkle Gesicht; auf der goldgestickten seidenen Jacke prangten, quastenähnlich über die Schulter gelegt, zwei grofse Blumensträufse; die Füfse umgaben Lagen von Eisenblech und Kork, um Stöfse und Sturz weniger gefährlich zu machen. Die Lanze ist nur mit einer kurzen Eisenspitze versehen, denn der Picador soll den Stier weniger verwunden, als reizen. Während die Reiter in kurzen, gefährlichen Sätzen den Kampfraum durchmafsen, brach das Volk in lauten Jubel aus: die Pfeifen schrillten, die Trommeln dröhnten, die Fahnen und Tücher wurden geschwenkt zu Ehren der Picadores, die sich dankend verbeugten. Doch die Scene ernent sich: sechs Chulos treten ein, junge, kecke Gestalten, ganz und gar in Seide gekleidet, über den Arm den fünf Ellen langen, brennendroten Schal oder Mantel, mit welchem sie den Stier wild zu machen wissen. Auch ihnen erschallt der lärmende Gruſs entgegen, sie danken, aber nur flüchtig; denn nun soll er erscheinen, der Held des Tages.

Ich wufste nicht, wen mein Nachbar, der so freundlich war, in seiner Freude einige erklärende Worte an mich zu richten, durch „er“ bezeichnete, ob den Stier oder den Hauptkämpfer. Er meinte den letzteren; das sah ich, als er erschien. — Doch wer beschreibt den Wahnsinn, der halb Spanien ergreift, wenn Don Montes, der grofse Stierfechter, in der Runde erscheint! Er ist der Abgott der Nation, und gegen ihn ist ein König nichts. „Ah, el divino Montes!“ schallte es aus mehr als zweitausend Kehlen auf einmal. Der gefeierte Matador, der schlanke, kräftige und überreich geputzte Don Montes, schreitet vor; über seinem gelblichen Gesichte liegt ein siegesgewisser Stolz; das kleine, stechende Auge läfst er rundum schweifen; in der Rechten blitzt das Mordschwert; er senkt es, vornehm-nachlässig dankend für den noch immer nicht endenden Beifall.

Doch plötzlich ward alles atemlos still. Montes hatte die Arena verlassen; die Picadores stellten sich schweigsam und kampfgewärtig an der hölzernen Wand des Circus auf, und die Chulos verteilten sich, ihre Schals und Mäntel entfaltend, auf dem weiten Raume des Platzes. „Jetzt! jetzt!“ raunte mein Nachbar mir zu. Der Corregidor winkte mit einem weifsen Tuch: ein Trompetenstofs erschallte, der besondere Eingang öffnete sich, und der Stier trat in die Arena, von einem mehr als tausendstimmigen Gebrüll empfangen. Der Stier, halb scheu, halb wild, steht still, sieht sich um, scharrt, stampft mit den Füfsen, wendet sich hierhin und dorthin, als ob er den Feind wählen wolle; dann, plötzlich laut aufbrüllend, den Kopf gesenkt, die glänzenden Hörner zum Aufspiefsen bereit, stürzt er auf den nächsten Picador los. Dieser hat im Augenblicke eine Wendung gemacht, und der Stofs geht in die Luft, während der Picador mit unbegreiflicher Geschicklichkeit die Lanzenspitze in den Hals des Tieres senkt. Der Stier läfst von ihm ab, und mit einem fürchterlichen Brüllen, den Kopf zwischen den Vorderbeinen, rennt er im Kreise der Schranken herum. Nun beginnt der erste der Chulos sein verwegenes Spiel. Im vollen Galopp läuft er auf den Stier zu, das rote, flatternde Tuch in langen Bogen schwenkend, und während dieser einen Ansatz nimmt, ihn zu durchbohren, springt er jetzt rechts, jetzt links vor ihm her, immer in dem Mantel die tödlichen Stöfse auffangend, bis am Ende das gereizte Tier den Kopf in dem langen Gewande verwickelt hat. Ein heulender Beifall lohnt dem Kühnen. Indessen schon hat sich der Toro (Stier) von der verhafsten Hülle befreit, und nun nimmt ein zweiter, jetzt ein dritter Chulo die Rolle auf. Keck fliegen sie vor dem schäumenden Tiere daher, das, aus seiner Wunde blutend, mit verhaltenem Gebrüll seinen Peinigern nachstürzt, immer wütender, je weniger es die Schnellfüfsigen erreicht, bis dennoch der eine, von dem tobenden Stier in die Enge getrieben, nicht mehr rechts noch links auszuweichen weifs. Der Chulo scheint verloren; die schmale Tür, die seinen Genossen zur Flucht sich öffnete, ist zu ferne; er steht allein und wehrlos der Wut des Tieres gegenüber: da, rasch wirft er den

Mantel dem heranstürzenden Stiere vor die Füfse, und im Augenblicke trägt ihn ein kühner Sprung über die sechs Fufs hohe Barriere hinweg in den inneren Gang, wo ihn das jubelnde Volk mit Bravorufen empfängt.

Der Stier, bis zur Raserei gehetzt, stürzt nun wieder auf die anderen Picadores los, und jetzt kostet es Pferde-, ja zuweilen Menschenleben. Bis an das Genick bohrt er den Kopf in den Bauch der Pferde, die wild aussetzen und die Reiter abschleudern. Immer heifser, gefährlicher wird der Kampf, immer dichter fallen die Lanzenstiche auf den Hals des Stieres, aber in der Wut achtet er derselben nicht und greift einen Picador nach dem andern an. Zweimal hob er Rofs und Reiter mit einem Stofs von der Erde empor und liefs sie dann fallen. Einem dritten Pferde stiefs er die Hörner tief in die Brust; das Pferd bäumte sich, wild wiehernd, hoch auf, um dem Stier auf den Nacken zu springen; da duckt sich dieser noch einmal nieder, zum zweiten Stofse ansholend, und schlitzt dem fast über ihm schwebenden Tiere den Leib der Länge nach auf. „Bravo! bravo!“ jubelte das Volk, indes der Stier sich schüttelte, dafs es wie ein blutiger Regen um ihn herumflog.

Ein neues Zeichen wird gegeben. Die teils verwundeten, teils ihrer Pferde beraubten Picadores ziehen sich zurück, um den Chulos nochmals Platz zu machen. Diese haben die Schals und Mäntel von sich geworfen und hüpfen leicht und graziös in den Circus, in jeder Hand einen mit Blumen und bunten Papierstreifen umwundenen Pfeil, dessen Spitze sich zu einem Widerhaken umbiegt. Um den Stier noch mehr zu reizen oder ihn von neuem anzustacheln, wenn ihn Kampf, Wunden und Blutverlust ermüden, müssen sie diese Stäbchen in das Genick des Tieres häkeln. Dies ist ein Spiel, bei dem man nicht weifs, ob man mehr die Verwegenheit oder die Gewandtheit des Toreadors bewundern soll. Der Chulo läuft hinter dem wütenden Toro her, bis dieser plötzlich umsetzt. Nun stellt er sich auf die Fufsspitzen, biegt sich mit einem Pfeil in jeder Hand soweit vornüber als möglich, läfst den Stier gerade auf sich losstofsen und macht eine Seitenbewegung, setzt ihm in dem Augenblicke, wo der Kopf des Ungetüms gerade unter seinen Armen hindurchstürmt, die Eisenhaken ins Genick, und springt seitwärts oder gar zwischen den Hörnern hinweg, ehe der Stier Zeit gehabt hat, ihn emporzuschleudern. Immer neue Pfeile tragen seine Poiniger heran, er versucht umsonst, sie abzuschütteln, vielmehr verdoppelt sich der Schmerz bei jeder Bewegung. Der Toro wird matt. Auch er hat Wunden empfangen und zwar immer im Genick; sein Blut fliefst, bisweilen spritzt es hoch heraus und überrieselt Kopf und Nacken. Die Chulos schwirren ihm immer dichter vor den Augen herum, necken ihn, machen ihn schwindelig; er dreht und wendet sich, betäubt, verwirrt; er greift selten mehr an.

Und abermals erscholl ein Signal, und „fuego! fuego!“ (Feuer! Feuer!) rief's von allen Seiten. Die Chulos kamen mit brennenden Lunten herbei, hingen auch diese an den Hals des Tieres, und mit einem Male entzündet sich auf demselben ein ganzes Feuerwerk mit Raketen, Schwärmern, Schlangen und Körben. Der Stier stürzt im Kreise herum; den Kopf gesenkt, verteilt er die Stöfse in die Luft, er brüllt, setzt rechts und links aus; ja, so verkehrt sich die Natur: er starrt plötzlich, hält einen Augenblick inne und macht wilde Sätze rücklinge, als ob er dadurch vor sich selber fliehen könnte. Nun endlich schlägt das Feuer bis zur Stirn empor, der wütende Schmerz macht sich im fürchterlichsten Gebrülle Luft, und wer einen Tropfen spanischen Blutes in sich hat, stimmt ein: Kinder, Männer, Jungfrauen, Greise, Matronen, alle jauchzen in wilder Wollust, bis der Stier wieder im Kreise herumzustürzen beginnt und den Schlufs des Schauspieles vorbereitet.

Da tritt Don Montes auf. Die Chulos sind zerstoben, und eine schauerliche Stille lagert sich auf all den Tausenden der Zuschauer; mit ängstlicher Spannung scheint jeder den Augenblick zu erwarten, der entscheiden soll, ob heute der Mensch oder das Tier sein Leben zum Opfer bringen werde. Aber keck geht Montes dem wütenden Tiere entgegen, und dies bleibt vor ihm wie angewurzelt stehen. Ist es die Ruhe, ist es der

Blick, was bändigt? Vielleicht beides. Der Matador entfaltet einen roten Mantel, der Stier stürzt darauf zu; aber Montes springt ihm entgegen, schreit ihn an, und das Tier hält plötzlich inne. Ruhig nimmt Montes den Mantel über die Schulter und schreitet über den Platz; der Stier will nachstürzen. Montes dreht sich, und der Stier dreht gleichfalls um und nimmt mit entsetzlichem Gebrülle nach der entgegengesetzten Seite seinen Lauf.

Ich war stumm und starrte Don Montes an, der eine so übernatürliche Macht über das Tier besafs. Doch jetzt sind beide an die Barriere gelangt, beide kehren um und nun, entfernt aus dem Bereiche der Zauberkraft seines Blickes, stürmt der Stier gegen Montes los. Der eilt ihm entgegen; sie treffen aufeinander, der Stier hat einen wohlgezielten fürchterlichen Stofs auf ihn geführt, aber Montes hat ihn an den Hörnern ergriffen und ist in einem tollkühnen Satze über das Tier hinweggesprungen! Ein tausendfach donnerndes Bravo zerreifst die Lüfte. Und plötzlich befällt den ruhigen Montes der ganze Wahnsinn dieses Kampfes, er ergreift den breiten, schlachtmesserähnlichen Degen, und, heulend wie das Tier, stürzt er auf dieses los, und stöfst ihm, während es auf den ausgebreiteten Mantel stürmt, das Schwert bis an das Heft in den Nacken. Durch das Abprallen des brüllenden Stieres wird der Degen wieder frei, und ein Blutstrom ergiefst sich über den Kampfplatz. Das verwundete Tier setzt noch zweimal an, und jedesmal durchfuhr in dem Augenblicke, wo alle Montes schon gespiefst sahen, sein Degen den Hals, bis es mit letzter Kraft in die Höhe sprang und niederstürzte, um zu verröcheln. Das Spiel war beendet. Die toten Pferde und der Stier wurden von vier bunt ausstaffierten Maultieren weggeschleift, und die Arena gereinigt, um den grausamen Kampf von neuem zu beginnen, an dem der Spanier sich nicht satt sehen kann.

## 101. Athen.

Von H. Hettner.

Griechische Reiseskizzen. Braunschweig 1853. (Gekürzt und stilistisch geändert.)

### a. Die Stadt. (S. 84.)

Athen, 4. April.

Das neue Athen liegt durchaus auf dem Grunde des alten. Es ist wohl hauptsächlich vom Könige Ludwig ausgegangen, daß gerade Athen wieder die Hauptstadt des neuen Königreichs wurde. Diese sentimentale Romantik war aber entschieden ein politischer Mißgriff. Das alte Athen siedelte sich hier an, weil alle ältesten griechischen Städte, aus Furcht vor den Einfällen der Seeräuber, sich in einiger Entfernung vom Meere landeinwärts auf steilen Anhöhen ansiedelten. Heute fällt diese Ursache weg. Griechenland ist wesentlich auf die See angewiesen. Die natürliche, d. h. die durch die Zeitverhältnisse und durch die billige Rücksicht auf Griechenlands Handel und Weltverkehr geforderte Lage der neuen Hauptstadt war nur der Piräus, wie ja schon Themistokles den Athenern anriet, diesen als ihre eigentliche Stadt zu betrachten. Vielleicht war aber Attika überhaupt für eine Städtegründung, die der natürliche Mittel- und Schwerpunkt eines einheitlichen Königreichs sein soll, in einer zu entfernten Landecke gelegen. Es zeugt von der hohen Weisheit Kapodistrias und der Venetianer, daß sie zunächst Nauplia, das schöne, mit einem herrlichen Hafen versehene, zu ihrem Regierungssitze wählten. Und bekanntlich ging man sogar einmal mit dem Plane um, die Hauptstadt auf die schmalste Stelle des korinthischen Isthmus zu legen; sie beherrschte dann beide Meere.

Nichtsdestoweniger ist das neue Athen bis jetzt rasch aufgeblüht. Es hat einige 20000 Einwohner und nimmt einen stattlichen Flächenraum ein. Zwei Hauptstraßen, die sich in ihrer Mitte rechtwinkelig durchschneiden, durchlaufen die

ganze Länge und Breite der Stadt. Die eine dieſer Straßen, Hermesſtraße, geht von Weſten nach Oſten, ſie iſt die Fortſetzung der vom Piräus kommenden Landſtraße und mündet in den großen freien Platz, der eine hübſche Gartenanlage vor der königlichen Reſidenz bildet. Die andere Hauptſtraße führt von Süden nach Norden. Sie heißt die Aolusſtraße, weil ihr ſüdlicher Ausgangspunkt der unter der Akropolis liegende, aus der Römerzeit ſtammende „Turm der Winde“ iſt. Die große Mehrzahl der an dieſen beiden Straßen liegenden Häuſer iſt zweiſtöckig, ſogar zuweilen elegant und ſauber. Hier gibt es Glasfenſter und zweiflügelige Haustüren, oft auch Altane, über die dann gewöhnlich ein ſtumpfwinkeliger Seitengiebel vorſpringt. Dies ſind die Straßen der Kaffeehäuſer und Kaufläden. Und ſiehſt du dann unten zu ebener Erde die Barbierſtuben, die auch den heutigen Griechen ganz wie den alten als öffentliche Unterhaltungsorte dienen, und ſiehſt du durch die geöffneten Türen und Fenſter in die Werkſtätten der Hutmacher, Schuſter und Schneider, die halb auf offener Straße arbeiten, ſo haſt du hier dasſelbe heitere und geräuſchvolle Straßenleben, das einſt in Italien unſere Freude war.

Die Häuſer der fremden Geſandten und die öffentlichen Staatsgebäude, die Miniſterien, die Bank, die Univerſität liegen vom ſtädtiſchen Verkehre entfernter, auf freien, zum Teil noch nicht ganz ausgebauten Plätzen, die ſich vom nördlichen Ende der Aolusſtraße bis zum königlichen Schloſſe hinziehen. Dies iſt das vornehme Weſtende des neuen Athen. Nun mußt du dich auch einmal in das innere Stadtgetriebe hineinwagen.

Das iſt freilich ein wüſter Knäuel von kurzen, krummen und engen Gaſſen. Es iſt ſchwer, ſich hier hindurchzuwinden. Faſt überall ſieht man nur elende Hütten und Baracken, dürftig zuſammengeſetzt aus vier übertünchten, mit einem leichten Ziegeldach überdeckten Mauern; einige Öffnungen mit hölzernen Läden dienen als Tür, Fenſter und Schornſtein. Nur an einem iſt hier Überfluß: an Staub bei trockenen Winden und an Schmutz bei Regenwetter.

Die Frauen und Mädchen der höheren Stände oder, faſt möchte ich ſagen die der kultivierteren Stadtteile, tragen ſich durchaus europäiſch; nur ein kleiner, roter Feß, um den ſich in üppiger Fülle die dichten Haarflechten winden, gilt als nationales Abzeichen. In den entlegeneren Straßen und Winkeln dagegen herrſcht noch ganz die albaneſiſche Frauentracht, wie im übrigen Griechenland. Ein langer wollener Rock, vom Halſe bis zu den Füßen wallend, wird tief unten an der Hüfte mit einem roten Gürtel zuſammengehalten; darüber legt ſich ein kürzeres, wollenes Oberkleid von demſelben Schnitte, ebenfalls mit weißem Grunde, die Breite des Rückens mit zwei langen, ſchwarzen Streifen hervorhebend, wenn es ein Feſtgewand iſt, bei Mädchen mit roten, bei Frauen mit ſchwarzen Stickereien umſäumt. Der Kopf iſt in durchaus antiker Drapierung mit einem weißen Tuch umhüllt.

### b. Die Akropolis (Burg). (S. 9.)

Der Hügel der Akropolis erhebt ſich etwa 350 Fuß hoch am ſüdlichen Ende der Stadt. In der älteſten Zeit war er die Stadt ſelbſt; erſt unter Theſeus breiteten ſich die Wohnungen am Fuße des Hügels aus, weshalb das ſpätere Athen auch die Stadt des Theſeus genannt wurde. Auf der Nord-, Süd- und Oſtſeite ſteigt er mit ſteilen und unerklimmbaren Felswänden jäh empor. Nur gegen Weſten iſt er von dieſer natürlichen Befeſtigung entblößt. Dieſe Weſtſeite iſt daher ſtets der gewöhnliche Aufgang zur Akropolis geweſen. Jetzt iſt der Eingang mit mittelalterlichen und türkiſchen Mauerwerken verbaut, und nur durch eine enge Seitenpforte gelangt man in das Innerſte des Allerheiligſten. Wir gehen durch dieſe Pforte und ſtehen vor der großen und breiten Treppe, auf deren Höhe uns

oben als ihr natürlicher Abschluß die Propyläen entgegentreten, das festliche Eingangstor, das die Griechen des perikleischen Zeitalters zur Betretung der Akropolis einlud. Diese Propyläen, in der Mitte das große Tor, von dem das Brandenburger Tor in Berlin nur ein schwaches Abbild gibt, und zur Seite die gewaltigen Seitenflügel, von denen, der künstlerischen und militärischen Doppelbestimmung der Akropolis entsprechend, der eine ein Waffenmagazin, der andere eine Pinakothek (Gemäldegalerie) war, gehören zu den vollendetsten Bauten der vollendetsten Kunstblüte.

Aber die Säulen sind verstümmelt, das Dach zertrümmert; ein häßlicher, mittelalterlicher Festungsturm stört den einheitsvollen Eindruck; die Treppen sind in vereinzelte Bruchstücke auseinandergeschleudert. Und der durch die Bemühungen von Roß und Schaubert aus den alten Trümmern wiederaufgebaute zierliche Nike- (Siegesgöttin-) Tempel, der vor den Propyläen steht, dient nur dazu, uns das Gefühl recht lebhaft zu machen, was für eine unendliche Welt der Schönheit uns hier für immer verloren gegangen ist.

Durch die Propyläen hindurch geht es nun an regellos aufeinandergeschichteten Bautrümmern vorüber zu dem Parthenon, dem schönsten und größten Tempel des Altertums. Wohl erfüllen uns diese hochaufstrebenden Säulen und die Gesimse des Daches und der Decke durch ihre schönen Formen und Verhältnisse mit Bewunderung und Entzücken; aber auf den ersten Anblick vermag die Phantasie nicht, aus dieser gräßlichen Verstümmelung, der auch dieser Bau unterlegen ist, sich lebendig das Ganze wieder in seiner vollen Herrlichkeit herzustellen. Die Säulen, jetzt des Daches, der Deckenbalken und zum Teil der Kapitäle beraubt, ragen klagend in die blaue Luft hinein, und ringsherum liegen auf dem Boden des inneren Tempelraumes die schönsten Bausticke wüst durcheinander. Mit bewegtem Gemüte geht man hinüber zu dem wunderbar zierlichen Erechtheion, dem Doppeltempel der Athene Polias und des Poseidon Erechtheus. Die ionischen Säulen dieses einst so prachtvollen Tempels sind so leicht und anmutig, das Ganze so schlank und zierlich, in allen Einzelheiten so durchgebildet und fein gegliedert! Aber fragt man, wie die einzelnen Teile dieser zwei Zellen mit ihren doppelten Seitenflügeln unter sich zusammenhingen, so wird die Antwort schwer. Man muß öfter diese Trümmer betrachten und das Nachforschen und Studium der Alten in lebendige Verbindung setzen: dann werden allmählich auch diese Ruinen vor dem inneren Seelenauge zum schönen Ganzen, zu lebendigen Bildern der untergegangenen Herrlichkeit! Sie sind das einzige, was wirklichen Genuß bietet; mittelalterliche Kunst und Bildung ist in Griechenland nicht zu finden, und die Gegenwart ist auch nicht viel mehr, als der Anblick einer Ruine.

## 102. Der Untergang von Herkulanum und Pompeji.

Von W. Wägner und B. Volz.

Rom. Leipzig 1867. Bd. II, S. 202.

Wir sind in dem glücklichen Campanien. Rechts lagert das romantische Gaurusgebirge und weiterhin, im Meere, das Eiland Prochyta, zur Linken fesselt unseren Blick der flachgewölbte, ruhende Vesuv, welchen Pinienhaine, Laubwald, Reben- und Olivenpflanzungen fast bis zum Gipfel bekleiden. Demselben Wechsel von Baumgruppen und Gartenanlagen begegnet das Auge in der sanftwelligen Ebene, die den strahlenden Golf umlagert und, südwestlich zu höheren Bergen aufsteigend, mit dem Vorgebirge Minervas ins Meer ausläuft. Jetzt nähern wir uns der Stadt Pompeji, die der Schauplatz furchtbarer Naturverheerungen werden sollte. Schon im Jahre 63 war ein Teil der Stadt durch ein Erdbeben zerstört worden. Ihre

Lage, nicht weit vom Meere, mit einem Hafen im Fluſſe Sarnus, der üppige Boden, die Betriebſamkeit der Einwohner hatten die Spuren dieſes Unglücks, wie die Zerſtörungen früherer Kriege bald verwiſcht. Lebhafter Verkehr, ſteigender Wohlſtand, Frohſinn und Lebensluſt verbreiteten eine glückliche Heiterkeit über die Menſchen, die ſorglos die Freuden des Daſeins genoſſen. Harmloſen Kindern gleich lebten ſie auf unterwühltem Boden, ohne zu beachten, daß ihr ſchlimmer Nachbar Veſuv, der jahrhundertelang geruht hatte, durch ſchwache Erdſtöße das wiederauflodernde Feuer in ſeinen Eingeweiden anzeigte. Am 24. Auguſt war das Volk im Amphitheater verſammelt, um ſich am Anblicke der blutigen Spiele zu ergötzen: da ward es plötzlich finſter, als ob die Nacht hereinbräche, und von den oberen Sitzreihen erblickte man eine ungeheure Wolke, die aus dem Veſuv emporſtieg, immer mehr anſchwoll und das Sonnenlicht verbarg.

Blitze zuckten durch die Finſternis, ohne ſie zu erhellen. Zugleich hörte man ein furchtbares Getöſe, bald unter, bald über der Erde, bald wie das Rollen des Donners, bald wie Sturmwinds-Brauſen, bald dem Brüllen des Meeres gleich. Mit Eintritt der Nacht, die nicht vom Tage zu unterſcheiden war, erfolgten erſt einzelne Erdſtöße; dann geriet der Boden in eine ſchwankende Bewegung, während immer dichter Aſche, Bimsſtein und glühende Schlacken herunterfielen. Man glaubte, die alten Titanen hätten die Feſſeln des Tartarus zerbrochen und den Kampf der Vernichtung wiederbegonnen. Man ſuchte ſich und ſeine Habe zu retten; alle Straßen und Felder waren mit Flüchtigen bedeckt, deren Wehklagen die Schreckniſſe vermehrten. Zugleich wallte das Meer ſo heftig auf, daß Schiffe von ihren Ankern geriſſen wurden; dann erfolgte ein Krachen, als ob die Berge zuſammenſtürzten. Felsblöcke wurden meilenweit fortgeſchleudert, die aufwirbelnde Aſche, die wolkenbruchartig auf die Umgegend fiel, flog bis nach Rom, ja bis nach Sicilien und Afrika, und ein Feuerſtrom, von ſchwarzem Dampf eingehüllt, ergoß ſich vom Berge herab.

Es war die glühende Lava, die über Pompeji Verderben brachte. Am dritten Tage erſchien die Sonne wieder, aber blaß, ungewiß, wie bei einer Sonnenfinſternis. Sie beleuchtete ein verändertes Land; Pompeji, Herkulanum, Stabiä, alle Dörfer, Landhäuſer und Pflanzungen ringsum waren verſchwunden; die weißliche Aſche lag, gleich einer winterlichen Schneedecke, über einem weiten Totenfelde, ohne Atem, ohne Leben.

Wir haben die Kataſtrophe dargeſtellt nach den Berichten in den Briefen des jüngeren Plinius und der Geſchichte des ſpäter lebenden Dio Caſſius. Erſterer befand ſich mit ſeiner Mutter und ſeinem Oheim, dem älteren Plinius, der Befehlshaber der Flotte war, zu Miſenum. Er ſah die Unglück drohende Wolke vom jenſeitigen Berge aufſteigen, die wie ein rieſiger Fichtenbaum ſich erhob und ausbreitete. Sein Oheim eilte nach der Gegend des Schreckens, teils um Freunde zu retten, teils um die Naturerſcheinung möglichſt in der Nähe zu beobachten. Er fand jedoch ſeinen Tod, indem er in der dicken, von Dampf und Aſche erfüllten Atmoſphäre erſtickte. Indeſſen auch über Miſenum ſchien das Verderben hereinzubrechen. Die ungeheure Wolke ſenkte ſich herunter und hüllte Land und Meer in Nacht; hin und wieder ſtiegen Feuerſäulen auf, die aber die Dunkelheit nicht erhellten; der Boden erzitterte fortwährend, er ſchien unter den Füßen der verzweifelten Menſchen zu weichen. Aſche, Schlacken und ſelbſt Felsblöcke fielen in dichten Maſſen nieder, ſo daß man ſich durch aufgebundene Kiſſen dagegen zu ſchützen ſuchte. Erſt am dritten Tage, als die empörten Elemente ihr Werk der Zerſtörung vollendet hatten, kehrten allmählich Ruhe und Sicherheit zurück.

Viele Jahrhunderte lagen die genannten Städte unter ihrer Aſchendecke; da wurde durch Zufall in der erſten Hälfte des 18. Jahrhunderts zuerſt Herkulanum, dann etwas ſpäter auch Pompeji entdeckt. Es geſchah dies beim Graben eines

Brunnens und bei Anlage eines Weinbergs. Von erſterer Stadt, welche durch den Lavaſtrom mehr zerſtört wurde, iſt nur ein kleiner Teil bloßgelegt.

Pompeji dagegen iſt zum größten Teile von ſeiner Aſchendecke befreit worden und gibt uns ein ziemlich deutliches Bild von dem römiſchen Leben im Altertum. Doch darf man ſich nicht vorſtellen, als ob man die Stadt in ihrem ehemaligen Zuſtande vor ſich habe; es ſind vielmehr nur noch Ruinen, die Dächer ſind eingeſtürzt, die oberen, aus Holz konſtruierten Geſchoſſe verkohlt und verbrannt, die Säulen ſehr beſchädigt. Dem gleichen Verderben waren faſt alle hölzernen Möbel und Gerätſchaften unterworfen; auch haben die überlebenden Einwohner Geld, Koſtbarkeiten und andere bewegliche Habe mit ſich fortgeführt oder durch ſpätere Nachgrabungen gerettet und unſerer Beobachtung entzogen. Daher iſt die Ausbeute an merkwürdigen Gegenſtänden, beſonders an Kunſtwerken, nicht ſo groß, als man erwarten ſollte, aber ſie iſt immerhin bedeutend genug, um uns eine Vorſtellung von dieſer mittleren Landſtadt zu geben, die an Wohlhabenheit und Behaglichkeit des Lebens teilweiſe der Hauptſtadt nacheiferte. Erhalten blieben die maſſiv-ſteinernen Gebäude, die Theater, das Amphitheater, von den übrigen die Grundmauern und viele Bruchſtücke, die auf die oberen Teile mit Sicherheit ſchließen laſſen, der ungewöhnlich reiche Schmuck an Wandmalereien und Moſaik, auch eine nicht unbedeutende Anzahl von plaſtiſchen Kunſtwerken, Möbeln und Gerätſchaften von Bronze und Marmor.

Beſonders ſchwunghaft müſſen in Pompeji die Geſchäfte der Goldſchmiede, Walker, Tuchfabrikanten und Bäcker betrieben worden ſein, da ſich von ihren Vorrichtungen viele Überreſte erhalten haben. Mit entſchiedener Vorliebe wurde ferner die Kunſt gepflegt. Ein Hauch des Griechentums beſeelte die Pompejaner; davon geben die Werke der Architektur, Plaſtik und auch eine reiche Fülle von Wandmalereien hinlänglich Zeugnis. . . . . .

Von den verſchütteten Einwohnern hat man gegen 600 Gerippe aufgefunden, was bei einer mutmaßlichen Bevölkerung von 40- bis 45000 Seelen eine geringe Zahl iſt; allein man hat die Tauſende nicht mitgerechnet, die auf der Flucht umkamen, deren Gebeine längſt in Staub und Moder zerfallen ſind. Die aufgefundenen Überreſte ſind ſehr mannigfaltig. Unter anderem entdeckte man einen Kriegsknecht mit ſeiner Lanze am Herkulaner Tor; im Landhauſe des Diomedes achtzehn Frauen, deren körperliche Formen in der gipsartig verhärteten Aſche deutlich ausgedrückt waren. Es befand ſich darunter ein junges, ſehr ſchönes Mädchen, deſſen Abdruck man in Gips ausgegoſſen und aufbewahrt hat. Der Hauseigentümer mit dem Schlüſſel in der Hand erlag ſamt ſeinem Sklaven an der hinteren Gartentür, wo man ihre Gerippe auffand. Ein Iſispriester ſuchte ſich mit der Axt einen Weg zu bahnen. Er hatte ſchon zwei Wände durchbrochen und arbeitete an der dritten, als ihn das Verderben ereilte. Ein junges Paar, vielleicht neuvermählte Gatten, welche Rettung oder Untergang miteinander teilen wollten, fanden den letzteren in feſter, vom Tode nicht gelöſter Umarmung. Alle dieſe Überreſte lagen unter einer Decke von Aſche, Bimsſtein und Schlacken, die allmählich infolge verſchiedener ſpäterer Ausbrüche bis zu einer Dicke von 6½ Meter angewachſen war.

## 103. Der Nil.

Von H. Burmeiſter.

Geſchichte der Schöpfung. Leipzig 1848. S. 11.

Kein Strom der Erde eignet ſich zu einer Betrachtung über die Wirkungen des Waſſers auf die Bildung der Erdoberfläche beſſer, als der Nil mit ſeinen periodiſchen

Überschwemmungen, denn er zeigt alle Veränderungen, welche ein Fluß hervorbringen kann, schon deshalb am vollständigsten, weil kein anderer durch einen so langen Zeitraum in seiner Tätigkeit sich verfolgen läßt. Über 4000 Jahre reichen bekanntlich viele Denkmäler hinaus, welche sich noch jetzt in seinen Wogen spiegeln, und ebenso alte, untrügliche Zeichen geben sie ab für die Umgestaltungen des Bodens, die sein Wellenschlag in ihrer Nähe verursacht hat. — Schon der Lauf des Stromes selbst ist einer der merkwürdigsten; denn es gibt keinen zweiten Fluß von solcher Größe, der so wenig Nebenflüsse besitzt, so lange und unaufhörlich in einem engen Gebirgsteile bleibt und während dieses Laufes von mehr als 250 geographischen Meilen keinen Zuwachs durch benachbarte Stromgebiete erhält. Nachdem er sich bei Damer mit dem Atbara, welcher mit ihm die Hochebene des alten Meroë umfaßt, vereinigt hat, tritt er in das S-förmige Felsental Nubiens, stürzt sich in demselben zehnmal terrassenartig über sein Bett durchkreuzende Felswände und erreicht bei Syene gleich hinter dem zehnten Katarakt das ähnlich gebaute, aber weniger gekrümmte Tal Ägyptens. Bis dahin begleitet ihn Granit unmittelbar, der stellenweise seine Ufer berührt; aber von Syene an umgibt den Strom bis zu einer Höhe von 360—500 Fuß ein Sandsteinplateau, dessen westliche oder libysche Kette sanfter geneigt ist und an der abwärts gewendeten Seite allmählich in die Sandfelder der Sahara übergeht. Die östliche oder arabische Kette, jetzt Gebel Mokattam genannt, wird größtenteils von höheren Granitketten überragt, umschließt mehrere sie in schiefer Richtung durchsetzende Quertäler, als alte Verbindungen des Niltales mit dem Roten Meere, und fällt überall steil gegen das Strombett ab, daher sich der Fluß meistens dichter an den Ostabhang seines Tales hinabdrängt. Zweimal, bei Selseleh und Gebeleyn, treten die Sandsteinmassen so dicht an den Strom, daß nur eben für ihn Platz bleibt; dann erweitert sich das Tal bis auf 2 Stunden und endet oberhalb Kairo, wo die libysche Kette sich in der Richtung von Nordwest zur Küste wendet, die arabische aber fast rechtwinkelig ostwärts zum Roten Meere. Beide umschließen so einen Winkel von 140 Grad, in dem der Strom sich ausbreiten, und dessen Boden er mit mehrfachen Armen durchfurchen kann; beide sind gegen diese Ebene terrassenartig abgesetzt und noch kurz vor ihrem Abfall von engen Quertälern durchzogen, in denen Gerölle und andere Spuren einen früheren Wasserstand unzweifelhaft nachweisen. Das östliche Tal ist das Tal der Verirrungen, das westliche besteht aus zwei Paralleltälern, von welchen das innere den Namen Strom ohne Wasser führt, das äußere die Kette der Natronseeen enthält, aus welchen die alten Ägypter ihr Hauptmittel zur Zubereitung der Mumien gewannen. Auf dem Höhenzuge zwischen beiden Tälern stehen, dem alten Memphis gegenüber, bei Gizeh, die ersten und größten Pyramiden.

Schon Herodot erklärte das ganze Niltal für ein neues Gebilde, für ein Produkt des jährlich über seine Ufer tretenden Stromes. Diese bei unseren norddeutschen Strömen minder regelmäßige und nirgends so großartige Erscheinung hat am Nile ihren Grund in den vielen Regen, welche jeden Sommer die Hochlande Abyssiniens tränken, und die wieder aus den landwärts strömenden Dünsten des Mittelmeeres, welche von den glühenden Strahlen der Sahara nach Süden weitergetrieben werden, ihren Ursprung nehmen. Hier in den kälteren Luftschichten des Hochgebirges fallen sie nieder und bedingen ein Steigen des Stromes in seinem ganzen Laufe bis zum Meere, welches in Ägypten mit dem Anfange des Juli beginnt, Mitte August so zugenommen hat, daß der Fluß seine Ufer überschreitet und, bis Ende September im Zunehmen begriffen, auf 18—22 Fuß Höhe anschwellend, nach und nach das ganze Tal bis zum Fuße der Bergketten hin überflutet, dann aber gegen Ende Oktober in sein altes Bett zurückkehrt und, von dieser Zeit an langsam fallend, gegen Ende Juni seinen tiefsten Wasserstand wiedererreicht. Während dieser Zeit klar und rein, färbt er sich zur Zeit des Schwellens rötlich, vermöge des fein zer-

teilten Erdreichs, das er aus seinen oberen Teilen mit herabführt, und setzt dasselbe überall da ab, wo er sich, ruhiger fließend, über eine weite Ebene ausdehnen kann, und künstliche Deiche seinen Lauf über diese hinaus hemmen. Durch diese aus Sand, über dem ein rötlicher Schlamm liegt, gebildeten Absätze wird der Boden natürlich erhöht, das Land also immer mächtiger, das Tal stets flacher; aber das Verhältnis des Flusses zu seinen Ufern bleibt dasselbe, da auch der Boden des Flußbettes mit erhöht wird. In solcher Art nähert sich der Strom, noch reichlich mit Schlamm und Sand gemischt, dem Meere, verliert aber bald, nachdem er in dasselbe eingetreten ist, alle eigene Bewegung; sein Inhalt fällt, und der Meeresboden hebt sich in derselben Weise, wie der Talboden, über den sich der Fluß ausgebreitet hat. Dies wußten schon die Alten; denn Herodot erzählt, daß man eine Tagereise von der Küste noch den roten Schlamm aus der Tiefe hervorziehe, den der Nil dem Meere mitgeteilt habe. Auch sagt derselbe Historiker geradezu, daß ganz Unterägypten bis zum Meere ein Produkt des Nils sei. Er bespricht in dieser Beziehung den Bau des Deltas, sagt, daß dasselbe früher ein bloßes Sumpfland gebildet habe, und daß man erst durch Eindeichung seinen Boden nutzbar machte. Dieselbe Ansicht war im ganzen Altertume herrschend; Aristoteles gedenkt ihrer ausführlich, und Plutarch beweist aus der Art und Weise, wie Homer von der Insel Pharus spricht, daß dieselbe damals noch weit von der Küste entfernt lag. Auch hat das heutige Delta eine ganz andere Beschaffenheit als zur Zeit der Römer, aus welcher uns Strabo eine Schilderung desselben hinterlassen hat. Jetzt liegt die Gabelungsstelle über zwei Stunden tiefer als damals, und während früher die westliche Hauptmündung bei Kanopus ins Meer fiel, mündet sie heutzutage bei Rosette; ähnlich hat sich die östliche verändert. Von ihren beiden Armen, in welche sie sich teilt, war früher der östliche, nach Pelusium gewendete, der größere, und der innere, welcher jetzt die stärkere Wassermasse nach Damiette hin abführt, war anfangs ein bloßer Graben. Im ganzen hat also die Breite des Deltas abgenommen; dafür ist aber seine Basis weiter ins Meer hinausgeschoben worden. Rosette und Damiette lagen zur Zeit der Kreuzzüge noch an den Mündungen selbst; jetzt liegen sie zwei Stunden von der Küste, und unaufhörlich schreiten die eigentlichen Mündungen seewärts vor, zungenartig ins Meer eindringend. Die Tatsache erklärt sich leicht aus den Wechselwirkungen des Stromes und des Meerwassers, die beide an der Mündung sich begegnen und gegenseitig ihre Bewegungen lähmen. Die Strömung des Flusses wird dadurch geschwächt und seine Treibkraft läßt nach, die erdigen Teile fallen nieder, werden aber von den nachfolgenden Wassermassen aus der Mitte des Bettes auf die Seite geschoben, wo sie sich dammartig aufhäufen. Gegen diesen Damm spülen die Meereswellen und führen seine Bestandteile noch mehr seitwärts gegen das benachbarte Ufer, vor dem sie sich aufs neue setzen, Untiefen bildend, die der Küste parallel laufen und um so mehr von derselben sich entfernen, je weiter auch die Mündungsdämme ins Meer hinausrücken. Auf diese Weise entstanden die drei großen, von schmalen Landzungen seewärts begrenzten Wasserbecken, welche wir zwischen wie neben den Nilmündungen antreffen, und die uns durch ihre völlige Übereinstimmung an die Haffe von allen größeren Strommündungen des Ostseebeckens erinnern. Wie diese seewärts von schmalen Landzungen — Nehrungen genannt — begrenzt werden, so auch die Nilmündungen, und wie hier die Ausflüsse sich im Laufe der Zeit mannigfach änderten, so auch jene des Nils.

Nicht minder mächtig sind die Veränderungen, welche der obere Teil des Nils seit Jahrhunderten hervorgebracht. Bald nachdem der Nil die zweite Stromenge bei Gebeleyn verlassen hat, bildet das Tal eine kesselförmige Erweiterung, über deren Mitte die herrlichen Trümmer sich verbreiten, welche einst die Prachtbaue der alten Staatsschlösser Thebens ausmachten. Damals an den Ufern des Stromes auf größtenteils künstlichen, dem schwellenden Wasser unzugänglichen Hügeln gelegen,

überragten ihre Sockel den Boden, der sie trägt, in kunstgerechter Weise; jetzt sind alle Grundmauern längst bis zu den ersten Friesen und Karniesen in ihn versunken, und alle Statuen bis zu beträchtlicher Höhe vom Erdreiche bedeckt. Dieser Umstand kann nur einer Erhebung des Bodens zugeschrieben werden, und da heutzutage der Nil alle diese Trümmer unmittelbar umflutet, so kann diese Erhebung nur durch Absatz von Nilschlamm bedingt sein. Von dieser Ansicht ausgehend, untersuchten französische Gelehrte während der Expedition nach Ägypten zu Anfang unseres Jahrhunderts einzelne hervorragende Punkte dieser Trümmer genauer und fanden, daß diejenigen, welche am meisten verschüttet waren, bis zu einer Tiefe von 6 Metern im Boden steckten, und daß unterhalb dieser Tiefe, da, wo gepflasterter Boden die ursprüngliche Höhe der Umgebungen des Denkmals bezeichnet, stets künstlich aus Bauschutt, Geröllen und aufgefahrenem Erdreiche gebildete Unterlagen sich nachweisen ließen. An der kolossalen Memnonsstatue, einer sitzenden Figur von 60 Fuß Höhe, bemerkten die Franzosen einen späteren Aufwurf von fast 2 Meter Höhe und schlossen aus einer am Fußgestelle befindlichen Inschrift, welche auf das 10. Regierungsjahr des Antonius hinweist (148 n. Chr.), daß der Absatz während eines Jahrhunderts etwa den zehnten Teil eines Meters (nicht ganz 4 Zoll preuß.) betrage. Indessen gab die Untersuchung alter Nilmesser, welche sich auf der Insel Syene vorfanden, ziemlich dasselbe Resultat (4½ Zoll im Jahrhundert) und wies zugleich nach, daß sich mit der Erhöhung der Ebene, über welche der Fluß sich ausbreitet, das Bett des Stromes gleichmäßig erhoben habe, mithin aus der Höhe der aufgehäuften Erde das Alter wenigstens solcher Gebäude, die dem Flußufer nahe stehen, mit einiger Sicherheit erschlossen werden könne. Der Palast bei Luxor, an dessen südlicher Ecke die Aufhäufung 6 Meter (18¾ Fuß) betrug, hatte hiernach ein Alter von 4500 Jahren, welches Ergebnis mit den historischen Angaben über die Erbauung dieser Denkmäler und die Blütezeit der ägyptischen Kultur nur insoweit im Widerspruche steht, als letztere, nach jenen Verschüttungen zu urteilen, noch weit älter sein dürfte, als man gewöhnlich annimmt. Es ist daher sehr wahrscheinlich, daß zur Zeit der Blüte Thebens ganz Unterägypten noch Strombett war und nur stellenweis, wie die Insel Pharus zu Homers Zeit, sich Küstenstriche über das Wasser des Nils erhoben; auch bestätigt die von Norden nach Süden fortgeschrittene Kultur des Landes und das ungleich jüngere Alter vieler Baudenkmäler in Mitteläygypten sehr gut die Annahme, daß, als Oberägypten den Sitz des Staates ausmachte, Mittel- und Unterägypten ihrer physikalischen Beschaffenheit wegen noch gar nicht bewohnt werden konnten. Vielleicht war die Höhe von Memphis der letzte bewohnbare Teil zur Blütezeit Thebens, und daher legte man hier die Kolonie an, welche später, als Unterägypten sich gestaltet hatte, den Herrschern eine bequemere Verbindung mit dem Meere verstattete und dadurch über die Mutterstadt als Königssitz sich erhob.

## 104. Jerusalem.

Von F. Hackländer.

Sämtliche Werke. Stuttgart 1863. Bd. IX (Reise in den Orient). S. 147.

Es war ein feierliches Erwachen am ersten Morgen, der mich in Jerusalem begrüßte. Kaum graute der Tag, so zitterte meine Seele schon vor Erwartung dessen, was ich sehen sollte. Nur ein paar Schritte noch, und das Ziel der Reise war erreicht; das heilige Grab hatte zum Anblick mich empfangen. Langsam ging uns die erste Stunde des Morgens vorüber; wir drangen in unseren Führer, nicht zu säumen und uns einzulassen in das Heiligtum. Aber wie bitter traf mich die Antwort, die mir auf mein Drängen zuteil wurde, daß die Grabeskirche nur zu gewissen Stunden sichtbar, und daß die Erlaubnis zum Eintritt erst von den Türken einzuholen sei! Da erwachte in meiner Seele der Grimm, und ich verstand in diesem einen Augenblicke das Geheimnis, worüber die Geschichtschreiber aller Zeiten

ſich verwunderten, das Geheimnis des heiligen Triebes, der Millionen hieher ins ferne Land geführt, um auf dem fremden Boden ihr Herzblut zu verſpritzen.

Endlich traten wir in die Grabeskirche; mir bangte faſt, feſten Fußes aufzutreten, und ich wußte, warum der Prophet, als ſein großer Beruf ihn in die Nähe Gottes riß, die Füße entblößte, ehe er ſich dem Heiligſten näherte. Ich ſchweige von den Formen der Kirche, welche ſchon von ſo vielen Reiſenden beſchrieben wurden; auch waren meine Augen wie getrübt, und meine Seele ſo voll in dieſen Stunden, daß mir das ſteinerne Schnitzwerk und alle koloſſale Pracht des heiligen Hauſes nur etwa ſo zum Bewußtſein kam wie die Zinne einer Burg, welche der Wanderer erſchaut, wenn ſie an den fernen Bergen aus dem Nebel ſteigt. Ohne daß ich wußte, wie mir geſchah, war ich aus dem Grabesmyſterium herausgetreten und hatte die Terraſſe der Kirche erſtiegen, von welcher man ganz Jeruſalem überſieht. Betäubend wie Opferdampf ſtiegen mir da Gedanken aus der Seele auf, und dem Griechen gleich, der in Delphi in ſtummem Sinnen auf die verhängnisvolle Antwort des befragten Gottes harrte, lehnte ich mich an die Kuppel des Doms zurück. Da lag ſie vor mir, die Stadt der Jahrtauſende, und erſchien mir wie die Witwe in ihrer Trauer; denn die Jahrhunderte, welche auf ihr liegen, die vor Alter ſinkenden Ölbäume, die Grabmale mit den weißen Steinen, die durchlöcherten Felſen, das zerſtreute Gemäuer und alle Schwere der Erinnerungen mahnen genugſam an die Laſt von Begebniſſen und Verluſten, die ſie ſchon in Zeiten, wohin das Denken der Geſchichte kaum reicht, getragen. Der Fremdling vermeint darum, es ſollte ſtill ſein in ihrer Mitte wie in einem Trauerhauſe, und die Menſchen auf ihren Gaſſen ſollten mit verhüllten Häuptern gehen. Aber auch dieſes Trauerhaus von Jahrhunderten iſt vom Getümmel der Erde nicht verſchont, und wo man nur ſtille Klage erwartet und frommes Sehnen, drängen ſich Käufer und Verkäufer, zudringliche Führer und gieriges Geſindel.

„Sehen Sie", ſagte mein Führer zu mir, „dieſer Weg, der zur Grabeskirche führt, iſt die Via dolorosa." Und auf dem Schmerzenswege dasſelbe Getriebe! Hier iſt kein Stein und keine Platte, die nicht Zeugen einer großen Begebenheit wären. Dieſer Raum hat den Heiligſten geſehen in all ſeiner Schmach, ihn, den Verurteilten und Leidenden, den Dorngekrönten und unter der Laſt des Kreuzes zum Tode Geführten! Welch heilige Erinnerungen ſind in dieſe Steine eingebaut, wieviel tauſend Herzen ſeit Konſtantins und Helenas Zeiten haben bei dieſem Anblicke geblutet, ſind von dieſem Anblicke getröſtet wieder von dannen gezogen! „Was willſt du klagen, kleine Seele?" ſo ſprach ich zu mir; „was iſt doch all dein Leid, das du groß nennſt über Vermögen, gegen den Jammer, der auf dieſer Bahn der Leiden und Erniedrigungen von dem Edelſten aller freiwillig iſt getragen worden!" „So ſind wir armſeliges Geſchlecht!" dachte ich und atmete freier bei dem Gedanken: „Jeder mit ſeinem kleinen Leide wähnt in ſeiner Blindheit, er leide das Höchſte, und zuletzt iſt es mit all den großen Schmerzen Täuſchung nur geweſen. Doch ſei es, wie es will, die Via dolorosa endigt am gewiſſen Ziel."

Da wollte der Gedanke mich eben in die Heimat führen, als mein Begleiter mich aus den Träumereien mit den Worten weckte: „Dort im Süden liegt Bethlehem". — Bethlehem, die anmutigſte unter den Städten! Sie liegt ſo gottgeliebt und friedlich auf dem Berge, und die hohe Sonne ſchaut ſo ruhig auf ſie, daß ich mich nicht erinnere, irgendwo einen Ort geſehen zu haben, der mit ſolcher Anmut ſolche Majeſtät verbände. Zur Linken zwiſchen den Hügeln dehnt ſich das Tal der Hirten; eng und ſtille liegt es zwiſchen den Bergen, und nur wenige Bäume bekränzen ſeinen Saum. Dort haben in der heiligen Nacht die Heerſcharen des Himmels zuerſt den Ärmſten unter dem Volke das neue Heil verkündet. Viele Klöſter erheben ſich über die Häuſer von Bethlehem, und die Kuppel, welche am höchſten emporragt, gehört der durch die Kaiſerin Helena erbauten Kirche an, welche

über der heiligen Grotte steht, da Christus geboren ist. Vom unscheinbarsten Anfang liebt das Größte aufzuwachsen, und auf dem kleinsten Schauplatz mag das umfassendste Leben sich zusammendrängen. Aber nicht allein durch die Geburt Christi ist das kleine Bethlehem zur größten unter den Städten geworden; auch durch die Geschichte der späteren Zeit ist es geadelt, denn auf dem bei Bethlehem liegenden Frankenberg haben die Helden unter den Christen gegen die Übermacht der Sarazenen sich aufs äußerste gehalten und in der Tapferkeit ihres felsenfesten Glaubens den letzten Blutstropfen verspritzt. — Der Himmel war ohne Wolke, und das schönste Wetter begünstigte die Fernsicht. Erscheint mir Jerusalem wie eine Witwe in ihrer Trauer, so liegt Bethlehem auf seinen Bergen still und schicksallos wie ein jungfräuliches Kind und in ruhigem Stolze wie eine Prophetentochter.

„Welches Namens ist dort die Burg", fragte ich den Begleiter, „welche nur einige hundert Schritte von hier auf dem Gipfel jenes Hügels steht? Jene Gruppe von Gebäuden gemahnt mich heimatlich an die Bauart in dem Weltteil, in welchem mein Vaterland sich findet." — „Das ist die Davidsburg auf Zion", sagte eintönig der Führer, nur bestätigend, was ich zuvor schon selbst gedacht. Also hier hat der Mann gehaust, der größte seinerzeit, der ein Prophet war, ein Dichter und ein König! Der Himmel ist zu karg geworden in unserer Zeit: solch' große Spenden teilt er nimmer aus, daß er demselben Manne, dem er die Worte der göttlichen Offenbarung in das Herz gibt und von den Lippen rauschen läßt, eine Leier in die Hand drückt, deren Saiten weithin, ja durch Jahrtausende, hallen, und ihm zugleich ein Diadem um das Haupt windet. Von Zion aus konnte der König Jerusalem beschauen, seine Stadt, — der Dichter ungestört des Flusses strömende Welle und das stille, grünende Tal, die Terebinthen und Olivenbäume betrachten, wie sie die Häupter der Hügel schmücken, — der Prophet aber von der Höhe der Burg den Willen des Himmels erlauschen und in ihren stillen Räumen den Geheimnissen der göttlichen Weisheit nachforschen.

„Dort außerhalb der Stadt", sagte mein Begleiter weiter, „sehen Sie das Haus, wo Christus das Abendmahl stiftete." Gegen Südost dehnt die Aussicht sich weiter. Vor dem Auge des Betrachters liegt das Tal Josaphat, die Moschee auf Morija und weiterhin der Kessel des Toten Meeres.

Es gibt wohl keinen anderen Anblick, der die Seele mit so trüben Gedanken zu füllen vermag, wie das Tal Josaphat. Ein enges Tal zwischen zwei Hügeln, deren einer den Ölberg, der andere die Stadt Jerusalem auf seiner Höhe trägt, von dem fast wasserlosen Kidron durchschlichen; und was es an Zierde hat, sind die Grabmäler, die in seinem Schoße liegen. Niemals scheint die Sonne in diese düstere Tiefe; morgens verbirgt sie sich dem Tale hinter dem Ölberg und nachmittags hinter Morija. Es ist das Tal der Schatten und der Gräber, und wer über die Brücke geht, die dort den Kidron überbaut, wird unwillkürlich von allen Schauern des Orkus beschlichen. Rechts von der Kidronbrücke befinden sich die Gräber Absaloms, Josaphats und Sacharjas. Betende liegen in der Nähe dieser Gräber hingestreckt, und eine Masse aufgeschichteter Steine, namentlich vor Absaloms Grab, vermehrt noch das Traurige dieser Stätte. Der Zorn der Türken hat diese Steine vor das Grab Absaloms geworfen. Indem sie die Steine hinwerfen vor seine Gruft, sprechen sie einen Fluch aus wider den gottlosen Sohn und wider jeden, der seinen Eltern nicht gehorcht. Ein hoher sittlicher Ernst liegt in diesem Gebrauche, und der Orientale, der mit dem durch das Tal hallenden Fluch einen Stein vor dieses Mausoleum wirft, gemahnt aufs lebhafteste an den Ernst des Gottes, der mit dem Arme seiner Stärke die böse Tat des Menschen rächt. In der Nähe vor dem Grabmale Sacharjas befindet sich eine Grotte, in welche sich Jakobus mit einigen anderen Jüngern während der Gefangennehmung Jesu geflüchtet und verborgen haben soll. Doch hinweg von diesen Gräbern, hinweg von dieser Schlucht, hinüber zum Teich Bethesda, hinauf

zur Quelle Siloah! Der Teich Bethesda erinnert an die heilende Kraft der Natur und läßt im Anblick seiner von Mauern überbauten Tiefe die von Schreckniſſen erfüllte Seele ſich einigermaßen wieder beruhigen. Am Ende des Tales Joſaphat liegt die Quelle Siloah. Könige und Propheten haben auf das Rieſeln dieſes Quells gehorcht; wenn ſie Troſt ſuchen wollten in der Bekümmernis, ſetzten ſich die Edeln in ſeine Kühle. Nirgends in der ganzen Umgegend Jeruſalems kann der Wanderer mit einem Trunke Waſſers ſich erfriſchen; nirgends findet er Schatten, um auszuruhen von der Mühſeligkeit der Reiſe; nur hier am Quell Siloah iſt ihm vergönnt, die lechzende Zunge zu erfriſchen, den vertrockneten Gaumen zu netzen und das ermattete Haupt im Schatten niederzulegen. Wenn die Frauen aus dem Dorfe Siloah kommen, um ſich Waſſer zu ſchöpfen, und die Stufen hinabſteigen, welche in den Felſen gehauen ſind, und in ſtillem Sinnen die Krüge füllen, dann meint der Reiſende in die Zeit des grauеſten Altertums ſich zurückverſetzt, und lebendig vor ſeinen Augen ſteigen jene ſchönen Bilder auf, welche die Bibel uns malt von den Töchtern der Patriarchen und dem Werben der Hirten, welche Stamm- und Erzväter wurden.

Auf Morija, dem Tempelberge, auf derſelben Stätte, wo einſt der alte jüdiſche Tempel geſtanden, ſteht mit hoch emporgewölbter Kuppel die Moſchee des Omar, nächſt der Moſchee in Mekka der Mohammedaner größtes Heiligtum; denn in ihr ſoll die Stelle ſein, wo Mohammed gen Himmel fuhr. Bei Todesſtrafe iſt der Zutritt in dieſes Heiligtum jedem andern Menſchenkinde, als dem Bekenner des Islams, verſagt. So heilig halten die Mohammedaner ihre Monumente; zu dem Allerheiligſten der Chriſten aber führen die Verehrer des Propheten den Schlüſſel.

Durch den Keſſel des Toten Meeres iſt die Ausſicht gegen Südoſt hin begrenzt. Ich ſchweige von all dem Schauerlichen, was man von dem Toten Meere erzählt; es iſt wie beſonders geſchaffen für dieſe Gegend des düſteren Schweigens und der Trauer . . . . . Von der Terraſſe auf der Grabeskirche erſcheint bisweilen das Tote Meer wie ein ſpiegelglatter See, und gern läßt man in der dürren Gegend das Auge über dasſelbe hinſchweifen.

„Dort im Oſten", ſagte der Führer zu mir, „ſehen Sie Bethanien und den Ölberg." — Nächſt Bethlehem iſt Bethanien gewiß das lieblichſte Dörflein, das weit und breit der Reiſende findet. Und welch teure Erinnerungen knüpfen ſich an dieſe Stätte! Hier hat Lazarus gewohnt und Maria und Martha; in ihrem Kreiſe hat Jeſus ausgeruht von der heiligen Arbeit, um neue Kräfte zu ſammeln zur Ausführung des ſchweren Berufs, den er über ſich genommen; hier hat der aus Jeruſalem Verſtoßene ein Obdach, der Heimatloſe eine Heimat, der von ſeinem Volk einem Miſſetäter gleich Verachtete Liebe und Ehre gefunden. Bethanien möcht' ich den Ort der ſtillen Liebe nennen; es iſt ſo einſam, ſo traulich an den Berg gebaut, rings von ſchattigen Bäumen, von grünenden Feldern umgeben, daß man, wenn man's auch nur anſchaut aus der Ferne, Wohnung darin machen möchte, umgeben von geliebten Herzen. Noch heute wallen alle Pilger beſonders gern dorthin, und viele Chriſten verweilen daſelbſt, um ſich der Erinnerung an die Stunden zu erfreuen, da Jeſus in Lazarus' Haus ausſtrahlte allen Glanz ſeiner Liebe, und wo der Geliebte Liebe um Liebe genoß. Wäre der Orient zur neuen Heimat mir beſchieden, ſo möcht' ich mit jenen Chriſten in Bethanien wohnen und oft vorübergehen an Lazarus' Haus und der Martha gedenken und ihrer Schweſter Maria. Lange ruhte mein Blick auf Bethanien, der Heimat der Seelen, welche der Herr lieb hatte, und die Seele war mir bewegt von unbeſchreiblicher Wallung.

Mit Bethanien überſieht das Auge den Ölberg. Der Ölberg — jede Spanne des Berges eine Geſchichte! Nahe am Ölberg liegt Gethſemane, unten an ſeinem Fuße der Ölgarten und oben auf dem Gipfel die Himmelfahrtskirche. Steht der Sinai in der Wüſte wie ein Berg des Zorns, ſo iſt der Ölberg mit ſeinen Bäumen wie ein Berg des Friedens anzuſchauen. Ich konnte mein Auge faſt nicht wenden

von den heiligen Hügeln; nur unvermerkt schweifte es mir hin und wieder nach Bethanien hinüber..... Noch einmal trank ich mit vollstem Zuge das heilige Schauspiel und wandte mich dann mit dem Wunsche des heimatlichen Dichters ab:

„Bleibt mir nah' mit eurem heil'gen Walten,
Hohe Bilder, himmlische Gestalten!"

## 105. Schilderungen aus Südamerika. (1806.)

**Von A. v. Humboldt.**

Ansichten der Natur. Stuttgart und Augsburg 1849. Bd. I, S. 19 u. 163. (Gekürzt.)

Wenn unter dem senkrechten Strahle der nie bewölkten Sonne die verkohlte Grasdecke in Staub zerfallen ist, klafft der erhärtete Boden auf, als wäre er von mächtigen Erdstößen erschüttert. Berühren ihn dann entgegengesetzte Luftströme, deren Streit sich in kreisender Bewegung ausgleicht, so gewährt die Ebene einen seltsamen Anblick. Als trichterförmige Wolken, die mit ihren Spitzen an der Erde hingleiten, steigt der Sand dampfartig empor — gleich den rauschenden Wasserhosen, die der erfahrene Schiffer fürchtet. Ein trübes, fast strohfarbiges Halblicht wirft die nun scheinbar niedrigere Himmelsdecke auf die verödete Flur. Der Horizont tritt plötzlich näher. Er verengt die Steppe, wie das Gemüt des Wanderers. Die heiße, staubige Erde, welche im nebelartig verschleierten Dunstkreise schwebt, vermehrt die erstickende Luftwärme. Statt Kühlung führt der Ostwind neue Glut herbei, wenn er über den langerhitzten Boden hinweht.

Auch verschwinden allmählich die Lachen, welche die gelbgebleichte Fächerpalme vor der Verdunstung schützte. Wie im eisigen Norden die Tiere durch Kälte erstarren, so schlummert hier unbeweglich das Krokodil und die Boaschlange, tief vergraben in trockenem Letten. Überall verkündet Dürre den Tod. — In finstere Staubwolken gehüllt, von Hunger und brennendem Durste geängstigt, schweifen Pferde und Rinder umher, diese dumpf aufbrüllend, jene mit langgestrecktem Halse gegen den Wind anschnaubend, um durch die Feuchtigkeit des Luftstromes die Nähe einer nicht ganz verdampften Lache zu erraten. Bedächtiger und verschlagener sucht das Maultier auf andere Weise seinen Durst zu lindern. Eine kugelförmige und dabei vielrippige Pflanze, der Melonen-Kaktus, verschließt unter seiner stacheligen Hülle ein wasserreiches Mark. Mit dem Vorderfuße schlägt das Maultier die Stacheln seitwärts und wagt es dann erst, die Lippen behutsam zu nähern und den kühlen Distelsaft zu trinken. Aber das Schöpfen aus dieser lebendigen Quelle ist nicht immer gefahrlos; oft sieht man Tiere, welche von Kaktusstacheln am Hufe gelähmt sind.

Folgt auf die brennende Hitze des Tages die Kühlung der hier immer gleich langen Nacht, so können Rinder und Pferde selbst dann nicht der Ruhe sich erfreuen. Ungeheure Fledermäuse saugen ihnen, während des Schlafes, vampirartig das Blut aus, oder hängen sich an dem Rücken fest, wo sie eiternde Wunden erregen, in welchen Moskitos und eine Schar stechender Insekten sich ansiedeln. So führen die Tiere ein schmerzenvolles Leben, wenn von der Glut der Sonne das Wasser auf dem Erdboden verschwindet.

Tritt endlich, nach langer Dürre, die wohltätige Regenzeit ein, so verändert sich plötzlich die Scene in der Steppe. Das tiefe Blau des bis dahin nie bewölkten Himmels wird lichter. Wie ein entlegenes Gebirge erscheint einzelnes Gewölk im Süden. Nebelartig breiten die Dünste sich über den Zenit aus. Den belebenden Regen verkündigt der ferne Donner. Kaum ist die Oberfläche der Erde benetzt, so überzieht sich die duftende Steppe mit mannigfaltigen Gräsern. Vom Lichte gereizt, entfalten krautartige Mimosen ihre gesenkt schlummernden Blätter und begrüßen die aufgehende Sonne, wie der Frühgesang der Vögel und die sich öffnenden Blüten der Wasserpflanzen. Pferde und Rinder weiden nun im frohen Genusse des Lebens. Das hoch aufschießende Gras birgt den schön gefleckten Jaguar. Im sicheren Verstecke auflauernd, erhascht er die vorüberziehenden Tiere, katzenartig, wie der asiatische Tiger. Bisweilen sieht man (so

erzählen die Eingeborenen) an den Ufern der Sümpfe den befeuchteten Letten sich langsam und schollenweise erheben. Mit heftigem Getöse, wie beim Ausbruche kleiner Schlammvulkane, wird die aufgewühlte Erde hoch in die Luft geschleudert. Wer des Anblickes kundig ist, flieht die Erscheinung; denn eine riesenhafte Wasserschlange oder ein gepanzertes Krokodil steigen aus der Gruft hervor, durch den ersten Regenguſs aus dem Scheintode erweckt.

Schwellen nun allmählich die Flüsse, so zwingt die Natur dieselben Tiere, welche in der ersten Jahreshälfte auf dem wasserleeren, staubigen Boden vor Durst verschmachteten, als Amphibien zu leben. Ein Teil der Steppe erscheint nun wie ein unermeſsliches Binnenwasser. Die Mutterpferde ziehen sich mit den Füllen auf die höheren Bänke zurück, welche inselförmig über dem Seespiegel hervorragen. Mit jedem Tage verengt sich der trockene Raum. Aus Mangel an Weide schwimmen die zusammengedrängten Tiere stundenlang umher und nähren sich kärglich von der blühenden Grasrispe, die sich über dem braun gefärbten, gärenden Wasser erhebt. Viele Füllen ertrinken, viele werden von den Krokodilen erhascht, mit dem zackigen Schwanze zerschmettert und verschlungen. Nicht selten bemerkt man Pferde und Rinder, die, dem Rachen dieser blutgierigen Eidechsen entschlüpft, die Spur des spitzigen Zahnes am Schenkel tragen.

Ein solcher Anblick erinnert unwillkürlich den ernsten Beobachter an die Biegsamkeit, mit welcher die alles aneignende Natur gewisse Tiere und Pflanzen begabt hat. Wie die mehlreichen Getreidearten, so sind Stier und Roſs dem Menschen über den ganzen Erdkreis gefolgt; vom Ganges bis an den Platastrom, von der afrikanischen Meeresküste bis zur Gebirgsebene des Antisana, welche höher als der Kegelberg von Teneriffa liegt. Hier schützt die nordische Birke, dort die Dattelpalme den ermüdeten Stier vor dem Strahle der Mittagssonne. Dieselbe Tiergattung, welche im östlichen Europa mit Bären und Wölfen kämpft, wird unter einem andern Himmelsstriche von den Angriffen der Tiger und der Krokodile bedroht. Aber nicht die Krokodile und der Jaguar allein stellen den südamerikanischen Pferden nach; auch unter den Fischen haben sie einen gefährlichen Feind. Die Sumpfwasser von Bera und Rastro sind mit zahllosen elektrischen Aalen gefüllt, deren schleimiger, gelbgefleckter Körper aus jedem Teile die erschütternde Kraft nach Willkür aussendet. Diese Gymnoten haben 5—6 Fuſs Länge. Sie sind mächtig genug, die gröſsten Tiere zu töten, wenn sie ihre nervenreichen Organe auf einmal in günstiger Richtung entladen. Die Steppenstraſse von Urituou muſste einst verändert werden, weil sich die Gymnoten in solcher Menge in einem Flüſschen angehäuft hatten, daſs jährlich vor Betäubung viele Pferde in der Furt ertranken. Auch fliehen alle anderen Fische die Nähe dieser furchtbaren Aale. Selbst den Angelnden am hohen Ufer schrecken sie, wenn die feuchte Schnur ihm die Erschütterung aus der Ferne zuleitet. So bricht hier elektrisches Feuer aus dem Schoſse der Gewässer aus. Ein malerisches Schauspiel gewährt der Fang der Gymnoten. Man jagt Maultiere und Pferde in einen Sumpf, den die Indianer eng umzingeln, bis der ungewohnte Lärm die mutigen Fische zum Angriffe reizt. Schlangenartig sieht man sie auf dem Wasser schwimmen und sich verschlagen unter den Bauch der Pferde drängen. Von diesen erliegen viele der Stärke unsichtbarer Schläge. Mit gesträubter Mähne, schnaubend, wilde Angst im funkelnden Auge, fliehen andere das tobende Ungewitter. Aber die Indianer, mit langen Bambusstäben bewaffnet, treiben sie in die Mitte der Lache zurück. Allmählich läſst die Wut des ungleichen Kampfes nach. Wie entladene Wolken zerstreuen sich die ermüdeten Fische. Sie bedürfen einer langen Ruhe und einer reichlichen Nahrung, um zu sammeln, was sie an galvanischer Kraft verschwendet haben. Schwächer und schwächer erschüttern nun allmählich ihre Schläge. Vom Geräusche der stampfenden Pferde erschreckt, nahen sie sich furchtsam dem Ufer, wo sie mit Harpunen verwundet und mit dürrem, nicht leitendem Holze auf die Steppe gezogen werden.

Nördlich zwischen der Gebirgskette von Venezuela und dem Antillischen Meere liegen gewerbsame Städte, reinliche Dörfer und sorgsam behaute Fluren aneinandergedrängt. Selbst Kunstsinn, wissenschaftliche Bildung und die edle Liebe zu Bürgerfreiheit sind längst darinnen erwacht. Gegen Süden umgibt die Steppe eine schauervolle Wildnis. Tausendjährige Wälder, ein undurchdringliches Dickicht erfüllen den feuchten Erdstrich zwischen dem Orinoko und dem Amazonenstrome. Mächtige, bleifarbige Granitmassen verengen das Bett der schäumenden Flüsse. Berge und Wälder hallen wider von dem Donner der stürzenden Wasser, von dem Gebrüll des Jaguars und dem dumpfen, Regen verkündenden Geheule der bärtigen Affen. Wo der seichte Strom eine Sandbank übrig läfst, da liegen mit offenem Rachen, unbeweglich wie Felsstücke hingestreckt, oft mit Vögeln[1]) bedeckt, die ungeschlachten Körper der Krokodile. Den Schwanz um einen Baumast befestigt, zusammengerollt, lauert am Ufer, ihrer Beute gewifs, die schachbrett-fleckige Boaschlange. Schnell entrollt und vorgestreckt, ergreift sie in der Furt den jungen Stier oder das schwächere Wildbret und zwängt den Rauh, in Geifer gehüllt, mühsam durch den schwellenden[2]) Hals. In dieser grofsen und wilden Natur leben mannigfaltige Geschlechter der Menschen. Durch wunderbare Verschiedenheit der Sprachen gesondert, sind einige, nomadisch, dem Ackerbau fremd, Ameisen, Gummi und Erde genieſsend, ein Auswurf der Menschheit (wie die Otomaken und Jaruren); andere, angesiedelt, von selbsterzielten Früchten sich nährend, verständig und sanfterer Sitten (wie die Maquiritarer und Makos). Grofse Räume zwischen dem Cassiquiare und dem Atabapo sind nur vom Tapir und von geselligen Affen, nicht von Menschen bewohnt. In Felsen gegrabene Bilder beweisen, dafs auch diese Einöde einst der Sitz höherer Kultur war. Sie zeugen für die wechselnden Schicksale der Völker, wie es auch die ungleich entwickelten, biegsamen Sprachen tun, die zu den unvergänglichsten historischen Denkmälern der Menschheit gehören. Wenn aber in der Steppe Tiger und Krokodile mit Pferden und Rindern kämpfen, so sehen wir dagegen an ihrem waldigen Ufer, in den Wildnissen der Guyana, ewig den Menschen gegen den Menschen gerüstet. Mit unnatürlicher Begier trinken hier einzelne Völkerstämme das ausgesogene Blut ihrer Feinde; andere würgen, scheinbar waffenlos und doch zum Morde vorbereitet, mit vergiftetem Daumnagel. Die schwächeren Horden, wenn sie das sandige Ufer betreten, vertilgen sorgsam mit den Händen die Spur ihrer schüchternen Tritte. So bereitet der Mensch auf der untersten Stufe tierischer Roheit, so im Scheinglanze seiner höheren Bildung sich stets ein mühevolles Leben. So verfolgt den Wanderer über den weiten Erdkreis, über Meer und Land, wie den Geschichtsforscher durch alle Jahrhunderte, das einförmige, trostlose Bild des entzweiten Geschlechts. Darum versenkt, wer im ungeschlichteten Zwiste der Völker nach geistiger Ruhe streht, gern den Blick in das stille Leben der Pflanzen und in der heiligen Naturkraft inneres Wirken; oder hingegeben dem angestammten Triebe, der seit Jahrtausenden der Menschen Brust durchglüht, blickt er ahnungsvoll aufwärts zu den hohen Gestirnen, welche in ungestörtem Einklange die alte ewige Bahn vollenden.....

An den Küsten von Cumaná, Neu-Barcelona und Carácas, welche die Franziskanermönche der Guyana auf ihrer Rückkehr aus den Missionen besuchen, ist die Sage von erdefressenden Menschen am Orinoko verbreitet. Wir haben am 6. Junius 1800 auf unserer Rückreise vom Rio Negro, als wir in 36 Tagen den Orinoko herabschifften, einen Tag in der Mission zugebracht, die von den erdefressenden Otomaken bewohnt wird. Das Dörfchen heifst La Conception und ist sehr malerisch an einen Granitfelsen angelehnt. Die Erde, welche die Otomaken verzehren, ist ein fetter, milder Letten, wahrer Töpferton

---

[1]) Die Krokodile liegen so unbeweglich, dafs ich Flamingos auf ihrem Kopfe ruhend gesehen habe. Der ganze Leib war dabei, wie ein Baumstamm, mit Wasservögeln bedeckt.

[2]) Der Speichel, mit dem die Boa ihre Beute bedeckt, vermehrt die schnelle Fäulnis. Das Muskelfleisch wird dadurch erweicht, so dafs die Schlange ganze Glieder des erlegten Tieres durch den schwellenden Hals zwängt.

von gelblichgrauer Farbe, mit etwas Eisenoxyd gefärbt. Sie wählen ihn sorgfältig aus und suchen ihn in eigenen Bänken am Ufer des Orinoko und Meta. Sie unterscheiden im Geschmack eine Erdart von der andern, denn aller Letten ist ihnen nicht gleich angenehm. Sie kneten diese Erde in Kugeln von 4—6 Zoll Durchmesser zusammen und brennen sie äufserlich bei schwachem Feuer, bis die Rinde rötlich wird. Beim Essen wird die Kugel wieder befeuchtet. Diese Indianer sind gröfstenteils wilde, Pflanzenbau verabscheuende Menschen. Es ist ein Sprichwort unter den entferntesten Nationen am Orinoko, von etwas recht Unreinlichem zu sagen: „So schmutzig, dafs es der Otomake frifst". Solange der Orinoko und der Meta niedriges Wasser haben, leben diese Menschen von Fischen und Schildkröten. Erstere werden durch Pfeile erlegt, wenn sie auf die Oberfläche des Wassers kommen, — eine Jagd, bei der wir oft die grofse Geschicklichkeit der Indianer bewundert haben. Schwellen die Ströme periodisch an, so hört der Fischfang auf; denn im tiefen Flufswasser ist es so schwer als im tiefen Ozean zu fischen. In dieser Zwischenzeit, die 2—3 Monate dauert, sieht man die Otomaken ungeheure Quantitäten Erde verschlingen. Wir haben in ihren Hütten grofse Vorräte davon gefunden, pyramidale Haufen, in denen die Lettenkugeln zusammengehäuft waren. Ein Indianer verzehrt, wie uns der verständige Mönch Fray Ramon Bueno, aus Madrid gebürtig (der 12 Jahre lang unter diesen Indianern lebte), versicherte, an einem Tage $^3/_4$—$1\frac{1}{4}$ Pfund. Nach der Aussage der Otomaken selbst ist diese Erde während der Regenzeit ihre Hauptnahrung. Sie essen indessen dabei hier und da (wenn sie es sich verschaffen können) eine Eidechse, einen kleinen Fisch und eine Farnkraut-Wurzel. Ja sie sind nach dem Letten so lüstern, dafs sie selbst in der trockenen Jahreszeit, wenn sie Fischnahrung genug haben, doch als Leckerbissen täglich nach der Mahlzeit etwas Erde verzehren. Diese Menschen haben eine dunkel-kupferbraune Farbe. Sie sind von unangenehmen, tartarischen Gesichtszügen, feist, aber nicht dickbäuchig. Der Franziskanermönch, welcher als Missionar unter ihnen lebt, versichert, dafs er in dem Befinden der Otomaken während des Erdeverschlingens keine Veränderung bemerkte.

Die einfachen Tatsachen sind also diese: Die Indianer verzehren grofse Quantitäten Letten, ohne ihrer Gesundheit zu schaden; sie selbst halten die Erde für einen Nahrungsstoff, d. h. sie fühlen sich durch ihren Genufs auf lange Zeit gesättigt. Sie schreiben diese Sättigung dem Letten, nicht der anderweitigen sparsamen Nahrung zu, welche sie sich neben der Erde hier und da zu verschaffen wissen. Befragt man den Otomaken nach seinem Wintervorrat (Winter pflegt man im heifsen Südamerika die Regenzeit zu nennen), so zeigt er auf die Erdhaufen in seiner Hütte. Aber diese einfachen Tatsachen entscheiden gar noch nicht die Fragen: kann der Letten wirklich Nahrungsstoff sein; können Erden assimiliert werden; oder dienen sie nur als Ballast im Magen; dehnen sie blofs die Wände desselben aus und verscheuchen sie auf diese Weise den Hunger? Über alle diese Fragen kann ich nicht entscheiden. Dafs die Otomaken durch den Genufs so vieler Erde nicht erkranken, scheint mir besonders auffallend. Ist dieses Volk seit vielen Generationen an diesen Reiz gewöhnt? In allen Tropenländern haben die Menschen eine wunderbare, fast unwiderstehliche Begierde, Erde zu verschlingen, und zwar nicht sogenannte alkalische (Kalkerde), um etwa Säuren zu neutralisieren, sondern fetten, starkriechenden Letten. Kinder mufs man oft einsperren, damit sie nach frischgefallenem Regen nicht ins Freie laufen und Erde essen. Die indianischen Weiber, die am Magdalenenflusse im Dörfchen Banco Töpfe drehen, fahren, wie ich mit Verwunderung gesehen, während der Arbeit mit grofsen Portionen Letten nach dem Munde. Aufser den Otomaken erkranken die Individuen aller anderen Völkerstämme, wenn sie dieser sonderbaren Neigung nach dem Genusse des Lettens lange nachgeben. In der Mission San Borja fanden wir das Kind einer Indianerin, das nach Aussage der Mutter gar nichts als Erde geniefsen wollte, dabei aber auch schon skelettartig abgezehrt war. Warum ist in den gemäfsigten und kalten Zonen diese krankhafte Begierde nach Erde um so viel seltener? Ja, man darf behaupten, dafs in den

Tropenländern aller Weltteile das Erdeessen einheimisch sei. In Guinea essen die Neger eine gelbliche Erde, welche sie Caouac nennen. Werden sie als Sklaven nach Westindien gebracht, so suchen sie sich dort eine ähnliche zu verschaffen. Sie versichern dabei, das Erdeessen sei in ihrem afrikanischen Vaterlande ganz unschädlich. Dagegen macht der Caouac der amerikanischen Inseln die Sklaven krank. Deshalb war längst das Erdeessen auf den Antillen verboten, ob man gleichwohl 1751 in Martinique heimlich Erde auf den Märkten verkaufte. Auf der Insel Java zwischen Surabaya und Samarang sah Labillardière in den Dörfern kleine, viereckige, rötliche Kuchen verkaufen. Die Eingeborenen nennen sie Tanaampo. Als er sie näher untersuchte, fand er, daſs es Kuchen von rötlichem Letten waren, welche gegessen werden. Die Einwohner von Neu-Kaledonien essen, um ihren Hunger zu stillen, faustgroſse Stücke von zerreiblichem Speckstein, in dem Vanquelin einen nicht unbeträchtlichen Kupfergehalt gefunden. In Popayan und in mehreren Teilen von Peru wird Kalkerde als Eſsware für die Indianer in den Straſsen feilgeboten. Dieser Kalk wird mit der Coca genossen. So finden wir das Erdeessen in der ganzen heiſsen Zone unter trägen Menschenrassen verbreitet, welche die herrlichsten und fruchtbarsten Teile der Welt bewohnen.

## 106. Das Kreuz des Südens.

Von A. v. Humboldt.

Reiſe in die Aquinoktialgegenden des neuen Kontinents. In deutscher Bearbeitung von H. Hauff. Stuttgart 1860. Bd. I, S. 181.

Seit unſerem Eintritt in die heiſse Zone wurden wir nicht müde, in jeder Nacht die Schönheit des südlichen Himmels zu bewundern, an dem, je weiter wir nach Süden vorrückten, immer neue Sternbilder vor unſeren Blicken aufſtiegen. Ein sonderbares, bis jetzt ganz unbekanntes Gefühl wird in einem rege, wenn man dem Äquator zu, und namentlich beim Übergang aus der einen Halbkugel in die andere, die Sterne, die man von Kindheit auf kennt, immer tiefer hinabrücken und endlich verschwinden sieht. Nichts mahnt den Reisenden so auffallend an die ungeheure Entfernung seiner Heimat, als der Anblick eines neuen Himmels. Die Gruppierung der groſsen Sterne, einige zerstreute Nebelflecke, die an Glanz mit der Milchstraſse wetteifern, Strecken, die sich durch ihr tiefes Schwarz auszeichnen, geben dem Südhimmel eine ganz eigentümliche Phyſiognomie. Dieſes Schauspiel regt selbst die Einbildungskraft von Menschen auf, die den phyſischen Wissenschaften sehr ferne stehen und zum Himmelsgewölbe aufblicken, wie man eine schöne Landschaft oder eine groſsartige Aussicht bewundert. Man braucht kein Botaniker zu sein, um schon am Anblick der Pflanzenwelt den heiſsen Erdstrich zu erkennen, und wer auch keine astronomischen Kenntnisse hat, wer von Flamsteads und Lacailles Himmelskarten nichts weiſs, fühlt, daſs er nicht in Europa ist, wenn er das ungeheure Sternbild des Schiffs oder die leuchtenden Magellanischen Wolken am Horizont aufsteigen sieht. Erde und Himmel, allem in den Äquinoktialländern drückt sich der Stempel des Fremdartigen auf.

Die niedrigen Luftregionen waren seit einigen Tagen mit Dunst erfüllt. Erst in der Nacht vom 4. zum 5. Juli unter 16 Grad Breite, sahen wir das südliche Kreuz zum erstenmal deutlich; es war stark geneigt und erschien von Zeit zu Zeit zwischen den Wolken, deren Mittelpunkt, wenn das Wetterleuchten dadurch hinzuckte, wie Silberlicht aufflammte. Wenn es einem Reisenden gestattet ist, von seinen persönlichen Empfindungen zu sprechen, so darf ich sagen, daſs ich in dieser Nacht einen der Träume meiner früheſten Jugend in Erfüllung gehen sah.

Unſere Freude beim Erscheinen des südlichen Kreuzes wurde lebhaft von denjenigen unter der Mannschaft geteilt, die in den Kolonieen gelebt hatten. In der Meereseinsamkeit begrüſst man einen Stern wie einen Freund, von dem man lange Zeit getrennt gewesen. Bei den Portugiesen und Spaniern steigert sich diese gemütliche Teilnahme noch durch besondere Gründe: religiöses Gefühl zieht sie zu einem

Sternbild hin, dessen Gestalt an das Wahrzeichen des Glaubens mahnt, das ihre Väter in den Einöden der neuen Welt aufgepflanzt.

Da die zwei großen Sterne, welche Spitze und Fuß des Kreuzes bezeichnen, ungefähr dieselbe Rektaszension haben, so muß das Sternbild, wenn es durch den Meridian geht, fast senkrecht stehen. Dieser Umstand ist allen Völkern jenseits des Wendekreises und in der südlichen Halbkugel bekannt. Man hat sich gemerkt, zu welcher Zeit bei Nacht in den verschiedenen Jahreszeiten das südliche Kreuz aufrecht oder geneigt ist. Es ist eine Uhr, die sehr regelmäßig etwa vier Minuten im Tag vorgeht, und an keiner anderen Sterngruppe läßt sich die Zeit mit bloßem Auge so genau beobachten. Wie oft haben wir unsere Führer in den Savannen von Venezuela oder in der Wüste zwischen Lima und Truxillo sagen hören: „Mitternacht ist vorüber, das Kreuz fängt an sich zu neigen!"

# C. Schilderungen, Abhandlungen und Reden.

## (Stilgattungen.)

### 107. Beschreibung eines Gemäldes, welches eine Scene aus Schillers „Taucher" darstellt.

Von A. Gude.

Erläuterungen deutscher Dichtungen. Leipzig 1878. 2. Reihe, S. 211.

Auf der linken Seite des Vordergrundes sieht man eine weit in das Meer ragende Klippe, auf der eine bunte Gruppe, aus Rittern und Frauen bestehend, versammelt ist. Die Hauptfigur bildet der König, mit einem Purpurmantel geschmückt. In seinem wie aus kaltem Marmor gemeißelten Gesichte liegt herausfordernde, gebietende Härte. Kein Zug von Weichheit oder Mitgefühl ist zu finden. Er läßt die Hand sinken, die eben den Becher zum zweitenmal in den klaffenden Meeresschlund geschleudert hat. Und gleichsam, als ob sich das Meer in seinem tiefsten Innern über die frevelhafte Herausforderung des Königs empöre, tost und brandet und kocht es bis zu dem fernen Horizonte. Die ergrimmten Wellen fahren mit Ungestüm in die Höhe, um im nächsten Augenblick ihr weißes, gekräuseltes Haupt in die Tiefe zu stürzen. Sie scheinen die Klippe in ihrer Wut verschlingen zu wollen. Zu diesem aufgeregten Elemente bildet die Menschengruppe auf der Klippe einen grellen Kontrast. Ritter und Frauen sind über des Königs Begehren wie versteinert. Während einige Frauen mit Schrecken sehen, daß sich das Spiel um Leben und Tod wiederholt, blicken andere voll Teilnahme nach dem jungen Paare. Einzelne der jüngeren Ritter ermuntern durch lebhafte Zeichen des Beifalls den Knappen; die älteren hingegen äußern ihre Mißbilligung. Auf ihren vom Alter gefurchten Gesichtern prägt sich Entrüstung aus. Ihre Augen sind auf den herrlichen Jüngling gerichtet, welcher erst vor wenigen Augenblicken wie durch ein Wunder dem Tode entronnen ist. Aus seinen vollen Locken trieft noch das Wasser. Er steht in ehrerbietiger Ferne vom Herrscher, am Rande der Klippe, und ist bereit, sich noch einmal in den Schlund zu stürzen. In seiner Haltung wie in seinem Ausdruck liegt männliche Entschlossenheit und Kühnheit. Aber nur schüchtern erhebt er den Blick zum hohen Preise, zur Königstochter, die vor Weh fast zusammenbricht. Die feinen Züge des Gesichts, dessen Blässe durch die dunkle Farbe des üppigen Haares noch mehr hervortritt, erbeben im Schmerz um den Geliebten. Die jugendlich-schlanke Gestalt droht hinzusinken wie ein schwaches Rohr. Vergebens fleht ihr tränenfeuchtes Auge zum Vater, der jeder Regung des Herzens bar zu sein scheint. Wie

eine Ahnung, wenn sie mit der Liebe Hand in Hand geht, nicht täuscht, so fühlt auch hier die Prinzessin, daß der Jüngling nie wieder zu ihr zurückkehren wird. Die Zukunft liegt vor ihr schwarz wie das Meer, unheimlich wie der Himmel, an welchem die Wolken vorüberjagen und die düsteren Schatten mit dem blutigen Abendrote vermischen, das die ganze Scene mit einem schaurigen, eigentümlichen Lichte übergießt.

## 108. Die Wiederkehr des Frühlings.

Von Kl. Harms.

Winter- und Sommerpostille. Leipzig 1846. Tl. I, S. 469.

Überall ist Leben, junges, frisches, fröhliches Leben, zwar nach einem Kampfe, der mehrere Wochen gedauert hat. Der kalte Ost widerstand lange dem sanften Weste. Doch die Vögel waren gewiß, daß dieser bald siegen würde; daher sang die Lerche längst ihren Jubel, daher kam der Storch in die Armut unserer Gegend, wohl wissend, wie reich sie bald würde, und unsere Kinder wurden von schwachen Sonnenstrahlen auf ihre Spielplätze gelockt, in ihrem Blute fühlend, daß der Frühling käme. Nun ist er da. Der schwere Kampf zwischen Leben und Tod ist ausgekämpft. Alles lebt, die ganze Natur lebt wieder. Sehet hinaus! die Erde trägt Grün, täglich wächst die junge Saat höher, immer dichter wird das Gras, das Leben kocht in Pflanzen und Bäumen, jeden Morgen hat sich eine neue Blume aufgetan, jeden Morgen haben sich tausend Blüten entfaltet; Millionen liegen an den Brüsten der Natur und saugen Leben ein; Millionen, unzählige Millionen Pflanzen und Samenkörner werden von Gärtners und Landmannes Händen ihr an die Brüste gelegt, daß sie denselben Milch und Leben gebe, mit zu schmücken den Garten, mit zu zieren das Feld, mit zu füllen dereinst die Scheuern der Menschen. Alles lebt. Wo kommt ihr her, die wir tot glaubten? Du Gewürm, erstarrt und begraben, durchbrichst die Erde, die dich deckte, und wimmelst umher, wohin wir nur unsern Fuß setzten. Woher ihr Mücken im Sonnenstrahl? Wir sahen euch lange nicht, und nun schwärmen Wolken von euch auf jedem Pfade. Ihr Bienen des Stocks, wer weckt euch aus dem trägen, tiefen Schlummer, daß ihr jetzt voll regen Lebens um jeden Blumen- und Blütenkelch summet? Ihr Fische in den Gründen, wer ruft euch herauf an den klaren Wasserspiegel, und ihr Vögel in den Lüften, wer locket euch aus euren Todeshöhlen hervor in bunter Zahl, daß ihr jetzt die Höhe bevölkert und den stillen Morgen mit euren Liedern begrüßt? Das tut der Frühling, der da ist ein Lebengeber der ganzen Natur.

## 109. Die Fülle des Sommers.

Von Kl. Harms.

Winter- und Sommerpostille. Leipzig 1846. Tl. II, S. 208.

Kaum, daß man ein Blatt findet, das nicht zahlreich bewohnt wäre, kaum, daß wir einen Schritt tun können, ohne Lebendiges vor unseren Füßen wahrzunehmen! Wolken von kleinem Geflügel spielen im Sonnenschein! Nirgends, nirgends, o Mensch, bist du in dieser Zeit allein. Es wühlt unter deinem Sitze; es zirpt dir zur Seite; es schwebt über deinem Haupte; es singt hinter dir; es flattert vor dir: überall ist des Lebendigen Fülle zu dieser Sommerzeit. Es sind Wesen, die mit sein wollen auf dieser Erde nach ihres Schöpfers Willen; denen er angewiesen hat ihren Ort; denen er gegeben hat zu dem Bedürfnis die Werkzeuge, es zu befriedigen; denen mehrere und wenigere Sinne aufgetan sind, weiter zu dringen als zu dem, was sie berühren; die den Schmerz und die Freude kennen und die Freude suchen wie du, o Mensch, und dir verwandt sind. Wolltest du verachten der eins, nicht eines Anblicks, nicht eines Gedankens sie würdigen? Du kannst hundert töten mit einem Fußtritt, aber auch ein einziges bilden? Nein, mußt du bekennen, dazu gehört eine Gotteshand, Gottes Allmachtshand; wie stark auch dein Arm, wie be-

hende deine Finger und Werkzeuge, wie kunstreich dein Verstand ist, so kannst du kein einziges schaffen, von welchen Gott so viele tausendmal Tausende geschaffen hat, dermaßen, daß du nicht zählen kannst, wieweit du mit deinen Augen nur reichst, nicht zählen kannst, wieviel auf einem einzigen Baum nur lebet, denn es ist allenthalben voll von allerlei Art, wogt und treibt, wimmelt und summt in lauter Fülle, Lebensfülle, zur Sommerszeit. Das nötigt uns eine hohe Bewunderung ab.

Und aller Augen warten auf ihn, daß er ihnen Speise gebe. Gott gibt auch. Sehet die Fülle von Nahrung zur Sommerszeit und bewundert den Schöpfer! Stellet euch die Erde leer vor, wie sie es ist zur Winterszeit, und denket euch auf diese leere, nackte Erde alle die Millionen Lebendiger, deren Leben entfleucht, sobald die Nahrung gebricht; gedenket des Rindes, welche Haufen eines schon braucht, um versorgt zu werden ein Jahr lang, und so viele Tausende sollen doch Nahrung haben: muß da nicht die ganze Erde bedeckt werden mit Speise? nicht genug, — mit Speise, die sich jeden Morgen vermehrt und erneuet hat? Wie wir es auch finden! Die ganze Erde ist überzogen mit einem Teppich, ist wie ein Tisch, der nicht leer wird, da Gottes Hand immer von neuem aufträgt. Und er sättiget alles mit Wohlgefallen. Die Raupe findet ihr Blatt, die Biene ihren Blütenkelch, das Rind sein Futter, und der Mensch sein Brot. O Gott, welche Wunder verrichtest du zur Sommerszeit! wieweit, wieweit tust du deine milde Hand auf! Wir übersehen's nicht, verstehen's nicht; aber bewundern können wir deine Weisheit und Allmacht in solcher Lebens- und Nahrungsfülle.

## 110. Der Herbst ein Treiber zu Fleiß und Arbeit.

Von Kl. Harms.

Winter- und Sommerpostille. Leipzig 1846. Tl. II, S. 337.

Immer kälter die Luft, immer rauher die Winde, immer kürzer die Tage, das ist der Herbst, welcher spricht: „Was du tun willst, das tue bald, du kannst nicht graben im Frost, du kannst in den Schnee nicht säen.“ Wenn wir in diesen Wochen das Feld betrachten, welcher Fleiß und welche Arbeit, zu der das Tageslicht kaum hinreicht, stellt sich uns vor Augen! Das macht der Herbst, welcher ist ein Treiber zu Fleiß und Arbeit. Die späteren Früchte, mit welcher Aufmerksamkeit und Hastigkeit werden sie geerntet! die späteren Saaten, mit welcher Anstrengung der Menschen und des Viehes werden sie beschafft! Des Ackers Bereitung aufs nächste Jahr, Mond und Sternenlicht muß dazu leuchten, weil die Sonne nicht mehr lange genug scheint! Und wer im Sommer behindert worden oder in den früheren Erntetagen, wie geschäftig sehen wir den jetzt, noch zu sammeln, was zu sammeln ist, zu bergen, was zu bergen ist, daß er habe auf den Winter, welcher nur zehrt und nicht nährt, und noch zu tun, wozu es bald nicht die Zeit mehr sein wird! Aber lasset den Herbst doch nicht allein für den Landbebauer und den Landbewohner einen Treiber zu Fleiß und Arbeit sein, er sei es für alle, da einem jeden sein Feld ja angewiesen ist. Nämlich sein Amt, sein Geschäft, sein Beruf ist einem jeden sein Feld, und schon das Kind, welches noch zur Schule geht, soll arbeiten auf diesem seinem Felde. Laßt uns den Treiber hören! Er spricht: „Was du tun willst, das tue bald. Du willst Samen streuen in die Seelen deiner Söhne und Töchter: so säume nicht, bis es zu spät wird, bis ihre Seelen verhärtet sind!“ Der Herbst sagt uns, daß der Winter komme. — Du willst an deiner eigenen Besserung arbeiten. O daß es dein redlicher Wille wäre! Drum säume nicht; es möchte der Tod zu schnell kommen und dich ins Grab ziehen als einen Sünder vor Menschen und vor Gott. Siehe, wie jetzt alles in der Natur zu Grabe geht. — Du willst von nun an dein Amt gewissenhafter führen, nicht länger hören des Vorteils Ruf und der Bequemlichkeit Lockung. O höre auch den Treiber zu Fleiß und Arbeit, was der Herbst spricht: „Eile, eh' der Winter des Lebens kommt und dir unmöglich macht auszuführen, was

du jetzt beſchließeſt!“ Da wollte noch mancher Landmann ein Feld beſtellen und iſt zu ſpät gekommen. — Du willſt noch Menſchen glücklich machen, wie du Gelegenheit und Vermögen dazu haſt: zögere nicht! Es kann bald Schnee und zuviel Schnee auf dich fallen, Stürme der Zeit können dich erreichen, daß du ſelber kaum ſtehen, ſelber kaum fortkommen kannſt. Wegen herbſtlichen Unwetters kommt manche Feldarbeit nicht zuſtande. — Du willſt für die Deinen noch eine gute Tat tun: „Was du tun willſt, das tue bald“, iſt die Herbſtlehre. Eben hing jenes Blatt noch am Baume feſt, jetzt iſt es abgefallen: ſo ſchnell kannſt du auch, ein Blatt, abfallen vom Baum des Lebens. Ach, ſehet und zählet, wenn ihr ſie zählen könnt, die Unglücklichen, welche zu ſpät gekommen ſind, weil ſie die Lehre des Herbſtes nicht achteten, — die bekümmerten Eltern, welche den Sinn der Kinder nicht mehr zu beugen imſtande ſind, — die verſtockten Sünder, in deren Gemüt weder die Schärfe des Geſetzes noch die Wärme des Evangeliums mehr einzudringen vermag, — die Trägen im wichtigen Amt, die noch ſäen wollten, als ſie das Feld der Wirkſamkeit völlig hatten verwildern laſſen und die Zeit zur Reinigung desſelben verſchwunden war, — die ſäumigen Menſchenfreunde, welche die Klagen der Unglücklichen lange ohne Rührung angehört hatten und erſt kamen, da es zu ſpät war. Ach, ſehet und zählet, wenn ihr ſie zähten könnt, die Tränen eines ſchlechten Familienvaters um ſein hungerndes Weib und ſeine nackten Kinder. Auf die Zukunft verließ ſich der Verſorger, wagte viel und brachte ſein Gut hindurch. Nun iſt die Zukunft da und hat nichts gebracht als die traurige Frage: Was ſollen wir eſſen? womit uns kleiden? Er möchte geben und hat nicht, möchte arbeiten und kann nicht; er kann nur mitſeufzen, mitweinen, — denn er hörte nicht beizeiten den Treiber zu Fleiß und Arbeit. O höret ihn doch, da ihr noch Zeit habet! Fraget den Herbſt: „Werd' ich den Frühling erleben, die Vögel wiederſehen und das Kommen neuer Blätter; ob noch ein halbes Jahr Zeit?“ Er ſpricht: „Wie du ſieheſt! was du tun willſt, das tue bald; ich kann nur treiben zu Fleiß und Arbeit.“

## III. Die Charaktere in „Hermann und Dorothea“.

Von A. W. v. Schlegel.

Sämtliche Werke. Herausgegeben von E. Böcking. Leipzig 1846. Bd. XI, S. 208.

So einfach wie die Geſchichte, iſt auch die Zeichnung der Charaktere. Alle ſtarken Kontraſte ſind vermieden, und nur durch ganz milde Schatten iſt das Licht auf dem Gemälde geſchloſſen, das eben dadurch harmoniſche Haltung hat. Bei Hermanns Vater wird die mäßige Zugabe von Eigenheiten, von unbilliger Laune, von behaglichem Bewußtſein ſeiner Wohlhabenheit, das ſich durch Streben nach einer etwas vornehmeren Lebensart äußert, durch die ſchätzbarſten Eigenſchaften des wackeren Bürgers, Gatten und Vaters reichlich vergütet. Der Apotheker unterhält uns auf ſeine Unkoſten; aber er tut es mit ſoviel Gutmütigkeit, daß er nirgends Unwillen erregt, und ſelbſt ſein offenherziger Egoismus, von dem man anfangs Gegenwirkung befürchtet, iſt harmlos. Dergleichen naiv-luſtige Züge ſind ganz im Geiſte der epiſchen Gattung; denn ihr iſt jene idealiſche Abſonderung der urſprünglich gemiſchten Beſtandteile der menſchlichen Natur fremd, woraus erſt das rein Komiſche und Tragiſche entſteht. Übrigens kann man Herzlichkeit, Geradſinn und geſunden Verſtand den allgemeinen Charakter der handelnden Perſonen nennen; und doch ſind ſie durch die gehörigen Abſtufungen individuell wahr beſtimmt. Bei der Mutter, dem Pfarrer und dem Richter wird es ſchwer, zu unterſcheiden, wo die ſittliche Würde am reinſten hervorleuchtet. Wie ſchön gedacht iſt es, bei Hermann die kraftvolle Gediegenheit ſeines ganzen Weſens mit einem gewiſſen äußeren Ungeſchick zu paaren, damit ihn die Liebe deſto ſichtbarer umſchaffen könne! Er iſt eins von den ungelenken Herzen, die keinen Ausweg für ihren Reichtum wiſſen, und denen die Berührung entgegenkommender Zärtlichkeit nur mühſam ihren ganzen Wert ablockt. Aber da

er nun das für ihn bestimmte Weib in einem Blick erkannt hat, da sein tiefes, inniges Gefühl wie ein Quell aus dem harten Felsen hervorbricht: welche männliche Selbstbeherrschung, welchen bescheidenen Edelmut beweist er in seinem Betragen gegen Dorotheen! Er wird ihr dadurch beinahe gleich, da sie ihm sonst an Gewandtheit und Anmut, an heller Einsicht und besonders an heldenmäßiger Seelenstärke merklich überlegen ist. Ein wunderbar großes Wesen, unerschütterlich fest in sich bestimmt, handelt sie immer liebevoll und liebt sie nur handelnd. Ihre Unerschrockenheit in allgemeiner und eigener Bedrängnis, selbst die gesunde, körperliche Kraft, womit sie die Bürden des Lebens auf sich nimmt, könnte uns ihre zartere Weiblichkeit aus den Augen rücken, mischte sich nicht, dem Jüngling gegenüber, das leise Spiel sorgloser, selbstbewußter Liebenswürdigkeit mit ein, und entrisse nicht ein reizbares Gefühl, durch vermeinten Mangel an Schonung überwältigt, ihr noch zuletzt die holdesten Geständnisse. Hinreißend edel ist ihr Andenken an den ersten Geliebten, dessen herrliches Dasein ein hoher Gedanke der Aufopferung verzehrt hat. Seine Gestalt, obgleich in der Ferne gehalten, ragt noch am Schlusse unter allen Mithandelnden hervor, und so wächst mit der Steigerung schöner und großer Naturen das Gedicht selbst gleich einem stillen, mächtigen Strome.

## 112. Begriffserklärungen.

Aus: „Proben aus einem neuen deutschen Wörterbuch für die Jugend".
H. Welzer, Monatsblätter für innere Zeitgeschichte. Gotha 1868. Bd. XXII.

### a. Frivol. (S. 168)

Frivol gehört zu den Fremdwörtern, deren Gebrauch nicht ganz zu vermeiden ist, weil es kein deutsches Wort gibt, welches genau denselben Sinn hat. „Frevelhaft" möchte noch am nächsten kommen, fällt aber, wie in der Regel das Deutsche gegen das Französische (wie z. B. entzückend gegen charmant, anmutig gegen gracieux, Scheusal gegen horreur) zu schwer ins Gewicht. Dennoch gehört „frivol" zu denjenigen Fremdwörtern, deren Anwendung zartfühlende Personen am meisten scheuen, aber nicht deshalb, weil es nicht deutsch ist, sondern deshalb, weil man den Sinn lieber nicht ergründen, geschweige denn ihn nennen möchte. Die Frivolität ist jedoch nicht immer der Drache mit giftigem Hauch, nicht immer die Schlange unter Blumen, die man an ihren unheimlichen Windungen wahrnimmt; die Frivolität ist manchmal nur eine schöne Puppe, so schön, daß erwachsene Kinder gern mit ihr spielen; manchmal ist sie ein funkelnder Schmuck von Glas, der einem echten so täuschend ähnlich sieht, daß der Besitzer selbst sich endlich überredet, ein kostbares Kleinod zu tragen; manchmal ist sie nur ein Parfüm, der, je nachdem er dem Weihrauch oder dem Eßbouquet gleicht, den, der ihn atmet, in eine Kirche oder in einen blühenden Garten versetzt. Aber in allen diesen und noch vielen anderen lieblichen und unscheinbaren Gestalten ist die Frivolität eine gefährlichere Gauklerin als in ihren abschreckenden Erscheinungen; sie betrügt die Menschen um ihre Zeit und um ihre Kraft, um ihre Liebe und um ihren Haß, um den rechten Schmerz und um die rechte Freude. Ihr Wesen ist eben, daß sie aus Scherz Ernst und aus Ernst Scherz macht, mag sie sich mit dem Heiligen oder mit dem Profanen, mit großen oder mit kleinen Dingen beschäftigen.

Es gilt mit Recht für frivol, zu lachen über tränenwerte Dinge; es ist aber auch frivol, zu weinen über Dinge, die es nicht wert sind, uns das Herz zusammenzuschnüren und die Träne in unser Auge zu locken, die den Ausdruck des bittersten Wehes und der höchsten Freude erklärt. Es gilt für frivol, das Alter zu verspotten; aber es ist ebenso frivol, einem Kinde zu schmeicheln. Es ist frivol, sich um geringen Unrechtes willen mit geliebten Menschen zu erzürnen; es sollte aber auch für frivol gelten, bloß um äußerer Vorzüge willen für Menschen zu schwärmen, z. B. bloß weil jemand Witz hat oder weil er schön ist. Es ist frivol, über wirkliches Unglück

verständnislos abzusprechen; es ist kaum minder frivol, um fingierter Leiden willen, z. B. um die einer Romanheldin, in Mitgefühl zu schmelzen. Eine würdige, alte Frau erzählte mir, daß die ersten Tränen, welche sie in ihrer sehr glücklichen Ehe geweint, einem Roman gegolten hätten; ihr Mann, übrigens einer unserer größten deutschen Dichter, habe gerade im Nebenzimmer gearbeitet; durch ihr Schluchzen erschreckt, sei er zu ihr eingetreten; als er aber die Ursache ihres Kummers innegeworden sei, habe er sich unwillig und kalt von ihr abgewendet.

Es ist frivol, wenn man in schöner, klarer Morgenstunde und ganze Tage hindurch Tänze spielt und Ohr und Sinn in leeren Tonspielereien wiegt, von denen eine berühmte Frau sagt: „Die Leute haben eine Art gefunden, ihren Müßiggang hörbar zu machen". Sollte es aber minder frivol sein, sich im „ernsten genre zu produzieren", Bach und Händel zu traktieren, wenn Geist und Gemüt nicht in die Stimmungen einzugehen vermögen, aus welchen jene Meister ihre Tondichtungen geschöpft haben? Es wird als eine frivole Äußerung citiert, daß eine reiche Frau während einer Teurung gesagt habe: „Wenn die Armen kein Brot haben, mögen sie Kuchen essen" (vielleicht war es nur eine Äußerung aufrichtiger, vornehmer Unwissenheit); es ist aber auch frivol, einem Armen, z. B. auch nur einem armen Dienstmädchen, verblaßte Flittern, seidene Kleider und Putzhüte zu schenken. — Es ist frivol, durch ausgesucht tiefe Trauer seinen Schmerz zur Schau zu stellen; es ist aber auch frivol, die Trauer äußerlich für die Toilette auszubeuten, sie so kleidsam als möglich einzurichten. Die Erfindung des schwarzen Trauerschmuckes, der Trauercolliers und der Trauerohrringe ist eine echt frivole Erfindung.

### b. Takt. (S. 174.)

Takt, der. Das Wort kommt aus dem Griechischen, wo es Ordnung, richtige Einteilung bedeutet. Aus diesem Ursprung sind im deutschen Sprachgebrauch zwei verschiedene Zweige hervorgewachsen; wir wenden das Wort „Takt" einmal für die feine, richtige Empfindung des Schicklichen, sowohl in sittlicher, als in ästhetischer Beziehung, an; anderseits bedeutet es uns das richtige Zeitmaß, den gleichmäßigen Schritt in der Musik, welche ja diejenige Kunst ist, die in streng gemessenem Nacheinander zur Darstellung kommt.

Es ist, als wüßten die beiden Bedeutungen des Wortes nichts mehr voneinander. Ruft man jemandem beim Klavierspiel zu: „Kein Takt!" so denkt er schwerlich daran, daß man ihm vorwerfe, gegen das feinere Verständnis des Musikstücks zu fehlen. Sagt man, jemand benehme sich mit richtigem Takt, so fällt es niemandem ein, darunter das Lob einer nach strengen Grundsätzen geregelten Handlungsweise zu verstehen. Doch hat der Takt in der Musik mehr mit dem richtigen Verständnis, mit dem inneren Wesen der Komposition zu tun, als gefühlvolle Dilettanten es anzunehmen pflegen; ein haltloses Schwanken im Zeitmaß ist ebenso unmusikalisch, als ein steifes und scharf betontes rhythmisches Auftreten. Anderseits gereicht es dem richtigen Takte im Benehmen gar nicht zum Schaden, wenn das Chronometer eines streng geschulten Respekts vor Zeit und Ort im Hintergrunde steht.

Der eigentliche Zweck dieses Wörterbuches gestattet nicht, dem Begriffe des musikalischen Taktes eine nähere Erörterung zu widmen; wir haben es hier zunächst mit sittlichen Begriffen zu tun und halten uns daran, den Takt als die leise innere Fühlung für das zu bezeichnen, was zu tun schicklich, „am Orte", „an der Zeit" ist, und wir behaupten, daß diesen Takt alle Menschen haben sollten, haben könnten, ja daß sie ihn wirklich haben, wenn sie ihn nur beachten wollen. Wie jeder ein Gewissen hat, aber nicht jeder dem Gewissen gehorcht, so hat auch jeder Takt, ohne daß doch jeder seinem Takt Gehör schenkte, — der Takt wohnt in den feinsten Fühlfäden des Gewissens.

Wer dieſe Behauptung verneinen wollte, müßte ſagen, daß der Mangel an Takt in einer natürlichen Stumpfheit des inneren Unterſcheidungsvermögens ſeinen Grund habe. Dies iſt aber nicht zuzugeben. Natürlich kann bei einem gewiſſen Grade von Roheit und Stumpfheit auch von Takt nicht die Rede ſein; dagegen wird niemand leugnen, daß oft Kinder, oft Menſchen von geringer Bildung und ſehr mäßiger Begabung mit feinem Takt handeln, während Taktloſigkeit bei Menſchen vorkommt, welche nicht ungebildet und nicht unfein organiſiert ſind. Ja, es kommen ſogar mitunter Verſtöße gegen den Takt gerade in denjenigen Gebieten vor, in welchen übrigens die betreffende Perſon ſehr wohl mit ihrer Empfindung und mit ihrem Unterſcheidungsvermögen Beſcheid weiß. Verletzt nicht z. B. mancher gutmütige, warm und herzlich fühlende Menſch zuweilen die verwundbare Stelle ſeines Freundes? Fehlt nicht mancher ſittenſtrenge Menſch bisweilen gegen die feinere Schicklichkeit? Verſtößt nicht mancher äſthetiſch Gebildete unter Umſtänden gegen den guten Geſchmack?

Der Mangel an Takt iſt eben kein wirklicher *Mangel*, wenigſtens kein organiſcher, ſondern er iſt eine *Behinderung*, eine *Übertäubung* des richtigen Impulſes oder der leiſen Warnung. Iſt nicht oft ein zu großes Ungeſtüm des guten Willens, ein die richtige Selbſtbeſchränkung vergeſſender Eifer daran ſchuld, wenn ein wohlwollender Menſch ungeſchickt über die Saiten einer weichgeſtimmten Seele fährt und den Verband von der Wunde reißt, während er zu tröſten und zu lindern meint? Und das Fehlen gegen den guten Geſchmack, — übermäßige Verbindlichkeit und Devotion oder Familiarität, zu langes Verweilen auf einem Thema, in welchem man zufällig beſſer Beſcheid weiß als die Mitredenden, unmotiviertes Hervortreten in der Unterhaltung überhaupt, — haben nicht dieſe Verſtöße, die bisweilen bei ſolchen vorkommen, welche unter anderem auch über den geſelligen Takt mit Erfolg nachgedacht haben und vortrefflich davon zu reden wiſſen, ihren Grund meiſtens darin, daß die Begier nach augenblicklichem Erfolg die leiſe innere Mahnung, das beſſere Wiſſen übertäubt?

Wie es Menſchen gibt, von denen man richtiger ſagt, daß ſie ſich mit *vielem* Geſchmack kleiden, als daß ſie ſich mit Geſchmack zu kleiden pflegen, ſo kann man auch von manchen ſagen, daß ſie ſich mit *vielem* Takt benehmen. Das Benehmen ſolcher Leute erinnert an manche Zuhörer, welche in Konzerten durch rhythmiſches Wiegen mit dem Kopf ihrem muſikaliſchen Gefühle teils zu Hilfe zu kommen, teils dasſelbe bemerkbar zu machen pflegen. Tief muſikaliſche Menſchen laſſen die Muſik in ihrer ganzen Fülle, nicht vorzugsweiſe in ihren rhythmiſchen Schwingungen auf ſich wirken, und am wenigſten fällt es ihnen ein, ihr rhythmiſches Gefühl als Kennzeichen der muſikaliſchen Weihen zur Schau zu ſtellen.

Ein ähnliches Zeugnis ſtellen ſich ſolche aus, welche durch ihr geſellſchaftliches Verhalten nicht nur beweiſen, daß ſie Takt haben, ſondern auch dafür ſorgen, daß andere davon Notiz nehmen. Es gibt in der Tat eine feine Kunſt, die Beobachtung der anderen zu unterſtützen und ſich des Erfolges zu verſichern; aber feiner als dieſe Kunſt iſt die Natur, welche unbewußt die Linie des Schönen innehält, ohne ſich vor dem Spiegel zurechtzurücken, ſei dieſer Spiegel das Auge der Geſellſchaft oder ein anderer Spiegel. Und ſelbſt vom Standpunkte des Ehrgeizes, — wer möchte nicht lieber dem Künſtler gleichen, über deſſen Kunſt die Zuhörer das Applaudieren vergeſſen, als dem, der durch rechtzeitige Pauſen die Illuſion unterbricht, um den Bravos und dem Händeklatſchen Raum zu geben?

Am häufigſten wird der Takt — das muſikaliſche Gehör des Gewiſſens — übertäubt und irregeleitet durch Leidenſchaftlichkeit, durch Ungeduld; der Selbſtloſeſte wird immer auch der Gelaſſenſte ſein, er wird nicht nur Takt *haben*, ſondern auch ihm *gehorchen*, und ſo gilt auch hier: *Seid gut*, ſo werdet ihr *ſchön* ſein.

## 113. Erklärung von Sprichwörtern.

Von P. Hebel.

Sämtliche Werke. Karlsruhe 1834. Bd. VIII, S. 165 ff.

a. Ein Narr fragt viel, worauf kein Weiser antworlet.

Das muß zweimal wahr sein. Fürs erste kann gar wohl der einfältigste Mensch eine Frage thun, worauf auch der weiseste keinen Bescheid zu geben weiß. Denn Fragen ist leichter als Antworten, wie Fordern oft leichter ist als Geben, Rufen leichter als Kommen. Fürs andere könnte manchmal der Weise wohl eine Antwort geben, aber er will nicht, weil die Frage einfältig ist, oder wortwitzig, oder weil sie zur Unzeit kommt. Gar oft erkennt man ohne Mühe den einfältigsten Menschen am Fragen und den verständigen am Schweigen. „Keine Antwort ist auch eine Antwort." Von dem Doktor Luther verlangte einst jemand zu wissen, was wohl Gott vor Erschaffung der Welt die lange, lange Ewigkeit hindurch getan habe. Dem erwiderte der fromme und witzige Mann: „In einem Birkenwald sei der liebe Gott gesessen, und habe zur Bestrafung für solche Leute, die unnütze Fragen tun, Ruten geschnitten".

b. Frisch gewagt ist halb gewonnen.

Daraus folgt: „Frisch gewagt ist auch halb verloren". Das kann nicht fehlen. Deswegen sagt man auch: „Wagen gewinnt, wagen verliert". Was muß also den Ausschlag geben? Prüfung, ob man die Kräfte habe zu dem, was man wagen will; Überlegung, wie es anzufangen sei; Benutzung der günstigen Zeit und Umstände, und hintennach, wenn man sein mutiges A gesagt hat, ein besonnenes B und ein bescheidenes C. Aber soviel muß wahr bleiben: wenn etwas Gewagtes soll unternommen werden, und kann nicht anders sein, so ist ein frischer Mut zur Sache der Meister, und der muß dich durchreißen. Aber wenn du immer willst, und fängst nie an, oder du hast schon angefangen, und es reut dich wieder, und willst, wie man sagt, auf dem trockenen Lande ertrinken, guter Freund, dann ist „schlecht gewagt ganz verloren".

c. Es ist nicht alles Gold, was glänzt.

Mancher, der nicht an dieses Sprichwort denkt, wird betrogen. Aber eine andere Erfahrung wird noch öfter vergessen: „Manches glänzt nicht und ist doch Gold", und wer das nicht glaubt und nicht daran denkt, der ist noch schlimmer daran. In einem wohlbestellten Acker, in einem gut eingerichteten Gewerbe ist viel Gold verborgen, und eine fleißige Hand weiß es zu finden, und ein ruhiges Herz dazu und ein gutes Gewissen glänzt auch nicht und ist noch mehr als Goldes wert. Oft ist gerade da am wenigsten Gold, wo der Glanz und die Prahlerei am größten ist. Wer viel Lärm macht, hat wenig Mut. Wer viel von seinen Talern redet, hat nicht viel. Einer prahlte, er habe ein ganzes Simri (Sester) Dukaten daheim. Als er sie zeigen sollte, wollte er lange nicht daran. Endlich brachte er ein kleines rundes Schächtlein zum Vorschein, das man mit der Hand decken konnte. Doch half er sich mit einer guten Ausrede. Das Dukatenmaß, sagte er, sei kleiner als das Fruchtmaß.

## 114. Dem Tod entrinnt, wer ihn verachtet; aber den Verzagten holt er ein.

Eine Chrie [1]).

Von Chr. F. Falkmann.

Praktische Rhetorik. Hannover 1831. S. 227.

[1.] „Dem Tod entrinnt, wer ihn verachtet; doch den Verzagten holt er ein", — ruft der letzte Perserkönig, der unglückliche Darius Kodomannus, als der

[1]) Das Schema zur Chrie ist folgendes: 1) Die Einleitung mit einem Lobe desjenigen, von welchem der gegebene Ausspruch herrührt (exordium cum laude auctoris). Der logische Zu-

große Entscheidungskampf gegen den Makedonier bei Arbela beginnt, seinem schon zweimal geschlagenen Heere ermunternd zu.

[2.] Fürchtet ihr vielleicht den Tod — will er sagen —, wohlan! so wisset, daß derjenige, welcher sich in naher, ringsum drohender Gefahr befindet, ihr weit sicherer vermittelst Besonnenheit und Mut, als vermittelst Ängstlichkeit und Verzagtheit entgeht; daß ihr also gerade dadurch, wodurch ihr Rettung hofft, durch die Flucht, euch ins Verderben stürzt, dagegen, wenn Rettung möglich ist, sie finden werdet im mutigen Widerstande.

[3—4.] Wenngleich nun dieser Gedanke nicht hinreichend sein möchte, im Anblick der Gefahr aus Furchtsamen Mutige zu machen; ja, wenngleich der schwache Fürst, der, seine Königs- und Manneswürde aufrufend, so sich äußerte, selbst vielleicht in den nächsten Tagen nicht seinen Heldenspruch befolgte, so läßt sich doch nicht leugnen, daß in seinen Worten, wenn wir sie recht erwägen, viel Wahres liegt. Denn erstlich raubt das Gefühl der Furcht dem Menschen die Ruhe, Kaltblütigkeit und Geistesgegenwart, deren er bedarf, um die Gefahr, die ihn bedrohet, richtig zu ermessen, auf ihre Abwendung zu sinnen, kein Rettungsmittel unversucht zu lassen, und, wenn sie da ist, jeden günstigen Augenblick zu ergreifen, um ihr zu entrinnen oder sie weniger schädlich zu machen; ja der Taumel, in dem er sich befindet, stürzt ihn wohl gar in neue, unerwartete Gefahren, noch schlimmer als die erste. Dagegen hält der Mut das Bewußtsein klar und die Besinnung fest; und alles, was geschehen kann und geschehen muß, wird von dem Unverzagten schnell erwogen, rasch ergriffen, unverzüglich angewandt, er findet einen Ausweg im dichtesten Gedränge und triumphiert nicht selten über seine Verfolger. Aber was noch weit schlimmer ist: die Furcht raubt dem Verzagten sogar das Maß von körperlicher Kraft, das erforderlich ist, um der Gefahr abwehrend zu begegnen. Er fühlt seines Armes Muskeln erschlafft, der Schenkel Sehnen versagen ihm den Dienst, und rettungslos versinkt er in dem Abgrunde, den er hätte noch vermeiden können. Doch der Tapfere behält den vollen Gebrauch seiner physischen Stärke, er darf sich zur Zeit der Not auf seine gewohnte Schnelligkeit und Gewandtheit verlassen; ja der Anblick der Gefahr scheint seine Kräfte noch zu verdoppeln: und was er vorher nicht vermocht hätte, vermag er im Augenblick der Entscheidung. Der Verfolger selbst ehrt seinen mutigen Gegner und bietet ihm oft, wenn der Kampf sich wider ihn entschieden hat, Leben und Freiheit an, während der Feige verächtlich dem Schwert der Knechte oder des Sklavenhüters Kette überlassen wird. Der Zuschauer fühlt sich weit geneigter, helfend sein eigenes Gut und seine Sicherheit für den Tapferen aufs Spiel zu setzen, der sich hilft, solange er atmet, als für den Verzagten, der sich selbst verläßt.

[5.] So verliert der beflügelte Bewohner der Lüfte, wenn die Schlange, das

---

sammenhang verlangt, daß die Erwähnung des Autors mit Rücksicht auf das Thema geschehe. — 2) Die Erklärung (expositio). Das Thema ist durch genaue Sinneserklärung des Ausspruches festzustellen. — 3) Die Begründung (causae). Diese enthält den direkten Beweis der Wahrheit des Ausspruches; die Wahrheit wird auf Gründe zurückgeführt oder aus Gründen abgeleitet, die in dem Wesen der zu beweisenden Sache selbst liegen. — 4) Der Gegensatz (contrarium). Dieser enthält den indirekten Beweis. Die entgegengesetzten Gründe ergeben mit Notwendigkeit die entgegengesetzte Folge, oder die entgegengesetzte Folge stützt sich mit Notwendigkeit auf die entgegengesetzten Gründe. Nur die Wahrheit des richtig gewählten Gegensatzes ist ein Beweis für die Wahrheit des andern. — 5) Das Gleichnis (simile). Die Wahrheit des Ausspruches wird durch Vergleichung mit etwas Ähnlichem veranschaulicht. Das Ähnliche muß einem andern Gebiete entnommen sein. — 6) Beispiele (exempla). Diese enthalten den faktischen Beleg oder Nachweis für die Wahrheit des gegebenen Ausspruches. Nur geschichtlich wahre Ereignisse können eine theoretische Wahrheit beleuchten. — 7) Aussprüche anderer Schriftsteller oder andere Sprichwörter beistimmenden Inhaltes (testimonia). Nur solche Sentenzen haben Beweiskraft, die anerkannte Wahrheiten enthalten. — 8) Schluß (conclusio). Dieser faßt die Hauptgedanken kurz zusammen und knüpft an dieselben die entsprechende Nutzanwendung, die nach der Beschaffenheit des Themas in einer Aufmunterung oder Warnung bestehen kann.

kriechende Geschöpf am Boden, mit funkelnden Augen und giftatmendem Rachen ihn anblickt, den Gebrauch seiner Schwingen, vergißt das Fliehen und wird dem langsam heranrückenden Untier zur unbestrittenen Beute; aber der tapfere Hund, am schäumenden Eber hangend, vermeidet besonnen die tödlichen Hauer, hält mit verdoppelter Kraft den Schnaubenden fest und teilt mit dem herbeieilenden Jäger den schwer errungenen Sieg.

[6.] Was machte auch einen Alexander, einen Cortez, einen Karl XII. so siegreich, als ihr unerschütterlicher Mut! Ohne diesen hätte Philipps Sohn vor Gazas Mauern die zum Stoße schon gehobene Hand des wilden Arabers mit raschem Schwertschlag nicht vom Arme getrennt, hätte der Spanier auf jenem Turme die beiden jungen Mexikaner, die ihn über die Brüstung mit hinabzureißen versuchten, nicht den grausen Weg in die Tiefe allein machen lassen, wäre der nordische Held nicht ein Gegenstand der Bewunderung bei den Osmanen gewesen und hätte es nicht wagen dürfen, diese asiatischen Barbaren so übermütig zu reizen.

[7.] Auch haben ausgezeichnete Menschen zu allen Zeiten Gesinnungen, den Worten des Perserkönigs ähnlich, ausgesprochen. Sagte nicht, um nur ein Beispiel anzuführen, Alexander, als er den Trank seines Arztes nebst Parmenios' Briefe in der Hand hielt, nach langer Überlegung: „Ich will lieber durch eines anderen Verbrechen, als durch meine eigne Furcht sterben"? Hat nicht die Ansicht des Volkes sich in Sprüchen geäußert, wie jenes alte: „Fortes fortuna iuvat!" (Dem Tapferen ist das Glück hold) oder, was einerlei sagt: „Wagen gewinnt"?

[8.] So sei es denn zur Zeit der Gefahr unser Wahlspruch: „Dem Tod entrinnt, wer ihn verachtet; doch den Verzagten holt er ein". Ist Sieg möglich, so wird er uns in diesem Falle zuteil werden; ist uns aber bestimmt, zu fallen, so fallen wir groß bei uns selbst und bei anderen.

## 115. Über den Wert der Fußreisen.

Nach G. Baur.

Aus: K. A. Schmid, Encyklopädie des gesamten Erziehungs- und Unterrichtswesens. Gotha 1878. 2. Auflage. Bd. II, S. 707. Artikel: Fußreisen.

Viele griechische Weisen konnten sagen, wie Goethe gesagt hat: „Was ich nicht erlernt habe, das habe ich erwandert", und die griechische Gymnastik bildete, wie die Kraft, Gewandtheit und Ausdauer des Körpers überhaupt, so auch die Marschfertigkeit in hohem Grade aus. Die gewöhnliche Weite eines Tagemarsches betrug bei den griechischen Heeren drei bis vier deutsche Meilen; doch kommt in besonderen Fällen eine Steigerung bis zu sechs, ja bis zu zehn Meilen vor. Nach der Schlacht bei Salamis lief der Platäer Euchidas, um von Apollons Altar reines Feuer zu holen, den Weg von Platää nach Delphi und zurück, also tausend Stadien oder fünfundzwanzig Meilen, an einem Tage; er wurde freilich ein Opfer dieser patriotischen Anstrengung. Bei so großen Anstrengungen, wie sie die griechische Gymnastik dem Körper zumutete, erschien dagegen das Spazierengehen als ein erschlaffendes Sich-gehen-lassen, und Älian erzählt: „Als die Ephoren zu Lakedämon erfuhren, daß ihre Truppen, die in Dekelea als Besatzung lagen, Abendspaziergänge zu machen pflegten, entboten sie ihnen: „Gehet nicht spazieren!" Denn ihre Ansicht war, es sei dies ein Vergnügen, nicht aber eine körperliche Anstrengung, und die Lakedämonier sollten nicht durch Spaziergänge, sondern durch Leibesübungen für ihre Gesundheit sorgen."

Eine Fußreise unterscheidet sich von einem Spaziergange hauptsächlich durch die Verschiedenheit des erstrebten Ziels und demnächst durch ihre längere Dauer, woraus die übrigen Unterschiede von selbst folgen. Der Spaziergänger sucht in bekannter, gewohnter Umgebung, die zugleich den Geist angenehm berührt, ohne ihn aufzuregen, in wenig anstrengender Bewegung lediglich Erholung von geistiger Anstrengung oder auch von einseitiger körperlicher Tätigkeit. Der Reisende hingegen verfolgt ein be-

ſtimmtes Ziel, welches jenſeits der gewohnten Umgebung liegt und zugleich imſtande iſt, die größere Anſtrengung und die längere oder kürzere Verzichtleiſtung auf die gewohnte Lebensordnung zu belohnen, ohne welche es nicht erreicht werden kann. Ein Gang nach einer mehrere Stunden entfernten Höhe, einem Strom, einer Burg oder einem anziehenden Punkte anderer Art, wenn Hin- und Herweg einen vollen Tag in Anſpruch nehmen, kann ſchon als eine kleine Fußreiſe betrachtet werden. Noch beſſer, wenn die Entfernung ſo groß iſt, daß an einem oder mehreren fremden Orten übernachtet werden muß.

Es wäre zu beklagen, wenn Dampfſchiffe und Dampfwagen dieſen, namentlich für Knaben und Jünglinge, beſonders wenn ſich dieſelben zu einer kleinen Reiſegeſellſchaft zuſammenſcharen, ſo genußreichen, ſo wohltätigen Wanderungen Eintrag tun ſollten. Welches Vergnügen gewährt ſchon die Zurüſtung zur Wanderfahrt! Mit welcher Spannung wird der Reiſeplan entworfen, eines jeden Tages Aufgabe und Ziel feſtgeſetzt! Welche Luſt, am Abend vor dem Aufbruch das Ränzel und den Beutel mit der leichten Laſt zu füllen, welche Wonne, am friſchen Morgen in der munteren Schar unter heiterem Liederklang mutig und erwartungsvoll wie ein Abenteurer mit auszurücken, einer friedlichen, niemand beeinträchtigenden, ſicheren Eroberung entgegen! Da tut ſchon nach ein paar Stunden eine neue Welt ſich auf, wo alles die Aufmerkſamkeit wunderbar anregt, zumal da, was viele Augen entdeckt haben, doch einem jeden einzelnen zugute kommt. Wie ſchließen ſich alle Reiſegenoſſen im Gefühle gleichen Genuſſes und gleicher Anſtrengung bald innig und immer inniger aneinander! Aus Reiſebrüdern werden Herzensfreunde, welche lebenslang zuſammenhalten. Wie werden in dem jugendlichen Kreiſe alle Unannehmlichkeiten und Beſchwerden mit Mut, ja mit fröhlichem Übermut ertragen; wie bald begreift ein jeder, daß doppelt leide, wer bei Regenwetter und ſchlechter Koſt noch ſauer ſieht! Wie werden anderſeits die Freuden, welche die ſchöne Natur oder irgend ein heiteres Erlebnis bereitet, durch die Kameradſchaft gewürzt; wie ſprudeln alle, auch die ſonſt ſchüchternen, ſtilleren, in ſich gekehrten Naturen von munterem Zuruf und Geſpräch, von neckendem Scherz und jauchzender Luſt!

Freilich nicht die einförmigen Ebenen, wo man alles ſolange vorausſieht, wo keine Überraſchung, keine Neuheit der Gegenſtände das Gefühl der Ermüdung zerſtreut, und der Verdruß, nur langſam aus der Stelle zu kommen, leicht die Oberhand gewinnt, ſondern nur anmutige Landſchaften, beſonders die hohen Gebirgsgegenden, können den Genuß des Wanderns in ſeiner ganzen Fülle verſchaffen. Wer begrübe im Gebirge nicht alsbald mit dem Dichter den ſelbſt ſchon zum „treuen Gefährten“ gewordenen Trübſinn? Die Beſchwerden ſind zwar anfänglich für den Weichlichen und Ungeübten nicht gering: der ſteinige Boden verletzt ſeine Füße, das Hinanklimmen erſchöpft ſeinen Atem, ihm ſchwindelt auf dem ſchmalen Pfade über unermeßlichen Abgründen. Allein bald wird man für das Vergnügen empfänglich, etwas bloß mit eigenen Kräften errungen zu haben; man nimmt einen ganz anderen Maßſtab der Entfernungen und Schwierigkeiten an als für die gewohnten Spaziergänge, man unterzieht ſich gleichmütig tagelang dem Ungemach einer Witterung, welcher man bei der zum Sitzen nötigenden Lebensart der Städte auch nur auf eine Stunde ſich auszuſetzen vermeidet. Über alles geht das Gefühl der Rückkehr in die unmittelbare Pflege der Natur. Wie die reine Bergluft ſtärke und belebe, hat man oft geprieſen; überall iſt ein erquickender Trunk bereitet in den unzähligen Quelladern, welche den Alpen entrieſeln, wenn man anders die heilſamen Gewäſſer von den ſchädlichen aus geſchmolzenem Schnee zuſammengelaufenen gehörig zu unterſcheiden weiß; Kühlung weht um die Waſſerfälle, aus den Schluchten und von den beſchneiten Firnen herab; würzige Erdbeeren reifen am Wege, und in den Sennhütten findet man Überfluß an ſüßem Rahm.

Mit ſolchem Genuß erringt ſich der Fußreiſende aber zugleich auch einen unſchätz-

baren Segen für Leib und Seele. Vor allen Dingen erweiſen ſich die Wanderungen für körperliche Kräftigung und Übung erſprießlich. Gerade darin liegt für unſer ſitzendes und leſendes und ſchreibendes Zeitalter der Hauptwert dieſer Reiſen. Sie helfen die verloren gegangene Gleichmäßigkeit der menſchlichen Bildung wiederherſtellen, indem ſie der einſeitigen Sorge für die geiſtige Entwickelung das Streben nach einer geſunden, kräftigen Leibesbeſchaffenheit als nicht minder berechtigt zuordnen und der Überfeinerung in der wiedergewonnenen Männlichkeit das notwendige Gegengewicht geben.

Wenn die Turnkunſt vorzugsweiſe die gleichmäßige Stärkung und Übung des Muskelſyſtems erzielt, während beim Gehen die oberen Teile des Körpers und deren Muskulatur nicht in demſelben Grade wie die Beine in Tätigkeit verſetzt werden: ſo hat dagegen das Wandern den Vorzug, daß es zugleich den Körperwuchs fördert, gegen die Einflüſſe der Witterung und der Nahrung in höherem Grade abhärtet und zur Schärfung und Übung der Sinne die vielſeitigſte Gelegenheit darbietet. Nicht nur die Fernſicht wird geſchärft, zu deren Übung ſich ſonſt nur wenig Gelegenheit findet, ſondern auch die Aufmerkſamkeit des Stadtbewohners auf die Erſcheinungen der ländlichen Natur und des ländlichen Lebens hingezogen und ihm dadurch ein weiteres Gebiet zur Weide und Beſchäftigung der Sinne geöffnet. Das Auge lernt die Getreidearten, die Feld- und Waldbäume, überhaupt Tiere, Pflanzen und Geſteine aus der Nähe und Ferne unterſcheiden, und dem Ohre erſchallt bei ausdauernder Beobachtung keine Vogelſtimme mehr, die nicht ihre richtige Deutung erführe.

Mit der Kräftigung und Übung des Körpers ſteht die Stärkung des Willens in dem unmittelbarſten Zuſammenhange. Auch von dem Fußwanderer gelten die Worte des Schillerſchen Reiterliedes: „Da tritt kein anderer für ihn ein, auf ſich ſelber ſteht er da ganz allein“. Nichts dient ſo ſehr zur Erregung eines kräftigen, geſunden Selbſtgefühls, als das Bewußtſein, durch tüchtige Anſtrengung die Länge und die Beſchwerden des Weges überwunden und ein lohnendes Ziel erreicht zu haben, das Bewußtſein, unabhängig von Lokomotiven und Kutſchern, Eſeltreibern und Packträgern, auf eigenen Füßen gehen und ſtehen zu können. Dem durch Fußreiſen geübten rüſtigen Knaben und Jünglinge werden Wind und Wetter allmählich zu eingebildeten Übeln, ja zu willkommenen Herausforderungen, mit der Kraft des Körpers und des Willens den Kampf gegen ſie zu verſuchen.

Ferner ſind Fußreiſen ein vortreffliches Mittel zur Bereicherung und namentlich zur Belebung des Wiſſens. Wie gewinnen da der Wirklichkeit gegenüber die Lehren der Naturwiſſenſchaft, der Erdkunde und Geſchichte erſt rechtes Leben! Aus Phantaſiebildern werden feſte, kräftige Geſtalten. Pflanzen-, Mineralien- und Inſektenſammlungen erhöhen den Reiz und den Nutzen der Reiſe; nicht nur erhalten die geographiſchen Grundbegriffe von Berg, Tal und Ebene, Gebirgszug, Bergrücken und Waſſerſcheide, Quelle, Bach und Fluß u. dgl. erſt ihren vollen Inhalt, ſondern auch die Verhältniſſe, welche den Gegenſtand der politiſchen Geographie bilden, die verſchiedene Dichtigkeit der Bevölkerung, der Unterſchied der ſtädtiſchen und ländlichen Beſchäftigungen, die Verſchiedenheit der Bodenbeſchaffenheit und der Bodenkultur werden klar. Der Beſuch gewerblicher und künſtleriſcher Werkhäuſer und Anlagen erweitert den Blick und die Einſicht in das Gebiet menſchlicher Betriebſamkeit; ganz beſonders aber geben die Denkmale der Vorzeit zu geſchichtlicher Belehrung einen trefflichen Anlaß. So bleiben die Worte des alten Turnerliedes: „Und uns allen wohlbekannt wird das deutſche Vaterland“ nicht mehr bloße Worte! Daß ihm das deutſche Vaterland bekannt und lieb wird, iſt der ſchönſte und wertvollſte Gewinn des rüſtigen Wanderers.

Dies führt uns auf den letzten Punkt, auf den Einfluß, welchen Fußreiſen auf die Bildung des Gemütes üben. Vor allem kommt nur der Fußreiſende der Natur

und ihren Schönheiten recht nahe; nur er kann sich ihr völlig ungestört hingeben. Aber auch den Menschen kommt er näher. Er kann sie ruhig beobachten in ihrer Arbeit, in ihrer Not und in ihrem Genuß, und zu dem eingehenden Gespräche mit den Begegnenden, welches das Gesehene erläutert und deutet, findet nur er Gelegenheit. Und wie die glückliche, heitere Reisegesellschaft für die bittende Armut Herz und Hand offen haben wird, so bietet sich auch reichlicher Anlaß, die Gefühle der auf der Reise angeknüpften oder befestigten Freundschaft in wechselseitiger Aushilfe und in der Unterstützung schwächerer Kameraden zu bewähren. Das freudig bewegte Gemüt aber findet seinen Ausdruck im Gesange; ein frisches Lied läßt augenblickliche Beschwerden vergessen und unwillkürlich folgen die ermüdeten Füße seinem munteren Takte.

Gar manche deutsche Männer, welche den Ruf rüstiger Fußwanderer erworben haben, mahnen durch ihr Beispiel zur Nachahmung; vor allen Goethe, der in seinen jungen Jahren vom Wandern ein so großer Freund war, daß er sich selbst den Namen Wanderer beilegte, und dessen Lieder vielfach die auf frischen Wanderfahrten empfangenen Natureindrücke widerspiegeln; ferner Arndt, welcher in trüber Zeit einen großen Teil Europas mit dem Stabe in der Hand durchzog; Schleiermacher, welcher mit sokratischer Herrschaft über sich selbst einen oft kränklichen Körper zu den Anstrengungen der Fußreise zu zwingen, an ihre Beschwerden zu gewöhnen und so seinem Geiste den erfrischenden Einfluß dieser naturgemäßesten Bewegung zu verschaffen wußte; endlich Seume, der rüstige „Spaziergänger nach Syrakus", welcher die Vorzüge des Wanderns vor dem Fahren etwa mit folgenden Worten kurz bezeichnet hat: „Wer geht, sieht von der Welt und vom Menschenleben mehr, als wer fährt. Fahren zeigt Ohnmacht, Gehen Kraft. Der Fahrende kann niemand mehr fest und rein ins Angesicht sehen, wie man soll. Der Gang ist das Ehrenvollste für den selbständigen Mann, und alles würde besser gehen, wenn man mehr ginge."

## 116. Der deutsche Wald.

Von A. Becker.

Des Rabbi Lermächtnis. Berlin 1866. I. Abt.: Der Maler. Bd. II (Im Forst), Kap. 1, S. 1. (Gekürzt.)

Im Wald, im Wald,
Im frischen, grünen Wald.
(Unsicher.)

Der deutsche Wald! Wen mutet nicht das Wort schon an, wen überkommt nicht schon beim bloßen Namen die Sehnsucht nach grüner Einsamkeit, nach der märchenduftigen Welt und den romantischen Schauern aller Jugendträume!

Waldmeister und frühlingsheiterer Drosselschlag im lichtgrünen Hag, schattiges Mooslager und duftige Beeren unter sommerlichem Blätterdach, und dann über dem weiten Forst, vom Schuß des Jägers und Hundegebell durchhallt, herbstliche Farbenpracht, — das sind schöne, verlockende Bilder! Nicht minder einsames Wandern im frischen, grünen Wald, bis dahin, wo der Rauch des Kohlenmeilers langsam über den Bäumen aufsteigt und uns an so manche Kindergeschichte erinnert, bis die plötzlich aus dem Dickicht tretende Gestalt eines Köhlers, eines Schützen uns an die Erscheinung Rübezahls oder des wilden Jägers gemahnt; wandern, bis der Mond seinen Silberglanz durch die Blätter und Zweige auf das gluckernde Wasser des Waldbachs wirft, daß wir im leisen Wellengemurmel den Sang der tanzenden Elfen zu vernehmen glauben, — oder wandern bis in das dichteste Laub- und Nadelgeheg, wo die Waldfee ungesehen ihre Fäden spinnt und schaurig-süße Sagen und Märchen in den Hag hineinflüstert, daß aus Farn- und Heidekraut, aus Moos und allen Stauden die sagenhaften kleinen Leute des Waldes, die Moosjungfern, Heidefrauen und Waldweibchen die Häupter recken, um dem geheimnisvollen Singen und Sagen zu lauschen. Ja, es ist schön im Walde!

Der Wald ist der Erde treuestes Kind! Wo der Wald ihr geblieben, fehlt es

ihr nicht an Frische, Blüte und nährender Kraft. Er ist nicht nur der Schmuck und Stolz der guten Mutter, deren Schoß er entstammt, sondern ihr Schirm und Schutz, ihr freundlicher Ernährer. Mit seinem starken Körper wehrt er am Meere dem Vordringen des verzehrenden Dünensandes, mit seinen kräftigen Gliedern stemmt er sich im Hochgebirg dem zerstörenden Bergrutsch entgegen und fängt mit tausend Armen die Lawinen auf, um sie mitten in ihrem verheerenden Laufe zu hemmen, zu bannen. Mit seinen Fingern zieht er den tränkenden Schatz der eilenden Wolke herab, pocht an die vollen Wasserschläuche, bis sie reißen, sammelt ihren Inhalt und sendet ihn durch hundert Quellen und Bäche zur Labung der Lande hinaus; und unsere herrlichen Ströme, der Stolz unseres Vaterlandes, preisen vielleicht, im Wogenschwall des Meeres sich verlierend, noch den heimatlichen Wald, wo sie als kleine Bergquellen, mit den Blumen spielend, jene Kraft sammelten, mit der sie, groß geworden, durch die Lande rauschen: Segen bringend, Schiffe tragend und die Schönheit der Landschaft und das Leben des Volkes in ihren Fluten spiegelnd. Wenn die hohen Masten und Schiffsplanken auf dem Weltmeere empfinden könnten, wie oft möchten sie in der Welle, von der sie umschwebt werden, einen Freund aus der Heimat ahnen, der ihnen von den Wundern des Waldes zuflüstert, welchem sie gemeinsam entstammten.

Unsere Vorfahren wußten, was sie an ihren Wäldern hatten, unter deren Schatten sie wohnten. In heiligen Hainen empfanden sie die Nähe ihrer wohltätigen Gottheit, die sie im Säuseln des Laubes und in dem Toben einer Sturmnacht vernahmen. Immer noch waltet dort die schirmende, erhaltende Naturkraft in ihrem schöpferischen Segen am sichtbarsten. Als eine Schutzmauer des Landes steht der Bergwald, daß die zerstörende Wut der Stürme sich an ihm breche. Aber die trocknen, versengenden Winde durchtränkt er mit seinem feuchten Atem. Und in den vorüberbrausenden Luftstrom haucht er aus seinen frischen Gründen, aus seinen Millionen grüner Blätter und Nadeln heilsamen, stärkenden Lebensstoff, der draußen so manches unfruchtbare Gebild erfrischt, die Dünste der Ebene verdrängt, luftreinigend und segenträufelnd über die Häusermasse der Städte wogt und noch die bleichen Wangen ihrer Bewohner erquickend anweht. So wirkt der Bergwald noch in weiter Ferne. Wehe aber dem Volke, das seine Wälder nicht ehrt! Wehe dem Lande, das sich seiner Forste beraubt! Der Fluch der Verödung ruht auf ihnen.

Noch grünen und rauschen in Deutschland die Forste, in der Ebene und auf den Höhen, — man hat gelernt, sie zu ehren und zu schützen. Stolz sieht das Vaterland auf seine herrlichen Bergwälder, die unsere reizenden Mittelgebirge schmücken, — und selbst, wo unser Auge sich nicht an ihrer Frische zu weiden vermag, singen wir noch begeistert in unsern Konzertsälen:

„Wer hat dich, du schöner Wald,
Aufgebaut so hoch da droben?
Wohl den Meister will ich loben."

Wohl denken wir dabei der erhabenen Ruhe, der feierlichen Stille auf der grünen Höhe, wo wir einmal zwischen Eichen und Tannen hoch am Felsenrand hin gewandert, wo weithin vor unseren trunkenen Augen das Waldgebirge sich breitete, Rücken an Rücken, Kuppe an Kuppe, ein grünes, wogendes Meer, dessen Wellen erstarrt scheinen, dessen Rauschen aber wie Musik des Weltgeistes heraufrauscht. Fern ab in blauer Weite verdämmernd, verschollen, wie ein vergessenes Kindermärchen, liegt das ebene, bewohnte Land. Nur da und dort aus verborgenen Talgründen drängen sich Laute, die an das Menschentreiben in der Tiefe erinnern, — ein fernes Wagenrasseln, ein pochender Hammer, eine rauschende Mühle, ein einzelner Ruf, oder Hundegebell, aber alles wirr und dumpf.

„Tief die Welt verworren schallt, oben einsam Rehe grasen." Oben einsam Rehe grasen, — dort, wo der Sauerklee, die Kreuzblume oder der Waldmangold am

duftigſten blühen, — auf der Bergwieſe, die unter dem Kuß der Morgenſonne am lieblichſten erglüht, und auf welche Sterne am freundlichſten blicken, wenn die Vögel in den Zweigen ſchlummern und träumend zwiſchen dem Laube ſitzen, wenn alles zur Ruhe geht, bis die Einſamkeit des Gebirges gleich einer Ahnung der Ewigkeit unſer Gemüt beſchleicht, und ein leiſer Sehnſuchtston unſere Seele anklingt:

„Über allen Wipfeln iſt Ruh'!“

Kein anderes Volk wie das deutſche empfindet ſo die Poeſie des Waldlebens, ſagt und ſingt ſoviel von Jagd und Wald. Kein anderes fühlt ſich ſo innig hingezogen, findet in ſeinem innerſten Weſen ſoviel der Natur des Waldes Verwandtes. Im Schoße ſeiner Urwälder wuchs das Volk der Germanen heran, hier holte es ſich die unbezwingliche Kraft, mit welcher es in Jugendfriſche plötzlich aus dem Waldesdunkel auf den Schauplatz der Geſchichte hervortrat, um ſeinen weltumgeſtaltenden Beruf zu erfüllen. Heute noch umſchattet unſer Bergwald die geheimnisvollen Denkmale der dunkeln Vorzeit. In ſeinem grünen Schoße ſpielten ſich aber auch die bedeutſamſten Momente unſerer älteren Geſchichte ab, ſeit die Waldgründe der weſtfäliſchen Berge heißes Römerblut tranken und die Schluchten des Thüringer Waldes und die Moore der Rhön vom Franken- und Sachſenblute dampften, bis zu jenem geſegneten Tage, wo ein Jäger im Harzwalde die deutſche Königskrone gewann, die er ſo ſiegreich zu tragen wußte. Kein Wunder, wenn des Volkes Seele wie der Vogel am liebſten um Wald und Hain ſchwebt, wenn Dichtung und Sage ihre ſchönſten Blüten um den deutſchen Bergwald rankt. Das Nibelungenlied ſingt vom wildreichen Speſſart, und wie Siegfried auf der Jagd am Brunnen im dunkeln Odenwald erſchlagen ward, daß des Waldes „Blumen allenthalben vom Blute waren naß“. Wie lieblich tönen ſpäter die Lieder Herrn Walthers von der Vogelweide vom Walde, ſeinen Vögeln und Blumen! Und ſeitdem klingt das Volkslied in hundert Weiſen von Wald und Jagd durch die deutſchen Gaue, und die Dichter ſingen ihm nach und haben die Poeſie des Waldes noch lange nicht ausgeſungen. Als ein Meiſter der Töne die deutſche Volksoper ſchaffen wollte, wovon ſang er? Von den Freuden und Schauern des Waldes und der Jägerei, — er ſang den „Freiſchütz“.

Vorzüglich ſind es die Wälder des deutſchen Mittelgebirges, um welche Lied und Sage des Volkes ſich ſchlingen, und durch die der volle Strom der Dichtung brauſt. Dort grünt noch allenthalben der Bergwald, ſo mannigfach in ſeiner Erſcheinung wie das Weſen unſeres Volkes ſelbſt. Noch rauſchen die dunkeln Hage des Soonwaldes und auch des Speſſarts als der Schauplatz unſerer Robin Hoods. Noch umſchatten die Tannen des Schwarzwaldes die heimlichen Gründe, von welchen alte und neue Geſchichten gehen. Der urwüchſige Böhmerwald birgt die tiefen, ſtillen Waldſeeen, in denen das Märchen ſeinen Wohnſitz aufgeſchlagen, und durch den Thüringer Wald wallen die Schatten der Minneſänger zur Wartburg und der edle Tannhäuſer, magiſch angezogen vom Zauber der Göttin im Hörſelberg. In den Forſten des Rieſengebirges ſchreitet Rübezahl neckend einher, und in den Wäldern des Harzes waltet Prinzeſſin Ilſe oder tobt der greuliche Hexenſpuk der Walpurgisnacht. Den Odenwald durchjohlt der Rodenſteiner, und die Waldſchluchten und Felſenklüfte des Wasgau durchzieht der Lindenſchmidt als Kriegs- und Friedensklinder. Und allenthalben, wo wir wandern im deutſchen Bergwald, werden wir heute noch an Donars oder Wodans Eichen erinnert, die Raben umfliegen noch den wettergezeichneten Baum, und der vom Thron geſtürzte Gott iſt noch immer nicht aus unſeren Forſten gewichen. Als wilder Jäger durchſtreift er einſam den Hag, im Sturm führt er die wütende Jagd durch den Bergwald, daß die Rieſenbäume ächzen, und der Forſt erbrauſt und ſchwankt und wallt wie ein aufgeregtes Meer, wenn die Moosjungfern, Wald- und Heidefrauen der Sage durch das Gebüſch fliehen und auf die mit Kreuzhieben gezeichneten Wurzelblöcke flüchten. Der verwegene Jäger oder

Wildschütz schleicht sich aber dann in das Grauen des Waldes, verschreibt sich dem wilden Geist der Wälder und bringt ihm frevle Opfer dar, um zu den geheimen Künsten zu gelangen, nach denen der Jägerglaube sich sehnt.

Wenn dann aber der Winterschauer über den Wald kommt, die starre Frostnacht alles überreift, die Gründe und Schluchten im Schnee begraben liegen, vor Kälte der Fuchs heult, und die Rinde der Eichen berstet: dann ist der Wald nicht tot für uns, das Füllhorn seines Segens nicht geleert. Wir durchstreifen dann allerdings nicht mehr seine stillen Hallen; daheim jedoch im traulichen Zimmer erinnert uns jede Diele, jeder Schemel an sein wohltätiges Eingreifen in unsere Kultur und unser Leben von der Wiege bis zum Sarge. Wie mild weht uns noch sein Atem an, wenn im Kamine die Scheite prasseln, die Flamme leuchtet und die Glut knistert. Mag die Steinkohle mehr heizen, — nur die Spende des Waldes wärmt zugleich Körper und Gemüt. Wie gern blicken wir mit den Kleinen des Hauses, die sich an unsere Kniee schmiegen und Waldmärchen hören wollen, in die lichte Glut. Mit märchenhaftem Karfunkelglanz leuchtet uns die Kohle an, und die rosige Glut auf dem eigenen Herde wird uns dann zu jenem glückbringenden Karfunkel, von dem die Wundersage zu erzählen weiß.

Für den Weihnachtsabend schenkt uns dann der Wald noch das Tannenbäumchen, und all' die süßen Schauer, die ihn bewegten, ziehen nun vereint durch ein wonnevolles Kinderherz. Wie in einem Märchentraum blicken die Kleinen in all den Glanz, und sehen das Hollenbäumchen erstanden, unter das Aschenbrödel mit seinen Wünschen tritt und in strahlender Pracht von ihm wegschreitet. Auf uns selbst aber fallen goldene Träume und Erinnerungen nieder, das Glück der Kindheit und alle Wonnen der Jugendzeit schauern uns an, der grüne Tannenzweig wird zum frühlingsfrischen Wald, den wir mit leichtem Schritt durchwandert, als die Blumen noch so duftig blühten, die Vögel noch so hell jubelten, die Blätter uns tausend Grüße zuflüsterten, die Welt so reich vor uns lag, und die Ideale noch unverblichen uns im Herzen lebten.

Ja, der Wald ist so frisch und wurzelkräftig, so bewegt und stillsinnig, so nutzbringend und dichterisch durchweht, so mitteilsam und wirkungsreich, so belebend, stärkend, erhebend, — wie der echte Mensch, dessen Herz nicht an der Selbstsucht krankt, unter deren Wirkung die besten Triebe absterben, und ein Menschenherz zur kahlen Steppe wird.

## 117. Der Tod des Jünglings auf dem Schlachtfelde.

Von J. P. F. Richter.

Sämtliche Werke. Berlin 1826. Bd. XLVIII (Gesammelte Werkchen aus Zeitschriften), S. 7.

.... es gibt im Blütenalter noch einen schöneren Tod, den des Jünglings auf dem Schlachtfelde!

O ihr Tausende von Eltern, Geschwistern und Bräuten, welchen bei diesen Worten die alten Tränen wieder entstürzen, weil die Tränen der Liebenden länger fließen, als das Blut ihrer Geliebten; weil ihr nicht vergessen könnt, welche edle, feurige, schuldlose, schöne Jugendherzen an eurer Brust nicht mehr schlagen, sondern unkenntlich, verworren an anderen toten Herzen in einem großen Grabe liegen, weinet immer eure Tränen wieder; aber wenn sie abgetrocknet sind, so schauet fester und heller den Kämpfern nach, wie sie eingesunken oder vielmehr aufgestiegen sind. Vater, Mutter, schaue deinen Jüngling vor dem Niedersinken an; noch nicht vom dumpfen Kerkerfieber des Lebens zum Zittern entkräftet, von den Seinigen fortgezogen mit einem frohen Abschiednehmen voll Kraft und Hoffnung, ohne die matte, satte Betrübnis eines Sterbenden stürzt er in den feurigen Schlachttod, wie in eine Sonne, mit einem kecken Herzen, das Höllen ertragen will — von hohen Hoffnungen umflattert — vom gemeinschaftlichen Feuersturm der Ehre umbrauset und getragen — im Auge den Feind, im Herzen das Vaterland — fallende Feinde, fallende

Freunde entflammen zugleich zum Tod, und die rauschenden Todeskatarakte überdecken die stürmende Welt mit Nebel und Glanz und Regenbogen, — alles, was nur groß ist im Menschen, steht göttlich, glanzreich in seiner Brust als in einem Götterſaal, die Pflicht, das Vaterland, die Freiheit, der Ruhm. Nun kommt auf seine Brust die letzte Wunde der Erde geflogen: kann er die fühlen, die alle Gefühle wegreißt, da er im tauben Kampfe sogar keine fortschmerzende empfindet? Nein, zwischen sein Sterben und seine Unsterblichkeit drängt sich kein Schmerz, und die flammende Seele ist jetzo zu groß für einen großen, und sein letzter, schnellster Gedanke ist nur der frohe: gefallen zu sein für das Vaterland. Alsdann geht er bekränzt hinauf als Sieger in das weite Land des Friedens. Er wird sich droben nicht nach der Erde umwenden und nach ihrem Lohne, seinen Lohn bringt er mit hinauf; aber ihr genießt seiner hier unten: ihr könnt wissen, daß kein Sterben für das Gute in einem All Gottes fruchtlos und ohne Zeiten- und Völkerbeglückung sein kann, und ihr dürft hoffen, daß aus der Todesasche des Schlachtfeuers der Phönix des Heiligsten auflebt, und daß die ungenannt in den Gräbern liegenden Gerippe der Kämpfer die Anker sind, welche unten ungesehen die Schiffe der Staaten halten. Eltern, wollt ihr noch einmal Tränen vergießen über eure Söhne, so weint sie; aber es seien nur Freudentränen über die Kraft der Menscheit, über die reine Sonnenflamme der Jugend, über die Verachtung des Lebens wie die des Todes, ja über euer Menschenherz, das lieber die Schmerzen der Tränen tragen, als die Freuden der Geisterſiege entbehren will. — Ja, seid sogar stolz, ihr Eltern, ihr habt mitgestritten, nämlich mitgeopfert, denn ihr habt in der kälteren Lebens-Jahrzeit ein geliebteres Herz, als euch das eurige war, hingegeben und dasselbe für das große Herz des Vaterlandes gewagt, und als das kindliche stand und eures brach, nur geweint und gewünscht, aber euer Opfer nicht bereuet; und noch dauert mit eurer Wunde euer Opfern fort.

## 118. Verteidigungsrede für den Ritter in Schillers „Kampf mit dem Drachen".

Von *F. Kinnig.*

Der deutsche Aufsatz. Paderborn 1886. S. 351.

„Herr, richte, wenn du alles weißt."

Hochwürdigster Ordensmeister, edle Ritter!

Wenn ein Ritter aufgenommen wird in den Orden des heiligen Johannes, der jetzt unter deiner Leitung, würdigster Meister, in so kräftiger Blüte dasteht, so schwört er dir Unterwerfung und Gehorsam bis in den Tod. Zum Wahrzeichen dieses Schwures trägt er das Kreuz auf der Brust, auf daß es ihn beständig daran mahne, seinen eigenen Willen zu kreuzigen und sich den Geboten eines Höheren zu unterwerfen. — Nun aber beschuldigst du diesen Ritter, den tapferen Besieger des Drachen, des Ungehorsams, der frechen Verletzung deines Gesetzes und erklärst ihn damit jenes Schmuckes für unwürdig. Fürwahr, eine schwere Beschuldigung! Doch nur die Tat ist dir bekannt, nicht ihre Gründe und Ursachen; gleichwohl bin ich überzeugt, wenn du diese vernommen haben wirst, so wirst du dein Urteil mildern und mit mir sagen:

„Des Gesetzes Sinn und Willen
Vermeint' er treulich zu erfüllen."

Den Kampf mit dem Drachen, der nun tot zu deinen Füßen liegt, verbotest du, weil eine traurige Erfahrung gelehrt hatte, daß auch der kühnste Mut und die höchste Tapferkeit vor dieser Ausgeburt der Hölle zunichte wurde. Waren doch bereits fünf edle und ausgezeichnete Ritter als die Opfer ihres Mutes in dem Kampfe mit dem Ungeheuer gefallen. Mit Recht schlossest du hieraus, daß es ein vergebliches Wagnis sei, weitere kostbare Leben in diesem Kampfe einzusetzen. Wie

aber — so möchte ich fragen —, wenn List und Überlegung im Verein mit Heldenmut und Stärke diesen Kampf begännen? Wenn kluge Vorsicht und Berechnung gleichsam die Gewißheit böten, siegreich aus dem verbotenen Kampfe hervorzugehen? — Das erwog der tapfere Ritter, zu dessen Verteidigung ich hier stehe, und diese Erwägung ließ ihm dein Gebot in dem Sinne erscheinen, daß es nicht ein unbedingtes sei, sondern nur bezwecke, fernere Opfer dem Orden zu ersparen, nicht aber, den Sieg zu verhindern und des Landes Plagen zu verewigen. Von dieser Überzeugung geleitet, stellte er heimlich und vorsichtig dem Ungeheuer nach und erspähte seine Fährte und Gestalt; mit weiser Umsicht bereitete er sich auf den Kampf vor; mit großer Klugheit wählte er seine Kampfgenossen, das arabische Roß und die treuen Doggen; mit weiser Berechnung bildete er die scheußliche Gestalt des Drachen nach, übte sich und die Tiere mit männlicher Ausdauer auf den Drachenkampf ein, und erst da, nach seiner Rückkehr aus der Heimat, zog er zum entscheidenden Strauße aus. Aber auch so noch baute er auf menschliche Kraft und Klugheit nicht fester als auf göttlichen Beistand. Denn ehe er den Drachen aufsuchte, bereitete er sich erst in der Gnadenkapelle auf der Spitze des Berges durch inbrünstiges Gebet vor und erflehte sich des Himmels Schutz und Beistand.

Glaubst du, Gott verleihe seinen Beistand zu einem Werke des Ungehorsams? Meinst du, es dürfe sich jemand erdreisten, Gottes Hilfe zu einer bösen Tat anzurufen? O nein! Makellos war das Unternehmen in den Augen des Ritters und des Beistandes Gottes würdig. Es ist daher deine Anklage gegen ihn wegen Ungehorsams grundlos, und eher müßtest du den Tapferen liebevoll in deine Arme schließen, denn ihn als ungehorsam verdammen.

Doch, könntest du einwenden: niemand hat mein Gesetz zu deuteln, und die Ordensregel verlangt unbedingten Gehorsam.

In anderen Fällen mag dies ein gewichtiger Einwand sein, doch in dem vorliegenden Falle läßt sich soviel dagegen sagen, daß er ganz entkräftet wird. Denn wer könnte dem Strome Halt gebieten, wer dem frischen Mute Rast? — Nicht leichtsinnig schritt der Held in den Kampf und über die Grenze des Gesetzes, — nur der angeborene hochedle Rittersinn und das für die Leiden der Mitmenschen empfängliche Herz konnten ihn hinreißen. Gott selbst schien ihn in seinem Vorhaben zu mahnen, indem er ihm aufmunternde Träume sandte und seinem Vorsatze Unerschütterlichkeit. Mächtig regte sich in der jugendlichen Brust der Drang nach herrlichen Taten, es pochte sein Herz bei dem Gedanken an die gepriesenen Helden der Vorzeit und ihre unsterblichen Verdienste, — und er sollte träger Muße pflegen? War er nicht zum Kampfe für die Religion, für die Ehre Gottes und den Schutz der Christen in den Orden getreten? — Die Heere der Ungläubigen waren derzeit nicht zu bekämpfen; kein äußerer Feind bedrängte Rhodus, und doch war der Landmann nicht sicher auf dem Felde, der Pilger bedroht auf dem Wege zur heiligen Kapelle. Gebot hier nicht die Ritterpflicht, das Schwert zu ergreifen, und war der Sieg über den Drachen nicht gleich einem Siege über einen mächtigen Feind Gottes?

So sprach das Herz, und seine Stimme übertönte den Rat des Verstandes und das Gebot des Gesetzes. Rasch und feurig, wie das Gefühl, welches ihn anspornte zum ersten Entschlusse, so war die Tat gewagt und vollbracht. Und ist nicht dieser herrliche Erfolg des Kampfes die beste Verteidigung des Ritters? Er ist gleichsam ein Gottesurteil, zugunsten des heldenkühnen Jünglings vor aller Augen zeugend. — Findest du daher nach dieser Erwägung noch etwas Tadelnswertes an dem Kampfe, so schreibe es auf Rechnung seiner Jugend und ihres edlen Feuers, das lieber Rat vom Herzen nimmt, als vom kalten Verstande, und überlaß die Besserung dieses Fehlers der Zeit und dem reiferen Alter. Strafe ihn aber jetzt nicht, — er ist schon genug gestraft durch den kalten Empfang, den er hier gefunden; siegesfroh zog er unter dem Jubel der Menge hier ein und freute sich auf deinen Beifall als den

höchſten Lohn ſeiner Tat; — und was fand er? — Ernſte Mienen und dumpfes Schweigen, und ſtatt des Lobes mußte er eine ſchwere Anklage wegen Pflichtverletzung vernehmen. Der Drachentöter ſteht hier als Angeklagter!

So höre denn auf das Wort der Brüder, auf die Bitten der Menge; bedenke: „Vox populi, vox Dei!“ und ſprich ihn frei; denn

„Er hat erfüllt die Ritterpflicht.
Der Drache, der dies Land verödet,
Er liegt von ſeiner Hand getötet;
Frei iſt dem Wanderer der Weg,
Der Hirte treibe ins Gefilde,
Froh walle auf dem Felſenſteg
Der Pilger zu dem Gnadenbilde.“

# II. Poeſie.

## A. Epiſche Poeſie.

### 1) Fabeln und Parabeln.

#### 119. Der Müller und die Eſel. (1557).

Von Hans Sachs.

Hans Sachs. Von A. v. Keller. Tübingen 1870. Bd. V, S. 92.

Wer hat gehört vor dieſen tagen,
Daß die eſel den müller ſchlagen,
Das er die ſeck muß ſelber tragen? —
Wer hie fürgeh, der ſchaw mich an,
Ob ich nit ſey ein armer man!
Sechs eſel hab ich aufferzogen,
Inn meiner müll, die mich betrogen,
Wann ich gab in futter und hew,
Fürt ſie gehn trenck und macht in ſtrew
Und warrt ir auß mit allem fleiß,
Doch zaumet ich ſie viel zu leiß
Und ließ in den zaum im anfang
Durch mein unverſtand viel zu lang,
Darvon ſie worden ſind zum thail
Mutwillig, gögel, frech und gayl.
So ichs yetz reytten will mit ſporen
Lecken ſie auff hinden und vorren.
So ſie mir yetz nutz ſollen ſein,
Faren ſie zu und ſpotten mein,
Tummeln ſich auff dem kugel-platz
Und pieten mir auch drutz und dratz,
Das ich in yetz muß ſelber ſchweygen.
Sie machen mir eins auff der geygen
Und hönen mich auff der ſackpfeiffen
Und mich auch noch herter angreiffen,
Das ich die ſeck muß ſelber tragen.
Darzu ſie mich mit gayſeln ſchlagen
Und treyben mich, das ich muß than
Als, was mein eſel wöllen han.
Das ich mich ir gleich ſchemen muß,
Secht! iſt das nit ein ſchwere buß,
Das ich in meinen alten Tagen
Die ſeck ſelber gehn mül muß tragen?

Beſchluß:

Ir eltern, nembt exempel bey mir!
Ziecht ewre kind deſt baſer ir
Und laſſet in in dem anfang
Den zaum auch nit, wie ich, zu lang
Und ſecht in nit zu durch die prillen,
Sondern brecht in irn aygen willen!
Biegt ſie, weil ſie zu biegen ſind!
Wann die rhuten treibt einem kind
Die arg thorheit auß ſeinem hertzen
Sambt allem mutwilligem ſchertzen.
Wer ſein kind lieb hat, der weiß ſpricht,
Der ſparet im der rhuten nicht,
Wer ſein kind nit zeucht inn der jugent
Auff Gottes forcht, ſitten unnd tugend,
Warrt ſein allein mit tranck und ſpeiß
Und klaydet es mit allem fleiß,
Leſt im all ſein thun wohlgefallen,
Lacht darzu, gibt im recht in allen,
Das kind wechſt auff gleich eym zaun-ſtecken.
Drob endlich die eltern erſchrecken,
Wenn ir kinder kummen zu jarn,
Ganz ungezogen und unerfarn.

Und nichts mehr um die eltern geben,
Füren ein wüſt und ſchendlich leben.
Denn hebt ſich an der eltern klagen
Und müſſen die feck ſelber tragen,
Sorg und angſt haben für ir kinder,
Sich ir auch ſchemen nicht deſt minder.
So ſie mayn, kinder habn geborn,
So ſind grob eſel darauß worn.
Dergleichen, herrn, maiſter und frawen!
Thüt auch auff ewer ehaltn ſchawen!
Erſtlich ir ſie gewenen ſolt,
Wie ir ſie endtlich haben wolt.
Wer erſtlich zertlich helt ſein knecht,
Der zeucht ihm ſelb ein junckhern ſchlecht,
Der im nit lang bleibt untherthenig,
Sonder unghorſam, wiederſpenig,
Der danach thut, was er ſelb will,
Das man ſeiner dienſt geneuſt nit viel.
Dergleichen auch nach dem beſchayd.
So halt ein fraw auch ir haußmayd,
Wo mans nit erſtlich helt im zaum
Und leſt ir gar zu weyten raum,
So werden ſie ſtoltz und fürwitz,
Zu klapperu jhenes und auch ditz,
Sich denn faul und farleſſig ſtelln,
Schawen nach dentz und jungen gſelln,
Derhalb ſoll man zu erſter fart
Ihn abgwenen ir böß unart,
Sie fein behalten bey dem hauß,
Nit umbſchwayfend zu rollen auß,
Das ſie ob unzucht haben ſchew,
Bleiben gehorſam, frumb und trew.
Welch herrſchaft ir ehalten bloß
An zucht leſt gehn, wie die ſaumroß,
Solch herrſchafft hat denn nicht zu klagen,
Wenn ſie die feck muß ſelber tragen.
Groß unkoſt, ſchaden auff ſie wachs
Durch ir ehalten, ſpricht Hans Sachs.

## 120. Zwei Fabeln. (1738.)

Von *F. v. Hagedorn.*

Sämtliche poetiſche Werke. Hamburg 1757. Tl. II.

### a. Der Fuchs ohne Schwanz. (S. 165.)

Reineke verwirrte ſich
In die ihm gelegten Stricke;
Und wiewohl er ſelbſt entwich,
Ließ er doch den Schwanz zurücke.
Um nicht lächerlich zu ſein,
Predigt' er den Füchſen ein,
Auch den ihren abzulegen.
Seine Hörer zu bewegen,
Sprach er als ein Cicero:
„Erſtlich will's der Wohlſtand ſo,
Um ſich zierlicher zu regen;
Denn man trabt damit ſo ſchwer
Und zu unbequem einher.
Zweitens macht ein Schweif zu kenntlich.
Drittens hält er in dem Lauf
Oft den ſchnellſten Brandfuchs auf.
Viertens riecht er vielen ſchändlich.“ —
„Stumpfer Redner! ſchweige du“,
Rief ein alter Fuchs ihm zu;
„Was du lehreſt, wird verlachet.
Nur der Neid iſt, was dich quält,
Der den Vorzug, der dir fehlt,
Andern gern zuwider machet.“

### b. Der Hahn und der Fuchs. (S. 210.)

Ein alter Haushahn hielt auf einer Scheune Wache;
Da kommt ein Fuchs mit ſchnellem Schritt
Und ruft: „O krähe, Freund, nun ich dich fröhlich mache;
Ich bringe güte Zeitung mit.
Der Tiere Krieg hört auf: man iſt der Zwietracht müde.
In unſerm Reich iſt Ruh' und Friede.
Ich ſelber trag' ihn dir von allen Füchſen an.
O Freund, komm bald herab, daß ich dich herzen kann.
Wie guckſt du ſo herum?“ — „Greif, Hatt und Bellart kommen,
Die Hunde, die du kennſt“, verſetzt der alte Hahn;
Und, als der Fuchs entläuft, „was“, fragt er, „ficht dich an?“ —
„Nichts, Bruder“, ſpricht der Fuchs; „der Streit iſt abgetan,
Allein ich zweifle noch, ob die es ſchon vernommen.“

## 121. Die Schildkröte im Brunnen. (1820.)

Von *F. Rückert.*

Geſammelte poetiſche Werke. Frankfurt a. M. 1868. Bd. VI, S. 87.

1. Es war ein großer Garten,
Hatt' einen reichen Herrn,
Der drin hielt aller Arten
Gewächſ' und Tiere gern.
Es täten Quellen ſpringen,
Und ſchöne Bäume blühn,
Und bunte Vögel gingen
Luſtwandeln durch das Grün.

2. Der Pfaue ſprach zum Raben:
„Dein rotes Stiefelein
Sollt' ich am Fuße haben;
Es muß verwechſelt ſein,
Als uns der Herr gewogen
Hervorrief aus der Nacht,
Haſt du dir's angezogen,
Mir war es zugedacht.

3. „Ich nahm von ſchwarzem Leder
Hier dieſes aus Verſehn;
Es paßt zu deiner Feder,
Zu meiner will's nicht ſtehn.
So paßt nur mein Gefieder
Zum roten Stiefelein;
Gib mir, was mein iſt, wieder,
Und nimm zurück, was dein!"

4. Der Rabe ſprach dagegen:
„Ein Irrtum iſt geſchehn,
Doch nicht der Stiefel wegen,
Am Kleid liegt das Verſehn;
Denn einſehn muß ein jeder:
Es paßt ein buntes Kleid,
Und keine ſchwarze Feder
Zu dieſem Fußgeſchmeid.

5. „Als uns der Herr erweckte
Vom Schlaf mit ſeiner Hand,
War ich betäubt und ſteckte
Mein Haupt durch dein Gewand;
So ſtreckteſt du das deine
Aus meines Röckleins Zier:
Gib mir zurück das meine,
Und nimm das deine dir!" —

6. Ihr Streit war ungeſchieden,
Da hob ihr leiſes Ohr
Aus eines Brunnens Frieden
Die Schildekröt' empor;
Sie ſprach mit ernſten Tönen,
Und jene horchten gern:
„Was wollt ihr hadernd höhnen
Die Weisheit eures Herrn?

7. „Es tat der Herr, der Meiſter,
Nur was ihm billig ſchien;
Nicht einem ſeiner Geiſter
Hat alles er verliehn.
Er hat ſein Gut verteilet
Zu vieler Pfründner Glück;
Und was im Garten weilet,
Ein jedes hat ein Stück.

8. „Dem Pfauen, ſich zu brüſten,
Hat er geſtickt das Kleid,
Dem Raben nach Gelüſten
Geſchmückt das Fußgeſchmeid.
Und wem er hat gegeben
Ein ungeſchmücktes Sein,
Der dank' ihm auch das Leben,
Das ſei ſein Schmuck allein!"

## 122. Fabeln und Parabeln. (1825.)

Von *A. E. Fröhlich.*

Fabeln. Frauenfeld 1858.

### a. Glauben. (S. 205.)

Mit dem Vogel ſind geflogen
Seine Kinder über Meer.
Droben ward der Himmel trüber;
Drunten brauſten Sturmeswogen;
Und die Kinder klagten ſehr:
„Ach wie kommen wir hinüber?
Nirgend will ein Land uns winken,
Und die müden Schwingen ſinken."
Aber ihre Mutter ſagt:
„Kinder, bleibet unverzagt!
Fühlt ihr nicht im tiefſten Innern
Unaufhaltſam einen Zug,
Neuen Frühling zu gewinnen?
Auf! in jenem iſt kein Trug.
Der die Sehnſucht hat gegeben,
Er wird uns hinüberheben
Und euch tröſten balde, balde
In dem jungbelaubten Walde!"

### b. Vorſicht. (S. 22.)

„Vorſicht ſoll euch ſtets begleiten",
Sagt das Waſſerhuhn den Kleinen;
„Wo wir immer ſind, erſcheinen
Feinde uns von allen Seiten:

Iltis, Marder, Fuchs aus Klüften,
Falken, Habichte aus Lüften,
Auf dem Land, wie auf den Wellen
Jäger, die uns Netze ſtellen,
Oder ferner uns durchbohren
Aus den fürchterlichen Rohren.
Die, — wo nicht mehr zu entgehen,
Müßt ihr unverwandt anſehen;
Blitzen ſie — mit Blitzes Schnelle
Tauchet dann, um auf der Stelle
Unterm Waſſer zu entweichen,
Wohin Schüſſe nicht mehr reichen;
Dort dann könnt ihr ſpielen wieder.
Aber wo ihr tauchet nieder,
Habt ihr auch den Hecht zu fliehen;
Iſt er nahe, müßt ihr ziehen
Flatternd fliegend an die Stellen,
Wo zu untief ihm die Wellen.
Sicher waren wir nur droben,
Als wir über Berg' uns hoben;
Aber müde macht die Reiſe,
Und wir müſſen ſuchen Speiſe.
Alſo laßt euch Vorſicht leiten;
Feinde drohn von allen Seiten."

o. Still-Leben. (S. 246.)

Das Bächlein ſingt ſo vor ſich hin:
„Ich habe gleich vergnügten Sinn,
Und wenn ich auch ein Strom nicht bin,
Der ſiegreich Felsgebirge zwingt,
Der hundert Landen Segen bringt,
Und dem des Ruhmes Lied erklingt.
Der Welt Getümmel ſtört mich nicht,
Der Wetter Sturm empört mich nicht,
Und Ruhm und Glanz betört mich nicht.
Ich gehe langſam meinen Schritt,
Und Glück und Ruhe wandeln mit,
Das Tälchen grünt von meinem Tritt:
Ein Blümchen hier, das zu mir winkt,
Ein Lamm, das aus der Hand mir trinkt,
Ein Sternlein dort, das niederblinkt!
Die Vöglein muſizieren mir,
Und miteinander ſingen wir:
O blieb' ich, Tälchen, ſtets bei dir!"

d. Die Aehnlichen. (S. 9 u. 47.)

„Unkraut ſeid ihr", ſprachen Ähren
Zu der Korn- und Feuerblume;
„Und ihr dürfet euch vermeſſen
Selbſt von unſerm Boden nähren?"
„Wir ſind freilich nicht zum Eſſen,
Wenn das einzig hilft zum Ruhme",
Sagten dieſe Wohlgemuten;
„Aber wir erblühn hieneben,
Euer Einerlei, ihr Guten,
Mannigfarbig zu beleben."

e. Einträglichſtes. (S. 10.)

„Was trägt dein Singen ein?"
Bemerkt die reiche Maus
Vor ihrem vollen Haus
Dem muntern Vögelein.
„Das", ſagt's, „hab' ich davon,
Was Blumen von dem Glanz,
Was Well' und Wind vom Tanz:
Die Freude iſt mein Lohn
Und Frohſinn, aller Güter Kron'!"

f. Lebensworte. (S. 11.)

Zu dem vollen Roſenbaume
Sprach der nahe Leichenſtein:
„Iſt es recht, in meinem Raume
Groß zu tun und zu verhüllen
Meiner Sprüche goldnen Schein,
Die allein mit Troſt erfüllen?"
„Auch aus Grüften", ſagt die Blüte,
„Ruft mich Gottes Macht und Güte,
Sein Gedächtnis hier zu ſtiften
Neben euch, ihr Heil'gen Schriften.
Ich auch blühe tröſtend fort,
Ein lebendig Gotteswort."

g. Stadtleben. (S. 25.)

„Lerche, komm in unſre Gaſſen!"
Sagt das Spätzchen; „vor den Toren
Geht ja dein Geſang verloren;
Hier in den belebten Straßen
Hören dich die feinſten Ohren." —
„Kritteln mich die ſchärfſten Zungen",
Hat die Lerch' ihm zugeſungen,
„Und ich fänd' im Stadtgewimmel
Keine Saaten, keinen Himmel."

h. Ellengröße. (S. 22.)

Die Pappel ſpricht zum Bäumchen:
„Was machſt du dich ſo breit
Mit den geringen Pfläumchen?"
Es ſagt: „Ich bin erfreut,
Daß ich nicht bloß ein Holz,
Nicht eine leere Stange!"
„Was!" ruft die Pappel ſtolz,
„Ich bin zwar eine Stange,
Doch eine lange, lange!"

i. Turnen. (S. 22.)

„Schwing mir die Buben und ſchwing mir ſie ſtark!"
Ruft dem Winde der Wald;

„Klagen ſie gleich in müdem Geſtöhn,
Laß mir nicht ab ſo bald!
Alſo nur wurzelt ihr Fuß, und mit Mark
Füllet ſich Arm und Bruſt;
Und ſie wachſen zu ſtolzen Höh'n,
Mir eine Herzensluſt.
Denn ich haſſe die Zwergenart,
So die ſumpfige Kluft
Eingewindelt vor Wetter bewahrt
Immer in Stubenluft.
Fahl und kahl in des Frühlings Saft
Hat ſchon ein Lüſtchen ſie umgerafft!“

## 123. Adler und Taube. (Auguſt 1773.)

Von W. v. Goethe.

Werke. Nach den vorzüglichſten Quellen revidierte Ausgabe. Berlin 1868. Teil I (Gedichte, herausgegeben von F. Strehlke). S. 160.

Ein Adlersjüngling hob die Flügel
Nach Raub aus;
Ihn traf des Jägers Pfeil und ſchnitt
Der rechten Schwinge Sennkraft ab.
Er ſtürzt' herab in einen Myrtenhain,
Fraß ſeinen Schmerz drei Tage lang
Und zuckt' an Qual
Drei lange, lange Nächte lang;
Zuletzt heilt' ihn
Allgegenwärt'ger Balſam
Allheilender Natur.
Er ſchleicht aus dem Gebüſch hervor
Und reckt die Flügel — ach!
Die Schwingkraft weggeſchnitten —
Hebt ſich mühſam kaum
Am Boden weg
Unwürd'gem Raubbedürfnis nach
Und ruht tieftrauernd
Auf dem niedern Fels am Bach;
Er blickt zur Eich' hinauf,
Hinauf zum Himmel,
Und eine Träne füllt ſein hohes Aug'.
Da kommt mutwillig durch die Myrtenäſte
Dahergerauſcht ein Taubenpaar,
Läßt ſich herab und wandelt nickend
Über goldnen Sand am Bach
Und ruckt einander an;
Ihr rötlich Auge buhlt umher,
Erblickt den Innigtrauernden.
Der Tauber ſchwingt neugiergeſellig ſich
Zum nahen Buſch und blickt
Mit Selbſtgefälligkeit ihn freundlich an.
„Du trauerſt“, liebelt er;
„Sei gutes Mutes, Freund!
Haſt du zur ruhigen Glückſeligkeit
Nicht alles hier?
Kannſt du dich nicht des goldnen Zweiges
freu'n,
Der vor der Tages Glut dich ſchützt?
Kannſt du der Abendſonne Schein
Auf weichem Moos am Bache nicht
Die Bruſt entgegenheben?
Du wandelſt durch der Blumen friſchen Tau,
Pflückſt aus dem Überfluß
Des Waldgebüſches dir
Gelegne Speiſe, letzeſt
Den leichten Durſt am Silberquell.
O Freund, das wahre Glück
Iſt die Genügſamkeit,
Und die Genügſamkeit
Hat überall genug.“ —
„O Weiſe!“ ſprach der Adler, und tiefernſt
Verſinkt er tiefer in ſich ſelbſt,
„O Weisheit! du red'ſt wie eine Taube!“

## 124. Der Jüngling.

Von Chr. F. Gellert.

Sämtliche Schriften. Leipzig 1775. Tl. I. S. 194.

Ein Jüngling, welcher viel von einer Stadt gehört,
In der der Segen wohnen ſollte,
Entſchloß ſich, daß er da ſich niederlaſſen wollte.
„Dort“, ſprach er oft, „ſei dir dein Glück beſchert!“
Er nahm die Reiſe vor und ſah ſchon mit Vergnügen
Die liebe Stadt auf einem Berge liegen.
„Gottlob!“, fing unſer Jüngling an,
„Daß ich die Stadt ſchon ſehen kann;
Allein der Berg iſt ſteil. O! wär' er ſchon erſtiegen!“
Ein fruchtbar Tal ſtieß an des Berges Fuß.
Die größte Menge ſchönſter Früchte
Fiel unſerm Jüngling ins Geſichte.
„O!“, dacht' er, „weil ich doch ſehr lange ſteigen muß:
So will ich, meinen Durſt zu ſtillen,
Den Reiſeſack mit ſolchen Früchten füllen.“

Er aß, und fand die Frucht vortrefflich von Geſchmack,
Und füllte ſeinen Reiſeſack.
Er ſtieg den Berg hinan und fiel den Augenblick
Beladen in das Tal zurück.
„O Freund!“ rief einer von den Höhen,
„Der Weg zu uns iſt nicht ſo leicht zu gehen.
Der Berg iſt ſteil und mühſam jeder Schritt,
Und du nimmſt dir noch eine Bürde mit?
Vergiß das Obſt, das du zu dir genommen,
Sonſt wirſt du nicht auf dieſen Gipfel kommen;
Steig leer, und ſteig beherzt, und gib dir alle Müh',
Denn unſer Glück verdienet ſie!“
Er ſtieg und ſah empor, wieweit er ſteigen müßte.
Ach Himmel! ach! es war noch weit.
Er ruht' und aß zu gleicher Zeit
Von ſeiner Furcht, damit er ſich die Müh' verſüßte.
Er ſah bald in das Tal, und bald den Berg hinan;
Hier traf er Schwierigkeit und dort Vergnügen an.
Er ſinnt. Ja, ja, er mag es überlegen.
„Steig“, ſagt ihm ſein Verſtand, „bemüh dich um dein Glück!“
„Nein“, ſprach ſein Herz, „kehr in das Tal zurück;
Du ſteigſt ſonſt über dein Vermögen.
Ruh etwas aus und iß dich ſatt,
Und warte, bis dein Fuß die rechten Kräfte hat!“
Dies tat er auch. Er pflegte ſich im Tale,
Entſchloß ſich oft zu gehn und ſchien ſich ſtets zu matt.
Das erſte Hindernis galt auch die andern Male;
Kurz er vergaß ſein Glück, und kam nie in die Stadt.

---

Dem Jüngling gleichen viele Chriſten.
Sie wagen auf der Bahn der Tugend einen Schritt,
Und ſehn darauf nach ihren Lüſten,
Und nehmen ihre Lüſte mit.
Beſchwert mit dieſen Hinderniſſen,
Weicht bald ihr träger Geiſt zurück;
Und, auf ein ſinnlich Glück befliſſen,
Vergeſſen ſie die Müh' um ein unendlich Glück.

## 125. Chidher[1]. (1823.)

Von F. Rückert.

Geſammelte poetiſche Werke. Frankfurt a. M. 1868. Bd. III, S. 14.

1. Chidher, der ewig junge, ſprach:
„Ich fuhr an einer Stadt vorbei;
Ein Mann im Garten Früchte brach;
Ich fragte, ſeit wann die Stadt hier ſei.
Er ſprach und pflückte die Früchte fort:
‚Die Stadt ſteht ewig an dieſem Ort
Und wird ſo ſtehen ewig fort.‘ —
Und aber nach fünfhundert Jahren
Kam ich desſelbigen Wegs gefahren.

2. „Da fand ich keine Spur der Stadt;
Ein einſamer Schäfer blies die Schalmei,
Die Herde weidete Laub und Blatt;
Ich fragte: ‚Wielang' iſt die Stadt vorbei?‘
Er ſprach und blies auf dem Rohre fort:
‚Das eine wächſt, wenn das andere dorrt,
Das iſt mein ewiger Weideort.‘ —
Und aber nach fünfhundert Jahren
Kam ich desſelbigen Wegs gefahren.

3. „Da fand ich ein Meer, das Wellen ſchlug,
Ein Schiffer warf die Netze frei;
Und als er ruhte vom ſchweren Zug,
Fragt' ich, ſeit wann das Meer hier ſei.
Er ſprach und lachte meinem Wort:
‚Solang', als ſchäumen die Wellen dort,
Fiſcht man, und fiſcht man in dieſem Port.‘ —
Und aber nach fünfhundert Jahren
Kam ich desſelbigen Wegs gefahren.

4. „Da fand ich einen waldigen Raum
Und einen Mann in der Siedelei,
Er fällte mit der Axt den Baum;
Ich fragte, wie alt der Wald hier ſei.
Er ſprach: ‚Der Wald iſt mein ewiger Hort;
Schon ewig wohn' ich an dieſem Ort,
Und ewig wachſen die Bäum' hier fort.‘ —
Und aber nach fünfhundert Jahren
Kam ich desſelbigen Wegs gefahren,

[1] Chidhr oder Chidher, ein indiſcher Gott, mit ewiger Jugend begabt, der alle 500 Jahre zur Erde wiederkehrt.

5. „Da fand ich eine Stadt, und laut
Erſchallte der Markt vom Volksgeſchrei.
Ich fragte: ‚Seit wann iſt die Stadt erbaut?
Wohin iſt Wald und Meer und Schalmei?‘
Sie ſchrieen und hörten nicht mein Wort;
So ging es ewig an dieſem Ort,
Und wird ſo gehen ewig fort.
Und aber nach fünfhundert Jahren
Will ich desſelbigen Weges fahren.“

## 126. Die Palme.

Von E. v. Schenk.

Charitas. Eine Feſtgabe. Regensburg 1835. II. S. 15.

1. Stark iſt als zarte Pflanze ſchon die Palme;
Um ihre jugendliche Kraft zu proben,
Ward einſt ein Marmorſtein auf ſie geſchoben,
Und alle dachten, daß er ſie zermalme.

2. Allmählich aber trieb der Stamm; es hoben
Sich ſchwellend unter jener Laſt die Halme;
Sie wuchs empor zur königlichen Palme
Und trug den Stein im Blätterturban oben.

3. Dem Baume gleicht ein gotterfüllt Gemüte,
Das ſchon beſchwert wird in der Jugend Blüte
Mit Weh und zu erliegen ſcheint dem Drucke.

4. Nur ſtärker wird es durch der Leiden Bürde,
Sein Glaube feſter, höher ſeine Würde;
Zuletzt dient ihm des Kreuzes Laſt zum Schmucke.

## 127. Die Kreuzſchau. (1834.)

Von A. v. Chamiſſo.

Werke Leipzig 1856 Bd. IV, S. 82.

1. Der Pilger, der die Höhen überſtiegen,
Sah jenſeits ſchon das ausgeſpannte Tal
In Abendglut vor ſeinen Füßen liegen.

2. Auf duft'ges Gras im milden Sonnenſtrahl
Streckt' er ermattet ſich zur Ruhe nieder,
Indem er ſeinem Schöpfer ſich befahl.

3. Ihm fielen zu die matten Augenlider,
Doch ſeinen wachen Geiſt enthob ein Traum
Der ird'ſchen Hülle ſeiner trägen Glieder.

4. Der Schild der Sonne ward im Himmelsraum
Zu Gottes Angeſicht, das Firmament
Zu ſeinem Kleid, das Land zu deſſen Saum.

5. „Du wirſt dem, deſſen Herz dich Vater nennt,
Nicht, Herr, im Zorn entziehen deinen Frieden,
Wenn ſeine Schwächen er vor dir bekennt.

6. „Daß, wen ein Weib gebar, ſein Kreuz hienieden
Auch duldend tragen muß, ich weiß es lange;
Doch ſind der Menſchen Laſt und Leid verſchieden.

7. „Mein Kreuz iſt allzu ſchwer; ſieh, ich verlange
Die Laſt nur angemeſſen meiner Kraft;
Ich unterliege, Herr, zu hartem Zwange!“

8. Wie ſo er ſprach zum Höchſten kinderhaft,
Kam brauſend her der Sturm, und es geſchah,
Daß aufwärts er ſich fühlte hingerafft.

9. Und wie er Boden faßte, fand er da
Sich einſam in der Mitte räum'ger Hallen,
Wo ringsum ſonder Zahl er Kreuze ſah.

10. Und eine Stimme hört' er dröhnend hallen:
„Hier aufgeſpeichert iſt das Leid; du haſt
Zu wählen unter dieſen Kreuzen allen.“

11. Verſuchend ging er da, unſchlüſſig faſt,
Von einem Kreuz zum anderen umher,
Sich auszuprüfen die bequemre Laſt.

12. Dies Kreuz war ihm zu groß und das zu ſchwer;
So ſchwer und groß war jenes andre nicht,
Doch ſcharf von Kanten drückt' es deſto mehr.

13. Das dort, das warf wie Gold ein gleißend Licht,
Das lockt' ihn, unverſucht es nicht zu laſſen;
Dem goldnen Glanz entſprach auch das Gewicht.

14. Er mochte dieſes heben, jenes faſſen,
Zu keinem neigte noch ſich ſeine Wahl;
Es wollte keines, keines für ihn paſſen.

15. Durchmuſtert hatt' er ſchon die ganze Zahl —
Verlorne Müh'! Vergebens war's geſchehen!
Durchmuſtern mußt' er ſie zum andernmal.

16. Und nun gewahrt' er, früher überſehen,
Ein Kreuz, das leidlicher ihm ſchien zu ſein;
Und bei dem einen blieb er endlich ſtehen.

17. Ein ſchlichtes Marterholz, nicht leicht, allein
Ihm paßlich und gerecht nach Kraft und Maß:
„Herr", rief er, „ſo du willſt, dies Kreuz ſei mein!"

18. Und wie er's prüfend mit den Augen maß —
Es war dasſelbe, das er ſonſt getragen,
Wogegen er zu murren ſich vermaß.
Er lud es auf und trug's nun ſonder Klagen.

## 128. Letzte Heimkehr. (1832.)

Von J. v. Eichendorff.

Gedichte. Leipzig 1871. S. 67.

1. Der Wintermorgen glänzt ſo klar,
Ein Wandrer kommt von ferne,
Ihn ſchüttelt Froſt, es ſtarrt ſein Haar,
Ihm log die ſchöne Ferne;
Nun endlich will er raſten hier,
Er klopft an ſeines Vaters Tür.

2. Doch tot ſind, die ſonſt aufgetan,
Verwandelt Hof und Habe,
Und fremde Leute ſehn ihn an,
Als käm' er aus dem Grabe;
Ihn ſchauert tief im Herzensgrund,
Ins Feld eilt er zur ſelben Stund'.

3. Da ſang kein Vöglein weit und breit,
Er lehnt' an einem Baume;
Der ſchöne Garten lag verſchneit,
Es war ihm wie im Traume,
Und wie die Morgenglocke klingt,
Im ſtillen Feld er niederſinkt.

4. Und als er aufſteht vom Gebet,
Nicht weiß, wohin ſich wenden,
Ein ſchöner Jüngling bei ihm ſteht,
Faßt mild ihn bei den Händen:
„Komm mit, ſollſt ruhn nach kurzem Gang!"
Er folgt, ihn rührt der Stimme Klang.

5. Nun durch die Bergeseinſamkeit
Sie wie zum Himmel ſteigen;
Kein Glockenklang mehr reicht ſoweit
Sie ſehn im öden Schweigen
Die Länder hinter ſich verblühn,
Schon Sterne durch die Wipfel glühn.

6. Der Führer jetzt die Fackel facht
Erhebt und ſchweigend ſchreitet;
Bei ihrem Schein die ſtille Nacht
Gleichwie ein Dom ſich weitet,
Wo unſichtbare Hände bau'n —
Den Wandrer faßt ein heimlich Grau'n.

7. Er ſprach: „Was bringt der Wind herauf
So fremden Laut getragen,
Als hört' ich ferner Ströme Lauf,
Dazwiſchen Glocken ſchlagen?"
„Das iſt des Nachtgeſanges Wehn,
Sie loben Gott in ſtillen Höh'n."

8. Der Wandrer drauf: „Ich kann nicht mehr —
Iſt's Morgen, der ſo blendet?
Was leuchten dort für Länder her?"
Sein Freund die Fackel wendet:
„Nun ruh zum letzten Male aus!
Wenn du erwachſt, ſind wir zu Haus'."

# 2) Märchen, Sagen und Legenden.

## 129. Die Heinzelmännchen.

Von A. Kopiſch.

Geſammelte Werke. Berlin 1856. Bd. I, S. 122.

1. Wie war zu Köln es doch vordem
Mit Heinzelmännchen ſo bequem!
Denn, war man faul, man legte ſich
Hin auf die Bank und pflegte ſich:
Da kamen bei Nacht,
Ehe man's gedacht,
Die Männlein und ſchwärmten
Und klappten und lärmten,
Und rupften
Und zupften,
Und hüpften und trabten
Und putzten und ſchabten.
Und eh' ein Faulpelz noch erwacht,
War all ſein Tagewerk bereits gemacht!

2. Die Zimmerleute ſtreckten ſich
Hin auf die Spän' und reckten ſich.
Indeſſen kam die Geiſterſchar
Und ſah, was da zu zimmern war.
Nahm Meißel und Beil
Und die Säg' in Eil';
Sie ſägten und ſtachen,
Und hieben und brachen,
Verappten
und kappten,
Viſierten wie Falken
Und ſetzten die Balken.
Eh' ſich's der Zimmermann verſah,
Klapp, ſtand das ganze Haus ſchon fertig da!

3. Beim Bäckermeiſter war nicht Not,
Die Heinzelmännchen backten Brot.
Die faulen Burſchen legten ſich,
Die Heinzelmännchen regten ſich —
Und ächzten daher
Mit den Säcken ſchwer!
Und kneteten tüchtig
Und wogen es richtig,
Und hoben
Und ſchoben,
Und fegten und backten
Und klopften und hackten.
Die Burſchen ſchnarchten noch im Chor:
Da rückte ſchon das Brot, das neue, vor!

4. Beim Fleiſcher ging es juſt ſo zu;
Geſell und Burſche lag in Ruh'.
Indeſſen kamen die Männlein her
Und hackten das Schwein die Kreuz und Quer.
Das ging ſo geſchwind
Wie die Mühl' im Wind!
Die klappten mit Beilen,
Die ſchnitzten an Speilen,
Die ſpülten,
Die wühlten,
Und mengten und miſchten,
Und ſtopften und wiſchten.
Tat der Geſell die Augen auf,
Wapp, hing die Wurſt da ſchon im Ausverkauf!

5. Beim Schenken war es ſo: es trank
Der Küfer, bis er niederſank;
Am hohlen Faſſe ſchlief er ein,
Die Männlein ſorgten um den Wein,
Und ſchweſelten fein
Alle Fäſſer ein,
Und rollten und hoben
Mit Winden und Kloben,
Und ſchwenkten
Und ſenkten,
Und goſſen und panſchten,
Und mengten und manſchten.
Und eh' der Küfer noch erwacht,
War ſchon der Wein geſchönt und fein gemacht!

6. Einſt hatt' ein Schneider große Pein;
Der Staatsrock ſollte fertig ſein;
Warf hin das Zeug und legte ſich
Hin auf das Ohr und pflegte ſich.
Da ſchlüpften ſie friſch
In den Schneidertiſch
Und ſchnitten und rückten,
Und nähten und ſtickten,
Und faßten
Und paßten
Und ſtrichen und guckten,
Und zupften und ruckten,
Und eh' mein Schneiderlein erwacht,
War Bürgermeiſters Rock bereits gemacht!

7. Neugierig war des Schneiders Weib
Und macht ſich dieſen Zeitvertreib:
Streut Erbſen hin die andre Nacht.
Die Heinzelmännchen kommen ſacht;
Eins fähret nun aus,
Schlägt hin im Haus,
Die gleiten von Stufen
Und plumpen in Kufen,
Die fallen
Mit Schallen,
Die lärmen und ſchreien
Und vermaledeien!
Sie ſpringt hinunter auf den Schall
Mit Licht — huſch, huſch, huſch, huſch! —
verſchwinden all'.

8. O weh, nun ſind ſie alle fort,
Und keines iſt mehr hier am Ort!
Man kann nicht mehr wie ſonſten ruhn,
Man muß nun alles ſelber tun!
Ein jeder muß ſein
Selbſt fleißig ſein,
Und kratzen und ſchaben,
Und rennen und traben,
Und ſchniegeln
Und bügeln,
Und klopfen und hacken,
Und kochen und backen.
Ach, daß es noch wie damals wär'!
Doch kommt die ſchöne Zeit nicht wieder
her!

## 130. Der Rattenfänger.

Von H. Kletke.

Gedichte. Vermehrte Geſamtausgabe. Berlin 1872. S. 68.

1. Wohl kam zur guten Stunde der Rattenfänger hier,
Ganz Hameln war im Grunde ein Neſt von Ratten ſchier!
Die naſchten und die nagten,
Die biſſen und die plagten
Allwege Menſch und Tier.

2. Was zog er aus dem Ranzen? Ein Pfeiflein wunderfein.
Er ſprach: „Sie müſſen tanzen mir alle, groß und klein,
Nicht eine ſoll verbleiben,
Mein Pfiff ſoll euch vertreiben
Die ganze Rattenpein."

3. Da ſprach von güld'nem Lohne frohlockend gleich der Rat:
„Nun, Pfeifer, pfeif, und ſchone nur nicht der Hölle Saat!
Verjag, die ſo beſchwerlich,
So räuberiſch begehrlich,
Den ganzen Rattenſtaat."

4. Es war ein Pfiff, ein heller, der lockte gleich von Haus,
Aus Kammer, Küch' und Keller die Ratten all' hinaus;
Die tief im Dunkel hauſend,
Sie ſammeln ſich zu tauſend,
Als ging's zu fettem Schmaus.

5. Raſch nimmt die Luſt ein Ende, er pfeift, und jede muß;
Er pfeift ſie ganz behende durchs Tor bis an den Fluß;
Am Waſſer pfeifend ſteht er,
Ins Waſſer pfeifend geht er,
Sie folgen mit Verdruß.

6. So manche dicke Ratte aß heut' ihr letztes Brot,
So manche nimmerſatte trank heute ſich zu Tod'!
Die argen Raubgeſellen
Begrub all' in den Wellen
Des Zaubers Machtgebot.

7. Die Ratten ſind verpfiffen, nun friſch den güldnen Lohn,
Zum Säckel raſch gegriffen! O weh! Da ſprach mit Hohn
Der Rat: „Mit Zaubertücken
Soll uns kein Schelm berücken;
Geh nur, du haſt ihn ſchon!“

8. Er ging, doch kam er wieder, ſchön war die Sommerzeit,
Froh ſah der Himmel nieder, ſtill war es weit und breit.
Vom Gotteshauſe mächtig
Klang Orgelton; andächtig
Saß dort die Chriſtenheit.

9. Im Jägerkleide kam er, ſein Hut war feuerrot;
Sein Pfeiflein wiedernahm er, ſein Antlitz böſe droht.
Es war ſo voller Grauen,
So furchtbar anzuſchauen,
Als käm' der grimme Tod.

10. Er pfeift, die Kinder ſpringen aus Hof und Haus hervor;
Es war ein ſeltſam Klingen; ſie hörten's nie zuvor.
Die Knaben und die Mädchen,
Er führt ſie durch das Städtchen,
Er führt ſie durch das Tor.

11. Am Koppelberg ſie halten, der Berg iſt aufgetan;
Sie gehn, tief in die Spalten geht pfeifend er voran.
Es ſah, wie dort ſie ſtanden,
Es ſah, wie ſie verſchwanden,
Nur eine Magd mit an.

12. Leer ſtanden Haus und Kammer — o du betrübte Zeit!
Es irrt der Mütter Jammer wehklagend weit und breit. —
Weh' euch, die's alſo wollten!
Untreu' ward ſchwer vergolten
Mit ew'gem Herzeleid.

## 131. Der wilde Jäger im Odenwalde.

Von A. Schreiber.

Sagen aus den Rheingegenden, dem Schwarzwalde und den Vogeſen. Frankfurt a. M. 1843. S. 394.

1. Bei Hörnerklang,
Bei Gejohl und Geſang,
Was zieht dahin das Tal entlang?
Die Roſſe trappeln, die Rüden bellen,
Und es will kein Sternlein die Nacht erhellen.

2. Sieh Fackelſchein
Dort auf Rodenſtein,
Da geht der brauſende Zug hinein;
Es krächzte der alte Unglücksrabe
Und weckte den Jäger aus dem Grabe.

3. Um Mitternacht
Da iſt er erwacht,
Er witterte Blut der nahen Schlacht;
Da ſchlug er ans Schwert mit knöchernen Händen,
Daß ſchnell zu ihm die Genoſſen ſich fänden.

4. Sein Felſenhaus
Dort liegt es in Graus,
Dort zog er im Leben ein und aus,
Und freute ſich, Menſchen und Wild zu hetzen
Und mit rauchendem Blut den Forſt zu netzen.

5. Auf Rodenſtein
Da kehrt' er einſt ein,
Da war eine Maid, gar hold und fein,
Wie die Engel Gottes auf Erden wallen;
Der Jäger, er fand an ihr Gefallen.

6. Er ſprach zu ihr
Mit frecher Begier:
„Hinüber auf Schnellerts folgſt du mir!“
Die holde Jungfrau ergreift ein Zagen,
Doch hat ſie den Mut, „Nein, nein!“ zu ſagen.

7. Der Jägersmann
Blickt grimmig sie an:
„Nun sollst du erfahren, was Rache kann!“
Mit diesen Worten eilt er von dannen
Und sammelt um Mitternacht seine Mannen.

8. Er jagt zu Roß
Weit voran dem Troß,
Er umzingelt der Jungfrau stilles Schloß;
Bald lodern empor die wilden Flammen
Und schlagen über dem Dache zusammen.

9. Die Glut so rot,
Das Geheul der Not,
In wirbelnder Lohe der preisliche Tod!
Es möchten sich wohl die Stein' erbarmen,
Der Jäger, er spottet noch frech der Armen.

10. Im Morgengrau
Stürzt prasselnd der Bau,
Und der Rauch umdüstert den Wald und die Au.
Jetzt läßt der Jäger mit gräßlichem Höhnen
Ringsum die jubelnden Hörner ertönen.

11. Da krächzt ein Rab'
Von einem Baum herab,
Er krächzet dreimal: „Ins Grab! ins Grab!“
Da sinkt der Jäger vom Pferde nieder,
Der Tod umhüllt ihm die Augenlider.

12. Nach Schnellerts hin
Seine Mannen ziehn,
Sie bedecken den Leichnam mit Tannengrün;
Da schließt sich vor ihm die Burgkapelle,
Es duldet ihn nicht an geweihter Stelle.

13. Schürt Kriegeswut
Die verderbliche Glut,
So weckt ihn im Sarge Geruch von Blut;
Es kommt geflogen der greise Rabe
Und krächzet dreimal auf seinem Grabe.

14. Bei Hörnerschall,
Bei Peitschenknall,
Zieht er dann mit seinen Genossen all'
Hinüber auf Rodensteins öde Trümmer,
Und in den Lüften entsteht ein kläglich Gewimmer.

## 132. Graf Hugo von Egisheim[1]).

Von Aug. Stöber.

Gedichte. Mülhausen i. E. 1867. S. 155.

1. Lawinen donnern, es rast der Föhn,
Ein Mann irrt auf den Alpenhöh'n;
Die dunkeln Haare fliegen wild,
Kaum hält der Stab das Jammerbild.

2. Sturzbäche brausen ins Gletschertal,
Er schreitet drüber, er achtet's keinmal;
Er ruft ins dumpfe Wellengetös':
„O heiliger Vater, die Seel' erlös'!“

3. Schon winket ihm drüben das blühende Land,
Er schürzet rascher das Bußgewand;
Aus der schwellenden Goldorange Saft
Saugt er sich gierig belebende Kraft.

4. So wankt er fürder zum Tiberstrom,
Vor den Blicken liegt ihm das heilige Rom;
Doch will er nicht gönnen den Gliedern Rast,
Bis er losgewälzet des Frevels Last.

5. Er wirft sich flehend vor Leos Thron:
„Gib Gnade! Gnade! dem sündigsten Sohn!
Verkünd ihm, ob der Kirche Huld
Kann tilgen des Kindermordes Schuld!

6. „Graf Hugo bin ich, an Gütern reich,
An Jammer, ach, keinem Sünder gleich!
O Bruno! Bruno! mein Knabe süß,
Den ich um Gold ermorden ließ.

7. „In wilder, finstrer Sturmesnacht
Hat der Mordgesell sein Herz mir gebracht,
Des Knaben rotes Herz, mir zum Pfand,
Daß sein Haupt er zerschellt an der Felsenwand!“

8. Laut jammernd verhüllt er sein Angesicht,
Und Leo hält sich länger nicht.
„Graf Hugo! . . . mein Vater! — an Brunos Herz
Soll brechen dein letzter Erdenschmerz!

9. „Der Knappe, dem du bezahlt mein Blut,
Er ließ mich wandern in Gottes Hut;
Ein Hirschlein hat er statt meiner erlegt,
Sein Herz dir gebracht; das meine schlägt!

10. „Das meine schlägt, o Vater, so hell,
Laut ruft es und fleht zum Gnadenquell:
O Heiland, der am Kreuz erblich,
Des Vaters, des Vaters erbarme dich!“

[1]) Sein Sohn Bruno, den 21. Juni 1002 geboren, gelangte als Leo IX. 1049 auf den päpstlichen Thron und starb den 19. April 1054.

## 133. Eliſabeths Roſen.

Von L. Bechſtein.

Gedichte. Frankfurt a. M. 1836. S. 237.

1. Sie ſtieg herab, wie ein Engelbild,
Die heil'ge Eliſabeth, fromm und mild,
Die Gaben ſpendende, hohe Frau
Vom Wartburgſchloß auf die grüne Au.

2. Sie trägt ein Körbchen, es iſt verhüllt,
Mit milden Gaben iſt's vollgefüllt.
Schon harren die Armen am Bergesfuß
Auf der Herrin freundlichen Liebesgruß.

3. So geht ſie ruhig — doch Argwohn ſtahl
Durch Verräters Mund ſich zu dem Gemahl,
Und plötzlich tritt Ludwig ihr zürnend nah
Und fragt die Erſchrockne: „Was trägſt du da?“

4. „Herr, Blumen!“ bebt's von den Lippen ihr.
„Ich will ſie ſehen! Zeige ſie mir!“
Wie des Grafen Hand das Körbchen enthüllt,
Mit duftenden Roſen iſt's erfüllt.

5. Da wird das zürnende Wort gelähmt,
Vor der edlen Herrin ſteht er beſchämt;
Vergebung erflehet von ihr ſein Blick,
Vergebung lächelt ſie ſanft zurück.

6. Er geht, und es fliegt ihres Auges Strahl
Fromm dankbar empor zu dem Himmelsſaal.
Dann hat ſie zum Tal ſich herabgewandt
Und die Armen geſpeiſet mit milder Hand.

## 134. Das wilde Heer.

Von L. Bechſtein.

Gedichte. Frankfurt a. M. 1836. S. 269.

1. Habt ihr die Wunderſagen
Vom Hörſeelberg gehört,
Aus dem das tolle Jagen
Des wilden Heeres fährt?

2. Wenn Schnee den Wald umſchleiert,
Wenn in der Winterzeit
Der Landbewohner feiert,
Und ſich an Märchen freut, —

3. Da wird vom Berg die Kunde
Oft in den Hütten laut,
So ſchaurig, daß der Runde
Der Spinnerinnen graut.

4. Es wohnen dunkle Mächte
Tief in des Berges Schoß,
Und während der zwölf Nächte
Läßt ſie die Hölle los.

5. Da dröhnt's wie Horngeſchmetter
Tief aus des Berges Kluft,
Da brauſt's wie Hagelwetter
Hoch oben in der Luft.

6. Da ſchallt ein lautes Heulen
Von Stimmen, dumpf und hell,
Bald wie der Schrei der Eulen,
Bald wie der Hunde Gebell.

7. In Menſchen- und Tiergeſtalten
Zeigt ſich ein Geiſtertroß,
Von Jungen, wie von Alten,
Und Jäger, hoch zu Roß.

8. So zieht das Spukgelichter,
Ein grauſenvoller Schwarm,
Im Nacken die Geſichter,
Oder Schädel unterm Arm.

9. Die dumpfen Hörner ſchallen
Weit über der Wälder Nacht,
Die Peitſchenhiebe knallen,
Und Eich' und Fichte kracht.

10. Voran den Höllenbränden
Da ſchreitet ſtets ein Greis;
Der trägt in ſeinen Händen
Ein Stäbchen ſilberweiß.

11. Der Alte warnt getreulich,
Daß jeder ſchnell entflieht,
Wenn jenes Jagdheer greulich
Mit Lärm waldüberzieht.

12. Oft, wenn das Heer in Lüften
Daherrauſcht über die Höh'n,
Sieht man auf Waldestriften
Den treuen Eckart gehn.

13. Und will's im Oſten tagen,
Und dämmert Morgenſchein,
Da zieht das tolle Jagen
All' wieder zum Berg hinein.

14. Oft tönt die Klage vom weiten
Von Geiſtern, im Berg gebannt,
Drum ward er vor alten Zeiten
Hör-Seelen-Berg genannt.

## 135. Jeſus und das Moos.

Von H. v. Chezy.

Hier nach: J. Hommer, Leben und Heimat in Gott. Leipzig 1862. S. 41.

1. In tiefer Schlucht, in Waldes Schoß
Entſproßt das falbe, zarte Moos,
— Ein Teppich ſanft und weich, —
Den Blicken zeigt es ſich nur klein,
Doch ſchließt ſein Bau ein Wunder ein
Von Wipfel, Laub und Zweig. —

2. Zu Roſenglut und Waldesgrün
Schaut hin das Moos und ſeufzt: „Solch Blühn
Gab mir der Himmel nicht!
Viel' Tritte rauſchen über mir,
Und nicht ein Auge ſieht mich hier;
Denn alle lockt das Licht.“ —

3. Und ſieh! da kommt im Abendſchein
Der Heiland wandelnd durch den Hain
Mit bleichem Angeſicht;
Mit wundem Fuß er weiter mußt',
Und fühlt nun ſolches Moos mit Luſt
Zu ſeinen Füßen dicht. —

4. Er kam erſt durch die Wüſte her,
Da brannte Sand und Sonne ſehr;
Nun kühlt das ſanfte Moos.
Da ſpricht der Heiland: „Vatershand
Hat ſolche Lieb' auf mich verwandt,
In Zartheit ernſt und groß!

5. „Welch Auge mag ſo blöde ſein,
Erkennt nicht in der Kleinheit dein
Des Schöpfers Macht und Huld? —
Du zierlich Kraut, — ſo außer acht —
Dein hat der Vater auch gedacht!
Dein Los, trag's mit Geduld!“ —

6. Dies Wort bracht' Jeſus kaum hervor,
Da ſprießt es aus dem Moos empor,
Ein Röslein — wundermild;
Moosröslein wurd' es bald genannt;
Das blühet nun in jedem Land,
Der Demut ſtilles Bild.

7. Des Heilands Erdenleid verſüßt
Hat es — die Füß' ihm ſanft geküßt,
Da wurd' ihm ſolch ein Lohn!
O Herz! ſei immer rein und weich;
Biſt du bedrückt — dem Mooſe gleich,
Dann knoſpt die Roſe ſchon!

## 136. Die Trauerweide.

Von L. v. Plönnies.

Hier nach: A. Hungari, Gottesblumen. Frankfurt a. M. 1860. Bd. II, S. 44.

„Trauerweide, Trauerweide!
Warum ſenkſt in tiefem Leide
Du die Zweige ſtill herab,
Neigeſt dich auf jedes Grab?
Warum nicht in heitre Lüfte,
In das Meer der Ätherdüfte
Hebſt du friſch und frei das Haupt? -
Wer hat dir das Glück geraubt?
Trauerweide, laß dich fragen:
Welches Leid hat dich geſchlagen?“
Von dem letzten Wort erſchüttert,
Sah ich bang die Weide ſchwanken;
Wie vom mächt'gen Blitz zerſplittert,
Sah ich beben ſie und wanken.
Säuſelnd durch die ſchwanken Zweige
Drang ihr Wort, das ſchmerzensreiche:
„Trauerweide iſt mein Namen,
Und mit Recht,
Leid und Trauer trägt im Samen
Mein Geſchlecht!
An der Trauer ich mich weide
Ewiglich;
Denn der Herr ſprach: ‚Traure, Weide,
Still für mich!‘
Ach! ich ward vom ſünd'gen Hohne
Frech mißbraucht,
Ward ins Blut von Gottes Sohne
Einſt getaucht,
Meine Zweige, wild geſchwungen
Von der Wut,
Tranken, willenlos gezwungen,
Einſt ſein Blut!
Doch ins Mark von meinem Leben
Drang ſein Schmerz;
Nie mehr kann ich mich erheben
Himmelwärts;
Und ſein Blut, das ich vergoſſen,
Beugt hinab
Meine Zweige, wie ſie ſproſſen,
Still zum Grab!
Wie ſein Leben gab der eine
Allen hin,
So auf allen Gräbern weine
Ich um ihn.“

## 137. Der gerettete Jüngling.

Von G. v. Herder.

Sämtliche Werke. Herausgegeben von B. Suphan. Berlin 1882. Bd. XXVIII, S. 179.

Eine ſchöne Menſchenſeele finden
Iſt Gewinn; ein ſchönerer Gewinn iſt,
Sie erhalten, und der ſchönſt' und ſchwerſte,
Sie, die ſchon verloren war, zu retten.
Sankt Johannes, aus dem öden Patmos
Wiederkehrend, war, was er geweſen,
Seiner Herden Hirt. Er ordnet' ihnen
Wächter, auf ihr Innerſtes aufmerkſam.
In der Menge ſah er einen ſchönen
Jüngling; fröhliche Geſundheit glänzte
Vom Geſicht ihm, und aus ſeinen Augen
Sprach die liebevollſte Feuerſeele.
„Dieſen Jüngling", ſprach er zu dem Biſchof,
„Nimm in deine Hut! Mit deiner Treue
Stehſt du mir für ihn! Hierüber zeuge
Mir und dir vor Chriſto die Gemeine!"
Und der Biſchof nahm den Jüngling zu ſich,
Unterwies ihn, ſah die ſchönſten Früchte
In ihm blühn, und weil er ihm vertraute,
Ließ er nach von ſeiner ſtrengen Aufſicht.
Und die Freiheit war ein Netz des Jünglings.
Angelockt von ſüßen Schmeicheleien,
Ward er müßig, koſtete die Wolluſt,
Dann den Reiz des fröhlichen Betruges,
Dann der Herrſchaft Reiz; er ſammelt' um ſich
Seine Spielgeſellen, und mit ihnen
Zog er in den Wald, ein Haupt der Räuber.
Als Johannes in die Gegend wieder-
Kam, die erſte Frag' an ihren Biſchof
War: „Wo iſt mein Sohn?" — „Er iſt geſtorben!"
Sprach der Greis und ſchlug die Augen nieder.
„Wann und wie?" — „Er iſt Gott abgeſtorben!
Iſt (mit Tränen ſag' ich es) ein Räuber." —
„Dieſes Jünglings Seele", ſprach Johannes,
„Fodr' ich einſt von dir. Jedoch, wo iſt er?"
„Auf dem Berge dort." — „Ich muß ihn ſehen."
Und Johannes, kaum dem Walde nahend,
Ward ergriffen (ebendieſes wollt' er).
„Führet", ſprach er, „mich zu eurem Führer!"
Vor ihn trat er, und der ſchöne Jüngling
Wandte ſich; er konnte dieſen Anblick
Nicht ertragen. „Fliehe nicht, o Jüngling,
Nicht, o Sohn, den waffenloſen Vater,
Einen Greis! Ich habe dich gelobet
Meinem Herrn und muß für dich antworten.
Gerne geb' ich, willſt du es, mein Leben
Für dich hin; nur dich fortan verlaſſen
Kann ich nicht! Ich habe dir vertrauet,
Dich mit meiner Seele Gott verpfändet."
Weinend ſchlang der Jüngling ſeine Arme
Um den Greis, bedeckete ſein Antlitz,
Stumm und ſtarr; dann ſtürzte ſtatt der Antwort
Aus den Augen ihm ein Strom von Tränen.
Auf die Kniee ſank Johannes nieder,
Küßte ſeine Hand und ſeine Wange,
Nahm ihn neugeſchenket vom Gebirge,
Läuterte ſein Herz mit ſüßer Flamme.
Jahre lebten ſie dann unzertrennet
Miteinander; in den ſchönen Jüngling
Goß ſich ganz Johannes' ſchöne Seele.
Sagt, was war es, was das Herz des Jünglings
Alſo tief erkannt' und innig feſthielt
Und es wiederfand und unbezwingbar
Rettete? Ein Sankt-Johannes-Glaube,
Zutrau'n, Feſtigkeit und Lieb' und Wahrheit.

## 138. Der Tapfere.

Von G. v. Herder.

Sämtliche Werke. Herausgegeben von B. Suphan. Berlin 1882. Bd. XXVIII, S. 184.

.. Ein edler Held iſt, der fürs Vaterland,
Ein edlerer, der für des Landes Wohl,
Der edelſte, der für die Menſchheit kämpft.
Ein Hoherprieſter, trug er ihr Geſchick
In ſeinem Herzen und der Wahrheit Schild
Auf ſeiner Bruſt. Er ſteht im Felde, Feind
Des Aberglaubens und der Üppigkeit,
Des Irrtums und der Schmeicheleien Feind,
Und fällt, der höchſten Majeſtät getreu,
Dem redlichen Gewiſſen, das ihm ſagt:
Er ſuchte nicht und floh nicht ſeinen Tod.
„Was tötet ihr die Glieder?" rief die Wut
Des Heidenpöbels. „Sucht und würgt das Haupt!"
Man ſucht den frommen Polykarpus, ihn,

Johannes' Bild und Schüler. Sorgſam hatten
Die Seinen ihn aufs Land geflüchtet. „Ich
Sah dieſe Nacht das Kiſſen meines Haupts
In voller Glut", ſo ſprach der kranke Greis,
„Und wachte mit beſondrer Freude auf.
Ihr Lieben mühet euch umſonſt; ich ſoll
Mit meinem Tode Gott lobpreiſen." Da
Erſcholl das Haus vom ſtürmenden Geſchrei
Der Suchenden. Er nahm ſie freundlich auf.
„Bereitet", ſprach er, dieſen Müden noch
Ein Gaſtmahl! Ich bereite mich indes
Zur Reiſe auch." Er ging und betete
Und folgete mit vielen Schmerzen ihnen
Zum Konſul. Als er auf den Richtplatz kam,
Rief eine mächt'ge Stimm' im Buſen ihm:
„Sei tapfer, Polykarp!" Der Konſul ſieht
Den heitern, ſchönen, ruhig-ſanften Greis
Verwundernd. „Schone", ſprach er, „deines Alters
Und opfre hier, entſagend deinem Gott!" —
„Wie ſollt' ich einem Herrn entſagen, dem
Zeitlebens ich gedienet, und der mir
Zeitlebens Gutes tat?" — „Und fürchteſt du
Denn keines Löwen Zahn?" — „Zermalmet muß
Das Weizenkorn doch einmal werden, ſei's,
Wodurch es will, zur künft'gen neuen Frucht."
Der Pöbel rief: „Hinweg mit ihm! Er iſt
Der Chriſten Vater. Feuer! Feuer her!"
Sie trugen Holz zuſammen, und mit Wut
Ward er ergriffen. „Freunde", ſprach er, „hier
Bedarf's der Bande nicht; wer dieſer Flamme
Mich würdigte, der wird mir Mut verleihn!"
Und legte ſtill den Mantel ab und band
Die Sohlen ſeiner Füße los und ſtieg
Hinauf zum Scheiterhaufen. Plötzlich ſchlug
Die Flamm' empor, umwehend ringsum ihn
Gleich einem Segel, das ihn kühlete,
Gleich einem glänzenden Gewölbe, das
Den Edelſtein in ſeine Mitte nahm
Und ſchöner ihn verklärte, bis ergrimmt
Ihm eine freche Fauſt das Herz durchſtieß.
Er ſank, es floß ſein Blut, die Flamm' erloſch,
Und eine weiße Taube flog empor.
Du lachſt der weißen Taube? Soll einmal
Ein Geier dir, dem Sterbenden, die Bruſt
Durchbohren? dem Geſtorbenen das Aug'
Ein Rab' aushacken? aus der Aſche ſich
Molch oder Natter winden? Spotte nicht
Des Bildes, das die Sage ſich erſchuf!
Nur Einfalt, Unſchuld gibt im Tode Mut.

## 139. Petrus.

Von G. Kinkel.

Gedichte. Stuttgart und Augsburg 1857. S. 24.

„Weil verſtockt der Jude Simon Romas Götter hat geſchmähet,
Weil verbotnen Bund er ſtiftet, Zwietracht in die Geiſter ſäet,
Weil er einen Miſſetäter aller Reiche König glaubt:
Geb' ich morgen preis dem Volke an dem Kreuz ſein frevelnd Haupt."
Kaiſer Nero hat's geſprochen. Petrus kniet zu Nacht im Kerker.
Betend wächſt des Greiſes Glaube, Himmelsſehnſucht regt ſich ſtärker;
Morgen wird das Wort erfüllet, das der Herr prophetiſch ſprach:
„Fremde Hand wird einſt dich gürten, Simon, folge dann mir nach!"
Da — welch leis-vorſichtig Klopfen? Durch die Riegel ächzt die Feile,
Und die alte Pforte weichet vor dem eingeklemmten Beile —
Wird's zu lange dem Tyrannen? Sendet er die Schlächter ſchon?
Nein, es ſpricht ein kühnes Wagſtück ſeinem tollen Wüten Hohn.
Freunde ſind's! Die Chriſten lagen im Gebet an heil'ger Stätte,
Daß den alten, treuen Diener noch einmal der Herr errette.
Doch umſonſt Gebet und Zähre! Diesmal, ach, kein Engel naht —
Da beſchließen drei der Kühnſten friſch auf eigene Hand die Tat.
Stark wohl ſind die Römerkrieger, wachehaltend vor den Türen.
Stärker doch der Wein von Chios, den die dreie mit ſich führen.
Mächtig ſind des Kerkers Riegel, doch dem Eifer allzu ſchwach —
Schau, mit ſtolzverklärten Blicken ſtehn die drei ſchon im Gemach.

„Rettung, Rettung, alter Vater! Stärker als der Tod ist Treue,
Unsrer Lieb' und Christi Kirche ist dein Haupt geschenkt aufs neue!
Hier nur droht der Tod dir; auf denn, gürte deine Lenden, flieh!
Schiffe, stets bereit zur Abfahrt, triffst du in Puteoli."
Alter Jünger, kannst du wanken — den der Herr den Felsen nannte,
Der soeben in der Sehnsucht heil'gen Liebesflammen brannte?
Ja, er gibt sich hin den Freunden, überrascht und halb im Traum;
Frei schon auf dem Forum steht er, und er selber glaubt es kaum.
Eilends zu der Pforte lenken nun die vier die leisen Schritte —
Unterm Tore kurzer Abschied — Bruderkuß nach Christensitte —
Jene kehren zu den Ihren, Frohes kündend, schnell im Lauf;
Diesen nimmt die Nacht beschirmend in den weiten Mantel auf.
Auf der Gräberstraße zieht er; wegeweisend stehn die Sterne;
Neros goldnes Haus verdämmert schon in nächtlich blauer Ferne. —
Aber hat die tiefe Mittnacht solcher leisen Wandrer mehr?
Ihm entgegen kommt ein andrer auf dem schmalen Weg daher.
Und es graust dem Alten — seitwärts biegt er aus mit schwankem Fuße;
Schnell vorüber an dem Fremden schmiegt er sich mit flücht'gem Gruße —
Grüßend schaut ihm der ins Antlitz, daß der Sternglanz auf ihn fällt —
Petrus, wie doch starrst du seltsam? Sprich, was deine Flucht verhält!
Auf des Mannes hoher Stirne glänzen blut'gen Schweißes Tropfen;
Wohl nicht von des Weges Mühe mag so bang das Herz ihm klopfen;
Bleich zum Tod das schöne Antlitz — Petrus, kennst du die Gestalt?
Schon einmal vor deinen Augen ist sie also hingewallt.
Grüßend neigt er sich zum Jünger; seiner Augen helle Sonnen
Sind von eines stillen Grames Regenwolken mild umronnen;
Fest nun ruhn sie auf dem Flüchtling — Petrus, kennst den Blick du nicht?
Schon einmal rief er dich Schwachen wieder zur vergess'nen Pflicht.
Ja, das ist der Herr! So stand er vor dem ungerechten Heiden,
So blieb still und klar sein Antlitz mitten in den wilden Leiden.
Und der Jünger sinkt zur Erde — doch das Herz läßt ihm nicht Ruh',
Und er ruft: „Mein Herr und Heiland, rede, wohin gehest du?"
Und der Heiland spricht, das Auge unverwandt auf ihn gerichtet,
Mit dem Blick, der an der Tage letztem Falsch und Wahrheit sichtet:
„Meine Kirche steht verödet, meine Treuen sind verirrt —
Zu der Stadt ist meine Straße, wo man neu mich kreuz'gen wird!"
Und der Herr verschwand; doch eil'ger, als er erst den Tod geflohen,
Flieht der Jünger jetzt das Leben, dem des Meisters Blicke drohen.
Schnell den Lauf zurückgewendet! Über Hellas graut es schon;
Neros goldnes Haus erglänzet bald als goldner Sonnenthron.
Und die Sonne, die jetzt Freuden ausgießt über allen Landen,
Trifft die Christen laut noch jubelnd, den Apostel doch in Banden.
Lauter weinend sah sie jene, als sie wieder sank zu Tal,
Doch ein selig sterbend Antlitz traf am Kreuz ihr letzter Strahl.

# 3) Erzählungen, Balladen und Romanzen.

## 140. Der ewige Jude. (1783.)

(Eine lyrische Rhapsodie.)

Von Chr. Schubart.

Gedichte. Historisch-kritische Ausgabe von G. Hauff. Leipzig 1886. S. 366.

Aus einem finsteren Geklüfte Karmels
Kroch Ahasver. Bald sind's zweitausend Jahre,
Seit Unruh' ihn durch alle Länder peitschte.
Als Jesus einst die Last des Kreuzes trug,
Und rasten wollt' vor Ahasveros' Tür;
Ach! da versagt' ihm Ahasver die Rast,
Und stieß den Mittler trotzig von der Tür:
Und Jesus schwankt' und sank mit seiner Last.
Doch er verstummt'. — Ein Todesengel trat
Vor Ahasveros hin, und sprach im Grimme:
„Die Ruh' hast du dem Menschensohn versagt;
Auch dir sei sie, Unmenschlicher! versagt,
Bis daß er kömmt!“ —
Ein schwarzer, höllentflohner
Dämon geißelt nun dich, Ahasver,
Von Land zu Land. Des Sterbens süßer Trost,
Der Grabesruhe Trost ist dir versagt!

Aus einem finsteren Geklüfte Karmels
Trat Ahasver. Er schüttelte den Staub
Aus seinem Barte; nahm der aufgetürmten
Totenschädel einen, schleudert' ihn
Hinab vom Karmel, daß er hüpft' und scholl
Und splitterte. „Der war mein Vater!“ brüllte
Ahasveros. Noch ein Schädel! Ha,
Noch sieben Schädel polterten hinab
Von Fels zu Fels! „Und die — und die“, mit stierem,
Vorgequollnem Auge rast's der Jude:
„Und die — und die — sind meine Weiber — ha!“
Noch immer rollten Schädel. „Die und die“,
Brüllt Ahasver, „sind meine Kinder, ha!
Sie konnten sterben! — Aber ich Verworfner,
Ich kann nicht sterben! — Ach, das furchtbarste Gericht
Hängt schreckenbrüllend ewig über mir. —

Jerusalem sank. Ich knirschte den Säugling,
Ich rannt' in die Flamme. Ich fluchte dem Römer;
Doch ach! doch ach! der rastlose Fluch
Hielt mich am Haar, und — ich starb nicht.

Roma, die Riesin, stürzte in Trümmer;
Ich stellte mich unter die stürzende Riesin,
Doch sie fiel und zermalmte mich nicht.
Nationen entstanden und sanken vor mir;
Ich aber blieb und starb nicht! —
Von wolkengegürteten Klippen stürzt' ich
Hinunter ins Meer; doch strudelnde Wellen
Wälzten mich ans Ufer, und des Seins
Flammenpfeil durchstach mich wieder.
Hinab sah ich in Ätnas grausen Schlund
Und wütete hinab in seinen Schlund:
Da brüllt' ich mit den Riesen zehn Monden lang
Mein Angstgeheul, und geißelte mit Seufzern
Die Schwefelmündung — Ha! zehn Monden lang!!
Doch Ätna gor und spie in einem Lavastrom
Mich wieder aus. Ich zuckt' in Asch' und lebte noch!

Es brannt' ein Wald. Ich Rasender lief
In brennenden Wald. Vom Haare der Bäume
Troff Feuer auf mich —
Doch sengte nur die Flamme mein Gebein
Und — verzehrte mich nicht.

Da mischt' ich mich unter die Schlächter der Menschheit,
Stürzte mich dicht ins Wetter der Schlacht,
Brüllte Hohn dem Gallier,
Hohn dem unbesiegten Deutschen:
Doch Pfeil und Wurfspieß brachen an mir.
An meinem Schädel splitterte
Des Sarazenen hochgeschwungnes Schwert.
Kugelsaat regnete herab an mir,
Wie Erbsen auf eiserne Panzer geschleudert.
Die Blitze der Schlacht schlängelten sich
Kraftlos um meine Lenden,
Wie um des Zackenfelsens Hüften,
Der in Wolken sich birgt. —
Vergebens stampfte mich der Elefant;
Vergebens schlug mich der eiserne Huf
Des zornfunkelnden Streitrosses.

Mit mir borſt die pulverſchwangre Mine,
Schleuderte mich hoch in die Luft,
Betäubt ſtürzt' ich herab und fand mich — geröſtet
Unter Blut und Hirn und Mark,
Und unter zerſtümmelten Äſern
Meiner Streitgenoſſen wieder.
An mir ſprang der Stahlkolben des Rieſen;
Des Henkers Fauſt lahmte an mir; —
Des Tigers Zahn ſtumpfte an mir;
Kein hungriger Löwe zerriß mich im Circus.
Ich lagerte mich zu giftigen Schlangen;
Ich zwickte des Drachen blutroten Kamm;
Doch die Schlange ſtach — und mordete nicht!
Mich quälte der Drach' und mordete nicht!

Da ſprach ich Hohn dem Tyrannen,
Sprach zu Nero: ‚Du biſt ein Bluthund!'
Sprach zu Chriſtiern: ‚Du biſt ein Bluthund!'
Sprach zu Mulei Ismael: ‚Biſt ein Bluthund!'
Doch die Tyrannen erſannen
Grauſame Qualen, und würgten mich nicht.
Ha! nicht ſterben können! nicht ſterben können!
Nicht ruhen können nach des Leibes Mühen!
Den Staubleib tragen! mit ſeiner Totenfarbe
Und ſeinem Siechtum! ſeinem Gräbergeruch!
Sehen müſſen durch Jahrtauſende
Das gähnende Ungeheuer Einerlei!
Und die geile, hungrige Zeit,
Immer Kinder gebärend, immer Kinder verſchlingend! —

Ha! nicht ſterben können! nicht ſterben können!!

Schrecklicher Zürner im Himmel,
Haſt du in deinem Rüſthauſe
Noch ein ſchrecklicheres Gericht? —
Ha, ſo laß es niederdonnern auf mich! —
Mich wälz' ein Wetterſturm
Von Karmels Rücken hinunter,
Daß ich an ſeinem Fuße
Ausgeſtreckt lieg' —
Und keuch' — und zuck' und — ſterbe!!" —

Und Ahasveros ſank. Ihm klang's im Ohr!
Nacht deckte ſeine borſt'gen Augenwimper.
Ein Engel trug ihn wieder ins Gekluft;
„Da ſchlaf nun", ſprach der Engel, „Ahasver,
Schlaf ſüßen Schlaf; Gott zürnt nicht ewig!"

„Wenn du erwachſt, ſo iſt er da,
Des Blut auf Golgatha du fließen ſahſt;
Und der — auch dir verzeiht."

## 141. Die beſchränkte Frau.

Von Freiin A. v. Droſte-Hülshoff.

Geſammelte Schriften. Herausgegeben von L. Schücking. Stuttgart 1878. Bd. I, S. 224.

1. Ein Krämer hatte eine Frau,
Die war ihm ſchier zu ſanft und milde,
Ihr Haar zu licht, ihr Aug' zu blau,
Zu gleich ihr Blick dem Mondenſchilde;
Wenn er ſie ſah ſo ſtill und ſacht
Im Hauſe gleiten wie ein Schemen,
Dann faßt es ihn wie böſe Macht,
Er mußte ſich zuſammennehmen.

2. Vor allem macht' ihm Überdruß
Ein Wort, das ſie an alles knüpfte,
Das freilich in der Rede Fluß
Gedankenlos dem Mund entſchlüpfte:
„In Gottes Namen", ſprach ſie dann,
Wenn ſchwere Prüfungsſtunden kamen,
Und wenn zu Weine ging ihr Mann,
Dann ſprach ſie auch: „In Gottes Namen".

3. Das ſchien ihm lächerlich und dumm,
Mitunter frevelhaft-vermeſſen;
Oft ſchalt er, und ſie weinte drum
Und hat es immer doch vergeſſen.
Gewöhnung war es früher Zeit
Und klöſterlich verlebter Jugend;
So war es keine Sündlichkeit
Und war auch eben keine Tugend.

4. Ein Sprichwort ſagt: „Wem gar nichts fehlt,
Den ärgert an der Wand die Fliege";
So hat dies Wort ihn mehr gequält,
Als andre — Hinterliſt und Lüge.
Und ſprach ſie ſanft: „Es paßte ſchlecht!"
Durch Demut ſeinen Groll zu zähmen,
So ſchwur er, übel oder recht,
Werd' es ihn ärgern und beſchämen.

5. Ein Blütenhag war ſeine Luſt.
Einſt ſah die Frau ihn ſinnend ſtehen
Und ganz verſunken, unbewußt,
So Zweig an Zweig vom Strauche drehen;
„In Gottes Namen!“ rief ſie, „Mann,
Du ruinierſt den ganzen Hagen!“
Der Gatte ſah ſie grimmig an,
Fürwahr, faſt hätt' er ſie geſchlagen.

6. Doch wer da Unglück ſucht und Reu',
Dem werden ſie entgegeneilen;
Der Handel iſt ein zart Gebäu
Und ruht gar ſehr auf fremden Säulen.
Ein Freund falliert, ein Schuldner flieht,
Ein Gläub'ger will ſich nicht gedulden,
Und eh' ein halbes Jahr verzieht,
Weiß unſer Krämer ſich in Schulden.

7. Die Gattin hat ihn oft geſehn
Gedankenvoll im Sande waten,
Am Contobuche ſeufzend ſtehn,
Und hat ihn endlich auch erraten;
Sie öffnet heimlich ihren Schrein,
Langt aus verborgner Fächer Grube;
Dann, leiſe wie der Mondenſchein,
Schlüpft ſie in ihres Mannes Stube.

8. Der ſaß, die ſchwere Stirn geſtützt,
Und rauchte fort am kalten Rohre.
„Karl!“ drang ein ſcheues Flüſtern itzt,
Und wieder „Karl!“ zu ſeinem Ohre;
Sie ſtand vor ihm, wie Blut ſo rot.
Als gält' es eine Schuld geſtehen.
„Karl“, ſprach ſie, „wenn uns Unheil droht,
Iſt's denn unmöglich, ihm entgehen?“

9. Drauf reicht ſie aus der Schürze dar
Ein Säckchen, ſtramm und ſchwer zu tragen,
Drin alles, was ſie achtzehn Jahr'
Erſpart am eigenen Behagen.
Er ſah ſie an mit raſchem Blick
Und zählte, zählte nun aufs neue,
Dann ſprach er ſeufzend: „Mein Geſchick
Iſt zu verwirrt, — dies langt wie Sprene!“

10. Sie bot ein Blatt und wandt' ſich um,
Erzitternd, glüh gleich der Granate;
Es war ihr kleines Eigentum,
Das Erbteil einer frommen Pate.
„Nein“, ſprach der Mann, „das ſoll nicht ſein!“
Und klopfte freundlich ihre Wangen.
Dann warf er einen Blick hinein.
Und ſagte dumpf: „Schier möcht' es langen“.

11. Nun nahm ſie aus der Schürze Grund
All' ihre armen Herrlichkeiten,
Theelöffelchen, Dukaten rund,
Was ihr geſchenkt von Kindeszeiten.
Sie gab es mit ſo freud'gem Zug!
Doch war's, als ob ihr Mund ſich regte,
Als ſie zuletzt aufs Contobuch
Der ſel'gen Mutter Trauring legte.

12. „Faſt langt es“, ſprach gerührt der Mann,
„Und dennoch kann es ſchmählich enden;
Willſt du dein Leben dann fortan,
Geplündert, friſten mit den Händen?“
Sie ſah ihn an — nur Liebe weiß
An liebem Blicke ſo zu hangen —;
„In Gottes Namen!“ ſprach ſie leiſ',
Und weinend hielt er ſie umfangen.

## 142. Deutſcher Brauch. 1495. (1830.)

Von Anaſtaſius Grün. [Anton Alexander Graf Auersperg.]

Der letzte Ritter. Romanzenkranz. Leipzig 1847. S. 114.

1. Zur Gruft ſank Kaiſer Friedrich. Gott geb' ihm ſanfte Ruh'!
Max[1]) faßt ſein gülden Scepter, — ei, Sonnenaar, Glück zu!
Zu Worms nun hielt er Reichstag. Auf, Fürſtenſchar, herbei,
Zu raten und zu fördern, daß Recht und Licht gedeih'!

2. Einſt in dem dumpfen Ratsſaal ſprang Max empor in Haſt,
Der Staub der Pergamente nahm ihm den Odem faſt,
Die ſpitzen, klugen Reden, die machten toll ihn ſchier,
Da rief er ſeinen Narren: „Freund Kunze, komm mit mir!“

3. Den Treuen liebt er vor allen, wohl einem Gärtner gleich,
Der jeden Baum mit Liebe pflegt in dem Gartenreich,

[1]) Gleich nach dem Tode ſeines Vaters berief Maximilian den Reichstag zu Worms zuſammen; hier ließ er den berühmten „großen Landfrieden“ publizieren. — Der franzöſiſche Ritter, der hier mit Max einen Zweikampf beſtand, hieß Claude de Barre.

Doch einen ſich erkoren, in deſſen Schattenhut
Nach ſchwüler Tagesmüh' er am liebſten abends ruht.

4. Es wallten nun die beiden die Straßen ein und aus,
Dort auf dem großen Marktplatz ſahn ſie ein ſtattlich Haus,
Da rief der Kunz: „Mein König, ſchließt Eure Augen ſchnell!
Denn, traun, ſchon las manch einer ſich blind an dieſer Stell'.

5. „Franzöſiſch iſt's, Ihr wißt ja, wie's Frankreichs Söhne treiben,
Die anders ſchreiben als ſprechen — und anders leſen als ſchreiben —
Und anders ſprechen als denken — und anders ſetzen als ſingen,
Die groß in allem Kleinen — und klein in großen Dingen."

6. Ein Reitersmann aus Frankreich wohnt in dem ſtolzen Haus.
Sein Wappenſchild, hell glänzend, hängt hoch zur Pfort' heraus,
Mit Schnörkelzügen zierlich, in blankem Goldesſchein
Schrieb rund ums bunte Wappen er dieſe Worte ein:

7. „Erſt Gott zum Gruß, wer's lieſet! — Auf, Deutſcher, kühn und wert,
Hier harrt ein Schild des deinen, wenn kampfesfroh dein Schwert,
Und magſt du mich bezwingen nach Ritterbrauch und Recht,
Will ich mich dir verdingen als letzter Rüdenknecht."

8. Stumm ſchritt der König fürder; doch an des Ritters Schild
Hängt bald ein Edelknappe der Habsburg Wappenbild,
Und mit dem Frührot harrend auf ſand'gem Kampfesrund,
Der König gegenüber dem fränk'ſchen Ritter ſtund.

9. Und ſäng' ich, wie er geſchwungen das Schwert, ſein breites, treues,
Wie flink gelenkt den Kampfſpeer, ſo ſäng' ich euch nichts Neues,
Und ſagt' ich, wie nimmer müde er Hieb und Stoß geſellt,
Ihr wißt ja, wie's der Deutſche gegenüber dem Franzmann hält.

10. Und höher ſtieg die Sonne, der Franzmann lag im Sand,
Das Siegesſchwert hell leuchtend ragt hoch in Maxens Hand.
„So ſchlägt ein deutſcher Ritter!" er ſprach's und ſtand verklärt,
Wie Sankt Michael, der Sieger, mit ſeinem Flammenſchwert.

11. „Ihr habt Euch mir ergeben als letzter Rüdenknecht,
Wohlan, Ihr ſollt erfahren nun meines Amtes Recht!"
Sein Schwert nun ſchwang er dreimal: „Steht auf, mein Ritter wert!
So ſchlägt ein deutſcher König, — ſeid brav wie Euer Schwert!"

12. Singt's allem Land, ihr Sänger, des Fürſten Tat und Wort,
Neigt euer Schwert, ihr Ritter, vor eures Kreiſes Hort,
Bekränzt des Siegers Schläfe, ihr ſchönſten deutſcher Frau'n,
Jauchzt auf, ihr deutſchen Herzen, in allen deutſchen Gau'n! —

13. Viel ſaft'ge Trauben ſchwellen ringsher um Worms am Rhein,
„Milch unſrer lieben Frauen", ſo heißt dort jener Wein;
Saugt jene Milch, ihr Greiſe, ſie macht euch wieder zum Kind;
O Herr, gib unſerm Lande viel Milch ſo ſüß und lind!

14. Aus Goldgefäßen quoll ſie an Maxens Abendtiſch,
Gleichwie aus goldnen Eutern, ſo labend, klar und friſch;
Wie zecht an Maxens Seite der fränk'ſche Rittersmann!
Wie wärmend da der Glühborn durch Kunzens Kehle rann!

15. Der Franzmann hob den Becher, begeiſtert flammt ſein Blut:
„Heil, Max dir, edler Deutſcher, ſo tapfer und ſo gut!"
„Hoho!" rief Kunz halb grimmig, „jetzt bindet mit mir an,
Wer auf dies Wohl herzinn'ger und beſſer trinken kann!?"

16. Und ſäng' ich, wie er das Kelchglas geſchwungen, ſein tiefes, treues,
Wie flink die Krüg' entſiegelt, ſo ſäng' ich euch nichts Neues,
Und ſagt' ich, wie nimmer müde er Glas auf Glas geſellt,
Ihr wißt ja, wie's der Deutſche genüber dem Becher hält.

17. Wie Schilder klangen die Humpen zuſammen hell mit Macht,
Die Blicke blitzten genüber wie Lanzen in der Schlacht!
Wer fiel, wer ſtand im Wettkampf? Wohl kam es nie ans Licht;
Fragt man am Morgen die beiden, ſie wußten's ſelber nicht.

## 143. Die Guahibo-Mutter.

Von Ad. Bube.

Naturbilder. Gotha 1859. S. 24.

1. Sieh dort im Kahn gebunden
Das Guahibo-Weib!
Es bluten Geißelwunden
An ihrem braunen Leib.

2. Sie denkt an ihre Kleinen,
Die nun im bangen Lauf
Fern am Ucayal weinen,
Und ſtöhnt zum Himmel auf.

3. So liegt ſie voller Kummer
Schlaflos in tiefer Nacht
Und, übermannt vom Schlummer,
Nicht weit von ihr die Wacht.

4. Da greift mit Mannesſtärke,
Die Mutterlieb' ihr gab,
Sie ungeſäumt zum Werke
Und reißt die Feſſeln ab.

5. Sie ſpringt vom Bord des Nachen
Hinaus ins Flutgebiet,
Das mit bezahntem Rachen
Das Krokodil durchzieht.

6. Sie ſchwimmt zum fernen Strande,
Wo, dicht verdeckt vom Rohr,
Der Jaguar im Sande
Sein Lager ſich erkor.

7. Sie bricht im Wald ſich Pfade,
Wo noch kein Fuß gerauſcht,
Wo in der Sümpfe Bade
Die Rieſenſchlange lauſcht.

8. Vom Stachel der Lianen
Wird ihr die Haut zerſchlitzt,
Auf ſcharfgezackten Bahnen
Die Sohle wund geritzt.

9. Oft glaubt ſie zu erliegen
Dem Durſt, der Hungersqual,
Ameiſen nur und Fliegen
Fängt ihre Hand zum Mahl.

10. Was in den ſchwerſten Stunden
Wohl kaum ein Mann ertrug,
Von ihr wird's überwunden
Im pfeilgeſchwinden Flug.

11. Und als zum vierten Male
Das Morgenrot erwacht,
Eilt ſie dahin im Tale,
Wo ihr die Heimat lacht.

12. Sie öffnet raſch die Hütte,
Wo mit der Freude Laut
Sie auf der Lagerſchütte
Drei teure Kindlein ſchaut.

13. Schnell endet ſich ihr Weinen,
Sie jubeln auf in Luſt;
Es ſtürzen ſich die Kleinen
Der Mutter an die Bruſt.

14. Sie aber ſpricht: „Die Weißen,
Die mich hinweggeführt,
Sind hart wie Fels und Eiſen,
Die keine Klage rührt.

15. Naht wieder, uns zu ſcheiden,
Ein fremdes Männerboot,
So wählt ſtatt Trennungsleiden
Mit mir den Flutentod!"

16. Kaum iſt das Wort verklungen,
So ſieht ſie ſchon den Kahn,
Aus dem ſie kühn entſprungen,
Aufs neu' dem Ufer nahn.

17. Sie faßt und zieht geſchwinder
Als auf der bangen Flucht
All' die geliebten Kinder
Sich nach zur Felſenbucht.

18. Dort ſtürzt ſie ſich vom Strande
Ins Flutgebraus hinab
Und reißt vom Klippenrande
Die Kinder mit ins Grab.

19. Die Weißen, deren Hiebe
Ihr fernher ſchon gedroht,
Erkennen: „Mutterliebe
Iſt ſtärker als der Tod!"

## 144. Rudolf von Habsburg.

Von G. Görres.

Aus dem Feſtkalender von Boccel und Görres. München u. Wien. II. III.

1. Ausgebrannt vom Strahl der Sonne
Seufzet rings das dürre Land;
Alle Quellen ſind vertrocknet
In dem glühend heißen Sand.
Lechzend liegt die matte Herde
Auf der ſchattenloſen Erde.
2. Weit geſpalten, aufgeriſſen
Iſt der Boden allumher,
Wolkenlos der ganze Himmel,
Still die Luft und heiß und ſchwer,
Und der Wald mit welkem Laube
Steht bedeckt mit weißem Staube.
3. Sieh, da reitet durch die Steppe,
Kampfgerüſtet eine Schar,
Rudolf zieht, der deutſche Kaiſer,
Wider König Ottokar.
Von dem Durſte matt und heiſer,
Ruft nach Waſſer jetzt der Kaiſer.
4. Und zwei Ritter eilen jauchzend
Zu dem Kaiſer hin im Flug,
Halten freudig hocherhoben
Kühlen Waſſers einen Krug,
Und den Becher raſch ihm füllend,
Sprechen ſie, ihr Herz enthüllend:
5. „Lange ſuchten wir nach Waſſer
Weit umher in dieſem Land,
Doch kein Tropfen war zu finden
In dem glühend heißen Sand!
Die vergeb'ne Müh' zu enden,
Wollten wir uns rückwärts wenden:
6. „Sieh, da fanden wir im Schatten
Ruhen eine Schnitterſchar,
Die ſich, müde, laben wollte
An dem Kruge kühl und klar.
Weil ſie ſelbſt vom Durſte litten,
War vergebens unſer Bitten.
7. „Doch als unſre Schwerter drohten:
‚Gebt uns Waſſer oder Blut!‘
Gaben ſie uns bleich und zitternd
Gern ihr ſelten, teuer Gut;
Was wir ſo erbeutet haben,
Möge dich, o Kaiſer, laben.“
8. Als der Kaiſer dies vernommen,
Zog mit unmutvollem Blick
Von den glühend heißen Lippen
Plötzlich er den Krug zurück:
„Nimmer ſoll den Durſt mir ſtillen,
Was ſie gaben wider Willen.
9. „Bei der Ehre meiner Krone!
Gebt zurück der Armen Gut;
Keinen Tropfen mag ich koſten,
Brennt wie Feuer auch mein Blut;
Wenn beraubt die Armen dürſten,
Ziemt zu trinken nicht den Fürſten.“

## 145. Zigeunerleben. (Lübeck 1834.)

Von E. v. Geibel.

Geſammelte Werke. Stuttgart 1883. Bd. I (Jugendgedichte und Zeitſtimmen), S. 4.

1. Im Schatten des Waldes, im Buchengezweig,
Da regt ſich's und raſchelt's und flüſtert zugleich;
Es flackern die Flammen, es gaukelt der Schein
Um bunte Geſtalten, um Laub und Geſtein.
2. Das iſt der Zigeuner bewegliche Schar
Mit blitzendem Aug' und mit wallendem Haar,
Geſäugt an des Niles geheiligter Flut,
Gebräunt von Hiſpaniens ſüdlicher Glut.
3. Ums lodernde Feuer im ſchwellenden Grün,
Da lagern die Männer, verwildert und kühn,
Da kauern die Weiber und rüſten das Mahl
Und füllen geſchäftig den alten Pokal.
4. Und Sagen und Lieder ertönen im Rund,
Wie Spaniens Gärten ſo blühend und bunt,
Und magiſche Sprüche für Not und Gefahr
Verkündet die Alte der horchenden Schar.
5. Schwarzäugige Mädchen beginnen den Tanz;
Da ſprühen die Fackeln im rötlichen Glanz,
Heiß lockt die Gitarre, die Zimbel erklingt,
Wie wilder und wilder der Reigen ſich ſchlingt.
6. Dann ruhn ſie, ermüdet vom nächtlichen Reih'n;
Es rauſchen die Buchen in Schlummer ſie ein,
Und die aus der glücklichen Heimat verbannt,
Sie ſchauen im Traume das ſüdliche Land.
7. Doch wie nun im Oſten der Morgen erwacht,
Verlöſchen die ſchönen Gebilde der Nacht;
Laut ſcharret das Maultier beim Tagesbeginn,
Fortziehn die Geſtalten. — Wer ſagt dir, wohin?

## 146. Ein Wort vom alten Blücher.

Von G. Heſekiel.

Zwiſchen Sumpf und Sand. Berlin 1863. S. 77.

Sie ſaßen an Blüchers Tafel und hatten gut geſpeiſt;
Da lobten ſie unmenſchlich des alten Helden Geiſt,
Und lobten ſeine Taten ganz grob und ungeſcheut,
Und meinten, nur er allein habe das Volk befreit.
Das war dem alten Blücher am Ende außerm Spaß,
Er rückte mit dem Stuhle und leerte ſchnell ſein Glas,
Dann ſchrie er: „Donnerwetter! Ihr ſeid nicht recht geſcheit;
Ich will's euch beſſer ſagen, wer Land und Volk befreit!
‚Das war der Preußen Tapferkeit,
Freund Gneiſenaus Beſonnenheit,
Von mir ein bißchen Verwegenheit
Und — Gottes große Barmherzigkeit!'"
Sie ſaßen an der Tafel und ſchauten ängſtlich drein,
Der Alte aber lachte ſtill in ſein Glas hinein.

## 147. König Karls Meerfahrt. (1812.)

Von L. Uhland.

Gedichte und Dramen. Stuttgart 1863. Tl. II, S. 240.

1. Der König Karl fuhr über Meer
Mit ſeinen zwölf Genoſſen,
Zum heil'gen Lande ſteuert' er
Und ward vom Sturm verſtoßen.

2. Da ſprach der kühne Held Roland:
„Ich kann wohl fechten und ſchirmen:
Doch hält mir dieſe Kunſt nicht ſtand
Vor Wellen und vor Stürmen."

3. Dann ſprach Herr Holger aus Dänemark:
„Ich kann die Harfe ſchlagen:
Was hilft mir das, wenn alſo ſtark
Die Wind' und Wellen jagen?"

4. Herr Oliver war auch nicht froh;
Er ſah auf ſeine Wehre:
„Es iſt mir um mich ſelbſt nicht ſo,
Wie um die Alteclere".

5. Dann ſprach der ſchlimme Ganelon,
(Er ſprach es nur verſtohlen):
„Wär' ich mit guter Art davon,
Möcht' euch der Teufel holen!"

6. Erzbiſchof Turpin ſeufzte ſehr:
„Wir ſind die Gottesſtreiter:
Komm, liebſter Heiland, über das Meer
Und führ uns gnädig weiter!"

7. Graf Richard Ohnefurcht hub an:
„Ihr Geiſter aus der Hölle,
Ich hab' euch manchen Dienſt getan:
Jetzt helft mir von der Stelle!"

8. Herr Naimes dieſen Ausſpruch tat:
„Schon vielen riet ich heuer;
Doch ſüßes Waſſer und guter Rat
Sind oft zu Schiffe teuer."

9. Da ſprach der graue Herr Riol:
„Ich bin ein alter Degen
Und möchte meinen Leichnam wohl
Dereinſt ins Trockne legen."

10. Es war Herr Gui, ein Ritter fein,
Der fing wohl an zu ſingen:
„Ich wollt', ich wär' ein Vögelein;
Wollt' mich zu Liebchen ſchwingen."

11. Da ſprach der edle Graf Garein:
„Gott helf' uns aus der Schwere!
Ich trink' viel lieber den roten Wein,
Als Waſſer in dem Meere."

12. Herr Lambert ſprach, ein Jüngling friſch:
„Gott woll' uns nicht vergeſſen!
Aß' lieber ſelbſt 'nen guten Fiſch,
Statt daß mich Fiſche freſſen."

13. Da ſprach Herr Gottfried lobeſan:
„Ich laſſ' mir's halt gefallen:
Man richtet mir nicht anders an,
Als meinen Brüdern allen."

14. Der König Karl am Steuer ſaß;
Der hat kein Wort geſprochen:
Er lenkt das Schiff mit feſtem Maß,
Bis ſich der Sturm gebrochen.

## 148. Der Wilde. (1793.)

Von J. G. Seume.

Sämtliche Werke. Leipzig 1868. Bd. VII, S. 72.

Ein Kanadier, der noch Europens
Übertünchte Höflichkeit nicht kannte
Und ein Herz, wie Gott es ihm gegeben,
Von Kultur noch frei, im Busen fühlte,
Brachte, was er mit des Bogens Sehne
Fern in Quebecks übereisten Wäldern
Auf der Jagd erbeutet, zum Verkaufe.
Als er ohne schlaue Rednerkünste,
So wie man ihm bot, die Felsenvögel
Um ein kleines hingegeben hatte,
Eilt' er froh mit dem geringen Lohne
Heim zu seinen tiefbedeckten Horden
In die Arme seiner braunen Gattin.

Aber ferne noch von seiner Hütte
Überfiel ihn unter freiem Himmel
Schnell der schrecklichste der Donnerstürme.
Aus dem langen, rabenschwarzen Haare
Troff der Guß herab auf seinen Gürtel,
Und das grobe Haartuch seines Kleides
Klebte rund an seinem hagern Leibe.
Schaurig zitternd unter kaltem Regen
Eilete der gute, wackre Wilde
In ein Haus, das er von fern erblickte.
„Herr, ach laßt mich, bis der Sturm sich leget",
Bat er mit der herzlichsten Gebärde
Den gesittet-feinen Eigentümer,
„Obdach hier in Eurem Hause finden!" —
„Willst du mißgestaltes Ungeheuer",
Schrie ergrimmt der Pflanzer ihm entgegen,
„Willst du Diebsgesicht mir aus dem Hause!"
Und ergriff den schweren Stock im Winkel.

Traurig schritt der ehrliche Hurone
Fort von dieser unwirtbaren Schwelle,
Bis durch Sturm und Guß der späte Abend
Ihn in seine friedliche Behausung
Und zu seiner braunen Gattin brachte.
Naß und müde setzt' er bei dem Feuer
Sich zu seinen nackten Kleinen nieder
Und erzählte von den bunten Städtern
Und den Kriegern, die den Donner tragen,
Und dem Regensturm, der ihn ereilte,
Und der Grausamkeit des weißen Mannes.
Schmeichelnd hingen sie an seinen Knieen,
Schlossen schmeichelnd sich um seinen Nacken,
Trockneten die langen, schwarzen Haare,
Und durchsuchten seine Weidmannstasche,
Bis sie die versprochnen Schätze fanden. —

Kurze Zeit darauf hatt' unser Pflanzer
Auf der Jagd im Walde sich verirret.
Über Stock und Stein, durch Tal und Bäche,
Stieg er schwer auf manchen jähen Felsen,
Um sich umzusehen nach dem Pfade,
Der ihn tief in diese Wildnis brachte.
Doch sein Spähn und Rufen war vergebens;
Nichts vernahm er als das hohle Echo
Längs den hohen, schwarzen Felsenwänden.
Ängstlich ging er, bis zur zwölften Stunde,
Wo er an dem Fuß des nächsten Berges
Noch ein kleines, schwaches Licht erblickte.
Furcht und Freude schlug in seinem Herzen,
Und er faßte Mut und nahte leise.
„Wer ist draußen?" brach mit Schreckenstone
Eine Stimme tief her aus der Höhle,
Und ein Mann trat aus der kleinen Wohnung.
„Freund, im Walde hab' ich mich verirret",
Sprach der Europäer furchtsam-schmeichelnd;
„Gönnet mir die Nacht hier zuzubringen
Und zeigt nach der Stadt, ich werd' Euch danken,
Morgen früh mir die gewissen Wege!" —

„Kommt herein", versetzt der Unbekannte,
„Wärmt Euch! Noch ist Feuer in der Hütte!"
Und er führt ihn auf das Binsenlager,
Schreitet finster-trotzig in den Winkel,
Holt den Rest von seinem Abendmahle,
Hummer, Lachs und frischen Bärenschinken,
Um den späten Fremdling zu bewirten.
Mit dem Hunger eines Weidmanns speiste
Festlich wie bei einem Klosterschmause
Neben seinem Wirt der Europäer.
Fest und ernsthaft schaute der Hurone
Seinem Gaste spähend auf die Stirne,
Der mit tiefem Schnitt den Schinken trennte
Und mit Wollust trank vom Honigtranke,
Den in einer großen Muschelschale
Er ihm freundlich zu dem Mahle reichte.
Eine Bärenhaut auf weichem Moose
War des Pflanzers gute Lagerstätte,
Und er schlief bis in die hohe Sonne.

Wie der wilden Zone wildster Krieger,
Schrecklich stand mit Köcher, Pfeil und Bogen
Der Hurone jetzt vor seinem Gaste
Und erweckt' ihn, und der Europäer
Griff bestürzt nach seinem Jagdgewehre;
Und der Wilde gab ihm eine Schale,
Angefüllt mit süßem Morgentranke.

Als er lächelnd ſeinen Gaſt gelabet,
Bracht' er ihn durch manche lange Windung,
Über Stock und Stein, durch Tal und Bäche,
Durch das Dickicht auf die rechte Straße.
Höflich dankte fein der Europäer;
Finſter blickend blieb der Wilde ſtehen,
Sahe ſtarr dem Pflanzer in die Augen,
Sprach mit voller, feſter, ernſter Stimme:
„Haben wir vielleicht uns ſchon geſehen?“
Wie vom Blitz getroffen ſtand der Jäger
Und erkannte nun in ſeinem Wirte
Jenen Mann, den er vor wenig Wochen
In dem Sturmwind aus dem Hauſe jagte,
Stammelte verwirrt Entſchuldigungen.
Ruhig lächelnd ſagte der Hurone:
„Seht, ihr fremden, klugen, weißen Leute,
Seht, wir Wilden ſind doch beſſre Menſchen!“
Und er ſchlug ſich ſeitwärts in die Büſche.

## 149. Die ſtille Gemeinde.

Von J. v. Eichendorff.

Gedichte. Leipzig 1871. S. 441.

1. Von Bretagnes Hügeln, die das Meer
Blühend hell umſäumen,
Schaute ein Kirchlein troſtreich her
Zwiſchen uralten Bäumen.

2. Das Kornfeld und die Wälder weit
Rauſchten im Sonntagsglanze,
Doch keine Glocken klangen heut'
Vom grünen Felſenkranze.

3. Denn auf des Kirchhofs ſchatt'gem Grund
Die Jakobiner ſaßen,
Ihre Pferde alle Blumen bunt
Von den Grabeshügeln fraßen.

4. Sie hatten am Kreuz auf ſtiller Höh'
Feldflaſch' und Säbel hangen,
Derweil ſie ſtatt des Kyrie
Die Marſeillaiſe ſangen.

5. Ihr Hauptmann aber lehnt' am Baum
Todmüde von ſchweren Wunden,
Und ſchaute wie im Fiebertraum
Nach dem tiefſchwülen Grunde.

6. Er ſprach verwirrt: „Da drüben ſtand
Des Vaters Schloß am Weiher,
Ich ſelbſt ſteckt's an; das war ein Brand,
Der Freiheit Freudenfeuer!

7. „Ich ſeh' ihn noch, wie durch den Sturm
Zwiſchen den feur'gen Zungen
Mein ſtolzer Vater da vom Turm
Sein Banner hat geſchwungen.

8. „Und als es war entlaubt vom Brand,
Die Fahn' im Wind zerflogen:
Den Schaft als Kreuz nun in der Hand,
Teilt' er die Flammenwogen.

9. „Er ſah ſo wunderbar auf mich,
Ich konnt' ihn nicht ermorden —
Da ſank die Burg, er wandte ſich
Und iſt ein Pfaff' geworden.

10. „Seitdem hör' ich in Träumen ſchwer
Von ferne Glocken gehen,
Und ſeh' in rotem Feuermeer
Ein Kreuz allnächtlich ſtehen.

11. „Es ſollen keine Glocken gehn,
Die Nächte zu verſtören,
Kein Kreuz ſoll mehr auf Erden ſtehn,
Um Narren zu betören!

12. „Und dieſes Kirchlein hier bewacht,
Sie ſoll'n nicht Meſſe ſingen,
Wir reißen's nieder über Nacht;
Licht ſei, wohin wir dringen!“ —

13. Und als die Nacht ſchritt leiſ' daher,
Der Hauptmann ſtand am Strande;
So ſtill im Wald, ſo ſtill das Meer,
Nur die Wachen rieſen im Lande.

14. Im Wind die Glock' von ſelbſt anſchlug;
Da wollt' ein Hauch ſich heben,
Wie unſichtbarer Engel Flug,
Die übers Waſſer ſchweben.

15. Nun ſieht er auch im Meere fern
Ein Lichtlein hell entglommen;
Er dacht': „Wie iſt der ſchöne Stern
Dort in die Flut gekommen?“

16. Am Ufer aber durch die Nacht
In allen Felſenſpalten
Regt ſich's und ſchlüpft es leiſ' und ſacht,
Viel dunkle, ſchwanke Geſtalten.

17. Nur manchmal von den Buchten her
Schallt Ruderſchlag vom weiten,
Auf Barken lautlos in das Meer
Sie nach dem Stern hin gleiten.

18. Der wächſt und breitet ſich im Nahn
Und ſtreift mit Glanz die Wellen;
Es iſt ein kleiner Fiſcherkahn,
Den Fackeln mild erhellen.

19. Und einſam auf des Schiffleins Rand
Ein Greis kommt hergezogen
In wunderbarem Meßgewand
Als wie der Hirt der Wogen.

20. Die Barken eine weite Rund'
Dort um den Hirten machen,
Der laut nun überm Meeresgrund
Den Segen ſpricht im Nachen.

21. Da ſchwieg der Wind und rauſcht' das Meer
So wunderbare Weiſe,
Und auf den Knieen lag ringsher
Die ſtille Gemeinde im Kreiſe.

22. Und als er das Kreuz hob in die Luft,
Hoch zwiſchen die Fackeln trat er —
Den Hauptmann ſchauert' im Herzensgrund,
Es war ſein alter Vater.

23. Da taumelt' er und ſank ins Gras,
Betend im ſtillen Grunde,
Und wie Felſenquellen im Frühling brach
Sein Herzblut aus allen Wunden.

24. Und als die Geſellen kommen zum Strand,
Einen toten Mann ſie finden —
Voll Grauen ſie ſprengen fort durchs Land,
Als jagt' ſie der Tod in den Winden.

25. Die ſtürzten ſich in den Krieg ſo weit,
Sie ſind verweht und zerſtoben,
Das Kirchlein aber ſteht noch heut'
Unter den Linden droben.

## 150. Eudoxia[1]).

Von H. Klugg.

Gedichte. Stuttgart 1857. Bd. I, S. 218.

1. Sie ſaß, geſtützt das Haupt auf ihre Linke.
Ins Zimmer brach ein trüber Sonnenſchein;
Still traten und erwartend ihre Winke
Mit Brot und Früchten ihre Diener ein;
Doch ob Granat' und Goldorange blinke,
Ob aus dem Becher funkle ſüßer Wein,
Sie blickt nicht auf, ihr Mund iſt feſt geſchloſſen,
Und Wein und Früchte werden nicht genoſſen.

2. Da naht ſich ihr und unterbricht das Schweigen
Ein junger Neger mit gebeugtem Knie,
Auf goldner Schale reicht er ſüße Feigen,
Und ſpricht: „O Fürſtin, ſchönre ſahſt du nie.
Erſt ſeit drei Tagen ſind ſie von den Zweigen,
Der Himmel meiner Heimat reifte ſie;
Ein guter Fahrwind ließ es uns gelingen,
Von Afrika ſie friſch nach Rom zu bringen."

3. „Von Afrika!" — und ihre Blicke flammen —
„Und ſahſt du dort die großen Helden nicht,
Die aus dem wunderbaren Norden ſtammen,
Von deren Mut und Kraft die Sage ſpricht:
Daß ſie gepanzert manchen Sund durchſchwammen;
Ja, daß ſie mit der Waffen Erzgewicht
Dem Drang der Wogen ſich entgegenſtemmten
Und ſo den Fluß in ſeiner Strömung hemmten?

4. „Und ſahſt du ihren König, jenen düſtern
Vandalen Geiſerich? Sein wilder Mut,
Nach unſern blühendſten Provinzen lüſtern,
Iſt eine Sorg' uns, welche nimmer ruht.
Hier nennt man ſeinen Namen nur mit Flüſtern,
Doch ſag: blieb auch in eurer Sonnenglut
Die Kriegsluſt ſeiner Scharen unermüdlich?
Ward noch ihr Herz nicht üppig, weich und ſüdlich?"

5. „Nein, Fürſtin, mächtig ſauſt noch ihre Lanze,
Karthago dröhnt von ihrem Eiſenſchritt.
Wir ſahn ſie nächtlich oft beim Fackelglanze,
Wenn aus dem Hafen ihre Flotte glitt;
Auch nahmen ſie zum kühnen Waffentanze,
Und in die Wüſte mich zum Weidwerk mit;
Ich ſah ſie von des Tigers Blut gerötet,
Den ſie mit einem Schwertesſtreich getötet.

6. „Ihr König thront, vom Löwenpaar begleitet,
Im düſtern Schloß, dem alle bang nur nahn.
Man ſagt, wenn durch ſein Arſenal er ſchreitet,
Die Waffen fingen ſich zu rühren an,
Solch' eine Strömung dunkler Kraft verbreitet
Sein Kriegergeiſt. Zieht er der Schar voran,
So iſt's, als ob ſie Flammenhauch durchquölle,
Sie folgt ihm nach, und ging es in die Hölle."

[1]) Eudoxia, die Witwe des ermordeten Kaiſers Valentinian, hatte dem Nachfolger desſelben, dem Petronius Maximus, auf ſein dringendes Werben die Hand am Altare gereicht. Da ihr aber Maximus unvorſichtig ſeine Mitſchuld an dem Tode ihres erſten Gemahles entdeckt hat, fühlt ſie ſich von tiefſtem Abſcheu gegen ihn erfüllt und ſinnt darauf, ihn zu verderben.

7. Er sprach's, — in jedem seiner Worte grüßte
Die Fürstin einen Rächer ihrer Schmach:
„Weit mehr, als seine süße Frucht, versüßte
Mein Herz, was dieser Afrikaner sprach.
Nicht immer, scheint's, kommt Tod nur aus der Wüste;
All' meine Hoffnung lag verdorrt und brach,
Und nun schickt mir das Sandmeer Tau und Regen.
Auf denn, Gedanken! eurem Ziel entgegen!"

8. Verborgen längst vor Luft und Tageshelle
Lag im Palast noch aus der Heidenzeit
Der alten Kaiser düstre Hauskapelle,
Dem Pluto und der Nemesis geweiht.
Die halb verschüttet', halb verbaute Schwelle
Betritt allein in tiefster Dunkelheit
Eudoxia furchtlosen Mutes, schweigend
Mit vorgehaltner Leuchte niedersteigend.

9. Ihr Licht erhellt die mächtige Rotunde,
Der Luftzug haucht mit kaltem Geisterkuß.
„Ha, dort, du Marmor mit dem bleichen Munde
Voll Hohn und bittrem Menschenüberdruß,
Willkommen, finstrer Gott, in dieser Stunde!
Ich kenne dich, du bist Tiberius!
In diesen Schläfen, hohl und doch erhaben,
Lag unter Lastern ein Titan begraben.

10. „Auch du dort, Henker voll der blut'gen Witze,
Befleckter Wüstling, Narr Caligula!
Wähnst du dich endlich vor dem Glanz der Blitze
Hier sicher? Sprich doch, grinse doch ein Ja,
Wie einst so oft beim Mahl von deinem Sitze
Zu Blurteilen. Und auch du, sieh da,
Der hoch vom Turm ein griechisch Lied gesungen,
Als Rom im Todesflammenkampf gerungen.

11. „O hört mich, ihr! Und was von Weibesschwächen
Noch in mir wohnt, tilgt aus durch düstern Bann!
Gebt mir, die unerhörte Schmach zu rächen,
Das Herz von Stein, das nichts erschüttern kann.
Vollenden helft den Kreislauf der Verbrechen,
Den Bau des Fluchs, der unter euch begann!
Mein Werk ist eures: Mord, Verrat, Entthronen;
Seid günstig denn, ihr, dieses Dachs Dämonen!"

12. Sie rief's, und fest wie von geglühtem Stahle
Ward ihre Brust. Sie stieg empor und schrieb:
„Dies sendet dir, gefürchteter Vandale,
Roms Fürstin, die ein schlauer Kronendieb,
Ein Stifter blutbefleckter Bacchanale
In ein Gewebe tiefster Schande trieb.
Erscheine! Rache! Stürz ihn von dem Throne!
Roms schönster Schmuck sei dir dafür zum Lohne."

13. Mit diesem Brief und wenig treuen Sklaven
Verließ die Kaiserburg ihr Kämmerling
Und ritt sogleich zum nächsten Meereshafen,
Wo schon gerüstet ihn ein Schiff empfing,
Das, eh' den Mast noch Morgenlüfte trafen,
Schon hoch im Meer mit seiner Sendung ging
Und, als die Flut zum drittenmal sich sonnte,
Im Angesicht Karthagos ankern konnte.

14. Auf niederm Thron, umgeben von Vasallen,
Vernahm die Botschaft König Geiserich:
Sein Antlitz überflog ein Wohlgefallen;
Mit wildem Lachen rief er: „Sicherlich,
Die Zeit ist da, die welken Blätter fallen,
Ich werde kommen. Rom erwarte mich!"
Er sprach's und ließ sofort als Friedenszeichen
Den Boten Becher und Geschenke reichen.

## 151. Der Ring des Polykrates. (24. Juni 1797.)

Von F. v. Schiller.

Sämtliche Schriften. Historisch-kritische Ausgabe von Karl Goedeke. Stuttgart 1867. Bd. XI, S. 230.

1. Er stand auf seines Daches Zinnen,
Er schaute mit vergnügten Sinnen
Auf das beherrschte Samos hin.
„Dies alles ist mir untertänig",
Begann er zu Ägyptens König,
„Gestehe, daß ich glücklich bin."

2. „Du hast der Götter Gunst erfahren!
Die vormals deinesgleichen waren,
Sie zwingt jetzt deines Scepters Macht.
Doch einer lebt noch, sie zu rächen;
Dich kann mein Mund nicht glücklich sprechen,
Solang' des Feindes Auge wacht."

3. Und eh' der König noch geendet,
Da ſtellt ſich, von Milet geſendet,
Ein Bote dem Tyrannen dar:
„Laß, Herr, des Opfers Düfte ſteigen
Und mit des Lorbeers muntern Zweigen
Bekränze dir dein feſtlich Haar!

4. „Getroffen ſank dein Feind vom Speere;
Mich ſendet mit der frohen Märe
Dein treuer Feldherr Polydor“ —
Und nimmt aus einem ſchwarzen Becken,
Noch blutig, zu der beiden Schrecken,
Ein wohlbekanntes Haupt hervor.

5. Der König tritt zurück mit Grauen;
„Doch warn' ich dich, dem Glück zu trauen“,
Verſetzt er mit beſorgtem Blick.
„Bedenk, auf ungetreuen Wellen —
Wie leicht kann ſie der Sturm zerſchellen! —
Schwimmt deiner Flotte zweifelnd Glück.“

6. Und eh' er noch das Wort geſprochen,
Hat ihn der Jubel unterbrochen,
Der von der Reede jauchzend ſchallt.
Mit fremden Schätzen reich beladen,
Kehrt zu den heimiſchen Geſtaden
Der Schiffe maſtenreicher Wald.

7. Der königliche Gaſt erſtaunet:
„Dein Glück iſt heute gut gelaunet,
Doch fürchte ſeinen Unbeſtand.
Der Kreter waffenkund'ge Scharen [1])
Bedräuen dich mit Kriegsgefahren;
Schon nahe ſind ſie dieſem Strand.“

8. Und eh' ihm noch das Wort entfallen,
Da ſieht man's von den Schiffen wallen,
Und tauſend Stimmen rufen: „Sieg!
Von Feindesnot ſind wir befreiet,
Die Kreter hat der Sturm zerſtreuet,
Vorbei, geendet iſt der Krieg!“

9. Das hört der Gaſtfreund mit Entſetzen:
„Fürwahr, ich muß dich glücklich ſchätzen,
Doch“, ſpricht er, „zittr' ich für dein Heil.
Mir grauet vor der Götter Neide;
Des Lebens ungemiſchte Freude
Ward keinem Irdiſchen zuteil.

10. „Auch mir iſt alles wohlgeraten,
Bei allen meinen Herrſchertaten
Begleitet' mich des Himmels Huld,
Doch hatt' ich einen teuren Erben,
Den nahm mir Gott, ich ſah ihn ſterben,
Dem Glück bezahlt' ich meine Schuld.

11. „Drum, willſt du dich vor Leid bewahren,
So flehe zu den Unſichtbaren,
Daß ſie zum Glück den Schmerz verleihn.
Noch keinen ſah ich fröhlich enden,
Auf den mit immer vollen Händen
Die Götter ihre Gaben ſtreu'n.

12. „Und wenn's die Götter nicht gewähren,
So acht' auf eines Freundes Lehren
Und rufe ſelbſt das Unglück her,
Und was von allen deinen Schätzen
Dein Herz am höchſten mag ergötzen,
Das nimm und wirf's in dieſes Meer!“

13. Und jener ſpricht, von Furcht bewegt:
„Von allem, was die Inſel heget,
Iſt dieſer Ring mein höchſtes Gut.
Ihn will ich den Erinnen weihen,
Ob ſie mein Glück mir dann verzeihen“ —
Und wirft das Kleinod in die Flut.

14. Und bei des nächſten Morgens Lichte
Da tritt mit fröhlichem Geſichte
Ein Fiſcher vor den Fürſten hin:
„Herr, dieſen Fiſch hab' ich gefangen,
Wie keiner noch ins Netz gegangen;
Dir zum Geſchenke bring' ich ihn.“

15. Und als der Koch den Fiſch zerteilet,
Kommt er beſtürzt herbeigeeilet
Und ruft mit hocherſtauntem Blick:
„Sieh, Herr, den Ring, den du getragen,
Ihn fand ich in des Fiſches Magen;
O, ohne Grenzen iſt dein Glück.“

16. Hier wendet ſich der Gaſt mit Grauſen:
„So kann ich hier nicht ferner hauſen,
Mein Freund kannſt du nicht weiter ſein.
Die Götter wollen dein Verderben;
Fort eil' ich, nicht mit dir zu ſterben.“
Und ſprach's und ſchiffte ſchnell ſich ein.

[1]) Im Muſenalmanach für 1798, S. 26 (erſter Druck) heißt es: „Der Sparter nie beſiegte Scharen“.

## 152. Wie ſchön leuchtet der Morgenſtern! (Meiningen 1849.)

Des alten Dorfſchulmeiſters liebſtes Lied.

Von J. Sturm.

Gedichte. Leipzig 1873. S. 211.

Wie ſchön leuchtet der Morgenſtern!
Hab' doch kein andres Lied ſo gern!
Mit Tränen füllt ſich jedesmal
Mein Auge, ſpiel' ich den Choral. —

's war damals, als der Alte Fritz
Noch ſtritt um Schleſiens Beſitz,
Hier in den Schluchten lag ſein Heer,
Der Feind dort auf den Höh'n umher.

Da ſah's im Dorf gar übel aus,
Die Schennen leer, kein Brot im Haus,
Im Stalle weder Pferd noch Kuh,
Und vor dem Feind die Furcht dazu.
So hatt' ich eben eine Nacht
Mit Seufzen und Gebet durchwacht
Und ſtieg beim erſten Morgengran'n
Den Turm hinauf, um auszuſchau'n,
Wie's dranßen ſtünd'; 's war ſtill umher,
Und ich ſah keine Feinde mehr.
Da zog ich ſtill mein Käpplein ab,
Dem lieben Gott die Ehre gab.
Horch! plötzlich trabt's ins Dorf herein,
Der Himmel woll' uns gnädig ſein!
Ein alter Schnauzbart jagt im Trab
Nach meinem Haus, dort ſteigt er ab;
Kaum bin ich unten, ſchreit er: „Lauf,
Schließ mir geſchwind die Kirche auf!"
Ich bat: „Bedenkt, 's iſt Gottes Gut,
Was man vertraut hat meiner Hut,
Und Kirchenraub beſtraft ſich ſchwer."
Doch er ſchrie wild: „Was ſchwafelt Er?
Flink aufgeſchloſſen, ſonſt ſoll ihn —!"
Schon wollt' er ſeinen Säbel ziehn,
Da dacht' ich bang an Weib und Kind,
Und öffnete die Kirch' geſchwind,
Und trat dann zagend mit ihm ein;
Mein Weib ſchlich weinend hinterdrein.
Er ging vorüber am Altar,
Hinauf dann, wo die Orgel war;
Da ſtand er ſtill: „Geſangbuch her!
Hier den Choral da ſpielet Er,
Und daß Sie brav die Bälge tritt!
Marſch! vorwärts jetzt und zögert nit!"
Ich fing mit einem Vorſpiel an,
Wie ich's mein Lebetag getan.
Da fiel der Alte grimmig ein:
„Was ſoll mir das Geklimper ſein?
Hab' ich's denn nicht geſagt dem Herrn:
‚Wie ſchön leuchtet der Morgenſtern!'"
„'s iſt nur ein Vorſpiel!" — „Dummes Zeug!
Was ſpielt er den Choral nicht gleich!"
So ſpielt' ich denn, weil er's befahl,
Ganz ohne Vorſpiel den Choral;
Der alte Schnauzbart ſang das Lied,
Ich und mein Weib, wir ſangen mit.
Das Lied war aus, ſtill ſaß der Mann,
Ein heißer Strom von Tränen rann
Ihm übers braune Angeſicht,
Die funkelten wie Demantlicht.
Dann ſtand er auf und drückte mir
Die Hand und ſprach: „Da, nehmt das hier".
Es war ein großes Talerſtück,
Ich wies das Geld beſchämt zurück.
Er aber rief: „Was ſoll das, Mann?
Bei Gott, es klebt kein Blut daran!
Gebt's an die Armen in dem Ort!"
Drauf gingen wir zuſammen fort.
Und noch im Gehen ſprach er weich:
„Kein Lied kommt dieſem Lied mir gleich,
Es hat mich in vergang'ner Nacht
Zum lieben Gott zurückgebracht.
's rief geſtern abend der Major
Vor unſrer Front: ‚Freiwill'ge vor!
's ſoll ein verlorner Poſten ſtehn
Dem Feinde nah, dort auf den Höh'n;
Hat keiner Luſt, hat keiner Mut?'
Das trieb mir ins Geſicht das Blut:
‚Da müßten wir nicht Preußen ſein!'
Ich rief's und trat raſch aus den Reih'n;
Drei meiner Söhne folgten mir:
‚Gehſt du, ſo gehen wir mit dir!'
So zogen wir nach jenen Höh'n,
Um dort die ganze Nacht zu ſtehn.
Es blitzte hier, es krachte da,
Es war der Feind uns oft ſo nah',
Daß er uns ſicherlich entdeckt,
Wenn uns nicht droben der verſteckt.
Ja, Mann, ich hab' ſo manche Nacht
Im Feld geſtanden auf der Wacht,
Doch war mir nie das Herz ſo ſchwer, —
's kam nur von meinen Jungens her; —
Ihr habt ja Kinder, — nun, da wißt
Ihr ſelbſt, was Vaterliebe iſt.
Drum hab' ich auch emporgeblickt
Und ein Gebet zu Gott geſchickt;
Und wie ich noch ſo ſtill gefleht,
Da ward erhört ſchon mein Gebet,
Denn leuchtend ging im Oſten fern
Auf einmal auf — der Morgenſtern,
Und mächtig mir im Herzen klang
Der längſt vergeſſ'ne fromme Sang;
Hätt' gern geſungen gleich das Lied,
Doch ſchwieg ich, weil's uns ſonſt verriet.
Zugleich fiel mir auch manches ein,
Was anders hätte ſollen ſein,
Vor allem, daß ich dieſes Jahr
Noch nicht im Gotteshauſe war.
Das machte mir das Herz ſo ſchwer,
Das war's, das trieb mich zu Euch her."
Der Alte ſprach's, beſtieg ſein Pferd
Und machte munter rechtsumkehrt. —
Seht! drum hab' ich das Lied ſo gern:
„Wie ſchön leuchtet der Morgenſtern!"

Und ſpiel' noch heute jedesmal
Ganz ohne Vorſpiel den Choral,
Und wenn ich ſpiel', ſitzt immerdar
Mir dicht zur Seite der Huſar,
Ich höre ſeinen kräft'gen Baß,
Und da — wird mir das Auge naß.

## 153. Cornelia. (1859.)

Von A. Knapp.

Herbſtblüten. Stuttgart 1859. S. 217.

1. Zwölf Kinder hatte ſie geboren,
Die ſchöne Tochter Scipios;
Von einem Konſul auserkoren,
Fiel ihr ein würdevolles Los,
Das friedlich ſie mit hohem Sinnen,
Geweiht dem Dienſt der Charitinnen,
In unbefleckten Händen trug.
Ins Frau'ngemach zurückgezogen,
Fand, von der Prahlſucht unbetrogen,
Ihr Geiſt der Arbeit ſtets genug.

2. Zu König Ptolemäus' Werben
Sprach ohne Stolz die Witwe „nein",
Sie konnt' Ägyptens Thron ererben
Und wollte nichts als Mutter ſein.
Neun ſanken früh in Todesſchatten
Von ihrer Zwölfzahl ſamt dem Gatten;
Zwei Söhn' und eine Tochter nur
Verblieben ihr als edle Reſte,
Und dieſen weihte ſie aufs beſte
Der Mutter innige Natur.

3. Als einſt viel' Perlen und Juwelen
Auslegte die Campanerin,
Um ihren Reichtum herzuzählen,
Trat ſanft die Gracchenmutter hin,
Mit ſüßem Glück die beiden Söhne
In ihrer jugendlichen Schöne
Zu zeigen als ihr Perlenpaar,
Von welchen, traun, der jüngre Sprößling
Gleich ſeinem ältern Palmenſchößling
Hellblühend anzuſchauen war.

4. Tiberius und Cajus ſchmiegten
Sich liebend an die Mutterbruſt;
In ihrem friſchen Herzen wiegten
Viel' Träume ſich der Tatenluſt.
So ſchwebt der erſte Tag des Maien
Mit goldbeſonnten Wolkenreihen
Sanft durch die blaue Himmelsluft
Und ahnet nicht, wie bald in Wetter
Mit Blitz und donnerndem Geſchmetter
Sich wandeln wird ſein Morgenduft.

5. Cornelia doch, mild, beſonnen,
Hielt feſt im Zügel ihren Geiſt,
Da ſelbſt das Königsheer der Sonnen
In feſtgeſteckten Bahnen kreiſt,
Damit ſie, gleich den Scipionen,
Den Lenkern ſtolzer Legionen,
Bewahreten das rechte Maß,
Des Überſchreitung manchen Starken
Zurückwarf von des Sieges Marken,
Wenn Selbſtbeſiegung er vergaß.

6. Doch was erſieht, als nun erwachſen
Die Söhne ſind, der Mutter Blick?
Des goldnen Siegeswagens Achſen
Verkünden knarrend Roms Geſchick.
Schon taucht im großen Völkerreiche
Weitum der Hunger auf, der bleiche,
Schon ſeufzt als vielgeſchornes Schaf
Der Landmann unterm Druck der Ritter;
Schon iſt der Sämann und der Schnitter
Nur ſtolzer Senatoren Sklav'.

7. So fand Tiberius verwundet
Von Geiz und Trug ſein Vaterland,
Als er den nahen Sieg erkundet
In Spaniens Belag'rungsſtand.
Da ſprach mit lauter Zeugenſtimme
Er, trotz dem Unterdrückergrimme:
„Frei ſei das römiſche Geſchlecht!
Gebieten wir den Nationen,
So ſoll das eigne Volk nicht fronen;
Der Sieger ſei kein Bürgerknecht!"

8. Er rief's als hochgemuter Streiter
Bei tauſendfachem Hindernis: —
Weh, daß durch Widerſtände weiter
Der Eifer ihn zum Zorne riß!
Warum, ach, war ihm nicht beſchieden
Das rechte Gleichmaß, das den Frieden
Mit Aufruhr nicht erkämpfen darf?
Ach ſieh, wie mit dreihundert Männern,
Der Wahrheit mutigen Bekennern,
Sein Volk ihn in die Tiber warf! —

9. Als Bruder nahm der jüngre Gracche
Den Kampf des toten Bruders auf;
Kraftvoll erſproßt für gleiche Sache,
Vermied er nicht den gleichen Lauf!
Er ſah ſein Volk von einer Meute
Der Stolzen rings zerfleiſcht als Beute,
Der Unterdrückten Not und Harm;
Doch hört' er nicht der Mutter Warnung
Und fuhr in ſtürm'ſchen Wahns Umgarnung
Dahin mit einem Pöbelſchwarm.

10. „Wer huldigt", ruft der alte Dichter,
„Den Gracchen, wenn im Klageton
Ihr ungeſtümer Geiſt als Richter
Verdammt die Revolution?" —
Aus ungeduld'gen Zorns Empörung
Kommt nie des Bürgerzwiſts Beſchwörung,
Noch Freiheit für den niedern Mann.
Der beſte Plan wird ſtets zunichte,
Wenn ſich ein Geiſt im Selbſtgerichte
Nicht mehr der Ordnung fügen kann.

11. Warſt du der Mutter nicht als Knabe
Ein unvergleichliches Juwel? —
Doch, Cajus, an des Bruders Grabe
Geht auch dein Flammenauge fehl!
Dreihundert Männer mußten ſterben
Mit ihm, der Scipionen Erben,
Weil er ſein Volksgeſetz vergaß; —
Dreitauſend wurden mit erſchlagen,
Als du's noch einmal wollteſt wagen!
Dein Tod war das verfehlte Maß.

12. Ihr Gracchen, holde Geiſtesfunken,
Einſt eurer Heldenmutter Schmuck:
Wie ſeid ihr ſchnell in Nacht verſunken
Durch eures Weltgeſchlechtes Druck!
Das Schönſte wolltet ihr, das Rechte
Verlangtet ihr im Sturmgefechte; —
Doch nur die Friedensfrucht gerät, —
Und trauernd, wie's der Götter Wille,
Steht eure Mutter da, die ſtille
Ihr Sohnespaar beweinen geht.

## 154. Das Negerweib. (1841.)

Von E. v. Geibel.

Geſammelte Werke. Stuttgart 1883. Bd. I (Jugendgedichte und Zeitſtimmen), S. 200.

O Herz und ſchaue nicht nach Weſten unverwandt!
Im Sonnenuntergang liegt nicht der Freiheit Land.
Was iſt's, das dort hinaus dich triebe?
Dort rauſcht kein Lorbeer für des frommen Sängers Gruft.
Dort ſind die Vögel ſtumm, die Blumen ohne Duft,
Die Menſchenherzen ohne Liebe.

1. Wo am großen Strom die Sicheln durch das hohe Rohrfeld klirren
Und im Laub des Zuckerahorns farb'ge Papageien ſchwirren,
Sitzt das Negerweib, den Nacken bunt geziert mit Glaskorallen,
Und dem Knäblein auf dem Schoße läßt ein Schlummerlied ſie ſchallen.

2. Schlaf, o ſchlaf, mein ſchwarzer Knabe, du zum Jammer mir geboren,
Eh' zu leben du beginneſt, iſt dein Leben ſchon verloren.
Schlaf, o ſchlaf, verhüllt im Dunkel ruh' dir noch der Zukunft Schrecken,
Nur zu früh aus deinen Träumen wird der Grimm des Herrn dich wecken.

3. Was die Menſchen Freude heißen, wirſt du nimmermehr empfinden,
Dort nur fühlt ſich's, wo des Nigers Wellen durch die Flur ſich winden.
Nie den Tiger wirſt du fällen mit dem Wurf der ſcharfen Lanzen,
Nie den Reigen deiner Väter zu dem Schlag der Pauke tanzen.

4. Nein, dein Tag wird ſein voll Tränen, deine Nacht wird ſein voll Klagen,
Wie das Tier des Feldes wirſt du ſtumm das Joch der Weißen tragen,
Wirſt das Holz den Weißen fällen und das Rohr den Weißen ſchneiden,
Die von unſerm Marke praſſen und in unſern Schweiß ſich kleiden.

5. Kluge Männer ſind die Weißen, ſie durchfahren kühn die Meere;
Blitzesglut und Schall des Donners ſchläft in ihrem Jagdgewehre;
Ihre Mühlen, dampfgetrieben, regen ſich mit tauſend Armen,
Aber ach, bei ihrer Klugheit wohnt im Herzen kein Erbarmen.

6. Oftmals hört ich auch die Stolzen ſich mit ihrer Freiheit brüſten,
Wie ſie kühn vom Mutterlande losgeriſſen dieſe Küſten,
Aber über jenen Edeln, der mit Mut das Wort geſprochen,
Daß die Schwarzen Menſchen wären, haben ſie den Stab gebrochen.

7. Süß erklinget ihre Predigt, wie ein Gott für ſie geſtorben
Und durch ſolches Liebesopfer ſich das Heil der Welt erworben;
Doch wie ſoll das Wort ich glauben, wohnt es nicht in ihren Seelen?
Iſt denn das der Sinn der Liebe, daß ſie uns zu Tode quälen?

8. O du großer Geiſt, was taten meines armen Stamms Genoſſen,
Daß du über uns die Schalen deines Zornes ausgegoſſen!
Sprich, wann wirſt du mild dein Auge aus den Wolken zu uns wenden?
Sprich, o ſprich, wann wird der Jammer deiner ſchwarzen Kinder enden?

9. Ach, das mag geſchehen, wenn der Miſſiſſippi rückwärts fließet,
Wenn an hoher Baumwollſtaude dunkelblau die Blüte ſprießet,
Wenn der Alligator friedlich ſchlummert bei den Büffelherden,
Wenn die weißen, freien Pflanzer, wenn die Chriſten Menſchen werden.

## 155. Das Schloß am Meere. (1805.)

Von L. Uhland.

Gedichte und Dramen. Stuttgart 1863. Bd. II, S. 25.

1. Haſt du das Schloß geſehen,
Das hohe Schloß am Meer?
Golden und roſig wehen
Die Wolken drüber her.

2. Es möchte ſich niederneigen
In die ſpiegelklare Flut,
Es möchte ſtreben und ſteigen
In der Abendwolken Glut.

3. „Wohl hab' ich es geſehen,
Das hohe Schloß am Meer,
Und den Mond darüber ſtehen
Und Nebel weitumher."

4. Der Wind und des Meeres Wallen,
Gaben ſie friſchen Klang?
Vernahmſt du aus hohen Hallen
Saiten und Feſtgeſang?

5. „Die Winde, die Wogen alle
Lagen in tiefer Ruh';
Einem Klagelied aus der Halle
Hört' ich mit Tränen zu.

6. Saheſt du oben gehen
Den König und ſein Gemahl,
Der roten Mäntel Wehen,
Der goldnen Kronen Strahl?

7. Führten ſie nicht mit Wonne
Eine ſchöne Jungfrau dar,
Herrlich wie eine Sonne,
Strahlend im goldnen Haar?

8. „Wohl ſah ich die Eltern beide
Ohne der Kronen Licht,
Im ſchwarzen Trauerkleide;
Die Jungfrau ſah ich nicht."

## 156. Der blinde König. (1804 u. 1814.)

Von L. Uhland.

Gedichte und Dramen. Stuttgart 1863. Bd. II, S. 17.

1. Was ſteht der nord'ſchen Fechter Schar
Hoch auf des Meeres Bord?
Was will in ſeinem grauen Haar
Der blinde König dort?
Er ruft, in bittrem Harme
Auf ſeinen Stab gelehnt,
Daß überm Meeresarme
Das Eiland widertönt:

2. „Gib, Räuber, aus dem Felsverlies
Die Tochter mir zurück!
Ihr Harfenſpiel, ihr Lied ſo ſüß,
War meines Alters Glück.
Vom Tanz auf grünem Strande
Haſt du ſie weggeraubt;
Dir iſt es ewig Schande,
Mir beugt's das graue Haupt."

3. Da tritt aus ſeiner Kluft hervor
Der Räuber groß und wild,
Er ſchwingt ſein Hünenſchwert empor
Und ſchlägt an ſeinen Schild:
„Du haſt ja viele Wächter,
Warum denn litten's die?
Dir dient ſo mancher Fechter,
Und keiner kämpft um ſie?"

4. Noch ſtehn die Fechter alle ſtumm,
Tritt keiner aus den Reih'n,
Der blinde König kehrt ſich um:
„Bin ich denn ganz allein?"
Da faßt des Vaters Rechte
Sein junger Sohn ſo warm:
„Vergönn mir's, daß ich fechte!
Wohl fühl' ich Kraft im Arm."

5. „O Sohn! der Feind iſt rieſenſtark,
Ihm hielt noch keiner ſtand.
Und doch, in dir iſt edles Mark,
Ich fühl's am Druck der Hand.
Nimm hier die alte Klinge!
Sie iſt der Skalden Preis;
Und fällſt du, ſo verſchlinge
Die Flut mich armen Greis!"

6. Und horch! es ſchäumet und es rauſcht
Der Nachen übers Meer.
Der blinde König ſteht und lauſcht,
Und alles ſchweigt umher,
Bis drüben ſich erhoben
Der Schild' und Schwerter Schall
Und Kampfgeſchrei und Toben
Und dumpfer Widerhall.

7. Da ruft der Greis ſo freudig bang:
„Sagt an, was ihr erſchaut!
Mein Schwert (ich kenn's am guten Klang)
Es gab ſo ſcharfen Laut!“
„Der Räuber iſt gefallen,
Er hat den blut'gen Lohn.
Heil dir, du Held vor allen,
Du ſtarker Königsſohn!“

8. Und wieder wird es ſtill umher,
Der König ſteht und lauſcht:
„Was hör' ich kommen übers Meer?
Es rudert und es rauſcht!“
„Sie kommen angefahren,
Dein Sohn mit Schwert und Schild,
In ſonnenhellen Haaren
Dein Töchterlein Gunild.“

9. „Willkommen!“ ruft vom hohen Stein
Der blinde Greis hinab,
„Nun wird mein Alter wonnig ſein,
Und ehrenvoll mein Grab.
Du legſt mir, Sohn, zur Seite
Das Schwert von gutem Klang,
Gunilde, du Befreite,
Singſt mir den Grabgeſang.“

## 157. Löwenritt. (1835.)

Von *F. Freiligrath.*

Geſammelte Dichtungen. Stuttgart 1877. Bd. I, S. 151.

1. Wüſtenkönig iſt der Löwe; will er ſein Gebiet durchfliegen,
Wandelt er nach der Lagune, in dem hohen Schilf zu liegen.
Wo Gazellen und Giraffen trinken, kauert er im Rohre;
Zitternd über dem Gewalt'gen rauſcht das Laub der Sykomore.

2. Abends, wenn die hellen Feuer glühn im Hottentottenkraale,
Wenn des jähen Tafelberges bunte, wechſelnde Signale
Nicht mehr glänzen, wenn der Kaffer einſam ſchweift durch die Karoo,
Wenn im Buſch die Antilope ſchlummert und am Strom das Gnu:

3. Sieh, dann ſchreitet majeſtätiſch durch die Wüſte die Giraffe,
Daß mit der Lagune trüben Fluten ſie die heiße, ſchlaffe
Zunge kühle; lechzend eilt ſie durch der Wüſte nackte Strecken,
Knieend ſchlürft ſie langen Halſes aus dem ſchlammgefüllten Becken.

4. Plötzlich regt es ſich im Rohre; mit Gebrüll auf ihren Nacken
Springt der Löwe; welch ein Reitpferd! Sah man reichere Schabracken
In den Marſtallkammern einer königlichen Hofburg liegen,
Als das bunte Fell des Renners, den der Tiere Fürſt beſtiegen?

5. In die Muskeln des Genickes ſchlägt er gierig ſeine Zähne;
Um den Bug des Rieſenpferdes weht des Reiters gelbe Mähne;
Mit dem dumpfen Schrei des Schmerzes ſpringt es auf und flieht gepeinigt;
Sieh, wie Schnelle des Kameles es mit Pardelhaut vereinigt!

6. Sieh, die mondbeſtrahlte Fläche ſchlägt es mit den leichten Füßen!
Starr aus ihrer Höhlung treten ſeine Augen; rieſelnd fließen
An dem braungefleckten Halſe nieder ſchwarzen Blutes Tropfen,
Und das Herz des flücht'gen Tieres hört die ſtille Wüſte klopfen.

7. Gleich der Wolke, deren Leuchten Israel im Lande Yemen
Führte, wie ein Geiſt der Wüſte, wie ein fahler, luft'ger Schemen,
Eine ſandgeformte Trombe in der Wüſte ſand'gem Meer,
Wirbelt eine gelbe Säule Sandes hinter ihnen her.

8. Ihrem Zuge folgt der Geier; krächzend ſchwirrt er durch die Lüfte;
Ihrer Spur folgt die Hyäne, die Entweiherin der Grüfte;

Folgt der Panther, der des Kaplands Hürden räuberiſch verheerte;
Blut und Schweiß bezeichnen ihres Königs grauſenvolle Fährte.

9. Zagend auf lebend'gem Throne ſehn ſie den Gebieter ſitzen
Und mit ſcharfer Klaue ſeines Sitzes bunte Polſter ritzen.
Raſtlos, bis die Kraft ihr ſchwindet, muß ihn die Giraffe tragen:
Gegen einen ſolchen Reiter hilft kein Bäumen und kein Schlagen.

10. Taumelnd an der Wüſte Saume ſtürzt ſie hin und röchelt leiſe.
Tot, bedeckt mit Staub und Schaume, wird das Roß des Reiters Speiſe.
Über Madagaskar, fern im Oſten, ſieht man Frühlicht glänzen; —
So durchſprengt der Tiere König nächtlich ſeines Reiches Grenzen.

## 158. Die alte Waſchfrau. (1833.)

Von A. v. Chamiſſo.

Werke. Leipzig 1856. Bd. III, S. 61.

1. Du ſiehſt geſchäftig bei dem Linnen
Die Alte dort in weißem Haar,
Die rüſtigſte der Wäſcherinnen
Im ſechsundſiebenzigſten Jahr.
So hat ſie ſtets mit ſauerm Schweiß
Ihr Brot in Ehr' und Zucht gegeſſen
Und ausgefüllt mit treuem Fleiß
Den Kreis, den Gott ihr zugemeſſen.

2. Sie hat in ihren jungen Tagen
Geliebt, gehofft und ſich vermählt;
Sie hat des Weibes Los getragen,
Die Sorgen haben nie gefehlt;
Sie hat den kranken Mann gepflegt;
Sie hat drei Kinder ihm geboren;
Sie hat ihn in das Grab gelegt
Und Glaub' und Hoffnung nicht verloren.

3. Da galt's die Kinder zu ernähren;
Sie griff es an mit heiterm Mut,
Sie zog ſie auf in Zucht und Ehren,
Der Fleiß, die Ordnung ſind ihr Gut.
Zu ſuchen ihren Unterhalt,
Entließ ſie ſegnend ihre Lieben;
So ſtand ſie nun allein und alt,
Ihr war ihr heitrer Mut geblieben.

4. Sie hat geſpart und hat geſonnen,
Und Flachs gekauft und nachts gewacht,
Den Flachs zu feinem Garn geſponnen,
Das Garn dem Weber hingebracht;
Der hat's gewebt zu Leinewand;
Die Schere brauchte ſie, die Nadel,
Und nähte ſich mit eigner Hand
Ihr Sterbehemde ſonder Tadel.

5. Ihr Hemd, ihr Sterbehemd, ſie ſchätzt es,
Verwahrt's im Schrein am Ehrenplatz;
Es iſt ihr erſtes und ihr letztes,
Ihr Kleinod, ihr erſparter Schatz.
Sie legt es an, des Herren Wort
Am Sonntag früh ſich einzuprägen;
Dann legt ſie's wohlgefällig fort,
Bis ſie darin zur Ruh' ſie legen.

6. Und ich, an meinem Abend, wollte,
Ich hätte, dieſem Weibe gleich,
Erfüllt, was ich erfüllen ſollte
In meinen Grenzen und Bereich;
Ich wollt', ich hätte ſo gewußt,
Am Kelch des Lebens mich zu laben,
Und könnt' am Ende gleiche Luſt
An meinem Sterbehemde haben.

## 159. Die drei Indianer. (1832.)

Von N. Lenau.

Sämtliche Werke. Stuttgart 1880. Bd. I, S. 34.

1. Mächtig zürnt der Himmel im Gewitter,
Schmettert manche Rieſeneich' in Splitter,
Übertönt des Niagara Stimme,
Und mit ſeiner Blitze Flammenruten
Peitſcht er ſchneller die beſchäumten Fluten,
Daß ſie ſtürzen mit empörtem Grimme.

2. Indianer ſtehn am lauten Strande,
Lauſchen nach dem wilden Wogenbrande,
Nach des Waldes bangem Sterbgeſtöhne;
Greis der eine, mit ergrautem Haare,
Aufrecht überragend ſeine Jahre,
Die zwei andern ſeine ſtarken Söhne.

3. Seine Söhne jetzt der Greis betrachtet
Und ſein Blick ſich dunkler jetzt umnachtet,
Als die Wolken, die den Himmel ſchwärzen,
Und ſein Aug' verſendet wildre Blitze,
Als das Wetter durch die Wolkenritze,
Und er ſpricht aus tiefempörtem Herzen:

4. „Fluch den Weißen! ihren letzten Spuren!
Jeder Welle Fluch, worauf sie fuhren,
Die, einst Bettler, unsern Strand erklettert!
Fluch dem Windhauch, dienstbar ihrem Schiffe!
Hundert Flüche jedem Felsenriffe,
Das sie nicht hat in den Grund geschmettert!

5. „Täglich übers Meer in wilder Eile
Fliegen ihre Schiffe, gift'ge Pfeile,
Treffen unsre Küste mit Verderben.
Nichts hat uns die Räuberbrut gelassen,
Als im Herzen tödlich-bittres Hassen:
Kommt, ihr Kinder, kommt, wir wollen sterben!"

6. Also sprach der Alte, und sie schneiden
Ihren Nachen von den Uferweiden,
Drauf sie nach des Stromes Mitte ringen;
Und nun werfen sie weithin die Ruder,
Armverschlungen, Vater, Sohn und Bruder
Stimmen an, ihr Sterbelied zu singen.

7. Laut ununterbrochne Donner krachen,
Blitze flattern um den Todesnachen,
Ihn umtaumeln Möwen sturmesmunter;
Und die Männer kommen fest entschlossen
Singend schon dem Falle zugeschossen,
Stürzen jetzt den Katarakt hinunter.

## 160. Drusus' Tod. 9 v. Chr.

Von K. Simrock.

Gedichte. Leipzig 1844. S. 147.

1. Drusus ließ in Deutschlands Forsten
Goldne Römeradler horsten,
An den heil'gen Göttereichen
Klang die Axt mit frevlen Streichen.

2. Siegend fuhr er durch die Lande,
Stand schon an der Elbe[1]) Strande,
Wollt' hinüber jetzt verwegen,
Als ein Weib ihm trat entgegen.

3. Übermenschlich von Gebärde,
Drohte sie dem Sohn der Erde:
„Kühner, den der Ehrgeiz blendet,
Schnell zur Flucht den Fuß gewendet!

4. „Jene Marken unsrer Gauen
Sind dir nicht vergönnt zu schauen,
Stehst am Markstein deines Lebens,
Deine Siege sind vergebens.

5. „Säumt der Deutsche gerne lange,
Nimmer beugt er sich dem Zwange,
Schlummernd mag er wohl sich strecken,
Schläft er, wird ein Gott ihn wecken."

6. Drusus, da sie so gesprochen,
Eilends ist er aufgebrochen,
Aus den Schauern deutscher Haine
Führt er schnell das Heer zum Rheine.

7. Vor den Augen sieht er's flirren,
Deutsche Waffen hört er klirren,
Sausend hört er die Geschosse,
Stürzt zu Boden mit dem Rosse.

8. Hat den Schenkel arg zerschlagen,
Starb den Tod nach dreißig Tagen.
Also wird Gott alle fällen,
Die nach Deutschlands Freiheit stellen.

## 161. Tells Tod. (1829.)

Von L. Uhland.

Gedichte und Dramen. Stuttgart 1863. Bd. II, S. 307.

1. Grün wird die Alpe werden,
Stürzt die Lawin' einmal;
Zu Berge ziehn die Herden,
Fuhr erst der Schnee zu Tal.
Euch stellt, ihr Alpensöhne,
Mit jedem neuen Jahr
Des Eises Bruch vom Föhne
Den Kampf der Freiheit dar.

2. Da braust der wilde Schächen
Hervor aus seiner Schlucht,
Und Fels und Tanne brechen
Von seiner jähen Flucht.
Er hat den Steg begraben,
Der ob der Stäube hing,
Hat weggespült den Knaben,
Der auf dem Stege ging.

3. Und eben schritt ein andrer
Zur Brücke, da sie brach:
Nicht stutzt der greise Wandrer,
Wirft sich dem Knaben nach,
Faßt ihn mit Adlerschnelle,
Trägt ihn zum sichern Ort;
Das Kind entspringt der Welle,
Den Alten reißt sie fort.

[1]) Im Originale steht Weser, was der Dichter auf eine Anfrage aber als Druckfehler bezeichnet hat. In seinen „Geschichtlichen deutschen Sagen aus dem Munde des Volkes und deutscher Dichter" (Frankfurt a. M. 1850), S. 1 steht Elbe.

4. Doch als nun ausgeſtoßen
Die Flut den toten Leib,
Da ſtehn um ihn, ergoſſen
In Jammer, Mann und Weib:
Als kracht' in ſeinem Grunde
Des Rotſtocks Felsgeſtell,
Erſchallt's aus einem Munde:
„Der Tell iſt tot, der Tell!“

5. Wär' ich ein Sohn der Berge,
Ein Hirt am ew'gen Schnee,
Wär' ich ein kecker Ferge
Auf Uris grünem See,
Und trät' in meinem Harme
Zum Tell, wo er verſchied:
Des Toten Haupt im Arme,
Spräch' ich mein Klagelied:

6. „Da liegſt du, eine Leiche,
Der aller Leben war;
Dir trieft noch um das bleiche
Geſicht dein greiſes Haar.
Hier ſteht, den du gerettet,
Ein Kind, wie Milch und Blut;
Das Land, das du entkettet,
Steht rings in Alpenglut.

7. „Die Kraft derſelben Liebe,
Die du dem Knaben trugſt,
Ward einſt in dir zum Triebe,
Daß du den Zwingherrn ſchlugſt.
Nie ſchlummernd, nie erſchrocken,
War Retten ſtets dein Brauch,
Wie in den braunen Locken,
So in den grauen auch.

8. „Wärſt du noch jung geweſen,
Als du den Knaben fingſt,
Und wärſt du dann geneſen,
Wie du nun untergingſt,
Wir hätten draus geſchloſſen
Auf künft'ger Taten Ruhm:
Doch ſchön iſt nach dem großen
Das ſchlichte Heldentum.

9. „Dir hat dein Ohr geklungen
Vom Lob, das man dir bot:
Doch iſt zu ihm gedrungen
Ein ſchwacher Ruf der Not.
Der iſt ein Held der Freien,
Der, wann der Sieg ihn kränzt,
Noch glüht, ſich dem zu weihen,
Was frommet und nicht glänzt.

10. „Geſund biſt du gekommen
Vom Werk des Zorns zurück:
Im hilfereichen, frommen
Verließ dich erſt dein Glück.
Der Himmel hat dein Leben
Nicht für ein Volk begehrt:
Für dieſes Kind gegeben,
War ihm dein Opfer wert.

11. „Wo du den Vogt getroffen
Mit deinem ſichern Strahl,
Dort ſteht ein Bethaus offen,
Dem Strafgericht ein Mal:
Doch hier, wo du geſtorben,
Dem Kind ein Heil zu ſein,
Haſt du dir nur erworben
Ein ſchmucklos Kreuz von Stein.

12. „Weithin wird lobgeſungen,
Wie du dein Land befreit;
Von großer Dichter Zungen
Vernimmt's noch ſpäte Zeit:
Doch ſteigt am Schächen nieder
Ein Hirt im Abendrot,
Dann hallt im Felstal wider
Das Lied von deinem Tod.“

## 162. Jeſchko von Köpenick.

Von G. Heſekiel.

Neue Gedichte. Berlin und Leipzig 1866. S. 73.

1. Dreimal aufs Haupt geſchlagen, grimmig wich er zurück,
Der Fürſt der heidniſchen Wenden, Jeſchko von Köpenick;
Bei Brandenburg und Spandow wurde der Drache zu Spott, —
Doch wollt' er noch einmal beſtehen den mächtigen Chriſtengott.

2. Da ſtellt er ſeine Geſchwader im Haken über der Schlucht
Und barg die Schwärme der Schützen an der Havelbucht; —
Er ritt durch die Reihen der Krieger, er ſprach zu jedem Mann
Und rief die alten Götter mit feurigen Worten an.

3. Hell blitzten empor die Beile, hart klirrt am Schilde der Speer, —
An Siegen oder an Sterben, an Flucht denkt keiner mehr!

Dort hält der Träger des Drachen, voran die Fahnenwacht;
So rüstet der Wendenkönig sich zur letzten Schlacht.

4. Da zucken blinkende Strahlen auf am grünen Hag,
Da rasselt über die Heide eiserner Hufe Schlag;
Hier flackert wie rote Flamme der Reichsmark Adler her,
Dort streckt die gewaltige Tatze straff der askanische Bär.

5. Wild prasselt auf die Schilde der Wendenpfeile Guß,
„Gott mit uns über die Heiden und Sankt Mauritius!"
Und Jeschko wirft sich entgegen mit voller Wucht dem Stoß,
Da wurde so manche Mähre blutig und reiterlos.

6. Herüber und hinüber heulend schwankt die Schlacht,
Die alten Götter, sie kommen mit ihrer ganzen Macht,
Die Heidenmänner sie stürmen Schulter an Schulter vor,
Und riesig recket der Drache sein scheußlich Haupt empor.

7. Durch die Geschwader der Christen ein dumpfes Brausen geht,
Die Lanze fertig zum Stoße, das Herz zum Stoßgebet;
Da brechen im scharfen Keile rotweiß die Fähnlein durch,
Im Banner drüben Sankt Moritz vom Erzstift Magdeburg.

8. Wild klaffet auseinander der heidnischen Männer Wand,
Und klirrend fliegen die Trümmer über den blutigen Sand;
Umsonst der König selber führt die Fahnenwacht,
Die Heidengötter, sie flüchten heulend aus der Schlacht.

9. Verzweifelnd wirft sich Jeschko der Flucht entgegen wild,
Da stürzt der Träger des Drachen, nieder das Fahnenbild; —
Da packt das bleiche Entsetzen den ganzen Wendentroß,
Der Heidenkönig selber wirft herum das Roß.

10. Er raset über die Heide, in Wolken hüllt ihn der Sand,
Er saust wie 's Wetter hernieder zu der Havel Strand;
Er ruft die Götter, doch schweigend die Kiefern stehen ringsum;
Dreimal ruft er die Götter, die Heide sie bleibet stumm.

11. Wild gibt er dem Roß die Sporen, der Feind ist nahe genung,
Und setzt in die blaue Havel hinein mit gewaltigem Sprung.
Die Wogen, sie fassen die Beute, sie ziehen den Reiter hinab,
Und Jeschko fühlet schwindelnd ringsum das nasse Grab.

12. Da ist der Trotz gebrochen dem grimmigen Heidenmann,
Er ruft in Todesängsten den Gott der Christen an:
„Und kannst du mich erretten, Herrgott! aus diesem Grau'n,
Will ich dein Diener werden und Tempel dir erbau'n;

13. „Ich will die heil'ge Taufe mit meinem Volk empfahn,
Will deiner Kirche dienen als treuer Untertan!"
Und als er das gelobet, die Woge hub ihn sacht,
Sie hat zum nächsten Horne ihn unversehrt gebracht.

14. Dort hing er an der Eiche auf den Drachenschild
Und neigt' sein Haupt dem Glanze vom Kreuze wundermild.
Mit allen seinen Mannen hat er die Taufe empfahn,
Zu Brandenburg dem Dome ward er untertan.

15. Wo einst der Fürst der Wenden den heil'gen Glauben fand,
Kaum klingt die Sage leise noch hin am Havelstrand,
Die Woge singt sie flüsternd noch um die grünen Höh'n,
Mein Ohr hat sie vernommen am Herbsttag still und schön.

## 163. Das Schloß Boncourt. (1827.)

Von A. v. Chamiſſo.

Werke. Leipzig 1864. Bd. III, S. 78.

1. Ich träum' als Kind mich zurücke
Und ſchüttle mein greiſes Haupt;
Wie ſucht ihr mich heim, ihr Bilder,
Die lang ich vergeſſen geglaubt?

2. Hoch ragt aus ſchatt'gen Gehegen
Ein ſchimmerndes Schloß hervor,
Ich kenne die Türme, die Zinnen,
Die ſteinerne Brücke, das Tor.

3. Es ſchauen vom Wappenſchilde
Die Löwen ſo traulich mich an,
Ich grüße die alten Bekannten
Und eile den Burghof hinan.

4. Dort liegt die Sphinx am Brunnen,
Dort grünt der Feigenbaum,
Dort, hinter dieſen Fenſtern,
Verträumt' ich den erſten Traum.

5. Ich tret' in die Burgkapelle
Und ſuche des Ahnherrn Grab;
Dort iſt's, dort hängt vom Pfeiler
Das alte Gewaffen herab.

6. Noch leſen umflort die Augen
Die Züge der Inſchrift nicht,
Wie hell durch die bunten Scheiben
Das Licht darüber auch bricht.

7. So ſtehſt du, o Schloß meiner Väter,
Mir treu und feſt in dem Sinn,
Und biſt von der Erde verſchwunden,
Der Pflug geht über dich hin.

8. Sei fruchtbar, o teurer Boden,
Ich ſegne dich mild und gerührt
Und ſegn' ihn zwiefach, wer immer
Den Pflug nun über dich führt.

9. Ich aber will auf mich raffen,
Mein Saitenſpiel in der Hand,
Die Weiten der Erde durchſchweifen
Und ſingen von Land zu Land.

## 164. Die Hiſtörchen. (1846.)

Von A. Kopiſch.

Geſammelte Werke. Berlin 1856. Bd. I, S. 276.

Wir ſitzen zuſammen auf luſtiger Bank,
Erzähle drum jeder einen Schwank,
Vielleicht von dummem Volk etwas,
Das macht uns Klugen am meiſten Spaß.
Wer ausgetrunken hat, fängt an! —
Das trifft mich ſelber, nun wohlan!
„Die Fockbecker — es iſt doch kein Fockbecker am Tiſch?“ —
„Nein, noch iſt er draußen, erzähl' Er nur friſch!“
„Die Fockbecker aßen Hering einmal,
Das war für ſie ein Göttermahl!
Sie dachten: das ſollte man öfter haben,
Iſt eine der beſten Tafelgaben! —
Sie haben nicht viel und ſind nicht reich,
Drum legen ſie an einen Heringsteich,
Und kaufen ſie gut geſalzen ein
Und ſetzen ſie in den Teich hinein
Und dachten ſo ohne ſondre Müh'n
Sich ihren Heringsbedarf zu ziehn.
Ging einer nun bei dem Waſſer vorbei
Und rührte ſich was, ſo rief er: ‚Hei!
Es rührt ſich ſchon, es werden ſchon mehr‘,
Und rieb ſich die Hände und freute ſich ſehr.
Als nun der Herbſt gekommen war,
Da ließen ſie ab das Waſſer klar,
Und ſtanden herum und guckten drein:
Da fanden ſie — einen Aal allein;
Von Heringen nicht einen Schwanz,
Die waren weggeſchwunden ganz. —
Da ſchrieen ſie alle auf einmal:
‚Der Aal hat ſie verzehrt, der Aal!
Fort, fort mit ihm zur Feuerqual!‘
‚Nein‘, meinte der eine, ‚ſo ſtirbt er zu ſchnell;
Werft ihn lieber in ein Waſſer hell!‘
‚In ein Waſſer? das wär' ein dummer Streich;
Er hat ja immer gelebt im Teich!‘
‚Das Waſſer im Teich iſt flach und klein,
Wohl zehnmal tiefer muß es ſein.
Werft in den großen Strom ihn hin;
Da wird er ſchon verſaufen drin!‘ —
Wie nun der Aal tief Waſſer ſpürt
Und luſtig drin herumvagiert,
Da riefen ſie: ‚Seht ſeine Not!
Erſaufen iſt ein böſer Tod!‘ —
Die Fockbecker — doch da kommt einer herein,
Da muß ich wahrhaftig ſtille ſein.“

„Guten Tag, Herr Fockbecker! Setzt Euch,
Trinkt und erzählt ein Hiſtörchen!“ —
„Gleich! —
Die Kisdorfer — es iſt doch kein Kisdorfer am Tiſch?“ —
„Nein, noch ſind ſie draußen, erzähl' Er nur friſch!“ —
„Die Kisdorfer ſind nicht gerade dumm;
Doch kommen ſie oft ums Wahre herum.
Einſt, wie ein fremder Bauer da fährt,
Macht er am Wege ſich Gras fürs Pferd,
Läßt liegen die Senſe und denkt: ‚Hierher
Komm' ich am Abend und hol' mir mehr'.
So fährt er davon. — Nun war es ein Spaß,
Die Kisdorfer merken: es fehlt da Gras,
Und halten die Senſe für ein Tier,
Und glauben, das hat gefreſſen hier.
Der Kühnſte tritt nah hinzu und ſpricht:
‚Es ſcheint zu ſchlafen, es rührt ſich nicht.
Was tun? — Dem Ding iſt nicht zu trau'n,
Kommt her und machen wir einen Zaun
In aller Stille ringsherum:
So muß es verhungern!‘ — Das ſchien nicht dumm.
Sie machen den Zaun: ‚Nun kann's nicht heraus!‘
Da gehn ſie getröſtet alle nach Hauſ'.
Der Bauer kam wieder — der hat gelacht
Und die Senſe geholt und Gras gemacht
Und den Streich dann unter die Leute gebracht.
Den Kisdorfern aber war angſt und bang,
Weil das Tier den Zaun doch überſprang.
Und keiner ging damals allein,
Sie mußten immer gekoppelt ſein,
Bis auf dem Markt ſie Senſen geſehn
Und merkten, das ſei ein Ding zum Mähn. —
Noch ſchöner war es mit einem Gaul,
Der ſchlug um ſich mit den Füßen nicht faul.
Dem bauten ſie rings umher ein Haus; —
Doch erzähl' ich die Geſchichte nicht aus,
Es kommt von Kisdorf eben ein Mann.“ —
„Heran, heran, nur immer heran!
Herr Kisdorfer, kommt und ſetzet Euch,
Trinkt und erzählt ein Hiſtörchen!“ —
„Gleich!
Die Gabler — es iſt doch kein Gabler am Tiſch?“ —
„Nein, noch ſind ſie draußen, erzähl' Er nur friſch!“ —
„Die Gabler kannten die Katzen noch nicht
Und wurden geplagt von Mäuſegezücht.
Da bracht' ein Jud' eine Katze daher,
Die, ſagt' er, zum Mäuſeausrotten wär'.
Der Jude verlangte die halbe Welt,
Da legten zuſammen ſie vieles Geld
Und ſetzten die Katze ins erſte Haus:
‚Dort fange ſie an und rotte aus!‘
Der Jude war ſchon ein Weilchen fort;
Ein Tauber ritt nach und rief: ‚Ein Wort!
Was frißt das Tier?‘ — ‚Milch!‘ rief er zurück,
‚Und Mäuschen frißt es!‘ — ‚O Ungelück!‘
Ruft aus der Taube, denn er verſtund:
‚Auch Menſchen frißt es!‘ O böſe Stund'!
Es erſchrickt im Dorf Mann, Weib und Kind;
Doch weil ſie gefaßte Leute ſind,
Entſchließen ſie ſich: ‚Ums Haus dahier
Macht flugs ein Feuer, verbrennt das Tier.
Viel beſſer ein Haus geopfert iſt,
Als wenn es einen Menſchen frißt!‘
Geſagt, getan, das Feuer brennt;
Doch die Katze kommt herausgerennt
Und länft in das zweite, — auch das muß fort!
‚Viel beſſer Brand als Menſchenmord!‘
Man zündet an — flink iſt ſie heraus,
Und iſt ſchon wieder im dritten Haus!
Das iſt des Schulzen: der brave Mann,
Der ſetzt das Seine gern daran,
Wenn er die Menſchheit retten kann.
Hei! brennt der Speck in Schulzens Haus!
Wipp, war die Katze wieder heraus!
Hier kann nichts helfen, man ſengt und brennt,
Wo immer nur das Tier hinrennt,
Die Katze bleibt in einem Lauf;
So geht das Dorf in Feuer auf!
Doch tröſtet man ſich bei aller Not,
Die Katze iſt zuletzt doch tot,
Man trug ſie auf einer Stang' umher,
Als ob es ein groß Mirakel wär'.
Das Dorf ward bald neu aufgeſtellt,
Sie hatten viel verſcharrtes Geld.
Und dies war nicht ihr letztes Stück,
Sie hatten bei aller Dummheit Glück;
Zum Beiſpiel — doch da kommt ein Mann
Aus Gabeln, ſtill!“ — „Heran, heran!
Herr Gabler, kommt und ſetzet Euch,
Trinkt und erzählt ein Hiſtörchen!“ —
„Gleich!
Die Büſumer — es iſt doch kein Büſumer am Tiſch?“ —
„Nein, noch ſind ſie draußen, erzähl' Er nur friſch!“ —

„Die Büſumer wohnen am Meeresſtrand
Und ſind für kluge Leute bekannt,
Nur treiben ſie die Beſcheidenheit
In manchem Stücke gar zu weit.
Des einen Sonntags ihrer neun
Schwimmen ſie weit in die See hinein.
Auf einmal, wie das Meer ſo ſchwankt,
Wird einem um die andern angſt,
Und zählt ſie alle: ‚eins, zwei, drei‘
Bis acht — und läßt ſich aus dabei;
Denn es iſt ein echtes Büſumer Kind,
Die immer ſo beſcheiden ſind.
Ein zweiter probiert's, zählt: ‚eins, zwei, drei‘
Bis acht — und vergißt ſich auch dabei. —
Da ſchwimmen ſie alle beſtürzt ans Land,
Wo eben ein kluger Fremder ſtand.
Dem klagten ſie jammernd ihre Not
Und ſagten: ‚Von uns iſt einer tot!‘
Und wußten nicht, welcher ertrunken ſei!
Und jammern und zählen immer aufs neu',
Und finden immer nur wieder acht,
Weil jeder beſcheiden an ſich nicht gedacht.
Der Fremde ſprach: ‚Beſcheidenheit
Führt euch, ihr guten Leute, zu weit;
Steck' jeder die Naſ' in den Sand einmal
Und zählt die Tupfen, ſo habt ihr die Zahl.‘
Sie folgen dem Fremden — da zählen ſie neun!
Und luden vor Freud' ihn zum Frühſtück ein.
Die Büſumer — ſtill, wer tritt in die Tür?“
„Ein Büſumer! Schön willkommen hier!
Herr Büſumer, kommt und ſetzet Euch,
Trinkt und erzählt ein Hiſtörchen!“ —
„Gleich!
Die Romöer — es iſt doch kein Romöer am Tiſch?“ —
„Nein, noch ſind ſie draußen, erzähl' Er nur friſch!“ —
„Die Romöer tragen als Leibgewand
Eine rote Jacke, das iſt bekannt:
Nun war ein Robbenſchläger zu arm,
Trug eine graue, daß Gott erbarm'!
Er ſagte zwar: ‚Ich liebe das Grau‘;
Doch neckten ihn damit Mann und Frau.
‚Geh, Peter Modder, du tuſt nur ſo,
Hätteſt du eine rote, ſo wäreſt du froh.‘
Nun muß es zu jener Zeit geſchehn,
Daß in Romoe kalte Winde wehn —
Die Kirche ſteht ſo ſehr nach Nord,
Man rückte ſie gern nach Süden fort.
Da ſprach Peter Modder: ‚Das wird gar leicht
Von uns durch vereinte Kraft erreicht!
Stemmt alle euch hier in Norden dran,
Ich richt' auf der Süderſeite dann —
Und daß wir treffen das rechte Maß,
Legt eine rote Jacke ins Gras;
Dann ſchiebt, und hat ſie erreicht die Wand,
So klopf' ich und rufe: ‚Stilleſtand!‘
Geſagt, getan, der Rat beliebt,
Die Jacke liegt da, man drückt und ſchiebt
Vermeintlich fort die Kirchenwand; —
Da ruft Peter Modder: ‚Stilleſtand!
Ihr ſchiebt zu ſtark, die Jack' iſt fort!‘
Da laufen ſie alle hin zum Ort!
Fort iſt ſie richtig, jedermann
Sieht ſtaunend Peter Moddern an
Und lobet ſeinen guten Rat
Und iſt gar ſtolz auf ſolche Tat.
Doch nächſten Sonntag wundert ſich
Im Dorfe jedermänniglich:
Peter Modder, der ſonſt graue Mann,
Hat eine rote Jacke an ....
Und keiner wußte da, woher
Die rote Jack' ihm kommen wär'? —
Die Romöer — ſtill, wer tritt in die Tür?“
„Ein Romöer! Schön willkommen hier!
Herr Romöer, kommt und ſetzet Euch,
Trinkt und erzählt ein Hiſtörchen!“ —
„Gleich!
Die Hosdrupper — es iſt doch kein Hosdrupper am Tiſch?“ —
„Nein, noch ſind ſie draußen, erzähl' Er nur friſch!“ —
„Die Hosdrupper leben friedlich im Land,
Und Krieg iſt dort ganz unbekannt.
Und wie ſie einmal Gras mähn zu Heu,
Iſt einer, vielleicht ein Fremder, dabei,
Der hatt' in der Stadt gehört vom Krieg.
Da fragten ſie alle: ‚Was iſt der Krieg?‘
Da ſagte der Mann: ‚Der Krieg beſteht
Darin, daß immer die Trummel umgeht.‘
‚Wie geht denn die Trummel?‘ ‚Sie geht bumm bumm,
Bumm bumm, im ganzen Land herum.
Der Krieg iſt ſchlimm und frißt viel Leut'
Samt Vieh und Häuſern weit und breit!‘
Die Hosdrupper ſprachen: ‚Vor Kriegesnot
Bewahre uns der liebe Herregott!‘
Und mäheten weiter. Nun lag im Gras
Ein Faß voll Bier, gut ſchmeckte das;
Die Sommerhitze war nicht gering,
Weshalb es bald zu Ende ging.
Da fliegt durch den Spund zum Unglück
Eine Hummel hinein, find't nicht zurück.

Summ ſumm, bumm bumm, ſumm ſumm, bumm bumm,
Flog ſie im hohlen Faß herum.
Da ſprach der Klügſte: ‚Ich höre bumm bumm,
Der Krieg iſt da, die Trummel geht um!“
Nun fliehn ſie über Stock und Block,
Und jeder wünſcht der Bein' ein Schock;
Das leere Faß noch rettet der ein',
Läuft immer hinter den andern drein.
Drin tobte die Hummel mit ihrem Gebrumm,
Dicht hinter ihnen: bumm bumm bumm.
Sie liefen, bis endlich der Mann mit dem Faß
Hinfiel und es zerbrach im Gras.
Da traf ein Splitter den einen am Kopf:
‚Ich bin geſchoſſen!‘ ſchrie der Tropf.
Das war den andern erſt ein Grau'n,
Hoch ſprangen ſie über Heck' und Zaun,
Und rannten fort, die Kreuz und Quer,
Man ſah ſie den ganzen Tag nicht mehr.
Die Hosdrupper — ſtill, wer tritt in die Tür?“
„Ein Hosdrupper! Schön willkommen hier!
Herr Hosdrupper, kommt und ſetzet Euch,
Trinkt und erzählt ein Hiſtörchen!“ — „Gleich!“
Der Hosdrupper ſetzt ſich, trinkt und ſpricht:
„Ein rechtes Hiſtörchen weiß ich nicht:
Doch iſt euch Luſtiges angenehm,
So gab's recht dumme Leute vordem.
Zu Bishorſt, das vergangen iſt,
Da wohnt' einſt mancher gute Chriſt;
Die Kirche aber war ſo klein,
Sie fanden bei Tage kaum hinein;
Wie ſollt' es erſt in der Chriſtnacht geſchehn,
Wenn alle Wege mit Schnee verwehn! —
Da ſpannten ſie einen langen Strick
Von der Kirchentür zum Dorf zurück,
Dran gingen ſie hin, wenn Chriſtnacht war,
Mocht' ſein das Wetter trüb oder klar.
Sie kamen lange Jahre mit Glück
Am Stricke hin und wieder zurück;
Doch einmal band ein böſer Mann
Den Strick an den offenen Brunnen an.
Plantſch! fällt der erſt' in das Waſſer da,
Der zweite dahinter war ſchon nah
Und denkt, er ſchließt die Kirchentür,
Und ruft: ‚Laß offen, ich bin ſchon hier!‘
Plantſch! fällt der zweite dazu ins Loch;
Da ruft der dritte: ‚Warte doch!
Was machſt du zu?‘ und plantſch! hinein.
Da ruft der vierte hinterdrein:
‚Was ſchlagt Ihr denn die Pforte zu?‘
Und plantſcht hinein im ſelben Nu.
Der fünft' und ſechſte mit Weib und Kind,
Das purzelt alles hinein geſchwind:
Drein plumpt das ganze Volk gemach,
Der Pfarr'r und Küſter hintenach —
Und blieb nicht eine Seel' am Ort,
Ganz war es ausgeſtorben dort.
Und kamen ſie miteinander um,
So war auch kein Lamento drum.
Zuletzt getröſt't ſich jeder Chriſt,
Daß ſolch ein Volk verſtorben iſt! —
Es geh' der Krug die Reih' herum,
Dankt Gott, daß keiner von uns ſo dumm!“

Chorus:

„Ja, geh' der Krug die Reih' herum,
Dankt Gott, daß keiner von uns ſo dumm!“

## 165. Der Schatzgräber. (Mai 1797.)

Von W. v. Goethe.

Werke. Nach den vorzüglichſten Quellen revidierte Ausgabe. Berlin 1868. Tl. I (Gedichte, herausgegeben von K. Strebitzke), S. 242.

1. Arm am Beutel, krank am Herzen
Schleppt' ich meine langen Tage.
Armut iſt die größte Plage,
Reichtum iſt das höchſte Gut!
Und zu enden meine Schmerzen,
Ging ich einen Schatz zu graben.
„Meine Seele ſollſt du haben!“
Schrieb ich hin mit eignem Blut.

2. Und ſo zog ich Kreiſ' um Kreiſe,
Stellte wunderbare Flammen,
Kraut und Knochenwerk zuſammen:
Die Beſchwörung war vollbracht.
Und auf die gelernte Weiſe
Grub ich nach dem alten Schatze
Auf dem angezeigten Platze.
Schwarz und ſtürmiſch war die Nacht.

3. Und ich ſah ein Licht von weitem
Und es kam gleich einem Sterne
Hinten aus der fernſten Ferne,
Eben als es zwölfe ſchlug.
Und da galt kein Vorbereiten.
Heller ward's mit einem Male
Von dem Glanz der vollen Schale,
Die ein ſchöner Knabe trug.

4. Holde Augen ſah ich blinken
Unter dichtem Blumenkranze:
In des Trankes Himmelsglanze
Trat er in den Kreis herein.
Und er hieß mich freundlich trinken;
Und ich dacht': es kann der Knabe
Mit der ſchönen, lichten Gabe
Wahrlich nicht der Böſe ſein.

5. „Trinke Mut des reinen Lebens!
Dann verſtehſt du die Belehrung,
Kommſt mit ängſtlicher Beſchwörung
Nicht zurück an dieſen Ort.
Grabe hier nicht mehr vergebens!
‚Tages Arbeit, abends Gäſte!
Saure Wochen, frohe Feſte!'
Sei dein künftig Zauberwort."

## 166. Eine Mutter.

Von A. Meißner.

Zlata[1]). Leipzig 1847. S. 140.

1. Es gehet und wehet die Kunde durchs Land:
Es trafen die Heere am Moldauſtrand,
Sie haben ein Treffen geſchlagen:
Auf hölzerner Brücke hoch über dem Fluß,
Da trafen die Deutſchen die Kinder des Hus;
Die Kinder des Kelches erlagen.

2. Und unter dem Tritte der Pferde zerbrach
Die hallende Brücke mit Donnergekrach,
Es wichen die Pfeiler im Falle.
Die Reiter, das Fußvolk, voll Wunden und Blut,
Sie ſtürzten kopfüber hinab in die Flut,
Da ſanken, ertranken ſie alle.

3. Die böhmiſche Mutter, ſie höret die Mär',
Ihr Sohn mit im verſunkenen Heer,
Ihr letzter geboren, verloren.
Es heulet der Sturmwind, die Nacht iſt kalt,
Sie flieht durch den ſauſenden, brauſenden Wald,
Ihr letzter geboren, verloren!

4. Durch ſtarrende Felſen, ſo wüſt und ſo leer,
Kommt donnernd und brauſend die Moldau daher
Um ſinkende Trümmer und Tore.
Am Saume des Strands, wo der Weidenbuſch rauſcht,
Da ſitzet die Mutter und lauſcht und lauſcht,
Ein zerſchoſſener Vogel im Rohre.

5. Und wie ſie ſo lauſcht mit dem Auge voll Glut,
Da hebt und regt ſich die grollende Flut,
Es röten ſich ſeltſam die Wogen.
Iſt's Glühen des Morgens, das ſo ſie beſtrahlt?
's iſt Herzblut der Edlen, das alſo ſie malt —
Und jetzt kommen Leichen gezogen.

6. Viel' Leichen mit bleichem, erſtarrtem Geſicht,
Sie kommen daher wie zum Totengericht,
Den Blutſchaum auf offenem Munde.
Gewappnete Krieger, ein gräßlicher Knäu'l,
Rings um ſie die Wogen mit Klagegeheul
Aufrauſchend vom Grunde, vom Grunde.

7. Die Leichen der Pferde, ſie ſchleppen ſo ſchwer
An Zügeln und Bügeln die Reiter einher,
Es grinſen die bleichen Geſichter,
Mit gläſernen Augen, mit wallendem Haar,
So treibt auf der Flut die geſpenſtige Schar,
Die Schar, ſie wird dichter und dichter.

8. Die böhmiſche Mutter erfaſſet ein Grau'n:
„O Herre des Himmels, den Sohn laß mich ſchau'n,
Ihn, den ich geboren in Schmerzen.
O Jeſus Maria, da nahet er ſchon
Als blutige Leiche, der herrliche Sohn,
Die klaffende Wunde am Herzen.

9. „Was blickſt mit metallnen Augen mich an?
Du ſollſt nicht ſchwimmen zum Ozean,
Mein wirſt du, du herrliche Leiche."
Sie kämpft mit den Leichen, ſie ringt mit der Flut,
Sie trinket der Helden hellrotes Blut,
O daß ſie den Sohn nur erreiche.

10. Vergebenes Ringen! nun iſt es geſchehn,
Es weichet die Erde, die Sinne vergehn —
O Herr! und der Leichen kein Ende —
Die böhmiſche Mutter, der böhmiſche Sohn,
Sie treiben auf jagenden Wellen davon,
Im Krampfe verflochten die Hände.

---

[1]) ž hat den Laut des franzöſiſchen j in jamais, j'aime; š lautet wie das deutſche ſch.

## 167. Die Kaiſerwahl. (1817.)

Von L. Uhland.

Gedichte und Dramen. Stuttgart 1868. Bd. III: Herzog Ernſt, 2. Aufzug, S. 51.

Der fromme Kaiſer Heinrich war geſtorben,
Des ſächſiſchen Geſchlechtes letzter Zweig,
Das glorreich ein Jahrhundert lang geherrſcht.
Als nun die Botſchaft in das Reich erging,
Da fuhr ein reger Geiſt in alles Volk:
Ein neu Weltalter ſchien heraufzuziehn,
Da lebte jeder längſt entſchlafne Wunſch
Und jede längſt erloſchne Hoffnung auf.
Kein Wunder jetzo, wenn ein deutſcher Mann,
Dem ſonſt ſo Hohes nie zu Hirne ſtieg,
Sich, heimlich forſchend, mit den Blicken maß:
Kann's doch nach deutſchem Rechte wohl geſchehn,
Daß, wer dem Kaiſer heut' den Bügel hält,
Sich morgen ſelber in den Sattel ſchwingt!
Jetzt dachten unſre freien Männer nicht
An Hub- und Haingericht und Markgeding,
Wo man um Eſch' und Holzteil Sprache hält;
Nein, ſtattlich ausgerüſtet zogen ſie
Aus allen Gauen, einzeln und geſchart,
Ins Maienfeld hinab zur Kaiſerwahl.
Am ſchönen Rheinſtrom, zwiſchen Worms und Mainz,
Wo unabſehbar ſich die ebne Flur
Auf beiden Ufern breitet, ſammelte
Der Andrang ſich: die Mauern einer Stadt
Vermochten nicht das deutſche Volk zu faſſen.
Am rechten Ufer ſpannten ihr Gezelt
Die Sachſen ſamt der ſlaw'ſchen Nachbarſchaft,
Die Bayern, die Oſtfranken und die Schwaben;
Am linken lagerten die rhein'ſchen Franken,
Die Ober- und die Nieder-Lothringer, —
So war das Mark von Deutſchland hier gedrängt.
Und mitten in dem Lager jeden Volks
Erhub ſich ſtolz das herzogliche Zelt.
Da war ein Grüßen und ein Händeſchlag,
Ein Austauſch, ein lebendiger Verkehr!
Und jeder Stamm, verſchieden an Geſicht,
An Wuchs und Haltung, Mundart, Sitte, Tracht,
An Pferden, Rüſtung, Waffenfertigkeit,
Und alle doch ein großes Brüdervolk,
Zu gleichem Zwecke feſtlich hier vereint!
Was jeder im beſondern erſt beriet,
Im hüllenden Gezelt und im Gebüſch
Der Inſelbuchten, mählich war's gereift
Zum allgemeinen, offenen Beſchluß.
Aus vielen wurden wenige gewählt,
Und aus den wenigen erkor man zween,
All' beide Franken, fürſtlichen Geſchlechts,
Erzeugt von Brüdern, Namensbrüder ſelbſt,
Kunrade, längſt mit gleichem Ruhm genannt.
Da ſtanden nun auf eines Hügels Saum
Im Kreis der Fürſten, ſichtbar allem Volk,
Die beiden Männer, die aus freier Wahl
Das deutſche Volk des Thrones wert erkannt,
Vor allen, die der deutſche Boden nährt,
Von allen Würdigen die Würdigſten,
Und ſo einander ſelbſt an Würde gleich,
Daß fürder nicht die Wahl zu ſchreiten ſchien,
Und daß die Wage ruht' im Gleichgewicht.
Da ſtanden ſie, das hohe Haupt geneigt,
Den Blick geſenkt, die Wange ſchamerglüht,
Von ſtolzer Demut überwältiget:
Ein königlicher Anblick war's, ob dem
Die Träne rollt' in manchen Mannes Bart.
Und wie nun harrend all' die Menge ſtand,
Und ſich des Volkes Brauſen ſo gelegt,
Daß man des Rheines ſtillen Zug vernahm
(Denn niemand wagt' es, dieſen oder den
Zu küren mit dem hellen Ruf der Wahl,
Um nicht am andern Unrecht zu begehn,
Noch aufzuregen Eiferſucht und Zwiſt),
Da ſah man plötzlich, wie die beiden Herr'n
Einander herzlich faßten bei der Hand
Und ſich begegneten im Bruderkuß:
Da ward es klar, ſie hegten keinen Neid,
Und jeder ſtand dem andern gern zurück.
Der Erzbiſchof von Mainz erhub ſich jetzt.
„Weil doch", ſo rief er, „einer es muß ſein,
So ſei's der ältre." Freudig ſtimmten bei
Geſamte Fürſten, und am freudigſten
Der jüngre Kunrad; donnergleich erſcholl,
Oft wiederholt, des Volkes Beifallsruf.
Als der Gewählte drauf ſich niederließ,
Ergriff er ſeines edlen Vetters Hand
Und zog ihn zu ſich auf den Königsſitz.
Und in den Ring der Fürſten trat ſofort
Die fromme Kaiſerwitwe Kunigund:
Glückwünſchend reichte ſie dem neuen König
Die treubewahrten Reichskleinode dar.
Zum Feſtzug aber ſcharten ſich die Reih'n,
Voran der König, folgend mit Geſang
Die Geiſtlichen und Laien: ſoviel Preis
Erſcholl zum Himmel nie an einem Tag!
Wär' Kaiſer Karl geſtiegen aus der Gruft,

Nicht freudiger hätt' ihn die Welt begrüßt.
So wallten ſie den Strom entlang nach Mainz,
Woſelbſt der König im erhabnen Dom
Der Salbung heil'ge Weihe nun empfing.
(Wen ſeines Volkes Ruf ſo hoch geſtellt,
Dem fehle nicht die Kräftigung von Gott!)
Und als er wieder aus dem Tempel trat,
Erſchien er herrlicher als kaum zuvor,
Und ſeine Schulter ragt' ob allem Volk.

## 168. Der Choral von Leuthen.

Von H. Beſſer.

Zuerſt in: Th. Echtermeyer, Auswahl deutſcher Gedichte. Halle 1852. S. 293.

1. Geſiegt hat Friedrichs kleine Schar. Raſch über Berg und Tal
Von dannen zog das Kaiſerheer im Abendſonnenſtrahl;
Die Preußen ſtehn auf Leuthens Feld, das heiß noch von der Schlacht;
Des Tages Schreckenswerke rings umſchleiert mild die Nacht

2. Doch dunkel iſt's hier unten nur, am Himmel Licht an Licht,
Die goldnen Sterne ziehn herauf wie Sand am Meer ſo dicht,
Sie ſtrahlen ſo beſonders heut', ſo feſtlich hehr ihr Lauf;
Es iſt, als wollten ſagen ſie: „Ihr Sieger, blicket auf!"

3. Und nicht umſonſt. Der Preuße fühlt's: es war ein großer Tag,
Drum ſtill im ganzen Lager iſt's, nicht Jubel noch Gelag;
So ſtill, ſo ernſt die Krieger all', kein Lachen und kein Spott —
Auf einmal tönt es durch die Nacht: „Nun danket alle Gott!"

4. Der Alte, dem's mit Macht entquoll, ſingt's fort, doch nicht allein:
Kam'raden um ihn her im Kreis, gleich ſtimmen ſie mit ein;
Die Nachbarn treten zu; es wächſt lawinengleich der Chor,
Und voller, immer voller ſteigt der Lobgeſang empor.

5. Aus allen Zelten ſtrömt's, es reiht ſich ſingend Schar an Schar,
Einfallen jetzt die Jäger, jetzt fällt ein auch der Huſar;
Auch Muſika will feiern nicht, zu reiner Harmonie
Lenkt Horn, Hobo' und Klarinett' die heil'ge Melodie.

6. Und ſtärker noch und lauter noch, es ſchwillt der Strom zum Meer,
Am Ende wie aus einem Mund ſingt rings das ganze Heer.
Im Echo donnernd widerhallt's das aufgeweckte Tal:
Wie hundert Orgeln brauſt hinan zum Himmel der Choral.

## 169. Der beſte Schüler. (1835.)

Von F. Rückert.

Geſammelte poetiſche Werke. Frankfurt a. M. 1868. Bd. III, S. 412.

Bei einem Lehrer iſt von Schülern eine Gilde,
Die unterweiſet er in Gottesfurcht und Milde.
Er weiſt zu Gottesfurcht und Milde nur ſie an,
Doch einer will voraus den andern auf der Bahn:
Am allerjüngſten hat der Meiſter Wohlgefallen,
Weil er ihn ſieht im Geiſt voran den andern wallen.
Die andern aber, die voran im Alter gehn,
Sie fragen ſich, warum ihr Meiſter vorzieht den.
„Warum uns ältern ihn, den jüngſten, ziehſt du vor?"
Er ſprach: „Ich ſag' es euch, doch thut mir dies zuvor:
Von dieſen Vögelein (er nahm ſie aus dem Neſte)
Nehmt jeder eins zur Hand und geht damit aufs beſte
Hinaus an einen Ort, da, wo euch ſieht kein Blick;
Erwürgt die Vögel dort und bringt ſie hier zurück." —

Sie gehn und bringen dann die toten ohne Beben,
Als sollt', ein Wundermann, der Meister sie beleben.
Der jüngste aber bringt sein Vögelein lebendig.
„Was würgtest du es nicht?" Er sprach darauf verständig:
„Weil ich den Ort nicht fand, o Meister, welchen du
Mich suchen hießest, da kein Blick mir sähe zu:
Ein Blick sieht überall, er sieht aufs Leben nieder,
Wie mein's, des Vögeleins; drum bring' ich's lebend wieder."
Der Meister sah sich um, die Schüler waren stumm;
Den jüngsten zog er vor — nun wußten sie warum.

## 170. Der Kampf mit dem Drachen. (26. August 1798.)

Von F. v. Schiller.

Sämtliche Schriften. Historisch-kritische Ausgabe von K. Goedeke. Stuttgart 1871. Bd. XI. S. 272.

1. Was rennt das Volk, was wälzt sich dort
Die langen Gassen brausend fort?
Stürzt Rhodus unter Feuers Flammen?
Es rottet sich im Sturm zusammen,
Und einen Ritter, hoch zu Roß,
Gewahr' ich aus dem Menschentroß,
Und hinter ihm, welch Abenteuer!
Bringt man geschleppt ein Ungeheuer,
Ein Drache scheint es von Gestalt
Mit weitem Krokodilesrachen,
Und alles blickt verwundert bald
Den Ritter an und bald den Drachen.

2. Und tausend Stimmen werden laut:
„Das ist der Lindwurm, kommt und schaut!
Der Hirt und Herden uns verschlungen,
Das ist der Held, der ihn bezwungen!
Viel' andre zogen vor ihm aus,
Zu wagen den gewalt'gen Strauß,
Doch keinen sah man wiederkehren,
Den kühnen Ritter soll man ehren!"
Und nach dem Kloster geht der Zug,
Wo Sankt Johanns des Täufers Orden,
Die Ritter des Spitals, im Flug
Zu Rate sind versammelt worden.

3. Und vor den edlen Meister tritt
Der Jüngling mit bescheidnem Schritt,
Nachdrängt das Volk mit wildem Rufen,
Erfüllend des Geländers Stufen.
Und jener nimmt das Wort und spricht:
„Ich hab' erfüllt die Ritterpflicht.
Der Drache, der das Land verödet,
Er liegt von meiner Hand getötet,
Frei ist dem Wanderer der Weg,
Der Hirte treibe ins Gefilde,
Froh walle auf dem Felsensteg
Der Pilger zu dem Gnadenbilde."

4. Doch strenge blickt der Fürst ihn an
Und spricht: „Du hast als Held getan;
Der Mut ist's, der den Ritter ehret,
Du hast den kühnen Geist bewähret.
Doch sprich! was ist die erste Pflicht
Des Ritters, der für Christum ficht,
Sich schmücket mit des Kreuzes Zeichen?"
Und alle ringsherum erbleichen.
Doch er, mit edlem Anstand, spricht,
Indem er sich errötend neiget:
„Gehorsam ist die erste Pflicht,
Die ihn des Schmuckes würdig zeiget."

5. „Und diese Pflicht, mein Sohn", versetzt
Der Meister, „hast du frech verletzt.
Den Kampf, den das Gesetz versaget,
Hast du mit frevlem Mut gewaget!"
„Herr, richte, wenn du alles weißt",
Spricht jener mit gesetztem Geist,
„Denn des Gesetzes Sinn und Willen
Vermeint' ich treulich zu erfüllen.
Nicht unbedachtsam zog ich hin,
Das Ungeheuer zu bekriegen;
Durch List und klug-gewandten Sinn
Versucht' ich's, in dem Kampf zu siegen.

6. „Fünf unsres Ordens waren schon,
Die Zierden der Religion,
Des kühnen Mutes Opfer worden;
Da wehrtest du den Kampf dem Orden.
Doch an dem Herzen nagte mir
Der Unmut und die Streitbegier,
Ja selbst im Traum der stillen Nächte
Fand ich mich keuchend im Gefechte,
Und wenn der Morgen dämmernd kam
Und Kunde gab von neuen Plagen,
Da faßte mich ein wilder Gram,
Und ich beschloß, es frisch zu wagen.

7. „Und zu mir selber sprach ich dann:
‚Was schmückt den Jüngling, ehrt den Mann?
Was leisteten die tapfern Helden,
Von denen uns die Lieder melden?

Die zu der Götter Glanz und Ruhm
Erhub das blinde Heidentum?
Sie reinigten von Ungeheuern
Die Welt in kühnen Abenteuern,
Begegneten im Kampf dem Leu'n
Und rangen mit dem Minotauren,
Die armen Opfer zu befrei'n,
Und ließen ſich das Blut nicht dauren.

8. „‚Iſt nur der Sarazen es wert,
Daß ihn bekämpft des Chriſten Schwert?
Bekriegt er nur die falſchen Götter?
Geſandt iſt er der Welt zum Retter.
Von jeder Not und jedem Harm
Befreien muß ſein ſtarker Arm,
Doch ſeinen Mut muß Weisheit leiten,
Und Liſt muß mit der Stärke ſtreiten.‘
So ſprach ich oft und zog allein,
Des Raubtiers Fährte zu erkunden;
Da flößte mir der Geiſt es ein,
Froh rief ich aus: ‚Ich hab's gefunden!‘

9. „Und trat zu dir und ſprach dies Wort:
‚Mich zieht es nach der Heimat fort‘.
Du, Herr, willfahrteſt meinen Bitten,
Und glücklich war das Meer durchſchnitten.
Kaum ſtieg ich aus am heim'ſchen Strand,
Gleich ließ ich durch des Künſtlers Hand,
Getreu den wohlbemerkten Zügen,
Ein Drachenbild zuſammenfügen.
Auf kurzen Füßen wird die Laſt
Des langen Leibes aufgetürmet,
Ein ſchuppicht Panzerhemd umfaßt
Den Rücken, den es furchtbar ſchirmet.

10. „Lang ſtrecket ſich der Hals hervor,
Und gräßlich, wie ein Höllentor,
Als ſchnappt' es gierig nach der Beute,
Eröffnet ſich des Rachens Weite.
Und aus dem ſchwarzen Schlunde drän'n
Der Zähne ſtachelichte Reih'n,
Die Zunge gleicht des Schwertes Spitze;
Die kleinen Augen ſprühen Blitze,
In einer Schlange endigt ſich
Des Rückens ungeheure Länge,
Rollt um ſich ſelber fürchterlich,
Daß es um Mann und Roß ſich ſchlänge.

11. „Und alles bild' ich nach genau,
Und kleid' es in ein ſcheußlich Grau;
Halb Wurm erſchien's, halb Molch und Drache,
Gezeuget in der gift'gen Lache.
Und als das Bild vollendet war,
Erwähl' ich mir ein Doggenpaar,
Gewaltig, ſchnell, von flinken Läufen,
Gewohnt, den wilden Ur zu greifen;
Die hetz' ich auf den Lindwurm an,
Erhitze ſie zu wildem Grimme,
Zu faſſen ihn mit ſcharfem Zahn,
Und lenke ſie mit meiner Stimme.

12. „Und wo des Bauches weiches Blies
Den ſcharfen Biſſen Blöße ließ,
Da reiz' ich ſie, den Wurm zu packen,
Die ſpitzen Zähne einzuhacken.
Ich ſelbſt, bewaffnet mit Geſchoß,
Beſteige mein arabiſch Roß,
Von adeliger Zucht entſtammet;
Und als ich ſeinen Zorn entflammet,
Raſch auf den Drachen ſpreng' ich's los
Und ſtachl' es mit den ſcharfen Sporen,
Und werfe zielend mein Geſchoß,
Als wollt' ich die Geſtalt durchbohren.

13. „Ob auch das Roß ſich grauend bäumt
Und knirſcht und in den Zügel ſchäumt,
Und meine Doggen ängſtlich ſtöhnen,
Nicht raſt' ich, bis ſie ſich gewöhnen.
So üb' ich's aus mit Emſigkeit,
Bis dreimal ſich der Mond erneut,
Und als ſie jedes recht begriffen,
Führ' ich ſie her auf ſchnellen Schiffen.
Der dritte Morgen iſt es nun,
Daß mir's gelungen, hier zu landen;
Den Gliedern gönnt' ich kaum zu ruhn,
Bis ich das große Werk beſtanden.

14. „Denn heiß erregte mir das Herz
Des Landes friſch erneuter Schmerz;
Zerriſſen fand man jüngſt die Hirten,
Die nach dem Sumpfe ſich verirrten.
Und ich beſchließe raſch die Tat,
Nur von dem Herzen nehm' ich Rat.
Flugs unterricht' ich meine Knappen,
Beſteige den verſuchten Rappen,
Und von dem edlen Doggenpaar
Begleitet, auf geheimen Wegen,
Wo meiner Tat kein Zeuge war,
Reit' ich dem Feinde friſch entgegen.

15. „Das Kirchlein kennſt du, Herr, das hoch
Auf eines Felſenberges Joch,
Der weit die Inſel überſchauet,
Des Meiſters kühner Geiſt erbauet.
Verächtlich ſcheint es, arm und klein,
Doch ein Mirakel ſchließt es ein,
Die Mutter mit dem Jesusknaben,
Den die drei Könige begaben.

Auf dreimal dreißig Stufen ſteigt
Der Pilgrim nach der ſteilen Höhe,
Doch, hat er ſchwindelnd ſie erreicht,
Erquickt ihn ſeines Heilands Nähe.

16. „Tief in den Fels, auf dem es hängt,
Iſt eine Grotte eingeſprengt,
Vom Tau des nahen Moors befeuchtet,
Wohin des Himmels Strahl nicht leuchtet.
Hier hauſete der Wurm und lag,
Den Raub erſpähend, Nacht und Tag.
So hielt er, wie der Höllendrache,
Am Fuß des Gotteshauſes Wache;
Und kam der Pilgrim hergewallt
Und lenkte in die Unglücksſtraße,
Hervorbrach aus dem Hinterhalt
Der Feind und trug ihn fort zum Fraße.

17. „Den Felſen ſtieg ich jetzt hinan,
Eh' ich den ſchweren Strauß begann;
Hin kniet' ich vor dem Chriſtuskinde
Und reinigte mein Herz von Sünde.
Drauf gürt' ich mir im Heiligtum
Den blanken Schmuck der Waffen um,
Bewehre mit dem Spieß die Rechte,
Und nieder ſteig' ich zum Gefechte.
Zurücke bleibt der Knappen Troß;
Ich gebe ſcheidend die Befehle,
Und ſchwinge mich behend aufs Roß,
Und Gott empfehl' ich meine Seele.

18. „Kaum ſeh' ich mich im ebnen Plan,
Flugs ſchlagen meine Doggen an,
Und bang beginnt das Roß zu keuchen
Und bäumet ſich und will nicht weichen;
Denn nahe liegt, zum Knäu'l geballt,
Des Feindes ſcheußliche Geſtalt
Und ſonnet ſich auf warmem Grunde
Aufjagen ihn die flinken Hunde:
Doch wenden ſie ſich pfeilgeſchwind,
Als es den Rachen gähnend teilet
Und von ſich haucht den gift'gen Wind
Und winſelnd wie der Schakal heulet.

19. „Doch ſchnell erfriſch' ich ihren Mut;
Sie faſſen ihren Feind mit Wut,
Indem ich nach des Tieres Lende
Aus ſtarker Fauſt den Speer verſende;
Doch machtlos, wie ein dünner Stab,
Prallt er vom Schuppenpanzer ab.
Und eh' ich meinen Wurf erneuet,
Da bäumet ſich mein Roß und ſcheuet
An ſeinem Baſiliskenblick
Und ſeines Atems gift'gem Wehen,
Und mit Entſetzen ſpringt's zurück,
Und jetzo war's um mich geſchehen —

20. „Da ſchwing' ich mich behend vom Roß,
Schnell iſt des Schwertes Schneide bloß;
Doch alle Streiche ſind verloren,
Den Felſenharniſch zu durchbohren.
Und wütend mit des Schweifes Kraft
Hat es zur Erde mich gerafft;
Schon ſeh' ich ſeinen Rachen gähnen,
Es haut nach mir mit grimmen Zähnen,
Als meine Hunde, wutentbrannt,
An ſeinen Bauch mit grimm'gen Biſſen
Sich warfen, daß es heulend ſtand,
Von ungeheurem Schmerz zerriſſen.

21. „Und eh' es ihren Biſſen ſich
Entwindet, raſch erheb' ich mich,
Erſpähe mir des Feindes Blöße
Und ſtoße tief ihm ins Gekröſe
Nachbohrend bis ans Heft den Stahl.
Schwarzquellend ſpringt des Blutes Strahl;
Hinſinkt es und begräbt im Falle
Mich mit des Leibes Rieſenballe,
Daß ſchnell die Sinne mir vergehn,
Und als ich neugeſtärkt erwache,
Seh' ich die Knappen um mich ſtehn,
Und tot im Blute liegt der Drache."

22. Des Beifalls lang gehemmte Luſt
Befreit jetzt aller Hörer Bruſt,
Sowie der Ritter dies geſprochen;
Und zehnfach am Gewölb' gebrochen
Wälzt der vermiſchten Stimmen Schall
Sich brauſend fort im Widerhall.
Laut fordern ſelbſt des Ordens Söhne,
Daß man die Heldenſtirne kröne,
Und dankbar im Triumphgepräng'
Will ihn das Volk dem Volke zeigen.
Da faltet ſeine Stirne ſtreng
Der Meiſter und gebietet Schweigen.

23. Und ſpricht: „Den Drachen, der dies Land
Verheert, ſchlugſt du mit tapfrer Hand;
Ein Gott biſt du dem Volke worden,
Ein Feind kommſt du zurück dem Orden,
Und einen ſchlimmern Wurm gebar
Dein Herz, als dieſer Drache war.
Die Schlange, die das Herz vergiftet,
Die Zwietracht und Verderben ſtiftet,
Das iſt der widerſpenſt'ge Geiſt,
Der gegen Zucht ſich frech empöret,
Der Ordnung heilig Band zerreißt,
Denn der iſt's, der die Welt zerſtöret.

24. „Mut zeiget auch der Mameluck,
Gehorſam iſt des Chriſten Schmuck;
Denn wo der Herr in ſeiner Größe
Gewandelt hat in Knechtesblöße,
Da ſtifteten, auf heil'gem Grund,
Die Väter dieſes Ordens Bund,
Der Pflichten ſchwerſte zu erfüllen:
Zu bändigen den eignen Willen!
Dich hat der eitle Ruhm bewegt:
Drum wende dich aus meinen Blicken!
Denn wer des Herren Joch nicht trägt,
Darf ſich mit ſeinem Kreuz nicht ſchmücken."

25. Da bricht die Menge tobend aus,
Gewalt'ger Sturm bewegt das Haus,
Um Gnade flehen alle Brüder;
Doch ſchweigend blickt der Jüngling nieder,
Still legt er von ſich das Gewand
Und küßt des Meiſters ſtrenge Hand
Und geht. Der folgt ihm mit dem Blicke,
Dann ruft er liebend ihn zurücke
Und ſpricht: „Umarme mich, mein Sohn!
Dir iſt der härtre Kampf gelungen.
Nimm dieſes Kreuz, es iſt der Lohn
Der Demut, die ſich ſelbſt bezwungen."

## 171. Der Fiſcher. (1778.)

Von W. v. Goethe.

Werke. Nach den vorzüglichſten Quellen revidierte Ausgabe. Berlin 1868. Tl. I (Gedichte, herausgegeben von F. Strehlke) S. 233.

1. Das Waſſer rauſcht', das Waſſer ſchwoll,
Ein Fiſcher ſaß daran,
Sah nach dem Angel ruhevoll,
Kühl bis ans Herz hinan.
Und wie er ſitzt und wie er lauſcht,
Teilt ſich die Flut empor:
Aus dem bewegten Waſſer rauſcht
Ein feuchtes Weib hervor

2. Sie ſang zu ihm, ſie ſprach zu ihm:
„Was lockſt du meine Brut
Mit Menſchenwitz und Menſchenliſt
Hinauf in Todesglut?
Ach, wüßteſt du, wie's Fiſchlein iſt
So wohlig auf dem Grund,
Du ſtiegſt herunter, wie du biſt,
Und würdeſt erſt geſund.

3. „Labt ſich die liebe Sonne nicht,
Der Mond ſich nicht im Meer?
Kehrt wellenatmend ihr Geſicht
Nicht doppelt ſchöner her?
Lockt dich der tiefe Himmel nicht,
Das feuchtverklärte Blau?
Lockt dich dein eigen Angeſicht
Nicht her in ew'gen Tau?"

4. Das Waſſer rauſcht', das Waſſer ſchwoll,
Netzt' ihm den nackten Fuß;
Sein Herz wuchs ihm ſo ſehnſuchtsvoll
Wie bei der Liebſten Gruß.
Sie ſprach zu ihm, ſie ſang zu ihm;
Da war's um ihn geſchehn:
Halb zog ſie ihn, halb ſank er hin
Und ward nicht mehr geſehn.

## 172. Der Reiter und der Bodenſee. (1826.)

Von G. Schwab.

Gedichte. Stuttgart und Tübingen 1851. S. 402.

1. Der Reiter reitet durchs helle Tal,
Aufs Schneefeld ſchimmert der Sonne Strahl.
2. Er trabet im Schweiß durch den kalten Schnee:
Er will noch heut' an den Bodenſee;
3. Noch heut' mit dem Pferd in den ſichern Kahn,
Will drüben landen vor Nacht noch an.
4. Auf ſchlimmem Weg über Dorn und Stein
Er brauſt auf rüſtigem Roß feldein.
5. Aus den Bergen heraus, ins ebene Land,
Da ſieht er den Schnee ſich dehnen wie Sand.
6. Weit hinter ihm ſchwinden Dorf und Stadt;
Der Weg wird eben, die Bahn wird glatt.

7. In weiter Fläche kein Bühl, kein Haus,
Die Bäume gingen, die Felſen aus;
8. So flieget er hin eine Meil' und zwei,
Er hört in den Lüften der Schneegans Schrei;
9. Es flattert das Waſſerhuhn empor,
Nicht anderen Laut vernimmt ſein Ohr;
10. Keinen Wandersmann ſein Auge ſchaut,
Der ihm den rechten Pfad vertraut.
11. Fortgeht's wie auf Samt auf dem weichen Schnee.
Wann rauſcht das Waſſer, wann glänzt der See?
12. Da bricht der Abend, der frühe, herein:
Von Lichtern blinket ein ferner Schein.

13. Es hebt aus dem Nebel ſich Baum an Baum,
Und Hügel ſchließen den weiten Raum.
14. Er ſpürt auf dem Boden Stein und Dorn,
Dem Roſſe gibt er den ſcharfen Sporn.
15. Und Hunde bellen empor am Pferd,
Und es winkt im Dorf ihm der warme Herd.
16. „Willkommen am Fenſter, Mägdelein,
An den See, an den See, wie weit mag's ſein?“
17. Die Maid ſie ſtaunet den Reiter an:
„Der See liegt hinter dir und der Kahn.
18. „Und deckt' ihn die Rinde von Eis nicht zu,
Ich ſpräch', aus dem Nachen ſtiegeſt du.“
19. Der Fremde ſchaudert, er atmet ſchwer:
„Dort hinten die Ebne ritt ich her!“
20. Da recket die Magd die Arm' in die Höh':
„Herr Gott! ſo ritteſt du über den See!
21. „An den Schlund, an die Tiefe bodenlos,
Hat gepocht des raſenden Hufes Stoß!
22. „Und unter dir zürnten die Waſſer nicht?
Nicht trachte hinunter die Rinde dicht?
23. „Und du wardſt nicht die Speiſe der ſtummen Brut,
Der hungrigen Hecht' in der kalten Flut?“
24. Sie rufet das Dorf herbei zu der Mär',
Es ſtellen die Knaben ſich um ihn her;
25. Die Mütter, die Greiſe, ſie ſammeln ſich:
„Glückſeliger Mann, ja, ſegne du dich!
26. „Herein zum Ofen, zum dampfenden Tiſch,
Brich mit uns das Brot und iß vom Fiſch!“
27. Der Reiter erſtarret auf ſeinem Pferd,
Er hat nur das erſte Wort gehört.
28. Es ſtocket ſein Herz, es ſträubt ſich ſein Haar,
Dicht hinter ihm grinſt noch die grauſe Gefahr.
29. Es ſiehet ſein Blick nur den gräßlichen Schlund,
Sein Geiſt verſinkt in den ſchwarzen Grund.
30. Im Ohr ihm donnert's wie krachend Eis,
Wie die Well' umrieſelt ihn kalter Schweiß.
31. Da ſeufzt er, da ſinkt er vom Roß herab:
Da ward ihm am Ufer ein trocken Grab.

## 173. Der Normann.

Von L. Giſebrecht.

Gedichte (VI. Buch des Meeres). Leipzig 1836. S. 112.

1. „Siehſt du die Krone auf den Sparren?
Bald wird mein Häuschen fertig ſein,
Und ehe Wald und Bach erſtarren,
Zieh' ich in meine Wohnung ein.
Da unter ihr die Meereswogen,
Von aller Völker Schiffen bunt,
Und dorther kommt der Strom gezogen
Zur Weſtſee aus dem Öreſund.
So liegt, wenn ich im Frieden raſte,
Vor meinen Augen noch das Feld,
Das mir, dem unruhvollen Gaſte,
Die vor'ge Zeit entgegenhält;
Denn ich bin lang' zur See gefahren,
Und ohne Heimat, da und hier,
Sah ich in mehr als dreißig Jahren
Nur fremde Flaggen über mir.
Nun will ich erſt als Normann hauſen,
Zu lieber Erde heimgekehrt,
Genießend, was in Sturmes Brauſen
Die Fremde meinem Fleiß gewährt.
2. „Seitdem das Hoffen und Erwarten
Mit meinem Bau zu Ende ging,
Deucht mir im Hauſe und im Garten
Doch meine Arbeit gar gering.
Zu jung, um müßig dreinzuſchauen,
Zu alt für Sturm und Meeresnot,
Laß ich zum andern Male bauen
Ein ſchwimmend Haus, ein Segelboot.
Das iſt gemacht für Norwegs Küſte,
Genau gefügt von feſtem Holz;
Es bleibt dem Seemann ſein Gelüſte,
Es bleibt ihm auch der alte Stolz.
Ja, wer es kauft, der ſoll es loben,
Wer mit dem Boot zum Meere geht,
Wenn es dem Steuermann die Proben
Gelehrig und gewandt beſteht.
Doch, Schifflein, wer wird auf dir fahren?
Wohl gar der Schalk, der Unverſtand?
O wär' ich noch in meinen Jahren,
Du kämſt in keine fremde Hand.

3. „Um unſre Schären, unſre Riffe,
Wie das Gewoge ſchäumend wallt!
Wie ringt im Sturm der Zug der Schiffe!
Ein Notſchuß nach dem andern hallt!
Und durch die wilden Waſſer drängen
Die rot und weißen Segel fort,
Sie leiten zwiſchen Klippenhängen
Die Schiffe in den ſichern Port:
Das ſind die Lotſen dieſes Strandes,
Die Helfer in des Sturmes Wut,
Das ſind die Kühnſten ihres Standes,
Das iſt norwegiſch Heldenblut.
Und ich, aus gleichem Blut entſprungen,
Fuhr ich umſonſt von Meer zu Meer?
Iſt das nur Arbeit für die Jungen,
Und dem verſuchten Mann zu ſchwer?
Ich weiß, mein Boot, wem du bereitet,
Nun ſtell' ich keinem dich zu Kauf;
Sobald dein Kiel ins Waſſer gleitet,
Hiſſ' ich das Lotſenſegel auf.

4. „Mein Haus auf hohem Uferrande
Und hier mein Boot in meiner Hut;
Ich bin daheim im Norweglande,
Ich bin daheim auf Norwegs Flut.
Von Lotſenſegeln rings umfloſſen,
Den Blumen, die der See entkeimt;
Ich bin bei Freunden, bei Genoſſen,
Bin Norwegs Männern eingeheimt.
Noch iſt es ſtill, die Schiffe gleiten
Gemach zum Lindesnäs hinaus;
Doch Wetter drohn — die Lotſen breiten
Sich an der Schärenküſte aus.
Ihr fremden Gäſte, fahrt geborgen
Hinab an Norwegs Felſenſtrand.
Wir, Norwegs Männer, hüten, ſorgen,
Wir, allem Menſchenkind verwandt." —
Nun jagt der Sturm. Er iſt zur Stete,
Die Wolken rollen wild heran,
Still, Alter, neige dich und bete!
Nun geht die Lotſenarbeit an.

5. „Siehſt du die Brigg dort auf den Wellen?
Sie ſteuert falſch, ſie treibt herein
Und muß am Vorgebirg zerſchellen,
Lenkt ſie nicht augenblicklich ein,
Ich muß hinaus, daß ich ſie leite!" —
„Gehſt du ins offne Waſſer vor,
So legt dein Boot ſich auf die Seite
Und richtet nimmer ſich empor!" —
„Allein ich ſinke nicht vergebens,
Wenn ſie mein letzter Ruf belehrt:
Ein ganzes Schiff voll jungen Lebens
Iſt wohl ein altes Leben wert.
Gib mir das Sprachrohr! Schifflein, eile!
Es iſt die letzte, höchſte Not!" —
Vor fliegendem Sturme, gleich dem Pfeile,
Hin durch die Schären eilt das Boot;
Jetzt ſchießt es aus dem Klippenrande,
„Links müßt ihr ſteuern!" hallt ein Schrei;
Kieloben treibt das Boot zu Lande,
Und ſicher fährt die Brigg vorbei.

## 147. Ein Friedhofsgang.

Von J. N. Vogl.

Balladen, Romanzen, Sagen und Legenden. Wien 1846. S. 313.

1. Beim Totengräber pocht es an:
„Mach auf, mach auf, du greiſer Mann!

2. „Tu auf die Tür und nimm den Stab;
Mußt zeigen mir ein teures Grab!"

3. Ein Fremder ſpricht's, mit ſtrupp'gem Bart,
Verbrannt und rauh nach Kriegerart.

4. „Wie heißt der Teure, der Euch ſtarb
Und ſich ein Pfühl bei mir erwarb?"

5. „Die Mutter iſt es, kennt Ihr nicht
Der Marthe Sohn mehr am Geſicht?"

6. „Hilf Gott, wie groß! wie braun gebrannt!
Hätt' nun und nimmer Euch erkannt!

7. „Doch kommt und ſeht; hier iſt der Ort,
Nach dem gefragt mich Euer Wort.

8. „Hier wohnt, verhüllt von Erd' und Stein,
Nun Euer totes Mütterlein."

9. Da ſteht der Krieger lang' und ſchweigt,
Das Haupt hinab zur Bruſt geneigt.

10. Er ſteht und ſtarrt zum teuren Grab
Mit tränenfeuchtem Blick hinab.

11. Dann ſchüttelt er ſein Haupt und ſpricht:
„Ihr irrt, hier wohnt die Tote nicht;

12. „Wie ſchlöſſ' ein Raum, ſo eng und klein,
Die Liebe einer Mutter ein!"

## 175. Die Skiläufer.

Von *F. Bäßler.*

Legenden und Balladen. Berlin 1851. S. 109.

1. „Wer klopft ſo eilig und mit Macht
An meine Tür in ſpäter Nacht?
'ſ mag ein verirrter Wandrer ſein!
Du ärmſter Mann, tritt hurtig ein!"
Er legt die Arbeit ſchnell zur Seiten,
Ergreift den Kieferſpan mit Haſt
Und eilt, ins niedre Haus zu leiten
Mit frohem Gruß den fremden Gaſt.

2. Der Riegel knarrt, er tritt hinaus, —
Er ſteht gelähmt vom nächt'gen Graus,
Die Leuchte ſeiner Hand entfällt:
Er ſah vom Feind das Haus umſtellt.
Schnell greifen ihn vier kräft'ge Arme
Und ziehn ihn von der Schwelle fort;
Und einer aus dem wilden Schwarme
Gibt ihm das unwillkommne Wort:

3. „Du führſt uns den verborgnen Pfad
Hoch über den Kiölengrat
Zur nächſten Stadt in Norreland;
Denn wider ſie iſt unſre Hand."
Doch er mit männlichem Erröten:
„Unmögliches verlanget ihr;
Wann hielt's ein Normann mit den Schweden?
Ihr kamt nicht vor die rechte Tür."

4. Und ſie mit wilder Ungeduld:
„Ob ungern, oder ob mit Huld —
Das gilt uns gleich! Du haſt die Wahl
Nur zwiſchen Gold und hartem Stahl.
Ein nächt'ger Gang von wenig Meilen
Befreit dich ſchnell aus aller Not:
Bleibſt du, ſo ſtirb! und mit dir teilen
Dein Weib und Kind den Rachetod."

5. Zuſammen brach der kräft'ge Mann,
Der Schweiß von ſeiner Stirne rann;
Zwieſpältig ringt in ihm der Geiſt,
Bis ſich empor der Normann reißt
Und ſpricht das Wort voll Grimm und Schmerzen:
„Ihr Jünglinge, vergelt' euch Gott,
Daß ihr mit eines Mannes Herzen
Treibt ſolch unmenſchlich Spiel und Spott.

6. „Wohlan! nicht um den eignen Leib,
Nur um die Kindlein und mein Weib
Flüg' ich mich eurem harten Zwang:
Den Sündenſold ich nicht verlang'!"
Er wendet ſich ins Haus und bindet
Die Schneeſchuh' an den Knöcheln feſt,
Ergreift den hohen Stab und zündet
Die Leuchte an dem Kohlenreſt.

7. Noch einmal fällt ſein trüber Blick
Auf ſeine Teueren zurück:
Sie ſchlummern ohne Sorg' und Harm
So ſelig wie in Gottes Arm;
Und leiſe ſpricht er ſeinen Segen;
Dann tritt er vor den Kriegerzug;
Er ſchreitet aus, und raſch entgegen
Dem Hochgebirge geht's im Flug.

8. Da ſauſt der Ski, da ſtäubt der Schnee,
Aus braunen Nebeln ſchwankt die Höh'!
Vorüberfliegt im Geiſterreih'n
Der Waſſerſturz, der Fels, der Hain.
Im Schwung und Sprung auf glatten Sohlen
Durchbrauſt der Hauf' die Winterflur,
Es keucht der Sturm, ihn einzuholen,
Und tilgt die flücht'ge Menſchenſpur.

9. So durch der Schluchten Doppelnacht
Zur Höh', wo die Lawine kracht,
Und ob des Gießbachs ſchwanken Steg
Führt er ſie den verborgnen Weg.
Dem matten Scheine der Laterne
Folgt keck der raſche Kriegerhauf',
Und endlich hebt ſich in der Ferne
Die ſchwerbedrohte Stadt herauf.

10. Dort liegt ſie — einſam Turm und Tor,
Kein Lichtlein ſchimmert draus hervor,
Und wie die Wolke trüb und ſchwer
Liegt Mitternachtsſchlaf drüber her. —
Er ſieht's mit Gram; hört die Bedränger
Jetzt kühner ſtürmen durch das Feld;
Merkt, wie der Feind ſich immer enger
An ſeine flücht'gen Ferſen hält.

11. Er ſchaut hinüber, ſchaut zurück,
Und alles flirrt vor ſeinem Blick;
Es ruft aus jedem Buſch und Rohr:
„Normann, halt ein! was haſt du vor?"
Da muß er vor ſich ſelbſt erbeben,
Er ſeufzet, bis zum Tode matt:
„O Herr, nimm hin mein ſchuldig Leben,
Errette nur die gute Stadt!"

12. Ihm iſt, als hab' es Gott bejaht,
Und kühn erwächſt ihm Will' und Rat. —
Dort läuft den ſteilen Bergeshang
Ein hoher Tannenwald entlang.
Ein Pfad lockt in die Waldeshalle,
Der dichtumſchattet abwärtsführt
Und unverſehns in jähem Falle
Im tiefſten Abgrund ſich verliert.

13. Den ſchlägt er ein; die Hand aufs Herz,
Das feſte Auge himmelwärts,
Fliegt er des Wegs zur Felſenwand
Und ſtürzt ſich von des Abgrunds Rand.
Noch flammt die Leuchte im Geſträuche,
Die Schweden folgen ihrem Schein:
Und drunten deckt des Normanns Leiche
Der Feinde zuckendes Gebein.

## 176. Der Gang nach dem Eiſenhammer. (25. September 1797.)

Von F. v. Schiller.

Sämtliche Schriften. Hiſtoriſch-kritiſche Ausgabe von K. Goedeke. Stuttgart 1871. Bd. XI, S. 247.

1. Ein frommer Knecht war Fridolin,
Und in der Furcht des Herrn
Ergeben der Gebieterin,
Der Gräfin von Savern.
Sie war ſo ſanft, ſie war ſo gut,
Doch auch der Launen Übermut
Hätt' er geeifert zu erfüllen
Mit Freudigkeit, um Gottes willen.

2. Früh von des Tages erſtem Schein
Bis ſpät die Veſper ſchlug,
Lebt' er nur ihrem Dienſt allein,
Tat nimmer ſich genug.
Und ſprach die Dame: „Mach dir's leicht!“
Da wurd' ihm gleich das Auge feucht,
Und meinte ſeiner Pflicht zu fehlen,
Durft' er ſich nicht im Dienſte quälen.

3. Drum vor dem ganzen Dienertroß
Die Gräfin ihn erhob;
Aus ihrem ſchönen Munde floß
Sein unerſchöpftes Lob.
Sie hielt ihn nicht als ihren Knecht,
Es gab ſein Herz ihm Kindesrecht;
Ihr klares Auge mit Vergnügen
Hing an den wohlgeſtalt'ten Zügen.

4. Darob entbrennt in Roberts Bruſt,
Des Jägers, gift'ger Groll,
Dem längſt von böſer Schadenluſt
Die ſchwarze Seele ſchwoll;
Und trat zum Grafen, raſch zur Tat,
Und offen des Verführers Rat,
Als einſt vom Jagen heim ſie kamen,
Streut ihm ins Herz des Argwohns Samen.

5. „Wie ſeid Ihr glücklich, edler Graf!“
Hub er voll Argliſt an;
„Euch raubet nicht den goldnen Schlaf
Des Zweifels gift'ger Zahn.
Denn Ihr beſitzt ein edles Weib,
Es gürtet Scham den keuſchen Leib;
Die fromme Treue zu berücken,
Wird nimmer dem Verſucher glücken.“

6. Da rollt der Graf die finſtern Brau'n:
„Was red'ſt du mir, Geſell?
Werd' ich auf Weibestugend bau'n,
Beweglich wie die Well'?
Leicht lockt ſie des Schmeichlers Mund;
Mein Glaube ſteht auf feſtem Grund;
Vom Weib des Grafen von Saverne
Bleibt, hoff' ich, der Verſucher ferne.“

7. Der andre ſpricht: „So denkt Ihr recht.
Nur Euern Spott verdient
Der Tor, der, ein geborner Knecht,
Ein ſolches ſich erkühnt,
Und zu der Frau, die ihm gebeut,
Erhebt der Wünſche Lüſternheit.“ —
„Was?“ fällt ihm jener ein und bebet,
„Red'ſt du von einem, der da lebet?“

8. „Ja doch, was aller Mund erfüllt,
Das bärg' ſich meinem Herrn!
Doch, weil Ihr's denn mit Fleiß verhüllt,
So unterdrück' ich's gern.“ —
„Du biſt des Todes, Bube, ſprich!“
Ruft jener ſtreng und fürchterlich.
„Wer hebt das Aug' zu Kunigonden?“ —
„Nun ja, ich ſpreche von dem Blonden.“

9. „Er iſt nicht häßlich von Geſtalt“,
Fährt er mit Argliſt fort,
Indem's den Grafen heiß und kalt
Durchrieſelt bei dem Wort.
„Iſt's möglich, Herr? Ihr ſaht es nie,
Wie er nur Augen hat für ſie?
Bei Tafel Eurer ſelbſt nicht achtet,
An ihren Stuhl gefeſſelt ſchmachtet?

10. „Seht da die Verſe, die er ſchrieb,
Und ſeine Glut geſteht.“ —
„Geſteht!“ — „Und ſie um Gegenlieb',
Der freche Bube! fleht.
Die gnäd'ge Gräfin, ſanft und weich,
Aus Mitleid wohl verbarg ſie's Euch;
Mich reuet jetzt, daß mir's entfahren,
Denn, Herr, was habt Ihr zu befahren?“

11. Da ritt in ſeines Zornes Wut
Der Graf ins nahe Holz,
Wo ihm in hoher Öfen Glut
Die Eiſenſtufe ſchmolz.
Hier nährten früh und ſpat den Brand
Die Knechte mit geſchäft'ger Hand;
Der Funke ſprüht, die Bälge blaſen,
Als gält' es Felſen zu verglaſen.

12. Des Waſſers und des Feuers Kraft
Verbündet ſieht man hier;
Das Mühlrad, von der Flut gerafft,
Umwälzt ſich für und für.
Die Werke klappern Nacht und Tag,
Im Takte pocht der Hämmer Schlag,
Und bildſam von den mächt'gen Streichen,
Muß ſelbſt das Eiſen ſich erweichen.

13. Und zweien Knechten winket er,
Bedeutet ſie und ſagt:
„Den erſten, den ich ſende her,
Und der euch alſo fragt:
‚Habt ihr befolgt des Herren Wort?'
Den werft mir in die Hölle dort,
Daß er zu Aſche gleich vergehe
Und ihn mein Aug' nicht weiter ſehe!"

14. Des freut ſich das entmenſchte Paar
Mit roher Henkersluſt,
Denn fühllos, wie das Eiſen, war
Das Herz in ihrer Bruſt.
Und friſcher mit der Bälge Hauch
Erhitzen ſie des Ofens Bauch
Und ſchicken ſich mit Mordverlangen,
Das Todesopfer zu empfangen.

15. Drauf Robert zum Geſellen ſpricht
Mit falſchem Heuchelſchein:
„Friſch auf, Geſell, und ſäume nicht!
Der Herr begehret dein."
Der Herr, der ſpricht zu Fridolin:
„Mußt gleich zum Eiſenhammer hin,
Und frage mir die Knechte dorten,
Ob ſie getan nach meinen Worten!"

16. Und jener ſpricht: „Es ſoll geſchehn!"
Und macht ſich flugs bereit.
Doch ſinnend bleibt er plötzlich ſtehn:
„Ob ſie mir nichts gebeut?"
Und vor die Gräfin ſtellt er ſich:
„Hinaus zum Hammer ſchickt man mich;
So ſag, was kann ich dir verrichten?
Denn dir gehören meine Pflichten."

17. Darauf die Dame von Savern
Verſetzt mit ſanftem Ton:
„Die heil'ge Meſſe hört' ich gern,
Doch liegt mir krank der Sohn;
So gehe denn, mein Kind, und ſprich
In Andacht ein Gebet für mich.
Und denkſt du reuig deiner Sünden,
So laß auch mich die Gnade finden."

18. Und froh der vielwillkommnen Pflicht
Macht er im Flug ſich auf,
Hat noch des Dorfes Ende nicht
Erreicht im ſchnellen Lauf,
Da tönt ihm von dem Glockenſtrang
Hellſchlagend des Geläutes Klang,
Das alle Sünder, hochbegnadet,
Zum Sakramente feſtlich ladet.

19. „Dem lieben Gotte weich nicht aus,
Find'ſt du ihn auf dem Weg!" —
Er ſpricht's und tritt ins Gotteshaus:
Kein Laut iſt hier noch reg'.
Denn um die Ernte war's, und heiß
Im Felde glüht' der Schnitter Fleiß;
Kein Chorgehilfe war erſchienen,
Die Meſſe kundig zu bedienen.

20. Entſchloſſen iſt er alſobald
Und macht den Sakriſtan;
„Das", ſpricht er, „iſt kein Aufenthalt,
Was fördert himmelan."
Die Stola und das Cingulum
Hängt er dem Prieſter dienend um,
Bereitet hurtig die Gefäße,
Geheiliget zum Dienſt der Meſſe.

21. Und als er dies mit Fleiß getan,
Tritt er als Miniſtrant
Dem Prieſter zum Altar voran,
Das Meßbuch in der Hand,
Und knieet rechts und knieet links,
Und iſt gewärtig jedes Winks,
Und als des Sanctus Worte kamen,
Da ſchellt er dreimal bei dem Namen.

22. Drauf als der Prieſter fromm ſich neigt
Und, zum Altar gewandt,
Den Gott, den gegenwärt'gen, zeigt
In hocherhabner Hand,
Da kündet es der Sakriſtan
Mit hellem Glöcklein klingend an,
Und alles kniet und ſchlägt die Brüſte,
Sich fromm bekreuzend vor dem Chriſte.

23. So übt er jedes pünktlich aus
Mit ſchnellgewandtem Sinn;
Was Brauch iſt in dem Gotteshaus,
Er hat es alles inn';

Und wird nicht müde bis zum Schluß,
Bis beim Vobiscum Dominus
Der Prieſter zur Gemein' ſich wendet,
Die heil'ge Handlung ſegnend endet.

24. Da ſtellt er jedes wiederum
In Ordnung ſäuberlich,
Erſt reinigt er das Heiligtum,
Und dann entfernt er ſich,
Und eilt in des Gewiſſens Ruh'
Den Eiſenhütten heiter zu,
Spricht unterwegs, die Zahl zu füllen,
Zwölf Paternoſter noch im ſtillen.

25. Und als er rauchen ſieht den Schlot
Und ſieht die Knechte ſtehn,
Da ruft er: „Was der Graf gebot,
Ihr Knechte, iſt's geſchehn?"
Und grinſend zerren ſie den Mund
Und deuten in des Ofens Schlund:
„Der iſt beſorgt und aufgehoben;
Der Graf wird ſeine Diener loben".

26. Die Antwort bringt er ſeinem Herrn
In ſchnellem Lauf zurück.
Als der ihn kommen ſieht von fern,
Kaum traut er ſeinem Blick.
„Unglücklicher! wo kommſt du her?" —
„Vom Eiſenhammer." — „Nimmermehr!
So haſt du dich im Lauf verſpätet?" —
„Herr, nur ſo lang', bis ich gebetet.

27. „Denn als von Eurem Angeſicht
Ich heute ging, verzeiht!
Da fragt' ich erſt nach meiner Pflicht
Bei der, die mir gebeut.
Die Meſſe, Herr, befahl ſie mir
Zu hören; gern gehorcht' ich ihr
Und ſprach der Roſenkränze viere
Für Euer Heil und für das ihre."

28. In tiefes Staunen ſinket hier
Der Graf, entſetzet ſich.
„Und welche Antwort wurde dir
Am Eiſenhammer? ſprich!" —
„Herr, dunkel war der Rede Sinn,
Zum Ofen wies man lachend hin:
‚Der iſt beſorgt und aufgehoben;
Der Graf wird ſeine Diener loben'."

29. „Und Robert?" fällt der Graf ihm ein,
Es überläuft ihn kalt,
„Sollt' er dir nicht begegnet ſein?
Ich ſandt' ihn doch zum Wald." —
„Herr, nicht im Wald, nicht in der Flur
Fand ich von Robert eine Spur." —
„Nun", ruft der Graf und ſteht vernichtet,
„Gott ſelbſt im Himmel hat gerichtet!"

30. Und gütig, wie er nie gepflegt,
Nimmt er des Dieners Hand,
Bringt ihn der Gattin, tief bewegt,
Die nichts davon verſtand.
„Dies Kind, kein Engel iſt ſo rein,
Laßt's Eurer Huld empfohlen ſein!
Wie ſchlimm wir auch beraten waren,
Mit dem iſt Gott und ſeine Scharen."

## 177. Schwerting, der Sachſenherzog.

Von A. Ebert.

Dichtungen. Prag 1828. Bd. I, S. 8.

1. Der Schwerting, Sachſenherzog, der ſaß bei Feſtesmahl,
Da ſchäumten Weine, perlend in eiſernem Pokal,
Da rauchten Speiſen köſtlich in eiſernem Geſchirr,
Da war von Eiſenpanzern ein wild und rauh Geklirr.

2. Der Dänenkönig Frotho genüber Schwerting ſaß,
Mit ſtaunender Gebärde die Eiſenketten maß,
So dieſem niederhingen von Hals und Bruſt und Hand,
Und dann die Eiſenſpangen am ſchwarzen Trau'rgewand.

3. „Sagt an, was ſoll das deuten? Herr Bruder, gebt mir kund,
Warum Ihr mich geladen zu ſolcher Tafelrund'?
Als ich herabgezogen aus meinem Dänenland,
Da hofft' ich Euch zu finden in gülbenem Gewand."

4. „Herr König, Gold dem Freien, und Eiſen für den Knecht!
Das iſt der Sachſen Sitte, und ſo allein iſt's recht.
Ihr habt in Eiſenbande der Sachſen Arm gezwängt,
Wär' Eure Kette gülden, ſie wäre längſt zerſprengt.

5. „Doch, mein' ich, gibt's noch Mittel, zu lösen solches Erz:
Ein biedrer Sinn und Glaube, ein hoch und mutig Herz,
Das muß den Arm befreien, gefesselt hundertfach,
Das muß den Eidschwur löschen und tilgen niedre Schmach!"

6. Als so der Fürst gesprochen, da traten in den Saal
Zwölf schwarze Sachsenritter, mit Fackeln allzumal,
Die harrten stumm und ruhig auf Schwertings leises Wort,
Und sprangen dann in Eile, die Brände schwingend, fort.

7. Nicht lang', da scholl von unten zu Herrn und Gastes Ohr
Ein Knistern und ein Prasseln von Feuerswut empor;
Nicht lang', da ward's im Saale gar schwül und sommerheiß,
Und: „'s ist die Stund' gekommen", sprach dumpf der ganze Kreis.

8. Der König will entfliehen, der Herzog hält ihn stark:
„Halt! steh und laß erproben dein ritterliches Mark!
Hält es dem rauhen Gegner, der unten prasselt, stand,
Dein sei die Sachsenkrone! dein sei das Sachsenland!"

9. Und heißer, immer heißer wird's in der weiten Hall',
Und lauter, immer lauter erdröhnt der Balken Fall,
Und heller, immer heller wird rings der rote Schein,
Die Türe sinkt in Trümmer, die Lohe schießt herein.

10. Da knieen betend nieder die wackern Rittersleut':
„Herr, sei den Seelen gnädig, die selber sich befreit!"
Der Herzog doch sieht ruhig der Flamme Windeslauf,
Der König sinkt zu Boden, er reißt ihn wütend auf.

11. „Schau hin, du stolzer Sieger! erzittre, feiges Herz!
So löst man Eisenbande, so schmilzt dein mächtig Erz!"
Er ruft's, und ihn erfasset der Flamme wild Gesaus,
Und niederstürzen alle, und niederstürzt das Haus.

## 178. Der Tod des Führers.

Von *F. Freiligrath.*

Gesammelte Dichtungen. Stuttgart 1877. Bd. I, S. 66.

1. „Von den Segeln tropft der Nebel,
Auf den Buchten zieht der Duft.
Zündet die Latern' am Maste!
Grau das Wasser, grau die Luft.
Totenwetter! — Zieht die Hüte!
Mit den Kindern kommt und Frau'n!
Betet! denn in der Kajüte
Sollt ihr einen Toten schau'n!"

2. Und die deutschen Ackersleute
Schreiten dem aus Boston nach,
Treten mit gesenktem Haupte
In das niedre Schiffsgemach.
Die nach einer neuen Heimat
Ferne steuern übers Meer,
Sehn im Totenhemd den Alten,
Der sie führte bis hieher;

3. Der aus leichten Tannenbrettern
Zimmerte den Hüttenkahn,
Der vom Neckar sie zum Rheine
Trug, vom Rhein zum Ozean;
Der, ein Greis, sich schweren Herzens
Losriß vom ererbten Grund;
Der da sagte: „Laßt uns ziehen!
Laßt uns schließen einen Bund!"

4. Der da sprach: „Brecht auf nach Abend!
Abendwärts glüht Morgenrot!
Dorten laßt uns Hütten bauen,
Wo die Freiheit hält das Lot!
Dort laßt unsern Schweiß uns säen,
Wo kein totes Korn er liegt;
Dort laßt uns die Scholle wenden,
Wo die Garben holt, wer pflügt!

5. „Laſſet unſern Herd uns tragen
In die Wälder tief hinein!
Laſſet mich in den Savannen
Euern Patriarchen ſein!
Laßt uns leben, wie die Hirten
In dem Alten Teſtament!
Unſers Weges Feuerſäule
Sei das Licht, das ewig brennt!

6. „Dieſes Lichtes Schein vertrau' ich;
Seine Führung führt uns recht!
Selig in den Enkeln ſchau' ich
Ein erſtandenes Geſchlecht!
Sieh — ach, dieſen Gliedern gönnte
Noch die Heimat wohl ein Grab!
Um der Kinder willen greif' ich
Hoffend noch zu Gurt und Stab!

7. „Auf darum, und folgt aus Goſen
Der Vorangegangnen Spur!“ —
Ach, er ſchauete, gleich Moſen,
Kanaan von ferne nur.
Auf dem Meer iſt er geſtorben,
Er und ſeine Wünſche ruhn;
Der Erfüllung und der Täuſchung
Iſt er gleich enthoben nun!

8. Ratlos die verlaſſ'ne Schar jetzt,
Die den Greis beſtatten will.
Scheu verbergen ſich die Kinder;
Ihre Mütter weinen ſtill.
Und die Männer ſchau'n beklommen
Nach den fernen Uferhöh'n,
Wo ſie fürder dieſen Frommen
Nicht mehr bei ſich wandeln ſehn.

9. „Von den Segeln tropft der Nebel,
Auf den Buchten zieht der Duft.
Betet! laßt die Seile fahren!
Gebt ihn ſeiner naſſen Gruft!“
Tränen fließen, Wellen rauſchen,
Grellen Schreis die Möwe fliegt;
In der See ruht, der die Erde
Fünfzig Jahre lang gepflügt.

## 179. Treuer Tod.

Von G. Scheurlin.

Gedichte. Heidelberg 1858. 1. Sammlung. S. 126.

1. Wir zogen miteinander,
Horniſt und Musketier;
Vier Arme, wenn wir ſtritten,
Zwei Füße, wenn wir ſchritten,
Ein Herz, wenn im Quartier.

2. Wir hielten feſt zuſammen,
Was immer mochte ſein;
Sobald mein Horn ſich rührte,
Da focht und da marſchierte
Der Brave hinterdrein.

3. Bis auf das Feld von Lützen —
Da traf die Kugel recht,
Da lag in ſeinem Blute
Der treue und der gute,
Der tapfre Landesknecht —

4. Und ſprach: „Daß Gott genade!
Mir kommt die letzte Not!
Nun deck mich zu mit Raſen
Und tu das Lied mir blaſen:
‚Wohl ſtarb er treuen Tod‘.“

5. Ich nahm ihn in die Arme,
Die Augen ſchloß er ſacht; —
Ob er, ob ich geſchieden? —
Wir lagen beid' in Frieden
Und tief auf uns die Nacht.

6. Drauf deckt' ich ihn mit Raſen,
So wie er mir gebot,
Und blies mit hellen Zähren
Ihm übers Grab zu Ehren:
„Wohl ſtarb er treuen Tod“.

7. Als wir nun heimwärts zogen —
Die Fahne flog im Wind —
Da jauchzten Väter, Brüder,
Da drängte durch die Glieder
Ein Weib mit ihrem Kind.

8. Sie forſchte rings und winkte
Mit Augen tränenrot,
Das Herz ſchier wollt' mir brechen,
Ich blies — nicht konnt' ich ſprechen —:
„Wohl ſtarb er treuen Tod“.

## 180. Preußiſche Feldherren.

Von Th. Fontane.

Gedichte. Berlin 1875.

### a. Der alte Derfflinger. (S. 91.)

1. Es haben alle Stände
So ihren Degenwert,
Und ſelbſt in Schneiderhände
Kam einſt das Heldenſchwert.

Drum jeder, der da zünftig
Mit Nadel und mit Scher',
Der mache jetzt und künftig
Vor Derfflinger ſein Honneur.

2. In ſeinen jungen Tagen
War das ein Schneiderblut;
Doch mocht' ihm nicht behagen
So Zwirn wie Fingerhut;
Und wenn er als Geſelle
So ſaß und fädelt' ein,
Schien ihm die Schneiderhölle
Die Hölle ſelbſt zu ſein.

3. Einſt, als das Nadelhalten
Ihm ſchier ans Leben ging,
Dacht' er: „Das Schädelſpalten
Iſt doch ein ander Ding.“
Fort warf er Maß und Elle
Voll Kriegsluſt an die Wand,
Und nahm an Nadel Stelle
Den Säbel in die Hand.

4. Sonſt focht er ſtill und friedlich
Nach Handwerksburſchen-Recht,
Jetzt war er unermüdlich
Beim Fechten im Gefecht.
Es war der flinke Schneider
Zum Stechen wohlgeſchickt:
Oft hat er an die Kleider
Dem Feinde was geflickt.

5. Er ſtieg zu hohen Ehren,
Feldmarſchall ward er gar:
Es mocht' ihn wenig kehren,
Daß einſt er Schneider war;
Nur, fand er einen Spötter,
Verſtund er keinen Spaß
Und brummte: „Für Hundsfötter
Sitzt hier mein Ellenmaß“.

6. Krank lag in ſeinem Schloſſe
Der greiſe Feldmarſchall;
Keins ſeiner Lieblingsroſſe
Kam wiehernd aus dem Stall;
Er ſprach: „Als alter Schneider
Weiß ich ſeit langer Zeit,
Man wechſelt ſeine Kleider, —
Auch hab' ich des nicht Leid.

7. „Es fehlt der alten Hülle
In Breite ſchon und Läng',
Der Geiſt tritt in die Fülle,
Der Leib wird ihm zu eng.
Geſegnet ſei dein Wille,
Herr Gott, in letzter Not!“
Er ſprach's und wurde ſtille! —
Der alte Held war tot.

## b. Der alte Zieten. (S. 98.)

1. Joachim Hans von Zieten,
Huſarengeneral,
Dem Feind die Stirne bieten
Er tat es hundertmal;
Sie haben's all' erfahren,
Wie er die Pelze wuſch
Mit ſeinen Leibhuſaren,
Der Zieten aus dem Buſch.

2. Hei, wie den Feind ſie bleuten
Bei Hennersdorf und Prag,
Bei Liegnitz und bei Leuthen
Und weiter Schlag auf Schlag!
Bei Torgau, Tag der Ehre!
Ritt ſelbſt der Fritz nach Hauſ';
Doch Zieten ſprach: „Ich kehre
Erſt noch mein Schlachtfeld aus!“

3. Sie kamen nie alleine,
Der Zieten und der Fritz;
Der Donner war der eine,
Der andre war der Blitz.
Es wies ſich keiner träge,
Drum ſchlug's auch immer ein;
Ob warm', ob kalte Schläge:
Sie pflegten gut zu ſein.

4. Der Friede war geſchloſſen;
Doch Krieges Luſt und Qual,
Die alten Schlachtgenoſſen
Durchlebten's noch einmal.
Wie Marſchall Daun gezaudert,
Und Fritz und Zieten nie,
Es ward jetzt durchgeplaudert
Bei Tiſch in Sansſouci.

5. Einſt mocht' es ihm nicht ſchmecken,
Und ſieh, der Zieten ſchlief.
Ein Höfling wollt' ihn wecken,
Der König aber rief:
„Laßt ſchlafen mir den Alten!
Er hat in mancher Nacht
Für uns ſich wach gehalten,
Der hat genug gewacht!“ —

6. Und als die Zeit erfüllet
Des alten Helden war,
Lag einſt, ſchlicht eingehüllet,
Haus Zieten, der Huſar.
Wie ſelber er genommen
Die Feinde ſtets im Huſch,
So war der Tod gekommen,
Wie Zieten aus dem Buſch.

o. Seidlitz. (S. 98.)

1. Herr Seidlitz auf dem Falben
Sprengt an die Front heran,
Sein Aug' iſt allenthalben,
Er muſtert Roß und Mann;
Er reitet auf und nieder
Und blickt ſo luſtig drein;
Da wiſſen's alle Glieder:
Heut wird ein Tanzen ſein.

2. Noch weit ſind die Franzoſen,
Doch Seidlitz *will* zu Ball:
Die gelben Lederhoſen
Sie ſitzen drum ſo prall,
Schwarz glänzen Hut und Krempe,
Im Sonnenſchein zumal,
Und gar die blanke Plempe
Blitzt ſelbſt wie Sonnenſtrahl.

3. Sie brechen auf von Halle,
Die Tänzer allbereit;
Bis Gotha hin zum Balle
Iſt freilich etwas weit.
Doch Seidlitz, vorwärts trabend,
Spricht: „Kinder, wohlgemut!
Ich denk', ein luſt'ger Abend
Macht alles wieder gut."

4. Die Nacht iſt eingebrochen;
Zu Gotha auf dem Schloß: —
Welch Tanzen da und Kochen
In Saal und Erdgeſchoß!
Die Tafel trägt das Beſte
An Wein und Wild und Fiſch; —
Da, ungebetne Gäſte
Führt Seidlitz an den Tiſch.

5. Die Witz- und Wortſpieljäger
Sind fort mit einem Satz,
Die Schwert- und Stulpenträger,
Sie nehmen hurtig Platz;
Herr Seidlitz bricht beim Zechen
Den Flaſchen all' den Hals;
Man weiß, das Hälſebrechen
Verſtund er allenfalls.

6. Getrunken und gegeſſen
Hat jeder, was ihm ſcheint,
Dann heißt es: „Auf geſeſſen
Und wieder *nach* — dem Feind!"
Der möchte ſich verſchnaufen
Und hält bei Roßbach an,
Doch nur um fortzulaufen
Mit neuen Kräften dann.

7. Das waren Seidlitz' Späße.
Bei Zorndorf galt es Zorn;
Als ob's im Namen ſäße,
Nahm man ſich da aufs Korn;
Das ſlawiſche Gelichter —
Herr Seidlitz hoffte, traun,
Noch menſchliche Geſichter
Aus ihnen zuzuhau'n.

8. Des Krieges Blutvergeuden —
Die Fürſten kriegten's ſatt;
Nur Seidlitz wenig Freuden
An ihrem Frieden hat;
Oft jagt er drum von Morgen
Bis in die Nacht hinein:
Es können dann die Sorgen
So ſchnell nicht hinterdrein.

9. Er kam nicht hoch zu Jahren,
Früh trat herein der Tod;
Könnt' er zu Roſſe fahren,
Da hätt's noch keine Not;
Doch auf dem Lager balde
Hat ihn der Feind beſiegt,
Der draußen auf der Halde
Noch lang' ihn nicht gekriegt.

## 181. Preußens Helden von 1813 und 1815. (3. Februar 1838.)

Von A. Brecht.

A. Müller u. H. Kletke, Preußens Ehrenſpiegel. Berlin 1851. S. 353. Vgl. G. Eilers, Meine Wanderung durchs Leben. Leipzig 1857. Bd. II, S. 51.

Wer könnte jedem der Helden alle,
Die, wie ſich's gebührt,
Die Scharen geführt,
Mit Jubelſchalle
Deutſchen Weines
Der kleinſten Gläſer nur eines
Zu Ehren trinken?
Er würde, gebändigt vom Sohne des Rheines,
Zu Boden ſinken.
Denn welche reiche Saat der Ehren,
Seit bei Großbeeren
Sie ungern ſchluckten die großen Beeren!
Seit ſie bei Nollendorf, bei Kulm
Vergaßen zu prahlen mit ihrem Ulm!
Seit an dem ſchönen Bach der Katzen
Der Len ſie packte mit grimmigen Tatzen!
Und ſeit bei Dennewitz — o gutes Dennewitz! —
Zermalmend ſie traf der rächende Blitz!
Doch aus dem reichen Heldenchor
Drei Namen leuchten hoch empor;

Drei Heldennamen von echtem Klang,
Unſterblich zu preiſen im Hochgeſang.
Zuerſt Herr Scharnhorſt, der Schweigende, Weiſe,
Der Denker der Schlachten! — Leiſe
Hat er in engern und engeren Bogen
Die Zauberkreiſe
Um den Würger gezogen;
Doch als das Heer gerüſtet ſtand
Am rechten Ort,
Auf Königswort,
Zu retten Ehr' und Vaterland,
Und als er drauf in der Lützner Schlacht
Gar wacker ſein großes Examen gemacht,
Da ging er gen Himmel, zu melden den Alten,
Daß die Jungen ſich ehrlich gehalten,
Und wieder verdienen zu heißen
Die alten Preußen! —
Stolz brauſet daher in blutigen Wettern,
Auf ſchnaubendem Roſſe, den Feind zu zerſchmettern,
Der Vorwärtstreiber,
Der alte Blücher,
Der Feind der Bücher,
Der Feind der Schreiber.
Und doch iſt der Marſchall auserleſen
Selber ein guter Schreiber geweſen:
Seine Schrift war deutlich und leſenswert,
Seine Stahlfeder war das blanke Schwert,
Sein Schreibpapier waren alle Lande
Von Schleſien bis zum Seineſtrande,
Seine Tinte gut:
Rot Feindesblut;
Damit ſtellt' er im Schlachtengraus
Urkunden aus,
Die nie verweſen,
Die noch in tauſend Jahren zu leſen.
In heißem Zorne zuletzt
Hat der teure Held
Auf dem Montmartre ein Punktum geſetzt,
Wie's keines gibt in der ganzen Welt.
Als erorbert die Ehrenbraut,
Legt er murrend ſich auf die Bärenhaut;
Doch als der große Korſe wieder
Reckte die eiſernen Rieſenglieder,
Aufſpringt vom Lager der alte Held
Und ſtürmt hinaus in das Schlachtenfeld.
Laut donnern und krachen die Todesgeſchoſſe,
Hohl bebt die Erde vom Hufe der Roſſe,
Wild über ihn geht der Reiter Bahn,
Der Held ſieht ruhig ſein Schickſal nahn;
Und wie ſein „Vorwärts" ihm klingt ins Ohr,
Das teure Wort,
Da rafft er ſich herrlich wieder empor,
Der ſtarke Hort,
Und mit freudig-gerührtem Weinen
Begrüßen ihn wieder die Seinen. —
Es hatten die Preußen nicht lange geruht,
Von den Schwertern zu wiſchen des Feindes Blut;
Sie hatten geruht nicht lange,
Vom Blute zu rein'gen die Wange.
In der Nacht, da der ſtrömende Regen floß,
Da rief er: „Ordnet die Scharen!
Dragoner, Huſaren,
Auf, zäumet das Roß!
Er kommt von der Katzbach, der Bundesgenoß!"
Bei Waterloo es donnert und blitzt,
Herr Wellington auf der Erde ſitzt,
Und wie es näher und näher kracht,
Da ſpricht er: „Ich wollt', es wäre Nacht,
Oder es käme, wie-er's verheißen,
Herr Blücher mit ſeinen Preußen".
Und er hat kaum das Wort geſprochen,
Da ſind die Preußen hervorgebrochen
Wetterſauſend. —
Ob auch aus tauſend
Glühenden Schlünden die ehernen Schlangen
Verderben ſpei'n,
Ohne Bangen
Dringen ſie ein
In die mörd'riſchen Reih'n,
Und der Feind mit Entſetzen,
Als ob hölliſche Geiſter ihn hetzen,
Fliehet wild,
Atemlos durch das Kampfgefild.
Da ſprach der Feldmarſchall, zum Freunde gewandt:
„Ich gebe ſie nun in deine Hand!" —
Wer iſt der Freund, der dritt' im Bunde?
O Lied, gib von dem dritten Kunde!
Der dritt' in der preußiſchen Heldenſchau
Das iſt der Reidhard von Gneiſenau.
O Gneiſenau, Gneiſenau! hoher Held!
Wie ſprengteſt du ritterlich durch das Feld!
Wie jagteſt du ſie auf und auf,
Wie ſtürmteſt du freudig drauf und drauf! —
Die Freundin des Müden, die liebe Nacht,
Hat ihnen den Schlummer nicht gebracht;
Denn als ſie entzäumet das dampfende Roß
Und ſicher ſich deuchten,
Da ſprach, der am Himmel der Schmachtenden thront,

Der empfindſame Mond:
„Ich bin der Deutſchen Bundesgenoß,
Der alten und neuen,
Ich will ſie erfreuen,
Ich will ihnen leuchten!“
Und fort nun rannten ſie, fort und fort,
Und fanden die Ruh' an keinem Ort.
In jener Nacht,
Da ward das große Werk vollbracht;
In jener Nacht,
Da du,
Erbfeind der Ruh',
Zum letztenmal vor uns geflohn,
Napoleon,
Da ſtürzt' in lodernden Flammen
Dein goldner Thron zuſammen.
Da ſprach der Herr im Donner der Schlacht:
„Das deutſche Volk hat es gut gemacht!“

## 182. Die drei Geſellen. (1816.)

Von F. Rückert.

Geſammelte poetiſche Werke. Frankfurt a. M. 1868. Bd. I, S. 128.

1. Es waren drei Geſellen,
Die ſtritten widern Feind
Und täten ſtets ſich ſtellen
In jedem Kampf vereint.
Der ein' ein Öſterreicher,
Der andr' ein Preuße hieß,
Davon ſein Land mit gleicher
Gewalt ein jeder pries.
Woher war denn der dritte?
Nicht her von Öſt'rreichs Flur,
Auch nicht von Preußens Sitte,
Von Deutſchland war er nur.

2. Und als die drei einſt wieder
Standen im Kampf vereint,
Da warf in ihre Glieder
Kartätſchenſaat der Feind.
Da fielen alle dreie
Auf einen Schlag zugleich;
Der eine rief mit Schreie:
„Hoch lebe Öſterreich!“
Der andre, ſich entfärbend,
Rief: „Preußen lebe hoch!“
Der dritte, ruhig ſterbend,
Was rief der dritte doch?

3. Er rief: „Deutſchland ſoll leben!“
Da hörten es die zwei,
Wie rechts und links daneben,
Sie ſanken nah dabei;
Da richteten im Sinken
Sich beide nach ihm hin,
Zur Rechten und zur Linken,
Und lehnten ſich an ihn,
Da rief der in der Mitten
Noch einmal: „Deutſchland hoch!“
Und beide mit dem dritten
Riefen's, und lauter noch.

4. Da ging ein Todesengel
Im Kampfgewühl vorbei,
Mit einem Palmenſtengel
Und liegen ſah die drei.
Er ſah auf ihrem Munde
Die Spur des Wortes noch,
Wie ſie im Todesbunde
Gerufen: „Deutſchland hoch!“
Da ſchlug er ſeine Flügel
Um alle drei zugleich,
Und trug zum höchſten Hügel
Sie auf in Gottes Reich.

## 183. Der Choral von Kaiſerslautern. (12. Auguſt 1870.)

Von W. Oſterwald.

Deutſchlands Auferſtehung. Vaterländiſche Dichtungen 1870/71. Halle 1871. S. 70.

1. Das war im luſt'gen Lautern, der alten Kaiſerſtadt
Dort in der Pfalz am Rheine, die viel erlebet hat,
Ein Leben ohnegleichen im Anfang des Auguſt,
Drin an der Pfalz wollt' büßen der Franzmann ſeine Luſt.

2. Ganz Deutſchland ſtand in Waffen, mit Preußen treu vereint,
Und rückte vor zum Rheine, den frech bedroht der Feind;
So kamen auch in Lautern auf ſchneller Eiſenbahn,
Zu Pferd und auch zu Fuße die deutſchen Krieger an.

3. Von Dürkheim und von Neuſtadt, den Städten an der Hardt,
Die ihre guten Weine den Gäſten nicht geſpart;

Sie fanden auch in Lautern der guten Wirte viel
Und wurden so empfangen, als gält's ein Kirmeßspiel.

4. Sie waren all' willkommen den Bayern in der Pfalz
Und riefen „Fröhlich Pfalz!" wohl und hörten: „Gott erhalt's!"
Altpreußen und Neupreußen aus Holstein, von der Schlei,
Thüringer, Anhaltiner, Hanseaten auch dabei.

5. Vorm Tore draußen Beiwacht hielt die Artillerie,
Wie man sie sah in Lautern seit Menschendenken nie:
Drum strömte aus der Stadt auch, was auf den Beinen war,
Mit Speis' und Trank zu laben die wackre Preußenschar.

6. Ein ehrlicher Soldate von preußischem Geblüt
Hat für ein freundlich Willkomm ein dankbares Gemüt:
So spielte die Musik auch ein lustig Stückchen auf,
Und dadurch kam die Freude erst recht in Fluß und Lauf.

7. Der Takt fuhr in die Beine dem jungen deutschen Blut,
Die Männlein und die Weiblein bekamen frohen Mut,
Und eh' sie sich's versahen, fing auf dem weiten Plan
Soldat und Bürgerstochter herzhaft zu tanzen an.

8. Die andern sangen Lieder vom freien deutschen Rhein
Und warfen manchen Fluch wohl auch auf den Franzen drein.
Es war ein Fest des Volkes, wie's nur eins geben kann,
Und daß es ging zum Kriege, man sah's nicht einem an.

9. Doch drinnen selbst in Lautern, welch wunderbares Bild:
Die Protestantenkirche von Kriegern ganz erfüllt,
Doch nicht, um anzuhören Gebet und Gottes Wort,
Ach nein, sehr weltlich Treiben herrscht an dem heil'gen Ort,

10. Der doch nicht ward entweihet, und das ging also zu:
Die Kirche war gewiesen zum Lager und zur Ruh'
Thüring'schen Kompanieen, sie nahmen Platz darin
Und hatten drob kein Arges in ihrem graden Sinn.

11. Die müde waren, legten behaglich sich und lang
Zum Kirchenschläfchen nieder auf eine Kirchenbank,
Das sie sich auch zu Hause in heißer Erntezeit
Mitunter wohl vergönnten in großer Müdigkeit.

12. Die andern putzten rüstig sich die Gewehre blank,
Noch andre gingen müßig das Kirchenschiff entlang,
Die bürsteten die Kleider, die ihre Kehlen rein,
Denn angezapfet war da manch Fäßchen Bier und Wein.

13. Auf einer Bank der Kirche ward mit dem Säbel gar
Manch roh Stück Fleisch zerhacket von einer muntern Schar,
Um es zum leckern Schmause, so gut es mochte gehn,
Zu rösten und zu braten; sie mußten's wohl verstehn.

14. Dazwischen klangen Späße, wie der Soldat sie liebt;
Gelächter und Getriller, wie es das Lager gibt;
Da plötzlich — horch! ertönet der Orgel ernster Klang,
Und all die Schar verstummet die ganze Kirch' entlang.

15. Ein einfach schlichter Krieger, vielleicht ein Lehrerssohn,
Vielleicht auch selber Lehrer — denn das versteht sich schon
Seit Fritz' des Großen Zeiten, daß Lehrer und Soldat
Zusamm'n bei uns gehören, so wie Gedank' und Tat —,

16. Der war hinaufgeſtiegen mit einem Landsmann ſacht,
Daß er ihm auf den Bälgen den Wind zum Spielen macht',
Und ſetzt' ſich an die Orgel und ließ den hehren Klang
Gewaltig draus erſchallen, daß in das Mark er drang.

17. Und ſtark auf dem Klaviere, noch ſtärker im Pedal
Stimmt an er nach dem Vorſpiel den mächtigen Choral:
„Herr Gott, dich loben wir!" — Was in der Kirche war,
Die wackre Thüringsmannſchaft, die fromme Kriegerſchar,

18. Hub an miteins zu ſingen: „Herr Gott, dich loben wir!"
Die Bürger, die es hörten, verwunderten ſich ſchier,
Doch als ſie ſahn und merkten, wie fromm es war gemeint,
Da ſprachen „Gott ſei Dank!" ſie, „ſolch Kriegsvolk ſchlägt den Feind!"

## 184. Die Fahne der Einundſechziger. (1870.)

Von J. Wolff.

Lieder zu Schutz und Trutz. Berlin 1871. S. 202.

1. Vor Dijon war's; doch eh' ich's euch erzähle,
Knüpf' einer doch die Binde mir zurecht,
Mich ſchmerzt der Arm, ſie ſitzt wohl ſchlecht;
So! — ſo! — nun euer Herz ſich ſtähle!
Vor Dijon war's; die Päſſe der Vogeſen
Bedrohte Garibaldis bunte Schar,
Bourbaki kam von der Loire,
Das hart bedrängte Belfort zu erlöſen.

2. Gefahr war im Verzug; drei bange Tage
Hielt Werder gegen Übermacht ſchon ſtand
Bei Mömpelgard, und in der Hand
Des Kriegsgotts ſchwankte ſchier die Wage.
Wir Pommern hatten vor Paris gelegen
Und waren ſchon im Marſch; das zweite Korps
Und auch das ſiebente ging vor
Von Orleans auf hartgefrornen Wegen.

3. In Dijon wußten wir den alten Recken
Und griffen ihn, zwei Regimenter, an
Mit ſeinen fünfzigtauſend Mann,
Den Flankenmarſch der Korps zu decken.
Der Alte von Caprera ließ ſich blenden,
Hielt die Brigade für die ganze Macht,
Und nachmittags begann die Schlacht,
Die, ach! für uns ſo traurig ſollte enden.

4. Die Einundzwanz'ger auf dem rechten Flügel
Des erſten Treffens hatten ſchwer Gefecht,
Wir alſo vor! und grade recht,
Mit „Hurra!" nahmen wir die Hügel;
Dem Feinde auf der Ferſe ging's verwegen
Bis in die Vorſtadt Dijons jetzt hinein;
Hier aber aus der Häuſer Reih'n
Kam mörderiſches Feuer uns entgegen.

5. Im Steinbruch, mit dem Bajonett genommen,
Da fanden wir vor eines Ausfalls Wucht,
Zum Sammeln durch die ſteile Schlucht
Gedeckt, notdürftig Unterkommen,
Doch die Fabrik dort in der rechten Flanke
Wie eine Feſtung auf uns Feuer ſpie,
„Vorwärts! die fünfte Kompagnie
Zum Sturm auf die Fabrik, und keiner wanke!"

6. Der Tambour ſchlägt, es geht wie zur Parade.
Die Fahne fliegt uns hoch und ſtolz voran,
Doch klopft das Herz manch treuem Mann
Beim raſchen Schritt auf dieſem Pfade.
Wie Salven rollt und pfeift es in die Glieder,
Es raſt der Schnitter Tod und fällt und mäht,
Und wie er ſeine Reihen ſät,
Da ſinkt die Fahne und ihr Träger nieder.

7. Aus dem Gedräng' ein Offizier ſie rettet,
„Mir nach!" ſo ruft er und ſtürmt kühn voraus,
Doch aus dem unglückſel'gen Haus
Grüßt ihn der Tod, der eilig bettet.
Selbſt blutend, ſpringt der Adjutant vom Pferde,
Erfaßt die Fahne, ſchwingt ſie hoch empor, —
Da deckt ſein Auge dunkler Flor,
Und ſterbend küßt ſein bleicher Mund die Erde.

8. Was fällt, das fällt! vorwärts! durch Tod und Flammen!
Zwei brave Musketiere greifen zu,

Der eine ſtürzt: „Verſuch es du!“
Doch auch der andre bricht zuſammen.
Nun fällt der Führer auch, wir müſſen weichen;
Ein Häuflein war der Reſt, vom Feind umringt,
Das ſchlägt ſich durch, und es gelingt,
Den Steinbruch endlich wieder zu erreichen.
9. Da dachte keiner ſeiner eignen Wunde,
Wer jetzt noch aufrecht ſtand in Nacht und Graus.
„Die Fahne fehlt! holt ſie heraus!“
So ſcholl es laut von Mund zu Munde.
Ein Halbzug wird zum Suchen ausgeſendet
Und — kommt nicht einer wieder, alle blieben tot.
Uns bebt das Herz, allmächt'ger Gott!
Haſt du dich zürnend gegen uns gewendet?

Laignes (Côte d'or), Februar 1871.

10. „Freiwill'ge vor!“ — Da blieb nicht einer ſtehen,
Der noch ſein heiß Gewehr in Händen hielt,
Und ſechs, die um das Los geſpielt,
Sehn in die Nacht hinaus wir gehn. —
Zurück, vom Feind verfolgt, ein einz'ger kehrte,
Der blutete, verhüllte ſein Geſicht
Und ſchwieg. — Die Fahne bracht' er nicht,
Und keiner, keiner ſeinen Tränen wehrte. —
11. Am andern Tag, ſo ließ Ricciotti melden,
Fand man die Fahne, feſt in ſtarrer Hand,
Zerfetzt, zerſchoſſen, halb verbrannt
Und unter Haufen toter Helden. — —
Wenn wir nun ohne Fahne wiederkommen,
Ihr Brüder, alleſamt gebt uns Pardon!
Verloren haben wir ſie ſchon,
Doch keinem Lebenden ward ſie genommen.

---

## 4) Idylle und Epos.

### 183. Irin. (1757.)

(An Herrn Geßner, den Verfaſſer der proſaiſchen Idyllen.)

Von E. v. Kleiſt.

Werke. Herausgegeben von A. Sauer. Berlin 1881. Tl. I, S. 115.

An einem ſchönen Abend fuhr
Irin mit ſeinem Sohn im Kahn
Aufs Meer, um Reuſen in den Schilf
Zu legen, der ringsum den Strand
Von nahen Eilanden umgab.
Die Sonne tauchte ſich bereits
Ins Meer, und Flut und Himmel ſchien
Im Feu'r zu glühen.
„O! wie ſchön
Iſt jetzt die Gegend!“ ſagt' entzückt
Der Knabe, den Irin gelehrt
Auf jede Schönheit der Natur
Zu merken. „Sieh“, ſagt' er, „den Schwan,
Umringt von ſeiner frohen Brut,
Sich in den roten Widerſchein
Des Himmels tauchen! Sieh, er ſchifft,
Zieht rote Furchen in die Flut
Und ſpannt des Fittichs Segel auf.
Wie lieblich flüſtert dort im Hain
Der ſchlanken Eſpen furchtſam Laub
Am Ufer, und wie reizend fließt
Die Saat in grünen Wellen fort
Und rauſcht, vom Winde ſanft bewegt! —
O! was für Anmut haucht anjetzt
Geſtad' und Meer und Himmel aus!
Wie ſchön iſt alles! und wie froh
Und glücklich macht uns die Natur!“ —
„Ja“, ſagt' Irin, „ſie macht uns froh
Und glücklich, und du wirſt durch ſie
Glückſelig ſein dein Lebelang,
Wenn du dabei rechtſchaffen biſt;
Wenn wilde Leidenſchaften nicht
Von ſanfter Schönheit das Gefühl
Verhindern. O Geliebteſter!
Ich werde nun in kurzem dich
Verlaſſen und die ſchöne Welt,
Und in noch ſchönern Gegenden
Den Lohn der Redlichkeit empfahn.
O! bleib der Tugend immer treu
Und weine mit den Weinenden
Und gib von deinem Vorrat gern
Den Armen! Hilf, ſoviel du kannſt,

Zum Wohl der Welt. Sei arbeitſam,
Erheb zum Herren der Natur,
Dem Wind und Meer gehorſam iſt,
Der alles lenkt zum Wohl der Welt,
Den Geiſt. Wähl lieber Schand' und Tod,
Eh' du in Bosheit willigeſt!
Ehr', Überfluß und Pracht iſt Tand;
Ein ruhig Herz iſt unſer Teil.
Durch dieſe Denkungsart, mein Sohn,
Iſt unter lauter Freuden mir
Das Haar verbleichet. Und wiewohl
Ich achtzigmal bereits den Wald
Um unſre Hütte grünen ſah,
So iſt mein langes Leben doch
Gleich einem heitern Frühlingstag
Vergangen unter Freud' und Luſt. —
Zwar hab' ich auch manch Ungemach
Erlitten. Als dein Bruder ſtarb,
Da floſſen Tränen mir vom Aug'
Und Sonn' und Himmel ſchien mir ſchwarz.
Oft auch ergriff mich auf dem Meer
Im leichten Kahn der Sturm und warf
Mich mit den Wellen in die Luft;
Am Gipfel eines Waſſerbergs
Hing oft mein Kahn hoch in der Luft,
Und donnernd fiel die Flut herab,
Und ich mit ihr. Das Volk des Meeres
Erſchrak, wenn über ſeinem Haupt
Der Wellen Donner tobt', und fuhr
Tief in den Abgrund; und mich dünkt',
Daß zwiſchen jeder Welle mir
Ein feuchtes Grab ſich öffnete.
Der Sturmwind taucht' dabei ins Meer
Die Flügel, ſchüttelte davon
Noch eine See auf mich herab.
Allein bald legte ſich der Zorn
Des Windes, und die Luft ward hell,
Und ich erblickt' in ſtiller Flut
Des Himmels Bild. Der blaue Stör
Mit roten Augen ſahe bald
Aus einer Höhl' im Kraut der See
Durch ſeines Hauſes gläſern Dach,
Und vieles Volk des weiten Meers
Tanzt' auf der Flut im Sonnenſchein,
Und Ruh' und Freude kam zurück
In meine Bruſt. — Jetzt wartet ſchon
Das Grab auf mich. Ich fürcht' es nicht.
Der Abend meines Lebens wird
So ſchön als Tag und Morgen ſein. —
O Sohn! ſei fromm und tugendhaft!
So wirſt du glücklich ſein, wie ich,
So bleibt dir die Natur ſtets ſchön."
Der Knabe ſchmiegt' ſich an den Arm
Irins und ſprach: „Nein, Vater, nein,
Du ſtirbſt noch nicht. Der Himmel wird
Dich noch erhalten mir zum Troſt."
Und viele Tränen floſſen ihm
Vom Aug'. — — Indeſſen hatten ſie
Die Reuſen ausgelegt. Die Nacht
Stieg aus der See, ſie ruderten
Gemach der Heimat wieder zu. —
Irin ſtarb bald. Sein frommer Sohn
Beweint' ihn lang, und niemals kam
Ihm dieſer Abend aus dem Sinn:
Ein heil'ger Schauer überfiel
Ihn, wenn ihm ſeines Vaters Bild
Vors Antlitz trat. Er folgete
Stets deſſen Lehren. Segen kam
Auf ihn. Sein langes Leben dünkt'
Ihm auch ein Frühlingstag zu ſein.

## 186. Luiſens Geburtstag.[1]) (1783.)

Von J. H. Voß.

Aus „Luiſe". Ein ländliches Gedicht in drei Idyllen. Sämtliche Gedichte. Leipzig 1835. Bd. I, S. 17.

Als ſie, das Linſenfeld und die bärtige Gerſte durchwandelnd,
Jetzo dem Hügel am See ſich näherten, welcher mit dunkeln
Tannen und hangendem Grün weißſtämmiger Birken gekränzt war,
Blickte zum buſchigen Ufer Luiſ', hinhorchend und ſagte:
„Still! Es tönte mir dumpf, wie ein Ruderſchlag, von dem Ufer!"
Aber der mutige Karl, der voranlief, wandte ſich rufend:
„Hurtig! Da ſeh' ich den Kahn! Nun gleitet er hinter das Schilfrohr!"

[1]) Der Pfarrer von Grünau feiert den achtzehnten Geburtstag ſeiner Tochter Luiſe. Nachmittags wird am waldigen Seeufer ein kleines, ländliches Feſt veranſtaltet, an welchem außer Luiſens Eltern auch deren Bräutigam Walther, der Hofmeiſter der adeligen Gutsherrſchaft, und der junge Graf Karl, Walthers Zögling, teilnehmen. Der Pfarrer und die Pfarrerin gelangen durch eine Kahnfahrt auf dem See, die jüngere Geſellſchaft auf einem anmutigen Pfade durch Feld und Buſch an die kühle Waldſtätte. — Hans iſt der alte, treue Knecht des Pfarrers.

Und mit geflügelten Schritten enteilten sie; kühlender Seewind
Hauchte zurück das Gewand, das die trippelnden Füße des Mägdleins
Rauschend umwallt', und es weht' ihr geringeltes Haar von den Schultern.
Laut nun rief und winkt' aus dem schwebenden Kahne der Pfarrer:
„Ehrbar, Kinder, und sacht! Ihr lauft ja so rasch wie die Hühnlein
Über den Hof, wenn die Magd an der Haustür Futter umherstreut!
Heida, wie saust das Gesindel herab von dem höckrichten Abhang!
Töchterchen, geh vorsichtig und strauchle mir nicht an den Wurzeln!"
Also rief er — umsonst! sie entflohn unhemmbares Schwunges.
Atmender harrten sie nun, bis der rauschende Kahn an dem Ufer
Landete; und „Willkommen!" erscholl's, „Willkommen im Grünen!"
Hinten hemmte der Knecht, an der Erl' im Wasser sich haltend.
Aber gestützt von der Hand des Jünglinges, traten die Eltern
Über den wankenden Bord auf den Sand voll Kiesel und Muscheln,
Wellig gestriemt von der Flut und umhüpft mit gehügeltem Seeschaum.
Hans auch entstieg und knüpfte das hemmende Seil um den Baumstumpf.
Schmeichelnd küßte den Greis die blühende Tochter und fragte:
„Väterchen kommt ja so frühe vom Schlaf. Hat der häßliche Kater
Wieder gemaut? ein Hühnchen beim Eierlegen gegackelt?
Oder Susanna zu laut mit dem Waffeleisen geklappert?"
Drauf antwortetest du, ehrwürdiger Pfarrer von Grünau:
„Soll ich dieses genau dir verkündigen, wie es geschehn ist?
Weder gemaut hat ein Kater, mein Kind, noch ein Hühnchen gegackelt,
Oder Susanna zu laut mit dem Waffeleisen geklappert.
Unser Gespräch und die Freude, mein Töchterchen, deines Geburtstags
Machte mein Herz unruhig. Wohlauf nun, Feuer gezündet!
Flink! und Kaffee gekocht! Die trautesten Kinder sind durstig!"
Jener sprach's; und in Eile gebot die verständige Hausfrau:
„Trage mir, Hans, aus dem Kahne sogleich die Geräte des Kochens
Neben den blühenden Ginst. Dort zünden wir, denk' ich, das Feuer,
Daß uns nicht anwehe der Rauch. Hier aber am Vorland
Lagern wir uns im Schatten der alten Familienbuche,
Die vorlängst uns bekannt mit schon auswachsenden Namen.
Hier ist polsterndes Moos, hier sanft anatmende Kühlung;
Hier im Geräusche der Well' und des Schilfrohrs labt uns die Aussicht
Über den See nach dem Dorf und den Krümmungen fruchtbarer Ufer.
Holz nun, Kinder, gesucht! Wer fischen will, scheue kein Wasser!"
Also die Frau; und sie selbst, nicht tatlos, samt dem Gemahle
Ging zum gepriesenen Quelle, der nachbarlich unten am Waldberg
Rieselte, lauter und frisch wie am Lilienblatte der Frühtau,
Elfenborn in der Sag' umwohnender Hirten benamet;
Denn rings fabelte man, mit Elfinnen tanze der Bergelf
Dort nach leiser Musik im sprossenden Grase der Mainacht.
Doch seit Hans vor dem Jahre, das Fest der Luise zu feiern,
Heimlich den Sprudel getieft und mit höherem Rasen umbordet,
Nennt ihn „Born der Luise" das Haus und die Freunde des Hauses.
Hierher kamen sie beid' und fülleten, diese des Kessels
Ehernen Bauch, und der Vater ein Glas mit erfrischendem Labsal.
Als nun jene den Hügel ereileten, welcher mit dunkeln
Tannen und hangendem Grün weißstämmiger Birken gekränzt war,
Fanden sie Kien und Reiser und sammelten; dann zu dem Buchhain
Eilten sie links im Tal, wo der Ast' ein unendlicher Abfall

Lag in Laub und Gesträuch, dem Hüttener Feu'rung des Winters.
Froh nun kehrten zum See die Beladenen. Aber der Hausknecht
Fing die sprühenden Funken des Stahls in schwammigem Zunder,
Faßt' ihn in trockenes Laub und schwang mit Gewalt, bis dem dickern
Qualm aufleuchtendes Feuer entloderte; häufte geschickt dann
Reiser und Kien, daß die Flamme das Holz durch, fröhlich des Harzes,
Knatterte, finsteren Rauch seitwärts aufdampfend zum Himmel.
Jetzt, wo der Wind in die Glut einsauste, stellt' er den Dreifuß
Und den verschlossenen Kessel darauf mit der Quelle des Waldes.
Wehend umleckt' ihn die Loh', und es braust' aussiedend der Kessel.
Aber das Mütterchen goß in die bräunliche Kanne den Kaffee
Aus der papiernen Tute, gemengt mit klärendem Hirschhorn,
Strömte die Quelle darauf und stellt' auf Kohlen die Kanne,
Hingekniet, bis steigend die farbige Blase geplatzt war.
Schleunig anjetzt rief jene, das Haupt um die Achsel gewendet:
„Setze die Tassen zurecht, mein Töchterchen; gleich ist der Kaffee
Gar. Die Gesellschaft nimmt ja mit unserem täglichen Steinzeug
Gern im Grünen vorlieb und ungetrichtertem Kaffee.
Vater verbot Umständ', und dem Weibe geziemt der Gehorsam."
Also Mama; doch Luise, die rasch mit dem Knaben sich umschwang.
Hörte den Ruf und enthüllt' aus dem Deckelkorbe die Tassen,
Auch die Flasche mit Rahm und die blecherne Dose voll Zucker,
Ordnend umher auf dem Rasen; und jetzt, da sie alles durchwühlet,
Neigte das blühende Mädchen sich hold und lächelte schalkhaft:
„Nehmen Sie mir's nicht übel, Mama hat die Löffel vergessen."
Also sagte Luis'; und des Mütterchens lachten sie alle
Schadenfroh; auch lachte sie selbst, die gütige Mutter,
Welche die dampfende Kanne dahertrug. Aber der Jüngling
Sprang zu der Birke behende, der hangenden, und von den Zweiglein
Glättet' er zierliche Stäb' und verteilte sie rings der Gesellschaft.
Jetzo dem lieben Papa und dem Jünglinge reichte die Jungfrau
Pfeifen dar und Tabak in der fleckigen Hülle des Seehunds,
Und mit des Löschbrands Ende, dem glimmenden, zündete Hans an.
So auf Moose nunmehr die Gelagerten: neben dem Vater
Rechts mit dem Knaben Mama, die den lauteren Trank in die Tassen
Rühmend goß; links aber Luis' und nahe der Jüngling.
Sie zwar kostete selten des hitzigen Mohrengetränkes;
Doch heut' nahm sie ein wenig und russischen Thee mit dem Kleinen.
Nun war jegliches Auge verklärt, nun laut des Gespräches
Herzlichkeit, nun das Gesicht den leisesten Regungen folgsam;
Folgsamer noch war dein zartfühlendes Antlitz, o Jungfrau:
Wie wenn dustiges Schimmergewölk an der Bläue des Himmels
Immer veränderlich folgt der Zephire launischem Anhauch,
Hell umsäumt vom Glanze des Abendes oder des Vollmonds.
Als bei treffenden Worten nunmehr des gemütlichen Vaters
Aufmerksam sich Luise mit trunkenen Blicken ihm anschloß,
Liebreich klopft' ihr der Vater die rosige Wang' und begann so:
„Kind, dir brennt ja die Wange wie Glut! Zwar ist es nicht übel
Anzusehen; doch nimm dir, mein Töchterchen, wegen der Zugluft
Etwas mehr um den Hals! Man erkältet sich leicht in der Hitze."
Jenem küßte die Hand und erwiderte freundlich die Tochter:
„Zugluft nennst du die Kühlung, die sanft durch Erlen des Ufers

Atmet und kaum mir ein Bändchen bewegt? Scherz liebest du wahrlich!
Gar nicht brennt mich die Hitze; mit Fleiß ja gingen wir langsam,
Ruhten auch oft im Schatten. Ich bin nur so fröhlich, mein Vater!"
Drauf antwortetest du, ehrwürdiger Pfarrer von Grünau:
„Ja, du trautste Tochter, ich bin auch fröhlich, so fröhlich
Als die singenden Vögel im Wald hier oder das Eichhorn,
Welches die luftigen Zweige durchhüpft um die Jungen im Lager.
Achtzehn Jahr' sind es heut', da schenkte mir Gott mein geliebtes,
Jetzt mein einziges Kind, so verständig und fromm und gehorsam.
Wie doch die Zeiten entfliehn! Zehn kommende Jahre, wie weithin
Dehnt sich der Raum vor uns, und wie schwindet er, wenn wir zurücksehn!
Gestern war's, wie mir deucht, da ich unruhvoll in dem Garten
Irrete, Blätter zerpflückt' und betete, bis nun mit einmal
Fröhlich die Botschaft kam: ‚Ein Töchterchen ist uns geboren!'
Manches beschied seitdem der Allmächtige, Gutes und Böses.
Auch das Böse war gut; denn in Wohlfahrt lenkt er des Schicksals
Dunkelen Gang, und es blühet aus bitterer Wurzel das Heil auf.
Weißt du, Frau, wie es einst nach langer Dürre geregnet,
Und ich, Luis' auf dem Arme, mit dir in der Frische des Gartens
Atmend ging, wie das Kind nach dem farbigen Bogen emporgriff
Und mich küßte: ‚Papa, da regnet es Blumen vom Himmel!
Streut die der liebe Gott uns Kinderchen, daß wir sie sammeln?'
Ja, der den Bogen der Huld ausspannete, streuet vom Himmel
Blumen und Früchte herab, ein allversorgender Vater,
Daß wir mit Dank einsammeln und Kindlichkeit! Denk' ich des Vaters,
O dann hebt sich mein Herz und schwillt von regerer Inbrunst
Gegen unsere Brüder, die rings umwohnen das Erdreich,
Zwar vielartig an Kraft und Verstand, doch desselbigen Vaters
Kindlein alle wie wir, von einerlei Brüsten genähret.
Und nicht lange, so geht in der Dämmerung eins nach dem andern
Müde zur Ruh', vom Vater im heimlichen Lager gesegnet,
Hört süßträumend der Winde Geräusch und des tropfenden Regens,
Schläft, und erwacht am Morgen gestärkt und helleres Sinnes.
Wonne dereinst, wann alle der heilige Morgen uns aufweckt!"

## 187. Das letzte Abendläuten des alten Schulmeisters von Krondorf.

Von H. Heydenreich.

Gedichte. Wien 1817. Th. II, S. 82.

Alter belastete schwer den Lehrer der Kinder von Krondorf,
Silbernes Haar umfloß sein schon zitterndes Haupt;
Doch verlieh ihm noch Gott den Blick in die herrliche Schöpfung,
Und der treue Stab schützte den wankenden Gang. —
Dreißig Jahre, voll Schweiß und menschenfreundlicher Mühen,
Waren dem Greise hier schnell wie ein Traumbild entflohn.
So entschwinden sie ja, von redlichem Eifer beflügelt,
Jedem Edeln, der sich Gott und der Menschheit geweiht. —
Feurig schlagend das Herz fürs Glück der liebenden Brüder,
Voll Vertrauen auf Gott, hat er gesäet die Saat.
Auf gut Land fiel sie, er sah an dem Rande des Lebens
Froh auf die Ernte zurück, froh in die Zukunft hinaus. —
Segen tönte ihm zu aus allen Hütten des Dorfes;
„Spät umfang' ihn das Grab", — flehte der Knab' und der Greis;

Gerne noch hätt' er lange der Jugend Schritte geleitet
Und mit Jünglinges Kraft feurig im Alter gewirkt;
Aber der Menschheit Los, die Grenzen des endlichen Geistes
Setzten auch ihm sein Ziel, winkten ihm, stillezustehn. —
Sehnlich harrt er des Mannes, der ihm zu folgen bestimmt war;
Von dem Gebieter des Dorfs hatt' er schon lange den Ruf;
Aber der Ankunft Tag hielt man dem Guten verborgen,
Die Bewohner des Dorfs täuschten liebend den Greis. —
Längst schon konnt' er nicht mehr des Tages Sterbelied läuten,
Nicht mit zitternder Hand rührte die Glocken er mehr;
Muntere Knaben des Dorfes versahen mit freudigem Eifer
Abends des Lehrers Amt, lockten zur Heimat das Lamm;
Er saß ruhig und ernst und wachsam über die Ordnung
Auf der Gattin Gruft während des Abendgeläuts,
Dacht' in die Vorzeit zurück und dacht' in die nahende Zukunft,
Dachte: „Bald tönt von dem Turme dein Grabegeläut".
Einst entschwebte dem Himmel der mildeste herbstliche Abend,
Und des Untergangs Licht malte die Gräber des Dorfs.
Nie so hatte der Greis des Abends Rührung empfunden,
Tränend vernahm er den Ruf hallender Glocken zur Ruh'.
Jetzt verhallt in die Ferne der letzte der Töne der Glocken;
„Ruhige, gute Nacht!" riefen die Knaben ihm zu.
Einsam saß er nun da, umringt von schweigenden Gräbern,
Viele Gebeine darin hat er noch lebend gekannt.
„Gräber, ihr schrecket mich nicht!" — so sprach der redliche Alte —
„Tote, — wo ihr auch seid, — Tote, ihr klagt mich nicht an!
Bald verkünden die Glocken die Nacht des entschlummerten Greises;
Gott, die Nacht! der sich schnell rötet der schönere Tag.
Nahe, du selige Nacht! Jenseit des irdischen Grabes
Harret Segen auch mein, manches Geretteten Dank."
Schweigend verlor sich der Greis in der Zukunft heiliger Ahnung;
Schmeckte zum voraus schon Freuden der schöneren Welt. —
Horch! da ertönt ein Gesang, der in der Stille des Abends
Feierlich sich verlor; staunend erbebte der Greis. —
Es eröffnete sich des Friedhofs schaurige Pforte,
Und mit Saitenspiel nahten die Kinder des Dorfs;
Mitten unter der Schar der künftige, würdige Lehrer,
Und dem Zuge nach folgten die Väter des Dorfs.
Sanfter Tränenstrom benetzte die Wangen des Greises,
Als er die Kommenden sah; Freude durchschauerte ihn. —
„Kinder, was wollt ihr denn?" — Da naht' ein blühendes Mägdlein
Und bekränzte sein Haupt, lächelnd und weinend zugleich.
Heiter, doch tief gerührt, bot ihm die Rechte der Fremdling:
„Daß ich, würdiger Greis, o, daß ich wirkte, wie du!"
Und die Väter des Dorfs umarmten mit feurigem Danke
Ihn, der väterlich stets über die Kinder gewacht. —
„Welch ein Abend", so rief der Redliche; — „himmlischer Vater,
O wie herrlich, wie schön muß es dort oben erst sein!
Vater, nimm mich zu dir in dieser seligen Stunde!
Seliger nahet mir nie eine der irdischen mehr." —
Sprach's und sank ermattet hin auf den Hügel der Gattin; —
Wo er so oft geweint, starb er, von Freude berauscht. —

Dämmert' uns allen doch einſt ſo ſchön der Abend des Lebens;
Stürben wir alle, wie er, ſüßer Beruhigung voll;
Nähmen mit uns hinab der Lebenden Segen und Tränen,
Ach, und der Liebe Wunſch: „Ruhe, du Redlicher, ſanft!“

## 188. Aus „Reineke Fuchs“. (1793.)

Von W. v. Goethe.

Werke. Nach den vorzüglichſten Quellen revidierte Ausgabe. Berlin 1868. Teil V. (Reineke Fuchs. Herausgegeben von F. Strehlke.) S. 61. (IV. Geſang.)

Als man bei Hofe vernahm, es komme Reineke wirklich,
Drängte ſich jeder heraus, ihn zu ſehn, die Großen und Kleinen,
Wenige freundlich geſinnt; faſt alle hatten zu klagen.
Aber Reineken deuchte, das ſei von keiner Bedeutung;
Wenigſtens ſtellt' er ſich ſo, da er mit Grimbart, dem Dachſe,
Jetzo dreiſt und zierlich die hohe Straße daherging.
Mutig kam er heran und gelaſſen, als wär' er des Königs
Eigener Sohn und frei und ledig von allen Gebrechen.
Ja, ſo trat er vor Nobel, den König, und ſtand im Palaſte
Mitten unter den Herren, er wußte ſich ruhig zu ſtellen.
„Edler König, gnädiger Herr“, begann er zu ſprechen,
„Edel ſeid Ihr und groß, von Ehren und Würden der erſte,
Darum bitt' ich von Euch, mich heute rechtlich zu hören.
Keinen treueren Diener hat Eure fürſtliche Gnade
Je gefunden, als mich, das darf ich kühnlich behaupten.
Viele weiß ich am Hofe, die mich darüber verfolgen.
Eure Freundſchaft würd' ich verlieren, woferne die Lügen
Meiner Feinde, wie ſie es wünſchen, Euch glaubtich erſchienen;
Aber glücklicherweiſe bedenkt Ihr jeglichen Vortrag,
Hört den Beklagten ſo gut, als den Kläger; und haben ſie vieles
Mir im Rücken gelogen, ſo bleib' ich ruhig und denke:
Meine Treue kennt Ihr genug; ſie bringt mir Verfolgung.“
„Schweiget“, verſetzte der König, „es hilft kein Schwätzen und Schmeicheln;
Euer Frevel iſt laut, und Euch erwartet die Strafe.
Habt Ihr den Frieden gehalten, den ich den Tieren geboten,
Den ich geſchworen? Da ſteht der Hahn! Ihr habt ihm die Kinder,
Falſcher, leidiger Dieb, eins nach dem andern entriſſen.
Und wie lieb Ihr mich habt, das wollt Ihr, glaub' ich, beweiſen,
Wenn Ihr mein Anſehn ſchmäht und meine Diener beſchädigt.
Seine Geſundheit verlor der arme Hinze! Wie langſam
Wird der verwundete Braun von ſeinen Schmerzen geneſen!
Aber ich ſchelt' Euch nicht weiter. Denn hier ſind Kläger die Menge,
Viele bewieſene Taten. Ihr möchtet ſchwerlich entkommen.“
„Bin ich, gnädiger Herr, deswegen ſtrafbar?“ verſetzte
Reineke, „kann ich dafür, wenn Braun mit blutiger Platte
Wiederzurückkehrt'? Wagt' er ſich doch und wollte vermeſſen
Rüſteviels Honig verzehren! Und kamen die tötpiſchen Bauern
Ihm zu Leibe, ſo iſt er ja ſtark und mächtig an Gliedern;
Schlugen und ſchimpften ſie ihn, eh' er ins Waſſer gekommen,
Hätt' er als rüſtiger Mann die Schande billig gerochen.
Und wenn Hinze, der Kater, den ich mit Ehren empfangen,
Nach Vermögen bewirtet, ſich nicht vom Stehlen enthalten,
In die Wohnung des Pfaffen, ſo ſehr ich ihn treulich verwarnte,
Sich bei Nacht geſchlichen und dort was Übels erfahren:
Hab' ich Strafe verdient, weil jene töricht gehandelt?

Eurer fürſtlichen Krone geſchähe das wahrlich zu nahe!
Doch Ihr möget mit mir nach Eurem Willen verfahren,
Und, ſo klar auch die Sache ſich zeigt, beliebig verfügen,
Mag es zum Nutzen, mag es zum Schaden auch immer gereichen.
Soll ich geſotten, gebraten, geblendet oder gehangen
Werden oder geköpft, ſo mag es eben geſchehen!
Alle ſind wir in Eurer Gewalt, Ihr habt uns in Händen.
Mächtig ſeid Ihr und ſtark, was widerſtünde der Schwache?
Wollt Ihr mich töten, das würde fürwahr ein geringer Gewinn ſein.
Doch es komme, was will! Ich ſtehe redlich zu Rechte."
Da begann der Widder Bellyn: „Die Zeit iſt gekommen;
Laßt uns klagen!" Und Iſegrim kam mit ſeinen Verwandten,
Hinze, der Kater, und Braun, der Bär, und Tiere zu Scharen. —
Auch der Eſel Boldewyn kam und Lampe, der Haſe,
Wackerlos kam, das Hündchen, und Ryn, die Dogge, die Ziege
Metke, Hermen, der Bock, dazu das Eichhorn, die Wieſel
Und das Hermelin. Auch waren der Ochs und das Pferd nicht
Außen geblieben; daneben erſah man die Tiere der Wildnis,
Als den Hirſch und das Reh, und Bokert, den Biber, den Marder,
Das Kaninchen, den Eber, und alle drängten einander.
Bartolt, der Storch, und Markart, der Häher, und Lütke, der Kranich,
Flogen herüber; es meldeten ſich auch Tybbke, die Ente,
Alheid, die Gans, und andere mehr mit ihren Beſchwerden.
Henning, der traurige Hahn, mit ſeinen wenigen Kindern
Klagte heftig; es kamen herbei unzählige Vögel
Und der Tiere ſoviel — wer wüßte die Menge zu nennen!
Alle gingen dem Fuchs zu Leibe; ſie hofften, die Frevel
Nun zur Sprache zu bringen und ſeine Strafe zu ſehen.
Vor den König drängten ſie ſich mit heftigen Reden,
Häuften Klagen auf Klagen, und alt' und neue Geſchichten
Brachten ſie vor. Man hatte noch nie an einem Gerichtstag
Vor des Königes Thron ſo viele Beſchwerden gehöret.
Reineke ſtand und wußte darauf gar künſtlich zu dienen;
Denn ergriff er das Wort, ſo floß die zierliche Rede
Seiner Entſchuldigung her, als wär' es lautere Wahrheit.
Alles wußt' er beiſeite zu lehnen und alles zu ſtellen.
Hörte man ihn, man wunderte ſich und glaubt' ihn entſchuldigt;
Ja, er hatte noch übriges Recht und vieles zu klagen.
Aber es ſtanden zuletzt wahrhaftige, redliche Männer
Gegen Reineken auf, die wider ihn zeugten, und alle
Seine Frevel fanden ſich klar. Nun war es geſchehen!
Denn im Rate des Königs mit einer Stimme beſchloß man:
Reineke Fuchs ſei ſchuldig des Todes! So ſoll man ihn ſahen,
Soll ihn binden und hängen an ſeinem Halſe, damit er
Seine ſchweren Verbrechen mit ſchmählichem Tode verbüße.
Jetzt gab Reineke ſelbſt das Spiel verloren; es hatten
Seine klugen Worte nur wenig geholfen. Der König
Sprach das Urteil ſelber. Da ſchwebte dem loſen Verbrecher,
Als ſie ihn fingen und banden, ſein klägliches Ende vor Augen.
Wie nun nach Urteil und Recht gebunden Reineke daſtand,
Seine Feinde ſich regten, zum Tode ihn eilend zu führen,
Standen die Freunde betroffen und waren ſchmerzlich bekümmert,

Martin, der Affe, mit Grimbart und vielen aus Reinekens Sippſchaft.
Ungern hörten ſie an das Urteil und trauerten alle
Mehr, als man dächte. Denn Reineke war der erſten Baronen
Einer, und ſtand nun entſetzt von allen Ehren und Würden
Und zum ſchmählichen Tode verdammt. Wie mußte der Anblick
Seine Verwandten empören! Sie nahmen alle zuſammen
Urlaub vom Könige, räumten den Hof, ſo viele ſie waren.
Aber dem Könige ward es verdrießlich, daß ihn ſo viele
Ritter verließen. Es zeigte ſich nun die Menge Verwandten,
Die ſich, mit Reinekens Tod ſehr unzufrieden, entfernten.
Und der König ſprach zu einem ſeiner Vertrauten:
„Freilich iſt Reineke boshaft; allein man ſollte bedenken,
Viele ſeiner Verwandten ſind nicht zu entbehren am Hofe".
Aber Iſegrim, Braun und Hinze, der Kater, ſie waren
Um den Gebundnen geſchäftig; ſie wollten die ſchändliche Strafe,
Wie es der König gebot, an ihrem Feinde vollziehen,
Führten ihn haſtig hinaus und ſahen den Galgen von ferne.
Da begann der Kater erboſt zum Wolfe zu ſprechen:
„Nun bedenket, Herr Iſegrim, wohl, wie Reineke damals
Alles tat und betrieb, wie ſeinem Haſſe gelungen,
Euern Bruder am Galgen zu ſehn! Wie zog er ſo fröhlich
Mit ihm hinaus! Verſäumet ihm nicht die Schuld zu bezahlen!
Und gedenket, Herr Braun, er hat Euch ſchändlich verraten,
Euch in Rüſteviels Hofe dem groben, zornigen Volke,
Männern und Weibern, treulos geliefert und Schlägen und Wunden
Und der Schande dazu, die allerorten bekannt iſt.
Habet acht und haltet zuſammen! Entkäm' er uns heute,
Könnte ſein Witz ihn befreien und ſeine liſtigen Ränke,
Niemals würd' uns die Stunde der ſüßen Rache beſchert ſein.
Laßt uns eilen und rächen, was er an allen verſchuldet!"
Iſegrim ſprach: „Was helfen die Worte? Geſchwinde verſchafft mir
Einen tüchtigen Strick! Wir wollen die Qual ihm verkürzen."
Alſo ſprachen ſie wider den Fuchs und zogen die Straße.
Aber Reineke hörte ſie ſchweigend; doch endlich begann er:
„Da Ihr ſo grauſam mich haßt und tödliche Rache begehret,
Wiſſet Ihr doch kein Ende zu finden! Wie muß ich mich wundern!
Hinze wüßte wohl Rat zu einem tüchtigen Stricke;
Denn er hat ihn geprüft, als in des Pfaffen Behauſung
Er ſich nach Mäuſen hinabließ und nicht mit Ehren davonkam.
Aber Iſegrim, Ihr, und Braun, Ihr eilt ja gewaltig,
Euren Oheim zum Tode zu bringen; Ihr meint, es gelänge."
Und der König erhob ſich mit allen Herren des Hofes,
Um das Urteil vollſtrecken zu ſehen; es ſchloß an den Zug ſich
Auch die Königin an, von ihren Frauen begleitet;
Hinter ihnen ſtrömte die Menge der Armen und Reichen;
Alle wünſchten Reinekens Tod und wollten ihn ſehen.
Iſegrim ſprach indes mit ſeinen Verwandten und Freunden
Und ermahnete ſie, ja feſt aneinander geſchloſſen,
Auf den gebundenen Fuchs ein wachſam Auge zu haben;
Denn ſie fürchteten immer, es möchte der Kluge ſich retten.
Seinem Weibe befahl der Wolf beſonders: „Bei Deinem
Leben, ſtehe mir zu und hilf den Böſewicht halten!

Käm' er los, wir würden es alle gar ſchmählich empfinden."
Und zu Braunen ſagt' er: „Gedenket, wie er Euch höhnte!
Alles könnt Ihr ihm nun mit reichlichen Zinſen bezahlen.
Hinze klettert und ſoll uns den Strick da oben befeſten;
Haltet ihn und ſtehet bei mir! Ich rücke die Leiter:
Wenig Minuten, ſo ſoll's um dieſen Schelmen getan ſein!"
Braun verſetzte: „Stellt nur die Leiter! Ich will ihn ſchon halten."
„Seht doch!" ſagte Reineke drauf, „wie ſeid Ihr geſchäftig,
Euren Oheim zum Tode zu bringen! Ihr ſolltet ihn eher
Schützen und ſchirmen, und wär' er in Not, Euch ſeiner erbarmen.
Gerne bät' ich um Gnade; allein was könnt' es mir helfen?
Iſegrim haßt mich zu ſehr, ja, ſeinem Weibe gebeut er,
Mich zu halten und mir den Weg zur Flucht zu vertreten.
Dächte ſie voriger Zeiten, ſie könnte mir wahrlich nicht ſchaden
Aber ſoll es nun über mich gehn, ſo wollt' ich, es wäre
Bald getan. So kam auch mein Vater in ſchreckliche Nöten,
Doch am Ende ging es geſchwind. Es begleiteten freilich
Nicht ſo viele den ſterbenden Mann. Doch wolltet Ihr länger
Mich verſchonen, es müßt' Euch gewiß zur Schande gereichen."
„Hört Ihr", ſagte der Bär, „wie trotzig der Böſewicht redet?
Immer, immer hinauf! Es iſt ſein Ende gekommen."
Ängſtlich dachte Reineke nun: „O möcht' ich in dieſen
Großen Nöten geſchwind was glücklich Neues erſinnen,
Daß der König mir gnädig das Leben ſchenkte und dieſe
Grimmigen Feinde, die drei, in Schaden und Schande gerieten!
Laßt uns alles bedenken, und helfe, was helfen kann! Denn hier
Gilt es den Hals; die Not iſt dringend; wie ſoll ich entkommen?
Alles Übel häuft ſich auf mich. Es zürnet der König,
Meine Freunde ſind fort und meine Feinde gewaltig;
Selten hab' ich was Gutes getan, die Stärke des Königs,
Seiner Räte Verſtand wahrhaftig wenig geachtet;
Vieles hab' ich verſchuldet und hoffte dennoch mein Unglück
Wieder zu wenden. Gelänge mir's nur, zum Worte zu kommen,
Wahrlich, ſie hingen mich nicht; ich laſſe die Hoffnung nicht fahren."
Und er wandte darauf ſich von der Leiter zum Volke,
Rief: „Ich ſehe den Tod vor meinen Augen und werd' ihn
Nicht entgehen. Nur bitt' ich Euch alle, ſo viele mich hören,
Um ein weniges nur, bevor ich die Erde verlaſſe.
Gerne möcht' ich vor Euch in aller Wahrheit die Beichte
Noch zum letztenmal öffentlich ſprechen und redlich bekennen
Alles Übel, das ich getan, damit nicht ein andrer
Etwa dieſes und jenes, von mir im ſtillen begangnen,
Unbekannten Verbrechens dereinſt bezichtiget werde;
So verhüt' ich zuletzt noch manches Übel, und hoffen
Kann ich, es werde mir's Gott in allen Gnaden gedenken."
Viele jammerte das. Sie ſprachen untereinander:
„Klein iſt die Bitte, gering nur die Friſt!" Sie baten den König,
Und der König vergönnt' es. Da wurd' es Reineken wieder
Etwas leichter ums Herz; er hoffte glücklichen Ausgang.
Gleich benutzt' er den Raum, der ihm vergönnt war, und ſagte:
„Spiritus Domini helfe mir nun! Ich ſehe nicht einen
Unter der großen Verſammlung, den ich nicht irgend beſchädigt.

Erſt, ich war noch ein kleiner Knirpan und hatte die Brüſte
Kaum zu ſaugen verlernet, da folgt' ich meinen Begierden
Unter die jungen Lämmer und Ziegen, die neben der Herde
Sich im Freien zerſtreuten; ich hörte die blökenden Stimmen
Gar zu gerne, da lüſtete mich nach leckerer Speiſe,
Lernte hurtig ſie kennen. Ein Lämmchen biß ich zu Tode,
Leckte das Blut — es ſchmeckte mir köſtlich —, und tötete weiter
Vier der jüngſten Ziegen und aß ſie und übte mich ferner;
Sparte keine Vögel, noch Hühner, noch Enten, noch Gänſe,
Wo ich ſie fand, und habe gar manches im Sande vergraben,
Was ich geſchlachtet und was mir nicht alles zu eſſen beliebte.
Dann begegnet' es mir, in einem Winter am Rheine
Lernt' ich Iſegrim kennen; er lauerte hinter den Bäumen.
Gleich verſichert' er mir, ich ſei aus ſeinem Geſchlechte;
Ja, er wußte mir gar die Grade der Sippſchaft am Finger
Vorzurechnen. Ich ließ mir's gefallen; wir ſchloſſen ein Bündnis
Und gelobten einander, als treue Geſellen zu wandern;
Leider ſollt' ich dadurch mir manches Übel bereiten.
Wir durchſtrichen zuſammen das Land; da ſtahl er das Große,
Stahl ich das Kleine. Was wir gewonnen, das ſollte gemein ſein;
Aber es war nicht gemein, wie billig; er teilte nach Willkür;
Niemals empfing ich die Hälfte, ja, Schlimmeres hab' ich erfahren.
Wenn er ein Kalb ſich geraubt, ſich einen Widder erbeutet,
Wenn ich im Überfluß ſitzen ihn fand, er eben die Ziege,
Friſch geſchlachtet, verzehrte, ein Bock ihm unter den Klauen
Lag und zappelte, grinſt' er mich an und ſtellte ſich grämlich,
Trieb mich knurrend hinweg; ſo war mein Teil ihm geblieben.
Immer ging es mir ſo, es mochte der Braten ſo groß ſein,
Als er wollte. Ja, wenn es geſchah, daß wir in Geſellſchaft
Einen Ochſen gefangen, wir eine Kuh uns gewonnen,
Gleich erſchienen ſein Weib und ſieben Kinder und warfen
Über die Beute ſich her und drängten mich hinter die Mahlzeit.
Keine Rippe konnt' ich erlangen, ſie wäre denn gänzlich
Glatt und trocken genagt. Das ſollte mir alles gefallen!
Aber Gott ſei gedankt, ich litt deswegen nicht Hunger;
Heimlich nährt' ich mich wohl von meinem herrlichen Schatze,
Von dem Silber und Golde, das ich an ſicherer Stätte
Heimlich verwahre; des hab' ich genug. Es ſchafft mir wahrhaftig
Ihn kein Wagen hinweg, und wenn er ſiebenmal führe."
Und es horchte der König, da von dem Schatze geſagt ward,
Neigte ſich vor und ſprach: „Von wannen iſt er Euch kommen?
Saget an! Ich meine den Schatz." Und Reineke ſagte:
„Dieſes Geheimnis verhehl' ich Euch nicht; was könnt' es mir helfen?
Denn ich nehme nichts mit von dieſen köſtlichen Dingen.
Aber wie Ihr befehlt, will ich Euch alles erzählen;
Denn es muß nun einmal heraus; um Liebes und Leides
Möcht' ich wahrhaftig das große Geheimnis nicht länger verhehlen.
Denn der Schatz war geſtohlen. Es halten ſich viele verſchworen,
Euch, Herr König, zu morden, und wurde zur ſelbigen Stunde
Nicht der Schatz mit Klugheit entwendet, ſo war es geſchehen.
Merket es, gnädiger Herr! Denn Euer Leben und Wohlfahrt
Hing an dem Schatz. Und daß man ihn ſtahl, das brachte denn leider

Meinen eigenen Vater in große Nöten, es bracht' ihn
Frühe zur traurigen Fahrt, vielleicht zu ewigem Schaden;
Aber, gnädiger Herr, zu Eurem Nutzen geſchah es!"
Und die Königin hörte beſtürzt die gräßliche Rede,
Das verworrne Geheimnis von ihres Gemahles Ermordung,
Von dem Verrat, vom Schatz, und was er alles geſprochen.
„Ich ermahn' Euch, Reineke", rief ſie, „bedenket! die lange
Heimfahrt ſteht Euch bevor! Entladet reuig die Seele!
Saget die lautere Wahrheit und redet mir deutlich vom Morde!"
Und der König ſetzte hinzu: „Ein jeglicher ſchweige!
Reineke komme nun wieder herab und trete mir näher
— Denn es betrifft die Sache mich ſelbſt —, damit ich ſie höre."
Reineke, der es vernahm, ſtand wieder getröſtet; die Leiter
Stieg er zum großen Verdruß der Feindlichgeſinnten herunter;
Und er nahte ſich gleich dem König und ſeiner Gemahlin,
Die ihn eifrig befragten, wie dieſe Geſchichte begegnet.
Da bereitet' er ſich zu neuen gewaltigen Lügen.
„Könnt' ich des Königes Huld und ſeiner Gemahlin", ſo dacht' er,
„Wiedergewinnen, und könnte zugleich die Liſt mir gelingen,
Daß ich die Feinde, die mich dem Tod entgegengeführet,
Selbſt verdürbe, das rettete mich aus allen Gefahren.
Sicher wäre mir das ein unerwarteter Vorteil;
Aber ich ſehe ſchon, Lügen bedarf es, und über die Maßen."
Ungeduldig befragte die Königin Reineken weiter:
„Laſſet uns deutlich vernehmen, wie dieſe Sache beſchaffen!
Saget die Wahrheit, bedenkt das Gewiſſen, entladet die Seele!"
Reineke ſagte darauf: „Ich will Euch gerne berichten.
Sterben muß ich nun wohl; es iſt kein Mittel dagegen.
Sollt' ich meine Seele beladen am Ende des Lebens,
Ewige Strafe verwirken, es wäre töricht gehandelt.
Beſſer iſt es, daß ich bekenne; und muß ich dann leider
Meine lieben Verwandten und meine Freunde verklagen,
Ach, was kann ich dafür! Es drohen die Qualen der Hölle."
Und es war dem Könige ſchon bei dieſen Geſprächen
Schwer geworden ums Herz. Er ſagte: „Sprichſt du die Wahrheit?"
Da verſetzte Reineke drauf mit verſtellter Gebärde:
„Freilich bin ich ein ſündiger Menſch; doch red' ich die Wahrheit.
Könnt' es mir nützen, wenn ich Euch löge? Da würd' ich mich ſelber
Ewig verdammen. Ihr wißt ja nun wohl, ſo iſt es beſchloſſen,
Sterben muß ich, ich ſehe den Tod und werde nicht lügen;
Denn es kann mir nicht Böſes, noch Gutes zur Hilfe gedeihen."
Bebend ſagte Reineke das und ſchien zu verzagen.
Und die Königin ſprach: „Mich jammert ſeine Beklemmung;
Seht ihn gnadenreich an, ich bitt' Euch, mein Herr, und erwäget:
Manches Unheil wenden wir ab nach ſeinem Bekenntnis.
Laßt uns je eher je lieber den Grund der Geſchichte vernehmen!
Heißet jeglichen ſchweigen und laßt ihn öffentlich ſprechen."
Und der König gebot, da ſchwieg die ganze Verſammlung.
Aber Reineke ſprach: „Beliebt es Euch, gnädiger König,
So vernehmet, was ich Euch ſage! Geſchieht auch mein Vortrag
Ohne Brief und Papier, ſo ſoll er doch treu und genau ſein;
Ihr erfahrt die Verſchwörung, und niemands denk' ich zu ſchonen."

## 189. Aus dem Nibelungenliede.

Das Nibelungenlied, übersetzt von K. Simrock. Stuttgart 1872.

Zweites Abenteuer: Von Siegfrieden. (S. 6.)

1. Da wuchs im Niederlande eines edeln Königs Kind,
Siegmund hieß sein Vater, die Mutter Sieglind,
In einer mächt'gen Feste, weithin wohlbekannt,
Unten am Rheine: Xanten war sie genannt.

2. Ich sag' euch von dem Degen, wie so schön er ward.
Er war vor allen Schanden immer wohl bewahrt.
Stark und hohes Namens ward bald der kühne Mann:
Hei! was er großer Ehren auf dieser Erde gewann!

3. Siegfried war geheißen der schnelle Degen gut.
Er erprobte viel' der Recken in hochbeherztem Mut.
Seine Stärke führt' ihn in manches fremde Land:
Hei! was er schneller Degen bei den Burgunden fand!

4. Bevor der kühne Degen voll erwuchs zum Mann,
Da hat er solche Wunder mit seiner Hand getan,
Davon man immer wieder singen mag und sagen;
Wir müssen viel verschweigen von ihm in heutigen Tagen.

5. In seinen besten Zeiten, bei seinen jungen Tagen
Mochte man viel Wunder von Siegfrieden sagen,
Wie Ehr' an ihm erblühte und wie schön er war zu schau'n:
Drum dachten sein in Minne viel der weiblichen Frau'n.

6. Man erzog ihn mit dem Fleiße, wie ihm geziemend war;
Was ihm Zucht und Sitte der eigne Sinn gebar!
Das ward noch eine Zierde für seines Vaters Land,
Daß man zu allen Dingen ihn so recht herrlich befand.

7. Selten ohne Hüter man reiten ließ das Kind.
Mit Kleidern hieß ihn zieren seine Mutter Siegelind;
Auch pflegten sein die Weisen, denen Ehre war bekannt:
Drum mocht' er wohl gewinnen so die Leute wie das Land.

8. Er war nun so erwachsen, mit an den Hof zu gehn.
Die Leute sahn ihn gerne; viel Frau'n und Mädchen schön
Wünschten wohl, er käme dahin doch immerdar;
Hold waren ihm gar viele, des ward der Degen wohl gewahr.

9. Nun war er in der Stärke, daß er wohl Waffen trug:
Wes er dazu bedurfte, des gab man ihm genug.
Schon sann er zu werben um manches schöne Kind;
Die hätten wohl mit Ehren den schönen Siegfried gewinnt.

10. Da ließ sein Vater Siegmund kundtun seinem Lehn,
Mit lieben Freunden woll' er ein Hofgelag begehn.
Da brachte man die Märe in andrer Kön'ge Land.
Den Heimischen und Gästen gab er Roff' und Gewand.

11. Wen man finden mochte, der nach der Eltern Art
Ritter werden sollte, die edeln Knappen zart
Lud man nach dem Lande zu der Lustbarkeit,
Wo sie das Schwert empfingen mit Siegfried zu gleicher Zeit.

12. Man mochte Wunder ſagen von dem Hofgelag.
Siegmund und Siegelind gewannen an dem Tag
Viel' Ehre durch die Gaben, die ſpendet' ihre Hand:
Drum ſah man viel' der Fremden zu ihnen reiten in das Land.

13. Vierhundert Schwertdegen ſollten gekleidet ſein
Mit dem jungen Könige. Manch ſchönes Mägdelein
Sah man am Werk geſchäftig; ihm waren alle hold.
Viel' edle Steine legten die Frauen da in das Gold,

14. Die ſie mit Borten wollten auf die Kleider nähn
Den jungen, ſtolzen Recken; das mußte ſo ergehn.
Der Wirt ließ Sitze bauen für manchen kühnen Mann
Zu der Sonnenwende, wo Siegfried Ritters Stand gewann.

15. Da ging zu einem Münſter mancher reiche Knecht
Und viel' der edlen Ritter. Die Alten taten recht,
Daß ſie den Jungen dienten, wie ihnen war geſchehn.
Sie hatten Kurzweile und freuten ſich es zu ſehn.

16. Als man da Gott zu Ehren eine Meſſe ſang,
Da hub ſich von den Leuten ein gewalt'ger Drang,
Da ſie zu Rittern wurden dem Ritterbrauch gemäß
Mit alſo hohen Ehren, ſo leicht nicht wieder geſchäh's.

17. Sie eilten, wo ſie fanden geſchirrter Roſſe viel'.
Da ward in Siegmunds Hofe ſo groß das Ritterſpiel,
Daß man ertoſen hörte Pallas und Saal.
Die hochbeherzten Degen begannen fröhlichen Schall.

18. Von Alten und von Jungen mancher Stoß erklang,
Daß der Schäfte Brechen in die Lüfte drang.
Die Splitter ſah man fliegen bis zum Saal hinan.
Die Kurzweile ſahen die Frau'n und Männer mit an.

19. Der Wirt bat es zu laſſen. Man zog die Roſſe fort;
Wohl ſah man auch zerbrochen viel' ſtarke Schilde dort
Und viel' der edlen Steine auf das Gras gefällt
Von des lichten Schildes Spangen: die hatten Stöße zerſchellt.

20. Da ſetzten ſich die Gäſte, wohin man ihnen riet
Zu Tiſch, wo von Ermüdung viel' edle Koſt ſie ſchied,
Und Wein der allerbeſte, des man die Fülle trug.
Den Heimiſchen und Fremden bot man Ehren da genug.

21. Soviel ſie Kurzweile gehabt den ganzen Tag,
Das fahrende Geſinde doch keiner Ruhe pflag:
Sie dienten um die Gabe, die man da reichlich fand;
Solch Lob ward zur Zierde König Siegmunds ganzem Land.

22. Da ließ der Fürſt verleihen Siegfried, den jungen Mann,
Das Land und die Burgen, wie ſonſt er ſelbſt getan.
Seinen Schwertgenoſſen gab er mit milder Hand:
So freute ſie die Reiſe, die ſie geführt in das Land.

23. Das Hofgelage währte bis an den ſiebten Tag.
Sieglind, die reiche, der alten Sitte pflag,
Daß ſie dem Sohn zuliebe verteilte rotes Gold:
Sie konnt' es wohl verdienen, daß ihm die Leute waren hold.

24. Da blieb zuletzt kein armer Fahrender mehr im Land,
Ihnen stoben Kleider und Rosse von der Hand,
Als hätten sie zu leben nicht mehr denn einen Tag.
Man sah nie Ingesinde, das so großer Milde pflag.

25. Mit preiswerten Ehren zerging die Lustbarkeit.
Man hörte wohl die Reichen sagen nach der Zeit,
Daß sie dem Jungen gerne wären untertan;
Das begehrte nicht Siegfried, dieser tugendreiche Mann.

26. Solange sie noch lebten, Siegmund und Sieglind,
Wollte nicht Krone tragen der beiden liebes Kind;
Doch wollt' er herrlich wenden alle die Gewalt,
Die in den Landen fürchtete der Degen kühn und wohlgestalt.

27. Ihn durfte niemand schelten; seit er die Waffen nahm,
Pflag er der Ruh' nur selten, der Recke lobesam.
Er suchte nur zu streiten, und seine starke Hand
Macht' ihn zu allen Zeiten in fremden Reichen wohlbekannt.

### Sechzehntes Abenteuer: Wie Siegfried erschlagen ward. (S. 150.)

1. Gunther und Hagen, die Recken wohlgetan,
Berieten mit Untreuen ein Birschen in den Tann.
Mit ihren scharfen Spießen wollten sie jagen Schwein'
Und Bären und Wisente: was mochte Kühneres sein?

2. Da ritt auch mit ihnen Siegfried mit stolzem Sinn.
Man bracht' ihnen Speise aller Art dahin.
An einem kühlen Brunnen ließ er da das Leben.
Den Rat hatte Brunhild, König Gunthers Weib, gegeben.

3. Da ging der kühne Degen hin, wo er Kriemhild fand.
Schon war aufgeladen das edle Birschgewand
Ihm und den Gefährten: sie wollten über Rhein.
Da konnte Kriemhilden nicht leider zumute sein.

4. Seine liebe Traute küßt' er auf den Mund:
„Gott lasse mich dich, Liebe, noch wiedersehn gesund,
Und mich auch deine Augen; mit holden Freunden dein
Kürze dir die Stunden: ich kann nun nicht bei dir sein."

5. Da gedachte sie der Märe, sie durft' es ihm nicht sagen,
Nach der sie Hagen fragte: da begann zu klagen
Die edle Königstochter, daß sie geboren ward:
Ohne Maßen weinte die wunderschöne Fraue zart.

6. Sie sprach zu dem Recken: „Laßt Euer Jagen sein;
Mir träumte heunt von Leide, wie Euch zwei wilde Schwein'
Über die Heide jagten: da wurden Blumen rot.
Daß ich so bitter weine, das tut mir armen Weibe not.

7. „Wohl muß ich fürchten etlicher Verrat,
Wenn man den und jenen vielleicht beleidigt hat,
Die uns verfolgen könnten mit feindlichem Haß.
Bleibt hier, lieber Herre, mit Treuen rat' ich Euch das."

8. Er sprach: „Liebe Traute, ich kehr' in kurzer Zeit;
Ich weiß nicht, daß hier jemand mir Haß trüg' oder Neid.
Alle deine Freunde sind insgemein mir hold;
Auch verdient' ich von den Degen wohl nicht anderlei Sold."

9. „Ach nein, lieber Siegfried: wohl fürcht' ich deinen Fall.
Mir träumte heunt von Leide, wie über dir zu Tal
Fielen zwei Berge, daß ich dich nie mehr sah:
Und willst du von mir scheiden, das geht mir inniglich nah'."

10. Er umfing mit Armen das tugendreiche Weib,
Mit holden Küssen herzt' er ihr den schönen Leib.
Dann nahm er Urlaub und schied in kurzer Stund';
Sie ersah ihn leider darnach nicht wieder gesund.

11. Da ritten sie von dannen in einen tiefen Tann
Der Kurzweile willen; manch kühner Rittersmann
Ritt mit dem König; hinaus gesendet ward
Auch viel der edeln Speise, die sie brauchten zu der Fahrt.

12. Manch Saumroß zog beladen vor ihnen über Rhein,
Das den Jagdgesellen das Brot trug und den Wein,
Das Fleisch mit den Fischen und Vorrat aller Art,
Wie sie ein reicher König wohl haben mag auf der Fahrt.

13. Da ließ man herbergen bei dem Walde grün
Vor des Wildes Wechsel die stolzen Jäger kühn,
Wo sie da jagen wollten auf einem Werder breit,
Auch Siegfried war gekommen: des wurde Gunthern Bescheid.

14. Von den Jagdgesellen ward umhergestellt
Die Wart' an allen Enden; da sprach der kühne Held,
Siegfried, der starke: „Wer soll uns in den Tann
Nach dem Wilde weisen, ihr Degen kühn und wohlgetan?"

15. „Wir müssen uns scheiden", sprach Hagen alsbald,
„Eh' wir beginnen zu jagen hier im Wald:
So mögen wir erkennen, ich und der Herre mein,
Wer die besten Jäger bei dieser Waldreise sei'n.

16. „Leute und Hunde, wir teilen uns darein;
Dann fährt, wohin ihn lüstet, jeglicher allein,
Und wer das Beste jagte, dem sagen wir den Dank."
Da weilten die Jäger beieinander nicht mehr lang.

17. Da sprach der edle Siegfried: „Der Hunde hab' ich Rat
Bis auf einen Bracken, der so genossen hat,
Daß er die Fährte spüre der Tiere durch den Tann.
Wir kommen wohl zum Jagen!" sprach der Kriemhilde Mann.

18. Da nahm ein alter Jäger einen Spürhund hinter sich
Und brachte den Herren, eh' lange Zeit verstrich,
Wo sie viel Wildes fanden; was des erstöbert ward,
Das erjagten die Gesellen, wie heut' noch guter Jäger Art.

19. Was da der Brack ersprengte, das schlug mit seiner Hand
Siegfried, der kühne, der Held aus Niederland.
Sein Roß lief so geschwinde, daß ihm nicht viel entraun;
Das Lob er bei dem Jagen vor ihnen allen gewann.

20. Er war in allen Dingen mannhaft genug.
Das erste der Tiere, die er zu Tode schlug,
Ein gewaltig Wildschwein, das traf des Helden Hand;
Nicht lang darauf der Degen einen grimmen Leuen fand.

21. Als den der Hund ersprengte, schoß er ihn mit dem Bogen
Und dem scharfen Pfeile, den er darauf gezogen;
Der Leu lief nach dem Schusse nur dreier Sprünge lang.
Seine Jagdgesellen, die sagten Siegfrieden Dank.

22. Einen Wisent schlug er wieder darnach und einen Elk,
Vier starker Auer nieder und einen grimmen Schelk.
So schnell trug ihn die Mähre, daß ihm nichts entsprang:
Hinden und Hirsche wurden viele sein Fang.

23. Einen großen Eber trieb der Spürhund auf.
Als der flüchtig wurde, da kam in schnellem Lauf
Alles Jagens Meister und nahm zum Ziel ihn gleich;
Anlief das Schwein im Zorne diesen Helden tugendreich.

24. Da schlug es mit dem Schwerte der Kriemhilde Mann;
Das hätt' ein andrer Jäger nicht so leicht getan.
Als es nun gefällt lag, fing man den Spürhund.
Seine reiche Beute wurde den Burgunden alle kund.

25. Da sprachen seine Jäger: „Kann es füglich sein,
So laßt uns, Herr Siegfried, des Wilds ein Teil gedeihn;
Ihr wollt uns heute leeren den Berg und auch den Tann."
Darob begann zu lächeln der Degen kühn und wohlgetan.

26. Da vernahm man allenthalben Lärmen und Getos.
Von Leuten und von Hunden ward der Schall so groß,
Man hörte widerhallen den Berg und auch den Tann.
Vierundzwanzig Meuten hatten die Jäger losgetan.

27. Da wurde viel des Wildes vom grimmen Tod ereilt.
Sie wähnten es zu fügen, daß i h n e n zugeteilt
Der Preis des Jagens würde: das konnte nicht geschehn,
Als bei der Feuerstätte der starke Siegfried ward gesehn.

28. Die Jagd war zu Ende, doch noch nicht ganz und gar.
Zu der Feuerstelle brachte der Jäger Schar
Häute mancher Tiere und des Wilds genug.
Hei! was des zur Küche des Königs Ingesinde trug!

29. Da ließ der König künden den Jägern wohlgebor'n,
Daß er zum Imbiß wolle; da wurde laut ins Horn
Einmal gestoßen: so machten sie bekannt,
Daß man den edeln Fürsten nun bei den Herbergen fand.

30. Da sprach ein Jäger Siegfrieds: „Mit eines Hornes Schall
Ward uns kundgegeben, Herr, daß wir all'
Zur Herberge sollen; erwidr' ich's, das behagt."
Da ward nach den Gesellen mit Blasen lange gefragt.

31. Da sprach der edle Siegfried: „Nun räumen wir den Wald".
Sein Roß trug ihn eben; die andern folgten bald.
Sie ersprengten mit dem Schalle ein Waldtier fürchterlich,
Einen wilden Bären; da sprach der Degen hinter sich:

32. „Ich schaff' uns Jagdgesellen eine Kurzweil.
Da seh' ich einen Bären; den Bracken löst vom Seil.
Zu den Herbergen soll mit uns der Bär:
Er kann uns nicht entrinnen, und flöh' er auch noch so sehr."

33. Da lösten sie den Bracken; der Bär sprang hindann.
Da wollt' ihn erreiten der Kriemhilde Mann.
Er kam in eine Bergschlucht: da konnt' er ihm nicht bei;
Das starke Tier wähnte von den Jägern schon sich frei.

34. Da sprang von seinem Rosse der stolze Ritter gut
Und begann ihm nachzulaufen. Das Tier war ohne Hut,
Es konnt' ihm nicht entrinnen: er fing es allzuhand;
Ohn' es zu verwunden, der Degen eilig es band.

35. Kratzen oder beißen konnt' es nicht den Mann;
Er band es an den Sattel; aufsaß der Schnelle dann
Und bracht' es an die Feuerstatt in seinem hohen Mut
Zu einer Kurzweile, dieser Recke kühn und gut.

36. Er ritt zur Herberge in welcher Herrlichkeit!
Sein Speer war gewaltig, stark dazu und breit;
Eine schmucke Waffe hing ihm herab bis auf den Sporn;
Von rotem Golde führte der Held ein herrliches Horn.

37. Von bessern Birschgewande hört' ich niemals sagen.
Einen Rock von schwarzem Zeuge sah man ihn tragen
Und einen Hut von Zobel, der reich war genug.
Hei! was edler Borten an seinem Köcher er trug!

38. Ein Vlies von einem Panther war darauf gezogen
Des Wohlgeruches wegen. Auch trug er einen Bogen,
Mit einer Winde mußt' ihn ziehen an
Wer ihn spannen wollte, er hätt' es selbst denn getan.

39. Von Fischotterhäuten war all sein Gewand,
Das man von Kopf zu Füßen bunt übergossen fand.
Aus dem lichten Rauchwerk zu beiden Seiten hold
An dem kühnen Jägermeister schien mancher Flitter von Gold.

40 Auch führt' er Balmungen, das breite, schmucke Schwert;
Das war solcher Schärfe, nichts blieb unversehrt,
Wenn man es schlug auf Helme: seine Schneiden waren gut.
Der herrliche Jäger trug gar hoch seinen Mut.

41 Wenn ich euch der Märe ganz bescheiden soll,
So war sein edler Köcher guter Pfeile voll
Mit goldenen Röhren, die Eisen händebreit.
Was er traf mit Schießen, dem war das Ende nicht weit.

42. Da ritt der edle Ritter weidlich aus dem Tann;
Gunthers Leute sahen, wie er ritt heran.
Sie liefen ihm entgegen und hielten ihm das Roß;
Da trug er an dem Sattel einen Bären stark und groß.

43. Als er vom Roß gestiegen, löst' er ihm das Band
Vom Mund und von den Füßen; die Hunde gleich zur Hand
Begannen laut zu heulen, als sie den Bären sahn.
Das Tier zu Walde wollte, das erschreckte manchen Mann.

44. Der Bär in die Küche von dem Lärm geriet;
Hei, was er Küchenknechte da vom Feuer schied!
Gerückt ward mancher Kessel, verschleudert mancher Brand;
Hei! was man guter Speisen in der Asche liegen fand!

45. Da ſprang von den Sitzen Herr und Knecht zumal.
Der Bär begann zu zürnen; der König gleich befahl,
Der Hunde Schar zu löſen, die an den Seilen lag;
Und wär' es wohl geendet, ſie hätten fröhlichen Tag.

46. Mit Bogen und mit Spießen, man ſäumte ſich nicht mehr,
Liefen hin die Schnellen, wo da ging der Bär;
Doch wollte niemand ſchießen, von Hunden war's zu voll.
So laut war das Getöſe, daß rings der Bergwald erſcholl.

47. Der Bär begann zu fliehen vor der Hunde Zahl;
Ihm konnte niemand folgen als Kriemhilds Gemahl.
Er erlief ihn mit dem Schwerte, zu Tod' er ihn da ſchlug;
Wieder zu dem Feuer das Geſind' den Bären trug.

48. Da ſprachen, die es ſahen, es wär' ein ſtarker Mann.
Die ſtolzen Jagdgeſellen rief man zu Tiſch' heran.
Auf ſchönem Anger ſaßen der Helden da genug.
Hei! was man Ritterſpeiſe vor die ſtolzen Jäger trug!

49. Die Schenken waren ſäumig, ſie brachten nicht den Wein;
So gut bewirtet mochten ſonſt Helden nimmer ſein.
Wären manche drunter nicht ſo falſch dabei,
So wären wohl die Degen aller Schanden bloß und frei.

50. Des wurde da nicht inne der verratne kühne Mann,
Daß man ſolche Tücke wider ſein Leben ſpann.
Er war in höf'ſchen Tugenden alles Truges bar;
Seines Todes mußt' entgelten, dem es nie ein Frommen war.

51. Da ſprach der edle Siegfried: „Mich verwundert ſehr,
Man trägt uns aus der Küche doch ſoviel daher,
Was bringen uns die Schenken nicht dazu den Wein?
Pflegt man ſo der Jäger, will ich nicht Jagdgeſelle ſein.

52. „Ich möcht' es doch verdienen, bedächte man mich gut."
Von ſeinem Tiſch der König ſprach mit falſchem Mut:
„Wir büßen Euch ein andermal, was heut' uns muß entgehn:
Die Schuld liegt an Hagen, der will uns verdurſten ſehn."

53. Da ſprach von Tronje Hagen: „Lieber Herre mein,
Ich wähnte, das Birſchen ſollte heute ſein
Fern im Spechtsharte: den Wein hinſandt' ich dort.
Heut' gibt es nichts zu trinken, doch vermeid' ich es hinfort."

54. Da ſprach der edle Siegfried: „Ich weiß Euch wenig Dank:
Man ſollte ſieben Säumer mit Met und Lautertrank
Mir hergeſendet haben; konnte das nicht ſein,
So ſollte man uns näher geſiedelt haben dem Rhein."

55. Da ſprach von Tronje Hagen: „Ihr edeln Ritter ſchnell,
Ich weiß hier in der Nähe einen kühlen Quell:
Daß ihr mir nicht zürnet, da rat' ich hinzugehn."
Der Rat war manchem Degen zu großem Leide geſchehn.

56. Siegfried den Recken zwang des Durſtes Not;
Den Tiſch hinwegzurücken der Held alsbald gebot:
Er wollte vor die Berge zu dem Brunnen gehn.
Da war der Rat aus Argliſt von den Degen geſchehn.

57. Man hieß das Wild auf Wagen führen in das Land,
Das da verhauen hatte Siegfriedens Hand.
Wer es auch sehen mochte, sprach großen Ruhm ihm nach.
Hagen seine Treue sehr an Siegfrieden brach.

58. Als sie von dannen wollten zu der Linde breit,
Da sprach von Tronje Hagen: „Ich hörte jederzeit,
Es könne niemand folgen Kriemhilds Gemahl,
Wenn er rennen wolle; hei! schauten wir das einmal!"

59. Da sprach von Niederlanden der Degen unverzagt:
„Das mögt ihr wohl versuchen, wenn ihr mit mir wagt
Einen Wettlauf nach dem Brunnen. Soll das geschehn,
So habe der gewonnen, den wir den vordersten sehn."

60. „Wohl, laßt es uns versuchen", sprach Hagen der Degen.
Da sprach der starke Siegfried: „So will ich mich legen,
Verlier' ich, euch zu Füßen nieder in das Gras."
Als er das erhörte, wie lieb war König Gunthern das!

61. Da sprach der kühne Degen: „Noch mehr will ich euch sagen:
Gewand und Gewaffen will ich bei mir tragen,
Den Speer samt dem Schilde und all mein Birschgewand."
Das Schwert und den Köcher um die Glieder schnell er band.

62. Die Kleider vom Leibe zogen jene da;
In zwei weißen Hemden man beide stehen sah.
Wie zwei wilde Panther liefen sie durch den Klee;
Man sah bei dem Brunnen den schnellen Siegfried doch eh'.

63. Den Preis in allen Dingen vor manchem man ihm gab.
Da löst' er schnell die Waffe, den Köcher legt' er ab,
Den starken Speer lehnt' er an den Lindenast;
Bei des Brunnens Flusse stand der herrliche Gast.

64. Die höf'sche Zucht erwies da Siegfried daran;
Den Schild legt' er nieder, wo der Brunnen rann;
Wie sehr ihn auch dürstete, der Held nicht eher trank,
Bis der Wirt getrunken; dafür gewann er übeln Dank.

65. Der Brunnen war lauter, kühl und auch gut:
Da neigte sich Gunther hernieder zu der Flut.
Als er getrunken hatte, erhob er sich hindann;
Also hätt' auch gerne der kühne Siegfried getan

66. Da entgalt er seiner höf'schen Zucht; den Bogen und das Schwert
Trug beiseite Hagen von dem Degen wert.
Dann sprang er zurücke, wo den Speer er fand,
Und sah nach einem Zeichen an des Kühnen Gewand.

67. Als der edle Siegfried aus dem Brunnen trank,
Er schoß ihn durch das Kreuze, daß aus der Wunde sprang
Das Blut von seinem Herzen an Hagens Gewand.
Kein Held begeht wohl wieder solche Untat nachderhand.

68. Den Speerschaft im Herzen ließ er ihm stecken tief.
Wie im Fliehen Hagen da so grimmig lief,
So lief er wohl auf Erden nie vor einem Mann!
Als da Siegfried Kunde der schweren Wunde gewann,

69. Der Held in wildem Toben von dem Brunnen sprang;
Ihm ragte von der Achsel eine Speerstange lang.
Nun wähnt' er da zu finden Bogen oder Schwert,
So hätt' er wohl Hagen den verdienten Lohn gewährt.

70. Als der Todwunde da sein Schwert nicht fand,
Da blieb ihm nichts weiter als der Schildesrand.
Den rafft' er von den Brunnen und rannte Hag'nen an:
Da konnt' ihm nicht entrinnen König Gunthers Untertan.

71. Wie wund er war zum Tode, so kräftig doch er schlug,
Daß von dem Schilde nieder wirbelte genug
Des edeln Gesteines; der Schild zerbrach auch fast:
So gern gerochen hätte sich der herrliche Gast.

72. Da mußte Hagen straucheln von seiner Hand zu Tal;
Der Anger von den Schlägen erscholl im Widerhall.
Hätt' er sein Schwert in Händen, so wär' es Hagens Tod.
Sehr zürnte der Wunde; es zwang ihn wahrhafte Not.

73. Seine Farbe war erblichen; er konnte nicht mehr stehn.
Seines Leibes Stärke mußte ganz zergehn,
Da er des Todes Zeichen in lichter Farbe trug.
Er ward hernach betrauert von schönen Frauen genug.

74. Da fiel in die Blumen der Kriemhilde Mann.
Das Blut von seiner Wunde stromweis' niederrann.
Da begann er die zu schelten, ihn zwang die große Not,
Die da geraten hatten mit Untreue seinen Tod.

75. Da sprach der Todwunde: „Weh', ihr bösen Zagen,
Was helfen meine Dienste, da ihr mich habt erschlagen?
Ich war euch stets gewogen und sterbe nun daran.
Ihr habt an euern Freunden leider übelgetan.

76. „Die sind davon bescholten, was ihrer auch geborn
Wird nach diesem Tage: ihr habt euern Zorn
Allzusehr gerochen an dem Leben mein.
Mit Schanden geschieden sollt ihr von guten Recken sein."

77. Hinliefen all' die Ritter, wo er erschlagen lag.
Es war ihrer vielen ein freudeloser Tag.
Wer Treue kannt' und Ehre, der hat ihn beklagt:
Das verdient' auch wohl um alle dieser Degen unverzagt.

78. Der König der Burgunden klagt' auch seinen Tod.
Da sprach der Todwunde: „Das tut nimmer not,
Daß der um Schaden weine, von dem man ihn gewann:
Er verdient groß Schelten: er hätt' es besser nicht getan."

79. Da sprach der grimme Hagen: „Ich weiß nicht, was Euch reut.
Nun hat doch gar ein Ende, was uns je gedräut.
Es gibt nun nicht manchen, der uns darf bestehn;
Wohl mir, daß seiner Herrschaft durch mich ein End' ist geschehn."

80. „Ihr mögt Euch leichtlich rühmen", sprach der von Niederland.
Hätt' ich die mörderische Weis' an Euch erkannt,
Vor Euch behütet hätt' ich Leben wohl und Leib.
Mich dauert nichts auf Erden als Frau Kriemhild, mein Weib.

81. „Nun mög' es Gott erbarmen, daß ich gewann den Sohn,
Der jetzt auf alle Zeiten den Vorwurf hat davon,
Daß seine Freunde jemand meuchlerisch erschlagen:
Hätt' ich Zeit und Weile, das müßt' ich billig beklagen.

82. „Wohl nimmer hat begangen so großen Mord ein Mann",
Sprach er zu dem König, „als Ihr an mir getan.
Ich erhielt Euch unbescholten in großer Angst und Not;
Ihr habt mir schlimm vergolten, daß ich so wohl es Euch bot."

83. Da sprach im Jammer weiter der todwunde Held:
„Wollt Ihr, edler König, noch auf dieser Welt
An jemand Treue pflegen, so laßt befohlen sein
Doch auf Eure Gnade Euch die liebe Traute mein.

84. „Es komm' ihr zugute, daß sie Eure Schwester ist:
Bei aller Fürsten Tugend helft ihr zu jeder Frist.
Mein mögen lange harren mein Vater und mein Lehn:
Nie ist an liebem Freunde einem Weib so leid geschehn."

85. Er krümmte sich in Schmerzen, wie ihm die Not gebot,
Und sprach aus jammerndem Herzen: „Mein mordlicher Tod
Mag Euch noch gereuen in der Zukunft Tagen:
Glaubt mir in rechten Treuen, daß Ihr Euch selber habt erschlagen."

86. Die Blumen allenthalben waren vom Blute naß.
Da rang er mit dem Tode, nicht lange tat er das,
Denn des Todes Waffe schnitt ihn allzusehr.
Da mochte nicht mehr reden dieser Degen kühn und hehr.

87. Als die Herren sahen, der edle Held wär' tot,
Sie legten ihn auf einen Schild, der war von Golde rot;
Dann gingen sie zu Rate, wie es sollt' ergehn,
Daß es verhohlen bliebe, es sei von Hagen geschehn.

88. Da sprachen ihrer viele: „Ein Unfall ist geschehn;
Ihr sollt es alle hehlen und einer Rede stehn:
Als er allein ritt jagen, der Kriemhilde Mann,
Erschlugen ihn die Schächer, als er fuhr durch den Tann."

## 190. Aus „Hermann und Dorothea". (1796.)

Von W. v. Goethe.

Werke. Nach den vorzüglichsten Quellen revidierte Ausgabe. Berlin 1868. Tl. II, S. 68 (I. Gesang).

„Hab' ich den Markt und die Straßen doch nie so einsam gesehen!
Ist doch die Stadt wie gekehrt! wie ausgestorben! Nicht fünfzig,
Deucht mir, blieben zurück von allen unsern Bewohnern.
Was die Neugier nicht tut! So rennt und läuft nun ein jeder,
Um den traurigen Zug der armen Vertriebnen zu sehen.
Bis zum Dammweg, welchen sie ziehn, ist's immer ein Stündchen,
Und da läuft man hinab im heißen Staube des Mittags.
Möcht' ich mich doch nicht rühren vom Platz, um zu sehen das Elend
Guter fliehender Menschen, die nun mit geretteter Habe
Leider, das überrheinische Land, das schöne, verlassend,
Zu uns herüberkommen und durch den glücklichen Winkel
Dieses fruchtbaren Tals und seiner Krümmungen wandern.
Trefflich hast du gehandelt, o Frau, daß du milde den Sohn fort
Schicktest mit altem Linnen und etwas Essen und Trinken,

Um es den Armen zu spenden; denn Geben ist Sache des Reichen.
Was der Junge doch fährt! und wie er bändigt die Hengste!
Sehr gut nimmt das Kütschchen sich aus, das neue; bequemlich
Säßen viere darin und auf dem Bocke der Kutscher.
Diesmal fuhr er allein; wie rollt es leicht um die Ecke!"
So sprach, unter dem Tore des Hauses sitzend am Markte,
Wohlbehaglich zur Frau der Wirt zum Goldenen Löwen.
Und es versetzte darauf die kluge, verständige Hausfrau:
„Vater, nicht gerne verschenk' ich die abgetragene Leinwand;
Denn sie ist zu manchem Gebrauch und für Geld nicht zu haben,
Wenn man ihrer bedarf. Doch heute gab ich so gerne
Manches bessere Stück an Überzügen und Hemden;
Denn ich hörte von Kindern und Alten, die nackend dahergehn.
Wirst du mir aber verzeihn? denn auch dein Schrank ist geplündert.
Und besonders den Schlafrock mit indianischen Blumen,
Von dem feinsten Kattun, mit feinem Flanelle gefüttert,
Gab ich hin; er ist dünn und alt und ganz aus der Mode."
Aber es lächelte drauf der treffliche Hauswirt und sagte:
„Ungern vermiss' ich ihn doch, den alten kattunenen Schlafrock,
Echt ostindischen Stoffs; so etwas kriegt man nicht wieder.
Wohl! ich trug ihn nicht mehr. Man will jetzt freilich, der Mann soll
Immer gehn im Surtout und in der Pekesche sich zeigen,
Immer gestiefelt sein; verbannt ist Pantoffel und Mütze."
„Siehe!" versetzte die Frau, „dort kommen schon einige wieder,
Die den Zug mit gesehn; er muß doch wohl schon vorbei sein.
Seht, wie allen die Schuhe so staubig sind! wie die Gesichter
Glühen! und jeglicher führt das Schnupftuch und wischt sich den Schweiß ab
Möcht' ich doch auch in der Hitze nach solchem Schauspiel soweit nicht
Laufen und leiden! Fürwahr, ich habe genug am Erzählten."
Und es sagte darauf der gute Vater mit Nachdruck:
„Solch ein Wetter ist selten zu solcher Ernte gekommen,
Und wir bringen die Frucht herein, wie das Heu schon herein ist,
Trocken; der Himmel ist hell, es ist kein Wölkchen zu sehen,
Und von Morgen wehet der Wind mit lieblicher Kühlung.
Das ist beständiges Wetter! und überreif ist das Korn schon;
Morgen fangen wir an zu schneiden die reichliche Ernte."
Als er so sprach, vermehrten sich immer die Scharen der Männer
Und der Weiber, die über den Markt sich nach Hause begaben;
Und so kam auch zurück mit seinen Töchtern gefahren
Rasch, an die andere Seite des Markts, der begüterte Nachbar,
An sein erneuertes Haus, der erste Kaufmann des Ortes,
Im geöffneten Wagen (er war in Landau verfertigt).
Lebhaft wurden die Gassen; denn wohl war bevölkert das Städtchen,
Mancher Fabriken befliß man sich da und manches Gewerbes.
Und so saß das trauliche Paar, sich unter dem Torweg
Über das wandernde Volk mit mancher Bemerkung ergötzend.
Endlich aber begann die würdige Hausfrau und sagte:
„Seht! dort kommt der Prediger her; es kommt auch der Nachbar
Apotheker mit ihm: die sollen uns alles erzählen,
Was sie draußen gesehn und was zu schauen nicht froh macht."
Freundlich kamen heran die beiden und grüßten das Eh'paar,
Setzten sich auf die Bänke, die hölzernen, unter dem Torweg,

Staub von den Füßen schüttelnd und Luft mit dem Tuche sich fächelnd.
Da begann denn zuerst, nach wechselseitigen Grüßen,
Der Apotheker zu sprechen und sagte, beinahe verdrießlich:
„So sind die Menschen fürwahr! und einer ist doch wie der andre,
Daß er zu gaffen sich freut, wenn den Nächsten ein Unglück befället!
Läuft doch jeder, die Flamme zu sehn, die verderblich emporschlägt,
Jeder, den armen Verbrecher, der peinlich zum Tode geführt wird.
Jeder spaziert nun hinaus, zu schauen der guten Vertriebnen
Elend, und niemand bedenkt, daß ihn das ähnliche Schicksal
Auch, vielleicht zunächst, betreffen kann, oder doch künftig;
Unverzeihlich sind' ich den Leichtsinn, doch liegt er im Menschen."
Und es sagte darauf der edle, verständige Pfarrherr,
Er, die Zierde der Stadt, ein Jüngling, näher dem Manne.
Dieser kannte das Leben und kannte der Hörer Bedürfnis.
War vom hohen Werte der Heiligen Schriften durchdrungen,
Die uns der Menschen Geschick enthüllen und ihre Gesinnung;
Und so kannt' er auch wohl die besten weltlichen Schriften.
Dieser sprach: „Ich table nicht gerne, was immer dem Menschen
Für unschädliche Triebe die gute Mutter Natur gab;
Denn was Verstand und Vernunft nicht immer vermögen, vermag oft
Solch ein glücklicher Hang, der unwiderstehlich uns leitet.
Lockte die Neugier nicht den Menschen mit heftigen Reizen,
Sagt! erführ' er wohl je, wie schön sich die weltlichen Dinge
Gegeneinander verhalten? Denn erst verlangt er das Neue,
Suchet das Nützliche dann mit unermüdetem Fleiße;
Endlich begehrt er das Gute, das ihn erhebet und wert macht.
In der Jugend ist ihm ein froher Gefährte der Leichtsinn,
Der die Gefahr ihm verbirgt und heilsam geschwinde die Spuren
Tilget des schmerzlichen Übels, sobald es nur irgend vorbeizog.
Freilich ist er zu preisen, der Mann, dem in reiferen Jahren
Sich der gesetzte Verstand aus solchem Frohsinn entwickelt,
Der im Glück wie im Unglück sich eifrig und tätig bestrebet;
Denn das Gute bringt er hervor und ersetzet den Schaden."
Freundlich begann sogleich die ungeduldige Hausfrau:
„Saget uns, was Ihr gesehn; denn das begehrt' ich zu wissen."
„Schwerlich", versetzte darauf der Apotheker mit Nachdruck,
„Werd' ich so bald mich freu'n nach dem, was ich alles erfahren.
Und wer erzählet es wohl, das mannigfaltigste Elend!
Schon von ferne sahn wir den Staub, noch eh' wir die Wiesen
Abwärts kamen; der Zug war schon von Hügel zu Hügel
Unabsehlich dahin, man konnte wenig erkennen.
Als wir nun aber den Weg, der quer durchs Tal geht, erreichten,
War Gedräng' und Getümmel noch groß der Wandrer und Wagen.
Leider sahen wir noch genug der Armen vorbeiziehn,
Konnten einzeln erfahren, wie bitter die schmerzliche Flucht sei,
Und wie froh das Gefühl des eilig geretteten Lebens.
Traurig war es zu sehn, die mannigfaltige Habe,
Die ein Haus nur verbirgt, das wohlversehne, und die ein
Guter Wirt umher an die rechten Stellen gesetzt hat,
Immer bereit zum Gebrauche, denn alles ist nötig und nützlich;
Nun zu sehen das alles, auf mancherlei Wagen und Karren
Durcheinander geladen, mit Übereilung geflüchtet.

Über dem Schranke lieget das Sieb und die wollene Decke,
In dem Backtrog das Bett, und das Leintuch über dem Spiegel.
Ach! und es nimmt die Gefahr, wie wir beim Brande vor zwanzig
Jahren auch wohl gesehn, dem Menschen alle Besinnung,
Daß er das Unbedeutende faßt und das Teure zurückläßt.
Also führten auch hier, mit unbesonnener Sorgfalt,
Schlechte Dinge sie fort, die Ochsen und Pferde beschwerend:
Alte Bretter und Fässer, den Gänsestall und den Käfig.
Auch so keuchten die Weiber und Kinder, mit Bündeln sich schleppend,
Unter Körben und Butten voll Sachen keines Gebrauches;
Denn es verläßt der Mensch so ungern das Letzte der Habe.
Und so zog auf dem staubigen Weg der drängende Zug fort,
Ordnungslos und verwirrt, mit schwächeren Tieren der eine
Wünschte langsam zu fahren, ein anderer emsig zu eilen.
Da entstand ein Geschrei der gequetschten Weiber und Kinder,
Und ein Blöken des Viehes, dazwischen der Hunde Gebelfer,
Und ein Wehlaut der Alten und Kranken, die hoch auf dem schweren,
Übergepackten Wagen auf Betten saßen und schwankten.
Aber, aus dem Geleise gedrängt, nach dem Rande des Hochwegs
Irrte das knarrende Rad; es stürzt' in den Graben das Fuhrwerk,
Umgeschlagen, und weithin entstürzten im Schwunge die Menschen
Mit entsetzlichem Schrei'n in das Feld hin, aber doch glücklich.
Später stürzten die Kasten und fielen näher dem Wagen.
Wahrlich, wer im Fallen sie sah, der erwartete nun sie
Unter der Last der Kisten und Schränke zerschmettert zu schauen.
Und so lag zerbrochen der Wagen, und hilflos die Menschen;
Denn die übrigen gingen und zogen eilig vorüber,
Nur sich selber bedenkend und hingerissen vom Strome.
Und wir eilten hinzu und fanden die Kranken und Alten,
Die zu Hauf' und im Bett schon kaum ihr dauerndes Leiden
Trügen, hier auf dem Boden, beschädigt, ächzen und jammern,
Von der Sonne verbrannt und erstickt vom wogenden Staube."
Und es sagte darauf, gerührt, der menschliche Hauswirt:
„Möge doch Hermann sie treffen und sie erquicken und kleiden,
Ungern würd' ich sie sehn! mich schmerzt der Anblick des Jammers.
Schon von dem ersten Bericht so großer Leiden gerühret,
Schickten wir eilend ein Scherflein von unserm Überfluß, daß nur
Einige würden gestärkt, und schienen uns selber beruhigt.
Aber laßt uns nicht mehr die traurigen Bilder erneuern;
Denn es beschleichet die Furcht gar bald die Herzen der Menschen,
Und die Sorge, die mehr als selbst mir das Übel verhaßt ist.
Tretet herein in den hinteren Raum, das kühlere Sälchen.
Nie scheint die Sonne dahin, nie dringet wärmere Luft dort
Durch die stärkeren Mauern; und Mütterchen bringt uns ein Gläschen
Dreiundachtziger her, damit wir die Grillen vertreiben.
Hier ist nicht freundlich zu trinken; die Fliegen umsummen die Gläser."
Und sie gingen dahin und freuten sich alle der Kühlung.
Sorgsam brachte die Mutter des klaren, herrlichen Weines,
In geschliffener Flasche auf blankem, zinnernem Runde,
Mit den grünlichen Römern, den echten Bechern des Rheinweins. —
Und so sitzend umgaben die drei den glänzend gebohnten,
Runden, braunen Tisch, er stand auf mächtigen Füßen.

Heiter klangen sogleich die Gläser des Wirtes und Pfarrers;
Doch unbeweglich hielt der dritte denkend das seine,
Und es fordert' ihn auf der Wirt mit freundlichen Worten:
„Frisch, Herr Nachbar, getrunken! denn noch bewahrte vor Unglück
Gott uns gnädig und wird auch künftig uns also bewahren.
Denn wer erkennet es nicht, daß seit dem schrecklichen Brande,
Da er so hart uns gestraft, er uns nun beständig erfreut hat
Und beständig beschützt, so wie der Mensch sich des Auges
Köstlichen Apfel bewahrt, der vor allen Gliedern ihm lieb ist.
Sollt' er fernerhin nicht uns schützen und Hilfe bereiten?
Denn man sieht es erst recht, wieviel er vermag, in Gefahren.
Sollt' er die blühende Stadt, die er erst durch fleißige Bürger
Neu aus der Asche gebaut und dann sie reichlich gesegnet,
Jetzo wieder zerstören und alle Bemühung vernichten?"
Heiter sagte darauf der treffliche Pfarrer und milde:
„Haltet am Glauben fest, und fest an dieser Gesinnung;
Denn sie macht im Glücke verständig und sicher, im Unglück
Reicht sie den schönsten Trost und belebt die herrlichste Hoffnung."
Da versetzte der Wirt, mit männlichen, klugen Gedanken:
„Wie begrüßt' ich so oft mit Staunen die Fluten des Rheinstroms,
Wenn ich, reisend nach meinem Geschäft, ihm wieder mich nahte!
Immer schien er mir groß und erhob mir Sinn und Gemüte;
Aber ich konnte nicht denken, daß bald sein liebliches Ufer
Sollte werden ein Wall, um abzuwehren den Franken,
Und sein verbreitetes Bett ein allverhindernder Graben.
Seht, so schützt die Natur, so schützen die wackeren Deutschen,
Und so schützt uns der Herr; wer wollte töricht verzagen?
Müde schon sind die Streiter, und alles deutet auf Frieden.
Möge doch auch, wenn das Fest, das lang erwünschte, gefeiert
Wird in unserer Kirche, die Glocke dann tönt zu der Orgel,
Und die Trompete schmettert, das hohe Tedeum begleitend, —
Möge mein Hermann doch auch an diesem Tage, Herr Pfarrer,
Mit der Braut, entschlossen, vor Euch am Altare sich stellen,
Und das glückliche Fest, in allen den Landen begangen,
Auch mir künftig erscheinen, der häuslichen Freuden ein Jahrstag!
Aber ungern seh' ich den Jüngling, der immer tätig
Mir in dem Hause sich regt, nach außen langsam und schüchtern.
Wenig findet er Lust, sich unter Leuten zu zeigen;
Ja, er vermeidet sogar der jungen Mädchen Gesellschaft
Und den fröhlichen Tanz, den alle Jugend begehret."
Also sprach er und horchte. Man hörte der stampfenden Pferde
Fernes Getöse sich nahn, man hörte den rollenden Wagen,
Der mit gewaltiger Eile nun donnert' unter den Torweg.

# B. Lyriſche Poeſie.

(Lied. Elegie. Ode. Hymne.)

## 191. Komm, Troſt der Nacht, o Nachtigall!

Von H. J. Chr. v. Grimmelshauſen.

Der abentheurliche Simplicisſimus. Abdruck der älteſten Originalausgabe (1669), beſorgt von R. Kögel. Halle 1880. S. 21.

1. KOmm Troſt der Nacht, O Nachtigal,
Laß deine Stimm' mit Freudenſchall
Auffs lieblichſte erklingen :,:
Komm, komm, und lob den Schöpffer dein,
Weil andre Vöglein ſchlaffen ſeyn,
Und nicht mehr mögen ſingen:
Laß dein Stimmlein
Laut erſchallen, dan vor allen
Kanſtu loben
GOtt im Himmel hoch dort oben.

2. Obſchon iſt hin der Sonnenſchein,
Und wir im Finſtern müſſen ſeyn,
So können wir doch ſingen :,:
Von Gottes Güt und ſeiner Macht,
Weil uns kan hindern keine Nacht
Sein Lob zuvollenbringen.
Drum dein Stimmlein
Laß erſchallen, dan vor allen
Kanſtu loben
GOtt im Himmel hoch dort oben.

3. Echo, der wilde Widerhall,
Will ſeyn bey dieſem Freudenſchall,
Und läſſet ſich auch hören :,:
Verweiſt uns alle Müdigkeit,
Der wir ergeben allezeit,
Lehrt uns den Schlaff bethören.
Drum dein Stimmlein
Laß erſchallen, dan vor allen
Kanſtu loben
GOtt im Himmel hoch dort oben.

4. Die Sterne, ſo am Himmel ſtehn,
Sich laſſen zum Lob Gottes ſehn,
Und Ehre ihm beweiſen :,:
Die Eul auch, die nicht ſingen kan,
Zeigt doch mit ihrem Heulen an,
Daß ſie Gott auch thu preiſen.
Drum dein Stimmlein
Laß erſchallen, dan vor allen
Kanſtu loben
GOtt im Himmel hoch dort oben.

5. Nur her mein liebſtes Vögelein,
Wir wollen nicht die fäulſte ſeyn,
Und ſchlaffend ligen bleiben :,:
Vielmehr biß daß die Morgenröt,
Erfreuet dieſe Wälderöd,
In Gottes Lob vertreiben.
Laß dein Stimmlein
Laut erſchallen, dan vor allen
Kanſtu loben
GOtt im Himmel hoch dort oben.

## 192. Spaziergang im Walde.

Von M. Opitz.

Martini Opitii Teutſche POËMATA und Ariſtarchus wieder die verachtung Teutſcher Sprach. Straßburg 1624. S. 92.

1. KOmpt laſt vns außſpatzieren,
Zu hören in dem Walt
Die Vögel Muſiciren,
Daß Berg vnd thal erſchalt.

2. Wohl dem der frey kan ſingen,
Wie jhr, jhr Volck der lufft
Mag ſeine ſtimme ſchwingen
Zu der, auff die er hofft.

3. Ich werde nicht erhöret,
Wie hoch ich ſchreyen thue,
Die, ſo mich ſingen lehret,
Stopfft gantz die ohren zu.

4. Mehr wohl dem, der frey lebet,
Wie du, du leichte ſchaar,
In troſt vnd furcht nit ſchwebet,
Iſt auſſer der gefahr.

5. Ihr werd zwar hindergangen,
Doch helt man euch in werth,
Ich bin von der gefangen,
Die meiner nicht begert. . . .

7. Ihr könt noch mittel finden,
Entfliehen auß der pein
Sie muß noch mehr mich binden,
Soll ich erlöſet ſein.

## 193. Der Sommerabend. (1801.)

Von J. Hebel.

Alemannische Gedichte, ins Hochdeutsche übertragen von R. Reinick. Leipzig 1853. S. 67.

1. O sieh, wie ist die Sonne müd',
Sieh, wie sie still nach Hause zieht!
O sie, wie Strahl um Strahl verglimmt,
Wie sie ihr Tüchelchen da nimmt,
Ein Wölkchen, blau mit Rot vermischt,
Und sich damit die Stirne wischt!

2. Wahr ist es, sie hat schlimme Zeit
Im Sommer gar! Der Weg ist weit,
Und Arbeit sind't sie überall. —
In Haus und Feld, in Berg und Tal
Drängt alles sich nach ihrem Schein
Und will von ihr gesegnet sein.

3. Manch Blümlein hat sie ausstaffiert,
Mit Farben so scharmant geziert.
Dem Bienchen gab sie seinen Trunk
Und sagt zu ihm: „Hast auch genung?"
Kam noch ein Käferchen in Eil',
Gewiß bekam es auch sein Teil.

4. Manch Samenhülschen sprengt sie auf
Und holt den Samen draus herauf.
Wie bettelten die Vögelchen,
Wie wetzten sie die Schnäbelchen!
Und keins geht hungrig doch zu Bett',
Das nicht sein Teil im Kröpfchen hätt'.

5. Der Kirsche, die am Baume lacht,
Hat rote Backen sie gemacht.
Und wo im Feld die Ähre schwankt,
Und wo am Pfahl die Rebe rankt,
Gleich kümmert sich die Sonne drum,
Hängt ihnen Laub und Blüten um.

6. Und auf der Bleiche, seht doch an!
Macht sie sich Arbeit, wo sie kann.
Das hat dem Bleicher schon behagt,
Doch hat er nicht „Gott's Lohn!" gesagt.
Ist irgend Wäsche wo im Ort,
Sie trocknet hier, sie trocknet dort.

7. Und wirklich wahr, allüberall,
Wo irgend nur die Sens' im Tal
Durch Gras und durch die Halme ging,
Da macht sie Heu. Wie geht das flink;
Es will 'was sagen, meiner Treu',
Am Morgen Gras, am Abend Heu.

8. Drum ist sie jetzt so schrecklich müd'
Und braucht zum Schlaf kein Abendlied.
Kein Wunder ist es, wenn sie schwitzt!
Sieh, wie sie auf dem Berg da sitzt;
„Schlaft alle wohl!" so ruft sie jetzt
Und lächelt noch zu guter Letzt.

9. Da ist sie weg! Behüt dich Gott!
Der Hahn am Kirchturm, seht, wie rot!
Er guckt ihr nach ins Haus hinein.
Du Naseweis, so laß das sein:
Da hat er es! In guter Ruh'
Zieht sie den roten Vorhang zu.

10. Die gute Frau, wie schade drum,
Ihr Hauskreuz trägt sie auch herum.
Sie lebt mit ihrem Mann nicht gut;
Kommt sie nach Hauf', nimmt er den Hut.
Paßt auf, paßt auf! Jetzt kommt er bald,
Da sitzt er schon im Fichtenwald.

11. Er macht solang', der närr'sche Wicht,
Es scheint, er traut dem Frieden nicht.
So komm! Sie ist ja nicht mehr da!
Ein Augenblick, dann schläft sie ja.
Jetzt steht er auf und schaut ins Tal,
Da grüßt der Frosch ihn überall.

12. Ich denk', wir gehen auch ins Nest.
Wen sein Gewissen ruhig läßt,
Schläft sicher ein auch ohne Lied,
Die Arbeit macht von selber müd';
So manches ist doch heut' vollbracht.
Gott geb' uns eine gute Nacht!

## 194. Hoffnung. (1797.)

Von F. v. Schiller.

Sämtliche Schriften. Historisch-kritische Ausgabe von K. Goedeke. Stuttgart 1867. Bd. XI, S. 264.

1. Es reden und träumen die Menschen viel
Von bessern künftigen Tagen,
Nach einem glücklichen, goldenen Ziel
Sieht man sie rennen und jagen,
Die Welt wird alt und wird wieder jung,
Doch der Mensch hofft immer Verbesserung!

2. Die Hoffnung führt ihn ins Leben ein,
Sie umflattert den fröhlichen Knaben,
Den Jüngling locket ihr Zauberschein,
Sie wird mit dem Greis nicht begraben.
Denn beschließt er im Grabe den müden Lauf,
Noch am Grabe pflanzt er — die Hoffnung auf.

3. Es ist kein leerer schmeichelnder Wahn,
Erzeugt im Gehirne des Toren;
Im Herzen kündet es laut sich an:
Zu was Besserm sind wir geboren,
Und was die innere Stimme spricht,
Das täuscht die hoffende Seele nicht.

## 195. Wandrers Nachtlieder.

Von W. v. Goethe.

Werke. Nach den vorzüglichsten Quellen revidierte Ausgabe. Berlin 1868. Tl. I. (Gedichte. Herausgegeben von H. Strehlke.) S. 62. 63.

a. (12. Februar 1776.)

Der du von dem Himmel bist,
Alles Leid und Schmerzen stillest,
Den, der doppelt elend ist,
Doppelt mit Erquickung füllest,
Ach, ich bin des Treibens müde!
Was soll all der Schmerz und Lust?
Süßer Friede,
Komm, ach komm in meine Brust!

b. (Nacht vom 6. auf 7. September 1780.)

Über allen Gipfeln
Ist Ruh',
In allen Wipfeln
Spürest du
Kaum einen Hauch;
Die Vögelein schweigen im Walde.
Warte nur, balde
Ruhest du auch.

## 196. Die Nacht. (Fragment.)

Von F. Hölderlin.

Sämtliche Werke. Herausgegeben von Chr. Th. Schwab. Stuttgart und Tübingen 1846. Bd. I (Gedichte und Hyperion), S. 95.

Ringsum ruhet die Stadt, still wird die erleuchtete Gasse,
Und mit Fackeln geschmückt, rauschen die Wagen hinweg.
Satt gehn heim, von Freuden des Tags zu ruhen, die Menschen,
Und Gewinn und Verlust wäget ein sinniges Haupt
Wohl zufrieden zu Hauf'; leer steht von Trauben und Blumen,
Und von Werken der Hand ruht der geschäftige Markt.
Aber das Saitenspiel tönt fern aus Gärten; vielleicht, daß
Dort ein Liebender spielt, oder ein einsamer Mann
Ferner Freunde gedenkt und der Jugendzeit; und die Brunnen,
Immer quillend und frisch, rauschen an duftendem Beet.
Still in dämmriger Luft ertönen geläutete Glocken,
Und, der Stunden gedenk, rufet ein Wächter die Zahl.
Jetzt auch kommet ein Wehn und regt die Gipfel des Hains auf.
Sieh! und das Ebenbild unserer Erde, der Mond,
Kommet geheim nun auch. Die schwärmerische, die Nacht, kommt;
Voll mit Sternen und wohl wenig bekümmert um uns,
Glänzt die erstaunende dort, die Fremdlingin unter den Menschen,
Über Gebirgeshöhn traurig und prächtig herauf.

## 197. Ich sah den Wald sich färben.

Von E. v. Geibel.

Gesammelte Werke. Stuttgart 1883. Bd. II (Juniuslieder), S. 57.

1. Ich sah den Wald sich färben,
Die Luft war grau und stumm;
Mir war betrübt zum Sterben,
Und wußt' es kaum, warum.

2. Durchs Feld vom Herbstgestäude
Hertrieb das dürre Laub;
Da dacht' ich: deine Freude
Ward so des Windes Raub.

3. Dein Lenz, der blütenvolle,
Dein reicher Sommer schwand;
An die gefrorne Scholle
Bist du nun festgebannt.

4. Da plötzlich floß ein klares
Getön in Lüften hoch:
Ein Wandervogel war es,
Der nach dem Süden zog.

5. Ach, wie der Schlag der Schwingen,
Das Lied ins Ohr mir kam,
Fühlt' ich's wie Trost mir dringen
Zum Herzen wundersam.

6. Es mahnt' aus heller Kehle
Mich ja der flücht'ge Gast:
Vergiß, o Menschenseele,
Nicht, daß du Flügel hast!

## 198. Zwei Lieder.

Von L. Hensel.

Lieder. (Herausgegeben von C. Schlüter.) Paderborn und Münster 1867.

### a. Die Bäume. (1821.) [S. 111.]

1. Wohl alle Werke meines Herrn
Sind ganz vollkommen schön,
Doch mag ich fast vor allen gern
Die lieben Bäume sehn.

2. Sie lehren mich manch heilsam Stück
Für meinen Pilgerlauf,
Und ziehn wohl oftmals meinen Blick
Zum Himmel hoch hinauf.

3. Die alte, hohe Eiche spricht:
„Sei stark, o Menschenherz!
Im Glauben steh und wanke nicht
Und streck dich himmelwärts."

4. Die Linde sagt: „Sei mild gesinnt,
Sei friedlich, sonder Harm,
Und breite jedem Müden lind
Den schattenreichen Arm."

5. Mir winkt der Apfelbäume Frucht:
„Dein Glaube sei nicht Schein.
Und wenn der Gärtner Früchte sucht,
So ernt' er reichlich ein."

6. Die Tanne rauscht: „Sei ernst, sei treu,
O Seel', in Freud' und Weh:
Dasselbe Kleid im linden Mai,
Dasselb' in Sturm und Schnee."

7. Doch Birke, du mein liebster Baum,
In bräutlich-schönster Zier,
Erblick' ich dich in weitem Raum,
So lacht das Herz in mir.

8. Im weißen Kleid, in grüner Kron',
O Bäumlein, stehst du hier; —
O ständ' ich, Herr! an deinem Thron
Dereinst in solcher Zier! —

9. Ihr lieben Bäume, mahnet noch
Recht oft mein irdisch Herz
Und wendet meine Seele doch
In Sehnsucht himmelwärts.

### b. Aufforderung. (Wiedenbrück 1867.) [S. 141.]

1. Hörst du der Vöglein Weisen
Lieblich im grünenden Hain
Gott, den Allgütigen, preisen:
Seele, o stimme mit ein!

2. Grüßt dich der farbige Bogen
Hoch dort vom Himmel herab:
Preise ihn, der ihn gezogen,
Der soviel Schönes dir gab!

3. Winkt dir der Obstbäume Segen,
Wogen dir nahe und fern
Goldene Saaten entgegen:
Danke dann freudig dem Herrn!

4. Siehst du die Sternlein erglühen,
Zahllos und flimmernd und rein,
Friedlich die Mondsichel ziehen:
Seele, o denke dann sein!

5. Schwinge dich auf aus dem Staube,
Der dich belastend umgibt;
Liebe und hoffe und glaube,
Daß Gott als Vater dich liebt.

## 199. Hoffen und Bangen. (April 1832.)

Von F. Rückert.

Gesammelte poetische Werke. Frankfurt a. M. 1868. Bd. VII, S. 382.

1. Etwas wünschen und verlangen,
Etwas hoffen muß das Herz,
Etwas zu verlieren bangen,
Und um etwas fühlen Schmerz.

2. Deine Lust und deine Wonne
Mußt du an was immer sehn,
Soll vergeblich Mond und Sonne
Nicht an dir vorübergehn.

3. Gleich von unbegrenztem Sehnen,
Wie entfernt von träger Ruh',
Müsse sich mein Leben dehnen
Wie ein Strom dem Meere zu.

## 200. Der Glaube der Freundschaft.

Von F. Dahn.

Gedichte. Leipzig 1857. I. Sammlung. S. 212.

1. Wenn eines Menschen Seele du gewonnen
Und in sein Herz hast tief hineingeschaut,
Und ihn befunden einen klaren Bronnen,
In dessen reiner Flut der Himmel blaut, —

2. Laß deine Zuversicht dann nichts dir rauben
Und trage lieber der Enttäuschung Schmerz,
Als daß du grundlos ihm entziehst den Glauben —
Kein größer Glück, als ein vertrauend Herz!

3. Laß adlermutig deine Liebe schweifen,
Bis dicht an die Unmöglichkeit hinan:
Kannst du des Freundes Tun nicht mehr begreifen,
So fängt der Freundschaft frommer Glaube an.

## 201. Begrabe deine Toten.

Von K. Siebel.

Gedichte. Iserlohn 1863. S. 88.

1. Begrabe deine Toten
Tief in dein Herz hinein;
So werden sie dein Leben
Lebendige Tote sein.

2. So werden sie im Herzen
Stets wiederauferstehn,
Als gute, lichte Engel
Mit dir durchs Leben gehn

3. Begrab dein eigen Leben
In andrer Herz hinein;
So wirst du, und bist du ein Toter,
Ein ewig Lebender sein.

## 202. Zum Tagwerk. (1833.)

Von Ph. Spitta.

Psalter und Harfe. Bremen 1880. II. Sammlung. S. 61.

1. Gehe hin in Gottes Namen,
Greif dein Werk mit Freuden an,
Frühe säe deinen Samen,
Was getan ist, ist getan.

2. Sieh nicht aus nach dem Entfernten,
Was dir nah' liegt, mußt du thun;
Säen mußt du, willst du ernten;
Nur die fleiß'ge Hand wird ruhn.

3. Müßig stehen ist gefährlich,
Heilsam unverdross'ner Fleiß,
Und es steht dir abends ehrlich
An der Stirn des Tages Schweiß.

4. Weißt du auch nicht, was geraten,
Oder was mißlingen mag,
Folgt doch allen guten Taten
Gottes Segen für dich nach.

5. Geh denn hin in Gottes Namen,
Greif dein Werk mit Freuden an;
Frühe säe deinen Samen,
Was getan ist, ist getan.

## 203. Heimkehr.

Von H. Lingg.

Gedichte. Stuttgart 1857. Bd. I, S. 124.

1. In meine Heimat kam ich wieder,
Es war die alte Heimat noch,
Dieselbe Luft, dieselben Lieder,
Und alles war ein andres doch.

2. Die Welle rauschte wie vorzeiten,
Am Waldweg sprang wie sonst das Reh,
Von fern erklang ein Abendläuten,
Die Berge glänzten aus dem See.

3. Doch vor dem Haus, wo uns vor Jahren
Die Mutter stets empfing, dort sah
Ich fremde Menschen fremd gebaren;
Wie weh, wie weh mir da geschah!

4. Mir war, als rief' es aus den Wogen:
„Flieh, flieh, und ohne Wiederkehr!
Die du geliebt, sind fortgezogen,
Und kehren nimmer, nimmermehr."

## 204. Menſchenlos.

Von J. Sturm.

Für das Haus. Liedergabe. Leipzig 1862. S. 229.

1. Ob dir ein Pfühl, ob karges Moos
Zum Wiegenlager mir beſtellt,
Uns alle traf das gleiche Los,
Soviel' wir kamen auf die Welt.

2. Ob eine Träne mich begrüßt,
Ob lauter Freudenruf erſcholl,
Als Liebe jubelnd dich geküßt:
Wir kamen hilflos, ſchmerzenvoll.

3. Und wie und wo wir immer gehn,
Im Hermelin, im Bettlerkleid,
Im dunklen Tal, auf lichten Höh'n:
Ein jeder hat ſein eignes Leid.

4. Dem zuckt der Schmerz im Angeſicht,
Und jener ſcherzt und fühlt doch tief,
Daß ihm ein Dorn die Bruſt zerſticht, —
Und keinem ward ein Freiheitsbrief.

## 205. Meeresabend.

Von M. Graf Strachwitz.

Gedichte. Geſamtausgabe. Breslau 1853. S. 218.

1. Sie hat den ganzen Tag getobt
Als wie in Zorn und Pein,
Nun bettet ſich, nun glättet ſich
Die See und ſchlummert ein.

2. Und drüber zittert der Abendwind,
Ein mildes, heiliges Wehn,
Das iſt der Atem Gottes,
Der ſchwebet ob den Seen.

3. Es küßt der Herr aufs Lockenhaupt
Die ſchlummernde See gelind
Und ſpricht mit ſäuſelndem Segen:
Schlaf ruhig, wildes Kind!

## 206. Aufmunterung zur Freude. (1776.)

Von L. Hölty.

Gedichte. Herausgegeben von K. Halm. Leipzig 1870. S. 134. (Gekürzt.)

1. Wer wollte ſich mit Grillen plagen,
Solang uns Lenz und Jugend blühn?
Wer wollt' in ſeinen Blütentagen
Die Stirn in düſtre Falten ziehn?

2. Die Freude winkt auf allen Wegen,
Die durch dies Pilgerleben gehn;
Sie bringt uns ſelbſt den Kranz entgegen,
Wenn wir am Scheidewege ſtehn. . . . . .

6. O, wunderſchön iſt Gottes Erde,
Und wert, darauf vergnügt zu ſein!
Drum will ich, bis ich Aſche werde,
Mich dieſer ſchönen Erde freu'n!

## 207. Lied vom Rhein. (1839.)

Von J. Matzerath.

Zuerſt in: Deutſcher Muſenalmanach von Th. Echtermeyer und A. Ruge. Berlin 1840. S. 218.

„O Rhein, wie klingt dein Name hold
Gleich einer Glocke, hell von Gold;
O fließe fort in ſtolzer Ruh',
Taufwaſſer deutſchen Volkes du!"
Freih. v. Zedlitz.

1. Mein Heimatland, o du herrlicher Rhein,
Du Perle des Weſtens, grüngoldige Flut,
Deine Männer ſind ſtark, deine Frauen ſind gut,
Es iſt eine Luſt, dein Kind zu ſein!

2. Wie blauet dein Himmel ſo tief und ſo klar!
Wie wallet in goldenen Ähren das Land,
Auf den Hügeln, zu Tal, an der Ebene Rand,
Wie ſchwilleſt von Segen du wunderbar!

3. Von deinen Bergen wie ſieht es ſich weit!
Wie atmet die Seele ſo kühn dort und frei!
In der Tiefe ziehen die Schifflein vorbei
Zögernd hinweg aus der Herrlichkeit.

4. Im Hochland aber da halten ſie Wacht
Noch immer die Burgen der Ritter wie hehr!
Wohl erdröhnet das Horn des Wächters nicht mehr,
Doch lieben wir ſie, nun vorbei ihre Macht.

Digitized by Google

5. O Rhein ... und es ſpiegeln ſich Dome groß
In der Fluten, der leiſe ſchauernden, Schaum,
Gewaltige Kaiſer träumen den Traum
Verſunkener Glorie in ihrem Schoß!

6. Mein Heimatland, o du herrlicher Rhein,
Du Perle des Weſtens, grüngoldige Flut,
Deine Männer ſind ſtark, deine Frauen ſind gut,
Es iſt eine Luſt, dein Kind zu ſein!

## 208. Das letzte Stündlein. [Offenb. Joh. 14, 13.] (1858.)

Von K. v. Gerok.

Palmblätter. Stuttgart 1886. S. 269.

In einer ſeltnen Kirche war ich heut';
Da ſah ich bebend Gottes Herrlichkeit.
Von einer Andachtsſtunde komm' ich her,
Mein Leben lang vergeſſ' ich ſie nicht mehr.
Die Kirche war kein hoher Säulendom,
Durchwogt vom farbenreichen Menſchenſtrom.
Zur Andacht rief kein voller Glockenklang,
Nicht Orgelton erſcholl, noch Chorgeſang.
Die Kirche war ein ſchmucklos Kämmerlein,
Durch trübe Scheiben fiel der Abendſchein.
Als betende Gemeinde ſtanden wir
Geſchart im Kreis zu dreien oder vier.
Ein ſchlechtgezimmert Bettgeſtelle war
Im engen Kirchlein Kanzel und Altar.
Ein ſterbend Mütterlein war Prieſterin,
Die feierte ihr letztes Stündlein drin.
Seit ſiebzig Jahren trug ſie ihre Laſt,
Nun kam der Tag der längſt erſehnten Raſt.
Durch manches Weltgedränge ſchlug ſie ſich;
Den letzten Kampf nun ſtritt ſie ritterlich.
Sie ſprach: „Mein Gott, im Frieden fahr' ich hin.
Chriſt iſt mein Leben, Sterben mein Gewinn."
Dann lag ſie da in ſelig-matter Ruh'
Und nickte leiſ' noch unſrem Beten zu.
Wir lauſchten ſtill dem ſchweren Atemzug,
Dem ſeltnen Pulſe, der ſchon ſtockend ſchlug.
Jetzt kam des Todes ernſte Majeſtät;
Wir ſchauderten, von ſeinem Hauch umweht.
Sein Schatten traf entſtellend ihr Geſicht,
Ihr Mund ward fremd und graß der Augen Licht.
Ein Seufzer noch, ein letzter Herzensſtoß;
Nun war's vollbracht, der bange Geiſt war los.
Durchs offne Fenſter ſäuſelte gelind
Gleich Engelsfittichen der Abendwind.
Ins Stüblein floß der Sonne letzter Glanz,
Da ward ihr Anblick wieder Friede ganz.
Wie Wachs die Stirn, das volle Haar ergraut:
Doch lag ſie ſchön wie eine Himmelsbraut.
Ihr Herz gebrochen, ihre Kraft dahin:
Doch lag ſie ſtolz wie eine Siegerin.
Wir ſtanden da, vom Preiſe Gottes voll,
Und ſprachen leis: „Wer ſo ſtirbt, der ſtirbt wohl".
Dann deckten wir ihr Haupt mit Linnen zu
Und wünſchten ihr die ew'ge Himmelsruh'.
Ins Gäßlein ſtieg ich nieder, heimzugehn,
Da trieb's die Welt, als wäre nichts geſchehn.
Der Nachbar ſpaltete ſein Reſtlein Holz,
Der Sperling lärmt' im Glanz des Abendgolds;
Die Kinder warfen luſtig ihren Ball,
Von ferne raſſelte der Räder Schall;
Hier unten ging der laute Strom der Zeit,
Und oben floß die ſtille Ewigkeit.

## 209. Die frühen Gräber. (1764.)

Von F. Klopſtock.

Werke. Herausgegeben von R. Hamel. Berlin und Stuttgart 1886. Tl. III (Oden), S. 119.

1. Willkommen, o ſilberner Mond,
Schöner, ſtiller Gefährt' der Nacht!
Du entfliehſt? Eile nicht, bleib, Gedankenfreund!
Sehet, er bleibt, das Gewölk wallte nur hin.

2. Des Maies Erwachen iſt nur
Schöner noch wie die Sommernacht,
Wenn ihm Tau, hell wie Licht, aus der Locke träuft,
Und zu dem Hügel herauf rötlich er kömmt.

3. Ihr Edleren, ach, es bewächſt
Eure Male ſchon ernſtes Moos!
O, wie war glücklich ich, als ich noch mit euch
Sahe ſich röten den Tag, ſchimmern die Nacht!

## 210. Das Schifflein. (1810.)

Von L. Uhland.

Gedichte und Dramen. Stuttgart 1863. Bd. II, S. 85.

1. Ein Schifflein ziehet leiſe
Den Strom hin ſeine Gleiſe,
Es ſchweigen, die drin wandern,
Denn keiner kennt den andern.

2. Was zieht hier aus dem Felle
Der braune Weidgeſelle?
Ein Horn, das ſanft erſchallet,
Das Ufer widerhallet.

3. Von ſeinem Wanderſtabe
Schraubt jener Stift und Habe,
Und miſcht mit Flötentönen
Sich in des Hornes Dröhnen.

4. Das Mädchen ſaß ſo blöde,
Als fehlt' ihr gar die Rede,
Jetzt ſtimmt ſie mit Geſange
Zu Horn- und Flötenklange.

5. Die Ruderer auch ſich regen
Mit taktgemäßen Schlägen.
Das Schiff hinunterflieget,
Von Melodie gewieget.

6. Hart ſtößt es auf am Strande;
Man trennt ſich in die Lande:
„Wann treffen wir uns, Brüder!
Auf einem Schifflein wieder?“

## 211. Zwei Abendlieder.

### a. Von E. Kinkel.

Gedichte. Stuttgart und Augsburg 1867. S. 185. (Ein geiſtlich Abendlied.)

1. Es iſt ſo ſtill geworden,
Verrauſcht des Abends Wehn,
Nun hört man allerorten
Der Engel Füße gehn;
Rings in die Tale ſenket
Sich Finſternis mit Macht —
Wirf ab, Herz, was dich kränket
Und was dir bange macht!

2. Es ruht die Welt im Schweigen,
Ihr Toſen iſt vorbei,
Stumm ihrer Freude Reigen
Und ſtumm ihr Schmerzensſchrei.
Hat Roſen ſie geſchenket,
Hat Dornen ſie gebracht —
Wirf ab, Herz, was dich kränket
Und was dir bange macht!

3. Und haſt du heut' gefehlet,
O ſchaue nicht zurück!
Empfinde dich beſeelet
Von freier Gnade Glück!
Auch des Verirrten denket
Der Hirt auf hoher Wacht —
Wirf ab, Herz, was dich kränket
Und was dir bange macht!

4. Nun ſtehn im Himmelskreiſe
Die Stern' in Majeſtät;
In gleichem, feſtem Gleiſe
Der goldne Wagen geht
Und gleich den Sternen lenket
Er deinen Weg durch Nacht —
Wirf ab, Herz, was dich kränket
Und was dir bange macht!

### b. Von M. Claudius. (1779.)

Werke. Herausgegeben von C. Redlich. Gotha 1879. Bd. I, S. 267.

1. Der Mond iſt aufgegangen,
Die goldnen Sternlein prangen
Am Himmel hell und klar;
Der Wald ſteht ſchwarz und ſchweiget,
Und aus den Wieſen ſteiget
Der weiße Nebel wunderbar.

2. Wie iſt die Welt ſo ſtille,
Und in der Dämmrung Hülle
So traulich und ſo hold!
Als eine ſtille Kammer,
Wo ihr des Tages Jammer
Verſchlafen und vergeſſen ſollt.

3. Seht ihr den Mond dort ſtehen? —
Er iſt nur halb zu ſehen,
Und iſt doch rund und ſchön!
So ſind wohl manche Sachen,
Die wir getroſt belachen,
Weil unſre Augen ſie nicht ſehn.

4. Wir ſtolze Menſchenkinder
Sind eitel arme Sünder
Und wiſſen gar nicht viel.
Wir ſpinnen Luftgeſpinſte,
Und ſuchen viele Künſte,
Und kommen weiter von dem Ziel.

5. Gott, laß uns dein Heil ſchauen,
Auf nichts Vergänglich's trauen,
Nicht Eitelkeit uns freu'n!
Laß uns einfältig werden,
Und vor dir hier auf Erden
Wie Kinder fromm und fröhlich ſein.

6. Wollſt endlich ſonder Grämen
Aus dieſer Welt uns nehmen
Durch einen ſanften Tod!
Und, wenn du uns genommen,
Laß uns in Himmel kommen,
Du, unſer Herr und unſer Gott!

7. So legt euch denn, ihr Brüder,
In Gottes Namen nieder;
Kalt iſt der Abendhauch.
Verſchon uns, Gott, mit Strafen,
Und laß uns ruhig ſchlafen!
Und unſern kranken Nachbar auch!

## 212. Der Jenner. (1801.)

Von P. Hebel.

Alemannische Gedichte. Herausgegeben und erläutert von A. Böhringer. Aarau 1873. S. 123.

1. Im Ätti ſetzt der Öldampf zů,
Mer chönnte 's Ämpeli uſe tů,
Und d' Läden uf. Der Morgeſchi
Blickt ſcho zum runde Naſtloch i. —
O lůget doch, wie chalt und röt
Der Jenner uf de Berge ſtöt!

2. Er ſeit: „I bi ne bliebte Mă,
Der Stern am Himmel lacht mi ă,
Er glitzeret vor Luſt und Freud,
Und můß er furt, ſen iſch's em leid;
Er lůgt mi ă, und cha's nit lö,
Und würd bizlte wider chö.

3. „Und unteher in Berg und Tal,
Wie flimmeret's nit überăl!
An allen Ende Schnē und Schnē:
's iſch alles mier zů Ere gſchē,
Und woni gang im wite Feld,
Sin Strōße bānt und Brucke gſtellt."

4. Er ſeit: „I bi ne friſche Mă!
I ha ne luſtig Tſchöpli ă,
Und röti Backe bis ans Ōr,
E heiter Aug und Duft im Hör,
Ke Wintergfriſt, ke Gliderwē,
Und woni gang, ſo chracht der Schnē."

5. Er ſeit: „I bi ne gſchickte Mă,
Lůg, wieni überzuckere chă!
I chůch, und an de Hürſte hangt's,
Und an de zarte Birche ſchwankt's.
Der Zuckerbeck mit gſchickter Hand,
Mit Geld und Gůt wär's nit im Stand.

6. „Jez lůg au dini Schîben ă,
Und wieni Helgli chritzle chă!
Do heſch e Blůemli, wenn's der gfallt,
Do heſch en ganze Tannewald!
Der Frůelig chönnt's nit halber ſō,
's iſch mit der Farb nit alles tō."

Von A. Reinick.

Alemannische Gedichte. Ins Hochdeutsche übertragen. Leipzig 1853. S. 161.

1. Der Vater hält's vor Dampf nicht aus,
Ich denk', wir löſchen 's Lämpchen aus.
Macht auf die Läden! Morgenſchein
Guckt hell zum Aſtloch ſchon herein. —
Da iſt der Januar! O ſeht,
Wie rot er auf den Bergen ſteht!

2. Er ſagt: „Ich bin ein ſchmucker Mann,
Der Stern am Himmel lacht mich an;
Der glitzert recht vor Luſt und Freud',
Und muß er fort, ſo tut's ihm leid,
Und eh' er geht, da winkt er mir
Und meint, bald wär' er wieder hier.

3. „Und unten gar, in Berg und Tal,
Wie flimmert es doch überall!
An allen Enden Schnee und Schnee;
's iſt mir zu Ehren, wie ich ſeh',
Denn wo ich zieh', durch Feld und Land,
Iſt Brück' und Straße mir gebahnt."

4. Er ſagt: „Ich bin ein friſcher Mann,
Hab' einen luft'gen Kittel an,
Hab' rote Backen, Reif im Haar,
Mein Aug' iſt heiter, friſch und klar,
Ich weiß von keinem Gliederweh,
Und wo ich geh', da kracht der Schnee.

5. „Ich bin auch ein geſchickter Mann,
Sieh, wie ich überzuckern kann!
Ich hauch', und an den Büſchen hangt's,
Und an den zarten Birken ſchwankt's,
Der Zuckerbäcker, ſicherlich,
Er kann's nicht halb ſo gut, wie ich.

6. „Nun ſieh 'mal deine Scheiben an,
Was ich dir Bilder kritzeln kann!
Da haſt du Blumen ſchöngeſtalt't,
Da einen ganzen Tannenwald!
Der Frühling kann's nicht halb ſo fein,
Die Farben tun es nicht allein.'

7. Er ſeit: „I bi ne ſtarche Mä,
Und zwing mi näumer, wenn er chä!
Der Forſter gſtablet uf der Jacht,
Der Brunntrög ſpringt, der Eichbaum chracht.
D' Frau Sunne, mittem Gſichtli rund,
Het 's Herz nit, aß ſi füre chunnt."

8. 's iſch wör, me weiß nit, was ſi tribt,
Und wo ſi alli Morgi blibt.
Wie länger Nacht, wie ſpöter Tag,
Wie beſſer aß ſi ſchlöfe mag;
Und blib es bis um zeni Nacht,
Se chäm ſi erſt, wenn's Ölfi ſchlacht.

9. Nei, het ſi's ghört? Dört chunnt ſi jo!
Me meint, 's breun alles liechterlo! —
Si ſtöt im chalte Morgeluft,
Si ſchwimmt im röte Nebelduft.
Zeig, chuch e wenig d' Schiben a,
's iſch, aß me beſſer lüge chä!

10. Der Nebel woget uf und ab,
Und d' Sunne chämpft, ſi loßt nit ab.
Jez het ſi's g'gunne. Wit und breit
Strält ieri Pracht und Herlichkeit.
O lüg, wie's über d' Dächer wält,
Am Chilchefenſter, lüg, wie's ſtrält.

11. Der Jenner ſetzt ſi Arm in d' Huft,
Er ruckt am Hüt und ſchnellt in d' Luft.
Der Jenner ſeit: „Ich förch di nit.
Chumm, wenn de mit mer baſchge witt!
Was gilt's, de würſch bizlte gö,
Und rüemſch dim Büebli nüt dervo!"

12. Je, 's wär wol hübſch und liebli ſo,
Im warme Stübli gfallt's eim ſchö.
Doch mengi Frau, daß Gott erbarm,
Si nimmt ir nackig Chind in d' Arm;
Si het em nüt um d' Glidli z'tü,
Und wicklet's mittem Fürtüch zü.

13. Si het kei Holz und het kei Brot,
Si ſitzt und chlagt's im liebe Gott.
Gfriert Stei und Bei, wol taut der Schmerz
No Tränen uf im Müterherz.
Der Jenner iſch e rüche Mä,
Er nimmt ſi nüt um d' Armet a.

14. Gang, bring der arme Fiſcher-Lis
E Säckli Mel, e Hemdli wiß;
Nimm au ne Wellen oder zwö,
Und ſag, ſi ſoll au zünis chö
Und Weie hole, wenn i bach,
Und decket jez der Tiſch alsgmach.

7. Er ſagt: Ich bin ein ſtarker Mann,
Bezwing mich einer, wenn er kann!
Steif wird der Förſter auf der Jagd,
Der Brunntrog ſpringt, der Eichbaum kracht;
Frau Sonne, haſt ein rund Geſicht,
Doch haſt du Angſt, drum kommſt du nicht."

8. Schon wahr, man weiß nicht, was ſie treibt,
Und wo ſie alle Morgen bleibt.
Je länger Nacht, je ſpäter Tag,
Man ſieht, wie gern ſie ſchlafen mag;
Und blieb es Nacht bis zehn vorbei,
Sie käm' doch erſt um elf herbei.

9. Sie hat's gehört, da kommt ſie her;
Nun ſeht einmal das Feuermeer!
Sie ſteht in kalter Morgenluft,
Sie ſchwimmt in rotem Nebelduft.
Ihr! Haucht einmal die Scheiben an,
Damit man beſſer ſehen kann!

10. Wie wogt der Nebel auf und ab!
Die Sonne kämpft, ſie läßt nicht ab.
Jetzt iſt ſie durch, und weit und breit
Strahlt ihre Pracht und Herrlichkeit.
Sieh, wie der Nebel wogt und wallt,
Sieh, wie's am Kirchenfenſter ſtrahlt!

11. Der Jänner wirft ſich in die Bruſt,
Er ruckt am Hut und pfeift vor Luſt
Und ſagt: „Du glaubſt, ich fürchte dich,
Frau Sonne, komm, bezwingſt du mich?
Laß deine Heldentaten ſehn!
Ich wett', du wirſt beizeiten gehn."

12. Im warmen Stübchen, ei nun ja,
Es iſt ſchon hübſch und heimlich da;
Doch manche Frau, daß Gott erbarm'!
Sie hält ihr nacktes Kind im Arm,
Hat nichts, wo ſie hinein es tu',
Und deckt es mit der Schürze zu.

13. Sie hat kein Holz und hat kein Brot,
Sie ſitzt und klagt's dem lieben Gott. —
Friert's Stein und Bein, doch taut der Schmerz
Dir Tränen auf, du Mutterherz!
Der Jänner iſt ein rauher Mann,
Er nimmt ſich nicht der Armut an.

14. Geh, bring der Fiſcherlieſe doch
Ein Hemd und auch das Säckel noch
Voll Mehl! Auch Holz iſt da für ſie.
Sag ihr, wir backen morgen früh,
Sie ſoll ſich Kuchen holen. — Friſch,
Ihr andern, deckt einmal den Tiſch!

## 213. Der Eistanz. (1774.)

Von G. v. Herder.

Sämtliche Werke. Herausgegeben von B. Suphan. Berlin 1883. Bd. XXV. S. 526.

1. Wir ſchweben, wir wallen auf hallendem Meer,
Auf Silberkriſtallen dahin und daher;
Der Stahl iſt uns Fittich, der Himmel das Dach,
Die Lüfte ſind heilig und ſchweben uns nach.
So gleiten wir, Brüder, mit fröhlichem Sinn
Auf eherner Tiefe das Leben dahin.

2. Wer wölbte dich oben, du goldenes Haus,
Und legte den Boden mit Demant uns aus
Und gab uns den flüchtigen Funken im Stahl,
Zu tanzen, zu ſchweben im himmliſchen Saal?
So ſchweben wir, Brüder, mit fröhlichem Sinn
Im himmliſchen Saale das Leben dahin.

3. Da ſtand ſie, die Sonne, in Düfte gehüllt,
Da rauchen die Berge, da ſchwebet ihr Bild,
Da ging ſie danieder, und ſiehe, der Mond,
Wie ſilbern er über und unter uns wohnt!
So wallen wir, Brüder, mit fröhlichem Sinn
Durch Mond und durch Sonne das Leben dahin.

4. Seht auf nun, da brennen im himmliſchen Meer
Die Funken und brennen im Froſt um uns her.
Der oben den Himmel mit Sonnen beſteckt,
Hat's unten mit Blumen des Froſtes gedeckt.
Wir gleiten, o Brüder, mit fröhlichem Sinn
Auf Sternengefilden das Leben dahin.

5. Er macht' uns geräumig den luſtigen Saal
Und gab uns in Nöten die Füße von Stahl
Und gab uns im Froſte das wärmende Herz,
Zu ſtehn auf den Fluten, zu ſchweben im Scherz.
Wir ſtreben, o Brüder, mit ehernem Sinn
Auf Fluten und Abgrund das Leben dahin.

## 214. Die Leipziger Schlacht. (1813.)

Von M. Arndt.

Gedichte. Vollſtändige Sammlung. Berlin 1860. S. 275.

1. „Wo kommſt du her in dem roten Kleid
Und färbſt das Gras auf dem grünen Plan?"
„Ich komm' aus blutigem Männerſtreit,
Ich komme rot von der Ehrenbahn.
Wir haben die blutige Schlacht geſchlagen,
Drob müſſen die Mütter und Bräute klagen,
Da ward ich ſo rot."

2. „Sag an, Geſell, und verkünde mir,
Wie heißt das Land, wo ihr ſchlugt die Schlacht?"
„Bei Leipzig trauert das Mordrevier,
Das manches Auge voll Tränen macht;
Da flogen die Kugeln wie Winterflocken,
Und Tauſenden mußte der Atem ſtocken
Bei Leipzig, der Stadt."

3. „Wie heißen, die zogen ins Todesfeld
Und ließen fliegende Banner aus?"
„Es kamen Völker aus aller Welt,
Die zogen gegen Franzoſen aus,
Die Ruſſen, die Schweden, die tapfern Preußen
Und die nach dem glorreichen Öſterreich heißen,
Die zogen all' aus."

4. „Wem ward der Sieg in dem harten Streit?
Wem ward der Preis mit der Eiſenhand?"
„Die Welſchen hat Gott wie die Spreu zerſtreut,
Die Welſchen hat Gott verweht wie den Sand;
Viele Tauſende decken den grünen Raſen,
Die Übriggebliebnen entflohen wie Haſen,
Napoleon mit."

5. „Nimm Gottes Lohn! habe Dank, Geſell!
Das war ein Klang, der das Herz erfreut!
Das klang wie himmliſche Zimbeln hell,
Habe Dank der Mär von dem blutigen Streit!
Laß Witwen und Bräute die Toten klagen,
Wir ſingen noch fröhlich in ſpäteſten Tagen
Die Leipziger Schlacht."

6. O Leipzig, freundliche Lindenſtadt,
Dir ward ein leuchtendes Ehrenmal:
Solange rollet der Jahre Rad,
Solange ſcheinet der Sonnenſtrahl,
Solange die Ströme zum Meere reiſen,
Wird noch der ſpäteſte Enkel preiſen
Die Leipziger Schlacht.

## 215. Frühlings Wiederkehr. (Aus „Frühlingsreiſe“.)

Von L. Tieck.

Gedichte. Berlin 1841. S. 98.

1. Nie vergißt der Frühling, wiederzukommen;
Wenn Störche ziehn, wenn Schwalben auf der Wieſe ſind.
Kaum iſt dem Winter die Herrſchaft genommen,
So erwacht und lächelt das goldene Kind.

2. Dann ſucht er ſein Spielzeug wieder zuſammen,
Das der alte Winter verlegt und verſtört;
Er putzt den Wald mit grünen Flammen,
Der Nachtigall er die Lieder lehrt.

3. Er rührt den Obſtbaum mit rötlicher Hand,
Er klettert hinauf die Aprikoſenwand,
Wie Schnee die Blüte rot unter die Blätter bringt,
Er ſchüttelt froh das Köpfchen, daß ihm die Arbeit gelingt.

4. Dann geht er und ſchläft im waldigen Grund,
Und haucht den Atem aus, den ſüßen;
Um ſeinen zarten, roten Mund
Im Graſe Viol' und Erdbeer' ſprießen.
Wie rötlich und bläulich lacht
Das Tal, wenn er erwacht!

5. In den verſchloſſ'nen Garten
Steigt er übers Gitter in Eil',
Mag auf den Schlüſſel nicht warten,
Ihm iſt keine Wand zu ſteil.

6. Er räumt den Schnee aus dem Wege,
Er ſchneidet das Buchsbaum-Gehege,
Und feiert auch am Abend nicht,
Er ſchaufelt und arbeitet im Mondenlicht.

7. Dann ruft er: „Wo ſäumen die Spielkameraden,
Daß ſie ſolang' in der Erde bleiben?
Ich habe ſie alle eingeladen,
Mit ihnen die fröhliche Zeit zu vertreiben.“

8. Die Lilie kommt und reicht die weißen Finger,
Die Tulpe ſteht mit dickem Kopfputz da,
Die Roſe tritt beſcheiden nah,
Aurikelchen und alle Blumen, vornehm und geringer.

9. Der bunte Teppich iſt nun geſtickt,
Die Liebe tritt aus Jasminlauben hervor.
Da danken die Menſchen, da jauchzet der Vögel ganzes Chor,
Denn alle fühlen ſich beglückt.

10. Dann küßt der Frühling die zarten Blumenwangen
Und ſcheidet, und ſagt: „Ich muß nun gehn!“
Da ſterben ſie alle an ſüßem Verlangen,
Daß ſie mit welken Häuptern ſtehn.

11. Der Frühling ſpricht: „Vollendet iſt mein Tun;
Ich habe ſchon die Schwalben herbeſtellt,
Sie tragen mich in eine andre Welt;
Ich will in Indiens duftenden Gefilden ruhn.

12. Ich bin zu klein, das Obſt zu pflücken,
Den Stock der ſchweren Traube zu entkleiden,
Mit der Senſe das goldene Korn zu ſchneiden;
Dazu will ich den Herbſt euch ſchicken.

13. Ich liebe das Spielen, bin nur ein Kind,
Und nicht zur ernſten Arbeit geſinnt;
Doch ſeid ihr ſatt der Winterleiden,
Komm' ich zurück zu andern Freuden.“

## 216. Das Mägdlein ſchläft. [Matth. 9, 24.] (1858.)

Von K. v. Gerok.

Palmblätter. Stuttgart 1884. S. 57.

1. Das Mägdlein ſchläft, ihr Eltern, jammert nicht,
Gönnt ihm die ſüße Ruh';
Aus Blumen blickt ein friedevoll Geſicht
Und ſpricht euch tröſtlich zu:
„Ein lieblich Los iſt mir beſchieden,
Ich lieg' und ſchlafe ganz mit Frieden.“
Das Mägdlein ſchläft.

2. Das Mägdlein ſchläft; es hat ſich müd' geſpielt
Und hat ſich ſatt gefreut;
Die Puppe, die es ſtolz im Ärmchen hielt,
Sein liebes Sonntagskleid,
Sein Büchlein, dran es fromm geſeſſen,
Sein Reichtum all iſt nun vergeſſen:
Das Mägdlein ſchläft.

3. Das Mägdlein ſchläft; ſein Lebenstag war mild
Und leicht ſein Erdenlos;
Ein Bächlein, das durchs blumige Gefild
In klaren Wellen floß;
Ein Weh hat ihm durchs Herz geſchnitten,
Der letzte Kampf war bald geſtritten:
Das Mägdlein ſchläft.

4. Das Mägdlein ſchläft; wie ſelig ſchlief es ein
In ſeines Hirten Arm!
Noch war ſein Herz vom Gift der Sünde rein,
Drum ſtarb es ohne Harm;
Ein ſchuldlos Herz, ein gut Gewiſſen,
Das iſt ein ſanftes Sterbekiſſen.
Das Mägdlein ſchläft.

5. Das Mägdlein ſchläft; all Erdenweh und Not
Verſchläft's im ſichern Zelt;
Weißt, Mutter, du, was Bittres ihm gedroht
In dieſer argen Welt?
Jetzt mag der rauhe Winter ſtürmen,
Der ſchwüle Sommer Wetter türmen:
Das Mägdlein ſchläft.

6. Das Mägdlein ſchläft; nur eine kurze Nacht
Verſchläft's im Kämmerlein.
O, wenn es einſt vom Schlummer auferwacht,
Das wird ein Morgen ſein!
Der eintrat in Jairus' Kammer,
Der ſtillt ſodann auch euren Jammer:
Das Mägdlein ſchläft.

7. Das Mägdlein ſchläft; und nun den letzten Kuß
Auf ſeinen blaſſen Mund!
O Mutterherz, ſo ſei es denn, weil's muß;
Gott, hilf durch dieſe Stund'!
Ihr Kinder, folgt mit Chorgeſange
Dem Schweſterlein zum letzten Gange.
Das Mägdlein ſchläft.

8. Das Mägdlein ſchläft; nun, Hirte, nimm's ans Herz,
Es iſt ja ewig dein;
Ihr Sterne, blicket freundlich niederwärts
Und hütet ſein Gebein;
Ihr Winde, weht mit leiſem Flügel
Um dieſen blumenreichen Hügel.
Das Mägdlein ſchläft.

## 217. Aus der Jugendzeit. (1817.)

Von F. Rückert.

Geſammelte poetiſche Werke. Frankfurt a. M. 1868. Bd. V, S. 29.

1. Aus der Jugendzeit, aus der Jugendzeit
Klingt ein Lied mir immerdar;
O wie liegt ſoweit, o wie liegt ſoweit,
Was mein einſt war!

2. Was die Schwalbe ſang, was die Schwalbe ſang,
Die den Herbſt und Frühling bringt,
Ob das Dorf entlang, ob das Dorf entlang
Das jetzt noch klingt?

3. „Als ich Abſchied nahm, als ich Abſchied nahm,
Waren Kiſten und Kaſten ſchwer;
Als ich wiederkam, als ich wiederkam,
War alles leer."

4. O du Kindermund, o du Kindermund,
Unbewußter Weisheit froh,
Vogelſprachekund, vogelſprachekund,
Wie Salomo!

5. O du Heimatflur, o du Heimatflur,
Laß zu deinem heil'gen Raum
Mich noch einmal nur, mich noch einmal nur
Entfliehn im Traum!

6. Als ich Abſchied nahm, als ich Abſchied nahm,
War die Welt mir voll ſo ſehr;
Als ich wiederkam, als ich wiederkam,
War alles leer.

7. Wohl die Schwalbe kehrt, wohl die Schwalbe kehrt,
Und der leere Kaſten ſchwoll;
Iſt das Herz geleert, iſt das Herz geleert,
Wird's nie mehr voll.

8. Keine Schwalbe bringt, keine Schwalbe bringt
Dir zurück, wonach du weinſt;
Doch die Schwalbe ſingt, doch die Schwalbe ſingt
Im Dorf wie einſt:

9. „Als ich Abſchied nahm, als ich Abſchied nahm,
Waren Kiſten und Kaſten ſchwer;
Als ich wiederkam, als ich wiederkam,
War alles leer!"

## 218. Rheinweinlied. (1776.)

Von M. Claudius.

Werke. Herausgegeben von C. Redlich. Gotha 1878. Bd. I, S. 190.

1. Bekränzt mit Laub den lieben, vollen Becher
Und trinkt ihn fröhlich leer.
In ganz Europia, ihr Herren Zecher!
Iſt ſolch ein Wein nicht mehr.

2. Er kommt nicht her aus Hungarn noch aus Polen,
Noch wo man franzmänn'ſch ſpricht;
Da mag Sankt Veit, der Ritter, Wein ſich holen,
Wir holen ihn da nicht.

3. Ihn bringt das Vaterland aus ſeiner Fülle,
Wie wär' er ſonſt ſo gut!
Wie wär' er ſonſt ſo edel, wäre ſtille
Und doch voll Kraft und Mut!

4. Er wächſt nicht überall im Deutſchen Reiche;
Und viele Berge, hört,
Sind, wie die weiland Kreter, faule Bäuche,
Und nicht der Stelle wert.

5. Thüringens Berge zum Exempel bringen
Gewächs, ſieht aus wie Wein;
Iſt's aber nicht. Man kann dabei nicht ſingen,
Dabei nicht fröhlich ſein.

6. Im Erzgebirge dürft ihr auch nicht ſuchen,
Wenn ihr Wein finden wollt.
Das bringt nur Silbererz und Kobaltkuchen,
Und etwas Laufegold.

7. Der Blocksberg iſt der lange Herr Philiſter,
Er macht nur Wind wie der;
Drum tanzen auch der Kuckuck und ſein Küſter
Auf ihm die Kreuz und Quer.

8. Am Rhein, am Rhein, da wachſen unſre Reben;
Geſegnet ſei der Rhein!
Da wachſen ſie am Ufer hin und geben
Uns dieſen Labewein.

9. So trinkt ihn denn, und laßt uns allewege
Uns freu'n und fröhlich ſein!
Und wüßten wir, wo jemand traurig läge,
Wir gäben ihm den Wein.

## 219. Der Frühlingsbote. (Gemälde à la Breughel.)

Von J. M. Uſteri.

Dichtungen. Herausgegeben von D. Hey. Berlin 1831. Bd. I, S. 67.

Von allen zwölf Monaten in dem Jahr
Geb' ich das Kränzlein dem Februar,
Und nicht weil da, von Luſt umringt,
Die tolle Faſtnacht im Reihen ſpringt,
Und alles lärmt und tanzt und wühlt
Und hübſch im ſtillen ſein Mütlein kühlt
Durch Butzentracht und Mummerei,
Vor Tadel, Spott und Strafe frei:
Nein, darum hab' ich den Hornung lieb
Und ihm das Ehrenkränzlein gib,
Weil da des Winters Rinde ſpringt,
Wenn Petri Stuhlfei'r den Storch uns bringt.
Wie oft ſeufz' ich nach dieſer Zeit,
Wenn's draußen ſtürmt und eiſt und ſchneit,
Der Reif die Fenſter überzieht,
Daß man nicht mehr auf die Straße ſieht,
Kein Freudenton ins Zimmer bringt,
Kein Lied erſchallt, kein Vöglein ſingt,
Und nur der häßliche Rabe krächzt,
Der Boden kniſtert, das Wagenrad ächzt,
Der Wanderer ſchnaubt und huſtet und ſchneuzt,
Der Froſt ihm Naſe und Ohren durchbeizt,
Die Füße erlahmt, die Finger krümmt
Und alle Lebensluſt benimmt.
Im Zimmer wohnt der Kummer auch
Bei Lampenqualm und Ofenrauch,
Bei Marktgewäſch und Radgeſchnurr,
Bei Katzgemau und Hundgeknurr.
Bei ew'ger Nacht und einerlei
Und Bubenlärm und Kindsgeſchrei,
Beim Quälen der Rheumatika
Et cetera, et cetera.
Da rett' ich aus dieſem Jammerpfuhl
Mich gern in meinen Sorgenſtuhl,

Und male mir da den feſtlichen Tag,
Der all das Unheil enden mag.
Was ſchallt durch alle Straßen? horch!
„Der Storch! Der Storch! Der Storch! Der Storch!“
Und ſtattlich tritt auf den Altan
Der Stadttrompeter und fängt da an
Zu blaſen aus wahrer Herzensluſt,
Daß faſt zerſpringen Lung' und Bruſt.
Nicht müßig bleibt ſein treues Weib:
Wennſchon betagt und ſchwer von Leib,
So eilt ſie doch im ſchnellſten Sprung
Zu holen den köſtlichen Ehrentrunk,
Den der Stadtkellner ſeit alter Zeit
Ihr für die frohe Botſchaft beut.
Von dem Trompetenlärm geweckt,
Ein jeder den Kopf aus dem Fenſter ſteckt,
Und fragt: „Was ſoll das Tratata?“
Da heißt es dann: „Der Storch iſt da!“
Und wie der Sonne freundlich Licht
Mit eins durch ſchwarzes Gewölke bricht,
Blitzt in die Herzen überall
Der Freude allbelebender Strahl.
Kaum hören den Lärm die Schülerbuben,
Stürzen ſie aus den Marterſtuben,
Laſſen den Lehrer rufen und ſchrei'n,
Sind ſchon auf der Gaſſ', und er ſteht allein.
Da tritt er mit gebeugtem Sinn
Ans Fenſter, ſieht auch nach dem Vogel hin,
Dankt Gott, daß die nahende Oſterzeit
Ihn bald von dieſer Brut befreit.
Und in des trägen Küſters Haus
Guckt freudig ſein Weib zum Fenſter hinaus,
Sie hat mit Schmerz auf den Storch geharrt,
Wenn ſie frühmorgens halberſtarrt
Das Glöcklein zog, indes, geſteckt
In warme Kiſſen, ihr Mann ſich ſtreckt. . . .
Der Greis verläßt den Ofenſitz
Und freut ſich der kommenden Sommerhitz',
Um die er ſich halb krank gehärmt,
Und fühlt im Geiſt ſich ſchon erwärmt.
Großmütterlein wankt auch herfür:
Ihr Enkelein führt ſie vor die Tür;
Sie guckt: allein der Augen Licht
Iſt ſchwach, ſie ſieht den Vogel nicht.
Doch weckt der lärmende Muſikus
Der Rückerinnerung Vollgenuß
In ihrer Seele: mit Innigkeit
Erzählt ſie, wie ſie ſich als Kind gefreut.
Was läuft ſo der Wirt in ſein Kellerlein?
Er zapft im voraus Bier und Wein.
Heut' kriegt er alle Tiſche voll,
Weiß nicht, wo er ſchenken und wehren ſoll;
Denn immer tönt's da: „Wirt, komm her!
Dem Storch zu Ehren ein Schöpplein mehr!“
Heut' wird kein Mann vom Weib gezankt,
Wenn er auch mäandriſch zum Lager wankt.
Der Bettelvogt hat, wie ſich's gebührt,
Ein Hudelpack aus dem Tor geführt.
Auf einmal hält ſeinen amtlichen Lauf
Das Freudengelärm des Trompeters auf;
Und während am Himmel haftet ſein Blick,
Länft pfiffig das Pack in die Stadt zurück.
Heut' bringt das Betteln reichen Gewinn:
Denn wohnet die Freude in Herz und Sinn,
Gar willig die Hand ein Gäblein reicht.
Ach ſeht! ſelbſt Harpax drückt, erweicht,
Nachdem er es zehnmal falſch erfaud,
Das Kreuzerlein in des Blinden Hand,
Singt nach der Trompete dann vor ſich her:
„Trara! Keine Lichter, kein Heizen mehr.“
Dort wohnt ein Maler unterm Dach,
Schwenkt auch dem Vogel ſein Käppchen nach,
Gebannt ins dunkle Kämmerlein,
Ward ihm ſein Pinſel bald zur Pein.
Jetzt glückt's ihm wieder im erſten Strich,
Was ängſtlich und mühſam zuſammen er ſtrich;
Malt wieder frei und zart zugleich;
Sein Kopf wird an Ideeen reich,
Wenn wieder in Gottes reiner Luft
Die Blumen ihm lachen, der Finke ihm ruft.
Laut ſchlägt ſein Herz und frei und froh;
Er ſingt in dulci jubilo.
Und mit ihm ſingt aus Mund und Herz,
Schickt Dankgebetlein himmelwärts
So manches Weib, ſo mancher Mann,
Der wieder ſein Brot verdienen kann.
Und, mein Herr Doktor X., auch du
Rufſt fröhlich dem Storch ein Vivat zu:
Es litt dein Ruhm gewaltig Not,
Ging ſchier mit deiner Kunſt kapot:
Jetzt bringt der Storch dir die Panacee
Für deinen Kredit und der Kranken Weh.
Und überall, wohin man ſieht,
Die Freude in jeglichem Auge glüht.
Heut' läßt der Advokat die Kniff',
Der Müller ſeinen Meiſtergriff;
Der Bäcker gewichtige Brote backt;
Der Metzger den Speck vom Fleiſch nicht hackt;
Der Wirt vergißt den Waſſerquell,
Und Meiſter Ziegenbart die Höll'.
Und der hochweiſe Magiſtrat
Sich auf dem Rathaus verſammelt hat,

Saß eben da mit finſterm Geſicht
Und hielt ein Maleſizgericht.
Ward kürzlich ein neuer Galgen erbaut,
Den männiglich mit Vergnügen beſchaut;
Doch manchem beim Vorübergehn
Der Wunſch entſchlüpft, ihn ſtaffiert zu ſehn.
Das wünſcht voraus die Wacht der Stadt,
Die ſtets den Defekt vor Augen hat,
Mit Argusaugen drum vigiliert,
Ob nichts Verdächtiges durchpaſſiert.
Da ſchlottert ein wanderndes Schneiderlein
Vor kurzem beim Zwielicht zum Tor herein,
Das ſtracks der Wächter zum Schultheiß ſchleppt,
Weil es beim „Wer da" zuſammengebebt.
Das wird ſogleich in den Turm geführt
Und vom Profoſſen viſitiert;
Der findet, daß auf dem Schulterblatt
Er eine verdächtige Narbe hat.
Der glückliche Fund wird rapportiert
Und commissionaliter examiniert.
Allein das Zeichen, das da ſteht,
Gleicht keinem Buchſtab von A bis Z.
Nach langem Beraten bis tief in die Nacht,
Der Schreiber ein Facsimile macht;
Das wird dem gelehrten Paſtor Helt
Zur Unterſuchung zugeſtellt.
Und er, befliſſen dem Vaterland
Zu dienen, ſchreibt einen dicken Band,
Wie, wo, durch wen die Schrift entſtand,
Und was für Züge in jedem Land
Gebräuchlich waren und ſind; da wand,
Eh' er die Arbeit vermochte zu enden,
Der Eifer der Richter ſie ihm aus den Händen,
Als er gerade die Feder ergriffen,
Um jetzt zu erklären die Hieroglyphen.
Und kaum ſoviel Zeit er noch übrig hat
Am End' vom zwölfhundertundzwölften Blatt
Auch über das quäſtionierliche Zeichen
Sein kurzes Parere einzureichen,
Dahin verweiſend, daß das Signet
Mit ſyriſcher Schrift in Verwandtſchaft ſteht;
Und daß ſein Urteil begründet ſei,
Legt er den Thesaurum linguarum bei.
Die Richter, mit dieſen Bogen verſehn,
Zum Schneiderlein in den Kerker gehn.
Wo der die gewaltigen Maſſen erblickt,
Er bis in das Fundament erſchrickt;
Es malt ihm die Angſt ſie als Folterſtein,
Zu martern ſein armes Körperlein.
Als nun der Richter ihm näher winkt,
Er bleich und erſterbend zuſammenſinkt,
Und als er ein Wörtchen vom Stehlen hört,
Ihm billig ein winſelndes „Ach!" entfährt.
Es protokolliert nun die Kanzlei,
Daß er convict- und confessus ſei.
Und ſchnell durchläuft die ganze Stadt
Die Sage von mancher gräßlichen Tat,
Die dieſer Verbrecher bei Tag und Nacht
Grauſam in allen Weltteilen vollbracht,
Und wie der Henker im Heidenland
Ihm hundert Mond' auf den Rücken gebraunt.
Und in der hohen Seſſion
Stimmt jetzt zum Tod der letzte ſchon.
Und horch! es ſchmettert Trompetenton!
Die Richter laufen auf den Balkon,
Hören, wie alles jubelt und ruft,
Sehen den Vogel in blauer Luft,
Fühlen des Frühlings freundlichen Kuß,
Koſten der Jugend reinen Genuß,
Die ſie in roſigen Bildern umſchwärmt
Und Herz und Leib und Seele erwärmt.
Als man die Beratung zur Hand wieder nimmt,
Sind alle Herzen umgeſtimmt:
Das harte Urteil „ſtranguliert!"
Das hat der gute Storch kaſſiert.
Der Delinquent wird vorgeführt
Und freundlich von neuem examiniert;
Und als der Magiſtrat vernommen,
Er ſei noch nie aus Schwaben gekommen,
Und wie er die leidige Narbe erhielt,
Als einſt er mit einem Zicklein ſpielt',
Da ward nicht weiter inquiriert,
Und er unanimiter abſolviert.
Vorüber wohnt der Paſtor Helt;
Der hat ſich geärgert und gequält,
Daß man ihm ſein Opus ſo ſchnöde entriß,
Sein herrliches Licht nicht leuchten ließ;
Und dieſer Mangel an Reſpekt
Hat ſeinen Zorn, wie billig, geweckt:
Drum er ſo finſter am Pult dort ſitzt,
Mit ſcharfem Meſſer die Feder ſpitzt,
Und alle Pſalmen, wo David flucht,
Den ganzen Jeremias durchſucht
Mit bitterm Herz und gierigem Auge,
Zu finden den Text zur tüchtigen Lauge.
Da bricht der Lärm, das laute Juchhei'n
Mit Macht in ſein finſtres Muſeum hinein,
Und hinter den Folianten hervor
Schlüpft munter und gaukelnd ein fröhlicher Chor
Von jugendlichen Phantasmen und ſingt,
Ihn immer enger und enger umringt,

Tanzt jetzt über Pſalmbuch und Prophetei,
Und ſeine Stirne wird runzelfrei.
Er legt die Rute des Zorns beiſeit'
Und wählt das Lob der Einigkeit
Zum Text, wie man im Pſalter lieſt,
Und alle Rachluſt rein vergißt.
Ach Gott! wo nähm' ich Papier genug,
Zu malen, was alles mit deinem Flug,
Du lieber Vogel, uns Gutes kommt
Und unſerm Geiſt und Körper frommt!
Wann uns die Zeit dich wiederbringt,
Des harten Winters Panzer ſpringt,
Dann dringen luſtig aus Schnee und Eis
Der Hoffnung Blümlein rot und weiß;
Und wer ſich die zum Kränzlein pflückt,
Der iſt durchs ganze Jahr geſchmückt.
Das ſchönſte von allen weit und breit
Bleibt aber das Blümlein Zufriedenheit;
Und wißt ihr, wer uns dieſes beut?
Ein holdes Mägdlein: Genügſamkeit.
Auf! laufet alle hinaus vors Tor:
Dort ſchmauſen Herz und Sinn und Ohr;
Dort ſucht des holden Mägdleins Spur,
Sie wandelt ſo gerne in freier Natur.
Hinaus, hinaus im ſchnellſten Sprung!
Und daß ihr ſie findet, alt und jung,
Und reich und arm, ſei wer es ſei,
Der Kirchendiener wie der Lai',
Der Schultheiß wie der Amtsproſoß,
Der Kaufherr wie der Pfründgenoß,
Die Freifrau wie die Hökerin,
Die Stallmagd wie die Bäckerin,
Die Pfarrfrau wie die Kuſteri,
Wünſcht allen Hans Martin Uſteri.

## 220. Gudruns Klage.[1])

Von E. v. Gelbel.

Geſammelte Werke. Stuttgart 1883. Bd. III (Neue Gedichte und Gedenkblätter), S. 67.

1. Nun geht in grauer Frühe
Der ſcharfe Märzenwind,
Und meiner Qual und Mühe
Ein neuer Tag beginnt.
Ich wall' hinab zum Strande
Durch Reif und Dornen hin,
Zu waſchen die Gewande
Der grimmen Königin.

2. Das Meer iſt tief und herbe,
Doch tiefer iſt die Pein,
Von Freund und Heimatserbe
Allzeit geſchieden ſein;
Doch herber iſt's, zu dienen
In fremder Mägde Schar,
Und hat mir einſt geſchienen
Die güldne Kron' im Haar.

3. Mir ward kein guter Morgen,
Seit ich dem Feind verfiel:
Mein' Speiſ' und Trank ſind Sorgen,
Und Kummer mein Geſpiel.
Doch berg' ich meine Tränen
In ſtolzer Einſamkeit;
Am Strand den wilden Schwänen
Allein ſing' ich mein Leid.

4. Kein Dränen ſoll mir beugen
Den hochgemuten Sinn;
Ausduldend will ich zeugen,
Von welchem Stamm ich bin.
Und ſo ſie hold gebaren,
Wie Spinnweb' acht' ich's nur;
Ich will getreu bewahren
Mein Herz und meinen Schwur.

5. O Ortwin, trauter Bruder,
O Herwig, Buhle wert,
Was rauſcht nicht euer Ruder,
Was klingt nicht euer Schwert!
Umſonſt zur Meereswüſte
Hin ſpäh' ich jede Stund':
Doch naht ſich dieſer Küſte
Kein Wimpel, das mir kund.

6. Ich weiß es: nicht vergeſſen
Habt ihr der armen Maid;
Doch iſt nur kurz gemeſſen
Dem ſteten Gram die Zeit.
Wohl kommt ihr einſt, zu ſühnen;
Zu retten, ach, zu ſpät,
Wann ſchon der Sand der Dünen
Um meinen Hügel weht.

7. Es dröhnt mit dumpfem Schlage
Die Brandung in mein Wort;
Der Sturm zerreißt die Klage
Und trägt beſchwingt ſie fort.
O möcht' er brauſend ſchweben
Und geben euch Bericht:
„Wohl laſſ' ich hier das Leben,
Die Treue laſſ' ich nicht!“

[1]) Vgl. Bd. IV, S. 36 ff., Nr. 15.

## 221. Volkers Nachtgeſang.

Von E. v. Geibel.

Geſammelte Werke. Stuttgart 1883. Bd. III (Neue Gedichte und Gedenkblätter), S. 89.

1. Die lichten Sterne funkeln
Hernieder kalt und ſtumm.
Von Waffen klirrt's im Dunkeln,
Der Tod ſchleicht draußen um.
Schweb hoch hinauf, mein Geigenklang,
Durchbrich die Nacht mit klarem Sang!
Du weißt den Spuk von dannen
Zu bannen.

2. Wohl finſter iſt die Stunde,
Doch hell ſind Mut und Schwert;
In meines Herzens Grunde
Steht aller Freuden Herd.
O Lebensluſt, wie reich du blühſt,
O Heldenblut, wie kühn du glühſt!
Wie gleicht der Sonn' im Scheiden
Ihr beiden!

3. Ich denke hoher Ehren,
Sturmluſt'ger Jugendzeit,
Da wir mit ſcharfen Speeren
Hinjauchzten in den Streit.
Hei, Schildgekrach im Sachſenkrieg!
Auf unſern Bannern ſaß der Sieg,
Als wir die erſten Narben
Erwarben.

4. Mein grünes Heimatleben,
Wie tauchſt du mir empor!
Des Schwarzwalds Wipfel weben
Herüber an mein Ohr;
So ſäuſelt's in der Rebenflur,
So brauſt der Rhein, darauf ich fuhr
Mit meinem Lieb zu zweien
Im Maien.

5. O Minne, wunderſüße,
Du Roſenhag in Bluſt,
Ich grüße dich, ich grüße
Dich heut' aus tiefſter Bruſt!
Du roter Mund, gedenk' ich dein,
Es macht mich ſtark, wie firner Wein.
Das ſollen Heunenwunden
Bekunden.

6. Ihr Kön'ge ſonder Zagen
Schlaft ſanft, ich halte Wacht;
Ein Glanz aus alten Tagen
Erleuchtet mir die Nacht.
Und kommt die Früh' im blut'gen Kleid:
Gott grüß' dich, grimmer Schwerterſtreit!
Dann magſt du, Tod, zum Reigen
Uns geigen!

## 222. Einem Knaben.

Von N. Lenau.

Sämtliche Werke. Stuttgart 1880. Bd. I, S. 123.

1. Was trauerſt du, mein ſchöner Junge?
Du Armer, ſprich, was weinſt du ſo?
Daß treulos dir im raſchen Schwunge
Dein liebes Vögelein entfloh?

2. Du blickeſt bald in deiner Trauer
Hinüber dort nach jenem Baum,
Bald wieder nach dem leeren Bauer
Blickſt du in deinem Kindestraum.

3. Du legſt ſo ſchlaff die kleinen Hände
An deines Lieblings ödes Haus
Und prüfeſt rings die Sproſſenwände
Und fragſt: „Wie kam er nur hinaus?"

4. An jenem Baume hörſt du ſingen
Den Fernen, den dein Herz verlor,
Und unaufhaltſam-eilig dringen
Die heißen Tränen dir hervor.

5. Gib acht, gib acht, o lieber Knabe,
Daß du nicht daſtehſt trauernd einſt
Und um die beſte, ſchönſte Habe
Des Menſchenlebens bitter weinſt!

6. Daß du die Hand, die ſturmerprobte,
Nicht legſt, ein Mann, an deine Bruſt,
Darin ſo mancher Schmerz dir tobte,
Dir ſäuſelte ſo manche Luſt;

7. Daß du die Hand mit wildem Krampfe
Nicht drückeſt deinem Buſen ein,
Aus dem die Unſchuld dir im Kampfe
Entflohn, das ſcheue Vögelein.

8. Dann hörſt du flüſtern ihre leiſen
Geſänge aus der Ferne her;
Neigſt hin dich nach den ſüßen Weiſen:
Das Vöglein aber kehrt nicht mehr! —

## 223. Der Postillon. (1833.)

Von N. Lenau.

Sämtliche Werke. Stuttgart 1880. Bd. 1, S. 80.

1. Lieblich war die Maiennacht,
Silberwölklein flogen,
Ob der holden Frühlingspracht
Freudig hingezogen.

2. Schlummernd lagen Wief' und Hain,
Jeder Pfad verlassen;
Niemand als der Mondenschein
Wachte auf der Straßen.

3. Leise nur das Lüftchen sprach,
Und es zog gelinder
Durch das stille Schlafgemach
All' der Frühlingskinder.

4. Heimlich nur das Bächlein schlich,
Denn der Blüten Träume
Dufteten gar wonniglich
Durch die stillen Räume.

5. Rauher war mein Postillon,
Ließ die Geißel knallen,
Über Berg und Tal davon
Frisch sein Horn erschallen.

6. Und von flinken Rossen vier
Scholl der Hufe Schlagen,
Die durchs blühende Revier
Trabten mit Behagen.

7. Wald und Flur im schnellen Zug
Kaum gegrüßt — gemieden;
Und vorbei wie Traumesflug,
Schwand der Dörfer Frieden.

8. Mitten in dem Maienglück
Lag ein Kirchhof innen,
Der den raschen Wanderblick
Hielt zu ernstem Sinnen.

9. Hingelehnt an Bergesrand
War die bleiche Mauer,
Und das Kreuzbild Gottes stand
Hoch, in stummer Trauer.

10. Schwager[1]) ritt auf seiner Bahn
Stiller jetzt und trüber;
Und die Rosse hielt er an,
Sah zum Kreuz hinüber:

11. „Halten muß hier Roß und Rad,
Mag's Euch nicht gefährden:
Drüben liegt mein Kamerad
In der kühlen Erden!

12. „Ein gar herzlieber Gesell!
Herr, 's ist ewig schade!
Keiner blies das Horn so hell,
Wie mein Kamerade!

13. „Hier ich immer halten muß,
Dem dort unterm Rasen
Zum getreuen Brudergruß
Sein Leiblied zu blasen!"

14. Und dem Kirchhof sandt' er zu
Frohe Wanderfänge,
Daß es in die Grabesruh'
Seinem Bruder dränge.

15. Und des Hornes heller Ton
Klang vom Berge wider,
Ob der tote Postillon
Stimmt' in seine Lieder. —

16. Weiter ging's durch Feld und Hag
Mit verhängtem Zügel;
Lang' mir noch im Ohre lag
Jener Klang vom Hügel.

## 224. Die Auswanderer. (Sommer 1832.)

Von F. Freiligrath.

Gesammelte Dichtungen. Stuttgart 1877. Bd. 1, S. 11.

1. Ich kann den Blick nicht von euch wenden,
Ich muß euch anschau'n immerdar;
Wie reicht ihr mit geschäft'gen Händen
Dem Schiffer eure Habe dar!

2. Ihr Männer, die ihr von dem Nacken
Die Körbe langt, mit Brot beschwert,
Das ihr aus deutschem Korn gebacken,
Geröstet habt auf deutschem Herd;

---

[1]) Bezeichnung für Postillon, entstanden aus dem Brauche der Studenten (in der 1. Hälfte des 18. Jahrhunderts), Nichtstudenten als „Schwager" anzureden. Vgl. F. Kluge, Etymolog. Wörterbuch der deutschen Sprache, 5. Aufl., S. 339.

3. Und ihr, im Schmuck der langen Zöpfe,
Ihr Schwarzwaldmädchen, braun und ſchlank,
Wie ſorgſam ſtellt ihr Krüg' und Töpfe
Auf der Schaluppe grüne Bank.

4. Das ſind dieſelben Töpf' und Krüge,
Oft an der Heimat Born gefüllt;
Wenn am Miſſouri alles ſchwiege,
Sie malten euch der Heimat Bild:

5. Des Dorfes ſteingefaßte Quelle,
Zu der ihr ſchöpfend euch gebückt,
Des Herdes traute Feuerſtelle
Das Wandgeſims, das ſie geſchmückt.

6. Bald zieren ſie im fernen Weſten
Des leichten Bretterhauſes Wand;
Bald reicht ſie müden braunen Gäſten,
Voll friſchen Trunkes, eure Hand.

7. Es trinkt daraus der Tſcherokeſe,
Ermattet, von der Jagd beſtaubt;
Nicht mehr von deutſcher Rebenleſe
Tragt ihr ſie heim, mit Grün belaubt.

8. O ſprecht! warum zogt ihr von dannen?
Das Neckartal hat Wein und Korn;
Der Schwarzwald ſteht voll finſtrer Tannen,
Im Speſſart klingt des Älplers Horn.

9. Wie wird es in den fremden Wäldern
Euch nach der Heimatberge Grün,
Nach Deutſchlands gelben Weizenfeldern,
Nach ſeinen Rebenhügeln ziehn!

10. Wie wird das Bild der alten Tage
Durch eure Träume glänzend wehn!
Gleich einer ſtillen, frommen Sage
Wird es euch vor der Seele ſtehn.

11. Der Bootsmann winkt! — Zieht hin in Frieden:
Gott ſchütz' euch, Mann und Weib und Greis!
Sei Freude eurer Bruſt beſchieden
Und euren Feldern Reis und Mais!

## 225. Fiſcherlied. (1792.)

Von C. Salis-Seewis.

Gedichte. Herausgegeben von A. Fretz. Stuttgart 1866. S. 231.

1. Das Fiſchergewerbe
Gibt rüſtigen Mut!
Wir haben zum Erbe
Die Güter der Flut.
Wir graben nicht Schätze,
Wir pflügen kein Feld;
Wir ernten im Netze,
Wir angeln uns Geld.

2. Wir heben die Reuſen
Den Schilfbach entlang,
Und ruhn bei den Schleuſen,
Zu ſondern den Fang.
Goldweiden beſchatten
Das mooſige Dach;
Wir ſchlummern auf Matten
Im kühlen Gemach.

3. Mit roten Korallen
Prangt Spiegel und Wand,
Den Eſtrich der Hallen
Deckt ſilberner Sand.
Das Gärtchen daneben
Grünt, ländlich umzäunt
Von kreuzenden Stäben
Mit Baſte vereint.

4. Im Antlitz der Buben
Lacht mutiger Sinn,
Sie meiden die Stuben
Bei Tagesbeginn;
Sie tauchen und ſchwimmen
Im eiſigen See;
Und barfuß erklimmen
Sie Klippen voll Schnee.

5. Die Töchter ergötzen
Sich abends bei Licht,
Wann alles an Netzen
Und Maſchenwerk flicht.
Oft wird mit Gelächter
Durchmuſtert das Dorf;
Die Mutter, als Wächter,
Schürt nickend den Torf.

6. Oft rudern wir ferne
Im wiegenden Kahn;
Dann blinken die Sterne
So freundlich uns an;
Der Mond aus den Höhen,
Der Mond aus dem Bach,
So ſchnell wir entflöhen,
Sie gleiten uns nach.

7. Wir trotzen dem Wetter,
Das finſter uns droht,
Wenn ſchöpfende Bretter
Kaum hemmen den Tod.
Wir trotzen auch Wogen
Auf krachendem Schiff,
In Tiefen gezogen,
Geſchleudert ans Riff!

8. Der Herr, der in Stürmen
Der Mitternacht blitzt,
Vermag uns zu ſchirmen
Und kennt, was uns nützt.
Gleich unter dem Flügel
Des Ewigen ruht
Der Raſengruft Hügel,
Das Grab in der Flut.

## 226. Des Schiffers Traum. (1837.)

Von M. Arndt.

Gedichte. Vollſtändige Sammlung. Berlin 1860. S. 202.

1. Es heult der Sturm, die Woge ſchäumt,
Und durch die Wolken fahren Blitze;
Der alte Schiffer nickt und träumt
Gar ruhig auf dem naſſen Sitze:
Wie wild um ihn die Woge ſchlägt,
Wie auf und ab das Schifflein ſchaukelt,
Ein Traum, der ſüße Bilder trägt,
Umſpielt ſein Haupt und ſcherzt und gaukelt.

2. Ein Eiland hebt er hell und ſchön
Mit reichen Fluren aus den Wogen,
Ein wundervolles Lenzgetön
Aus Blütenhainen kommt geflogen. —
Der Alte ruft: „Hier legt ans Land,
Hier in der Bucht, dem ſtillen Hafen!
O kommſt du endlich, Friedensſtrand!
Wie will ich ſüß nach Stürmen ſchlafen!“

3. Da ſchießt aus ſchwarzer Nacht ein Strahl,
Ein glüh'nder Gottespfeil von oben; —
Der Schiffer und das Schiff zumal
Mit Mann und Maus ſie ſind zerſtoben;
Die wilde Woge treibt zum Strand,
Treibt Trümmer und Leichen treu zum Hafen —
Glückſeliger Träumer, du haſt Land,
Nun kannſt du ſüß nach Stürmen ſchlafen.

## 227. Die drei Zigeuner.

Von N. Lenau.

Sämtliche Werke. Stuttgart 1880. Bd. I, S. 176.

1. Drei Zigeuner fand ich einmal
Liegen an einer Weide,
Als mein Fuhrwerk mit müder Qual
Schlich durch ſandige Heide.

2. Hielt der eine für ſich allein
In den Händen die Fiedel,
Spielte, umglüht vom Abendſchein,
Sich ein feuriges Liedel.

3. Hielt der zweite die Pfeif' im Mund,
Blickte nach ſeinem Rauche,
Froh, als ob er vom Erdenrund
Nichts zum Glücke mehr brauche.

4. Und der dritte behaglich ſchlief,
Und ſein Zimbal am Baum hing,
Über die Saiten der Windhauch lief,
Über ſein Herz ein Traum ging.

5. An den Kleidern trugen die drei
Löcher und bunte Flicken,
Aber ſie boten trotzig-frei
Spott den Erdengeſchicken.

6. Dreifach haben ſie mir gezeigt,
Wenn das Leben uns nachtet,
Wie man's verraucht, verſchläft, vergeigt
Und es dreimal verachtet.

7. Nach den Zigeunern lang' noch ſchau'n
Mußt' ich im Weiterfahren,
Nach den Geſichtern dunkelbraun,
Den ſchwarzlockigen Haaren.

## 228. Mein Lieben. (1841.)

Von Hoffmann von Fallersleben.

Gedichte. Auswahl. Hannover 1862. S. 251.

1. Wie könnt' ich dein vergeſſen:
Ich weiß, was du mir biſt,
Wenn auch die Welt ihr Liebſtes
Und Beſtes bald vergißt.

Ich ſing' es hell und ruf' es laut:
Mein Vaterland iſt meine Braut.
Wie könnt' ich dein vergeſſen!
Ich weiß, was du mir biſt.

2. Wie könnt' ich dein vergeſſen!
Dein denk' ich allezeit;
Ich bin mit dir verbunden,
Mit dir in Freud' und Leid.
Ich will für dich im Kampfe ſtehn
Und, ſoll es ſein, mit dir vergehn.
Wie könnt' ich dein vergeſſen!
Dein denk' ich allezeit.

3. Wie könnt' ich dein vergeſſen!
Ich weiß, was du mir biſt.
Solang ein Hauch von Liebe
Und Leben in mir iſt.
Ich ſuche nichts, als dich allein,
Als deiner Liebe wert zu ſein.
Wie könnt' ich dein vergeſſen!
Ich weiß, was du mir biſt.

## 229. Aus dem ſchleſiſchen Gebirge. (St. Goar, März 1844.)

Von *F. Freiligrath.*

Geſammelte Dichtungen. Stuttgart 1887. Bd. III, S. 88.

1. „Nun werden grün die Brombeerhecken;
Hier ſchon ein Veilchen — welch ein Feſt!
Die Amſel ſucht ſich dürre Stecken,
Und auch der Buchfink baut ſein Neſt.
Der Schnee iſt überall gewichen,
Die Koppe nur ſieht weiß ins Tal;
Ich habe mich von Hauſ' geſchlichen,
Hier iſt der Ort — ich wag's einmal: ‚Rübezahl!'

2. „Hört er's? Ich ſeh' ihm dreiſt entgegen!
Er iſt nicht bös! Auf dieſen Block
Will ich mein Leinwandpäckchen legen —
Es iſt ein richt'ges, volles Schock!
Und fein! Ja, dafür kann ich ſtehen!
Kein beſſ'res wird gewebt im Tal, —
Er läßt ſich immer noch nicht ſehen!
Drum friſchen Mutes noch einmal: ‚Rübezahl!'

3. „Kein Laut! — Ich bin ins Holz gegangen,
Daß er uns hilft in unſrer Not!
O, meiner Mutter blaſſe Wangen, —
Im ganzen Haus kein Stückchen Brot!
Der Vater ſchritt zum Markt mit Fluchen —
Fänd' er auch Käufer nur einmal!
Ich will's mit Rübezahl verſuchen —
Wo bleibt er nur? zum drittenmal: ‚Rübezahl!'

4. „Er half ſo vielen ſchon vorzeiten —
Großmutter hat mir's oft erzählt!
Ja, er iſt gut den armen Leuten,
Die unverſchuldet Elend quält!
So bin ich froh denn hergelaufen
Mit meiner richt'gen Ellenzahl!
Ich will nicht betteln, will verkaufen!
O, daß er käme! ‚Rübezahl! Rübezahl!'

5. „Wenn dieſes Päckchen ihm gefiele,
Vielleicht gar bät' er mehr ſich aus!
Das wär' mir recht! Ach gar zu viele
Gleich ſchöne liegen noch zu Hauſ'!
Die nähm' er alle bis zum letzten!
Ach, fiel' auf dies doch ſeine Wahl!
Da löſt' ich ein ſelbſt die verſetzten —
Das wär' ein Jubel! ‚Rübezahl! Rübezahl!'

6. „Dann trät' ich froh ins kleine Zimmer,
Und riefe: ‚Vater, Geld genug!'
Dann flucht' er nicht, dann ſagt' er nimmer:
‚Ich web' euch nur ein Hungertuch!'
Dann lächelte die Mutter wieder
Und tiſcht' uns auf ein reichlich Mahl;
Dann jauchzten meine kleinen Brüder —
O käm', o käm' er! ‚Rübezahl! Rübezahl!'"

7. So rief der dreizehnjähr'ge Knabe;
So ſtand und rief er matt und bleich.
Umſonſt! nur dann und wann ein Rabe
Flog durch des Gnomen altes Reich.
So ſtand und paßt' er Stund' auf Stunde
Bis daß es dunkel ward im Tal,
Und er halblaut mit zuckendem Munde
Ausrief durch Tränen noch einmal: „Rübezahl!"

8. Dann ließ er ſtill das buſch'ge Fleckchen
Und zitterte und ſagte: „Nu!"
Und ſchritt mit ſeinem Leinwandpäckchen
Dem Jammer ſeiner Heimat zu.
Oft ruht' er aus auf moos'gen Steinen,
Matt von der Bürde, die er trug.
Ich glaub', ſein Vater webt dem Kleinen
Zum Hunger- bald das Leichentuch! — Rübezahl?!

## 230. Deutſcher Troſt. (1813.)

Von M. Arndt.

Gedichte. Vollſtändige Sammlung. Berlin 1860. S. 247.

1. Deutſches Herz, verzage nicht!
Tu, was dein Gewiſſen ſpricht,
Dieſer Strahl des Himmelslichts:
„Tue recht und fürchte nichts.“

2. Baue nicht auf bunten Schein,
Lug und Trug iſt dir zu fein.
Schlecht gerät dir Licht und Kunſt,
Feinheit wird dir eitel Dunſt.

3. Doch die Treue ehrenfeſt
Und die Liebe, die nicht läßt,
Einfalt, Demut, Redlichkeit
Stehn dir wohl, o Sohn vom Teut.

4. Wohl ſteht dir das grade Wort,
Wohl der Speer, der grade bohrt,
Wohl das Schwert, das offen ficht
Und von vorn die Bruſt durchſticht.

5. Laß den Welſchen Meuchelei,
Du ſei redlich, fromm und frei;
Laß den Welſchen Sklavenzier,
Schlichte Treue ſei mit dir.

6. Deutſche Freiheit, deutſcher Gott,
Deutſcher Glaube ohne Spott,
Deutſches Herz und deutſcher Stahl
Sind vier Helden allzumal.

7. Dieſe ſtehn wie Felſenburg,
Dieſe fechten alles durch,
Dieſe halten tapfer aus,
In Gefahr und Todesbraus.

8. Deutſches Herz, verzage nicht!
Tu, was dein Gewiſſen ſpricht,
Redlich folge ſeiner Spur,
Redlich hält es ſeinen Schwur.

## 231. Das Lied der Deutſchen. (1841.)

Von Hoffmann von Fallersleben.

Gedichte. Auswahl. Hannover 1862. S. 349.

1. Deutſchland, Deutſchland über alles,
Über alles in der Welt,
Wenn es ſtets zu Schutz und Trutze
Brüderlich zuſammenhält,
Von der Maas bis an die Memel,
Von der Etſch bis an den Belt —
Deutſchland, Deutſchland über alles,
Über alles in der Welt!

2. Deutſche Frauen, deutſche Treue,
Deutſcher Wein und deutſcher Sang
Sollen in der Welt behalten
Ihren alten, ſchönen Klang;
Uns zu edler Tat begeiſtern
Unſer ganzes Leben lang —
Deutſche Frauen, deutſche Treue,
Deutſcher Wein und deutſcher Sang.

3. Einigkeit und Recht und Freiheit
Für das deutſche Vaterland!
Danach laßt uns alle ſtreben
Brüderlich mit Herz und Hand!
Einigkeit und Recht und Freiheit
Sind des Glückes Unterpfand —
Blüh' im Glanze dieſes Glückes,
Blühe, deutſches Vaterland!

## 232. Preis der deutſchen Sprache. (1846.)

Von Ad. Stöber.

[Erſchien im Morgenblatt für gebildete Stände, Stuttgart 1847, Nr. 4.]

1. Mutterſprache deutſchen Klanges,
O, wie hängt mein Sinn an dir!
Des Gebetes und Geſanges
Heil'ge Laute gabſt du mir.
Sollt' ich deine Fülle miſſen,
O, mich kränkte der Verluſt,
Wie ein Kind, das man geriſſen
Von der warmen Mutterbruſt.

2. O, wie klingt in deinen Tönen
Gottes Wort ſo voll und reich,
Mächtig, wie Poſaunen dröhnen,
Und wie Hirtenflöten weich!
Wie die Orgel mannigfaltig,
Leihſt du jedem Geiſt den Mund,
Tuſt Prophetenernſt gewaltig,
Jüngermilde lieblich kund.

3. Gilt's dem edlen Vaterlande,
Seiner Freiheit, ſeiner Ehr',
Gilt es gegen ſchnöde Bande
Heil'gen Kampf und tapfre Wehr:
Wie die Schlachttrompete ſchmettert,
Zürnen deine Laute dann,
Wie ein Schwert, das Blitze wettert,
Dieneſt du dem freien Mann.

4. Von der Heimat trauten Rämmen,
Von des Hauſes Luſt und Schmerz,
Von der Kindheit Roſenträumen
Sprichſt du wie ein Mutterherz,
Weißt in farbenhellen Bildern
Und im goldnen Märchenſtil
Treu die Kinderwelt zu ſchildern
Und der Häuslichkeit Aſyl.

5. Des Gemütes tiefſten Saiten
Lockſt du ab den hellen Laut;
Seine zartſten Heimlichkeiten
Hat das Herz dir anvertraut:
Liebesweh und Liebeswonnen,
Sehnſucht und Befriedigung,
Was im Buſen ſich entſponnen,
Kündet deiner Töne Schwung.

6. Maienluſt und Herbſtestrauer,
Alpengrün und Gletſcherpracht,
Blütenduft und Windsbrautſchauer,
Wieſenglanz und Waldesnacht
Deuteſt mit geweihten Zeichen,
Du, Vertraute der Natur,
Wie Druiden unter Eichen
Lauſchten auf des Gottes Spur.

7. Immer forſchend, unerſchrocken,
Zu gewinnen edlen Fund,
Senkſt du deine Taucherglocken
In der Wahrheit tiefſten Grund.
Sammelſt an verborg'nem Riffe
Einen reichen Perlenkranz;
Aller Wiſſenſchaft Begriffe
Leuchtend in des Wortes Glanz.

8. Ja, ſoweit als die Gedanken,
Fliegſt du deinen hohen Flug,
Schwebend über engen Schranken
Wie der Wandervögel Zug.
Weltumfaſſend ſei dein Streben,
Wie des Himmels blaue Flur,
Reich und rege wie das Leben,
Groß und frei wie die Natur.

## 233. Der deutſche Rhein. (1840.)

Von N. Becker.

Gedichte. Köln 1841. S. 216.

1. Sie ſollen ihn nicht haben,
Den freien deutſchen Rhein,
Ob ſie wie gier'ge Raben
Sich heiſer darnach ſchrei'n.

2. Solang' er ruhig wallend
Sein grünes Kleid noch trägt,
Solang' ein Ruder ſchallend
In ſeine Woge ſchlägt.

3. Sie ſollen ihn nicht haben,
Den freien deutſchen Rhein,
Solang' ſich Herzen laben
An ſeinem Feuerwein,

4. Solang' in ſeinem Strome
Noch feſt die Felſen ſtehn,
Solang' ſich hohe Dome
In ſeinem Spiegel ſehn!

5. Sie ſollen ihn nicht haben,
Den freien deutſchen Rhein,
Solang' dort kühne Knaben
Um ſchlanke Dirnen frei'n.

6. Solang' die Floſſe hebet
Ein Fiſch auf ſeinem Grund,
Solang' ein Lied noch lebet
In ſeiner Sänger Mund.

7. Sie ſollen ihn nicht haben,
Den freien deutſchen Rhein,
Bis ſeine Flut begraben
Des letzten Manns Gebein!

## 234. Pſalm. (1789.)

Von F. Klopſtock.

Werke. Herausgegeben von R. Hamel. Berlin und Stuttgart 1886. Tl. III (Oden). S. 178.

Um Erden wandeln Monde,
Erden um Sonnen,
Aller Sonnen Heere wandeln
Um eine große Sonne:
„Vater unſer, der du biſt im Himmel!"
Auf allen dieſen Welten, leuchtenden und erleuchteten,
Wohnen Geiſter, an Kräften ungleich und an Leibern;
Aber alle denken Gott, und freuen ſich Gottes.
„Geheiliget werde dein Name."
Er, der Hocherhabene,
Der allein ganz ſich denken,
Seiner ganz ſich freuen kann,
Machte den tiefen Entwurf
Zur Seligkeit aller ſeiner Weltbewohner.
„Zu uns komme dein Reich!"

Wohl ihnen, daß nicht sie, daß er
Ihr Jetziges und ihr Zukünftiges ordnete,
Wohl ihnen, wohl!
Und wohl auch uns!
„Dein Wille geschehʼ,
Wie im Himmel, also auch auf Erden.“
Er hebt mit dem Halme die Ährʼ empor,
Reifet den goldnen Apfel, die Purpurtraube
Weidet am Hügel das Lamm, das Reh im Walde;
Aber sein Donner rollet auch her,
Und die Schloße zerschmettert es
Am Halme, am Zweigʼ, an dem Hügel und im Walde!
„Unser tägliches Brot gib uns heute.“
Ob wohl hoch über des Donners Bahn
Sünder auch, und Sterbliche sind?
Dort auch der Freund zum Feinde wird?
Der Freund im Tode sich trennen muß?
„Vergib uns unsere Schuld,
Wie wir vergeben unseren Schuldigern.“
Gesonderte Pfade gehen zum hohen Ziel,
Zu der Glückseligkeit;
Einige krümmen sich durch Einöden,
Doch selbst an diesen sproßt es von Freuden auf
Und labet den Durstenden.
„Führ uns nicht in Versuchung,
Sondern erlös uns vom Übel.“
Anbetung dir, der die große Sonne
Mit Sonnen, und Erden, und Monden umgab;
Der Geister erschuf;
Ihre Seligkeit ordnete;
Die Ähre hebt;
Der dem Tode ruft;
Zum Ziele durch Einöden führt, und den Wanderer labt,
Anbetung dir!
„Denn dein ist das Reich, und die Macht
Und die Herrlichkeit. Amen.“

## 235. Die schöne Buche. (1842.)

Von E. Mörike.

Gedichte. Stuttgart 1873. S. 129.

Ganz verborgen im Wald kennʼ ich ein Plätzchen, da stehet
Eine Buche: man sieht schöner im Bilde sie nicht.
Rein und glatt, in gediegenem Wuchs erhebt sie sich einzeln,
Keiner der Nachbarn rührt ihr an den seidenen Schmuck.
Rings, soweit sein Gezweig der stattliche Baum ausbreitet,
Grünet der Rasen, das Augʼ still zu erquicken, umher;
Gleich nach allen Seiten umzirkt er den Stamm in der Mitte;
Kunstlos schuf die Natur selber dies liebliche Rund.
Zartes Gebüsch umkränzet es erst; hochstämmige Bäume,
Folgend in dichtem Gedrängʼ, wehren dem himmlischen Blau.
Neben der dunkleren Fülle des Eichbaums wieget die Birke
Ihr jungfräuliches Haupt schüchtern im goldenen Licht.
Nur wo, verdeckt vom Felsen, der Fußsteig jäh sich hinabschlingt,
Läßet die Hellung mich ahnen das offene Feld.
Als ich unlängst einsam, von neuen Gestalten des Sommers
Ab dem Pfade gelockt, dort im Gebüsch mich verlor,
Führtʼ ein freundlicher Geist, des Hains auflauschende Gottheit,
Hier mich zum erstenmal plötzlich, den Staunenden, ein.
Welch Entzücken! Es war um die hohe Stunde des Mittags,
Lautlos alles, es schwieg selber der Vogel im Laub.
Und ich zauderte noch, auf den zierlichen Teppich zu treten;
Festlich empfing er den Fuß, leise beschritt ich ihn nur.
Jetzo, gelehnt an den Stamm (er trägt sein breites Gewölbe
Nicht zu hoch), ließ ich rundum die Augen ergehn,
Wo den beschatteten Kreis die feurig strahlende Sonne,
Fast gleich messend umher, säumte mit blendendem Rand.

Aber ich ſtand und rührte mich nicht; dämoniſcher Stille,
Unergründlicher Ruh' lauſchte mein innerer Sinn.
Eingeſchloſſen mit dir in dieſem ſonnigen Zauber-
Gürtel, o Einſamkeit, fühlt' ich und dachte nur dich!

## 236. Fraw Musica.

(Vorrede auff alle güte Geſangbücher.)

Von M. Luther.

Geiſtliche Lieder zu Wittemberg, Anno 1543. Gedruckt zu Wittemberg, Durch Joſeph Klug, Anno M. D. XLIIII. Bl. 1vo.

FVR allen freuden auff Erden
kan niemand kein feiner werden,
Den̄ die ich geb mit meim ſingen
vnd mit manchem ſüſſen klinge.
Hie kan nicht ſein ein böſer Mut,
wo da ſingen Geſellen gut;
Hie bleibt kein zorn, zanck, haß noch neid,
weichen mus alles hertzeleid;
Geitz, ſorg vnd was ſonſt hart anleit[1])
fert hin mit aller trawrigkeit.
Auch iſt ein jeder des wol frey,
das ſolche Freud kein ſünde ſey,
Sondern auch Gott viel bas gefelt
den̄ alle Freud der gantzen Welt;
Dem Teuffel ſie ſein werck zerſtört
vnd verhindert viel böſer Mörd.
Das zeugt Dauid, des Königes, that,
der dem Saul offt geweret hat
Mit gutem ſüſſen Harffenſpiel,
das er in groſſen Mord nicht fiel.
Zum Göttlichen wort vñ wahrheit
macht ſie das Herz ſtill vñ bereit,
Solchs hat Eliſeus[2]) bekand,
da er dē Geiſt durchs harffen fand.
Die beſte zeit im jar iſt mein,
da ſingen alle Vögelein,
Himel vnd Erden iſt der vol,
viel gut Geſang da lautet wol.
Voran die liebe Nachtigal
macht alles frölich vberal
Mit jrem lieblichem Geſang,
des mus ſie haben jmer danck.
Viel mehr der liebe HErre Gott,
der ſie alſo geſchaffen hat
Zu ſeyn die rechte Sengerin,
der Muſicen ein Meiſterin.
Dem ſingt vnd ſpringt ſie tag vnd nacht,
ſeins Lobes ſie nichts müde macht:
Den ehrt vnd lobt auch mein Geſang
vnd ſagt jm ein ewigen Danck.

## 237. Lobgeſang. (1822.)

Von F. Rückert.

Geſammelte Gedichte. Erlangen 1836. Bd. II, S. 493.

Flammt empor in euren Höh'n, Morgenſonnen, lobt den Herrn!
Rauſcht in euren Tiefen auf, Schöpfungsbronnen, lobt den Herrn!
Die ihr, ohne zu verglühn, lang' geflammt vor ſeinem Blick,
Ohne zu verrinnen, lang' hingeronnen, lobt den Herrn!
Der ein mannigfaltiges Leben ſchau'n will außer ſich;
Alle, die ein Leben ihr habt gewonnen, lobt den Herrn!
Alle Tropfen ſeiner Huld, die zu Perlen ſich geformt,
Funken Lichtes, die zu Gold ſind geronnen, lobt den Herrn!
Soviel Halme von dem Tau ſeiner Gnade trunken ſind,
Soviel ſich an ſeinem Strahl Welten ſonnen, lobt den Herrn!
Ob vor ſeinem ew'gen Blick ihr des Lebens raſchen Tanz
Jetzt vollendet, oder jetzt habt begonnen, lobt den Herrn!
Blumen, die der Frühling weckt, Garben, die der Sommer dörrt,
Trauben, deren Blut der Herbſt preßt in Tonnen, lobt den Herrn!
Raupe, die das Blatt benagt, haftend an dem grünen Zweig,
Puppe, zur Verwandlung reif eingeſponnen, lobt den Herrn!

[1]) anliegt. — [2]) Der Prophet Eliſa (ſ. 2 Kön. 3, 15).

Schmetterlinge, die ihr noch von dem Duft der Blüten naſcht,
Schmetterlinge, die ins Licht ſchon zerronnen, lobt den Herrn!
Geiſter, eingeengt in Nacht, oder aufgeflammt ins Licht,
Herzen, ſchmeckend Lebensluſt, Todeswonnen, lobt den Herrn!
Die ihr mit dem Flügelſchlag glühender Begeiſtrung ſtrebt,
Oder fördert euer Werk ſtill beſonnen, lobt den Herrn!
Lobt den Herrn, des Lichtgewand auch durch dunkle Fäden wächſt,
Die ein unſcheinbarer Fleiß hat geſponnen, lobt den Herrn!
Lobt den Herrn, des Angeſicht lächelnd in den Spiegel ſchaut
Auch des Tropfens, der am Halm hängt geronnen, lobt den Herrn!
Lobt den Herrn, der loben ſich gern in allen Sprachen hört,
Die Bedürfnis ſeines Lobs hat erſonnen, lobt den Herrn!
Ob das Blatt am Zweige rauſcht, ob des Menſchen Zunge tönt,
Ob ein Engel höhern Gruß ſich erſonnen, lobt den Herrn!
Alle, die ihr euren Gott fühlet, ahnet, denket, ſchaut,
Die ihr ſinnt, was niemals wird ausgeſonnen, lobt den Herrn!
Wenn in des Gemütes Nacht euch ſein erſter Schimmer brach,
Oder wenn ihr euch im Glanz habt verſonnen, lobt den Herrn!
Alle Sinne, die des Sangs Woge ſchwellet himmelan,
Lobt mit allen rauſchenden Schöpfungsbronnen, lobt den Herrn!
Alle Seelen, in der Glut des Gebetes weihrauchgleich,
Lobt mit allen brennenden Morgenſonnen, lobt den Herrn!

## 238. Elegie. In den Ruinen eines alten Bergſchloſſes geſchrieben. (1787.)

Von F. v. Matthiſſon.

Gedichte. Zürich 1815. S. 30.

1. Schweigend, in der Abenddämm'rung Schleier,
Ruht die Flur, das Lied der Haine ſtirbt;
Nur daß hier, im alternden Gemäuer,
Melancholiſch noch ein Heimchen zirpt;
Stille ſinkt aus unbewölkten Lüften,
Langſam ziehn die Herden von den Triften,
Und der müde Landmann eilt der Ruh'
Seiner väterlichen Hütte zu.

2. Hier auf dieſen waldumkränzten Höhen,
Unter Trümmern der Vergangenheit,
Wo der Vorwelt Schauer mich umwehen,
Sei dies Lied, o Wehmut, dir geweiht!
Trauernd denk' ich, was, vor grauen Jahren,
Dieſe morſchen Überreſte waren:
Ein bestürmtes Schloß, voll Majeſtät
Auf des Berges Felſenſtirn erhöht!

3. Dort, wo um des Pfeilers dunkle Trümmer
Traurig flüſternd ſich der Efeu ſchlingt
Und der Abendröte trüber Schimmer
Durch den öden Raum der Fenſter blinkt,
Segneten vielleicht des Vaters Tränen
Einſt den edelſten von Deutſchlands Söhnen,
Deſſen Herz, der Ehrbegierde voll,
Heiß dem nahen Kampf entgegenſchwoll.

4. „Zeuch in Frieden", ſprach der greiſe Krieger,
Ihn umgürtend mit dem Heldenſchwert;
„Kehre nimmer, oder kehr' als Sieger!
Sei des Namens deiner Väter wert!"
Und des edlen Jünglings Auge ſprühte
Todesflammen; ſeine Wange glühte
Gleich dem aufgeblühten Roſenhain
In der Morgenröte Purpurſchein.

5. Eine Donnerwolke, flog der Ritter
Dann, wie Richard Löwenherz, zur Schlacht,
Gleich dem Tannenwald im Ungewitter
Beugte ſich vor ihm des Feindes Macht!
Mild, wie Bäche, die durch Blumen wallen,
Kehrt er zu des Felſenſchloſſes Hallen,
Zu des Vaters Freudentränen-Blick,
In des keuſchen Mädchens Arm zurück.

6. Ach! mit banger Sehnſucht blickt' die Holde
Oft vom Söller nach des Tales Pfad:
Schild und Panzer glühn im Abendgolde,
Roſſe fliegen, der Geliebte naht!
Ihm die treue Rechte ſprachlos reichend,
Steht ſie da, errötend und erbleichend;
Aber was ihr ſanftes Auge ſpricht,
Sängen ſelbſt Petrarch und Sappho nicht!

7. Fröhlich hallte der Pokale Läuten,
Dort, wo wild verſchlungne Ranken ſich
Über Uhuneſter ſchwarz verbreiten,
Bis der Sterne Silberglanz erblich;
Die Geſchichten ſchwer erkämpfter Siege,
Grauſer Abenteu'r im heil'gen Kriege
Weckten in der rauhen Heldenbruſt
Die Erinn'rung ſchauerlicher Luſt.

8. O der Wandlung! Grau'n und Nacht umdüſtern
Nun den Schauplatz jener Herrlichkeit,
Schwermutsvolle Abendwinde flüſtern,
Wo die Starken ſich des Mahls gefreut,
Diſteln wanken einſam auf der Stätte,
Wo um Schild und Speer der Knabe flehte,
Wann der Kriegsdrommete Ruf erklang,
Und aufs Kampfroß ſich der Vater ſchwang.

9. Aſche ſind der Mächtigen Gebeine
Tief im dunkeln Erdenſchoße nun!
Kaum, daß halbverſunkne Leichenſteine
Noch die Stätte zeigen, wo ſie ruhn.
Viele wurden längſt ein Spiel der Lüfte,
Ihr Gedächtnis ſank wie ihre Grüfte;
Vor dem Tatenglanz der Heldenzeit
Schwebt die Wolke der Vergeſſenheit.

10. So vergehn des Lebens Herrlichkeiten,
So entfleucht das Traumbild eitler Macht!
So verſinkt im ſchnellen Lauf der Zeiten,
Was die Erde trägt, in öde Nacht!
Lorbeer'n, die des Siegers Stirn umkränzen,
Taten, die in Erz und Marmor glänzen,
Urnen, der Erinnerung geweiht,
Und Geſänge der Unſterblichkeit!

11. Alles, was mit Sehnſucht und Entzücken
Hier am Staub ein edles Herz erfüllt,
Schwindet gleich des Herbſtes Sonnenblicken,
Wenn ein Sturm den Horizont umhüllt.
Die am Abend freudig ſich umfaſſen,
Sieht die Morgenröte ſchon erblaſſen;
Selbſt der Freundſchaft und der Liebe Glück
Läßt auf Erden keine Spur zurück.

12. Süße Liebe! Deine Roſenauen
Grenzen an bedornte Wüſtenei'n,
Und ein plötzliches Gewittergrauen
Düſtert oft der Freundſchaft Ätherſchein.
Hoheit, Ehre, Macht und Ruhm ſind eitel!
Eines Weltgebieters ſtolzen Scheitel
Und ein zitternd Haupt am Pilgerſtab
Deckt mit einer Dunkelheit das Grab!

## 239. Elegie bei dem Grabe meines Vaters. (1775.)

Von L. Hölty.

Gedichte. Herausgegeben von K. Halm. Leipzig 1870. S. 44.

1. Selig alle, die im Herrn entſchliefen!
Selig, Vater, biſt auch du:
Engel brachten dir den Kranz und riefen,
Und du gingſt in Gottes Ruh';

2. Wandelſt über Millionen Sternen,
Siehſt die Handvoll Staub, die Erde, nicht,
Schwebſt im Wink durch tauſend Sonnenfernen,
Schaueſt Gottes Angeſicht;

3. Siehſt das Buch der Welten aufgeſchlagen,
Trinkeſt durſtig aus dem Lebensquell:
Nächte, voll von Labyrinthen, tagen,
Und dein Blick wird himmelhell.

4. Doch in deiner Überwinderkrone
Senkſt du noch den Engelblick auf mich,
Beteſt für mich an Jehovahs Throne,
Und Jehovah höret dich.

5. Schwebe, wann der Tropfen Zeit verrinnet,
Den mir Gott aus ſeiner Urne gab,
Schwebe, wann mein Todeskampf beginnet,
Auf mein Sterbebett herab:

6. Daß mir deine Palme Kühlung wehe,
Kühlung, wie von Lebensbäumen träuft;
Daß ich ſonder Graun die Täler ſehe,
Wo die Auferſtehung reift;

7. Daß ich mit dir durch die Himmel ſchwebe,
Wonneſtrahlend und beglückt, wie du,
Und auf einem Sterne mit dir lebe
Und in Gottes Schoße ruh'!

8. Grün' indeſſen, Strauch der Roſenblume,
Deinen Purpur um ſein Grab zu ſtreu'n!
Schlummre, wie im ſtillen Heiligtume,
Hingeſäetes Gebein!

## 240. Die Gräber zu Ottensen. (1815.)

Von F. Rückert.

Gesammelte poetische Werke. Frankfurt a. M. 1868. Bd. I, S. 72.

### Erstes Grab.

1. Zu Ottensen[1]) auf der Wiese
Ist eine gemeinsame Gruft;
So traurig ist keine wie diese
Wohl unter des Himmels Luft.

2. Darinnen liegt begraben
Ein ganzes Volksgeschlecht[2]),
Väter, Mütter, Brüder, Töchter, Kinder, Knaben,
Zusammen Herr und Knecht.

3. Die rufen „Weh" zum Himmel
Aus ihrer stummen Gruft
Und werden's rufen zum Himmel,
Wann die Drommet' einst ruft.

4. „Wir haben gewohnt in Frieden
Zu Hamburg in der Stadt,
Bis uns daraus vertrieben
Ein fremder Wütrich hat.

5. „Er hat uns ausgestoßen
Im Winter zur Stadt hinaus,
Die Hungernden, Nackenden, Bloßen;
Wo finden wir Dach und Haus?

6. „Wo finden wir Kost und Kleider,
Wir zwanzigtausend an Zahl? —
Die andern schleppten sich weiter,
Wir blieben hier zumal.

7. „Die andern nahmen die Briten
Und andre die Dänen auf;
Wir brachten mit müden Schritten
Bis hieher unsern Lauf.

8. „Wir konnten nicht weiter keuchen,
Erschöpft war unsere Kraft;
Frost, Hunger, Elend und Seuchen,
Sie haben uns hingerafft.

9. „Ein ungeheurer Knäuel,
Zwölfhundert oder mehr;
Es zieht sich über den Greuel
Ein dünner Rasen her.

10. „Der deckt nun unsre Blöße,
Ein Obdach er uns gab;
Man merkt des Jammers Größe
Nicht an dem kleinen Grab."

### Zweites Grab. (S. 73.)

1. Zu Ottensen an der Mauer[3])
Der Kirch' ist noch ein Grab,
Darin des Lebens Trauer
Ein Held gelegt hat ab.

2. Geschrieben ist der Namen
Nicht auf den Leichenstein,
Doch er samt seinem Samen
Wird nie vergessen sein.

3. Von Braunschweig ist's der Alte[4]),
Karl Wilhelm Ferdinand,
Der vor des Hirnes Spalte
Hier Ruh' im Grabe fand.

[1]) Ottensen, früher ein holsteinisches Dorf nahe bei Altona, ist jetzt Vorstadt Altonas. Auf dem Kirchhof zu Ottensen befinden sich die merkwürdigen Gräber.

[2]) Am 30. Mai 1813 rückte Marschall Davoust mit zahlreichen französischen Truppen in Hamburg ein. Durch die härtesten Maßregeln, die er schonungslos ins Werk setzte, sahen sich mehr als dreißigtausend Einwohner Hamburgs genötigt, die Stadt zu verlassen, und 1138 davon fanden in der Strenge des Winters ihr Grab in Ottensen. Das Denkmal dieser Unglücklichen befindet sich jetzt vor dem Dammtore in Hamburg, wohin es 1841 nebst den Gebeinen der darunter Ruhenden versetzt wurde. Es ist ein antiker Sarkophag von Sandstein mit den bezüglichen Inschriften.

[3]) Seit 1819 ruht der Herzog K. W. Ferdinand von Braunschweig nicht mehr an der Mauer der Kirche von Ottensen, sondern in der St. Blasius-Kirche in Braunschweig.

[4]) Der greise Herzog K. W. Ferdinand von Braunschweig wurde in der unglücklichen Schlacht bei Jena-Auerstädt (14. Oktober 1806) von einer Musketenkugel getroffen und seiner Augen beraubt. Besinnungslos und mit blutriesendem Antlitze wurde er aus dem Gewühl der Schlacht getragen und auf einer Bahre in sein Erbland und in seine Residenz Braunschweig gebracht. Von dort ließ der blinde Held den Napoleon um Gnade für sein Land und Volk bitten, der aber den unglücklichen Greis noch schmähte und antwortete: „Ich kenne keinen souveränen Herzog von Braunschweig, ich kenne nur den preußischen General Braunschweig". Aus Besorgnis, den Franzosen als Kriegsgefangener in die Hände zu fallen, ließ sich der Herzog mit blutigem Haupte weitertragen bis gen Ottensen, wo er am 10. November starb und sein Grab fand. Sein Sohn, der „Öls", fiel am 16. Juni 1815 bei Quatre-Bras im Kampfe gegen Ney.

4. Der Lorbeerkranz entblättert,
Den auf dem Haupt er trug,
Die Stirn vom Schlag zerſchmettert,
Der ihn bei Jena ſchlug.

5. Nicht, wo er war geboren,
Hat dürfen ſterben er,
Von ſeines Braunſchweigs Toren
Kam irrend er hieher;

6. Umirrend mit den Scherben
Des Haupts von Land zu Land,
Das, eh' er konnte ſterben,
Erſt allen Schmerz empfand;

7. Das erſt noch mußt: denken
Der Zukunft lange Not,
Eh' es ſich durfte ſenken
Beſchwichtigt in den Tod.

8. Jetzt hat ſich's hier geſenket,
Doch hebt ſich's, wie man glaubt,
Noch aus der Gruft und denket,
Das alte Feldherrnhaupt.

9. Da ſieht es die Befreiung
Nun wohl auf deutſcher Flur,
Doch auch von der Entweihung
Die unvertilgte Spur.

10. Da ſieht es der zwölfhundert
Grabſtätte ſich ſo nah
Und ruft wohl aus verwundert:
„Ein Feldherr ward ich ja!

11. „O Feldherrnamt, wie grauſend!
Um mich, den Feldherrn, her
Gelagert ſind die Tauſend,
Ein großes Schmerzensheer.

12. „Euch hat auf andern Pfaden
Und doch aus gleichem Grund
Der Tod hieher geladen,
Ihr ſeid mit mir im Bund.

13. „Daß ohne Totenhemde
Ihr auf den Gräbern ſitzt,
Das ſchmerzt mich, weil der Fremde
Noch ſteht in Purpur itzt.

14. „Iſt keiner mehr am Leben,
Den Purpur auszuziehn
Dem Fremden und zu geben
Euch nackten Toten ihn?

15. „Mit ſeinen dunkeln Schützen
Der Ölß, mein wackrer Sohn,
Der könnte wohl euch nützen,
Doch fiel auch der nun ſchon.

16. „Jetzt kann ich keinen nennen,
Da ihn der Tod geraubt;
Und ſchmerzlich fühl' ich brennen
Die Spalt' in meinem Haupt."

## Drittes Grab. (S. 76.)

1. Zu Otteuſen, von Linden
Beſchattet, auf dem Plan
Iſt noch ein Grab zu finden:
Dem ſoll, wer trauert, nahn:

2. Dort in der Linden Schauer
Soll leſen er am Stein
Die Inſchrift, daß die Trauer
Ihm mag gelindert ſein.

3. Mit ſeiner Gattin [1]) lieget
Und ihrem Sohne dort
Ein Sänger, der beſieget
Den Tod hat durch ein Wort.

4. Es iſt der fromme Sänger,
Der ſang des Heilands Sieg,
Zu dem er, ein Empfänger
Der Palm', im Tod entſtieg.

5. Es iſt derſelbe Sänger,
Der auch die Hermannsſchlacht
Sang, eh' vom neuen Dränger
Geknickt ward Deutſchlands Macht.

6. Ich hoffe, daß in Frieden
Er ruht indes in Gott,
Nicht ſah bei uns hieniedeu
Des Feinds Gewalt und Spott.

7. Und ſo auch ruht im Grabe
Sein unverſtört Gebein,
Als ob geſchirmt es habe
Ein Engel vorm Entweih'n.

8. Es ſind der Jahre zehen
Voll Druck und Tyrannei,
Voll ungeſtümer Wehen
Gegangen dran vorbei.

9. Sie haben nicht die Linden
Gebrochen, die noch wehn,
Und nicht gemacht erblinden
Die Schrift, die noch zu ſehn.

10. Wohl hat, als dumpfer Brodem
Der Knechtſchaft uns umgab,
Ein leiſer Freiheitsodem
Geweht von dieſem Grab.

[1]) Meta Moller (Cidli), † 1758.

11. Wohl iſt, als hier den Flügel
Die Freiheit wiederſchwang,
O Klopſtock, deinem Hügel
Entönt ein Freudenklang.

12. Und wenn ein ſinn'ger Waller
Umher die Gräber jetzt
Beſchaut, tret' er nach aller
Beſchau'n an dies zuletzt.

13. Wenn dort ein trübes Stöhnen
Den Buſen hat geſchwellt,
So iſt, als zum Verſöhnen,
Dies Grab hieher geſtellt.

14. Die Tränen der Vertriebnen,
Des Feldherrn dumpfe Gruft
Verſchwinden vorm beſchriebnen
Stein unterm Lindenduft;

15. Wo wie in goldnen Streifen
Das Wort des Sängers ſteht:
„Saat, von Gott geſät,
Dem Tag der Garben zu reifen".

# C. Proben aus der dramatiſchen Poeſie.

## 241. Schußſcene aus „Wilhelm Tell". (1804.)

Von Fr. v. Schiller.

Sämtliche Schriften. Hiſtor.-krit. Ausgabe von K. Goedeke. Stuttgart 1867. Bd. XIV. S. 349 (3. Aufzug, 3. Scene).

[Wieſe bei Altorf. Im Vordergrund Bäume, in der Tiefe der Hut auf einer Stange. Der Proſpekt wird begrenzt durch den Bannberg, über welchem ein Schneegebirg emporragt.]

Frießhardt und Leuthold halten Wache.

Frießhardt.

Wir paſſen auf umſonſt. Es will ſich niemand
Heran begeben und dem Hut ſein' Reverenz
Erzeigen. 's war doch ſonſt wie Jahrmarkt hier,
Jetzt iſt der ganze Anger wie verödet,
Seitdem der Popanz auf der Stange hängt.

Leuthold.

Nur ſchlecht Geſindel läßt ſich ſehn und ſchwingt
Uns zum Verdrieße die zerlumpten Mützen.
Was rechte Leute ſind, die machen lieber
Den langen Umweg um den halben Flecken,
Eh' ſie den Rücken beugten vor dem Hut.

Frießhardt.

Sie müſſen über dieſen Platz, wenn ſie
Vom Rathaus kommen um die Mittagsſtunde.
Da meint' ich ſchon, 'nen guten Fang zu tun,
Denn keiner dachte dran, den Hut zu grüßen.
Da ſieht's der Pfaff, der Röſſelmann, — kam juſt
Von einem Kranken her — und ſtellt ſich hin
Mit dem Hochwürdigen, grad' vor die Stange —
Der Sigriſt mußte mit dem Glöcklein ſchellen,
Da fielen all' aufs Knie, ich ſelber mit,
Und grüßten die Monſtranz, doch nicht den Hut. —

Leuthold.

Höre, Geſell, es fängt mir an zu deuchten,
Wir ſtehen hier am Pranger vor dem Hut,
's iſt doch ein Schimpf für einen Reitersmann,
Schildwach' zu ſtehn vor einem leeren Hut —
Und jeder rechte Kerl muß uns verachten.
— Die Reverenz zu machen einem Hut,
Es iſt doch, traun! ein närriſcher Befehl!

Frießhardt.

Warum nicht einem leeren, hohlen Hut?
Bückſt du dich doch vor manchem hohlen Schädel.

Hildegard, Mechthild und Elsbeth treten auf mit Kindern und ſtellen ſich um die Stange.

Leuthold.

Und du biſt auch ſo ein dienſtfert'ger Schurke
Und brächteſt wackre Leute gern ins Unglück.
Mag, wer da will, am Hut vorübergehn,
Ich drück' die Augen zu und ſeh' nicht hin.

Mechthild.

Da hängt der Landvogt — Habt Reſpekt, ihr Buben.

Elsbeth.

Wollt's Gott, er ging und ließ uns ſeinen Hut,
Es ſollte drum nicht ſchlechter ſtehn ums Land!

Frießhardt (verſcheucht ſie).

Wollt ihr vom Platz! Verwünſchtes Volk der Weiber!
Wer fragt nach euch? Schickt eure Männer her,
Wenn ſie der Mut ſticht, dem Befehl zu trotzen.

(Weiber gehen.)

Tell mit der Armbrust tritt auf, den Knaben an der Hand führend. Sie gehen an dem Hut vorbei gegen die vordere Scene, ohne darauf zu achten.)

Walther (zeigt nach dem Bannberg).

Vater, ist's wahr, daß auf dem Berge dort
Die Bäume bluten, wenn man einen Streich
Drauf führte mit der Axt?

Tell.

Wer sagt das, Knabe?

Walther.

Der Meister Hirt erzählt's — Die Bäume seien
Gebannt, sagt er, und wer sie schädige,
Dem wachse seine Hand heraus zum Grabe.

Tell.

Die Bäume sind gebannt, das ist die Wahrheit.
— Siehst du die Firnen dort, die weißen Hörner,
Die hoch bis in den Himmel sich verlieren?

Walther.

Das sind die Gletscher, die des Nachts so donnern
Und uns die Schlaglawinen niedersenden.

Tell.

So ist's, und die Lawinen hätten längst
Den Flecken Altorf unter ihrer Last
Verschüttet, wenn der Wald dort oben nicht
Als eine Landwehr sich dagegenstellte.

Walther (nach einigem Besinnen).

Gibt's Länder, Vater, wo nicht Berge sind?

Tell.

Wenn man hinuntersteigt von unsern Höhen,
Und immer tiefer steigt, den Strömen nach,
Gelangt man in ein großes, ebenes Land,
Wo die Waldwasser nicht mehr brausend schäumen,
Die Flüsse ruhig und gemächlich ziehn;
Da sieht man frei nach allen Himmelsräumen,
Das Korn wächst dort in langen, schönen Auen,
Und wie ein Garten ist das Land zu schauen.

Walther.

Ei Vater, warum steigen wir denn nicht
Geschwind hinab in dieses schöne Land,
Statt daß wir uns hier ängstigen und plagen?

Tell.

Das Land ist schön und gütig wie der Himmel,
Doch die's bebauen, sie genießen nicht
Den Segen, den sie pflanzen.

Walther.

Wohnen sie
Nicht frei wie du auf ihrem eignen Erbe?

Tell.

Das Feld gehört dem Bischof und dem König.

Walther.

So dürfen sie doch frei in Wäldern jagen?

Tell.

Dem Herrn gehört das Wild und das Gefieder.

Walther.

Sie dürfen doch frei fischen in dem Strom?

Tell.

Der Strom, das Meer, das Salz gehört dem König.

Walther.

Wer ist der König denn, den alle fürchten?

Tell.

Es ist der eine, der sie schützt und nährt.

Walther.

Sie können sich nicht mutig selbst beschützen?

Tell.

Dort darf der Nachbar nicht dem Nachbar trauen.

Walther.

Vater, es wird mir eng im weiten Land,
Da wohn' ich lieber unter den Lawinen.

Tell.

Ja wohl ist's besser, Kind, die Gletscherberge
Im Rücken haben, als die bösen Menschen.
(Sie wollen vorübergehen.)

Walther.

Ei Vater, sieh den Hut dort auf der Stange.

Tell.

Was kümmert uns der Hut? Komm, laß uns gehen.
(Indem er abgehen will, tritt ihm Friesshardt mit vorgehaltener Pike entgegen.)

Friesshardt.

In des Kaisers Namen! Haltet an und steht!

Tell (greift in die Pike).

Was wollt Ihr? Warum haltet Ihr mich auf?

Friesshardt.

Ihr habt 's Mandat verletzt, Ihr müßt uns folgen.

Leuthold.

Ihr habt dem Hut nicht Reverenz bewiesen.

Tell.

Freund, laß mich gehen.

Friesshardt.

Fort, fort ins Gefängnis!

Walther.

Den Vater ins Gefängnis! Hilfe! Hilfe!
(In die Scene rufend:)
Herbei, ihr Männer; gute Leute, helft!
Gewalt, Gewalt, sie führen ihn gefangen.

Rösselmann der Pfarrer und Petermann der Sigrist kommen herbei mit drei anderen Männern.

Sigrist.

Was gibt's?

Röſſelmann.
Was legſt du Hand an dieſen Mann?

Frießhardt.
Er iſt ein Feind des Kaiſers, ein Verräter!

Tell (faßt ihn heftig).
Ein Verräter, ich!

Röſſelmann.
Du irrſt dich, Freund, das iſt
Der Tell, ein Ehrenmann und guter Bürger.

Walther
(erblickt Walther Fürſten und eilt ihm entgegen).
Großvater, hilf; Gewalt geſchieht dem Vater.

Frießhardt.
Ins Gefängnis, fort!

Walther Fürſt (herbeieilend).
Ich leiſte Bürgſchaft, haltet!
— Um Gottes willen, Tell, was iſt geſchehen?
Melchthal und Stauffacher kommen.

Frießhardt.
Des Landvogts oberherrliche Gewalt
Verachtet er und will ſie nicht erkennen.

Stauffacher.
Das hätt' der Tell getan?

Melchthal.
Das lügſt du, Bube!

Leuthold.
Er hat dem Hut nicht Reverenz bewieſen.

Walther Fürſt.
Und darum ſoll er ins Gefängnis? Freund,
Nimm meine Bürgſchaft an und laß ihn ledig.

Frießhardt.
Bürg du für dich und deinen eignen Leib!
Wir tun, was unſers Amtes — Fort mit ihm!

Melchthal (zu den Landleuten).
Nein, das iſt ſchreiende Gewalt! Ertragen wir's,
Daß man ihn fortführt, frech, vor unſern Augen?

Sigriſt.
Wir ſind die Stärkern. Freunde, duldet's nicht.
Wir haben einen Rücken an den andern!

Frießhardt.
Wer widerſetzt ſich dem Befehl des Vogts?

Noch drei Landleute (herbeieilend).
Wir helfen euch. Was gibt's? Schlagt ſie zu Boden.
Hildegard, Mechthild und Elsbeth kommen zurück.

Tell.
Ich helfe mir ſchon ſelbſt. Geht, gute Leute,
Meint ihr, wenn ich die Kraft gebrauchen wollte,
Ich würde mich vor ihren Spießen fürchten?

Melchthal (zu Frießhardt).
Wag's, ihn aus unſrer Mitte wegzuführen!

Walther Fürſt und Stauffacher.
Gelaſſen! Ruhig!

Frießhardt (ſchreit).
Aufruhr und Empörung!
(Man hört Jagdhörner.)

Weiber.
Da kommt der Landvogt!

Frießhardt (erhebt die Stimme).
Meuterei! Empörung!

Stauffacher.
Schrei, bis du berſteſt, Schurke!

Röſſelmann und Melchthal.
Willſt du ſchweigen?

Frießhardt (ruft noch lauter).
Zu Hilf', zu Hilf' den Dienern des Geſetzes!

Walther Fürſt.
Da iſt der Vogt! Weh uns, was wird das werden!
Geßler zu Pferd, den Falken auf der Fauſt, Rudolf der Harras, Parricida und Andere, ein großes Gefolge von bewaffneten Knechten, welche einen Kreis von Piken um die ganze Szene ſchließen.

Rudolf der Harras.
Platz, Platz dem Landvogt!

Geßler.
Treibt ſie auseinander!
Was läuft das Volk zuſammen? Wer ruft Hilfe?
(Allgemeine Stille.)
Wer war's? Ich will es wiſſen.
(Zu Frießhardt:)
Du, tritt vor!
Wer biſt du und was hältſt du dieſen Mann?
(Er gibt den Falken einem Diener.)

Frießhardt.
Geſtrenger Herr, ich bin dein Waffenknecht
Und wohlbeſtellter Wächter bei dem Hut.
Dieſen Mann ergriff ich über friſcher Tat,
Wie er dem Hut den Ehrengruß verſagte.
Verhaften wollt' ich ihn, wie du befahlſt,
Und mit Gewalt will ihn das Volk entreißen.

Geßler (nach einer Pauſe).
Verachteſt du ſo deinen Kaiſer, Tell,
Und mich, der hier an ſeiner Statt gebietet,
Daß du die Ehr' verſagſt dem Hut, den ich
Zur Prüfung des Gehorſams aufgehangen?
Dein böſes Trachten haſt du mir verraten.

Tell.
Verzeiht mir, lieber Herr! Aus Unbedacht,
Nicht aus Verachtung Eurer iſt's geſchehn;
Wär' ich beſonnen, hieß ich nicht der Tell,
Ich bitt' um Gnad', es ſoll nicht mehr begegnen.

Geßler (nach einigem Stillschweigen).
Du bist ein Meister auf der Armbrust, Tell,
Man sagt, du nehm'st es auf mit jedem Schützen?

Walther Tell.
Und das muß wahr sein, Herr — 'nen Apfel schießt
Der Vater dir vom Baum auf hundert Schritte.

Geßler.
Ist das dein Knabe, Tell?

Tell.
Ja, lieber Herr.

Geßler.
Hast du der Kinder mehr?

Tell.
Zwei Knaben, Herr.

Geßler.
Und welcher ist's, den du am meisten liebst?

Tell.
Herr, beide sind sie mir gleich liebe Kinder.

Geßler.
Nun Tell! weil du den Apfel trifft vom Baume
Auf hundert Schritt', so wirst du deine Kunst
Vor mir bewähren müssen — Nimm die Armbrust —
Du hast sie gleich zur Hand — und mach dich fertig,
Einen Apfel von des Knaben Kopf zu schießen —
Doch will ich raten, ziele gut, daß du
Den Apfel treffest auf den ersten Schuß;
Denn fehlst du ihn, so ist dein Kopf verloren.
(Alle geben Zeichen des Schreckens.)

Tell.
Herr — welches Ungeheure sinnet Ihr
Mir an — Ich soll vom Haupte meines Kindes —
— Nein, nein doch, lieber Herr, das kommt Euch nicht
Zu Sinn — Verhüt's der gnäd'ge Gott — das könnt Ihr
Im Ernst von einem Vater nicht begehren!

Geßler.
Du wirst den Apfel schießen von dem Kopf
Des Knaben — Ich begehr's und will's.

Tell.
Ich soll
Mit meiner Armbrust auf das liebe Haupt
Des eignen Kindes zielen? — Eher sterb' ich!

Geßler.
Du schießest oder stirbst mit deinem Knaben.

Tell.
Ich soll der Mörder werden meines Kindes!
Herr, Ihr habt keine Kinder — wisset nicht,
Was sich bewegt in eines Vaters Herzen.

Geßler.
Ei Tell, du bist ja plötzlich so besonnen!
Man sagte mir, daß du ein Träumer seist
Und dich entfernst von andrer Menschen Weise.
Du liebst das Seltsame — Drum hab' ich jetzt
Ein eigen Wagstück für dich ausgesucht.
Ein andrer wohl bedächte sich — Du drückst
Die Augen zu, und greifst es herzhaft an.

Berta.
Scherzt nicht, o Herr! mit diesen armen Leuten!
Ihr seht sie bleich und zitternd stehen — So wenig
Sind sie Kurzweils gewohnt aus Eurem Munde.

Geßler.
Wer sagt Euch, daß ich scherze?
(Greift nach einem Baumzweige, der über ihn herhängt.)
Hier ist der Apfel.
Man mache Raum — Er nehme seine Weite,
Wie's Brauch ist — achtzig Schritte geb' ich ihm —
Nicht weniger, noch mehr — Er rühmte sich,
Auf ihrer hundert seinen Mann zu treffen —
Jetzt, Schütze, triff, und fehle nicht das Ziel!

Rudolf der Harras.
Gott, das wird ernsthaft — Falle nieder, Knabe,
Es gilt, und fleh' den Landvogt um dein Leben.

Walther Fürst.
(beiseite zu Melchthal, der kaum seine Ungeduld bezwingt).
Haltet an Euch, ich fleh' Euch drum, bleibt ruhig!

Berta (zum Landvogt).
Laßt es genug sein, Herr! Unmenschlich ist's,
Mit eines Vaters Angst also zu spielen.
Wenn dieser arme Mann auch Leib und Leben
Verwirkt durch seine leichte Schuld, bei Gott!
Er hätte jetzt zehnfachen Tod empfunden.
Entlaßt ihn ungekränkt in seine Hütte,
Er hat Euch kennen lernen, dieser Stunde
Wird er und seine Kindeskinder denken.

Geßler.
Öffnet die Gasse — Frisch! Was zauderst du?
Dein Leben ist verwirkt, ich kann dich töten,
Und sieh, ich lege gnädig dein Geschick
In deine eigne, kunstgeübte Hand.
Der kann nicht klagen über harten Spruch,
Den man zum Meister seines Schicksals macht.
Du rühmst dich deines sichern Blicks! Wohlan!
Hier gilt es, Schütze, deine Kunst zu zeigen,
Das Ziel ist würdig und der Preis ist groß!

Das Schwarze treffen in der Scheibe, das
Kann auch ein andrer; der iſt mir der Meiſter,
Der ſeiner Kunſt gewiß iſt überall,
Dem 's Herz nicht in die Hand tritt, noch ins Auge.

Walther Fürſt (wirft ſich vor ihm nieder).
Herr Landvogt, wir erkennen Eure Hoheit,
Doch laſſet Gnad' vor Recht ergehen! Nehmt
Die Hälfte meiner Habe, nehmt ſie ganz,
Nur dieſes Gräßliche erlaſſet einem Vater!

Walther Tell.
Großvater, knie nicht vor dem falſchen Mann!
Sagt, wo ich hinſtehn ſoll, ich fürcht' mich nicht,
Der Vater trifft den Vogel ja im Flug,
Er wird nicht fehlen auf das Herz des Kindes.

Stauffacher.
Herr Landvogt, rührt Euch nicht des Kindes Unſchuld?

Röſſelmann.
O denket, daß ein Gott im Himmel iſt,
Dem Ihr müßt Rede ſtehn für Eure Taten.

Geßler (zeigt auf den Knaben).
Man bind' ihn an die Linde dort!

Walther Tell.
Mich binden!
Nein, ich will nicht gebunden ſein. Ich will
Stillhalten, wie ein Lamm, und auch nicht atmen.
Wenn ihr mich bindet, nein, ſo kann ich's nicht.
So werd' ich toben gegen meine Bande.

Rudolf der Harras.
Die Augen nur laß dir verbinden, Knabe.

Walther Tell.
Warum die Augen? Denket Ihr, ich fürchte
Den Pfeil von Vaters Hand? Ich will ihn feſt
Erwarten und nicht zucken mit den Wimpern.
— Friſch, Vater, zeig's, daß du ein Schütze biſt!
Er glaubt dir's nicht, er denkt uns zu verderben —
Dem Wütrich zum Verdruſſe ſchieß und triff.
(Er geht an die Linde, man legt ihm den Apfel auf.)

Melchthal (zu den Landleuten).
Was? Soll der Frevel ſich vor unſern Augen
Vollenden? Wozu haben wir geſchworen?

Stauffacher.
Es iſt umſonſt. Wir haben keine Waffen,
Ihr ſeht den Wald von Lanzen um uns her.

Melchthal.
O hätten wir's mit friſcher Tat vollendet!
Verzeih's Gott denen, die zum Aufſchub rieten!

Geßler (zum Tell).
Ans Werk! Man führt die Waffen nicht vergebens.
Gefährlich iſt's, ein Mordgewehr zu tragen,
Und auf den Schützen ſpringt der Pfeil zurück.
Dies ſtolze Recht, das ſich der Bauer nimmt,
Beleidiget den höchſten Herrn des Landes.
Gewaffnet ſei niemand, als wer gebietet.
Freut's Euch, den Pfeil zu führen und den Bogen,
Wohl, ſo will ich das Ziel Euch dazu geben.

Tell
(ſpannt die Armbruſt und legt den Pfeil auf).
Öffnet die Gaſſe! Platz!

Stauffacher.
Was, Tell? — Ihr wolltet — Nimmermehr — Ihr zittert,
Die Hand erbebt Euch, Eure Kniee wanken —

Tell (läßt die Armbruſt ſinken).
Mir ſchwimmt es vor den Augen!

Weiber.
Gott im Himmel!

Tell (zum Landvogt).
Erlaſſet mir den Schuß. Hier iſt mein Herz!
(Er reißt die Bruſt auf.)
Ruft Eure Reiſigen und ſtoßt mich nieder.

Geßler.
Ich will dein Leben nicht, ich will den Schuß.
— Du kannſt ja alles, Tell, an nichts verzagſt du,
Das Steuerruder führſt du wie den Bogen,
Dich ſchreckt kein Sturm, wenn es zu retten gilt,
Jetzt, Retter, hilf dir ſelbſt — du retteſt alle!
(Tell ſteht in fürchterlichem Kampf, mit den Händen zuckend, und die rollenden Augen bald auf den Landvogt, bald zum Himmel gerichtet. Plötzlich greift er in ſeinen Köcher, nimmt einen zweiten Pfeil heraus und ſteckt ihn in ſein Koller. Der Landvogt bemerkt alle dieſe Bewegungen.)

Walther Tell (unter der Linde).
Vater, ſchieß zu, ich fürcht' mich nicht.

Tell.
Es muß!
(Er rafft ſich zuſammen und legt an.)

Rudenz
(der die ganze Zeit über in der heftigſten Spannung geſtanden und mit Gewalt an ſich gehalten, tritt hervor).
Herr Landvogt, weiter werdet Ihr's nicht treiben,
Ihr werdet nicht — Es war nur eine Prüfung —
Den Zweck habt Ihr erreicht — Zu weit getrieben,
Verfehlt die Strenge ihres weiſen Zwecks,
Und allzuſtraff geſpannt, zerſpringt der Bogen.

Geßler.
Ihr ſchweigt, bis man Euch aufruft.

Rudenz.
Ich will reden.
Ich darf's, des Königs Ehre iſt mir heilig,
Doch ſolches Regiment muß Haß erwerben.
Das iſt des Königs Wille nicht — Ich darf's

Behaupten — Solche Grausamkeit verdient
Mein Volk nicht, dazu habt Ihr keine Vollmacht.

Geßler.

Ha, Ihr erkühnt Euch!

Rudenz.

Ich hab' stillgeschwiegen
Zu allen schweren Taten, die ich sah,
Mein sehend Auge hab' ich zugeschlossen,
Mein überschwellend und empörtes Herz
Hab' ich hinabgedrückt in meinen Busen.
Doch länger schweigen wär' Verrat zugleich
An meinem Vaterland und an dem Kaiser.

Berta.

(wirft sich zwischen ihn und den Landvogt).

O Gott, Ihr reizt den Wütenden noch mehr.

Rudenz.

Mein Volk verließ ich, meinen Blutsverwandten
Entsagt' ich, alle Bande der Natur
Zerriß ich, um an Euch mich anzuschließen —
Das Beste aller glaubt' ich zu befördern,
Da ich des Kaisers Macht befestigte —
Die Binde fällt von meinen Augen — Schaudernd
Seh' ich an einen Abgrund mich geführt —
Mein freies Urteil habt Ihr irrgeleitet,
Mein redlich Herz verführt — Ich war daran,
Mein Volk in bester Meinung zu verderben.

Geßler.

Verwegner, diese Sprache deinem Herrn?

Rudenz.

Der Kaiser ist mein Herr, nicht Ihr — Frei bin ich
Wie Ihr geboren, und ich messe mich
Mit Euch in jeder ritterlichen Tugend.
Und stündet Ihr nicht hier in Kaisers Namen,
Den ich verehre, selbst wo man ihn schändet,
Den Handschuh würf' ich vor Euch hin, Ihr solltet
Nach ritterlichem Brauch mir Antwort geben.
— Ja winkt nur Euren Reisigen — Ich stehe
Nicht wehrlos da, wie die —

(auf das Volk zeigend).

Ich hab' ein Schwert,
Und wer mir naht —

Stauffacher (ruft).

Der Apfel ist gefallen!

(Indem sich alle nach dieser Seite gewendet und Berta zwischen Rudenz und den Landvogt sich geworfen, hat Tell den Pfeil abgedrückt.)

Rösselmann.

Der Knabe lebt!

Viele Stimmen.

Der Apfel ist getroffen!

(Walther Fürst schwankt und droht zu sinken, Berta hält ihn.)

Geßler (erstaunt).

Er hat geschossen? Wie? der Rasende!

Berta.

Der Knabe lebt! kommt zu Euch, guter Vater!

Walther Tell

(kommt mit dem Apfel gesprungen).

Vater, hier ist der Apfel — Wußt' ich's ja,
Du würdest deinen Knaben nicht verletzen.

Tell.

(Stand mit vorgebogenem Leib, als wollt' er dem Pfeil folgen — die Armbrust entsinkt seiner Hand; — wie er den Knaben kommen sieht, eilt er ihm mit ausgebreiteten Armen entgegen und deckt ihn mit heftiger Inbrunst zu seinem Herzen hinauf; in dieser Stellung sinkt er kraftlos zusammen. Alle stehen gerührt.)

Berta.

O gütiger Himmel!

Walther Fürst (zu Vater und Sohn).

Kinder! meine Kinder!

Stauffacher.

Gott sei gelobt!

Leuthold.

Das war ein Schuß! Davon
Wird man noch reden in den spät'sten Zeiten.

Rudolf der Harras.

Erzählen wird man von dem Schützen Tell,
Solang' die Berge stehn auf ihrem Grunde.

(Reicht dem Landvogt den Apfel.)

Geßler.

Bei Gott! der Apfel mittendurch geschossen!
Es war ein Meisterschuß, ich muß ihn loben.

Rösselmann.

Der Schuß war gut, doch wehe dem, der ihn
Dazu getrieben, daß er Gott versuchte.

Stauffacher.

Kommt zu Euch, Tell; steht auf, Ihr habt Euch männlich
Gelöst, und frei könnt ihr nach Hause gehen.

Rösselmann.

Kommt, kommt und bringt der Mutter ihren Sohn!

(Sie wollen ihn wegführen.)

Geßler.

Tell, höre!

Tell (kommt zurück).

Was befehlt Ihr, Herr?

Geßler.

Du steckest
Noch einen zweiten Pfeil zu dir — Ja, ja,
Ich sah es wohl — Was meintest du damit?

Tell (verlegen).

Herr, das ist also bräuchlich bei den Schützen.

Geßler.
Nein, Tell, die Antwort laſſ' ich dir nicht gelten,
Es wird was anders wohl bedeutet haben.
Sag mir die Wahrheit friſch und fröhlich, Tell,
Was es auch ſei, dein Leben ſichr' ich dir.
Wozu der zweite Pfeil?

Tell.
Wohlan, o Herr,
Weil Ihr mich meines Lebens habt geſichert,
So will ich Euch die Wahrheit gründlich ſagen.
(Er zieht den Pfeil aus dem Koller und ſieht den Landvogt mit einem furchtbaren Blicke an.)
Mit dieſem zweiten Pfeil durchſchoß ich — Euch,
Wenn ich mein liebes Kind getroffen hätte.
Und Eurer — wahrlich! hätt' ich nicht gefehlt.

Geßler.
Wohl, Tell! Des Lebens hab' ich dich geſichert,
Ich gab mein Ritterwort, das will ich halten —
Doch weil ich deinen böſen Sinn erkannt,
Will ich dich führen laſſen und verwahren,
Wo weder Mond noch Sonne dich beſcheint,
Damit ich ſicher ſei vor deinen Pfeilen.
Ergreift ihn, Knechte! Bindet ihn!
(Tell wird gebunden.)

Stauffacher.
Wie, Herr?
So könnet Ihr an einem Manne handeln,
An dem ſich Gottes Hand ſichtbar verkündigt?

Geßler.
Laßt ſehn, ob ſie ihn zweimal retten wird.
— Man bring' ihn auf mein Schiff, ich folge nach
Sogleich, ich ſelbſt will ihn nach Küßnacht führen.

Röſſelmann.
Das dürft Ihr nicht, das darf der Kaiſer nicht,
Das widerſtreitet unſern Freiheitsbriefen!

Geßler.
Wo ſind ſie? Hat der Kaiſer ſie beſtätigt?
Er hat ſie nicht beſtätigt. — Dieſe Gunſt
Muß erſt erworben werden durch Gehorſam.
Rebellen ſeid ihr alle gegen Kaiſers
Gericht und nährt verwegene Empörung.
Ich kenn' euch alle — ich durchſchau' euch ganz —
Den nehm' ich jetzt heraus aus eurer Mitte,
Doch alle ſeid ihr teilhaft ſeiner Schuld.
Wer klug iſt, lerne ſchweigen und gehorchen.
(Er entfernt ſich; Berta, Rudenz, Harras und Knechte folgen; Frießhardt und Leuthold bleiben zurück.)

Walther Fürſt (in heftigem Schmerz).
Es iſt vorbei, er hat's beſchloſſen, mich
Mit meinem ganzen Hauſe zu verderben!

Stauffacher (zum Tell).
O warum mußtet Ihr den Wütrich reizen!

Tell.
Bezwinge ſich, wer meinen Schmerz gefühlt!

Stauffacher.
O nun iſt alles, alles hin! Mit Euch
Sind wir gefeſſelt alle und gebunden!

Landleute (umringen den Tell).
Mit Euch geht unſer letzter Troſt dahin!

Leuthold (nähert ſich).
Tell, es erbarmt mich — doch ich muß gehorchen.

Tell.
Lebt wohl!

Walther Tell
(ſich mit heftigem Schmerz an ihn ſchmiegend).
O Vater! Vater! lieber Vater!

Tell
(hebt die Arme zum Himmel).
Dort droben iſt dein Vater! den ruf an!

Stauffacher.
Tell, ſag' ich Eurem Weibe nichts von Euch?

Tell
(hebt den Knaben mit Inbrunſt an ſeine Bruſt).
Der Knab' iſt unverletzt, mir wird Gott helfen.
(Reißt ſich ſchnell los und folgt den Waffenknechten.)

## 242. Aus „Minna von Barnhelm". (1763.)

Von G. Leſſing.

Sämtl. Schriften, herausgeg. von K. Lachmann. Berlin 1838. Bd. I. S. 500.

Erſter Aufzug. 8. Auftritt. (Juſt, v. Tellheim.)

v. Tellheim. Biſt du da?

Juſt (indem er ſich die Augen wiſcht). Ja!

v. Tellheim. Du haſt geweint?

Juſt. Ich habe in der Küche meine Rechnung geſchrieben, und die Küche iſt voll Rauch. Hier iſt ſie, mein Herr!

v. Tellheim. Gib her!

Juſt. Haben Sie Barmherzigkeit mit mir, mein Herr. Ich weiß wohl, daß die Menſchen mit Ihnen keine haben; aber —

v. Tellheim. Was willſt du?

Juſt. Ich hätte mir eher den Tod als meinen Abſchied vermutet.

v. Tellheim. Ich kann dich nicht länger brauchen; ich muß mich ohne Bedienten behelfen lernen. (Schlägt die Rechnung auf und lieſt:) „Was der Herr Major mir ſchuldig: Drei und einen halben Monat Lohn, den Monat 6 Taler, macht 21 Taler. Seit dem erſten dieſes, an Kleinigkeiten ausgelegt, 1 Tlr. 7 Gr. 9 Pf. Summa Summarum 22 Taler 7 Gr. 9 Pf." — Gut, und es iſt billig, daß ich dieſen Monat ganz bezahle.

Juſt: Die andere Seite, Herr Major —

v. Tellheim. Noch mehr? (Lieſt:) „Was dem Herrn Major ich ſchuldig: An den Feldſcher für mich bezahlt 25 Taler. Für Wartung und Pflege während meiner Kur für mich bezahlt 39 Taler. Meinem abgebrannten und geplünderten Vater auf meine Bitte vorgeſchoſſen, ohne die zwei Beutepferde zu rechnen, die er ihm geſchenkt, 50 Taler. Summa Summarum 114 Taler. Davon abgezogen vorſtehende 22 Taler 7 Gr. 9 Pf., bleibe dem Herrn Major ſchuldig 91 Tlr. 16 Gr. 3 Pf." — Kerl, du biſt toll. —

Juſt. Ich glaube es gern, daß ich Ihnen weit mehr koſte. Aber es wäre verlorene Tinte, es dazu zu ſchreiben. Ich kann Ihnen das nicht bezahlen; und wenn Sie mir vollends die Liverei nehmen, die ich auch noch nicht verdient habe, — ſo wollte ich lieber, Sie hätten mich in dem Lazarette krepieren laſſen.

v. Tellheim. Wofür ſiehſt du mich an? Du biſt mir nichts ſchuldig, und ich will dich einem von meinen Bekannten empfehlen, bei dem du es beſſer haben ſollſt, als bei mir.

Juſt. Ich bin Ihnen nichts ſchuldig, und doch wollen Sie mich verſtoßen.

v. Tellheim. Weil ich dir nichts ſchuldig werden will.

Juſt. Darum? nur darum? — So gewiß ich Ihnen ſchuldig bin, ſo gewiß Sie mir nichts ſchuldig werden können, ſo gewiß ſollen Sie mich nicht verſtoßen. — Machen Sie, was Sie wollen, Herr Major; ich bleibe bei Ihnen; ich muß bei Ihnen bleiben. —

v. Tellheim. Und deine Hartnäckigkeit, dein Trotz, dein wildes, ungeſtümes Weſen gegen alle, von denen du meinſt, daß ſie dir nichts zu ſagen haben, deine tückiſche Schadenfreude, deine Rachſucht — —

Juſt. Machen Sie mich ſo ſchlimm, wie Sie wollen; ich will darum doch nicht ſchlechter von mir denken, als von meinem Hunde. Vorigen Winter ging ich in der Dämmerung an dem Kanale und hörte etwas winſeln. Ich ſtieg herab, und griff nach der Stimme, und glaubte, ein Kind zu retten, und zog einen Pudel aus dem Waſſer. Auch gut, dachte ich. Der Pudel kam mir nach; aber ich bin kein Liebhaber von Pudeln. Ich jagte ihn fort, umſonſt; ich prügelte ihn von mir, umſonſt. Ich ließ ihn des Nachts nicht in meine Kammer, er blieb vor der Tür auf der Schwelle. Wo er mir zu nahe kam, ſtieß ich ihn mit dem Fuße; er ſchrie, ſah mich an und wedelte mit dem Schwanze. Noch hat er keinen Biſſen Brot aus meiner Hand bekommen; und doch bin ich der einzige, dem er hört und der ihn anrühren darf. Er ſpringt vor mir her und macht mir ſeine Künſte unbefohlen vor. Es iſt ein häßlicher Pudel, aber ein gar zu guter Hund. Wenn er es länger treibt, ſo höre ich endlich auf, den Pudeln gram zu ſein.

v. Tellheim (beiſeite). So wie ich ihm! Nein, es gibt keine völlige Unmenſchen; — — Juſt, wir bleiben beiſammen.

Juſt. Ganz gewiß! — Sie wollten Sich ohne Bedienten behelfen? Sie vergeſſen Ihrer Bleſſuren und daß Sie nur eines Armes mächtig ſind. Sie können Sich ja nicht allein ankleiden. Ich bin Ihnen unentbehrlich, und bin, — — ohne mich ſelbſt zu rühmen, Herr Major — und bin ein Bedienter, der — wenn das Schlimmſte zum Schlimmen kommt, — für ſeinen Herrn betteln und ſtehlen kann.

v. Tellheim. Juſt, wir bleiben nicht beiſammen.

Juſt. Schon gut!

### 9. Auftritt. (Ein Bedienter, v. Tellheim, Juſt.)

Der Bediente. Bſt! Kamerad!

Juſt. Was gibt's?

Der Bediente. Kann er mir nicht den Offizier nachweiſen, der geſtern noch in dieſem Zimmer (auf eines an der Seite zeigend, von welcher er herkommt) gewohnt hat?

Juſt. Das dürfte ich leicht können. Was bringt Er ihm?

Der Bediente. Was wir immer bringen, wenn wir nichts bringen: ein Kompliment. Meine Herrſchaft hört, daß er durch ſie verdrängt worden. Meine Herrſchaft weiß zu leben, und ich ſoll ihn desfalls um Verzeihung bitten.

Juſt. Nun ſo bitte Er ihn um Verzeihung; da ſteht er.

Der Bediente. Was iſt er? Wie nennt man ihn?

v. Tellheim. Mein Freund, ich habe Euren Auftrag ſchon gehört. Es iſt eine überflüſſige Höflichkeit von Eurer Herrſchaft, die ich erkenne, wie ich ſoll. Macht ihr meinen Empfehl. — Wie heißt Eure Herrſchaft?

Der Bediente. Wie ſie heißt? Sie läßt ſich gnädiges Fräulein heißen.

v. Tellheim. Und ihr Familienname?

Der Bediente. Den habe ich noch nicht gehört, und danach zu fragen, iſt meine Sache nicht. Ich richte mich ſo ein, daß ich meiſtenteils aller ſechs Wochen eine neue Herrſchaft habe. Der Henker behalte alle ihre Namen! —

Juſt. Bravo, Kamerad!

Der Bediente. Zu dieſer bin ich erſt vor wenig Tagen in Dresden gekommen. Sie ſucht, glaube ich, hier ihren Bräutigam. —

v. Tellheim. Genug, mein Freund. Den Namen Eurer Herrſchaft wollte ich wiſſen, aber nicht ihre Geheimniſſe. Geht nur!

Der Bediente. Kamerad, das wäre kein Herr für mich!

## 10. Auftritt. (v. Tellheim, Juſt.)

v. Tellheim. Mache, Juſt, mache, daß wir aus dieſem Hauſe kommen! Die Höflichkeit der fremden Dame iſt mir empfindlicher, als die Grobheit des Wirts. Hier nimm dieſen Ring, die einzige Koſtbarkeit, die mir übrig iſt, von der ich nie geglaubt hätte, einen ſolchen Gebrauch zu machen! — Verſetze ihn! laß dir achtzig Friedrichsdor darauf geben; die Rechnung des Wirts kann keine dreißig betragen. Bezahle ihn, und räume meine Sachen — ja, wohin? — wohin du willſt. Der wohlfeilſte Gaſthof der beſte. Du ſollſt mich hier nebenan, auf dem Kaffeehauſe, treffen. Ich gehe; mache deine Sache gut. —

Juſt. Sorgen Sie nicht, Herr Major! —

v. Tellheim (kommt wieder zurück). Vor allen Dingen, daß meine Piſtolen, die hinter dem Bette gehangen, nicht vergeſſen werden.

Juſt. Ich will nichts vergeſſen.

v. Tellheim (kommt nochmals zurück). Noch eins: nimm mir auch deinen Pudel mit; hörſt du, Juſt! —

## 11. Auftritt. (Juſt.)

Juſt. Der Pudel wird nicht zurückbleiben. Dafür laſſ' ich den Pudel ſorgen. — Hm! auch den koſtbaren Ring hat der Herr noch gehabt! Und trug ihn in der Taſche, anſtatt am Finger? — Guter Wirt, wir ſind ſo kahl noch nicht, als wir ſcheinen. Bei ihm, bei ihm ſelbſt will ich dich verſetzen, ſchönes Ringelchen! Ich weiß, er ärgert ſich, daß du in ſeinem Hauſe nicht ganz ſollſt verzehrt werden! — Ah —

## 12. Auftritt. (Paul Werner, Juſt.)

Juſt. Sieh da, Werner! guten Tag, Werner! willkommen in der Stadt!

Werner. Das verwünſchte Dorf! Ich kann's unmöglich wieder gewöhnt werden. Luſtig, Kinder, luſtig; ich bringe friſches Geld! Wo iſt der Major?

Juſt. Er muß dir begegnet ſein; er ging eben die Treppe herab.

Werner. Ich komme die Hintertreppe herauf. Nun wie geht's ihm? Ich wäre ſchon vorige Woche bei euch geweſen; aber —

Juſt. Nun, was hat dich abgehalten?

Werner. — Juſt, haſt du von dem Prinzen Heraklius gehört?

Juſt. Heraklius? Ich wüßte nicht.

Werner. Kennſt du den großen Helden im Morgenlande nicht?

Juſt. Die Weiſen aus dem Morgenlande kenn' ich wohl, die ums Neujahr mit dem Sterne herumlaufen. — —

Werner. Menſch, ich glaube, du lieſeſt ebenſowenig die Zeitungen als die Bibel? — Du kennſt den Prinz Heraklius nicht? den braven Mann nicht, der Perſien weggenommen, und nächſter Tage die ottomaniſche Pforte einſprengen wird? Gott ſei Dank, daß doch noch irgendwo in der Welt Krieg iſt! Ich habe lange genug gehofft, es ſollte hier wiederlosgehen. Aber da ſitzen ſie, und heilen ſich die Haut. Nein, Soldat war ich; Soldat muß ich wieder ſein. Kurz — (indem er ſich ſchüchtern umſieht, ob ihn jemand beborcht) im Vertrauen, Juſt; ich wandere nach Perſien, um unter Sr. Königlichen Hoheit, dem Prinzen Heraklius, ein paar Feldzüge wider den Türken zu machen.

Juſt. Du?

Werner. Ich, wie du mich hier ſiehſt! Unſere Vorfahren zogen fleißig wider den Türken; und das ſollten wir noch tun, wenn wir ehrliche Kerls und gute Chriſten wären. Freilich begreife ich wohl, daß ein Feldzug wider den Türken nicht halb ſo luſtig ſein kann, als einer wider den Franzoſen; aber dafür muß er auch deſto verdienſtlicher ſein, in dieſem und in jenem Leben. Die Türken haben dir alle Säbels mit Diamanten beſetzt —

Juſt. Um mir von ſo einem Säbel den Kopf ſpalten zu laſſen, reiſe ich nicht eine Meile. Du wirſt doch nicht ſo toll ſein und dein ſchönes Schulzengericht verlaſſen? —

Werner. O, das nehme ich mit! — Merkſt du was? — Das Gütchen iſt verkauft — —

Juſt. Verkauft?

Werner. St! — hier ſind hundert Dukaten, die ich geſtern auf den Kauf bekommen; die bring' ich dem Major —

Juſt. Und was ſoll er damit?

Werner. Was er damit ſoll? Verzehren ſoll er ſie; verſpielen, vertrinken — — wie er will. Der Mann muß Geld haben, und es iſt ſchlecht genug, daß man ihm das Seinige ſo ſauer macht! Aber ich wüßte ſchon, was ich täte, wenn ich an ſeiner Stelle wäre! Ich dächte: Hol' euch hier alle der Henker! und ginge mit Paul Wernern nach Perſien! — Blitz! — der Prinz Heraklius muß ja wohl von dem Major Tellheim gehört haben; wenn er auch ſchon ſeinen geweſenen Wachtmeiſter, Paul Wernern, nicht kennt. Unſere Affaire bei den Katzenhäuſern —

Juſt. Soll ich dir die erzählen? —

Werner. Du mir? — Ich merke wohl, daß eine ſchöne Dispoſition über deinen Verſtand gebt. Ich will meine Perlen nicht vor die Säue werfen. — Da, nimm die hundert Dukaten; gib ſie dem Major. Sage ihm: er ſoll mir auch die aufheben. Ich muß jetzt auf den Markt; ich habe zwei Wiſpel Roggen hereingeſchickt; was ich daraus löſe, kann er gleichfalls haben. —

Juſt. Werner, du meinſt es herzlich gut; aber wir mögen dein Geld nicht. Behalte deine Dukaten, und deine hundert Piſtolen kannſt du auch unverſehrt wiederbekommen, ſobald als du willſt. —

Werner. So? hat denn der Major noch Geld?

Juſt. Nein.

Werner. Hat er ſich wo welches geborgt?

Juſt. Nein.

Werner. Und wovon lebt ihr denn?

Juſt. Wir laſſen anſchreiben, und wenn man nicht mehr anſchreiben will und uns zum Hauſe herauswirft, ſo verſetzen wir, was wir noch haben, und ziehen weiter. — Höre nur, Paul, dem Wirte hier müſſen wir einen Poſſen ſpielen.

Werner. Hat er dem Major was in den Weg gelegt? — Ich bin dabei!

Juſt. Wie wär's, wenn wir ihm des Abends, wenn er aus der Tabagie kommt, aufpaßten und ihn brav durchprügelten?

Werner. Des Abends? — aufpaßten? — ihrer zwei, einem? — Das iſt nichts. —

Juſt. Oder, wenn wir ihm das Haus über dem Kopf anſteckten? —

Werner. Sengen und brennen? — Kerl, man hört's, daß du Packknecht geweſen biſt, und nicht Soldat; — pfui! .... Aber was haſt du denn? Was gibt's denn?

Juſt. Komm nur, du ſollſt dein Wunder hören!

Werner. So iſt der Teufel wohl hier gar los?

Juſt. Jawahl, komm nur!

Werner. Deſto beſſer! Nach Perſien alſo, nach Perſien!

---

# Anhang.

## Pädagogiſche Ährenleſe.

Motto: „Nur eine Weisheit führt zum Ziele,
Doch ihrer Sprüche gibt es viele."
Fr. Bodenſtedt.
(Lieder des Mirza-Schaffy [Berlin 1870], S. 158.)

**Niebuhr** (Lebensnachrichten über B. G. Niebuhr aus Briefen desſelben [Hamburg 1838], Bd. II, S. 208): „Lernen, gewiſſenhaft lernen, immerfort ſeine Kenntniſſe zu prüfen und zu vermehren, das iſt unſer theoretiſcher Beruf für das Leben und iſt es am allermeiſten für die Jugend, die das Glück hat, ſich dem Reiche der neuen intellektuellen Welt, die ihr die Bücher eröffnen, ungehindert überlaſſen zu können."

**Martial** (Epigramme XII, 51, 2): „Ein Meiſter lernt immer."

**Horaz** (Sat. I, 9, 59): „Das Leben hat dem Menſchen nichts ohne große Anſtrengung verliehen."

**Heſiod** (Werke und Tage, V. 287): „Vor die Tugend haben die Götter den Schweiß geſetzt."

**Drbal** (Empiriſche Pſychologie [Wien 1868], S. 245): „Arbeit und Erholung müſſen miteinander abwechſeln. Glücklich zu preiſen iſt, wer durch ſittliche Selbſtbeherrſchung es dahin gebracht hat, die Arbeit in Erholung und umgekehrt dieſe in jene zu verwandeln."

**Rouſſeau** (Emil, überſetzt von Große, S. 84): „Wer in der Kindheit nicht zum Lernen angehalten wird, verliert die Fähigkeit dazu fürs ganze Leben."

**Rabanus Maurus** (R. M., herausgeg. von Kunſtmann [Mainz 1841], S. 40): „In der Jugend ſollen unſere Kinder lernen, damit ſie im Alter lehren können."

**Seneca** (Brief an Lucilius XVI, 4): „Lang iſt der Weg durch Lehren, kurz und wirkſam durch Beiſpiele."

**Seneca** (ebendaſ. 106): „Nicht für die Schule, ſondern für das Leben lernen wir."

**Schleiermacher** (Predigten über die chriſtliche Kinderzucht, Bd. I, S. 618): „Wir haben danach zu ſtreben, daß die Jugend lerne, ſowohl Trägheit und Zerſtreuung zu überwinden, als vor leidenſchaftlicher Vertiefung in etwas Einzelnes ſich zu bewahren."

**Phädrus** (Fab. IV, 21, 1): „Ein gebildeter Mann trägt ſeinen Reichtum immer in ſich ſelbſt."

**Goethe** (Werke [Berlin 1868], Bd. XIX [Sprüche in Prosa], herausgeg. von G. v. Loeper S. 37): „Was man nicht versteht, besitzt man nicht."

**Gutzkow** (Unterhaltungen am häuslichen Herd [Lpz. 1857], Bd. II, S. 16): „Begeisterung ist die dunkle Locke, Weisheit das silbergraue Haar. Wie schön kleidet jene das jugendlich blühende, diese das gedankenvoll sinnende Haupt."

**Niebuhr** (a. a. O., S. 210): „Wende dich bei der Lektüre zu den Werken, die das Herz erheben, in denen du große Menschen und große Schicksale siehst und in einer höheren Welt lebst; wende dich aber ab von denen, welche die verächtliche und niedrige Seite gemeiner Verhältnisse in gesunkenen Zeiten darstellen. Lies nicht die Schriftsteller, um ästhetische Reflexionen über sie zu machen, sondern um dich in sie hineinzulesen und deine Seele mit ihren Gedanken zu erfüllen, um durch die Lektüre zu gewinnen, wie du durch das ehrerbietige Zuhören bei der Rede großer Männer gewinnen würdest."

**Lichtenberg** (Vermischte Schriften, Bd. II, S. 398): „Man kann nicht leicht über zu vielerlei denken, aber man kann über zu vielerlei lesen. Über je mehr Gegenstände ich denke, d. h. sie mit meinen Erfahrungen und mit meinem Gedankensystem in Verbindung zu bringen suche, desto mehr Kraft gewinne ich. Mit dem Lesen ist es umgekehrt: ich breite mich aus, ohne mich zu stärken."

**Hiecke** (Der deutsche Unterricht, S. 70): „Der wahre, einzig vernünftige und sittliche Weg, der [rohen, aus Neugierde hervorgehenden] Leserei zu begegnen, ist, daß man die Schüler lesen lehrt."

**Montaigne** (Ansichten über die Erziehung der Kinder, übers. v. K. Reimer [Berlin 1870], S. 19): „Auswendig gelernt haben ist nicht Wissen, meist nur ein Behalten dessen, was man dem Gedächtnisse zur Aufbewahrung gegeben hat."

**Diesterweg** (Pädag. Jahrbuch 1860, S. 338): „Ich bin nicht gegen alles Auswendiglernen, desto mehr aber gegen jedes Übermaß. Das Zuviel (geradezu verderblich wirkend) ist weit weniger, als das Zuwenig. Mit dem Geiste verhält es sich in dieser Hinsicht wie mit dem Magen."

**Milde** (Allg. Erziehungslehre, neu herausg. von Fr. Tomberger [Wien 1877], S. 133): „Die Erfahrung ist und war allezeit eine vorzügliche Lehrmeisterin. Sie macht uns einzelne Lehren deutlich, lebendig und anschaulich, sie überzeugt uns am ergreifendsten von der Wahrheit und Wichtigkeit einzelner Lehrsätze, sie prägt uns unvergeßlich ein, was wir sonst bald wieder vergessen hätten. Nur in der Schule der Erfahrung wird der Mensch zum praktisch brauchbaren Manne, und es gibt Kenntnisse, die sich allein auf dem Wege der Erfahrung erwerben lassen. Aus diesen Gründen soll der Erzieher nicht nur dem Zöglinge keineswegs die Gelegenheit, Erfahrungen zu sammeln, entziehen, sondern im Gegenteil ihm Gelegenheit verschaffen, ihm Veranlassung zur praktischen Ausübung der theoretischen Lehren zur Anwendung oder eigenen Bestätigung des Erlernten geben."

**J. Grimm** (Kleine Schriften [Berlin 1864], Bd. I, S. 133): „Das ist der auf allem Vaterländischen ruhende Segen, daß man mit ihm Großes ausrichten kann, wie beschränkt seine Mittel auch scheinen oder gar sind; ein Stück hausbacken Brot ist uns gesunder als der fremde Fladen."

**Meister Eckehart** (Deutsche Mystiker des 14. Jahrhunderts, herausgeg. von Fr. Pfeifer [Leipzig 1857], Bd. II, S. 571): „Das Sittliche ist nicht wie ein Schüler, der schreiben lernt durch Übung, indem er auf jeden Buchstaben merkt, sondern wie der fertige Schreiber, der ohne Aufmerksamkeit unbewußt die ihm wesentlich gewordene Kunst vollkommen und mühelos ausübt."

**Terentius** (Adelphi I, 1): „Durch Sittsamkeit und Freiheit kann man die Kinder leichter erziehen, als durch Furcht."

**Campe** (Theophron, mit Anmerkungen versehen von K. Richter [Leipzig 1875], S. 32): „Je bedürfnisfreier ein Mensch ist, desto stärker ist er an Geist und Seele, desto gesunder, heiterer und glücklicher ist er und desto größer ist auch seine körperliche, sittliche und bürgerliche Freiheit und Unabhängigkeit."

**Roth** (Gymnasialpädagogik, S. 68): „Das bleibt immer wahr, daß der Mensch nicht so lebt, wie er denkt, sondern so denkt, wie er lebt."

**Goethe** (a. a. O., S. 86): „Das Betragen ist ein Spiegel, in dem jeder sein Bild sieht."

**Goethe** (a. a. O., S. 131): „Die wahre Liberalität ist Anerkennung."

**Rousseau** (a. a. O., S. 43): „Menschen, seid human! Das ist eure erste Pflicht; seid es gegen alle Stände, gegen jedes Alter, gegen alles, was den Menschen angeht. Welche andere Lebensweisheit gibt es außer der Humanität für euch? Liebet die Kinderwelt, begünstigt ihre Spiele, Vergnügungen, ihren liebenswürdigen Naturtrieb."

**Kant** (Werke, herausgeg. von Hartenstein [Leipzig 1838], Bd. IV, S. 288): „Zwei Dinge erfüllen das Gemüt mit immer neuer und zunehmender Bewunderung und Ehrfurcht, je öfter und anhaltender sich das Nachdenken damit beschäftigt; der gestirnte Himmel über und das moralische Gesetz in mir."

**A. H. Francke** (Schriften über Erziehung und Unterricht, bearb. von K. Richter [Leipzig 1872], S. 24): „Die wahre Gemütspflege geht auf den Willen und Verstand. Wo man nur auf eines unter beiden sein Absehen hat, ist's nichts Gutes."

**Goethe** (a. a. O., S. 52): „Die Undankbarkeit ist immer eine Art Schwäche. Ich habe nie gesehen, daß tüchtige Menschen undankbar gewesen wären."

**B. Auerbach** (Tausend Gedanken eines Kollaborators [Berlin 1875], S. 15): „Bin jung gewesen und alt geworden und habe nicht gesehen, daß ein unwahrer Mensch oder gar ein solcher, der sich nicht vor der positiven Lüge scheut, das erstrebte gute Ende genommen."

**Luther** (Tischreden ꝛc., herausgeg. von J. Aurifaber [Eisleben 1566], Bl. 1256): „Eine Lüge ist wie ein Schneeball; je länger man ihn wälzet, je größer er wird."

**Diesterweg** (Rhein. Blätter 1844, Bd. I, S. 146): „Gern verzeihe ich einem Schüler einen Fehler, wenn er den Fehler als Fehler erkennt und zugibt. Aber nichts entrüstet mich mehr als das Entschuldigen, Rechtfertigen, Beschönigen der Fehler. In wem das Gewohnheit und Übung wird — den gebe man nur auf, er ist für die Menschheit verloren."

**Wiese** (Die Bildung des Willens [Berlin 1861], S. 29): „Für die Pädagogik liegt die schwerste Aufgabe nicht auf dem Gebiete des Wissens und Könnens, sondern auf dem des Willens."

**Kant** (Sämtliche Werke, herausgeg. von Hartenstein [Leipzig 1838], Bd. IV, S. 10): „Es ist nirgends etwas in der Welt zu denken möglich, was ohne Einschränkung für gut gehalten werden könnte, als allein ein guter Wille."

**Goethe** (a. a. O., S. 105): „Es ist nicht genug, zu wissen, man muß auch anwenden, es ist nicht genug, zu wollen, man muß auch tun."

**Campe** (a. a. O., S. 32): „Der Ehrgeiz ist oft mehr ein Störer als ein Beförderer eigener wahrer Verdienste und Gemeinnützigkeit."

**Boie** (Die Selbsthilfe in Lebensbildern und Charakterzügen [Hamburg 1867], S. 573): „Das höchste Gut des Menschen ist ein sittlich-guter Charakter."

**Rousseau** (a. a. O., S. 208): „Um die Menschen kennen zu lernen, muß man sie handeln sehen."

**Kant** (a. a. O., S. 130): „Handle so, daß die Maxime deines Willens jederzeit zugleich als Prinzip einer allgemeinen Gesetzgebung gelten kann."

**Goethe** (Gespräche mit Eckermann, Bd. II, S. 63): „Wenn ein guter Mensch mit Talent begabt ist, so wird er immer zum Heile der Welt sittlich wirken."

**Gotthelf** (Bilder und Sagen aus der Schweiz [Solothurn 1844], Bd. V, S. 144): „Wer es als Lehrer versteht, das Kinderherz sich offen zu erhalten, sieht auch in den Kopf hinein."

**Pestalozzi** (Lienhard und Gertrud, herausgeg. von A. Richter [Leipzig], S. 160): „Die unverdorbene Einfalt der Natur ist empfänglich für jeden Eindruck der Wahrheit und Tugend."

**Herbart** (Sämtliche Werke, herausgeg. von Hartenſtein [Leipzig 1851], Bd. XI, S. 493): „Bei jedem Fehler muß der Erzieher zuerſt deſſen Bedeutung für das Ganze erwägen.“

**Kellner** (Die Pädagogik der Schule, S. 113): „Nicht in der Größe der Strafe liegt ihre abſchreckende Wirkung, ſondern darin, daß ſie unausbleiblich folgt, alſo in der Konſequenz.“

**Montaigne** (a. a. O., S. 19): „Wir machen den Zögling knechtiſch und ſchüchtern, wenn wir ihm nicht die Freiheit laſſen, ſelbſtändig etwas zu tun.“

**Xenophon** (Memor. IV, 1, 3): „Die Naturen, welche die beſten zu ſein glauben, bedürfen am meiſten der Zügelung.“

**Goethe** (a. a. O., S. 87): „Niemand iſt mehr Sklave als der, welcher ſich für frei hält, ohne es zu ſein.“

**Sokrates** (Xen. Mem. I, 6, 9): „Die höchſte Luſt liegt in dem Bewußtſein, ſelbſt beſſer zu werden und Freunde zu haben, die im Verkehr mit uns beſſer werden.“

**Sokrates** (ebendaſ. I, 6, 10): „Nichts zu bedürfen iſt göttlich; möglichſt wenig zu bedürfen kommt der göttlichen Vollkommenheit am nächſten.“

**Juvenal** (Sat. XIV, 37): „Den höchſten Reſpekt ſind wir dem zu erziehenden Knaben ſchuldig.“

**Heindl** (Pädagog. Ährenleſe [Augsb. 1846], S. 121]: „Der Umgang mit Kindern hat für einen verſtändigen Mann unendlich viel Intereſſe. Hier ſieht er das Bild der Natur in unverfälſchter Ausgabe aufgeſchlagen.“

**Mager** (Die deutſche Bürgerſchule [Stuttgart 1840], S. 103): „Der echte Pädagog iſt ebenſogern bei den Kindern, die er mit Rechenpfennigen oder Schwefelhölzchen zählen lehrt, als bei Jünglingen, die er Gleichungen des vierten Grades auflöſen läßt.“

**Geibel** (Geſammelte Werke [Stuttgart 1883], Bd. IV [Spätherbſtblätter und Heroldsrufe], S. 157): „Fülle die Jugend mit würdigem Stoff, und in froher Begeiſtrung lehre ſie glühn. Die Kritik kommt mit den Jahren von ſelbſt.“

**Comenius** (Große Unterrichtslehre, aus dem Latein. überſetzt von Beeger und Zoubek [Berlin 1869], S. 66): „Die Schule ſoll Männer bilden, die am Geiſt weiſe, in ihren Handlungen geſchickt und von Herzen fromm ſind.“

**Comenius** (ebendaſ., S. 229): „Eine Schule ohne Zucht iſt wie eine Mühle ohne Waſſer.“

**Montaigne** (a. a. O., S. 69): „Von der Rute habe ich noch keine andere Wirkung erſehen, als daß ſie die Seelen entweder ſchlaff und feig oder heimtückiſch und boshaft macht.“

**Niemeyer** (Grundſätze der Erziehung und des Unterrichts [Halle 1818], Tl. II, S. 28): „Langweilig ſein iſt die größte Sünde des Unterrichtes.“

**Geibel** (a. a. O., S. 157): „Immer behalte getreu vor Augen das Höchſte: doch heute ſtrebe nach dem, was heut' du zu erreichen vermagſt.“

# Erklärendes Wörterverzeichnis.

**Abenteuer** (lat. **adventura**, mhd. **âventiure**), merkwürdiges Ereignis.

**Absit** (lat. Konj. v. **abesse** abwesend sein, fern sein), fern sei!

**absolvieren** (lat. **absolvĕre** ablösen), lossprechen, beendigen.

**abstrákt** (v. lat. **abstrahĕre** abziehen), eig.: abgezogen, für sich allein betrachtet.

**Abstraktión** (Subst. z. v. vor.), 1. die Handlung des Abstrahierens; 2. der Zustand = das Abstraktum.

**acceptieren** (lat. **accipĕre, acceptare**), annehmen.

**Accord** (frz.), Übereinstimmung, Übereinkunft; **d'accord** (spr. dakór), übereinstimmend.

**Achäer** (gr. Achaioí), Bewohner Griechenlands, namentlich des Peloponnes, z. B. des trojanischen Krieges.

**Achämenide**, Nachkommen des Achämenes, Cyrus.

**Achillens** (gr.) und **Achilles** (lat.), Sohn des Peleus (dah. Pelide) und der Meeresgöttin Thetis; größter Held der Griechen vor Troja.

**Acti labóres iucundi**, wörtl.: die vollbrachten Arbeiten sind angenehm; nach getaner Arbeit ist gut ruhn.

**ad idem!** (Präp. ad zu und idem, éadem, idem, ebenderselbe, -dieselbe, -dasselbe); mit diesem Rufe trieben die Schüler (Schützen) einander in den eigenen Schulbezirk zurück, in dem sie allein Gaben heischen durften (Th. Platter).

**Addition** (lat. **additio**, v. Verbum **addĕre** hinzufügen), das Zusammenzählen.

**Adepsos**, Badeort im nördlichen Euböa (warme Quellen).

**Ädil** (lat. **aedilis**, von **aedes** der Tempel), ursprünglich Beamter, der die Aufsicht über Tempel und öffentliche Gebäude, aber auch sonst polizeiliche Verrichtungen hatte; Veranstalter und Leiter von Volksspielen; in der frühesten Zeit gab es deren nur 2, später mehr.

**Adjutant** (Part. Präs. von **adiūto**, das von adiuvāre (unterstützen) abgeleitet ist), der Gehilfe. Nur in militärischer Sprache gebraucht (Regimentsadjutant u. a.), ein Offizier zur Beförderung der Befehle.

**adoptieren** (lat. **adoptāre**), an Kindes Statt annehmen, annehmen, sich zu eigen machen.

**adriátisch** (Adj. v. **Ádria** oder **Hádria**), das Adriatische Meer betreffend.

**Advokát** (v. lat. **advocāre** herbeirufen), der zum Rechtschutz Herbeigerufene.

**Äacides**, Nachkomme des **Äakus**, **Äacide** (Peleus, auch Achilles).

**Äakus**, Sohn des Zeus und der Ägina; König von Ägina, Vater des Phokus, Peleus und Telamon.

**Äetes**, König von Kolchis, Vater der Medea.

**Affékt** (v. lat. **afficĕre** ergreifen), Gemütsbewegung.

**Agamémnon**, Sohn des Atreus (dah. Atride), Bruder des Menelaus, König von Mycénä, Anführer des griechischen Heeres vor Troja.

**Agathokles** (gr., v. **agathós** gut und **kléos** Ruhm), 1. Tyrann von Syrakus, Sohn eines Töpfers; 2. griechischer Geschichtschreiber.

**Agaven**, Pflanzengattung, in Mexiko wachsend, deren Fasern zu Bindfaden, Stricken, Papier verwandt werden.

**Aglaúros**, 1. Tochter des Kekrops, von Merkur in Stein verwandelt; 2. Beiname der Athéne. Die Sage macht Agl. zu einer Dienerin der Athene.

**Agoranómen** (gr. **agorá** Markt und **némein** zuteilen), Marktmeister, Marktpolizei in Athen, 5 für die Stadt, 5 für den Piräeus.

**Akademie** (nach dem Heros **Akádēmos** benannt), urspr.: Garten, in dem Plato lehrte; jetzt Bezeichnung für Hochschule, auch Gelehrtenverein.

**Akesines**, Nebenfluß des Indus im Gebiet der Mallier.

**Akropolis** (v. **akrós** hoch und **pólis** Stadt), die über der Stadt liegende Burg (bes. v. Athen).

**Akt** (v. **agĕre** handeln), 1. eig.: das Gehandelte, Handlung; 2. Teil eines Dramas = Aufzug.

**Akten** v. d. St., ſchriftliche Aufzeichnungen von Verhandlungen.

**Alabáſter** (gr. **alábastros**), marmorähnlicher Gips.

**Alba-Longa** (die weiße lange, erg : **urbs** Stadt), der Sage nach von Askanius oder Julius am Albanergebirge erbaut.

**albaneſiſch** (Adj. z. d. Subſt. **Albaneſe**); Albaneſen ſind die Bewohner von Südillyrien und dem nördl. Epirus.

**Album** (lat. **album** das Weiße, das zu Beſchreibende), Gedenkbuch, Stammbuch; übertragen: Sammlung von Photographieen u. a.

**Albus**, Scheidemünze (Weißpfennig), ſeit Karl IV. bis 1842.

**Alexandría** (aber — **lea**); von den vielen Städten dieſen Namens iſt die bedeutendſte: A. in Ägypten, 332 v. Chr. v. Alexander d. Gr. gegründet.

**Alexandride**, Nachkomme Alexanders d. Gr., Pyrrhus von Macedonien.

**Alhámbra** (arab.: die Rote), mauriſches Schloß in Granada, jetzt Ruine.

**allae facultátes**, die anderen Facultäten; F. ſind Abteilungen einer Hochſchule: theologiſche, mediziniſche, juriſtiſche und philoſophiſche F.

**Ailián** (lat. **Aelianus**), 1. griech. Kriegsſchriftſteller (98—138 nach Chr., der „Taktiker“); 2. Sophiſt aus Präneſte, lebte um 180 n. Chr.

**Alkibiádes** (gr.) und **Alcibiades** (lat.), griech. Staatsmann und Feldherr z. B. des peloponneſiſchen Krieges, Schüler und Freund des Sokrates.

**Alkinous** (ſpr. **Alkinoſus**, gr. **Alkinoos**), König der Phäaken auf S-chéria (ſpäter Kerkýra, jetzt Korfu).

**Allah** (arab. **al-llah**), d. Anbetungswürdige, Gott.

**Allegorie** (gr. **allos** der andere und **agoreúein** ſagen), ſinnbildliche Darſtellung.

**allégro** (ital.), hurtig, munter.

**Alligator**, eine Krokodilart, im ſüdlichen Nordamerika lebend.

**Alliierter** (v. frz. **allier**, lat. **alligare**, verbinden), Verbündeter, Bundesgenoſſe.

**Alliteratión** (v. **ad** an und **litera** Buchſtabe), das Anfangen mehrerer Wörter im Verſe mit demſelben Buchſtaben; Buchſtaben- oder Stabreim

**alliterieren**, mit demſelben Buchſtaben beginnen.

**Alphéios** (griech.) und **Alphéus** (lat.), Fluß in Arkadien und Elis, ins Joniſche Meer mündend

**Alraúnen** (auch **Alrúnen**, zuſammenh. mit **rúna** Geheimnis, Geheimſchrift), im geheimen wirkende, weisſagende Weſen, dann weiſe Frauen der alten Germanen [Wolen].

**Alſine**, eine Sternkrautart, ein gutes Vogelfutter.

**Altán** (ital., v. lat. **altus** hoch), Söller, Ballon.

**Alteclere**, Name des Schwertes Olivers, eines Paladins Karls d. Gr.

**Altis**, der heilige Hain in der Alpheiosebene, wo die olympiſchen Spiele gefeiert wurden.

**Amáſia**, Stadt in Pontus (Kleinaſien), Geburtsſtadt des Geographen Strabo.

**amazonenhaft** (Adj. od. Adv); die Amazónen (**a** und **mazós** d. i. ohne Bruſt — vgl. die Sage —) ſind ein ſagenhaftes kriegeriſches Weibervolk in Aſien; dann wird der Name auch angewandt als Bezeichnung für eine Heldin, aber auch tadelnd für ein Mannweib.

**Ambra** (arab. **anbar**), Räuchermittel (bei den Alten Aphrodiſiacum genannt), wohlriechendes Erdharz.

**Amènthes**, das Totenreich der alten Ägypter.

**Amerigo Vespúcci** (ſpr. **Wesputtſchi**), Italiener (1451—1512), nach dem der neue Erdteil Amerika benannt wurde; er rüſtete die 3. Reiſe des Columbus aus.

**ammoniakáliſch** (Adj.); Ammoniak ein farbloſes, ſtark riechendes Gas.

**Amorrhäer**, Bewohner von Gomórrha.

**Amphibien** (gr. **amphi** und **bios** das Leben), doppellebig; auf dem Lande und im Waſſer lebend, dah : Waſſer-Land-Tiere.

**Amphitheater** (gr. **amphi** rundherum und **théatron** Schauplatz), halbkreisförmiges Schaugebäude mit ſtufenweiſe übereinander angebrachten Sitzreihen. (Auf ebener Erde, dem Parterre, ſind keine Sitzplätze.)

**amphitheatraliſch** (Adj. z. vor.), nach Art eines Amphitheaters.

**Amúlett** (arab. **hlamúlet** = was getragen wird), mit Figuren verſehener Körper von Glas oder Metall, der zur Abwehr von Krankheiten, Bezauberung oder Verwundung getragen wurde.

**Amúlius**, Sohn des Prokas, Bruder des Numitor, den er der Herrſchaft von Alba-Longa beraubt.

**Analogie**, auch **Análogon** (v. gr. **analógos** entſprechend), Gleichmäßigkeit, Übereinſtimmung in gewiſſen Beziehungen, daher: Ähnlichkeit.

**analogiſch und analóg** (Adj. u. Adv. z. vor.), ähnlich.

**Anapäst** (gr. v. **anapaíein** wieder oder zurückſchlagen), 1. dreiſilbiger Versfuß ⏑ ⏑ –, alſo umgekehrter Daktylus; ein Spottgedicht.

**anapäſtiſch** (Adj. z. vor.), in Anapäſten gedichtet.

**Anemöne**, das Windröschen.

**Animalcülen** (lat. **animálcula**, Verkleinerungsform von **ánimal** Tier), ſehr kleine Tierchen.

**animäliſch** (v. d. St.), tieriſch.

**Antemnä**, Stadt im Gebiete der Sabiner; Bewohner: Antemnäten.

**antik** (lat. **antíquus, a, um**), alt, altertümlich.

**Antiochía** u. **—ien**, Stadt am Oróntes in Syrien.

**Antiſana**, einer der bedeutendſten Vulkane auf der Oſtſeite der Kordilleren, in Ecuadór, über 17 000′ hoch.

**Antithéſe** (gr. **antithésis**), Gegenſatz.

**äoliſch** (Adj.), zum Stamme der Äoler gehörig, der in der älteſten Zeit den nördlichen Teil Griechenlands und Kleinaſiens einnahm.

**Äolus** (gr. **Aíolos**), 1. Gott der Winde; 2. Sohn des Héllen, Stammvater der Äolier.

**apárt** (**a** von, weg, und **pars** Teil), abgeſondert, beſonders.

**Apathie** (gr. **apátheia** von **páthos** [Zuſtand, bei welchem auf einen Gegenſtand eingewirkt wird] und verneinendem **a**), eig.: Eindruckloſigkeit; Gelaſſenheit, Gleichgültigkeit.

**Aphrodite** (gr., von **aphrós** Schaum), die Schaumgeborene; ſie heißt auch Anadyoméne = die aus dem Waſſer Auftaucheude. Göttin der ſinnlichen Liebe und der Ehe; bei den Römern Venus.

**Apicius** (Nam. propr., d. i. Eigenname), berühmter Schwelger unter Auguſtus und Tiberius. Verfaſſer eines Kochbuchs.

**Apóllo** (gr. **Apóllon**), Gott des Lichtes, der Weisheit, auch der Weisſagung. (Delphi!)

**Apóſtata** (gr. **Apostátes**), der Abtrünnige; Beiname des Kaiſers Julian (361—363 n. Chr.).

**Apóſtel** (gr. **apóstolas**), Abgeſandter, Bote.

**Apóſtrophe** (gr.), das Sichabwenden von einer Perſon oder Sache und das Zuwenden zu einer anderen; daher Anrede. Jemand apoſtrophieren ſ. v. a. ihn anreden.

**Apotheke** (gr.), Niederlage (von Arzeneimitteln).

**Apotheóſe** (v. **apó** u. **theós** Gott), Vergötterung eines Menſchen.

**Apparát** (lat. **apparátus**), Zurüſtung; Summe der zu einer Arbeit nötigen Hilfsmittel, z. B. phyſikaliſcher Apparat.

**appellieren** (lat. **appelláre**), anrufen, nennen; die Entſcheidung eines höheren Gerichtshofes anrufen; dann auch auf andere Verhältniſſe übertragen: an jemandes Güte u. a. appellieren.

**Appétit** (v. lat. **appétere** erſtreben), das Verlangen nach Speiſe.

**Appiſche Straße** (**via Ápp**ia), die vom Cenſor Appius Claudius Cäcus (blind) im Jahre 440 nach Gründung der Stadt — 313 v. Chr. — erbaute, nach Kapua führende Kunſtſtraße.

**appiaudieren** (lat. **applaúdere**), Beifall zurufen.

**Apſis**, auch **Abſis** (gr. **apsis**), Rundung, Wölbung.

**Apúlien**, auch **Appulien**, Landſchaft in Unteritalien, grenzt im N. an das Adriatiſche Meer, im O. an Kalabrien, im S. an Lucania, im W. an Kampanien u. Samnium. Geſchichtlich wichtige Orte: Cannä am Aúfidus (Ofánto) 216, Äsculum 279 v. Chr.

**Aquädukt** (lat., v. **aqua** Waſſer und **ducère** führen, leiten), Waſſerleitung.

**Äquátor** (lat. **aequáre** gleichmachen), Gleicher; die gedachte Linie, welche die Erdkugel in eine nördliche und ſüdliche Hälfte teilt.

**Äquatoriálmeer**, das Meer zu beiden Seiten des Äquators.

**Äquinoktiálgegend** (**aequus, a, um** gleich und **nox** Nacht); Äquinóktium Tag- und Nachtgleiche, der zweimal im Jahre eintretende Zeitpunkt, in dem die Sonne im Äquator ſteht und alſo Tag und Nacht gleichlang ſind (am 21. März und 22. September). Äquinoktialgegenden werden diejenigen Teile der Erdoberfläche genannt, welche zu beiden Seiten des Äquators bis zu den beiden Wendekreiſen liegen, weil, wenn auch dort nicht immer die Tage und Nächte gleich lang ſind, der Längenunterſchied doch lange nicht ſo bedeutend iſt, wie bei den weiter nördlich und ſüdlich gelegenen Orten.

**Arabésken**, Verzierungen, aus ſeltſam verſchlungenen Tier- und Pflanzenformen gebildet.

**Architektúr** (v. gr. **archi**, das die Bedeutung von „erſte" hat; Stamm **tekt** zimmern, bauen), Baukunſt.

**Archiv** (lat. **archívum**, gr. **archeíon**, eig.: Ort für die Obrigkeit), Sammlung und Aufbewahrungsort für wichtige Urkunden.

**Areál** (v. lat. **área** freier Platz, Adj. **aréalis, e**), die zur Erzeugung von Feldfrüchten beſtimmte Fläche, im Gegenſatz zum Wald.

**Aréna** (lat), 1. Sand, Sandplatz; 2. der mit Sand beſtreute Kampfplatz im Circus oder Theater; 3. der Schauplatz ſelbſt.

**Areopág** (gr. **Áreios** dem Ares gehörig und

págos der Hügel); 1. der Areshügel bei Athen, der dem Areopag gegenüberlag; 2. der auf demſelben Sitzung haltende Gerichtshof.

**Árgo**, das Schiff, auf dem die hervorragendſten griechiſchen Helden der Sage zufolge den Zug nach Kolchis unternahmen, benannt nach dem Erbauer desſelben: Argos.

**Argonaúten** (Plur., gr. **naútēs** Schiffer), Argosſchiffer, ſiehe vor. Artikel.

**Argos**, Hauptſtadt der Landſchaft Árgolis, nahe dem **Sinus Argólicus**, dem Meerbuſen von Argolis.

**Argusaugen**; Argus war der hundertäugige Wächter der Jo, die Juno in eine Kuh verwandelt hatte.

**Ariádne**, Tochter des Minos, mit deren Hilfe Theſeus den Minotaúros tötete und ſich aus dem Labyrinth rettete, die aber auf der Heimreiſe auf Naxos zurückgelaſſen wurde, um die Gemahlin des Diónhſos (Bacchus) zu werden.

**Arie** (ital. **aria**), ein für eine einzelne Singſtimme geſetztes Muſikſtück, mit Begleitung eines oder mehrerer Inſtrumente.

**Ariſtides** (lat., gr. **Aristeídēs**), atheniſcher Staatsmann z. B. der Perſerkriege; kämpfte mit bei Márathon 490, bei Sálamis 480; iſt Sieger (mit Pauſánias) bei Platää 479 über Mardónius. Gründer der atheniſchen Seeherrſchaft, ſtiftet 476 den Bund der Seeſtaaten, ſtirbt in Armut und Dürftigkeit 468 („der Gerechte").

**áriston mèn hýdōr**, Das Beſte iſt das Waſſer! (Ausſpruch des griechiſchen Dichters Pindar.)

**Ariſtóteles** (gr. **Aristotélēs**), griech. Philoſoph, Schüler des Plato, Lehrer Alexanders d. Gr., 384 v. Chr. in Stagira (Makedonien) geb., hört 20 Jahre lang den Unterricht Platos in Athen, lehrt dann daſelbſt bis zu ſeinem Tode 322. Seine Schüler heißen Peripatétiker, weil er ſie im Umhergehen (gr. **peripatein**) lehrte.

**Arithmétik** (gr. **arithmētikḗ von arithmós** Zahl; erg.: **téchne** Kunſt), Zahlenlehre, Rechnung mit Zahlengrößen.

**Armee** (frz.), Heer.

**aromátiſch** (v. gr. **arōma** Gewürz), wohlriechend.

**Arſenál** (mittell. **arsena** aus arab. **dâr-aṣ-ṣan'a**), Zeughaus.

**Arſis** (v. gr. **airein** heben, St. **ar**), Hebung im Verſe. (Gegenſatz: Senkung).

**Artikel** (lat. **articulus**, Verkl. v. **artus** Glied), 1. Gliedchen; 2. Abſchnitt; 3. Gegenſtand, z. B. Handelsartikel.

**Aſen**, Götter des Nordens, die 12 Söhne Odins und der Frigga.

**Á'ſinus**, 1. Eſel (Tier); 2. hölzerner Eſel, als Strafmittel:

**a. morum** (der Sitten), d. h. wegen ſchlechten Betragens.

**a. garrulitátis et strépitūs**, wegen Geſchwätzigkeit und Störung durch Geräuſch.

**a. Germanismi**, wegen eines Germanismus, d. h. weil er Deutſch ſtatt Lateiniſch geſprochen.

**a. soloecismi**, wegen eines Verſtoßes gegen die Grammatik. (Das Wort soloecismus hat ſeinen Namen von der atheniſchen Pflanzſtadt Soli in Cilicien, deren Bewohner den attiſchen Dialékt [Mundart] ſehr ſchlecht ſprachen.)

**Á'ſkaris**, Spulwurm.

**Asklépios** od. **Aesculápius**, Gott der Heilkunde, Schüler des Centauren Chiron. Asklepiosſohn = Arzt.

**Aſpiráta** (v. **aspirāre** hauchen, erg.: **littera** Buchſtabe), der gehauchte Laut: h, ch, f, v, pf, ph.

**aſſimilieren** (v. **ad** an und **similis**, e ähnlich), ähnlich machen, angleichen.

**Aſſonánz** (v. **ad** und **sonāre** tönen), das Antönen; Gleichklang mehrerer Silben im Verſe.

**Aſtárte** (bei den Orientalen [Morgenländern] **Aſchtharóth**), Hauptgottheit der ſemitiſchen Völker, zu vergleichen mit Venus und Aphrodite, auch ihr Kultus (Verehrung) dem dieſer Göttinnen ähnlich.

**äſthetiſch** (Adj. zu **aisthēsis** Schönheitsgefühl), ſchönwiſſenſchaftlich, geſchmackvoll.

**Aſtragalen** (v. **astrágalos** Knöchel), Knöchelſpiel, Würfelſpiel; **Aſtragalſpielerin** Name für die erhaltene Statue eines Mädchens im Muſeum zu Berlin.

**Aſtronóm** (gr. **astronómos**), der Sternkundige.

**Aſtronomie**, Sternkunde; Adj. **aſtronómiſch**.

**Aſýl** (gr. **ásylon** aus **sylân** berauben u. **Alpha privat.** gebildet), Freiſtätte, Zufluchtsort.

**Athène**, Tochter des Zeus, aus ſeinem Haupte entſprungen; Schutzgöttin Athens, die Minerva der Römer.

**Äther** (gr. **aithēr**), Luft; höhere, reinere Luft (ſo gewöhnlich in der Poeſie verſtanden). Adj.: **ätheriſch**.

**Athlét** (gr. **athlēthḗs** v. **áthlos** Kampf), Kämpfer, Fechter; auch einer, der ſich durch ungewöhnliche Körperkraft auszeichnet.

**Athos**, Berg auf der öſtlichſten der drei von der Halbinſel Chalkidice ſich ins Ägäiſche Meer

erſtreckenden Landzungen. Durchſtechung desſelben durch Xerxes vor ſeinem Zuge nach Griechenland 480.

**atlántiſch**, zum Atlantiſchen Ozean gehörig; abzuleiten von Atlántis, Name eines fabelhaften Inſellandes im fernen Weſten.

**Atmoſphäre** (von **atmós** Dampf, Dunſt und **sphaira** Kugel), Dunſtkreis, Luftkreis.

**atmoſphäriſch** (Adj.), zum Dunſtkreiſe gehörig.

**attiſch** (Adj. zu **Áttika**), zu Attika gehörig, in A. heimiſch (attiſche Feigen), aber auch: den Attikern, Athenern eigen, z. B. attiſches Salz, d. h. attiſcher Witz.

**attrappiert** (v. frz **attraper** in einer Schlinge fangen), gefangen, ertappt.

**Attribút** (**attribútum**, v. **attribúere** zuteilen), das Zugeteilte, Beigefügte; Beifügung.

**Aturia**, nordweſtlichſte Provinz des alten Aſſyriens, in der die Hauptſtadt Ninive lag.

**Auguſtéum**, ein dem Auguſtus zu Ehren erbauter Tempel.

**ausſtaffieren** (ſ. ſtaffieren), ausſtatten, die äußere Ausrüſtung vollenden.

**Autonomie** (gr. **autós** ſelbſt und **nómos** Geſetz), eig.: das Sich-ſelbſt-Geſetze-geben; dah. Selbſtändigkeit. Adj.: **autonóm**, ſelbſtändig.

**Áutor** (Plur. **antóres**, lat.; auch **auctor** Urheber), Urheber von Schriften, dah. Schriftſteller, Verfaſſer.

**Aventinus**, einer der 7 Hügel, auf denen Rom erbaut wurde; erſt von Ancus Marcius zur Stadt gezogen.

**aventiniſch**, Adj. z. d. vor.

**azurblau**, blau wie Azur (perſ. **lâzuward**, Laſurſtein).

**Baccalaúrii**, richtiger **Baccalárii** (v. frz. das **chevalier** niedriger Ritter), eig.: Anfänger im Ritterweſen, Knappe; dann überhaupt Anfänger in manchem anderen Lebensberuf; Gelehrte des niedrigſten akademiſchen Grades.

**Bacchanále** (Plur. **Bacchanalia**, von **Bacchus** [Gott des Weines]), Bacchusfeſte, dann überhaupt ausſchweifende Feſte und Gelage.

**Bacchánten**, eig.: 1. die Diener des Bacchus; 2. die fahrenden Schüler.

**Bácchus** (gr. **Bákchos** oder **Diónysos**), Sohn des Zeus und der Sémele, Gott des Weines; von den Römern auch Liber genannt.

**Bajä** (lat. **Baiae**), ein von den alten Römern ſtark beſuchtes Bad in Kampanien, zwiſchen Cumä und Putéoli gelegen.

**Bajonétt** (frz. **bayonnette**), dreiſchneidige Klinge, die auf das Gewehr befeſtigt wird, um die Schußwaffe in eine Stoßwaffe zu verwandeln. Hat von dem Orte, wo es erfunden wurde, Bayonne im ſüdlichen Frankreich (am Adour), ſeinen Namen.

**balancieren** (frz. **balancer**, ſpr. **bálangßeh**), im Gleichgewicht erhalten.

**Baldachin** (aus ital. **baldacchino** [ähnlich mhd. **baldekîn** = Seidenſtoff aus Bagdad], bedeutend den aus Bagdader Stoff gemachten Thronhimmel), reichverzierte Decke, die mittels an den 4 Ecken angebrachter Stangen bei Feierlichkeiten über hohen geiſtlichen und weltlichen Würdenträgern gehalten wurden. Die urſprünglich dazu verwandten Stoffe waren aus Bagdad; ſpäter wurden ſie auch aus feſten Stoffen hergeſtellt und in der Baukunſt verwendet.

**Balkón** (von dem aus ahd. **balko** [Balken] entlehnten mittellat. **balco**, ital. **balcóne**), erhöhter Balkenvorſprung am Hauſe.

**Ballade** (jetzt gewöhnlich abgeleitet von dem keltiſchen **gwaelard** [walad]), Volkslied, epiſch-lyriſche Dichtungsart.

**baltiſch**, an der Oſtſee, dem Baltiſchen Meere gelegen.

**Bandit** (v. ital. **bandito** verwieſen, verbannt), Räuber, Straßenräuber.

**Barbár** (Plur. **– en**, v. gr. **bárbaros** [Stammler], womit jeder Nichtgriche bezeichnet wurde), 1. der Fremde; 2. roher und grauſamer Menſch.

**barbáriſch**, Adj. z. d. vor.

**Bardentum**; Barden ſind alte keltiſche Sänger, zu Genoſſenſchaften vereinigt nach Art der Zünfte. Durch Klopſtocks Beiſpiel mit Unrecht auf deutſche Dichter angewandt.

**Barfüßer** [-Kloſter], Franziskaner- oder auch Karmeliter- und Auguſtiner-Barfüßerkloſter.

**Barke** (ſpätlat. **barca**, vielleicht aus dem gr. **bâris** Kahn, Boot, oder zuſammenhängend mit Borke [= der ausgehöhlte Baumſtamm]), 1. kleines Waſſerfahrzeug; 2. dreimaſtiges Schiff von 30—40 m Länge.

**Barrière** (frz., ſpr. **barriähr'**), Schlagbaum, Schranke

**Baſan**, Landſtrich in Nordpaläſtina vom Jabok bis zum Hermon (Baſanitis).

**Baſar** (perſ., ſpr. **baſár**), Marktplatz, Kaufhalle.

**Baſilika** (v. gr. **basilikós**, é, ón königlich, erg.: Haus), Königshaus. Urſprünglich die Halle am Markte zu Athen, in welcher der Ba-

ſileus (König) zu Gericht ſaß Später gab es auch zu Rom mehrere Baſiliken; von den Chriſten zu Verſammlungshäuſern benutzt.

**Baſilisk** (gr. **basiliskos**, Verkleinerungsform von **basileus** König = kleiner König), aſiatiſche Königseidechſe, nach der Anſicht der Alten ein Tier, das Flügel, Hahnenfüße, den Schwanz einer Schlange, eine Krone auf dem Kopfe, Schnabel und funkelnde Augen hatte, deren Blick den Tod brachte. (Schiller: Baſiliskenblick.)

**Baſis**, Plur. **—en** (gr.), Grundlage, Grundfläche, -linie.

**Basrelief** (frz., ſpr. bahreljeff), halberhabene Bildhauerarbeit

**Baſſe**, wahrſcheinlich ſ. v. a. Baſſa = Paſcha.

**Baſſin** (frz., ſpr. baſſäng'), Becken, Schale, Waſſerbehälter.

**Baſtiön** (ital. **bastióne**), Bollwerk, Schutzwehr; vorſpringendes Feſtungswerk (Baſtei).

**Batzen**, ſilberne Scheidemünze in der Schweiz, im Werte von 4—5 Kreuzer, urſpr. Münze der Stadt Bern mit dem Berner Wappen, einem Bären (mhd. Bätz, Petz).

**Beduinen**, Kinder der Wüſte, nomadiſierende Araber in Aſien (Arabien) und Afrika.

**Beelzebub** (hebr. **Baalzebub**; Luk. 11, 15 Beelzebul genannt), eig.: Fliegengott; der oberſte der Teufel.

**Beguinen**, Frauen und Jungfrauen, die im Mittelalter, beſonders in Holland, in Vereinen zu frommen Zwecken verbunden lebten.

**Beirut** (das **Berytus** der Alten), bedeutende Handelsſtadt in Syrien, an einem Ausläufer des Libanon.

**bembern**, vulgärer Ausdruck für „ſchlagen" von der Uhr.

**Benediktus** (v. lat. **benedicĕre** ſegnen = geſegnet), Teil der großen Meſſe: Benedictus, qui venit in nomine domini = Geſegnet ſei, der da kommt im Namen des Herrn! (Luk. 1, 68 ff.) Lobgeſang des Zacharias.

**Bereſina** auch **Bereszina**, Nebenfluß des Dnjepr im ruſſiſchen Gouvernement Minsk in Litauen; berühmt geworden durch den unglücklichen Übergang des franzöſiſchen Heeres vom 26. bis 29. November 1812.

**Bergen**, 1. Hauptſtadt des gleichnamigen Stifts in Norwegen an der Weſtküſte, berühmte Handelsſtadt mit deutſchem Gepräge, namentlich durch Heringsfang und -handel bedeutend; 2. Hauptſtadt der Inſel Rügen; 3. Hauptſtadt und ſtarke Feſtung der belgiſchen Provinz Hennegau; 4. Dorf bei Frankfurt a/M. (1759 Sieg der Franzoſen über Ferdinand von Braunſchweig).

**Bermudas-**, auch Sommers-Inſeln genannt: Inſelgruppe von über 300 Koralleninſeln, von denen nur 8 bewohnt ſind; gehören zum britiſchen Nordamerika. Hauptſtadt Hamilton (ſpr. Hämiltn).

**Berytus**, ſ. Beirut.

**Bethesda** (hebr. **Bajit** od. **Beth** Haus, **Chesed** Gnade), eig.: Gnadenhaus, Gnadenort; Heilquelle mit Halle bei Jeruſalem (Ev. Joh. 5).

**Bethlehem** (hebr. **Beth** Haus und **Léchem** Brot), Stadt in Paläſtina, 1 Meile öſtlich von Jeruſalem, Geburtsort Chriſti u. Davids.

**Biblica** (Neutr. plur. von **biblicus, a, um**), Bibliſches. Subſtantiv **Biblia**, Bibel.

**Bibliothek** (gr. **biblion** Buch, **theke** Aufbewahrungsort [vgl. Apo-theke]), Bücherniederlage; Bücherſammlung, früher auch Bücherei genannt.

**Biographie** (gr. **bíos** Leben und **gráphein** ſchreiben), Lebensbeſchreibung.

**Bluſt**, Blüte. Nur noch mundartlich in Baden, Schwaben und Schweiz angewandt.

**Boncourt** (frz., ſpr. Bong'kuhr); Schloß in der Champagne (ſpr. Schang'panj'), Geburtshaus des Dichters Chamiſſo (1781), in der Revolution zerſtört.

**Böreas** (gr. **Boréas** und **Borrás**), Nordwind.

**Bosporus** (gr. **boûs** [lat. **bos** Stier] und **póros** Furt, Durchgang), Stierdurchgang. Der in einen Stier verwandelte Zeus trägt Europa, Tochter des Agénor, Schweſter des Kadmos, über dieſe Meerenge (heute Straße von Konſtantinopel) nach Europa, wovon unſer Erdteil ſeinen Namen erhält. (Griechiſche Sage.)

**Botaniker** (gr., von **botanikós**, einer, der ſich beſchäftigt mit der **botáne**, Gras, Kraut, Pflanze), Pflanzenkundiger.

**Bouillón** (frz., ſpr. bulljong), 1. Fleiſchbrühe (deutſch-franzöſiſche Bildung von **bouillir** kochen), 2. Stadt im belgiſchen Luxemburg, Stammſchloß Gottfrieds von Bouillon.

**Bouquét** (frz., ſpr. buckett), 1. Blumenſtrauß; 2. Wohlgeruch beim Wein.

**Brabant**; früher ſelbſtändiges Herzogtum, gehört jetzt teils zu Holland, teils zu Belgien; hat im Laufe der Jahrhunderte oft ſeinen Herrn gewechſelt (Frankreich, Auſtraſien, Lothringen, Deutſchland, Burgund, Öſterreich, Spanien). Größe 200 □ Mln.

Digitized by Google

**Bravo** (ital., eig.: brav, tüchtig), 1. Beifallsruf für außerordentliche Leiſtungen; 2. Bandit.

**Breisgau** (wohl abzuleiten von **breiſen**, d. i. einſchließen, begrenzen), fruchtbare Landſchaft im Großherzogtum Baden mit der Stadt Freiburg (Biſchofsſitz und Univerſität); wird 1367 öſterreichiſch, 1805 badiſch.

**Breſche** (frz. **brèche**, vom deutſchen Stamme **brechen**), Mauereröffnung, Sturmlücke.

**Brigáde** (v. ital. **brigàta** Geſellſchaft), ein gewöhnlich aus 2 Regimentern beſtehendes Korps, wenigſtens bei der Infanterie.

**Brigg** (engl.), zweimaſtiges Kauffahrteiſchiff.

**brillánt** (v. frz. **brillèr** [ſpr. **briſéh**] glänzen), glänzend, Aufſehen erregend.

**Brillánz** (Subſt. z. vor.), Glanz, Pracht.

**Brundiſium** (auch **Bruudúſium**, heute **Brindiſi**), Stadt in der Landſchaft Kalabrien am Adriatiſchen Meere. Von hier Überfahrt nach Griechenland, Dyrrhachium oder Epidámnus in Illyrien.

**Brünne** (mhd.), Bruſtharniſch.

**Bugſpriet** (v. niederl. **boegspriet**; **boeg** = Vorderteil des Schiffs, **sprlet** = Stange [Spieß]).

**Bühl** (Bühel vgl. Buckel), 1. Auswuchs, Höcker; 2. Hügel.

**Burnus** (arab.), 1. ein bei den Beduinen und Berbern gebräuchlicher weiter Mantel von weißem Wollzeug mit Kapuze (d. i Kopfbedeckung); 2. ein dem ähnliches Kleidungsſtück in europäiſchen Ländern.

**Büſte** (frz. **le buste**, ital **busto**, Bruſt, Rumpf) Bruſtbild.

**Butze**, Plur. **—en** (v. mhd. **bliezen** ſchlagen, klopfen), Polter-Klopfgeiſt, vermummte Schreckgeſtalt.

**Byzánz** (gr. **Byzántion**), das jetzige Konſtantinopel am Bosporus, der Sage nach ſchon von den Argonauten (ſ. d.) gegründet. Im Laufe der Jahrhunderte vielfach von den Thraziern und Perſern geplündert und zerſtört, vom Kaiſer Konſtantin (306—337) wieder neu gegründet und zur Hauptſtadt erhoben. 396 Reſidenz der oſtrömiſchen Kaiſer. Seit Eroberung durch die Türken 1453 Hauptſtadt des osmaniſchen Reiches — Stambul; über 1 Million Einwohner.

**Caligula** (Diminutiv v. **cáliga** Soldatenſtiefel, dah: Stiefelchen; ſo von den Soldaten genannt, als er als kleiner Knabe mit dem Vater im Feldlager war); Cajus Cäſar, Sohn des Germanicus, folgt ſeinem Oheim Tiberius als Kaiſer und regiert von 38—41 n. Chr.; grauſam, verſchwenderiſch; 41 ermordet.

**Camöens, Louis de**; portugieſiſcher Dichter 1524 zu Liſſabon geb., aus ſeiner Vaterſtadt verbannt. Auf Macao — chineſiſcher Inſel — dichtet er das Nationalepos „Die Luſiaden" (die Luſitaner, d. i. Portugieſen), das in alle Sprachen überſetzt iſt.

**Cánina**, altes Städtchen in Latium nahe bei Rom.

**c[k]anc[z]ellieren** (von **Cancelle**, vergitterte Schranke bei Gerichten, Kanzlei), kreuzweiſe durchſtreichen, um das Geſchriebene ungültig zu machen.

**Caprerá** (**capra** Ziege, dah. ſ. v. a. Ziegeninſel), Inſel, nordöſtl. von Sardinien an der Straße von Boniſacio, ½ □Ml. groß Aufenthaltsort Garibaldis (der „Alte von Caprera").

**Carmina diversa ad. docendum theodiscam linguam**; verſchiedene Lieder, die deutſche Sprache zu lehren, oder zum Unterricht in der deutſchen Sprache.

**Caſſiquiare**, Nebenfluß des Rio Negro in Südamerika.

**Cäſúr** (lat. **caesúra** von **caedère** hauen, einſchneiden), Einſchnitt in den Vers = die Stelle, wo ein Wortende in den Versfuß fällt 3 Hauptcäſuren: 2 männliche nach einer ſchweren, und eine weibliche nach einer leichten Silbe. Im Hexameter nach der ſchweren Silbe des 3. Versfußes (Penthemimeris), nach der ſchweren Silbe des 4. Versfußes (Hephthemimeris), nach dem erſten leichten im dritten Versfuße (**kata triton trochaion** nach dem dritten Trochäus).

**Catilína, Lucius Sergius**, einer der berüchtigſten römiſchen Umſturzmänner z. B. des Cicero; ſeine Verſchwörung (a. 63) von Cicero entdeckt. In die Acht erklärt, fällt er 62 bei Piſtoja.

**Cato, Marcus Porcius**: 1. Cenſórius 234 bis 149 v. Chr.; Römer von echtem Schrot und Korn, wachte er beſonders mit Strenge über die Erhaltung altrömiſcher Einfachheit und Sitte; unverſöhnlicher Feind der Karthager (**ceterum censeo, Carthaginem esse delendam** = übrigens meine ich, Karthago müſſe zerſtört werden). 2. Uticénſis, d. i. von Utica, wo er ſich ſelbſt 46 entleibte; Urenkel des vor.; „der letzte der Republikaner".

**causae** (Plur. v. **causa** Grund), Teil der Chrie (auch **ratio**), in dem die Wahrheit eines Satzes durch Vernunftgründe bewieſen werden ſoll.

**Celebrität** (lat. **celébritas, celéber** berühmt), Berühmtheit (als Abſtraktum und Konkretum).

**C[Z]entraliſationsſyſtém** (v. **centrum** Mittelpunkt), das Beſtreben, von einem Mittelpunkt, z. B. der Hauptſtadt, aus das Ganze zu verwalten. Das Gegenteil = **Dec[z]entraliſation.**

**Centuria** (v. **centum** hundert), Abteilung von Hundert: 1. Abteilung des Landbeſitzes = 200 Morgen; 2. Truppenabteilung von 100, ſpäter 60 Mann, über die ein Centurio geſetzt war; 3. Einteilung des ganzen Volkes in 193 Abteilungen durch Servius Tullius.

**C[Z]eremónie** (v. lat. **caerimónia** heilige Handlung), feierliche Handlung. **C[Z]eremoniell** die dabei zu beachtenden Förmlichkeiten.

**Ceres** (gr. **Demḗter**), Göttin des Acker- und Getreidebaues. (**Cerealien** = Getreidearten.)

**Chálcis**, neben Eréttria Hauptort auf der Inſel Euböa.

**Cháos** (gr.), ungeordnete, geſtaltloſe Maſſe; Wirrſal.

**Charákter** (gr., v. **charásseln** eingraben), 1. das Eingegrabene, Gepräge, Weſenseigentümlichkeit; 2. Titel oder Amtsname.

**charakteriſieren** kennzeichnen.

**Charakteriſtik**, Schilderung der Eigentümlichkeit einer Perſon oder Sache.

**charakteriſtiſch**, unterſcheidend, bezeichnend, z. B. charakteriſtiſche Merkmale.

**Charilaus** (gr., **charis** Freude und **laós** das Volk), Volksfreude, Name eines ſpartaniſchen Königs; Sohn des Polydéktes (Neffe des Lykúrg.

**Charité** (frz., ſpr. ſcharité), 1. Milde, Mildtätigkeit, Krankenpflege; Name eines Krankenhauſes in Berlin.

**Charitinnen** (gr. **Chárites** vom Sing. **charis** Huld, Anmut), die Huldgöttinnen, Grazien.

**ch[ſch]armánt** (frz., ſpr. ſcharmán'), reizend, bezaubernd.

**Charon**, Fährmann, der die Schatten über die Flüſſe der Unterwelt (den Styx, Acheron) ſetzt.

**Chauſſée** (ſpr. ſchoſſéh; aus mittell. **calcláta** = aus Kalk gemauerte Straße), Kunſtſtraße.

**Chef** (frz., v. lat. **caput** Kopf), Oberhaupt, Befehlshaber.

**Chemie** (gr., v. **chymós** Flüſſigkeit), Lehre von der Zuſammenſetzung und Zerſetzung der Stoffe.

**Chios**, Inſel der Sporáden, die durch Wein berühmt war. (Chier-Wein!)

**Chirúrg** (gr. **cheirourgós**, von **cheír** Hand, **érgon** Werk), eig.: Handwerker, Heildiener, Wundarzt.

**Chitón** (gr.), Unterkleid; Kleid, Hülle.

**Choral** (v. gr. **chóros**), Weiſe des Kirchengeſanges, Kirchenlied.

**Chrie** (gr. **chreía** Geſchäft, Sache), beſtimmte Form, Schema zur Bearbeitung eines Themas.

**Chriſtus** (gr. **chrío** ſalbe), der Geſalbte, hebr. Meſſias.

**Chronométer** (gr. **chrónos** Zeit und **metréin** meſſen), Zeitmeſſer; Uhr von großer Genauigkeit.

**Chryſóſtomus** (gr. **chrysós** Gold und **stóma** Mund), Goldmund. Johannes, wegen ſeiner großen Beredſamkeit ſo genannt, war einer der bedeutendſten Kirchenväter; wurde 347 zu Antióchien geboren, ſeine Mutter die fromme Anthúſa; 398 Biſchof zu Konſtantinopel; † 407.

**Cicero, Marcus Tullius**, römiſcher Staatsmann, Redner und Philoſoph, geb. 106 in Arpinum, † 43; von Antonius auf die Proſkriptionsliſte geſetzt. Seine Philippiſchen Reden gegen M. Antonius ſind nach denen des Demóſthenes gegen Philipp von Makedonien benannt.

**Cicerone** (ital., ſpr. tſchitſcherone), Fremdenführer.

**C[Z]irc[k]us**, der Kreis, Rennbahn; Circus Maximus, v. Tarquinius Priscus zwiſchen dem palatiniſchen und aventiniſchen Hügel erbaut.

**cirka** (lat. Präp. u. Adv.), ungefähr.

**e[z]iſeliéren** (frz.), mit dem Meißel zierlich bearbeiten, ausſtechen.

**Citadélle** (v. ital. **cittadella**, a. d. lat. **civitas** Stadt, alſo eig.: Städtchen), Zwingburg, Zwinger in einer oder bei einer Stadt.

**citieren** (lat. **citáre**), anrufen, vorfordern; erwähnen.

**C[Z]iviliſatión** (v. lat. **civis** Bürger), Bildung.

**classis** (Acc. **classem**, Gen. Pl. **classium**), Klaſſe.

**Clodius**, Volkstribun, Feind des Cicero, von Milo im Jahre 51 v. Chr. ermordet.

**collaboratóribus** (Dat. Plur. v. **collaborátor**), Mitarbeiter. beſ. auf dem Gebiete des Unterrichts und der Jugenderziehung. [Kollaborator iſt noch jetzt an manchen höheren Unterrichtsanſtalten ein Titel für Lehrer.]

**Collégia** (Plur. v. **collégium**), 1. Geſamtheit der an einer Anſtalt wirkenden Beamten (Lehrerkollegien, Richterkollegien); 2. Vorleſungen, die an der Hochſchule gehalten werden.

**Collier** (ſpr. kolljéh, v. **collum** Hals), Halsband, Kragen.

**K[K]omfort** (engl.), Behaglichkeit, Wohnlichkeit; alles, was zum materiellen Wohlbefinden gehört.

**Komp.** auch **Co.** (Abkürzung für Kompagnie), Gesellschaft, Handelsgesellschaft.

**Komptoir** (spr. kong'toár, von **kompter** rechnen, zählen), Zahl- und Schreibstube.

**Conception, La,** eig.: Empfängnis (erg.: immaculata unbefleckte), Name mehrerer Örtlichkeiten in Amerika, in Neufundland und in Südamerika.

**conclusio** (von **conclúdĕre** schließen), 1. der Schluß, s. v. a. Ende; 2. der philosophische oder logische Schluß (aus bekannten Stücken auf ein unbekanntes).

**k[K]onferieren** (v. lat. **conferre**), zusammen besprechen, beraten. (Konferenz!)

**confessus** (Part. Perf. v. **confitĕri** eingestehen), geständig.

**K[K]onglomerát** (v. lat. **conglomerāre** zusammenrollen), Häufung.

**k[K]onjugieren** (lat.), eig.: zusammenbinden; Zeitwörter in ihren verschiedenen Modus- und Tempusformen „abwandeln".

**Konnetable** (frz., a. d. mittellat. **comes stabuli** Stallmeister); bei den fränkischen Kaisern oberster Beamter; bei den Franzosen oberster Befehlshaber des Heeres nach dem Könige.

**K[K]onsequénz** (lat. **consequentia,** v. **cónsĕqui** folgen), Folge, Folgerichtigkeit.

**k[K]onstruieren** (lat. **construĕre** bauen), gramm: den Satz aufbauen, d. h. die Glieder desselben nach bestimmten Gesetzen miteinander verbinden.

**Kontenta** (v. **continēre** umfassen u. **contendĕre** behaupten), 1. Inhalt eines Briefes oder Schriftstückes; 2. das Behauptete, die einzelnen Beschwerdepunkte.

**Kontrarium,** das Entgegengesetzte Teil der Chrie, in dem die Wahrheit des Satzes durch die Unwahrheit seines Gegenteils dargetan werden soll.

**Kontrebande** (frz., spr. kongtrbangd oder Konterbande [deutsch]), heimliche Einführung verbotener Waren, auch die Ware selbst.

**convictus** (Part. Perf. v. **convincĕre** überführen), überführt.

**K[K]onvokaz** = **convocátio,** Zusammenberufung, Versammlung.

**Kornelia,** Tochter des Scipio Africanus major, die Mutter des Gracchen.

**Korps** [Korps] (frz., spr. kohr), Körper, Körperschaft, größere Truppenabteilung. (Armeekorps = 2 Divisionen)

**Kortez, Ferdinand** (spr. Kortes), Eroberer von Mexiko 1419—1521 (Entdeckung von Kalifornien 1533), † 1547.

**Kourier** (v. frz. **courir** laufen), Eilbote.

**Kouvért** (spr. kuwähr, eig. Part. Pass. v. **couvrir** bedecken), 1. Briefhülle; 2. Gedeck (Teller, Löffel, Messer und Gabel ꝛc.)

**crucis** (Gen. Sing. v. **crux** Kreuz), des Kreuzes.

**Crustumérium** und — **a,** uralte Stadt im Gebiete der Sabiner.

**Csárdas** (spr. tschárdasch), ungarischer Nationaltanz in $^2/_4$-Takt.

**Csikós** (spr. tschikosch; v. ungar. **csikó** Füllen), Pferdehirt in der Pußta (Grassteppe); Pferdebändiger, auch Weglagerer.

**cum interesse,** mit Zinsen.

**Cures,** Hauptstadt der Sabiner. Von dem Worte Cures wird gewöhnlich Quiriten abgeleitet.

**Cyáne** (lat. **cyanus**), blaue Kornblume.

**Cyclidien** (v. **kýklos** Kreis), kleine kreisrunde Wassertierchen.

**Kykláden** (gr. **Kykládes,** von **kýklos,** Kreis), die kreisförmig um Delos herumliegenden Inseln im Ägäischen Meere, östlich von Mittel- und Südgriechenland.

**Cylinder** (gr. **kýlindros**), Walze, Rolle.

**Cypern** (gr. **Kypros**), östlichste größere Insel des Mittelmeers (174 □ Mln.), von den Griechen wohl wegen ihres Reichtums an Kupfererzen C. genannt. Gehört zur Türkei, steht abgegenwärtig unter englischer Verwaltung.

**Cypresse,** zu den Koniferen gehöriger Baum, Symból der Trauer, daher auf Gräber gepflanzt; auch von römischen Dichtern und von Klopstock geradezu für Tod und Grab gesetzt.

**Cyréne,** Hauptort der Landschaft Cyrenáica an der Nordküste Afrikas.

**Daktýlisch** (gr., v. **dáktylos** Finger, dann Versfuß, bestehend aus 1 langen und 2 kurzen Silben), aus Daktylen bestehend, z. B. daktylischer Hexámeter.

**Damiette,** ehemals blühende Handelsstadt in Unterägypten. 1249 von Ludwig d. Heiligen erobert (6. Kreuzzug), bald aber wieder zurückgegeben (Ludwig selbst gefangen), später geschleift und an der jetzigen Stelle aufgebaut. Durch Eröffnung des Suezkanals (1869) hat D. viel von seiner Bedeutung verloren.

**Dämon** (gr. **daímon**), Gottheit; gewöhnlich wird eine verderbliche Gottheit darunter verstanden, wenngleich noch das Attribut „böse" hinzugefügt wird.

**dämónisch** (Adj. z. vor.), unheimlich, verderblich.

**Datum** und Plur. **Data** (v. **dare** geben), eig.: gegeben oder das Gegebene: 1. Angabe der Zeit, wann ein Brief oder sonstiges Schriftstück abgefaßt ist (Monatsdatum); 2. Daten s. v. a. Angabe von Tatsachen, auch Jahreszahlen.

**declinatiónis**, Gen. v. **declinátio** Beugung.

**declinatiónes**, Nom. Plur. z. d. vor.

**decrescendo** (spr. **dekreschendo**, ital, v. lat. **decréscĕre** abnehmen), abnehmend in der Tonstärke.

**Decúrien** (v. lat **decem** zehn), eig.: Zehnschaft, Abteilung von Zehn

**Defékt** (v. lat. **defiĕre** fehlen), Mangel.

**defensiv** (v. lat. **défendĕre** verteidigen), verteidigend; sich in der Verteidigung befindend, z. B. Defensivkrieg — Verteidigungskrieg.

**Deígma** (v. **deíknymi** zeigen), in Athen der Platz (Gebäude), wo die Waren zur Schau gestellt wurden. Börse.

**Dekeleier**, Bewohner v. Deceléa (Dekeleia) in Attika.

**deklinieren** (lat. **declināre**), beugen, d. i. ein Nomen in seinen verschiedenen Zahlformen und Fällen abwandeln.

**delikat** (lat. **delicatus**, mit dem lat. **delĭciae**, [Ergötzlichkeit] zusammenhd.), 1. köstlich, reizend (namentl. v. Geschmack); 2. wählerisch, verzärtelt; 3. s. v. a. schlüpfrig, zweideutig; woran man nicht gern rührt.

**Delinquént** (Part. Pr. v. **delinquĕre** sich vergehen), der Beschuldigte.

**Delphi** (gr. **Delphoí**), Stadt in Phocis (Mittelgriechenland), die durch das Orakel des Apollo weltberühmt war. Das Orakel hatte nach der Ansicht der Alten ursprünglich der Themis, Gäa oder dem Poseidon gehört. Nach der Tötung des Drachen Python wird Apollo Herr des Orakels. (Damit ist wohl auf die Einwanderung der verschiedenen griechischen Stämme hingedeutet, von denen ein jeder seine bestimmte Hauptgottheit hatte.)

**Delphin** (gr, auch **Delphís**), 1. Delphin, Meerschwein. (Nach der Sage ist der D. ein bes Freund der Musik, der Sänger Arion wird von einem Delphin gerettet). 2. D. = Dauphin (spr. **dophfäng'**), Kronprinz v. Frankreich (Dauphiné). In usum Delphini: wörtl. zum Gebrauch des Dauphins d. i. gekürzte Ausgabe eines Buches. (Goethe: Götz von Berlichingen.)

**Delta** (vierter Buchstabe des griech. Alphabets, Δ), Land zwischen den Mündungsarmen eines Flusses, vorzugsweise des Nils; so genannt, weil je zwei solcher Mündungsarme mit der Meeresküste die Figur dieses Buchstabens bilden

**Dèmant** = **Diamánt**, gewöhnlich für Edelstein.

**Demétrius** (abzul. v. **Deméter** Göttin des Landbaues, der Ceres der Römer), Name mehrerer berühmter Griechen: 1. D. Poliorkétes, der Belagerer, Städteeroberer, Sohn des Antigónus v. Makedonien; 2. D. Phaleréus aus Phaléra, Regent von Athen.

**Demódokus**, der blinde Sänger bei den Phäaken.

**Demokratie** (gr. **démos** Volk nnd **kratein** herrschen), Volksherrschaft.

**demokratisch**, Adj. z. d. vor.

**Demósthenes** (gr. **démos** Volk und **sthénos** Macht, Stärke), 1. der berühmteste Redner Griechenlands und des Altertums überhaupt, größter Feind Philipps von Makedonien (seine Philippischen Reden), † 322 auf Kalauria; 2. athenischer Feldherr im peloponn. Kriege.

**Deórum vehiculum** (lat.), Götterwagen.

**Departement** (frz., spr. **départ'mäng'**, v. **départir** [lat. **dispertiri**] verteilen), Einteilung: 1. Bezirk (Frankreich ist in 87 Dep. eingeteilt); 2. Geschäftskreis eines Ministers oder eines Regierungsrates (Departementsrat).

**Depésche** (frz., v. **dépêcher** [spr. **dehpäsch'éh**] rasch befördern), Eilbotschaft, Telegramm.

**deponieren** (lat. **depónĕre** niederlegen); 1. zur Aufbewahrung niederlegen, z B. bei Gericht; 2. bezahlen (späterer Gebrauch, etwa dem vulgären „abladen" entsprechend).

**deputátio** (lat. **deputāre** abordnen), Abordnung von Mitgliedern eines Kollegiums oder einer Körperschaft zur Vertretung gewisser gemeinsamer Interessen (Angelegenheiten).

**per deputatiónem** (s. d. vor.), durch Abordnung, kollegial. Vertretung.

**Despót** (gr. **despótes** Herr), Gewaltherrscher.

**despótisch** (Adj. z. vor.), willkürlich herrschend, hart, grausam

**Détailverkauf** (frz. **détail**, spr. **detäi'**), Einzelheit, Einzelverkauf.

**Dett**(holl. **duijt**, frühere holl Kupferscheidemünze = $^1/_8$ Stüber, etwas mehr als 1 Pf.), eine Kleinigkeit (z B. „man fragt keinen Dett danach"; „Keinen Dett mehr als 20 u. 9" [Bürger]).

**Devotión** (lat. **devótio** von **devovēre**), Gehorsam, Ergebnheit, Unterwürfigkeit.

**dezimieren** (v. lat. **decem** zehn), den zehnten

Mann zur Bestrafung auswählen; dann überhaupt: eine Menge stark lichten (in der Schlacht oder durch eine Krankheit).

**Dia**, älterer Name der Insel Naxos, auf der Ariadne zurückgelassen wurde.

**Diadém** (gr. **diádema**), Stirnbinde, Reif, Krone.

**Diakón** (gr. **diákonos**), Diener; in den ersten Zeiten der christlichen Kirche Armen- und Krankenpfleger; Gehilfe des Bischofs; Hilfsgeistlicher. (Heute an größeren Kirchen Titel für ordentliche Geistliche.)

**dialéctica** (gr.), gelehrte Streitkunst, Disputierkunst; dann s. v. a. Logik d. i. Denklehre.

**Dialékt** (gr.), Mundart.

**Diaméter** (gr. **diamétros**, von **diá** durch und **metreín** messen), Durchmesser; die Linie, welche zwei Punkte der Peripherie verbindet und durch den Mittelpunkt des Kreises geht; die größte Sehne.

**die, cur hic?** (lat.) sage, warum hier? Erg.: bist du.

**difficile est proprie communia dicere** (Horatius); es ist schwer, das Gemeinsame auf eigentümliche Weise — d. h. mit eigenen besonderen Worten — zu sagen.

**Dijon** (spr. Dischong'), Stadt im östlichen Frankreich, Depart. Côte d'or; früher Hauptstadt von Burgund. 1871 Januar Garibaldis Hauptquartier; heftige Kämpfe in der Nähe von D. zwischen Deutschen (Werder) und Garibaldis Freischaren.

**diktieren** (lat. **dictáre** wiederholt sagen), zum Nachschreiben vorsagen.

**Diktión** (lat. **dictio** abzuleiten von dicĕre sagen), Sprache, Schreibart.

**Dilettant** (ital. **dilettare**, v. lat. **delectāre**, ergötzen), der sich an einer Kunst ergötzt, Kunstfreund, Kunstliebhaber.

**Dimenstón** (v. lat. **dimetiri** ausmessen), Ausdehnung eines Körpers nach Länge, Breite und Höhe.

**Dio Cassius**, griech. Geschichtschreiber, geb. 155 v. Chr. in Nicäa, zu Athen gebildet; lebte in Rom und stand im Dienste der röm. Kaiser; schrieb eine röm. Geschichte von der Einwanderung des Äneas bis 229 v. Chr., nahm sich Thucydides und Polybius zum Muster.

**Diochares**, Freigelassener des Cäsar.

**Diodórus**, mit dem Beinamen Siculus (aus Sicilien), Geschichtschreiber zur Zeit des Augustus; schrieb eine Weltgeschichte („Bibliothek") in griech. Sprache, von der aber nur wenig erhalten ist.

**Diokletián** (lat. **Diocletiánus**), röm. Kaiser von 284—304, teilt die Verwaltung des Reiches; 4 Hauptteile: an der Spitze stehen zwei Augusti, Diokletian im Morgenlande, Maximinianus in Italien, und zwei Caesares: Galerius in den Donauländern, Constantius in Gallien. Unter ihm die letzte allgemeine Christenverfolgung.

**Diomédes**, 1. Sohn des Tydeus (dah. Tydide genannt), griechischer Held vor Troja; 2. ein sagenhafter König von Thrazien, dessen Rosse Herakles holen mußte.

**Dionysius v. Halikarnássus**, Geschichtschreiber, geb. 61 v. Chr. zu Halikarnäß in Carien, kam etwa 30 v. Chr. nach Rom, schrieb eine röm. Geschichte („Archäologie") vom Anfang der Stadt bis zu den pun. Kriegen, † 8 v. Chr.

**Dioskuren** (gr. **Diós** des Zeus und **koúroi** Knaben, Söhne), Söhne des Zeus und der Leda: Kastor und Pollux, griech. Polydeukes.

**Diözesanſuperintendent** (gr. **diokēsis** Kirchensprengel und neulat. **superintendĕre** die Oberaufsicht haben), Kirchen- und Schulaufseher eines Bezirkes.

**Diphthóng** (gr. **diphthongos** von **di** [dis] zweimal und **phthóngos** Ton), Doppellaut, Doppelvokal.

**direkt** (**directus**, eig.: Part. Perf. P. von **dirigĕre** richten, leiten) gerade, ohne Vermittlung.

**diskipulos** (Acc. Plur. v. **discipulus**), die Schüler.

**Diskos** (gr.), flachrunde Stein- oder Metallscheibe, die mittels eines Riemens geschleudert wurde. Das Diskoswerfen bildete eine Kampfesart bei den Nationalspielen der Griechen.

**Distichon** (gr. **di** = **dis** zweimal und **stichos** die Reihe, also: zweireihig), ein aus 2 Versen — Hexámeter, Pentámeter — bestehendes Verspaar: z. B. Wanderer, kommst du nach Sparta, verkündige dorten, du habest | uns hier liegen gesehn, wie das Gesetz es befahl!

**distinguieren** (lat. **di-stinguĕre**), absondern, unterscheiden. **Distinktión**, Absonderung, Auszeichnung, z. B.: Männer von Distinktion.

**Distrikt** (v. lat. **distringĕre** auseinanderziehen), Landstrich, Bezirk.

**Disziplin** (lat. **disciplina**), Zucht, Schulzucht. Disziplinen werden auch die Unterrichtsgegenstände genannt.

**dito** auch **detto** (ital., vom lat. **dictum** das Gesagte), dasselbe, desgleichen.

**Divinátor** (lat. **divinâre**, vermuten, ahnen), Weisſager, Wahrſager.

**Diviſión** (v. **dividêre** teilen), Teilung, das Teilen (beim Rechnen).

**Diwan** (perſ. **diwân**), 1. der Geheime Rat des Sultans; 2. Prachtzimmer der Türken; 3. eine Art Sofa.

**doctóres (dóctŏr puerórum)**, Lehrer.

**Dogge** (v. engl. **dog** Hund), großer engliſcher Hund.

**Dogmátik** (**dogma** Meinung, Satz, Glaubensſatz), Glaubenslehre.

**Dominikáner**, Mönche vom Orden des Dominikus (de Guzmann), 1215 zu Toulouſe geſtiftet; Predigermönche.

**Dóminus** (lat.), Herr.

**Donátus**, lat. Sprachlehre nach Älius Donatus, einem röm. Grammatiker um 355 n. Chr., genannt.

**dormitórium** (von **dormíre** ſchlafen), Schlafſaal.

**Drachme** (gr. **drachmé**); eine Drachme, altgriechiſche Silbermünze, der hundertſte Teil einer Mine, der ſechstauſendſte Teil eines Talents = 75 ₰. Vielfache der Drachme waren z. B. Tetradrachmon = 3 ℳ (Silberſtatér), auch Oktadrachmon = 6 ℳ (bei den Athenern).

**Drainage** (frz.), unterirdiſche Entwäſſerung des Bodens durch Rohrleitungen.

**Dráma** (griech., Plur. Dramen), eig.: Handlung; eine der drei Hauptgattungen der Poeſie (Epik, Lyrik, Drama); dichteriſche Darſtellung einer Handlung als gegenwärtig.

**dramátiſch** (Adj. z. vor.), handelnd, nach Art des Dramas.

**Drapierung** (v. d. franz. **drap** [ſpr. drah] Tuch), das Ausſchlagen von Wagen und Zimmern mit Tuchſtoffen oder Tapeten. Dann in der Malerei: Gewandung, maleriſche Anordnung der Gewänder und Stoffe; Faltenwurf.

**Druiden** (kelt.), Prieſter und Weiſe der alten Gallier oder Kelten.

**Dryàs** (gr., v. **drys** Eiche), Dryáde, Baumnymphe (Schiller: Spaziergang).

**Dukaten** (v. mittellat. **ducatus**), Goldmünze im Werte von 5 Gulden 30 Kr. rheiniſch = 9 ℳ 50 ₰. Den Namen ſoll die Münze erhalten haben, weil ein ital. Herzog von Apulien (ein dúca) ſie habe zuerſt prägen laſſen mit der Inſchrift: sit tibi, Christe, datus, quem tu regis, iste ducatus (es ſei Dir, Chriſtus, gegeben das Herzogtum, das du regierſt).

**Duplikation** (v. lat. **duplicatio**), Verdoppelung.

**Dürer, Albrecht**; berühmter Maler und Kupferſtecher in Nürnberg (1471—1528).

**Écho** (griech. **echó**), Widerhall.

**Edikt** (lat. **edictum** Befehl), landesherrlicher Befehl.

**Effékt** (v. **efficêre** bewirken), Wirkung.

**Effékten**, bewegliche Habe, Habſeligkeiten.

**Effulguration** (lat., aus **e** oder **ex** aus und **fulgur** Blitz), das Aufblitzen, Aufleuchten.

**Egoismus** (v. lat. **ego** ich), Selbſtſucht.

**egoiſtiſch** (Adj. z. Subſt. **Egoiſt** der Selbſtſüchtige), ſelbſtſüchtig; eigennützig.

**Ekbátana**: 1. Hauptſtadt von Medien, von dem Könige Déjöces erbaut; 2. ein Städtchen, in welchem Kambýſes auf der Rückkehr aus Ägypten ſtarb (522 v. Chr.).

**elaſtiſch** (Adj. z. d. folg.), ſchnellend.

**Elaſtizität** (v. griech. **elaúnein** treiben), Schnellkraft, Springkraft

**Elegie** (gr. **elegeía**, auch **elegeíon**), gewöhnl. für Klagelied; doch auch andre Gedichte ernſten Inhalts und in Hexametern und Pentametern gedichtet, werden Elegieen genannt.

**elégiſch** (Adj. z. vor.), klagend, betrübt, z. B.: elegiſche Stimmung.

**elektriſch** (mit **eléktron** Bernſtein zuſammenh.), Elektrizität beſitzend. Elektrizität iſt die Eigenſchaft des Bernſteins und anderer Körper, infolge von Reibung leichtere Körper anzuziehen, bei Annäherung anderer Funken zu erzeugen.

**Elemént** (lat. **elementum**), Grundſtoff.

**elementár** (Adj.), ur- und grundſtofflich, nach den Anfangsgründen; von den Elementen herrührend, z. B.: elementare Ereigniſſe.

**Elfe** (Plur. **Elfen**, mit **alp** zuſammenh.), in der nordiſchen Mythologie (Götterlehre) göttliche Weſen niederen Ranges.

**Elyſium** (gr. **Elysion**, erg.: **pedion** Ebene, Gefilde), geſegnete Gegend am Weſtrande der Erde, wohin beſonders von Zeus begünſtigte Menſchen ohne Tod verſetzt wurden; Paradies.

**Emblém** (gr. **émblēma**), eig.: das, was eingeſetzt iſt; Zierat, Verzierung, Abzeichen, Sinnbild.

**Emigránt** (lat. **émigrans**, Part. Präſ. v. **emi-**

**grāre** auswandern), Auswanderer, Vertriebener.

**Emolumente** (v. lat. **emolumēntum** Gewinn, Vorteil), Einkünfte (in barem Gelde und in andern Bezügen bestehend).

**en détail** (fr., spr. angdetaĭ'), im einzelnen Gegenteil: **en gros** (spr. ang'gró), im ganzen.

**Encyklopädie** (gr., **en** in, **kýklos** Kreis, **paidía** Bildung, Wissenschaft), Kreis, Umfang aller Kenntnisse, die zu umfassender Bildung gehören; auch ein Buch, das diese oder ein einzelnes Wissensgebiet umfassende Kenntnisse vermittelt.

**Energie** (gr. **enérgeia** [**ergon** Werk]), Tatkraft.

**enérgisch** (Adj. z. vor.), tatkräftig.

**engagieren** (spr. ang'gaschieren, vom fr. **engager** [von **gage** Pfand, Lohn]), veranlassen. Jemd. engagieren = ihn veranlassen, Dienste zu leisten; engagiert sein = sich zu etwas verpflichtet haben.

**Enger**, Stadt im preußischen Regierungsbezirk Minden bei Herford, Hauptsitz und Grabstätte Wittekinds.

**enórm** (v. lat. **enórmis**, Präp. e und **norma** Regel), außerordentlich.

**Ephḗbe** (gr. **éphēbos**, zusammengesetzt aus Subst. **hḗbe** Jugend, Mannbarkeit und Präp. **epí**, zu **eph'** verkürzt), der zur Mannbarkeit herangewachsene Knabe; Jüngling.

**Ephḗsus**, einst bedeutende Stadt in dem kleinasiatischen Jonien, nahe der Mündung des Caÿstros; berühmter Tempel der Diana oder Artemis, der im Jahre 356 v. Chr. von Heróstratos verbrannt wurde. 499 Schlacht bei E., in der die aufständischen Griechen von den Persern geschlagen wurden.

**Ephóren** (gr. **éphōroi** von **ephorán** darauf sehen, beobachten), Aufseher; in Sparta und in andern dorischen Staaten hohe Behörde, die über die Sitten des ganzen Volkes, sogar der Könige, zu wachen hatte (5 Männer).

**Epidemie** (gr. **epidemía**), eine sich über das ganze Volk oder Land verbreitende Krankheit.

**epilḗptisch** (Adj. z. d. Subst. **epilḗpsis** und **epilepsía** [von **epilambánein**] Fallsucht), fallsüchtig.

**Epiróten** (von **Ḗpeiros** Festland), Bewohner der Landschaft Epirus, des westlichen Teiles von Nordgriechenland.

**episch** (Adj. zu **épos** Erzählung), erzählend, ep. Poesie = erzählende Poesie.

**Episóde** (gr. **epeisódion** [**ep-eis-hodion**] das von außen Hineingekommene, das nicht streng zur Sache gehört), Zwischenrede, Einschiebung.

**Epitheton** (gr das Dazugelegte); Beiwort, Attribut.

**Epitheton ornans**, schmückendes, zierendes Beiwort.

**Epóche** (gr. **epochḗ**), das Anhalten: 1. Zeitpunkt, wo eine neue Zeitrechnung beginnt; 2. Zeitraum; 3. Aufsehen. Epoche machen heißt Aufsehen erregen.

**Epos** (Plur. **Epen**), Wort, Erzählung, Heldengedicht.

**Eppich**, 1. Efeu (Kranz von Eppich!; 2. Apium, Sumpfeppich, Sellerie.

**Erechtheion**, Heiligtum des Eréchtheus auf der Akropolis in Athen. E. war ein myth. König von Athen.

**Erinnen = Erinnyen** (gr. **Erinyes**; Sing. **Erinys**), Rachegöttinnen, Furien der Römer; werden nach Orestes' Freisprechung durch den Areopag zu Athen zu Segensgöttinnen — Eumeniden.

**Essenzen** (lat. **essḗntia**, von **esse** sein), das Wesen, der wesentliche Bestandteil einer Sache.

**Estrich**, 1. Fußboden von Lehm; 2. Lehmdecke eines Zimmers, die zugleich für das darüberliegende Fußboden ist.

**Etage** (frz., spr. etahsch'), Stockwerk.

**et cetera** (lat.), und das übrige = u. s. w.

**Ethien** (Neutr. Pl. von **éthieus**, gr. **éthikos**, é, ón von **éthos** Sitte), Sittenlehre.

**Etrurien**, Landschaft des alten Italien, nördlich von Rom.

**Eubóa**, Insel östlich von Mittelgriechenland (Hellas) durch den euböischen Meerbusen und den Euripus von dem Festlande getrennt, jetzt Negropónte genannt.

**Eumäus** (gr. **Eumáios**), Sauhirt (d. i. Aufseher der Herden) des Odysseus auf Ithaka.

**Eunomos** (**nómos** Gesetz, **eu** wohl), Vater des Lykurg, König von Sparta.

**Eunúch** (gr., **eunḗ** Bett und **échein** haben, beschützen), Verschnittener (Diener und Hüter der Frauen des Harems [d. i. Frauenhaus]).

**Euphēmísmus** (von **euphēmein** gute, Glück bedeutende Worte brauchen), Bezeichnung einer schlimmen Sache durch einen guten Namen, z. B. **pontos eúxeinos** für p. áxenos — gastliches Meer statt stürmisches Meer.

**Euripides**, der jüngste der drei großen Tragiker

der Griechen (Äſchylus, Sophokles), lebte z. T. der Perſerkriege und nach denſelben.

**Eurótas**, Fluß in Lakonien, an dem Sparta lag; jetzt Baſilipótamo (Königsfluß)

**Euſébius**, Verfaſſer einer griechiſch geſchriebenen Kirchengeſchichte, geb. um 270 n. Chr., Biſchof von Cäſaréa.

**evaluation** (v. frz. **évaluer** würdigen, ſchätzen), Schätzung.

**Evangelium** (gr. **euangélion**, von **eu** wohl, **angélloin** melden), frohe Botſchaft.

**evident** (lat.) **évidens** [**vidēre** ſehen]), augenſcheinlich.

**Exámen** (Plur. **exámina**, von **examināre** abwägen, prüfen), Prüfung.

**Exegética** (gr., von **exegeísthai** erklären, **exegetikós** zum Erklären geſchickt), Auslegungskunſt.

**Exempel** (lat. **exémplum**, Plur. **exémpla**), Beiſpiel.

**Exemplár** (lat. **exémplar** Muſter), einzelnes Stück einer Schrift, eines Buches, eines Bildes.

**exemplárisch** (lat. **exemplāris**, e, zum Muſter dienend), muſterhaft (zur Nachahmung, aber auch zur Warnung, Abſchreckung geeignet), z. B.: exemplariſche Strafe.

**exerzieren** (lat. **exercēre**), üben, namentlich in militär. Hinſicht.

**Exiſtenz** (lat. **exiſténtia**, von **exiſtĕre** beſtehen), das Beſtehen, der Unterhalt

**exkl.** = **exkluſive** (lat., v. **excludĕre** ausſchließen), ausgeſchloſſen, ausſchließlich.

**Exordium cum laude auctōris** (lat.), Anfang, Einleitung mit dem Lobe des Urhebers oder Autors; erſter Teil der Chrie.

**Expedition** (lat. **expedītio**), Zug, Unternehmung, Beſorgung.

**Experiment** (lat. **experimentum**, v. **experiri** durch Verſuche erfahren), Verſuch.

**expilzieren** (lat. **explicāre** entwickeln), auseinanderſetzen, erklären.

**Exploſion** (lat. **explōsio**, v. **explōdĕre** ausſpeien, ausklatſchen [vgl. applaudieren]), Ausbruch, Erſchütterung.

**exponieren** (lat. **exponĕre** ausſetzen), anlegen, erklären.

**expoſitio** (lat.), Auslegung, Entwickelung. Bei der Chrie (zweiter Teil): die wörtliche Erklärung des Satzes.

**extendieren** (lat. **extendĕre** ausſtrecken), erſtrecken.

**extra** (lat. Adv.), außerordentlich; häufig mit deutſchen Adjektiven und Adverbien verbunden, z. B. extragnädig, extrafein.

**Exzeß** (lat. **excessus**, v. **excedĕre** darüber hinausgehen), Ausſchreitung.

**Fabel** (lat. **fabula**, v. **fāri** ſprechen), 1. erdichtete Erzählung; 2. didaktiſche Dichtungsart; 3 Gegenſtand der Dichtung, z. B. eines Schauſpiels.

**facúltas ártium** (lat., ſpr. **árzium**; **facultas** Fähigkeit, Zunft, **artium** Gen. Pl. v. **ars** Kunſt,) Zunft der Künſte, d. h. der vier freien Künſte (Theologie, Philoſophie, Medizin, Jurisprudenz).

**facultátes** (Pl. v. **facúltas**), Zünfte oder Abteilungen auf der Hochſchule (S. vor. Art.)

**Fakſimile** (v. lat. **facĕre** machen und **simĭlis**, e ähnlich; Pl. **facsimilia**), etwas dem Wirklichen Ähnliches; genaue Nachbildung einer Handſchrift.

**faktiſch** (v. lat. **factum** die Tat), tatſächlich, wirklich.

**Falérner** (lat. **Falérnum**, erg.: **vinum** Wein), Falerner Wein, berühmter Wein aus dem Falerniſchen Gebiet in Kampanien, vom Dichter Horaz oft erwähnt und geprieſen.

**Familiarität** (v. lat. **familiāritas**), Vertraulichkeit.

**fámulus** (lat.), Diener: auch Gehilfe eines Gelehrten. (Fauſt — Wagner.)

**faſhionable** (engl., ſpr. **fäſchonäbl**), kleidſam, modiſch.

**Fata** (lat., Plur. v. **fatum**), Geſchicke.

**fataliſtiſch** (v. lat. **fatum** Geſchick, Verhängnis), an ein unvermeidliches Geſchick glaubend

**Fauna** (lat., v. **Faunus**, Plur. **Fauni** römiſche Feld und Waldgötter), Geſamtheit der in einem gewiſſen [kleinen oder großen] Gebiet vorkommenden Tiere; Tierwelt.

**Február** (lat. **Februārius**; **februum** Reinigungsmittel [ſabiniſch]; **februa** Reinigungs- und Verſöhnungsfeſt, das am 15. d. M. gefeiert wurde, daher ſein Name; erg.: **mensis** Monat): der zweite Monat des Jahres; bis zur Regierung der Decemviri (451—449) der letzte Monat des Jahres. Von Karl d. Gr. Hornung genannt

**Ferétrius** (lat. v. **ferire** ſchlagen), Beiname des Jupiter als des Überwinders der Feinde.

**Ferge** (mhd.), Fährmann, Schiffer.

**Ferien** (v. lat. **férlae** Feiertage), feſtgeſetzte Unterbrechungen der Arbeit von längerer Dauer (Schulferien, Gerichtsferien).

**Feß** (auch **Fes**), Kopfbedeckung der Orientalen (Morgenländer): Kappe ohne Schild mit Quaſte; hat ſeinen Namen von der Stadt Fez in Afrika.

**Fibel** (Urſprung zweifelhaft, ob mit dem griech. **biblos** [Buch] oder dem lat. **fibulare** [binden, heften] zuſammenhängend), Abc-Buch.

**Fidénä**, uralte Stadt in Latium am Tiber.

**Fidenät** (Plur. **Fidenaten**, lat. **Fidenátes**), Bewohner von Fidenä.

**Figuralmuſik**, Gegenſatz zur einfachen Choralmuſik, die ohne Figuren iſt.

**filtrieren** (v. lat. **filtrum**, frz. **filtrer**), durchſeihen.

**Filtrum** (neulat., frz. **filtre**), Seihetuch, Durchſchlag.

**Finanzbeamter** (**Finanzen** v. frz. **finance**, ital. **finanza**, dieſes vom mittellat. **finäre** bezahlen, quittieren), ein Angeſtellter, der mit der Verwaltung — Einziehung und Verausgabung — der Staatseinkünfte beauftragt oder doch dabei tätig iſt.

**fingieren** (v. lat. **fingĕre**), erdichten, vorgeben.

**Fjorde** (dän.), kleine Meerbuſen.

**Firmament** (lat. **firmaméntum**), das ſcheinbare Himmelsgewölbe, Veſte.

**firn**, alt, vorjährig (Schnee, Wein).

**Firnen**, mit Firn [d. i. altem Schnee] bedeckte Berge. (Schiller: Tell.)

**Fixſterne** (lat. **stellae fixae**, v. **fixus** angeheftet, feſt, und **stella** Stern), feſtſtehende Sterne, Sonnen.

**Flagge** (niederdeutſch, **gg**!), Schiffsfahne zur Bezeichnung der Nationalität (Volksangehörigkeit) oder des Ranges der Befehlshaber.

**Flor** (v. lat. **flos** Blume), 1. Zuſtand des Blühens, z. B. Roſenflor; 2. dünnes, feines Gewebe, Schleier; auch als Zeichen der Trauer.

**Flora** (lat., zuſammenhängend mit **flos** Blume), 1. Blumen- und Blütengöttin bei den Römern, deren Feſt (die Floralien) am 28. April gefeiert wurde; 2. Geſamtheit der in einem Gebiet vorkommenden Pflanzen.

**Föhn** (v. lat. **Favonius**, erg.: **ventus** Wind), Südwind, Tauwind.

**Foliánt** (v. **folium** Blatt), Buch in großem Format (großer Bogenform).

**Fólie** (ſ. d. vor.), 1. Blattgold oder Blattſilber; 2. bildliche Unterlage zur Hebung einer andern Sache oder Perſon, z. B. jemand als Folie dienen.

**formál** (lat. **fórmalis**, e, v **forma** Geſtalt, Form), die Form betreffend: z. B. formale Bildung.

**Formierung** (v. **forma**), Geſtaltung.

**formulieren**, Form geben, in eine beſtimmte Form bringen, z. B.: einen Antrag formulieren.

**fortes fortúna ádiuvat** (lat.), die Tapferen unterſtützt das Glück.

**Forum**, 1. Markt, Verſammlungsplatz; 2. Gerichtshof, Richterſtuhl, z. B.: vor ein Forum gehören.

**Fra diavolo** (ital., **fra** [Abkürzung v. **frater** Bruder] und **diavolo** [v. griech. **diábolos** Teufel]), wörtl.: Bruder Teufel, Bandit, Wegelagerer.

**Fragment** (lat. **fragméntum**), Bruchſtück.

**frangſchemang** (ſtatt **franchement** [frz.]), frei, freimütig.

**frappánt** (v. frz. **frapper** klopfen, ſchlagen), auffallend; z. B.: frappante Ähnlichkeit.

**Fregátte**, ſchnellſegelndes Kriegsſchiff mit drei Maſten.

**frequenti exercitatione in lingua latina** (lat.), durch häufige Übung in der lateiniſchen Sprache.

**Friedrichsdor** (auch — **d'or**, wörtl.: Friedrich von Gold), Goldſtück im Werte von 5 Tlr. 20 Sgr. = 17 ℳ mit dem Bildnis Friedrichs; jetzt durch das Zwanzigmarkſtück (Doppelkrone) verdrängt.

**Fries** (Plur. **Friese**, v. frz. **friser**, ſpr. **friſéh** = kräuſeln), der mittlere Teil des Gebälkes zwiſchen Architrav (Hauptbalken) und Kranz.

**friſieren** (ſ. d. vor.), kräuſeln, das Haar künſtlich ordnen.

**Friſúr** (ſ. d vor.), künſtlich geordnetes Haar, Haarſchmuck.

**frivól** (v. lat. **frivŏlus** wertlos), gehaltlos, leichtfertig, leichtſinnig.

**Frivolität** (ſ. d. v.), Leichtfertigkeit.

**Front** (v. lat. **frons** Stirn), Vorderſeite eines Gebäudes; militäriſch: Geſichtsſeite, Front machen; im übertragenen Sinne: gegen jemand Front machen, d. i. ihm die Stirn bieten, ſich ihm widerſetzen.

**Fúlvia**, Gemahlin des Clodius, ſpäter des Antonius; wird nebſt ihrem Gemahl von Cicero in den Philippiſchen Reden gegeißelt und

ſucht ſich noch an der Zunge des Toten dafür zu rächen.

**Fundament** (lat. **fundaméntum**), Grundlage.

**Funktion** (lat. **fúnctio**, v. **fungi** verwalten), Verrichtung.

**Gackennestle** (auch Nesthocker und Nesthäkchen), das Jüngſte einer Brut; auch wohl ſcherzweiſe von dem jüngſten Kinde einer Familiegeſagt.

**Galén** (lat. **Galénus**), berühmter griech. Arzt.

**Galerie** (frz, v. mittellat. **galeria** = bedeckter Ort), 1. Rundgang, zur Aufſtellung von Kunſtgegenſtänden benutzt; 2. die Sammlung dieſer Gegenſtände ſelbſt.

**Gallinariſche Wald** (lat. **Gallinaria silva**), Wald in Kampanien nahe bei Cumä.

**galvaniſch** (Adj. z. **Galvanismus**), d. i. die Lehre Galvanis (1791 Bologna) von der tieriſchen oder Berührungs-Elektrizität, die ohne Reibung durch Aufeinanderlegung von Platten zweier verſchiedenen Metalle (Zink, Kupfer) entſteht.

**Garnitúr** (frz), 1. Zubehör, Beſatz; 2. auch für Anzug (namentlich der Soldaten) angewandt: erſte, zweite, dritte Garnitur.

**gefeit** (mit **Fei** = Fee zuſammenhängend), durch Zauber geſichert.

**genealógiſch** (v. gr. **genealogia** Geſchlechtsherleitung), nach dem Geſchlechtsregiſter, z. B.: genealogiſche Tafeln.

**General** (frz. **général**, ſpr. ſchehnehrall), Feldherr; höchſter Rang im militäriſchen Dienſtverhältnis.

**Generatión** (lat. **generátio**, v. **genus** das Geſchlecht), Menſchengeſchlecht, Menſchenalter.

**Genever** (ſpr. **Jenäwer**), feiner holländiſcher Branntwein.

**genial** (v. lat. **génius**), ſchöpferiſch, begabt.

**Genie** (ſpr. ſchenie, lat. **ingénium** Geiſt), Verſtand, Talent.

**genieren** (v. frz. **gêne** [ſpr. ſchähn'] Zwang, Qual), beläſtigen; refl.: ſich genieren, ſich Zwang antun, Anſtand nehmen.

**Genius** (Plur. **—ien**), Schutzgeiſt.

**Genre** (frz., ſpr. ſchang'r), Art, Gattung; z. B.: ernſtes Genre.

**Gentiáne** (lat. **gentiana**), Enzian, ein Gartengewächs

**Geométer** (gr, **gē** Erde und **metreín** meſſen), Feldmeſſer, Landmeſſer.

**Geometrie** (gr. **geometria**), 1. Erd- oder Feldmeßkunde; 2. Raumlehre.

**Gethſemane**, 1. Meierei am Ölberge bei Jeruſalem; 2. kleiner Ort im früheren Kurfürſtentum Heſſen.

**Gladiátor** (lat. **gládius** Schwert), Kämpfer; Sklaven, die bei den Römern als Fechter in den öffentlichen Kampfſpielen auftreten mußten und dazu in den Fechterſchulen eingeübt wurden (Spártakus — Capua).

**Glaſúr**, glasartiger Überzug des irdenen Geſchirres.

**Glimpf**, Billigkeit, Schonung. Adj. und Adv.: **glimpflich**.

**Gloria** (v. lat. **gloria** Ruhm), 1. Ruhm; 2. das Gloria oder der Lobgeſang „Ehre ſei Gott in der Höhe!"

**gloſſieren** (v. gr. **glōssa** Zunge, Sprache), Randbemerkungen machen.

**Gnom** (Plur. **—en**), Berggeiſt.

**Gnome** (Plur. **—en**, vom gr. **gnóme**), Meinung, Denk-, Lehrſpruch.

**gögel** (wohl abzuleiten v. mittelh. **gougeln** = gaukeln; Luther: **geugeley**), närriſch, poſſenhaft.

**Graechen** (ch!); die Söhne des Tib. Sempronius Gracchus und der Cornelia (ſ. d.) kämpfen als Volkstribunen für die Rechte des Volkes und verlangen für dasſelbe Anteil an den Staatsländereien (ager publicus); beide kommen dabei um: der ältere, Tiberius Gracchus † 133, Cajus † 121 v. Chr.

**graeca lingua** (lat.), die griechiſche Sprache.

**graece** (Adv. z. **graecus, a, um**), griechiſch, auf Griechiſch.

**Grammátiker** (lat. **grammaticus**, v. gr. **gramma** Buchſtabe [Plur. Wiſſenſchaften], **gráphein** ſchreiben), Sprachforſcher; Verfaſſer einer Sprachlehre.

**Grammatiſt** (gr.), Lehrer der Anfangsgründe der Sprache.

**grandis Bacchandria** = Ulm; **grandis** groß, **Bacchandria** ſcherzweiſe Bachusſtadt weil daſelbſt viel getrunken wurde.

**graß**, vgl. gräßlich; vom Blick: ſtarr und wild.

**Grat**, ſcharfe Kante, Gebirgsrücken, Rückgrat. (Grattier.)

**Grauchen** (Diminut. v. **grau**), Grautier, Eſel.

**Gravität** (lat. **grávitas**), Wichtigkeit, Würde.

**gravitätiſch** (Adj. z. vor.), würdevoll.

**Grazie** (Plur. **—ien**, v. lat. **gratia** Anmut; gr. Charitinnen), Huldgöttinnen, Charitinnen: Aglaia, Euphroſýne und Thalia.

**graziös** (frz, Adj. z. vor.), reizend, anmutig.

**Greif** (lat.-gr. **gryps**), ſagenhafter Vogel.

**Grenadiere**, ursprünglich Soldaten, welche mit Handgranaten warfen; Gardisten, später überhaupt Infanteristen.

**Großvezier** (arab. **Wesir**), erster Minister des Sultans, Präsident des Ministeriums.

**Guzerate**, auch **Gudscherate**, Halbinsel a. Persisch-Arabischen Meere und das benachbarte Gebiet.

**Gymnasiarch** (v. gr. **gymnásion** Ringplatz, **árchein** herrschen), Aufseher über die Leibesübungen und Ringplätze.

**Gymnasium** (gr.), öffentlicher Platz zu Leibesübungen, die nackt (gr **gymnós**) angestellt wurden, dann auch Versammlungsort der Lehrenden und Lernenden. Daraus der heutige Begriff: „Gelehrtenschule".

**Gymnástik** (gr., v **gymnázein** üben), Turnkunst, Turnkunde.

**gymnastisch** (Adj. z. vor.), Leibesübungen betr.

**Gymnóten** (gr. **gymnós** nackt), Aale.

**Habitatzen** (s. a. **habitatiónes**, vom lat. **habitáre** wohnen), Wohnungen.

**Habitus** (v. lat. **habére** haben, sich halten), die Haltung, auch in Rücksicht auf Kleidung.

**Halikarnaß = Halikarnassus**, berühmte Stadt in Kleinasien am Ägäischen Meere; Hauptstadt von Carien.

**Hanno**, karthagischer Suffét (Richter) um 500 v. Chr., umschifft die Westküste von Afrika; die Nachrichten über diese Expedition sind in der griech. Übersetzung erhalten: „Periplus".

**Harmonie** (gr. **harmonía**), Zusammenklang, Gleichklang.

**harmónisch** (Adj. z. vor.), zusammenstimmend.

**Harpax** (gr. **harpax**, auch **hárpagon** raubend), reicher Geizhals.

**Harpúne** (niederl.), Wurfspieß, Wurfpfeil zum Wallfischfange.

**Harpyien** (gr. **harpyiai**), Jungfrauen in Vogelgestalt, raubgierig und unersättlich, von den Göttern dem Phineus als Strafe geschickt. Die Argonauten befreien den Phineus von diesen Ungeheuern.

**Harúspices** (lat. Sing **haruspex**), Eingeweidebeschauer, Weissager; erst von den Etruskern zu den Römern gekommen

**Hazardspiel** (frz. **hazard** [spr. a ſá h r] Zufall), Glücksspiel.

**Hebräer** (Neutr. Plur. v. lat. **hebräeus, a, um**), Hebräisch.

**hebräeam linguam** (lat. Acc. Sing. zu **hebräea lingua**), die hebräische Sprache.

**Hegemonie** (gr. **hegemonía**), Führerschaft, Oberherrschaft.

**Hékate** (gr. **Hekáte**), Mondgöttin, Beschützerin der Zauberei. Hékate wird bald mit Artemis, bald mit Persephone oder Proserpina für gleichbedeutend gehalten.

**Hektor**, Sohn des Königs Priamus, größter Held der Trojaner.

**Hélena**, 1. Gemahlin des Menelaus, wegen ihrer Schönheit von Páris geraubt, Schwester der Klytämnestra, des Kastor und Pollux; 2. Mutter des Kaisers Konstantin.

**Héliand** (d. i. Heiland). Religiöses Epos in niederdeutscher (altsächsischer) Sprache aus dem 9. Jahrh.: altsächsische Evangelienharmonie, d. h. ein Versuch, das Leben des Heilands nach den vier Evangelien darzustellen. Anwendung der Alliteration oder des Stabreims.

**Héllas** (gr. **Hellás**), 1. Mittelgriechenland; 2. Griechenland überhaupt.

**Hellenen** (gr. **Héllenes**, abgel. v. **Héllen**, dem Sohne des Deukalion), Griechen.

**Hellenismus**, das Hellenentum.

**Hellespont** (gr. **Helles** [Gen. v. **Helle**] und **pontos** das Meer), Meer der Helle (Sage); Straße der Dardanellen zw. Asien und dem thraz. Chersonnés; Straße v. Gallipoli.

**Hephästeen**, Feste, die dem Hephästos zu Ehren gefeiert wurden.

**Hephästos** (gr. **Hephaistos**, l. **Vulcanus**), Sohn des Zeus und der Hera; Gott des Feuers, der Schmiedekunst; Gott der Esse (Schiller).

**Hera** (bei den Römern **Juno**), Gemahlin des Zeus (Jupiter).

**Hérakles** (gr. **Heraklés**, der römische **Hércules**), Sohn des Zeus und der Alkméne, daher von Hera gehaßt und verfolgt; größter Heros (Held, Halbgott) der griechischen Sage. (Die 12 Arbeiten!)

**Herbárium** (lat. **hérba** das Kraut), Sammlung getrockneter Pflanzen.

**Herkuláneum**, Herkulesstadt; eine der bedeutendsten Städte Kampaniens, 79 n. Chr. mit Pompeji beim Ausbruch des Vesuvs verschüttet, in neuerer Zeit wiederausgegraben.

**Hermäen**, Feste, die zu Ehren des Hermes gefeiert wurden.

**Hermelin**, 1. großes Wiesel; 2. Hermelinmantel, Abzeichen fürstlicher Würde.

**Hermen** (gr. **Hermai**), Bildsäulen des Hermes; später Pfeiler mit Hermesköpfen, wie sie in

Athen zahlreich waren. Umſturz der Hermen z. B. des Alcibiades 415 v. Chr.

**Hermeneútica** (gr., v **hermeneúein** auslegen, erklären), Wiſſenſchaft der Schriftauslegung.

**Hérmes** (gr. **Hermés**, bei den Römern **Mercúrius**), 1. Götterbote (trägt einen goldenen Stab, mit dem er die Toten weckt und die Lebenden einſchläfert, angetan mit dem Reiſehut und den Flügelſchuhen); 2. Gott des Handels, daher in Athen namentlich in großem Anſehen; 3. Gott der Diebe, als ſolcher ſchlau und trügeriſch.

**Heróën** (Plur. v. lat. **héros** Held [gr. **herôs**]), Halbgötter, auch durch Mut und Stärke ausgezeichnete Helden.

**heróiſch** (Adj. z. vor.), heldenhaft, z. B.: heroiſches Zeitalter — Heldenzeitalter. Der heroiſche Vers ſ. v. a. daktyliſcher Hexameter.

**Herold** (vom ahd. **harlwálto** — der des Heeres waltet), Ausrufer; auch Geſandter im Kriege. Im homeriſchen Zeitalter Diener der Könige, die die Verſammlungen der Fürſten beriefen und in ihnen auf Ruhe und Ordnung hielten; ihr Attribut iſt das Scepter.

**Hêros** (gr.), der Held; auch eine als Stammvater eines Hauſes oder einer Familie angenommene ſagenhafte Perſon. Familienheros.

**Hetäre** (gr. **hetaíra** Freundin), Geliebte, Buhlerin.

**Hexameter** (gr. **hex** ſechs und **métron** Maß — Sechsmaß), ein Vers, der aus ſechs Daktylen beſteht, von denen der letzte immer unvollſtändig (Trochäus oder Spondäus) ſein muß. Die Daktylen können durch Spondäen, im Deutſchen auch durch Trochäen vertreten werden; nur der 5. Fuß muß ſtets ein Daktylus ſein.

**Hieroglýphen** (gr., v. **hierós** heilig, **glypheín** aushöhlen, in Stein graben), wörtl.: heilige Schriften, altägyptiſche Bilderſchrift; 3 Arten der Hieroglyphen: a) das Bild bezeichnet das Wort; b) das Bild iſt ſymboliſch zu deuten; c) das Bild bedeutet nur den Anfangsbuchſtaben.

**Hieronymus** (gr., v. **hierós** heilig und **ónoma** Name, alſo: mit heiligem Namen); 1. Heiliger der katholiſchen Kirche, Kirchenvater; lebte von 331—420 n. Chr.; 385—405 überſetzt er die Bibel (Vulgáta). 2. H. (Fauſtiſch) Genoſſe von Johann Hus; 1415 vor das Konzil zu Konſtanz gefordert, widerruft er ſeine Schriften und Lehren, nimmt 1416 ſeinen Widerruf zurück und wird verbrannt.

**Hippodróm** (v. gr. **hippos** das Pferd u. **drómos** der Lauf), das Pferderennen, Rennbahn.

**Hiſtórie** (lat. **hiſtória**), Geſchichte.

**Hiſtóriker** (gr.), 1. Geſchichtsforſcher; 2 Geſchichtſchreiber.

**hiſtóriſch** (Adj.), geſchichtlich, Geſchichte betreffend.

**Hölle** (aus mhd. **helle**, vgl. die altnordiſche Totengöttin **Hel**), 1 Unterwelt, Ort der Verdammnis; 2. im volkstümlichen Scherz: das runde Loch im Schneidertiſch, in das die abgefallnen und beim Schneider bleibenden Zeugſtücke (Petersflecke) geworfen werden; 3. Raum zwiſchen Ofen und Wand.

**Homér** (gr. **Hómeros**, lat. **Homérus**), größter epiſcher Dichter der Griechen und aller Völker und Zeiten. Die „Ilias", enthaltend die Geſchichte der Kämpfe vor Troja, von der Entzweiung des Achilles und Agamemnon bis zum Tode des Hektor, hat 24 Geſänge. Die „Odyſſee" erzählt die Irrfahrten des Odyſſeus in ebenfalls 24 Geſängen H., zwiſchen 900 und 1000 v. Chr. lebend, ſoll blind geweſen ſein. Seine Geburtsſtadt ſtreitig; ſieben Städte ſtreiten ſich um den Urſprung Homers: Smyrna, Rhodus, Kolophon, Salamis, Chios, Argos, Athen.

**Homilética** (Neutr. Plur. von **homiletícus, a, um**, vom gr. **homileín** ſich unterhalten; **homilía** Unterredung, Predigt). Homiletik d. i. Kanzelredekunſt; homiletiſch — zur Kanzelredekunſt gehörig, kanzelredneriſch.

**Honnéur** (fr., ſpr. onnöhr, vom lat. **hónor** Ehre; Pl. **honneurs**), Ehre, Ehrenbezeugung. Die Honneurs machen — den Gäſten des Hauſes die ſchuldige Ehre erweiſen, ſie bewillkommen, gut bewirten und unterhalten.

**Honorár** und **Honorárium** (ſ. d. vor.), Ehrenſold; Bezahlung der Ärzte, Schriftſteller, Lehrer für ihre Arbeit.

**Hoplít** (gr. **hoplítes**, von **hóplon** die Waffe), der Schwerbewaffnete (mit Panzer und Schild).

**Horáz** (lat **Quintus Horatius Flaccus**), der bedeutendſte lyriſche Dichter der Römer, geb. 65 v. Chr. zu Venuſia. Freund des Vergil und Günſtling des Mäcén (**Maecénas**), der ihn mit einem Landgute (Sabinum bei Tibur) beſchenkt. † 8 v. Chr. Er dichtete Oden, Epoden, Satiren und Epiſteln und iſt in der Form Nachahmer der griechiſchen Dichter, beſonders der Lesbier Alkäus und Sappho.

**Horizónt** (gr. Part. Präſ. von **horízein** begrenzen; erg.: **kýklos** Kreis), Geſichtskreis im

eigentlichen und übertragenen Sinne, z. B.: über den Horizont jemandes gehen ſ. v. a. über ſein Verſtändnis, ſein Faſſungsvermögen gehen.

**Hornung**, Monat Februar (ſ. daſ.)

**Horteníus, Quíntus** (113—49 v. Chr.), vielleicht der erſte Redner der Römer, ausgezeichnet durch die Stärke ſeines Gedächtniſſes; hat auch Annales d. i. Jahrbücher geſchrieben.

**Horusſperber** = Horus, Gott der alten Ägypter, Sohn des Oſiris und der Iſis, mit einem Sperberkopf dargeſtellt.

**Hoſpitál** (v. lat. **hospes** der Gaſtfreund, Adj. **hospitális, e**, gaſtfreundlich; erg: **domus** das Haus), Bezeichnung für Krankenhaus.

**Hoſpitalität** (lat. **hospitálitas**), Gaſtfreundſchaft, Gaſtlichkeit.

**Hôtél** (frz., ſpr. **ôtéll** od. deutſch **Hotél**), Gaſthof.

**human** (lat. **humánus**, a, um menſchlich; **homo** Menſch), menſchenfreundlich.

**humaniſtiſch**, Adj. z. **Humanismus**. H. iſt das Erziehungs- und Unterrichtsſyſtem, das die alten Sprachen, Lateiniſch und Griechiſch, als Hauptbildungsmittel der Jugend anſieht. Humaniſtiſche Studien = Sprachſtudien.

**humoriſtiſch** (Adj. z. **Humór**), gut geſtimmt, gelaunt.

**Hundsfott**, ehrenrührige Bezeichnung für einen niederträchtigen und feigen Menſchen.

**Hurónen**, Indianerſtamm am gleichnamigen See, der von ihnen den Namen erhalten. In der Poeſie wird das Wort meiſt für „Wilde" gebraucht. Vgl. „Der Wilde" von Seume.

**Hydraóles**, linker Nebenfluß des Indus im Gebiete der Mallier.

**Hymne** (gr. **hymnos**, lat. **hymnus**; Plur. **Hymnen**), Lobgeſang.

**Hyperbel** (gr. **Hyperboié**, v. **hyperbálleln** darüber hinauswerfen), 1. Übertreibung; 2 mathem. Figur: Kegelſchnitt des Doppelkegels.

**Hypothéſe** (gr. **hypóthesis**), Unterſtellung; ein nur unter gewiſſen Bedingungen richtiger, alſo noch unerwieſener Satz (Annahme).

**Jakobiner**, politiſcher Klub z. Z der erſten franzöſiſchen Revolution, der beſonders den Sturz des Königtums betrieb u. die Schreckensherrſchaft herbeiführte; den Namen erhielten ſie von ihrem Verſammlungsort, dem ehemaligen Jakobiner- oder Dominikanerkloſter zu Paris.

**Jambus**, zweiſilbiger, aus einer kurzen und einer langen Silbe beſtehender Versfuß ∪ —

**Janitſchären**, bevorrechtete Truppe der türkiſchen Armee, urſprünglich gebildet aus zum Islam übergetretenen chriſtlichen Gefangenen; wegen ihres Ungeſtüms im Kriege gefürchtet; 1826 aufgehoben.

**Jaſon**, Sohn des Äſon, Königs von Jolkos, erzogen vom Centauren Chiron im Peliongebirge. Anführer des Argonautenzugs.

**Jáſpis**, harter, undurchſichtiger Kieſelſtein von verſchiedener Farbe.

**Ida**, Gebirge in Kleinaſien, nahe bei Troja und auf Kreta; Lieblingsaufenthalt des Zeus.

**Ideál** (v. gr. **idéa** Bild), Urbild; nur in der Vorſtellung vorhanden; häufig perſonifiziert, z. B: der Vater iſt des Sohnes Ideal.

**idealiſch** (Adj. z. vor.), 1. eingebildet, nur gedacht; 2. vorbildlich, muſterhaft.

**Idee** (gr.), Vorſtellung, Gedanke.

**ideéll**, eingebildet, angenommen; z. B.: ideeller Wert = angenommener, nicht wirklicher Wert.

**idéntiſch** (vom lat. Pron. **idem** ebenderſelbe), gleichbedeutend.

**Idýll, das**, und **Idýlle, die** (gr. **eidýllion** Bildchen), Gedicht, das ſeinen Stoff aus dem tägl. Leben nimmt, nicht nur gerade aus dem Hirtenleben; gehört zu der epiſchen Dichtungsgattung.

**Jehóvah** (vom hebr. **hajah** ſein), der Seiende, Ewige; Name für Gott bei den Juden.

**Jeſus** (gr. **Jēsoús**, hebr. **Jehoschuáh**, d. i. Herr hilf!), Helfer, Heiland.

**Ilias** (gr. **Ilías**), Geſchichte von Ilium oder Troja, Homers Epos vom Trojaniſchen Kriege, 24 Geſänge; ſ. Homer.

**Ílios** und **Ilion** (lat. **Ilium**), Troja.

**Illuminatión** (lat. **illuminátio**, von **lūmen** Licht), glänzende Erleuchtung.

**illuminieren** (lat. **illumināre**), erleuchten.

**Illuſión** (lat. **illúsio**, v. **illúdĕre** verſpotten, täuſchen), Einbildung, Selbſttäuſchung.

**illuſtrieren** (lat. **illustráre**), ausſchmücken; erläutern [durch Bild und Rede].

**Imperátor** (v. **imperāre** befehlen, frz **empereúr**, ſpr. angp'röhr), Befehlshaber, Kaiſer.

**imponieren** (lat. **impónĕre**, frz. **impöser**, ſpr. ängpoſéh), Eindruck machen.

**impoſánt** (eig.: Part. Präſ v. **impöser**, ſpr. ängpoſéh), Eindruck machend.

**Impúls** (lat. **impúlsus**, v. **impéllĕre** antreiben), Antrieb, Anreizung.

**in bonis** (lat. **bonus** gut, **bona** Güter), im Vermögen [haben].

**in continenti** (v. lat. **cóntinens** zuſammenhängend), ſogleich, ſofort.

**indirekt** (lat. **directus** und das verneinende **in**), nicht auf geradem Wege, ſondern durch Vermittelung.

**Individualität** (v. lat. **individuum** Einzelweſen), die Beſonderheit des Einzelweſens, die Perſönlichkeit.

**individuell**, einzeln, nur auf **eine** Perſon paſſend.

**Individuum** (Plur. **—uen**), Einzelweſen.

**in dulci jubilo** (lat.), eig.: in ſüßem Jubel; in Saus und Braus

**Information** (v. **informāre** unterrichten), Unterweiſung, Belehrung.

**informieren** (v. d. St.), unterrichten.

**Infuſionstierchen** (**infundĕre** ein-, aufgießen), Aufgußtierchen, mikroſkopiſche Tierchen von beſtimmter Geſtalt, meiſt im Waſſer lebend.

**Infuſorien — Infuſionstierchen**, ſ. das

**Ingenieur** (frz., ſpr. ängſcheniöhr und auch Inſcheniöhr, von **ingenium** Geiſt, Verſtand), Feſtungs-Kriegsbaumeiſter; beſondere Truppe: Pioniere. — Maſchinenbauer.

**Injurien** (lat. **iniuriae**), Beleidigungen; beleidigende Äußerungen. (Real- und Verbalinjurien.)

**inkl.** (lat. **inclusive**, Adv. v. **inclusivus** v. **includĕre** einſchließen), einſchließlich.

**inquirieren** (lat. **inquirĕre**), ausfragen.

**Inquiſition**, Unterſuchung

**Inſekt** (lat. **insĕctum**, v. **insecāre** einſchneiden), Einſchnitttier, Kerbtier.

**inſkribieren** (lat. **inscribĕre**), einſchreiben.

**Inſpektor** (lat. **inspicĕre** daraufſehen, beaufſichtigen), Aufſeher.

**inſtinktmäßig** (v. d. lat. **instinguĕre** antreiben), durch den Inſtinkt d. i. Naturtrieb geleitet; unwillkürlich.

**Inſtitút** (lat. **institutum**, v. **instituĕre** einrichten), Anſtalt.

**Inſtitution** (lat. **institūtio**, Plur. **institutiónes**), Einrichtung.

**Institutiónes** (ſ. d. vor.), Unterweiſung im römiſchen Recht; ein Teil des Corpus iuris, Überſicht über das ganze römiſche Recht, unter Juſtinian 533 ausgearbeitet.

**Inſtruktion** (lat. **instrúctio** v. **instruĕre** unterweiſen), Unterweiſung, Unterricht.

**intenſiv** (v. **intendĕre** etwas mit Eifer betreiben), geſpannt, mit Eifer, nachdrücklich.

**intereſſánt** (v. **interésse** dabei [bei einer Sache] ſein), Teilnahme erregend.

**Intereſſe**, 1. Beteiligung an etwas; 2. Nutzen, Vorteil; 3. Eigennutz, Gewinnſucht.

**ioniſch**, den ioniſchen Stamm betreffend (4 Stämme der Griechen: Äolier, Jonier, Dorer, Achäer); Joniſches Meer, Joniſche Inſeln. Oft iſt Jonier Bezeichnung für alle kleinaſiatiſchen Griechen ohne Rückſicht auf den Stamm

**Ipſos**, Stadt in Phrygien, 301 v. Chr. Sieg des Seleucus Nicator (Sieger) über Antigónus, der in der Schlacht fällt. Ende des zweiten Diadochenkrieges. (Diadóchen ſind die Nachfolger Alexanders d. Gr.)

**Ironie** (gr. **eironeía**), Verſtellung, verſtellte Unwiſſenheit, um andere damit zu verſpotten oder zu necken (Ironie des Sokrates); Spott, Hohn unter der Maske des Lobes.

**Iſäus**, attiſcher Redner aus Chalcis auf Euböa, Lehrer der Redekunſt in Athen 420—348 v. Chr.

**Iſegrim**, in der Tierfabel Name des Wolfes; auch Bezeichnung für einen immer unzufriedenen, griesgrämlichen Menſchen.

**Iſis**, Göttin d. alten Ägypter, Gemahlin des Oſiris.

**Islam** (arab.), Ergebung; Mohammedanismus.

**Iſokrates**, Redner in Athen 436—338 v. Chr.

**iſoliert** (Part. Perf. v. **iſolieren** d. h. vereinzeln; ſoll von **insula** Inſel abgeleitet ſein), abgeſondert, auf ſich allein beſchränkt. (Iſolierſtuhl!)

**Iſolierung** u. **Iſoliertheit**, die Abſonderung, das Getrenntſein.

**Iſthmus** (gr. **Isthmós**), Landenge. Ohne Zuſatz iſt die Landenge von Korinth zu verſtehen. (Iſthmiſche Spiele!)

**Ithaka** (gr. **Ithaké**), kleine Inſel der ioniſchen Inſelgruppe, z. B. des Trojaniſchen Krieges von Odyſſeus beherrſcht; jetzt Thiaki, kaum 2 □Meilen groß.

**Julián, Julianus Apóſtata** (v. gr. **apostátes** der Abgefallene), Julián der Abtrünnige, röm. Kaiſer v. 361—363 n. Chr., Feind der Chriſten; fällt 363 bei Ktéſiphon im Kampfe mit den Perſern. (Tandem vicisti Galilaee! Endlich haſt du geſiegt, Galiläer!)

**Juno** (bei den Griechen **Hera**), Schweſter und Gemahlin des Jupiter.

**Júpiter** (Gen. **Jovis**), bei den Griech. **Zeus**, höchſter Gott der Römer.

**iura stolae** (**iura** Plur. v. **ius** Recht, **stola** Prieſterrock), Stolgebühren, Pfarramtsgebühren.

**Juſtizminiſter** (v. lat. **iustitia** die Gerechtigkeit, Rechtspflege), Miniſter, dem die Rechtspflege obliegt.

**Juvenál** (Gen. **Juvenālis**), röm. Satiriker aus Aquinum, 34 n. Chr.

**Kabinett**, 1. Kammer, kleines Nebenzimmer; 2. Fürſtenzimmer; 3. die vereinigten Miniſter eines Fürſten. (Kabinettsbildung = Bildung eines neuen Miniſteriums.)

**Kabriolétt** (frz., von **caprioler** Bocksprünge machen [**cabriole** auch **capriole** — **caper** der Bock — Bocksprung, Luftſprung]), ein leichter, zweiräderiger, einſpänniger Wagen.

**Kabýlen**, Volksſtamm in Nordafrika; in Algerien die Bewohner berberiſcher Abſtammung, ſehr kriegeriſch, erſt 1857 von den Franzoſen unterworfen.

**Kajüte** (niederl. **kajuit**, ſpr. kajüt), Zimmer auf dem Hinterteil des Schiffes.

**Kalaïs**, Sohn des Boreas, Bruder des Zetes.

**Kalium**, metalliſche Grundlage des Kalis. (Kaliumkügelchen!)

**Kanál** (lat **canālis**), künſtlich angelegte Waſſerſtraße.

**Kandelāber** (lat. **candelābrum**, v. **candēla** Kerze), Armleuchter.

**Kandidāt** (lat. **candidātus** weiß gekleidet, von **cándidus** glänzend), Bewerber um ein Amt, z. B. Predigtamtskandidat; candidatus [reverendi] ministerii, wörtl.: ein Kandidat des ehrwürdigen Predigtamtes. — Die Römer, welche ſich um ein Amt bewarben, machten ihre Beſuche, angetan mit weißem Gewande; daher der Name.

**Kanópus**, Stadt in Unterägypten.

**Kantor** (lat., v. **canēre** ſingen), Sänger; Leiter eines Chores.

**Kapitāl** (Plur. **—ien**, vom lat. **caput** Kopf, Haupt), Haupt- oder Grundvermögen.

**Kapitäl** (Plur. **Kapitäle**), oberſter Teil einer Säule; Säulenkopf

**Kapitän** (frz., v. lat. **caput**, **itis**), Hauptmann.

**Kapitel** (lat. **caput**), 1. Abſchnitt eines Buches; 2. Verſammlung der zu einer Gemeinſchaft gehörenden Männer, z. B. Domkapitel.

**Kapitol** (lat. **Capitólium**), ehemalige Burg Roms mit dem Tempel des Jupiter.

**kapitolinisch**, Adj. z. vor.

**Kapitulatiōn** (v. mittellat. **capitulare**), 1 Übergabevertrag; 2. Vertrag, den der ausgediente Soldat zwecks Weiterdienens mit dem Militärkommando ſchließt.

**Kapodístria, Joh. Antōn**, Präſident Griechenlands von 1827—1831; geb. in Korfu; in griech. u. ruſſ. Dienſten, bis er 1827 Präſident wurde; ſchon 1831 ermordet.

**Kappel**, Dorf im Kanton Zürich; 1531 Sieg der Katholiken über die Züricher, wobei Zwingli fällt; ſein Denkmal daſelbſt.

**Karawāne** (perſ. **kárawán**), Reiſegeſellſchaft, namentl. zum Zwecke des Handels.

**Karfúnkel** (v. lat. **carbo** Kohle, **carbúnculus** kleine Kohle), 1. Art Edelſtein, dunkelroter Granát; 2. bösartiges Geſchwür, auch „Karbunkel" genannt.

**Karmel**, Gebirge in Paläſtina, von den Quellen des Kiſon bis zum Golf von Acca reichend.

**Karmeliter**, Mönche vom Orden Unſerer lieben Frauen vom Berge Karmel, wo der Orden um die Mitte des 12. Jahrhunderts von Pilgern geſtiftet wurde. Von da nach Europa gekommen, ſpaltete ſich der Orden in 3 beſondere. Der Orden der Karmeliterinnen (Frauenorden) wurde im 15. Jahrhundert geſtiftet.

**Karnies** (frz. **corniche** [ſpr. kornihſch], v. lat. **corōnis**, gr. **koronís** Schlußzeichen, Schnörkel, Sförmige Kranzleiſte am Hauptgeſimſe.

**Karoſſe** (frz. **le carrosse**, ital. **carozza**), Prunkwagen, Staatskutſche.

**kaskadenartig** (**Kaskade** v. ital. **cascāre** = fallen, Waſſerfall), nach Art eines Waſſerfalles.

**kaſſieren** (v. lat. **cassus** leer, nichtig), ungültig machen.

**Kaſte** (v. ſpan. **casta** Gattung, frz. **caste**), erblicher Stamm, Zunft, bei Ägyptern u. Indern.

**Kaſtor**, einer der Dioskuren (Söhne des Zeus), Bruder des Pollux, der Hélena und Klytämnéſtra; Schutzgott der Schiffer.

**Katakómben** (frz. **catacombes** [ſpr. katakongb], v. griech. **katakýptein** gebückt hineingehen), unterirdiſche Begräbnisſtätten in Paris und andern großen Städten, Rom, Neapel.

**Katarákt** (gr. **kataráktes**, v. **katarreguysthai** herunterſtürzen), Waſſerfall (Nil).

**Kataſtróphe** (gr. **katastrophé**, v. **katastrépheln** wenden), Wendung; entſcheidende Wendung, unglücklicher Ausgang.

**katechétisch** (gr., v. **katēcheín** entgegentönen), frageweiſe lehrend.

**katechiſieren**, den Unterricht (in der Religion, auch in andern Disziplinen) nach der Fragemethode erteilen.

**Katechismus**, eig.: jedes in Fragen und Ant-

worten abgefaßte Lehrbuch, vornehmlich im Religionsunterrichte.

**Kättegat** (dän., d. i. Katzenloch), Meeresteil zwiſchen Schweden, Jütland und den dän. Inſeln (Seeland, Fünen u. a.), im Norden vom Skagerrak begrenzt.

**Kauderwelſch** (v. **kaudern** [wie der welſche Hahn]), unverſtändliche Sprache.

**Kauſalität** (v. lat. **causa** Urſache), Urſächlichkeit.

**Kauſalitätsnexus** (lat., **nexus** Verknüpfung, v. **néctĕre** verknüpfen), urſächlicher Zuſammenhang.

**Kavallerie** (frz., v. lat. **caballus** Pferd, Gaul), Reiterei, Reitertruppen.

**Kemnáte** (v. mittellat. **caminata** Zimmer mit Kamin), Kammer, Schlafgemach, Frauengemach.

**Kerameikos** (gr. **kéramos** Ton, **keramela** Töpferkunſt, -ware), Platz vor Athen im Töpferviertel, wo die Gefallenen begraben wurden.

**Kidron**, Bach bei Jeruſalem, der ins Tote Meer mündet.

**Kitharíſt** (gr. **kitharistés**), Zitherſpieler.

**klaſſiſch** (lat. **classicus**, eig.: Bürger der 1. Klaſſe, dann übertragen auf vorzügliche Schriftſteller), muſtergültig.

**Kleinod** (Plur. **—ien**), Koſtbarkeiten, Schmuckſachen.

**Klērus** (gr **klēros** Los, Anteil, Eigentum), Bezeichnung des geiſtlichen Standes, als vorzugsweiſe Gott geweiht.

**Klient** (Plur. **—en**, lat. **cliēns** = **cluens** [zu **cluo** höre], Höriger), Schützling.

**Klima** (eig.: Neigung v. **klinein** neigen), 1. Abflachung nach den Polen hin; 2. die Beſchaffenheit eines Landes in Rückſicht auf Temperaturverhältniſſe: Wärme, Feuchtigkeit, Wind, Witterung.

**Klimax** (griech. Leiter), Steigerung. Beiſpiele: In certis únitas, in dúbiis libértas, in ómnibus cáritas = In gewiſſen Dingen Einheit, in zweifelhaften Freiheit, in allen Liebe! (Melanchthon.) Spérnĕre mundum, spernĕre se sperni, spernĕre se ipsum = Die Welt verachten, verachten, daß man verachtet wird, ſich ſelbſt verachten. (St. Bernhard.)

**Kloáke** (lat. **cloāca**), 1. der von Tarquinius [Priſcus] gebaute Kanal, durch den der Schmutz von den Straßen in den Tiber geleitet wurde; 2. Schlammgrube, Abzugskanal.

**Kóbold** (Plur. **—e**, wohl v. gr. **kóbalos** [= Schalk]), neckiſche Erd- und Berggeiſter, die bald im Dienſte des Menſchen ſtehen, bald ſie ſchädigen. (Heinzelmännchen!)

**Kobolt** und **Kobalt**, Mineral, das ein Halbmetall enthält, aus deſſen Kalk ein blaues Glas gewonnen wird.

**Kohórte** (lat. **cŏhors**), römiſche Heeresabteilung, 10. Teil der Legion; übertr.: Gefolge, Schar.

**Koje** (Plur. **—en**, mittelndl. **koye**, v. lat. **cavea** Käfig), Bretterverſchläge als Schlafſtätten auf Schiffen.

**Kolchis**, Land am Schwarzen Meere, nach dem der Sage nach der Argonautenzug gerichtet war.

**Kollegiátſtift**, Stift, das keinem Biſchof unterſtellt iſt, ſondern an dem einer der Stiftsgeiſtlichen (ein Dechant oder Propſt) das Vorſteheramt verſieht.

**Kolonie** (lat. **colōnia**), Niederlaſſung, Pflanzſtadt.

**Kolonne** (lat. **colúmna** Säule), Heerſäule.

**koloſſál** (Adj. z. **Kolóß**, lat. **colóssus**, gr. **kolossós** Rieſenbildſäule), rieſengroß.

**Kolumbus, Chriſtoph**, geb. 1436 in Genua; geht 1484 nach Spanien; 1492 Entdeckung Amerikas, landet auf Guanahání oder San Salvadór; 4 Reiſen nach Amerika; † 1506 zu Valladolid (ſpr. **Waljadolid**).

**komiſch** (lat **cómicus, a, um**), nach Art der Komödie, luſtig, ſpaßhaft.

**Kommandánt** (eig.: Part. Präſ. v. frz. **commander** [ſpr. **kommang'dé**] befehlen), Oberbefehlshaber einer Feſtung.

**kommandieren** (ſ. d. vor.), befehligen.

**Kommerzienrat** (v. frz. **commerce** Handel, lat. **commércium** aus Präpoſition **con** = **cum** und **merx** Ware), Mitglied eines Handelsgerichtes oder nur Titel für einen verdienten Kaufmann.

**Kommiſſárius** (v. lat. **committĕre** beauftragen), ein Beauftragter, Bevollmächtigter, Geſchäftsführer.

**kommiſſionáliter** (lat.), auftragsweiſe, im Auftrage.

**Kommunalangelegenheit** (v. lat. **communis**, e gemeinſam), Gemeindeangelegenheit.

**Kommunalland**, Gemeindeland (keinem einzelnen, ſondern der ganzen Gemeinde gehörig).

**kommunizieren** (lat. **communicare**), eig.: gemeinſam machen, mitteilen; auch: das heilige Abendmahl genießen.

**Komödie** (**kömödia**), Luſtſpiel.

**Kompaß**, die Magnetnadel und ihre Einfaſſung zur Beſtimmung der Abweichung vom magnetiſchen Nordpol.

**Kompendien**, Handbücher, Leitfäden.
**Konchylien** (gr. **konchylion**), Schnecken und Muscheln, Schaltiere.
**Kondensator** (lat. **densus** dicht, **condensare** verdichten), Verdichter, Sammler, z. B. bei der Elektrisiermaschine.
**Konfekt** (v. **confectre** bereiten), Süßigkeiten.
**Konfession** (lat. **confessio**, v. **confitĕri** bekennen), Bekenntnis. (**Augustana** = Augsburgisches Bekenntnis.)
**konfirmieren** (v. lat. **confirmare** befestigen), 1. einsegnen; 2. bestätigen.
**konfiszieren** (v. lat. **fiscus** Staatskasse), für den Staat beschlagnahmen.
**konisch** (Adj., v. gr. **kónos** Kegel), kegelförmig.
**konsequent** (lat. **cónsequens**, Part. Präs. v. **cónsĕqui** folgen), folgerichtig, sich gleichbleibend.
**Konsonant** (lat. **cónsonans**, Part. Präs. v. **consonare** mittönen), Mitlauter.
**Konstruktion** (lat. **constructio**, v. **construĕre** aufbauen), das Aufbauen, die Zusammensetzung.
**Konsul** (Plur. —n), 1. bei den Römern höchster Beamter des Staates (seit 509 v. Chr. wurden jedes Jahr 2 Konsuln gewählt, vom Jahre 366 an konnten auch Plebejer diese Würde erlangen); 2. Behörde im Auslande zum Schutze des heimischen Handels.
**Konsularagent**, ein Beamter, der nur an einem Orte die Geschäfte eines Konsuls wahrzunehmen hat und unter einem Generalkonsul steht.
**Konsulat** (lat. **consulatus**), das Amt der Konsuln in beiden oben genannten Beziehungen.
**Kontakt** (lat. **contactus**, v. **contingĕre** berühren), Berührung
**Kontinent** (lat. **cóntinens**, eig. Part. Präs. v. **continēre** zusammenhängen; erg.: **terra** Land), Festland.
**kontinuieren** (lat. **continuare**), fortfahren.
**kontinuierlich** (Adj u. Adv.), fortgesetzt, beständig.
**K[C]onto** (ital., Plur. **conti**, frz. **compte**), Rechnung in Handelsbüchern.
**kontrastieren** (v. Subst. **Kontrast** Gegensatz), im Gegensatz zu jemand oder etwas stehen.
**konvex** (lat **convéxus**), gewölbt, rund, erhaben.
**konzentrieren** (v. **centrum** Mittelpunkt), auf einen Punkt zusammenbringen
**Konzilien** (Sing. **Konzil**, lat. **concilium**), Kirchenversammlungen.
**konzipieren** (lat **concipĕre**), entwerfen.
**Kopēke** (russ.), russische Kupfermünze im Werte von 3¼ Pf; 100 K. = 1 Rubel.
**Koppe = Schneekoppe = Riesenkoppe** (**Koppe** = **Kuppe** runder Berggipfel), höchster Gipfel des Riesengebirges, 4960′ hoch.
**Kordilleren** (span., spr. **Kordiljeren**), d. h. Bergketten. Hauptgebirge Amerikas, das sich an der Westküste durch den ganzen Erdteil hindurchzieht. Die einzelnen Ketten sind nach den Ländern genannt, in denen sie liegen. In Südamerika werden sie auch Anden genannt.
**Korduēne**, Stadt in Persien.
**Korporal** (fälschl. v. lat. **corpus**, **-pŏris** Körper abgeleitet; verderbt aus dem ital. **caporále**, von **capo** Kopf, Haupt), Unteroffizier, der eine kleine Mannschaft (Korporalschaft) führt, Rottenführer.
**Korporation** (lat. **corporátio**), Körperschaft.
**Korrektheit** (v. lat. **corrĕctus**, **corrigĕre** verbessern, richtig machen), Richtigkeit.
**Korrektor** (lat. **corrector**), Verbesserer.
**Korrespondenz** (v. **con** = **cum** u. **respondēre** antworten), Schriftwechsel, Briefwechsel.
**korrespondieren** (s. d. vor.), 1. in schriftlichem Verkehr stehen; 2. in Beziehung stehen, z. B.: korrespondierende Winkel.
**Korse**, Bewohner von Korsika, oft auch nur Napoleon I. gemeint.
**korybäntisch** (v. **Korybantes**, Priester der Rhea oder Kybele in Phrygien, welche den Gottesdienst mit lärmender Musik und wütender Begeisterung verrichteten), begeistert, lärmend.
**Koryphäe** (gr. **koryphaios** v. **koryphé** Scheitel, Haupt), Chorführer, Anführer; überhaupt eine in gewisser Beziehung hervorragende Größe, z. B.: Koryphäe einer Wissenschaft.
**Kos**, Insel der Sporaden, nahe der kleinasiatischen Küste, Halikarnáß gegenüber.
**Kraal** (spr. krāl), Dorf der Hottentotten; soll den Namen von den Holländern erhalten haben, wegen der halsbandähnlichen Bauart.
**Krabbe** (niederdeutsch, aus gr.-lat. **karabus** Meerkrebs), 1. kleines, krebsartiges Tier; 2. sonstiges kleines Wesen, auch Kind.
**Krāter** (gr. **kratér** Mischkrug, Kessel), Ausgang des Kanals bei einem Vulkan.
**Kredit, Kreditbrief** (v. lat **credĕre** glauben, vertrauen), Handelsvertrauen; Bürgschaftsbrief.
**Kremnitzer [Dukaten]** Kremnitz Bergstadt in Ungarn, reichhaltige Gold- und Silberlager, Münzamt.

**Kristáll** (gr.-lat. aus gr. **kryos** der Froſt), eigentl.: Gefrorenes, Eis; dann Stein, ſo hell und durchſichtig wie Eis.

**kriſtállen** (Adj. zu Kriſtall), 1. wie Kriſtall geformt; 2. hell, durchſichtig wie Kriſtall

**Kriſtallíſatión** (lat. **crystallisátio**), Kriſtallbildung.

**Kritik** (gr. **kritikó** [erg.: **téchnē** Kunſt], v. **kríneln** ſondern, richten, urteilen), Beurteilung; Beurteilungskunſt.

**kritiſch** (gr. **kritikós**, é, ón), entſcheidend, ernſt.

**Kronide** (gr. **Kronidēs** Sohn des Kronos), Zeus.

**Krónos**, Vater des Zeus und der Hera. Ihm entſpricht der Satúrnus der Römer.

**Kruzifix** (v. lat. **crux**, ein Kreuz, **fixus** v. **figĕre** heften), der ans Kreuz geheftete (Chriſtus).

**Ktéſiphon**, 1. Name eines Athéners, der von Demoſthenes verteidigt wurde und für denſelben einen Kranz beantragte; 2. Name einer Stadt in Babylonien, Winterreſidenz der parth. Könige.

**Kultúr** (lat. **cultúra**, v. **colĕre** pflegen), Bildung.

**Kultus** (v. d. St.), Verehrung [Gottes].

**kurieren** (lat. **curāre** ſorgen), heilen.

**kuriös** (lat. **curiósus**, frz. **curieux** [ſpr. kürjö]), ſeltſam; auch: neugierig.

**Kurs** (lat. **cursus** Lauf), Lauf eines Fluſſes, Schiffes, der Geſtirne; Umlauf und Stand des Geldes (Tageskurs).

**Kurſus** (lat. **cursus**), 1. Lauf, Lehrgang; 2. Geſamtheit der zu einer Lernabteilung gehörenden Schüler.

**Kuſtóden** (lat. **cústos** Wächter), Aufſeher in Muſeen, botaniſchen Gärten, Bibliotheken, Kunſtſammlungen.

**Kybele** (lat. **Cybele**), Göttermutter: in Phrygien verehrte Göttin, die auf einem von Löwen gezogenen Wagen einherfährt. (Schiller: Spaziergang) Später auch in Rom als Magna Mater = große Mutter verehrt.

**Kyffhäuſer**, Vorberg des Unterharzes, ſüdlich der „Goldenen Aue", 1468′ hoch. Sage von dem darin verzauberten Barbaroſſa.

**Kynoſárges** (gr. **kýon-argos** weißer [geſchwinder] Hund), Ringplatz in der Vorſtadt von Athen, nicht weit vom Lyceum, wo die unechten Kinder (**nóthoi**) turnten. Der Name kommt der Sage nach daher, daß, als Diomus hier dem Herakles opferte, ein weißer Hund einen Teil des Opferfleiſches fraß.

**Kyrie**, (gr., Vokativ v. **kýrios** Herr), o Herr!

**Lábarum** (vom bretagn. **lab** erheben oder vom bask. **labarra** Fahne), 1. römiſche Kriegsfahne, von Konſtantin d. Gr. zur Reichsfahne gemacht, verſehen mit Krone, Kreuz und dem Anfangsbuchſtaben des Namens „Jeſus"; 2. Umgangsfahne bei den Katholiken mit dem Bilde des Kreuzes oder eines Heiligen.

**Labyrinth** (gr. **labýrinthos** Irrgang, Irrſal), 1. Labyrinth des Minos auf Kreta, Labyrinth in Ägypten; 2. Labyrinth als Teil des Ohres.

**Lacaille** (ſpr. Lakáj'), franzöſiſcher Aſtronom (1713—1762), der durch Berechnung und Vergleichung von Längenmeſſungen zu dem Ergebnis kam, daß vom Äquator nach den Polen zu die Meridiangrade wachſen, die Erde alſo an den Polen abgeplattet ſein müſſe.

**Laértes**, Vater des Odyſſeus.

**Lagíde** (d. i. Sohn des Lagus), Ptolemäus, der erſte König in Ägypten nach dem Tode Alexanders d. Gr.

**Lagúne** (Plur. —**en**, lat. **lacuna** Lache, Sumpf), kleine Seeen, Untiefen und Inſeln im Adriatiſchen Meere, in denen die flüchtigen Bewohner von Aquileja Venedig erbauten (452 n. Chr.).

**Laie** (v. gr. **laïkós**, Adj. z. **laós** Volk), 1. Nichtgeiſtlicher; 2. ein in eine Kunſt oder Wiſſenſchaft Uneingeweihter.

**Lakai** (frz. **laquais**, ſpr. lakä), Läufer, Diener.

**Lakóne** (gr. **Lakōn**), Bewohner von Lakonien, Lacedämonier.

**lakóniſch** (gr. **lakonikós**), nach Art der Lakonier, (Spartaner), namentlich was ihre Rede betrifft: kurz und bündig.

**Lamprokles** (gr. **lamprós** glänzend und **kléos** Ruhm), Sohn des weiſen Sokrates.

**Larve** (lat. **larva**), 1. Geſpenſt; 2. Maske; 3. Inſektenhülle, Puppe.

**Latérne** (lat. **látérna** oder **lantérna**), Lampe, Leuchte.

**Látiner** (lat. **Latínus**), Bewohner von Latium.

**Latium** (ſpr. Lazium), Landſchaft des alten Italien mit der Hauptſtadt Rom.

**Lava**, aus dem Vulkan ausſtrömende flüſſige Maſſe, die bald erſtarrt.

**La Valette**, 1. ſtarke Feſtung auf der Inſel Malta; 2. der Großmeiſter des Johanniterordens Jean Pariſot de la Valette, ſiegt über Soliman II. 1525.

**Lektión** (lat. **léctio**, v. **légĕre** leſen), 1. beſtimmter Abſchnitt zum Leſen; 2. Unterrichtsſtunde; 3. das Aufgegebene; 4. ſ. v. a. Verweis (eine Lektion erhalten).

Digitized by Google

**Lefze**, Lippe.

**Legénde** (lat. **legénda**, eig.: das zu Leſende), 1. Heiligengeſchichte; 2. epiſche Dichtungsart, die ihren Stoff aus der heiligen Geſchichte und der chriſtlichen Sage nimmt, z. B.: die Legende vom Hufeiſen, St. Peter und die Geiß, Petrus u. a.

**Legión** (lat. **légio**), 1. römiſche Heeresabteilung v. 4500 Mann; 2. unbeſtimmte Zahlenangabe für etwas ſehr Zahlreiches.

**Legionäre** (lat. **legionárii**), Legionsſoldaten.

**Legitimatión** (v. lat. **legítimus** geſetzlich), Beglaubigung, Nachweis der Rechtmäßigkeit.

**Lehde** (v. oſtfrieſ. **lêgte** Niederung), nicht urbar gemachtes Land, Heide.

**Lektüre** (v. lat. **legĕre** leſen), 1. das Leſen; 2. Leſeſtoff.

**lelántiſch** (Adj. z. **Lelantum**), Ebene auf Euböa zwiſchen Eretria und Chalcis.

**Leman[-See]** (lat. **lacus Lemannus**, auch **Lemānus**), Genferſee.

**Lemming**, Wandermaus, die in großen Scharen das norwegiſche Hochgebirge durchzieht.

**Lemna** (gr.), Pflanze in ſtehendem Waſſer, Waſſerlinſe, Entengrütze.

**leóntiſch**, zur leontiſchen Phyle gehörig (das atheniſche Volk war urſprünglich in vier Phylen eingeteilt, ſpäter in zehn, zuletzt in zwölf).

**Lesbier**, Adj. z. **Lesbos**, eine der Sporaden im nördlichen Teile des Ägäiſchen Meeres. (Lesbier-Wein!)

**Lésche** (gr., ſpr. **leſ-che**), 1. das Sprechen, Plaudern; 2. Verſammlung, Beratung; 3. Verſammlungsort an einer Stelle des Marktes.

**Levante** (v. **levāri** ſich erheben, aufgehen [von der Sonne]), Morgenland, Oſten; Bezeichnung für die Küſten Kleinaſiens, Syriens und Ägyptens; dah.: Levantiſches Meer, der öſtlichſte Teil des Mittelmeeres.

**Lexikográph** (gr. **lexicon** Wörterbuch u. **gráphein** ſchreiben), Verfaſſer eines Wörterbuches.

**liberál** (lat. **liberālis**, e), 1. freigebig; 2. freiſinnig.

**Liete** (mhd. **lîte**), Bergtriſt, Waldwieſe.

**Liktor** (lat., Plur. **lictōres** Liktoren, von **ligāre** binden), Diener, welche hohen obrigkeitlichen Perſonen vorangehen und die Rutenbündel (fasces) tragen mußten zum Zeichen ihrer Gewalt; auch hatten ſie die von dieſen verhängten Strafen zu vollziehen.

**Liliput**, märchenhaftes Land von nur daumgroßen Bewohnern, deren Name Liliputaner iſt. (Swift: „Gullivers Reiſen".)

**Limóne**, eine Zitronenart, in den Mittelmeerländern angebaut.

**Lindwurm**, ſchlangenartiges Ungeheuer. Beide Beſtandteile des Wortes bezeichnen dasſelbe: Wurm = Schlange und lint im Altdeutſchen ebenfalls Schlange.

**linguae** (lat., Plur. od. Gen. Sing. v. **lingua**), Zungen, Sprachen.

**literariſch** (v. lat. **litera** Buchſtabe, **literae** Wiſſenſchaften), wiſſenſchaftlich.

**Literatúr** (lat. **litteratūra**), Zuſammenfaſſung der geiſtigen Erzeugniſſe eines Volkes, wie ſie in ſeinen Schriftwerken, poetiſchen und proſaiſchen, zur Darſtellung kommen.

**Lithophýten** (gr. **líthos** Stein und **phyein** werden), verſteinerte Pflanzen; Steinkorallen.

**Liturgie** (gr. **leitourgía**), 1. Staatsamt und ſeine Verwaltung, für die der Beamte (Bürger) die Koſten ſelbſt zu tragen hatte; 2. Verwaltung des Gottesdienſtes, Kirchenordnung.

**litúrgiſch** (Adj. z. vor.), kirchengebräuchlich.

**Loge** (ſpr. **lôſche**, ital. **loggia**, lat. **loglum** u. **logēum**, aus dem gr. **logion** u. **logeion**, der den Zuſchauern zunächſt befindliche Teil der Bühne, wo die Schauſpieler redeten [gr. **légein**]), 1. Zelle, die nach einer Seite hin offen iſt, Schauhalle; 2. Verſammlungsort der Freimaurer, auch der Verein der Freimaurer ſelbſt.

**logieren** (frz. **loger**, ſpr. **lôſcheh**), wohnen, Herberge nehmen.

**logiſch** (v. gr. **lógos** Wort, Vernunft), vernunftgemäß, den Denkgeſetzen entſprechend.

**Lokál** (v. lat. **locus** Ort), Örtlichkeit, Zimmer.

**lokál** (Adj., lat. **locālis**), örtlich; z. B.: lokale Gebräuche.

**lokaliſieren**, auf einen Ort beſchränken.

**Lokalität** (**locálitas**), Örtlichkeit, Räumlichkeit.

**Loki**, in der nordiſchen Mythologie: Gott des Feuers, der Vernichtung.

**Lokomotive** (v. lat. **locus** Ort und **movēre** bewegen), Dampfwagen.

**Lotſe** (v. **loten** d. i. mittels des Lotes die Tiefe meſſen), Führer ein- und auslaufender Schiffe.

**Louisdór** (auch **—d'or**, ſpr. **Luidóhr**), wörtl.: Goldludwig. Goldſtück mit dem Bildniſſe des Königs Ludwig von Frankreich, im Werte von 5 Tlr. 20 Sgr.

**Lucan** (lat. **Lucānus**, **Marcus Annaeus**),

römiſcher Dichter aus Córduba (Cordova), Zeitgenoſſe des Nero.

**ludimagister** (lat., **ludus** Schule, in der bloß ſpielähnliche Übungen vorkommen, **magister** Lehrer), Schullehrer.

**Lukúllus**, Feldherr in dem Kriege gegen Mithridates 74—64 v. Chr., Sieger bei Tigranocérta und Artáxata. Bekannt durch ſeinen Reichtum, aber auch durch ſeine maßloſe Verſchwendung.

**lukúlliſch** (Adj. z. vor.), verſchwenderiſch, ſchwelgeriſch.

**Lupus** (lat.), Wolf.

**Lurlei** oder **Lorelei**, ſteiler Fels am rechten Rheinufer zwiſchen Kaub und St. Goarshauſen. Die Stelle war früher den Schiffern gefährlich; daher hat ſich die Sage von der L. gebildet.

**Luſiáden**, Nationalepos der Portugieſen; ſ. **Camöens**.

**Luxor**, Dorf an der Stelle des alten Theben in Oberägypten, berühmt durch die Ruinen von Theben.

**Luxus** (lat.), übermäßige Pracht, Verſchwendung, Prunkſucht.

**Lykeion** (gr.), öffentlicher Ringplatz in Athen mit bedeckten Gängen, in denen Ariſtóteles lehrte; ſo genannt, weil es nahe dem Tempel des Apollo Lykeios lag.

**Lykeios** (gr.), Beiname des Apóllo. Wahrſcheinlich abzuleiten von dem Stamm lyk, dem lat. lux das Licht, alſo der Licht bringende Gott, nicht von lykos Wolf, worauf allerdings die Sage führt.

**Lykúrgus** und **Lykúrg**, 1. Geſetzgeber der Spartaner um 880 v. Chr; 2. Redner in Athen 408—323.

**Lyra** (gr.), Leier, das älteſte Saiteninſtrument.

**Lýrik** (gr. v. **lyra**), lyr. Dichtungsgattung; Gefühls- oder Empfindungspoeſie (urſpr. nur Lieder, die zur Lyra geſungen wurden).

**lyriſch** (v. gr. **lyrikós**), mit der Lyra begleitet; empfindungsvoll.

**Mäandriſch**, Adj. zu Mäánder, Fluß in Jonien und Phrygien, der durch ſeine Krümmungen bekannt iſt; m. heißt alſo: Umwege machend, nicht gerade.

**Magier** (lat. **Magi**), orientaliſche (morgenländiſche) Prieſter, Sterndeuter, Zauberer.

**magiſch** (Adj.), zauberhaft.

**Magiſter** (lat.), Lehrer.

**magister artium**, Meiſter d. i. Lehrer der freien Künſte.

**magister scolárium**, Schulmeiſter.

**magister pécoris** (**pécus**, **öris** Vieh), Oberhirt

**Magiſtrat** (lat. **magistrátus**), Obrigkeit.

**Magneſium**, Metall der Bittererde, Talkerde oder Magneſia.

**magnétiſch** (v. **Magneſia** am Berge Sipylos, wo der Magnetſtein zuerſt gefunden ſein ſoll, oder von **Magneſia** in Theſſalien), anziehend. Anziehungskraft beſitzend.

**Majeſtät** (lat. **maléstas**), Hoheit, Würde; Titel für Kaiſer und Könige.

**majeſtätiſch** (Adj.), würdevoll, herrlich, prächtig

**Makel** (lat. **mácula**), Fleck.

**Maleſiz** (lat. **maleficium** Übeltat), Maleſizgericht, d. i. Gericht über einen Übeltäter.

**Mamelúck** (d. i. Sklave), ein von chriſtlichen Eltern geborener, aber im mohammedaniſchen Glauben erzogener Leibwächter des ägyptiſchen Sultans Die M. waren ein zügelloſes Korps, das nach Ermordung eines Sultans ſelbſt dem Lande zwei Dynaſtieen d. i. Herrſcherhäuſer gegeben hat.

**Mandát** (lat. **mandátum**, v. **mandáre** auftragen), Auftrag.

**manifeſtieren** (lat. **manifestáre**, v. Adj. **maniféstus** offenbar), offenbaren.

**Manipulatión** (v. **manus** Hand), Anwendung der nötigen Handgriffe; auch im übertragenen Sinn = Kniffe.

**Manſio** (lat., v. **manére** bleiben), Aufenthalt, Herberge.

**Manuſkript** (v. lat., **manus** Hand u. **scribére** ſchreiben), Handſchrift.

**Marábu** (Plur. —s), Storch in Indien, deſſen Federn als Schmuck für Damenhüte gelten.

**Márathon** (gr. **Marathón**), Stadt im nordöſtlichen Attika, nahe an dem euböiſchen Meerbuſen. Schlacht 490 v. Chr.

**Marc Aurél** (lat. **Marcus Aurélius**), römiſcher Kaiſer 161—180, der Philoſoph; ſtirbt im Kampfe gegen die Markomannen an der mittlern Donau.

**maritim** (v. lat. **maritimus**), Meer und Schiffahrt betreffend.

**Mark**, 1. Reichsſilbermünze = 100 Pf.; 2. die in den menſchlichen und tieriſchen Knochen befindliche weiche Maſſe; 3. Grenze, Grenzgebiet (Plur. = **Marken**); 4. ehemalige ſelbſtändige Grafſchaft in Weſtfalen, jetzt zum Regierungsbezirk Arnsberg gehörig.

**Marketénder** (früher auch **mercatender**, vom ital. **mercatante** = Handelsmann; franz. **marchand**, ſpr. **marſchang**), Handels-

leute, die dem Heere ins Feld folgen und die Soldaten mit Lebensmitteln u. a. verſehen; Feldkrämer.

**markiert** (frz. **marqué**), bezeichnet.

**Marſeillaiſe** (frz., ſpr. Marßeljäſe; erg.: hymne), franzöſiſche Revolutionshymne, 1792 zu Straßburg gedichtet, zuerſt von Marſeiller Freiwilligen beim Einzug in Paris geſungen.

**Mars**, Kriegsgott der Römer, Vater des Romulus und Remus. Griech.: Ares.

**Marſtall** (Plur. —ſtälle, v. ahd. **marah** Roß, unſer Mähre), Stall, in dem Pferde edler Raſſen (Herkunft) gehalten und gehegt werden. Manchmal iſt in dem Namen zugleich die ganze zugehörige Dienerſchaft inbegriffen.

**Martiál (M. Valerius Martialis)**, römiſcher Epigrammendichter aus Bilbilis in Spanien, ſtirbt bald nach 100 n. Chr. in ſeiner Heimat.

**Märtyrer** (gr. **mártys** u. **mártyr**), Blutzeuge.

**Maſchine** (lat. **máchina**, v. gr. **mechánē**), künſtlich zuſammengeſ. Werk, um Bewegung hervorzubringen, oder um viel Arbeit in kurzer Zeit zu verrichten.

**Maſchinerie**, Einrichtung von Triebwerken; Verbindung mehrerer Maſchinen; oft nur ſ. v. a. Maſchine.

**Maſſicus**, maſſiſch. Mons Mássicus ein Berg in Kampanien, der ſeines edlen Weines wegen berühmt war. Vinum Massicum oder bloß Massicum d. i. maſſ. Wein.

**maſſiv** (Adj.), dicht, nicht hohl.

**Matadór** (ſpan. v. **matar** = dem lat. **mactáre** ſchlachten), 1. Stiertöter; 2. Bez. für einen ausgezeichneten Mann; 3. hoher Trumpf im Kartenſpiel.

**Materiál** (v. lat. **matéria** Stoff), zu verarbeitender Stoff.

**Mathematik** (gr. **mathematikḗ** [erg.: **téchnē** Kunſt], v. **manthánein** lernen), Größenlehre.

**mathemátiſch** (Adj. z. vor.), die Mathematik betr.

**matronal**, von **Matrone** (lat. **matróna**, von **mater** Mutter, verheiratete Frau vornehmen Standes, vornehme Römerin), matronenhaft; wie es einer Matrone zukommt.

**Mauſoléum**, 1. das prachtvolle Grabmal, das Mauſólus, König von Karien, † 353 v. Chr., für ſich und ſeine Gemahlin Artemiſia erbaut hat; 2. dann überhaupt ein prächtiges Grabgewölbe, z. B. das Friedrich Wilhelms III. und der Königin Luiſe zu Charlottenburg bei Berlin.

**Maximálſatz** (v. lat. **máximus** der größte), der höchſte Satz, Betrag. Gegenteil: **Minimalſatz**.

**mechániſch** (gr. v. **mechánē** Maſchine), maſchinenmäßig.

**Mechanismus** (v. d. St.), 1. mechaniſche Vorrichtung; 2. maſchinenmäßiges, geiſtloſes Wirken.

**Medea**, Tochter des Königs Äetes von Kolchis, die Jaſon beim Raub des Vließes hilft und ſeine Gemahlin wird.

**Mediatión** (v. lat. **medius, a, um** der mittlere, mitten), 1. Halbierung; 2. Vermittelung.

**Medúſen**, Quallen oder Meernеſſeln. Benannt nach Medúſa, einer der drei Gorgonen, welche Minerva dadurch ſtrafte, daß ſie ihre Haare in Schlangen verwandelte; dazu verſteinerte ihr Blick alle, die das Haupt anſahen. Pérſeus hieb ihr das Haupt ab und überlieferte es der Minérva, die es ſeitdem auf ihrem Schilde trug.

**melancholiſch** (aus dem gr. **mélas** ſchwarz und **cholḗ** Galle), ſchwarzgallig, ſchwermütig.

**meliert** (v. frz. **mêler** miſchen), gemiſcht.

**Melkart**, Halbgott der Phönizier und Karthager, der dem Héraklēs entſpricht. Säulen des Melkart — Säulen des Herkules —, Straße von Gibraltar.

**Melodie** (gr. **mélos** Lied und **áidein** ſingen), Geſangsweiſe, Tonweiſe.

**melódiſch** (Adj. z. vor.), melodiereich, wohltönend.

**Memnonſtatue**, Memnonsſäule. Memnon, Sohn des Tithónus und der Eos (Morgenröte, Aurora), König von Äthiopien, Bundesgenoſſe der Trojaner, von Achilles getötet. Sein Steinbild bei Theben ſoll bei Sonnenaufgang einen Ton von ſich gegeben haben, der als Morgengruß des Sohnes an die Mutter galt.

**Memoiren** (ſpr. Memoaren), Denkwürdigkeiten.

**Memoriál** (v. **memoria** das Gedächtnis), Vorſtellung, Eingabe.

**Memphis**, Hauptſtadt des alten ägyptiſchen Reiches von 3000—2000 v. Chr., Sitz des Apiskultus.

**Menelaus**, Sohn des Atreus, jüngerer Bruder Agamemnons, erſter Gemahl der Helena, König von Sparta.

**Meridián** (lat. **meridiánus** [erg.: **circulus**], v. **meridies** Mittag), Mittagskreis.

**Meröë** (gr. **Mḗroë**), Nilinſel in Äthiopien mit gleichnamiger Stadt.

**Meſopotámien** (gr. v. **mésos** mitten, **potamós** Fluß; eig.: jedes Land zwiſchen zwei Flüſſen), Land zwiſchen Euphrat und Tigris.

**Meſſe** (lat. **missa**, entſtanden aus den Worten des Geiſtlichen: **Ite, missa est** [erg.: **concio**

Versammlung]) = Geht, die Versammlung ist entlassen), 1. Abendmahlsfeier in der kathol. Kirche; 2. das während der Feier aufgeführte Tonstück; 3. der sich an den Gottesdienst anschließende Markt.

**Messias** (hebr. **Maschiách**), 1. der Gesalbte, König, Christus; 2. das religiöse Epos Klopstocks, auch Messiade genannt.

**Metápḧer** (gr. **metaphorá** das Übertragen), bildlicher Ausdruck.

**Metéor** (v. gr. **meteóros** in der Höhe, in der Luft), Lufterscheinung.

**Methöde** (gr. **méthodos**, entst. aus **metá** nach und **hodós** Weg, Nachweg), Lehrart, Lehrgang, Unterrichtsweise.

**Mikrologie** (gr., v. **mikrós** klein, **lógos** Rede), eig.: das Reden von unbedeut. Dingen; Kleinigkeitskrämerei.

**Mikroskóp** (gr. **mikrós** klein, **skopós** Späher), eig.: Kleinseher, Vergrößerungsglas.

**mikroskópisch** (Adj. z. vor.), 1. durch das Vergrößerungsglas betrachtet; 2. nur durch das Vergrößerungsglas wahrzunehmen.

**Milane**, Hühnergeier.

**Milet, Miletus** (gr. **Miletos**), bedeutendste Handelsstadt unter den kleinasiatischen Griechenstädten; Geburtsort des Philosophen Thales (um 600 v. Chr.); Histiäus, Tyrann von Milet 500 v. Chr.; Zerstörung von Milet 494 v. Chr.

**Milliárde**, 1000 Millionen.

**Mimósen**, ausländ. Pflanzengeschlecht von verschiedenen Arten; wegen Reizbarkeit der Blätter, die sich bei der leisesten Berührung zusammenziehen, wohl auch noli me tangĕre („rühr mich nicht an") genannt.

**Mine** (gr. **mnā**), 1. attische Münze = 100 Drachmen = 25 Tlr.; 2. unterirdischer Gang.

**Minérva** (gr. **Athenā**), griech. und röm. Göttin, Tochter des Zeus, Beschützerin von Kunst und Wissenschaft.

**Minérva**, Vorgebirge von Kampanien, gegenüber der Insel Căpreä.

**Minister** (lat. Diener), höchster Staatsbeamter, der entweder an der Spitze der ganzen Verwaltung (Ministerpräsident) oder doch eines Verwaltungszweiges (Ressortminister) steht.

**Ministerium** (lat., d. i. Dienst), oberste Verwaltungsbehörde des Staates.

**Ministránt** (lat. v. **ministrāre** bedienen), Kirchendiener.

**Minos**, sagenhafter König von Kreta, Vater der Ariádne.

**Minotaúrus** (gr. **taúros** Stier), Minosstier; ein Ungeheuer, halb Stier, halb Mensch, von Minos im Labyrinth gehalten, wo ihm die von Athen als Tribut gesandten Jünglinge und Jungfrauen vorgeworfen wurden. Theseus befreite die Athener von diesem Tribut, indem er das Untier tötete.

**Miráke̊l** (lat. **miráculum** Wunder, **mirāri** sich wundern), das Wunder.

**Misénum**, Vorgebirge und Stadt in Kampanien.

**miserabel** (lat. **miserábilis**), 1. elend; 2. in sittlicher Hinsicht: erbärmlich, verächtlich.

**Mission** (lat. **missio** von **mittĕre** senden), Sendung; namentl. Sendung von Glaubensboten zur Bekehrung von Nichtchristen.

**Missionär** (lat. **missionārius**), Glaubensbote.

**Mithra**, Sonnengott der Perser.

**Mixtúr** (lat. **mixtúra** von **miscēre** mischen), Mischung, bes. Arzeneimischung.

**modellieren**, nachbilden, formen.

**modifizieren**, mäßigen, abändern.

**modifiziert**, abgeändert.

**Modist**, Putzhändler; im Mittelalter auch die Bezeichnung für Privatlehrer.

**modulieren** (v. **módulus** Maß), messen, regeln.

**Mollúsken** (v. **mollis** weich), Weichtiere, Schleimtiere.

**Molo** (lat. **moles**), Hafendamm.

**Molósser** (lat. **Molóssi**), Bewohner des südöstl. Epirus.

**Moment** (lat. **momĕntum** v. **movēre** bewegen), 1. das Bewegende, Entscheidende; 2. Augenblick.

**Mömpelgard** (frz., **Montbéliard**, spr. Mongbelljáhr), Stadt in Frankreich am Rhein-Rhone-Kanal, von 1395—1793 Hauptort einer unter französischer Oberhoheit stehenden württembergischen Grafschaft; bedeutende Uhrenfabrikation; 1871 um Mömpelgard schwere Kämpfe.

**Monárch** (gr. **mónarchos**, v. **mónos** allein, **archein** herrschen), Alleinherrscher.

**Monarchie** (gr. **monarchía**), Alleinherrschaft.

**Monogramm** (gr. **monos** und **gramma** v. **gráphein** schreiben), Vereinigung der Anfangsbuchstaben eines Namens in ein Zeichen.

**Monotheísmus** (v. gr. **mónos** allein, ein, und **theós** Gott), die Verehrung eines Gottes.

**Monsieur** (frz., spr. moßjöh), mein Herr!

**Messieurs** (spr. messjöh, Plur. z. vor.) meine Herren!

**Montmartre** (frz., spr. Mong'martr), An-

höhe, nördl. von Paris, 30. März 1814 von Blücher erstürmt.

**Monument** (lat. **monuméntum**), Denkmal.

**Moral** (v. lat. Adj. **morális**, e, von **mos**, **moris** Sitte), das Sittliche, Sittenlehre.

**moralisch**, sittlich.

**moralisieren**, Sitten predigen, rügen.

**Moralphilosoph**, der die Sittenlehre vom Standpunkt des Philosophen behandelt.

**Moriah** (Hügel, auf dem Salomo den Tempel erbaute), der Herr sieht, eig.: ist sehend

**Mosaik** (frz. **mosaïque**, gr. **mouseiōn** mit Mosaik austegen), Malerei, aus farbigen Stiften, Steinchen u. s. w. zusammengesetzt.

**Moschee** (spr. Moschē, Plur. —n, v. arab. **mesdjid** Anbetungsort), mohammedanisches Bethaus.

**Moskitos** (v. lat. **musca** Fliege), Art Mücken, in heißen Ländern, Indien, Amerika zahlreich vorkommend.

**Motiv** (v. lat. **movēre** bewegen), ein von dem Philosophen Christian Wolf † 1754) gebildetes Wort: Beweggrund.

**motiviert**, begründet.

**Motivierung**, Begründung.

**Motto** (ital. **motto**, v. mittellat. **muttum** Wort; frz **mot**), Denkspruch, Autorstelle, die man einem Aufsatz voranstellt.

**Multiplikation** (lat. v. **multiplicāre** vervielfältigen), Vervielfältigung.

**Mumie** (pers. **mumiyā** [mit Wachs überzogen]), Leichnam, der durch Einbalsamierung vor Verwesung geschützt ist.

**mundieren** (lat. **mundare** säubern), ins reine schreiben.

**Münster** (v. lat. **monastérium** Kloster), Domkirche, Hauptkirche, z. B. Straßburger Münster.

**Munychia** (gr. **Mounychía**), ein zu Athen gehöriger Hafen in Attika.

**Muräne** (lat. **mūrēna**, gr. **mýraina**), beliebter Seefisch der Alten.

**Muse** (gr. **Moũsa**, lat. **musa**), Göttin der Dichtkunst und Musik. 9 Musen: Kalliope, (Schönstimmige, Muse der epischen Dichtkunst), Klio (Geschichte), Melpómene (singende trag., auch lyr. Dichtkunst), Thalía (Komödie), Euterpe (Tonkunst), Eráto (Lyrik und Erótik oder Liebespoesie), Uranía (Sternkunde), Polyhymnia (Gesangreiche), Terpsichore (Tanz).

**Museum** (lat. **musēum**, gr. **mouseîon** (Musensitz), Sammlung von Kunstgegenständen, Altertümern u. a., auch der Ort selbst, auch das Studierzimmer. (S. 404.)

**Musica** (gr **mousiké**, erg.: **téchnē** Kunst), Musik.

**musisch**, von den Musen begünstigt.

**Muskel** (v. lat. **mus** Maus, Dimin. **musculus** Mäuschen), das an den Knochen haftende Fleisch; Beugmuskel und Streckmuskel.

**Muskelsystem**, Zusammenhang der Muskeln untereinander, Muskelgebäude.

**Musketier**, urspr.: Soldat, der mit der Muskete (Flinte) bewaffnet ist.

**Muskulatur**, Gesamtheit der Muskeln.

**Mutation** (lat **mutátio**, v. **mutāre** verändern, wechseln), Wechsel der Postpferde.

**Myriade** (gr. **myriás**, Plur. **myriádes**), Anzahl von 10000, dann auch unbestimmte große Zahl.

**Myrmidonen**, thessal. Volksstamm, der Sage nach aus Ameisen (gr. **myrmēkes**) entstanden, ihr König Achilles.

**Myrrhen** (gr. **myrrha**, hebr. **mar**, **marah** bitter), Gummiharz von bitterem Geschmack und balsamischem Geruch

**Mysterien** (gr. **mystérion**), Geheimnisse; geheimer Gottesdienst. (Eleusinische Mysterien!)

**Mysterium**, Sing. z. d. vor.

**Mythe** (gr. **mýthos** Wort, Erzählung), Sage.

**mythisch** (Adj. z. vor.), sagenhaft

**Mythologie** (gr. **mýthos** und **lógos**, v. **légein** sagen), Erzählung aus vorgeschichtlicher Zeit.

**Mythus** (s. Mythe).

**Najaden**, Fluß- und Quellnymphen; auch kleine Wassertierchen.

**naiv** (lat **nativus** angebor.), natürl., ungekünstelt.

**Narzisse** (lat. **Narcissus**, v. gr. **narkē** Betäubung), ein Zwiebelgewächs, beliebte Zierpflanze. Die Sage von dem in eine Blume verwandelten Narcissus und der Nymphe Echo, von der nichts als die Stimme bleibt.

**Nation** (lat. **nátio** Volksstamm), Volk in Rücksicht auf Abstammung u. Gemeinsames im Charakter.

**national** (Adj. z. vor.), volksmäßig.

**Nationalität**, Volkstümlichkeit, Volkseigenheit.

**Nauplia**, Seestadt am gleichnamigen Golf, dem alten Sinus Argolicus, Hauptstadt der Nomarchie (Bezirk) Argolis, stärkste Festung Griechenlands und Hauptstadt des neuen griech Königreiches von 1829—1834.

**Naxus** und **Naxos**, größte der Cykladen, berühmt durch Wein. — Auf Naxus wird Ariádne von Theseus zurückgelassen.

**Nemesis** (gr.), Göttin der strafenden Gerechtig-

keit, die besonders die stolzen und ungerechten Menschen bestraft. (Die rächende Nemesis!)

**Neokles** (gr. **neós** neu, **kleós** Ruhm = erst berühmt geworden), Vater des Themistokles; daher dieser auch Neoklide genannt.

**Neptun** (lat. **Neptúnus**, bei den Griechen **Poseidón**), Gott des Meeres, Poseidon.

**Nereïs noctilúca marína**, bei Nacht leuchtende Meer-Nereïs; kleiner Ringelwurm. Name aus der Mythologie genommen: Tochter des Nereus.

**Nero**, röm. Kaiser von 54—68, Enkel des Germanicus, ausschweifender, grausamer Tyrann; ließ seine Mutter Agrippina und seine Gemahlin Octávia ermorden; Sänger, Schauspieler; verfolgt die Christen (erste Christenverfolgung, in der Paulus und Petrus umkamen); Brand Roms 64; von Galba gestürzt, tötet er sich selbst.

**Nestor**, König von Pylos, einer der berühmtesten gr. [illegible]. Helden vor Troja.

**Neuplatóniker**, von Alexandria ums Jahr 200 ausgehende philos. Richtung, die sich dem Christentum widersetzte und dasselbe durch platonische Lehren, vermischt mit morgenländischen Geheimlehren, zu ersetzen meinte.

**neutralisieren** (v. lat. **neuter, tra, trum** keins von beiden), durch Verbindung zweier Stoffe, z. B. Säuren, die Wirkung der einen aufheben; allgemein: eine Wirkung durch Gegenwirkung aufheben.

**Níke** (gr., bei den Römern **Victória**), Siegesgöttin, Sieg.

**Nobel** (lat. **nóbilis** edel), in der Tiersage der Löwe, König der Tiere.

**Noctiluca scintillárum** (lat. **nox** Nacht, **lucére** leuchten, **scintilla** Funke), Leuchttier d. Meeres.

**nomadisch** (Adj. z. gr. **nomás** zur Herde gehörig, **nomeús** Hirt), nach Art der Hirten; herumziehend.

**nomen** (lat.), Name, Nennwort.

**non agit, sed agitur** (lat.), er treibt nicht, sondern wird getrieben.

**Normalschulen** (v. lat. **norma** Regel, Richtschnur), Musterschulen; Schulen, welche der Staat, als für den Unterricht des Volkes nötig, errichtet, und nach denen sich andere zu richten haben. Über sie hinaus gehen die höheren Schulen, Gymnasien, Realgymnasien u. s. w.

**Nornen**, in der nord. Mythologie die Schicksalsgöttinnen: Urdhr (Vergangenheit), Verdhandi (Gegenwart), Skuld (Zukunft).

**Notár** (lat. **notárius**, v. **nota** Zeichen, Merkmal der Schrift), 1. urspr.: Schreiber, Geschwindschreiber, der mit Abkürzungen schreibt; 2. der Urkunden aufnimmt oder beglaubigt.

**Notiz** (lat. **notítia** spr. —zia), schriftliches Verzeichnis, Bemerkung.

**Novizen** (spr. **Nowizen**, v. lat. **novus** neu); Neulinge in einem Orte oder in einer Anstalt (Mönch, Nonne).

**numidisch**, Adj. z. **Numidien**. Numidien Land an der Nordküste Afrikas, den Karthagern benachbart; die Numidier waren ausgezeichnete Reiter.

**Númitor**, König von Alba Longa, aus dem Geschlecht des Julus oder Askanius (Sohn des Äneas), Vater der Rhea Silvia, Großvater von Romulus und Remus; s. Amulius.

**Nutritóres Académiae** (lat. **nutritor** Ernährer, **nutrire** ernähren), die Unterhalter der Akademie oder Hochschule.

**Nymphe** (gr. **nymphe** Braut, junge Frau), Göttin untergeordneten Ranges, z. B. der Quellen, Wälder, Bäume und Berge (Dryáde, Oreáde).

**Obligát** (lat. **obligátus**, Part. Perf. v. **obligáre** verpflichten), verbunden, verpflichtet.

**obligatórisch**, verbindlich. Oblig. Unterricht = ein solcher, an dem jeder teilzunehmen verpflichtet ist; Gegenteil: fakultativ.

**Óbolus** (gr. **obolós**), Oból, gr. Scheidemünze, der 6. Teil einer Drachme, etwa 12—13 ₰; auch als Gewicht der 6. Teil einer Drachme.

**observieren** (lat. **observáre**), beobachten.

**Occupatión** (lat. **occupátio**, v. **occupáre** besetzen), Besitznahme.

**Octávia** (röm. Eigenname), Schwester des Octavián, Gemahlin des Antonius nach dem Tode der Fulvia. **Octávia gens** die Familie der Oktavier.

**Ode** (gr., v. **ádein** singen), Gesang; eine Art der lyr. Poesie; Hochgesang. (Oden von Klopstock!)

**Odin** (auch **Wodan**), höchster Gott der Germanen.

**Odyssée** (gr. **Odysseia**), Epos des Homér; zweitgrößtes Nationalepos der Griechen, erzählt die Irrfahrten des Odýsseus in 24 Gesängen.

**offiziéll** (lat. **officiális**, e, von **officium** Pflicht), zum Dienst gehörig, dienstlich.

**Ökonomie** (gr. **oikonomía**, v. **oikos** Haus und **nemein** verteilen), Haushaltung, Wirtschaftlichkeit.

**ökonómisch** (Adj. z. vor.), wirtschaftlich, sparsam.

**Oktober** (lat., v. **octo** acht, eig.: der 8. Monat), der 10. Monat des Jahres. Bei den Römern

begann das Jahr mit dem 1. März; an diesem Tage traten die Konsuln ihr Amt an, so daß also der Oktober der 8. Monat war.

**oligarchisch** (gr., v. **olligos** wenig und **arche** Herrschaft = Herrschaft weniger Männer = Aristokratie), der Oligarchie anhängend oder geneigt; aristokratisch.

**Olymp** (gr. **Olympos**), Berg auf der Grenze von Thessalien und Macedonien; wurde wegen seiner bedeutenden Höhe von den Alten als Wohnsitz der Götter betrachtet.

**Olympien** (gr. **Olympia**), Festspiele, welche alle 4 Jahre in Olympia (Elis) zu Ehren des Zeus gefeiert wurden.

**olympisch** (Adj. z. vor.), den Berg Olymp und die Stadt Olympia betreffend. (Olympische Spiele, olympische Götter!)

**Omar**, arabischer Personenname.

**Omen** (lat., Plur. **omina**), Vorbedeutung.

**ómnia** (lat., Neute. Plur. v. **omnis**, e jeder, jede, jedes), alles.

**Opal** (gr. **ópalos**, sanskrit. **upala**), ein Edelstein (Kiesel).

**Oper** (ital. **ópera**, eig.: Arbeit, Werk), Teil der dramatischen Poesie: Verbindung von Handlung, Gesang und Instrumentalmusik.

**Ophir**, der Ort, woher die Juden unter Salomo, vereint mit den Phöniziern unter Hiram, Gold und andere Kostbarkeiten holten. Ob damit eine Stadt Indiens gemeint sei, ist sehr zweifelhaft; eher ist anzunehmen, daß Ophir eine Stadt im südlichen Arabien gewesen ist, wohin die Erzeugnisse Indiens von anderen Kaufleuten gebracht wurden. 1 Mos. 10, 29 wird Ophir unter andern arabischen Orten genannt.

**Opium** (gr. **ópion**), Mohnsaft; der aus den unreifen Mohnköpfen fließende Saft (Milchsaft), welcher, an der Luft getrocknet, zu einer fast unauflösbaren Masse wird; namentlich in Kleinasien, Indien und China gewonnen; Arzneimittel, Berauschungsmittel. (Opiumausfuhr von Indien nach China!)

**Opus** (lat., Plur. **ópera**), das Werk.

**Orákel** (lat. **orăculum**, Plur. **orăcula**), 1. Weissagung (göttlicher Ausspruch); 2. Weissagestätte.

**Orbilius**, ein grober, mürrischer Schulmeister z. B. des Dichters Horaz; wird von Horaz **plagosus** d. i. viel Schläge austeilend, genannt.

**Orchéstik** (gr. **orchestiké**, erg.: **téchne** Kunst, Adj. **orchestisch**), Tanzkunst.

**Orchidéen**, orchisartige Gewächse.

**Ordination** (lat. **ordinátio**, v. **ordo** Ordnung, kirchliche Weihe, **ordinăre** ordnen), Einsetzung, Weihe.

**ordo seu secta**, Stand oder Zunft (Glaubensz.).

**Ordre** (frz., spr. **ordr'**), Befehl.

**Organ** (gr. **órganon** Werkzeug), 1. Werkzeug; 2. menschliche Stimme; 3. uneig.: Vertreter einer Ansicht, sowohl von Personen, als Schriften u. Zeitungen.

**Organisation** (lat. **organisátio**), Einrichtung.

**organisch**, die innere Einrichtung, den Bau betreffend; lebenskräftig: z. B.: organische Wesen, organischer Fehler.

**organisieren**, einrichten.

**Organismus**, feststehende Einrichtung; Einrichtung des menschlichen oder tierischen Körpers.

**Orient** (lat. **óriens**, erg.: **sol** die Sonne, v. **oriri** entstehen, aufgehen), Osten, Morgenland.

**orientálisch** (lat. **orientális**, e), morgenländisch, im Osten liegend.

**Original** (lat. v. **origo** Ursprung), das Ursprüngliche, Urschrift.

**originell** (lat. **originális**, e), ursprünglich, sonderbar, einzig in seiner Art.

**Orkan** (v. span. **huracán**, einem karaibischen, erst später durch Schiffer nach Europa eingeführten Ausdruck), Sturmwind heftigster Art.

**Orkus** (bei den Griechen **Hades**), 1. Unterwelt, Totenreich; 2. Gott der Unterwelt (Schiller: „der rauhe Orkus weint").

**Ornament** (lat. **ornaméntum**, von **ornăre** schmücken), Schmuck.

**Ornat** (**ornátus**, v. d. St.), 1. Schmuck; 2. Amtskleid der Geistlichen und Richter (Bürger: „im Kaiserornate").

**Orthographie** (gr. **orthós** aufrecht, gerade und **gráphein** schreiben), Rechtschreibung.

**Osiris**, höchster Gott der alten Ägypter, Bruder und Gemahl der Isis.

**Osmanen** (nach **Osman**, dem Sohne Alladins, [1300] benannt), Türken.

**Osning**, Name für den Teutoburger Wald, namentlich im Lippeschen.

**Otomaken**, Indianerstamm am Orinoko in Venezuela.

**ōval** (v. **ōvum** das Ei), eirund, eiförmig.

**Ovid** (P. **Ovidius Naso**), römischer Dichter, geb. zu Sulmo (Gebiet der Peligner) 43 v. Chr. Günstling des Augustus, aber von ihm nach Tomi am Schwarzen Meere verbannt;

† 17 v. Chr.; dichtete Metamorphoſen (das Buch der Verwandlungen), Triſtien (Trauerlieder) u. a.

**Ozean** (gr. **ōkeanós**), 1. nach der Idee Homers ein großer Strom, der rings um die Erde und in ſich zurückfloß; 2. der Gott des großen Weltſtromes und Gemahl der Thetis; 3. das große Weltmeer, beſtehend aus 5 verſchieden großen Teilen.

**Pädagóge** (gr. **paidagōgós**, v. **pais** Knabe und **ágein** führen), eig.: Knabenführer; Erzieher.

**Pädagogik** (gr. **paidagogiké**, erg.: **téchne** Kunſt), Erziehungskunſt, Erziehungslehre.

**pädagogiſch** (Adj. z. vor.), erziehlich, die Erziehung betreffend.

**paedagógio** (lat.), Dativ oder Ablativ von **paedagógium** Erziehungsanſtalt.

**Pädotride** (gr. v. **pais, paidós** Knabe, **tríbein** treiben, üben), Turnlehrer.

**Page** (ſpr. **paſch'**, neulat. **págius**, v. d. gr. **paidíon** Knabe), Edelknabe.

**Palaſt** (v. lat. **Palatium**, in dem die Kaiſer wohnten; vgl. das deutſche „Pfalz"), Prachtgebäude, Schloß.

**Paläſtra** (gr. **palaistra**), Ringſchule.

**Palatínus** (erg.: **mons** Berg), der palatiniſche Berg.

**palatiniſch** (Adj. z. vor.), zum Palatinus gehörig, auch kaiſerlich, da die Kaiſer ihre Wohnungen auf dem Palatium hatten.

**Palla** (lat.), weites Oberkleid der römiſchen Frauen, in dem ſie auszugehen pflegten; Staatsmantel.

**Pallas** (gr. **Pallás**), Beiname der Göttin Athene oder Minerva. Vielleicht iſt Pallas von **pálleln** ſchwingen abzuleiten = die „Schwingende" nämlich die Ägis.

**Pan**, Gott der Wälder und Fluren, daher beſonders von Hirten verehrt.

**Panacée** (gr. **panákela**, v. **akeisthai** heilen und **pās, pāsa, pān** alles), ein Heilmittel, das alles heilt; Univerſalmittel, Schutzmittel.

**Panätius**, Stoiker aus Rhodos, um 180 v. Chr. lebend, Freund des Scipio Africanus.

**panénses** (lat. v. **panis** Brot), Brotſchüler, die um Brot ſingen.

**Panisbrief**, ein Verſorgungsbrief (Bürger: Der Kaiſer und der Abt).

**Papa** (lat. **pāpa**), Vater.

**Papýrus** (gr. **pápyros**), Papierſtaude, Papier.

**Parábel** (gr. **parabolé**, v. **paraballein** nebeneinanderſtellen, vergleichen), Gleichnis: 1. epiſche Dichtungsart; 2. mathem. Figur: Kegelſchnitt, der einer Seite des Kegels gleichlaufend gelegt iſt.

**Paradies** (gr. **parádeisos**, a. d. perſ. **firdaus** Tiergarten, Park), 1. Aufenthalt der erſten Menſchen; 2. übertragen für Himmel, Aufenthalt der Seligen („heute noch wirſt du" ꝛc.).

**paradox** (gr. **parádoxos**, aus **pará dóxan** gegen die Meinung, den Glauben), ſonderbar, widerſinnig.

**parallél** (gr., v. d. Präp. **pará** bei, neben und **alléloln**, d. i. neben einander), nebeneinanderherlaufend.

**Paramythie** (gr. **paramythia** das Zureden, Ermahnung), ermahnende Fabeldichtung; eine Nebenart der Fabel.

**Pardón** (frz., ſpr. **pardóng'** oder **Pardóhn**), Verzeihung.

**Parére** (v. lat. **parēre** ſcheinen), Gutachten.

**Parfüm** (frz., ſpr. **parfóng'** oder **Parfühm**, aus **par** [per] und **fumus** Rauch), Duft, Wohlgeruch.

**Pari** (v. lat. **par** gleich), gleich [inbezug auf den Wert]; meiſt in kaufmänniſcher Sprache gebr.; **al pari** der wirkliche Wert iſt gleich dem Nennwert. (Über **pari** und **unter pari**!)

**Pária**, verachtete Kaſte der Inder.

**pariſcher Marmor**, Marmor von der Inſel Paros, einer der Cykladen.

**Parménio**, Feldherr Alexanders d. Gr.

**parodieren** (v. gr. **parodía** Nebengeſang), ſpöttiſch oder ſcherzhaft nachahmen.

**Partei** (v. lat. **pars, partis** Teil, auch franz **partie**), ſich als Abteilung abſondernde Geſinnungsgenoſſenſchaft.

**partem** (Acc. Sing. v. lat. **pars** Teil), den Teil, Anteil.

**Párthenon** (gr. **Parthenōn**, v. **Parthénos** die Jungfrau), Tempel der Athene (Minerva) auf der Akrópolis zu Athen.

**Partie** (frz.), 1. Teil, Menge; 2. Ausflug; 3. Spiel (z. B.: Partie Billard, Whiſt); 4. in der Muſik eine ausgeſchriebene Stimme (z. B.: Solopartie).

**Partikulär** (v. lat. **particulāris**, e einen Teil betreffend), das Beſondere; eine Sonderanſtalt (Schule) für die Kinder der Vornehmen.

**Päſargädä** (gr. **Pasargádai**), Stadt in dem alten Perſien, von Cyrus auf der Stelle erbaut, wo er den Aſtyages beſiegt hatte (558);

daſelbſt auch ſein Grabmal mit einer kurzen Aufſchrift.

**Paſcha** (auch **Padiſchah**), hoher türkiſcher Beamter; Statthalter.

**Päſchalik**, Gebiet eines Paſcha.

**Paſſagier** (ſpr. paſſaſchihr, v. frz. **passage** Durchfahrt, Durchgang), ein zu Wagen, zu Schiff oder mit der Eiſenbahn Reiſender.

**Päſſah** (v. hebr. **pasáeh** [2 Moſ. 12, 23 ff.] vorübergehen: Vorübergang, Verſchonung), Oſterfeſt der Juden, gefeiert zur Erinnerung an den Auszug aus Ägypten.

**paſſieren** (v. frz. **passer**, lat. **passus** der Schritt), 1. gehen, durchgehen; 2. ſich ereignen (unperſönlich gebraucht).

**Paſſión** (lat. **pássio**, v. **pati** leiden), 1. das Leiden, die Leidensgeſchichte (Paſſionsſpiele in Oberammergau, die Darſtellung des Leidens Chriſti); 2. Leidenſchaft, Liebhaberei.

**Paſſus** (lat.), 1. Schritt; 2. Stelle, Abſchnitt in einem Buche.

**Paſtophören** (gr. **pastophóroi**, v. **pastós** Kapelle, **phérein** tragen), eine Art Prieſter, die das Bild eines Gottes in einer kleinen Kapelle oder Niſche tragen.

**Paſtor** (lat., Hirt), Seelſorger, Prediger.

**Paſtorále** (lat. **pastorális**, e), hirtenmäßig, ſeelſorgeriſch; auch für das Subſt. Seelſorge.

**Paternóſter** (lat.), das Vaterunſer; Gebet des Herrn.

**Patiént** (lat. **pátiens**, v. **pati** leiden), der Leidende.

**patre** (lat., Abl. Sing. v. **pater**), Vater.

**Patriárch** (gr. **patér** Vater, **archḗ** Anfang), Erzvater.

**patriarchäliſch** (Adj. z. vor.), erzväterlich, uralt, d. h.: ehrwürdig.

**patriótiſch** (Adj. z. **patriótēs** Landsmann, Vaterlandsfreund), **vaterlandsliebend.**

**Patriotismus**, Vaterlandsliebe.

**Patrizier** (lat. **patricius**, v. **pater** Vater), 1. römiſcher Adliger, Nachkomme der Gründer und erſten Bürger Roms; 2. ein reicher Bürger im Mittelalter.

**Pátroklus** (Schiller: **Patróklus**), Freund des Achilles, Held vor Troja (Zweikampf mit Hektor, von dem er getötet wird).

**Patrón**, **Patrónus**, Beſchützer.

**Pedál** (v. **pedális**, e, Adj. z. **pēs**, **pédis** Fuß), 1. Fußtaſten bei der Orgel; 2. ſcherzweiſe für Füße.

**pedántiſch** (Adj. z. **Pedánt**, ital. **pedánte** Hofmeiſter, Schulfuchs; dann: kleinlicher Menſch), kleinlich.

**Peiräeus** (gr. **Peiraieús**), der Hafen Athens.

**Pelásger** (gr. **Pelasgoí** [Ableitung unſicher]), Ureinwohner Griechenlands.

**peloponnéſiſch** (Adj. z. **Pelopónnesos**, eig.: Pelopsinſel; das ſüdliche Griechenland, jetzt Moréa), den Peloponnés und die Peloponneſier betreffend, z. B.: peloponneſiſcher Krieg.

**Pélops**, Sohn des Tantalus, Vater des Atreus.

**Pelúſium**, Stadt in Ägypten an der öſtlichſten Nilmündung. Das alte Piſchtim, Stadt der Philiſter; 525 v. Chr. Schlacht, in der Kambyſes über Pſammenit ſiegt.

**Pentámeter** (gr. **pentámetros**, aus **pente** fünf, **métron** Maß), Vers, der aus fünf daktyliſchen Füßen beſteht, in der Mitte die Cäſur mit dem Hexámeter zum Diſtichon (ſ. d.) vereinigt.

**Pentáſtoma** (gr., v. **pentástomos** [**pente** fünf, **stoma** Mund]), mit fünf Mündungen.

**Pergamént**, 1. aus Tierhäuten bereitetes Schreibmaterial, nach dem Erfindungsorte Pérgamum genannt; 2. alte Handſchriften, Aufzeichnungen von Geſetzen und Rechten (Schiller: Tell).

**Pérgamus**, **Pérgamum**, auch **Pérgama**, 1. Burg von Troja; 2. Stadt in Myſien, Hauptſtadt des Pergameniſchen Reiches, berühmt durch eine große Bibliothek und die Erfindung des Pergaments.

**Períkles** (gr. **Perikles**, von **péri** ſehr und **kléos** Ruhm = der überaus Berühmte), einer der vorzüglichſten Staatsmänner Athens, nach dem ein ganzes Zeitalter benannt wurde, 449—429 v. Chr.; Vollender der Demokratie (Volksherrſchaft), Förderer von Kunſt und Wiſſenſchaft; er beginnt den Peloponneſiſchen Krieg (431—404); † zu Athen 429 an der Peſt.

**Periode** (gr. **períodos**, v. **peri** ringsherum und **hodos** Weg), eig. Umlauf: 1. regelmäßig Wiederkehr von Ereigniſſen; 2 in der Stillehre (Stiliſtik) ein größeres Satzganze; 3. bei der Dezimalbruchrechnung: wiederkehrende Zahlenreihe.

**periódiſch** (Adj. z. vor.), regelmäßig wiederkehrend.

**Periodenbau**, das Sprechen oder Schreiben in wohlgegliederten, abgerundeten Sätzen, Verbindung der zu einem Hauptgedanken gehörenden und ihn ergänzenden Nebengedanken mit dieſem zu einem Satzganzen. Wie Hauptſatz und Hauptſatz zur Satzverbindung, Hauptſatz und Nebenſatz zum Satzgefüge vereint werden, ſo

wird wiederum aus der Verbindung dieſer zuſammengeſetzten Sätze die Periode gebildet. Beiſpiele ſ. in des Leſebuchs I. Teile, Anhang E.

**Periplus** (v. **perí** ringsherum und **ploos** [zuſammengez. **plôus**] Schiffahrt), die Umſchiffung, Küſtenbeſchreibung (ſ. Hanno).

**Perſépolis** (gr. v. **Pérses** Perſer und **polis** Stadt), eine der Hauptſtädte des alten Perſerreiches am Aráxes.

**Perſonifikatiòn** (v. lat. **persona** Maske, Perſon und **facêre** machen), Darſtellung einer Sache als Perſon.

**Pértinax** (d. Halsſtarrige), röm. Kaiſer 193 n. Chr.; nach dreimonatl. Regierung ermordet.

**Petrarca, Francésco**, einer der größten Dichter Italiens aus Arezzo (Arretium), 1304—1374 (Sonette an Laura); auch ſonſt bedeutender Gelehrter und Altertumsforſcher.

**Pfalz** (v. lat. **Palatium**) 1. Kaiſerpalaſt, 2. das Gebiet, das einem **Pfalzgrafen** unterſtellt war.

**Phäáken** (gr. **Phaiakes**), Bewohner der Inſel S-chéria (Kerkyra, Corcyra, Korfu).

**Phálanx** (Pl. **Phalángen**), Schlachtreihe; Aufſtellung des macedoniſchen Fußvolkes in einem Viereck von 50 Mann Breite, 16 Mann Tiefe.

**phalèriſch** (Adj. z. **Phalêros**), Hafen von Attika.

**Phänomén** (gr. **phainómenon**, Part. von **phaínesthai** ſich zeigen, erſcheinen, von dem Aktiv **phaínein** zeigen), Erſcheinung, Naturerſcheinung.

**Phantaſie** (gr. **phantasía** von **phantázein** ſichtbar machen, Medium: ſich einbilden), Einbildungskraft.

**Phantasma** (Pl. **—en**, gr. **phántasma**), Erſcheinung, Vorſtellung.

**phantaſtiſch** (Adj. z. vor.), ſeltſam, abenteuerlich.

**Pharus** (gr. **Phâros**), eine kleine Inſel vor der Nilmündung, ſchon in der Odyſſee erwähnt. Die Inſel wurde ſpäter mit dem Feſtlande durch einen Damm verbunden. Berühmt durch ſeinen Leuchtturm.

**Phaſe** (gr. **phásis**), Erſcheinung, Wandlung, Wechſel; z. B.: Mondphaſen.

**Phaſis**, ein kleinaſiatiſcher Fluß an der Grenze von Kleinaſien und Kolchis.

**Phidias** (gr. **Pheidías**), der berühmteſte Bildhauer Griechenlands; lebte im Zeitalter des Perikles. Seine vorzüglichſten Werke: Zeusſtatue zu Olympia; Bildſäule der Athene auf der Akropolis zu Athen.

**Philippiſche Reden**, 1. Reden, welche Demoſthenes (385—322) gegen Philipp von Macedonien gehalten; 2. die Reden Ciceros gegen den Antonius, die wegen ihrer Ähnlichkeit mit denen des Demoſthenes ſo genannt wurden, „Philippika".

**Philiſter** (hebr. **philisehtim**), 1. heidniſches, mit den Israeliten lange im Streit lebendes Volk, wohnhaft im Süden von Paläſtina (Peluſium); 2. ein Spießbürger, Nichtſtudent.

**Philoktét** (gr. **Philoktétês**), vortrefflichſter Bogenſchütze unter den Griechen vor Troja. Vorher Genoſſe des Héraklés, hatte er deſſen Bogen und vergiftete Pfeile geerbt; wurde von den Griechen auf der Inſel Lemnos wegen einer ſchweren Verwundung (Schlangenbiß) zurückgelaſſen, dann aber nach Troja geholt, das ohne die Pfeile des Ph. nicht eingenommen werden konnte.

**Philológe** (gr. **lógos** Rede, Wort, **philos** Freund), Sprachfreund, Sprachforſcher.

**Philomêle** (gr. **philos** Freund, **mélos** Lied, Geſang), 1. Tochter des Königs Pandíon in Athen, wurde in eine Nachtigall verwandelt; 2. Nachtigall.

**Philoſophém** (gr. **philos** Freund, **sophos** weiſe, **sophía** Weisheit, **philosóphema** gelehrte Forſchung), philoſophiſche Frage; Gegenſtand philoſophiſcher Forſchung.

**Philoſophie** (gr. **philos** Freund und **sophia** Weisheit), Weltweisheit.

**Phineus**, König im thrakiſchen Salmydeſſus. Ihn befreiten Zetes und Kalaïs von den Harpyien, die ihn auf Befehl der Götter peinigten.

**Phöbus** (gr. **Phoîbos** der Leuchtende), Beiname des Apollo, der auch als Sonnengott gedacht wurde.

**Pholas dactylus**, Bohrmuſchel.

**Phönix** (gr. **Phoînix** der Purpurrote, Hellſtrahlende), 1. Begleiter des Achilles auf dem Zuge nach Troja, der auch dem Péleus die Todesnachricht von Achilles brachte; 2. Sohn des Agénor, Bruder des Kadmos und der Europa; 3. fabelhafter Vogel, der 500 Jahre lebte, ſich dann verbrannte und aus ſeiner Aſche wiedererſtand; 4. der Phönizier.

**Phórminx** (gr., Gen. **—ingos**), älteſtes Saiteninſtrument, ähnlich der Harfe; ſchon bei Homer vorkommend.

**Phosphorescence de la mer** (frz., ſpr. **phosphoreſßangs'**), das Leuchten des Meeres.

**Phrýgien** (gr. **Phrygía**), Landſchaft in der Mitte von Kleinaſien, geteilt in Groß- und Kleinphrygien.

**Phyſik** (gr. **physikê**, erg.: **téchnê** Kunſt), Lehre

von den Geſetzen, auf denen die Naturerſcheinungen beruhen, Naturlehre.

**phyſikäliſch**, nach den Naturgeſetzen.

**Phyſiognomie** (gr. **phýsis** Natur u. **gignóskein** erkennen), Geſichtsausdruck.

**phyſiſch** (Adj. zu **physis**), natürlich.

**Picadóres** (ſpan., v. **picar** ſtechen), mit der Lanze bewaffneter, berittener Stierkämpfer.

**pikánt** (frz. **piquer** ſtechen, deutſch: picken), ſtark reizend.

**Pilót** (frz. **pilote**, niederl. **piloot** [Urſprung dunkel]), 1. Steuermann, Lotſe; 2. ein kleiner Fiſch, der den Haifiſch ankündigt.

**Pinakothék** (gr. **pinakotheke**, v. **pinax** Tafel, Gemälde und **tithénai** ſetzen, aufſtellen), Bilderſaal; Saal für Gemälde, dann die Sammlung ſelbſt.

**Pincette** (Diminut. von **pince** [ſpr. pängs'] von **pincer** kneifen), Haarzange, Zängelchen.

**Pindárus** (Dat. **Pindaro**), lyriſcher Dichter z. B. der Perſerkriege; lebte in Theben, Zeitgenoſſe des Äſchylus.

**Pinie** (v. lat. **pinus** Fichte), zahme Fichte, Zirbelbaum mit eßbaren Früchten.

**Placa de toros** (ſpan. **toros**, von dem gr. **táuros** Stier), wörtl.: Platz der Stiere, d. i. Kampfplatz für die Stiergefechte.

**Planét** (gr. **Planétes**, v. **planásthai** umherirren), Wandelſtern.

**planetäriſch**, Adj. z. vor.

**Plaſtik** (gr. **plastiké** [erg.: **téchnē**], v. **plássein** oder **plátteln** bilden, formen), Bildnerei; im engern Sinne auch: Bildhauerei.

**plaſtiſch** (Adj. z. vor.), geſtaltend, geſtaltlich.

**Platää** (gr. **Plataiai**, nur im Plur. vorkommend (Plurale tantum), Stadt in Böotien; 479 Schlacht zwiſchen Griechen (Ariſtides und Pauſanias) und Perſern (Mardonius).

**Platáne** (gr. **Plátanos**, von **platys** breit [wegen der breiten Blätter oder der ſich breitenden Äſte und Zweige]), morgenländiſcher Ahorn.

**Plateau** (frz., ſpr. **platóh**; deutſch: Platte), Hochebene.

**Pláto** (gr. **Platōn**), griech. Philoſoph, Schüler des Sokrates (400 v. Chr.), Stifter der akademiſchen Philoſophie; lehrte in dem Haine des Akádemos, daher ſeine Schule die Akademie genannt.

**Plautus**, röm. Komödiendichter, 184 v. Chr. geb.

**plebejiſch** (Adj. v. **plebs** Volk), 1. zum Volke gehörig; 2. ungebildet.

**Plempe**, Seitengewehr.

**Plinius**, 1. major (= d. ältere); ſchrieb eine Naturgeſchichte (Historia naturalis) in 37 Büchern; † 79 n. Chr. beim Ausbruch des Veſuvs. 2. minor (= der jüngere), unter Trajan Statthalter von Bithynien; ſchrieb „Briefe".

**Pluribus intentus minor est ad singula sensus** (lat.), ein Hexameter: Wenn der Sinn auf mehreres gerichtet iſt, ſo iſt er zum einzelnen zu gering; oder: Nicht auf mehreres richte den Sinn, ſo begreifſt du das eine.

**Plutárch** (gr. **Ploútarchos**), griech. Geſchichtſchreiber, geb. 46 n. Chr.; ſchrieb Vitae parallelae d. h. paarweiſe zuſammengeſtellte Lebensbeſchreibungen berühmter Griechen und Römer

**Pluto** (gr **Ploútōn**), König der Unterwelt, Gemahl der Proſérpina, Bruder des Jupiter und Neptun.

**Pnyx** (gr., entſtanden durch Umſtellung der Buchſtaben aus **pyknos** dicht; **pyknoûsthai** dicht zuſammendrängen), Verſammlungsplatz der Athener, auch die Verſammlung ſelbſt.

**Podium** (v. b. gr. **pṓus, podós** Fuß), Tritt; aber auch der vordere Teil der Bühne.

**poëmata** (Plur. von **poëma**, gr. **poiéma** Gedicht), Gedichte.

**Poeſie** (gr. **pṓiesis**, v. **poiēín** machen), Dichtkunſt, Dichtung.

**Poeſel** = **Poeſie** (ſ. d. vor.).

**Pokal** (ital. **boccále**, v. gr. **baukállon**), Trinkgefäß, Becher, Kelch.

**Polémika** (v. gr. **polemikós** kriegeriſch), Streitſchriften.

**Pollas** (v. **polis** Stadt), Beiname der Athene als Beſchützerin der Stadt.

**polieren** (lat. **polire**), glätten.

**Politik** (gr. **politiké**, erg.: **téchnē**), Staatskunſt.

**politiſch** (Adj. z. vor.), das Staatsleben betreffend.

**Polizeigewalt** (v. gr. **politéia**), Gewalt, vermöge deren der Staat durch beſondere Beamte Zucht und Ordnung aufrecht erhält, die Bürger in ihren Rechten ſchützt, ſie aber auch durch Strafmittel zur Erfüllung ihrer Pflichten zwingt.

**Pollux**, Sohn des Zeus, Bruder des Kaſtor, der Hélena und Klytämneſtra.

**Polybius**, griech. Geſchichtſchreiber aus Megalópolis z. B. Scipios des jüngern; ſchrieb in griech. Sprache die Geſchichte des zweiten puniſchen Krieges.

**Polyglótte** (gr. **polýs** viel und **glótta** [**glóssa**] die Zunge), Vielzüngigkeit; viele Sprachen redend; in vielen Sprachen geſchrieben.

**Polyhiſtór** (gr. **polýs** viel und **histór** kundig, wiſſend), Vielwiſſer.

**Polykarp** (gr. **polys** viel und **karpos** Frucht = der Fruchtreiche), Biſchof in Smyrna (Kleinaſien) † 169 unter Mark Aurél auf dem Scheiterhaufen. Von ihm ein Brief an die Philipper.

**Polýkrates** (gr. **polys** viel und **krátos** Macht, Gewalt), Tyrann (Beherrſcher) von Samos um 600 v. Chr. Wegen ſeines grenzenloſen Glückes geprieſen; vom perſ. Statthalter Oróntes zum Kreuzestode verurteilt.

**Polýp** (gr. **polýpous** [**polys** u. **pous, podós** Fuß], Vielfüßler), 1. Tiere mit vielen Armen und Fühlfäden; 2. Gewächs am oder im menſchlichen Körper, z. B.: Naſenpolyp.

**Pompéji**, Stadt in Kampanien, 79 n. Chr. beim Ausbruch des Veſuvs verſchüttet, jetzt zum Teil aufgedeckt.

**Pontiniſche** (beſſer **Pomptiniſche**) **Sümpfe** (lat. **Paludes Pomptinae**), Sümpfe an der Weſtküſte von Latium, ſüdlich von Rom, durch welche die Appiſche Straße führt (ſie ſind 30 Meilen lang, 12—13 Meilen breit).

**pontiſch** (Adj. z. **Pontus**), Land am Schwarzen Meere (Südoſtküſte).

**Pony**, kleine Pferderaſſe in Schottland und auf den benachbarten Inſeln.

**Pórcia** (Femininform zu **Porcius**), 1. erg.: gens Familie, berühmte römiſche Familie; 2. Schweſter des jüngern Cato (Uticénsis).

**Port** (lat. **portus**), Hafen.

**Portici** (ſpr. **Pórtitſchi**), Stadt am Golf von Neapel, zum Teil auf dem verſchütteten Herkulanum erbaut.

**Portión** (ſpr. **porzión**), Teil, das Zugeteilte.

**poſitiv** (v. lat. **pónĕre** ſetzen), feſtſtehend, feſtgeſetzt, bejahend.

**Poſitúr** (lat. **poſitúra** Stellung), Stellung, Haltung. Redensart: ſich in Poſitur ſetzen.

**post fluĭtam lectionem** (lat.), nach beendigter Stunde.

**poſtieren** (v. frz. **poster**, abgel. von **poste** Poſten), jemanden aufſtellen.

**Poſtille** (v. mittell. **postilla**); Predigtbuch über die Sonn- und Feſttagsevangelien. Mit **postilla** [erg.: **verba**] „nach jenen Worten" wurde an den Text angeknüpft, daher der Name.

**Poſtillon** (frz., ſpr. **poſtilj'ón**), Poſtknecht.

**Poténz** (lat. **poténtia**), Macht, Zeugungskraft, Zahlenſtufe.

**Präcéptor** (lat., v. **praecipĕre** vorſchreiben), Lehrer.

**präktiſch** (gr. **praktikós**, von **prássein** oder **prátteln** handeln), 1. zum Handeln geſchickt; 2. zweckdienlich.

**Prälat** (lat., v. **praelātus**, Part. Perf. Paſſ. v. **praeferre** vorziehen), hoher kirchlicher Würdenträger.

**Prämie** (lat. **prǽmium**), Belohnung.

**Präſcriptión** (lat., v. **praescribĕre** vorſchreiben), 1. Vorſchrift; 2. Verjährung.

**präſentieren** (lat. **praesentāre** darſtellen, überreichen), darreichen, aufwarten.

**Präſidént** (lat., Part. Präſ. v. **praesidēre** vorſitzen), der Vorſitzende.

**präſtieren** (lat. **praestāre**), leiſten.

**preſſieren** (v. lat. **pressāre**, und dies von **premĕre** drücken), eilen, drängen.

**Priamus**, Sohn des Laómedon, König von Troja. Der Name wird abgeleitet von **priasthai** kaufen = der Erkaufte.

**Primaner** (lat. **primus** der erſte, **primānus** zur erſten Legion gehörig), Schüler der oberſten Klaſſe (Prima) einer höheren Lehranſtalt.

**Prinzip** (Plur. **—ien**, v. lat. **principium** Anfang), Grundſatz.

**privát** (lat. **privātus**), nicht öffentlich, außeramtlich.

**Produkt** (lat. v. **producĕre** hervorbringen) das Hervorgebrachte, Erzeugnis.

**Produktión** (v. d. St.), das Hervorbringen, auch als Konkretum für „Produkt" gebraucht.

**produzieren** (v. d. St.), hervorbringen.

**profan** (lat. **profānus**), ungeweiht, weltlich.

**Profeſſión** (lat. **profēssio** Geſtändnis, **profitēri** eingeſtehen), Beruf, Handwerk.

**Proféſſor** (v. d. St., Plur. **professōres**), öffentlicher Lehrer; Lehrer an Hochſchulen.

**Profós** (altfrz. **prévost**, aus dem lat. **praepositus** Vorgeſetzter), Oberſter der Regimentspolizei.

**Prókas**, König von Alba Longa, Vater des Numitor und Amulius.

**Prókulus, Julius**, ein röm. Senator, dem Romulus nach ſeiner Ermordung — angeblich — erſchien und verkündigte, daß er als Quirinus unter die Götter aufgenommen ſei.

**Prómachos** (gr. **pro** vor und **máchesthai** kämpfen), Vorkämpfer oder Vorkämpferin, Beiname der Göttin Athene.

**Promenade** (frz. v. **promener** herumführen, **se promener** ſpazieren gehen), Spaziergang, (Handlung und Ort).

**Promethéen**, Feſt des Prometheus.

**Prométheus** (gr. **Promethéus**), Vater des Deukálion, der allein mit ſeinem Weibe Pyrrha aus der großen Flut gerettet wurde. P. raubte den Göttern das Feuer und brachte es den Menſchen; wurde deshalb an den Kaukaſus geſchmiedet, wo ein Geier tagtäglich ſeine Leber zerfleiſchte, bis Hérakles denſelben erlegte.

**Promotión** (lat. **promótio**, v. **promovēre** befördern), Beförderung zu Ehrenſtellen, (Doktorpromotion).

**Prophét** (gr. **prophétēs**, v. **prophánai**), Weisſager, Seher. Die eigentliche Bedeutung iſt „Verkündiger [des göttlichen Auftrags“], da **prophánai** nicht vorherſagen, ſondern hervorſagen bedeutet. Vgl. Jak. 5, 10.

**prophezeien** (gr. **prophetéuein**), vorherverkündigen.

**Propyläen** (gr. **pro** vor, **pylai** Tore, **propylaia**), Vorhof und die prachtvollen Säulenhallen vor dem Tempel der Athene.

**Prórektor** (lat. **pro** für, anſtatt; **rector** Leiter): 1. der ſtellvertretende Leiter einer Anſtalt; an den meiſten höheren Schulen Titel für den erſten Lehrer des Kollegiums. 2. Titel des Rektors einer Univerſität, deren Rektor dem Namen nach der Landesfürſt oder ein Glied des Fürſtenhauſes iſt.

**Próſa** (lat., entſt. aus **prorsa**, erg.: **oratio** die geradeausgehende Rede), ungebundene Rede.

**Proſcénium** (gr. **proskénion**, von **pro** vor, **skenḗ** Bühne), Vorderbühne, wo die Schauſpieler auftreten.

**Proſkriptión** (lat. **proscriptio**, v. **proscribēre** ächten), Achterklärung, Ächtung.

**Proteſtant** (Part. Präſ. v. lat. **protestāri** bezeugen, beweiſen), 1. derjenige, der Protéſt d. i. Verwahrung einlegt; 2. gleichbedeut. mit evangeliſch (Reichstag zu Speyer 1529).

**protokollieren** (vom mittelgr. **prōtókollon** [**prōtos** der erſte, **kollân** leimen], d. i. das erſte, vorgeleimte Blatt bei Papyrusrollen, auf dem bemerkt ſein mußte, unter welchem königlichen Hofſchatzmeiſter und von wem der Papyrus verfertigt war), eine amtliche Verhandlung aufzeichnen.

**Proviantwagen** (**Proviant**, v. lat. **providenda** = das zu Beſorgende), Wagen mit Mundvorrat.

**Provinz** (lat. **provincia**), 1. ein Land, das durch Eroberung oder Schenkung in den Beſitz des römiſchen Volkes gekommen war; 2. größerer Landesbezirk, der Teil eines Staatsganzen iſt.

**Provinziale** (lat. **provinciālis**), Bewohner der Provinz (außerhalb der Hauptſtadt); oft mit verächtlicher Nebenbedeutung.

**Proviſor** (lat., v. **providēre** vorſehen), 1. Verwalter; 2. Gehilfe des Apothekers.

**provisor puerōrum**, Pfleger der Knaben; Erzieher.

**Prozedúr** (v. lat. **procēdĕre** vorrücken, fortgehen), Verfahren.

**Prozéß** (v. d. St.), 1. Verlauf; 2. gerichtliches Verfahren.

**Prozeſſión** (v. d. St.), feſtlicher Aufzug zu religiöſen Zwecken.

**Ptolemäus**, 1. der erſte König von Ägypten nach dem Tode Alexanders d. Gr., nach welchem ſich die andern ägyptiſchen Könige Ptolemäer nannten; 2. ein Sternkundiger, Geograph und Mathematiker zu Alexandria.

**Públikum** (v. lat. **públicus** öffentlich), die Öffentlichkeit, die Leute.

**pulſieren** (v. lat. **pulsāre** ſtoßen, ſchlagen), ſchlagen, klopfen.

**puniſch** (lat. **púnicus, a, um**, Adj. z. **Poeni** [ſpr. Pōni], Punier, Karthager), karthagiſch.

**Punktum** (lat., v. **pungĕre** ſtechen), Stich, Punkt.

**Putéoli**, Stadt in Kampanien, am Tyrrh. Meere.

**Pylos**, Stadt und Burg oberhalb des gleichnamigen Hafens im ſüdweſtlichen Meſſenien.

**Pyrósoma gigantea** (**pȳr** Feuer, **sōma** Körper, **gigantea** rieſenhaft), wörtlich: rieſengroßer Feuerkörper; ein leuchtendes Seetier.

**Pyrrhus** (gr. **Pyrrhos**), 1. Pyrrhus, häufiger Neoptólemus genannt, Sohn des Achilles; 2. König von Epirus, kommt 280 v. Chr. den Tarentinern zuhilfe, ſiegt bei Heraklea 280 und Askulum 279, wird bei Benevént 275 geſchlagen, verläßt Italien und † 272 bei Argos.

**Pythágoras** (gr. **Pythagóras**), gr. Philoſoph, geb. auf Samos um 550 v. Chr., ſiedelt nach Italien (Großgriechenland) über und lehrt in Króton. Gründer und Mittelpunkt des weitverbreiteten pythagoräiſchen Bundes (Prinzip: Die Zahl iſt das Maß aller Dinge). [Seelenwanderung!]

**Quadrivium** (lat., aus **quatuor** vier und **via** Weg gebildet = der Ort, wo vier Wege zu-

Digitized by Google

sammenſtoßen, Kreuzweg), bildlich für die vier mathematiſchen Wiſſenſchaften: Arithmétik (Zahlenlehre), Geometrie (Größenlehre), Muſik und Aſtronomie (Sternkunde).

**quäſtionierlich** (lat.), fragweiſe.

**Quantität** (lat. **quántitas** und **quantus, a, um** wie groß?), Größe, Menge.

**quantitierend**, nach der Quantität d. h. nach der Länge oder Kürze [der Silben] meſſend, z. B.: quantitierendes Metrum (Versmaß).

**Quartier** (frz. **quartier**, ſpr. **kartjéh**), 1. der vierte Teil, das Viertel, Stadtviertel; 2. Wohnung, namentlich für Truppen außerhalb der Kaſerne.

**Quatember** (aus **quatuor** vier und **tempora** Zeiten = Quartal), Vierteljahrstag, mit dem ein Quartal beginnt. Katholiſcher Feiertag.

**quid juris**, erg.: **sit** (lat.), was rechtens iſt.

**Quintilián**, röm. Rhetor (Redner) aus Calagurris in Spanien, geb. 35, † vor 118 n. Chr., Verf. der Schrift: De Institutione oratoria, über die Unterweiſung in der Redekunſt (Rhetorik).

**Quirinális** (erg.: **collis** Hügel), 1. einer der ſieben Hügel Roms; 2. Palaſt auf demſelben jetzt Reſidenz (Wohnſitz) des Königs von Italien. Adj.: **quirinaliſch**.

**Radícos** (lat. v. **rádix** Wurzel), die Wurzeln, das Wurzelausziehen.

**Rahen** (niederdeutſch), quer am Maſt hangende Segelſtangen.

**Rakéte** (ital. **rocchétta**, Diminutiv v. **rocca** der [Spinn-] Rocken [die Rakéte ähnelt der Geſtalt eines Rockens]), Strahlenfeuer, Leuchtkugel.

**Rapport** (v. frz. **rapporter**, von **re** zurück und **apporter** bringen), Bericht (auf eine ergangene Anfrage oder infolge eines Auftrages).

**rapportieren**, ſ. v. a. Bericht erſtatten.

**räſonnabel** (v. frz **raison** [ſpr. **räſong'**] Vernunft), vernünftig.

**reagieren** (lat. **re** und **agére**), dagegenwirken.

**Reaktión** (lat. **reáctio**), Gegenwirkung.

**realiſieren** (v. lat. Adj. **reális, e**, und dies von **res** Sache = ſachlich, wirklich), verwirklichen.

**Réaumür** (ſpr. **Reomühr**), franzöſiſcher Phyſiker, geb. 1683 zu La-Rochelle (ſpr. **Roſchell**), † 1757; ſtellt 1730 ein Weingeiſtthermometer her und macht die nach ihm genannte Skaleneinteilung (80°).

**rebus** (lat., Dat. Plur v. **res** Sache, Ding), den Dingen.

**Recke** (eig. Verbannter), herumziehender Held, Rieſe, Krieger.

**Rector puerórum**, Lehrer der Knaben.

**Rector parvulórum**, Lehrer der Kleinen.

**Rector scolárium**, Lehrer der Schüler.

**Referat** (v. lat. **referátum**), Bericht, Vortrag.

**reflektieren** (lat. **reflectére** zurückbeugen), 1. zurückſtrahlen; 2. überlegen.

**Reflexión** (lat. **refléxio**), Überlegung.

**Reform** (v. lat. **forma** Geſtalt), Umgeſtaltung.

**Reformation** (lat. **reformátio** Umgeſtaltung), Verbeſſerung, Kirchenverbeſſerung.

**Reformator** (Plur. **—en**), Verbeſſerer.

**reformieren** (lat. **reformáre**), neugeſtalten, verbeſſern.

**Refrain** (frz., ſpr. **refräng'**, v. mittellat. **refrángere** zurückbrechen), Kehrreim, Wiederholungsvers.

**Regént** (lat. **régens** Part. Präſ., v. **régere** lenken, regieren), der Regierende.

**Regiménт** (lat. **regiméntum**, **régimen** Leitung, frz. auch **régime** [ſpr. **refchihm**]), 1. allgemein: Regierung, Regierungsweiſe; 2. Heeresabteilung von 3 Bataillonen zu je 4 Compagnieen, Kriegsſtärke etwa 3000 Mann Infanterie, etwa 1000 Mann Kavallerie.

**Región** (Plur. **Regiónen**, v. lat. **régio**), Gegend.

**regiſtrieren**, in eine Liſte eintragen.

**Rektajenſión** (aus **rectus** gerade u. **ascénsio** v **ascendére** aufſteigen), das Geradeaufſteigen.

**Réktor** (lat. **réctor**, v. **régere**), Leiter.

**Religión** (lat. **religio**, v. **religere** rückſichtlich beachten), Gotteserkenntnis, Gottesverehrung.

**Religioſität** (lat. **religiósitas**, Adj. **religiosus** gottesfürchtig), religiöſer Sinn, Gottesfurcht.

**Renommiſten** (v. frz. **renommer** mit Lob nennen, preiſen; **renommée** Ruhm, Berühmtheit); Renommiſt iſt, der ſich ſelbſt lobt; Großſprecher, Prahler.

**reparieren** (lat. **reparáre**), wiederherſtellen, ausbeſſern.

**repetieren** (lat. **repetére**), wiederholen.

**Repoſitórien** (lat. **repósitorium**, v. **repónere** zurücklegen, aufbewahren), Geſtell zum Aufbewahren von Büchern oder Akten.

**Repräſentánt** (Part. Präſ. v. frz. **représenter** [ſpr. **reprehſangtéh**], v. lat. **repraesentáre** wieder gegenwärtig machen), eig.: einer, der für einen andern da iſt; Vertreter (von Perſonen und Sachen gebraucht, z. B.: Pflanzen).

**Reptilien** (lat. **reptilia**, erg.: **animália** kriechende Tiere; v. **rēpĕre** kriechen), Kriechtiere.

**Republik** (lat. **res pública** die öffentliche Sache), Freiſtaat; ein von keinem Monarchen geleiteter Staat.

**Reſidénz** (frz. **résidence** [ſpr. rehſidangs'], v. lat. **residēre** ſitzen, bleiben), Wohnſitz eines Fürſten.

**Reſíduum** (lat., v. **residnus, a, um** was zurückbleibt), Überreſt, Reſt; auch Überſchuß.

**Reſina**, Stadt in Italien am Golf von Neápel, durch Weinbau berühmt.

**Reſkript** (lat. **rescriptum**, v. **rescribĕre** eig. zurückſchreiben), Beſcheid.

**Reſonánzboden** (v. lat. **resonāre** widertönen), Schallboden [eines muſikaliſchen Inſtruments].

**Reſpékt** (lat. **respectus** Rückſicht, v. **respicĕre** berückſichtigen), Rückſicht, Achtung.

**Reſponſória** (lat. v. **respondēre** antworten), kirchlicher Wechſelgeſang zwiſchen Chor bzw. Gemeinde und dem Geiſtlichen.

**Reſultát** (v. lat. **resultāre**, das wieder abzuleiten von **resilīre** zurückſpringen), eig.: das Herausſpringende; Ergebnis, Erfolg.

**retirieren** (frz. **se retirer**), ſich zurückziehen, fliehen.

**Reuſe** (Plur. **—en**), ein Korb mit engem Eingang, aus Flechtwerk oder Garn (Bindfaden), über einen Bügel gezogen, zum Fiſchfang.

**Revier** (frz. **rivière**, mittellat. **ripāria** Ufergegend, von **ripa** Ufer), Bezirk, Gebiet. (Dicht.: Mordrevier.)

**Revolútion** (lat. **revolūtio**, von **revolvĕre** zurückwälzen), Umwälzung.

**Rezépt** (v. lat. **recipĕre** aufnehmen, einnehmen), Vorſchrift, ärztliche Verordnung; Anweiſung zur Bereitung einer Speiſe oder eines Heilmittels.

**Rhapſodie** (v. gr. **rhábdos** Stab und **ádein** ſingen oder von **rháptein** aneinanderreihen) Geſang (eines einzelnen Buches, z. B. aus den Homeriſchen Gedichten).

**Rhea Silvia**, Tochter des Númitor, von Amúlius zur Prieſterin der Veſta gemacht, Mutter des Rómulus und Rémus.

**Rhetórik** (gr. **rhetorikḗ**, erg.: **téchnē**), Redekunſt, auch die Lehre von der Beredſamkeit.

**rhetóriſch**, Adj. z. vor.

**Rheumátika** (gr. **rheumatikós, ḗ, on** von **rhéō** fließe, **rheúma** Fluß), Rheumatismus, Reißen.

**Rhódos**, Inſel der Sporáden (der Zerſtreuten) unweit der kleinaſiat. Küſte, etwa 25 □ Ml. mit gegen 35 000 Einw. Gleichnam. Hauptſtadt, 1309—1522 im Beſitz des Johanniterordens („Kampf mit dem Drachen", Gedicht von Schiller). Berühmt iſt der Kolóß von Rhodos, Statue des Hélios (Sonnengottes), eines der ſieben Weltwunder.

**Rhýthmik** (gr. **rhythmikḗ**, erg.: **téchnē**), die Lehre vom Rhythmus d. h. von dem geſetzmäßigen Wechſel von Hebung und Senkung, von leichten und ſchweren Silben in Rede und Dichtung.

**rhýthmiſch**, Adj. z. vor.

**Ricciotti** (ſpr. Ritſchiótti), Sohn Garibáldis, der 1871 unter dem Oberbefehl ſeines Vaters bei Dijon gegen die Deutſchen kämpfte.

**Rieti**, Stadt in Mittelitalien, Provinz Perúgia, das alte Reáte der Sabiner.

**Riobamba**, Handelsſtadt in Ecuadór am Chimboráſſo.

**Rituál** (Ritualgeſetz!) (lat. **rituālis**, e von **ritus** Gebrauch), Regel für die kirchlichen Gebräuche.

**Ritus** (lat.), Art und Weiſe der Religionsübung, religiöſer Gebrauch.

**Román** (frz. **roman**, v. lat. **romānus**), urſprüngl.: das in einer romaniſchen Sprache Geſchriebene; dann überhaupt: erdichtete Erzählung, in der es auf Charakterzeichnung ankommt (Epos in Proſa).

**Romántik**, das Mittelalterliche in Leben, Sitte und Kunſt, Gegenſatz zum Antiken (Altertümlichen).

**Romántiker**, Dichter, die ihren Stoff zumeiſt aus dem Mittelalter nehmen; aber auch ſolche, welche das Wunderbare, Ahnungsvolle zum Gegenſtande ihrer Dichtung machen. (Tieck, Schlegel, Brentano u. a.)

**romántiſch**, wunderbar, bezaubernd.

**Románze**, poetiſche Erzählung lyr. Charakters, Volkslied des Südens.

**Roſétte**, Stadt in Unterägypten.

**Rotúnde** (v. lat. **rotúndus** rund), Rundbau (Tempel).

**Rouleaux** (frz., ſpr. rulóh, Plur. v. **rouleau**, von **rouler** rollen), Rolle, Fenſtervorhang mit Rollen.

**rudiménta linguae hebráicae** (lat.), die Anfangsgründe der hebräiſchen Sprache.

**Ruin** (lat. **ruina** Sturz), Verderben, Untergang.

**Ruine** (v. d. St.), altes Gemäuer, verfallenes Gebäude.

**Sabbat** (hebr. v. **sehabát** ruhen), Ruhetag.

**ſabiniſch**, Adj. zu **Sabini** (die Sabiner oder das Gebiet der Sabiner).

**Sakrament** (lat. **sacraméntum**, von **sacer, sacra, sacrum** heilig), heilige, von Chriſtus ſelbſt eingeſetzte Handlung: z. B. Abendmahl.

**Sakriſtan** (v. d. St.), Kirchendiener, Küſter.

**Salamis**, 1. Inſel im ſaroniſchen Meerbuſen, nahe der attiſchen Küſte; Schlacht 480 (Themiſtokles—Xerxes). 2. Stadt auf Cypern; letzte Schlacht der Perſerkriege 449, Cimons Tod.

**Salarierung** (v. d. frz. **salaire** [ſpr. ſalähr] Lohn, Gehalt, lat. **salárium**, urſpr. Salzſold, dann Ehrenſold), Gehaltszahlung.

**Salon** (frz., ſpr. ſalóng), Saal.

**salve** (lat., Imper. v. **salvēre**), ſei gegrüßt!

**Salve** (v. d. St.), Maſſenfeuer, gleichzeitiges Abfeuern einer Menge Gewehre.

**Sámnium**, Landſchaft in Mittelitalien; Bewohner: Samniten.

**Sámos**, eine der Sporaden, 9 □Mt., etwa 50000 Einw., mit gleichnamiger Hauptſtadt, Ephēſus gegenüber Geburtsland des Pythágoras, Herrſchaft des Polykrates; berühmt durch ſeine Erde und die aus ihr bereiteten Geſchirre.

**ſanguiniſch** (Adj. z. **sánguis, sánguinis** Blut), blutreich, leichtblütig. (Sanguiniſches Temperamént!)

**Sanktus** (lat. **sanctus, a, um** heilig), der Heilige, Chriſtus. (Schiller: „des Sanktus Worte").

**Sansſouci** (frz., ſpr. ſangßuci), Ohne-Sorge. Luſtſchloß Friedrichs d. Gr. bei Potsdam; Lieblingsaufenthalt Friedrichs II. und Friedrich Wilhelms IV.

**Sapperment** (Umbildung aus **Sacrament**), entſtanden aus dem lat. **sacraméntum**, womit der Leib Chriſti oder die Hoſtie im heiligen Abendmahl bezeichnet wurde. Bei dem heil. Leibe wurde geſchworen; aus dieſem Schwur entwickelte ſich dann ein Fluchausdruck. Demnach iſt ein Sapperment[er] ein fluchwürdiger, durchtriebener Menſch; ſpäter auch ſcherzweiſe angewendet.

**Sappho**, Dichterin auf Lesbos um 600 v. Chr. Nach ihr wird ein Vers und eine Strophengattung benannt; ſ. Teil III, Anhang 10.

**Sarazénen**, Morgenländer.

**Sarkophág** (gr. **sarx, sarkos** Fleiſch, **phageln** eſſen), 1. eigentlich Fleiſchverzehrer (Sarg aus Kalkſtein, in dem die Zerſetzung ſchnell vor ſich ging); 2. Sarg.

**Satire** (lat. **sátura** gefüllte Schüſſel oder Schale; auch die darin enthaltene Speiſe, aus mancherlei Früchten beſtehend); Spott-, Strafgedicht.

**Sátyros** (gr., Plur. **sátyroi**, lat. **Satyri**, Waldgottheiten mit Bocksfüßen). Sing. auch das Satyrſpiel, Nachſpiel der altgriechiſchen Tragödien.

**Sauce** (frz., ſpr. ſoße), Brühe, Tunke.

**Savánnen**, große Grasflächen in Amerika (am Miſſouri und Miſſiſſippi).

**Savérne** (ſpr. ßavérn'), das heutige Städtchen Zábern im Elſaß. (Schiller: Der Gang nach dem Eiſenhammer.)

**Scene** (gr. **skēné**), 1. Ort der dramatiſchen Aufführung, Bühne; 2. Auftritt [im Drama].

**Scepter** (gr. **skēptron** Stab), 1. Attribut der Kaiſer und Könige, im homer. Zeitalter auch der Herolde; 2. Zeichen und bildl. Ausdruck für Herrſchaft.

**Schafott** (frz. **échafaud** [ſpr. eſchafó]), Blutgerüſt.

**Schaluppe** (frz. **chaloupe** [ſpr. ſchalup'], holländ. **sloep** [ſpr. ſlup]), Art ſchnellſegelnder Boote.

**Scharlach** (v. d. türk. **iskerlet**, mhd. **scharlât**), 1. brennendes Rot, auch der rote Stoff ſelbſt; 2. Kinderkrankheit: Scharlachfieber.

**Schartéke**, (v. ital. **skartála** Ausſchuß), Ausſchußbuch, untaugliches Buch.

**Schema** (gr. **s-chēma**), Geſtalt, Zeichen, Muſter.

**Schēmen** (mhd. **scheme** Schatten), Schattenbild.

**Scheria** (ſpr. S-chéria), Inſel der Phäaken (Kerkýra, Corcýra, Korfu).

**Schlot** (mhd. **slât**), Rauchfang.

**scholae civicae** (lat., **civis** Bürger), Gemeindeſchulen.

**scholáres partículáres**, Schulen für die Kinder der Vornehmen.

**scholáres dormitáles**, Schlafſchüler.

**scholáres ad mappam** oder **ad scutéllam** (lat., **mappa** kleines Tuch, Serviette; **scutella** kleine Schüſſel, Schale), Schüler, die in Tuch (Serviette) oder Schüſſel das Eſſen mit nach Hauſe nahmen.

**Scholáſter**, Schulherr und Lehrer; Stiftslehrer.

**Scholáſtikus** (lat. **scholásticus**), 1. dasſelbe

m. d. vor.; 2. ein chriſtlicher Philoſoph des Mittelalters.

**ſcholaſtiſch** (Adj.), ſchulgerecht, ſpitzfindig.

**Schützen**, die jüngeren Schüler, welche für ihre Bacchánten „ſchießen“ (d. h. betteln und ſtehlen) mußten.

**scilicet imménso súperest ex nómine multum** (lat.), natürlich iſt von dem unermeßlich großen Namen viel übrig.

**Sekretárius** (v. lat. **secrétus** abgeſondert, geheim), Sekretär, Geheimſchreiber.

**Seminarium** (lat. **sémen**, **séminis** Same), Pflanzſtätte; namentlich für das Lehramt vorbereitende Anſtalt; auch Prieſterſeminar.

**Senátor** (lat. **senátus**, **sĕnex** Greis), 1. Mitglied des römiſchen Senates; 2. Bezeichnung für einen Ratsherrn in kleineren Provinzialſtädten.

**Séneca**, 1. **Marcus Annaeus**, Rhetor z. B. des Auguſtus und Tiberius; 2. **Lucius Annaeus** (Sohn des vor.), Philoſoph, Lehrer des Nero.

**Senténz** (lat. **senténtia** Meinung), Satz; Sinn- oder Denkſpruch.

**ſentimental** (v. frz. **sentiment** [ſpr. ſangtimang'), empfindſam, gefühlvoll; oft im tadelnden Sinne geſagt.

**September** (lat., **septem** ſieben), der ſiebente Monat nach dem alten röm. Kalender.

**ſervieren** (lat. **servíre** dienen, von **servus** Knecht), 1. dienen; 2. den Tiſch decken, bei Tiſche bedienen.

**Seſſión** (lat. **séssio**, v. **sedēre** ſitzen), Sitzung.

**Siéſta** (ſpan., v. lat. **sexta**, erg.: **hora**, ſechſte Stunde des Tages), Mittagsruhe.

**Signál** (v. lat. **signum** Zeichen), Ruf, Meldezeichen, Weckruf.

**Signét** (lat. **signētum**), Siegel, Zeichen.

**Sigriſt** (ſchweiz., aus mittellat. **sacrista** [v. **sacrum** Heiligtum]), der Küſter, Mesner.

**Siloah**, Quelle bei Jeruſalem, am ſüdlichen Fuße des Tempelberges.

**Simile** (lat., Neutr. v. **símilis**), ähnlich. Das Simile oder die Comparátio (Gleichnis) ein Teil der Chrie.

**Simonie**, genannt nach dem Zauberer Simon, (Apoſtelgeſch. 8, 18—20), Kauf und Verkauf geiſtlicher Stellen.

**ſimpel** (v. frz. **simple** [ſpr. ſängpl'] und lat. **simplex**), einfach, einfältig.

**Simpliciſſimus** (Superl. v. **simplex**), Einfaltspinſel; Titel eines Romans aus dem 17. Jahrh. von Grimmelshauſen.

**Simri** oder **Seſter** (v. lat. **sextárius**, frz. **sétier**), auch **Simmer**, ein Getreidemaß.

**Sinope**, Stadt in Paphlagonien am Schwarzen Meere; Geburtsort des Philoſophen Diógenes und Reſidénz des Mithridátes.

**Sitophýlakes** (gr., Plur. v. **sitos** Getreide u. **phylax** Wächter), Aufſeher über Einfuhr und Verkauf des Getreides in Athen; 5 für die Stadt, 5 für den Piräeus. Sie hatten darüber zu wachen, daß Mehl und Brot nach richtigem Gewicht und zu den feſtgeſetzten Preiſen verkauft wurden.

**Situatión** (v. lat. Adj. **situs** gelegen), Lage.

**Skalde** (altnord.), Sänger.

**ſkelettieren** (v. gr. **skeletós** ausgetrocknet), die Knochen des Körpers von allem Fleiſch befreien.

**Skiläufer**, Schneeſchuhläufer.

**Skizze** (v. ital. **schizzo** [ſpr. ſkizzo], gr. **schédios**), flüchtiger Entwurf, Umriß (in der Eile gemacht).

**ſkrupulös** (lat. **scrupulósus**, v. **scrúpulus** ſpitzes Steinchen, kleinſter Gewichtsteil; Unruhe, Beſorgnis), ängſtlich, peinlich.

**Skulptur** (Plur. —**en**, lat. **sculptúra**, v. **sculpĕre** meißeln), 1. Bildhauerkunſt; 2. Kunſtgegenſtände.

**Sókrates** (gr. **Sokrátēs**), der größte Philoſoph des Altertums, † 399 zu Athen. (Gnóthi sautón, erkenne dich ſelbſt. Weisheit iſt das höchſte Gut, Unwiſſenheit das höchſte Übel. Weisheit und Tugend iſt eins.)

**Sokrátik**, Lehrweiſe des Sokrates, nach welcher der Lehrer durch geſchicktes Fragen den Schüler zur Auffindung des Geſuchten führt.

**ſolid** (v. lat. **sólidus**), feſt gegründet, haltbar.

**Sophiſt** (gr. **sophistés**, v. **sophós** weiſe), 1. Weiſer; 2. Vernünftler.

**Sóphokles** (gr. **Sophoklēs**, v. **sophós** weiſe u. **kléos** Ruhm), einer der drei berühmten griech. Tragiker, lebte während der Perſerkriege u. nachher in Athen. Von ihm 7 Tragödien erhalten.

**ſouverän** (frz.), ſelbſtändig.

**spatio** (Dat. oder Abl. v. **spátium**), Raum.

**Spelt** (= Dinkel), eine Getreideart: Triticum spelta.

**Spenzer**, kurzer Rock, nach ſeinem Erfinder (Lord Spencer) genannt.

**Spezereien** (v. lat. **spécies** Art), Gewürze.

**ſpeziéll** (lat. **speciális**, e, einzeln, beſonders), insbeſondere.

**Spézies** (lat. **spécies**), Art, Gattung.

**Spéziestaler**, ein wirklicher Taler (Taler-

stück), zum Unterſchiede von Papiergeld und Scheidemünze.

**Sphinx**, fabelhaftes Weſen mit Menſchenkopf und -bruſt, Tierleib und Flügeln.

**Spiritus dómini** (lat.), Geiſt des Herrn.

**Spital, Spittel** (Plur. **Spitäler**; verkürzt aus **Hospitál**), Krankenhaus.

**Spleen** (engl. [ſpr. ſplihn], vom lat. **splēn** Milz), Milzſucht, Narrheit.

**sponte** (lat Abl. v. ungebr. **spons**), freiwillig.

**Squalus fulgens** (ſtrahlend), Haifiſch.

**Stabiä**, Stadt in Kampanien, berühmt durch Heilquellen; 79 n. Chr. mit Herkulánum und Pompéji verſchüttet.

**Stádien** (von **stádium**, ein Längenmaß von 600 Fuß; 40 Stadien = 1 deutſche Meile), uneig.: Zeitabſchnitte, Entwickelungsſtufen.

**ſtaffieren** (frz. **estoffer** [jetzt **étoffer**] Stoff in hinreichender Menge zu etwas verwenden), ausſtatten.

**ſtagnieren** (vom lat. **stagnāre**) [**stagnum** ſtehendes Waſſer], ſtillſtehen, faulen.

**Station** (lat. **státio**, v. **stāre** ſtehen), Standort, Haltepunkt.

**ſtatiſtiſch** (v. lat. **status** Stand, Zuſtand), zahlenmäßig; der Zahl nach.

**Státor** (lat., v. **stare**, der Haltgebietende, Fluchthemmende (Jupiter).

**Statue** (lat. **státua**, frz. **statûe** [ſpr. ſtatüh]), Bildſäule.

**Statúten** (v. lat. **statuĕre** feſtſetzen), Feſtſetzungen, Satzungen.

**Stavanger**, alte Stadt in Norwegen, bedeutender Heringsfang und -handel.

**stellae volántes** (lat., v. Part. Präſ. v. **volāre** fliegen), fliegende oder flatternde Sterne.

**ſteril** (lat. **stérilis**), unfruchtbar.

**Stipéndium** (lat. eig.: der Sold), Unterſtützungsgeld für Studierende.

**Stola** (gr. **stolé** Kleid), Prieſterkleidung, Chorrock, beſ. weiße Schulterbinde.

**Strabo**, berühmter Geograph, zu Amaſia in Pontus 63 v. Chr. geb.; 17 Bücher „Geographica" d. i. Geographiſches; geſt. 24 n. Chr.

**ſtrangulieren** (lat. **strangulāre**, v. gr. **straggalóein** drehen), erdroſſeln.

**ſtrategiſch** (v. **strategós** Feldherr), kriegskundlich; in Rückſicht auf Heeresleitung.

**Strategiker**, ein die Feldherrnkunſt Studierender oder praktiſch Ausübender.

**Strophe** (gr. v. **stréphein** wenden), Wendung; Zuſammenfaſſung einer beſtimmten Anzahl von Verſen zu einem Ganzen.

**Struktúr** (lat. **structūra**, v. **struĕre** bauen), der Bau.

**Studént** (lat. **stúdens**, Part. Präſ. v. **studēre** ſtudieren), der Studierende.

**ſtudieren** (lat. **studēre**), ſich einer Sache befleißigen.

**Stúdia, —ien** (lat., Plur. v. **stúdium**, ſ. d.), die Studien, Bemühungen, Forſchungen.

**studiósis** (Dat. Plur. v. **studiósus**), den Studierenden.

**Stúdium** (lat.), Fleiß, Eifer, Bemühung.

**Stupidität** (lat. **stupiditas** und **stúpidus** betroffen, dumm), Dummheit.

**Styx** (Gen. **Stygós**, gr.), Strom in der Unterwelt

**Subaltérnoffizier** (lat. **subaltérnus** unter einem andern ſtehend), Unterbefehlshaber, Offizier unter dem Hauptmann.

**Subjékt** (lat. **subjĕctum** v. **subjicĕre** unterwerfen), Grundlage des Satzes, Hauptgegenſtand, Satzgegenſtand.

**Súbkantor**, Unterkantor.

**ſubmarin** (v. lat. **sub** unter, **mare** das Meer) unterſeeiſch.

**ſubmittieren** (lat. **submittĕre** unterwerfen), ſich demütigen, zu Kreuze kriechen.

**Subſtánz** (lat. **substántia** v. **substāre** beſtehen), ein Weſen, ein für ſich beſtehendes Ding.

**ſubſtituieren** (lat. **substituĕre**), an die Stelle ſetzen.

**Subtraktión** (lat. **subtráctio** v. **subtrahĕre** fortnehmen), das Abziehen beim Rechnen.

**Sueton** (lat. **Suetónius**), Zeitgenoſſe und Freund des jüngeren Plinius, Verfaſſer von Biographieen (Lebensbeſchreibungen) der erſten zwölf röm. Kaiſer.

**Sujet** (ſpr. ßüſchéh, v. lat. **subjectum**), Hauptteil des Satzes, Satzgegenſtand; Gegenſtand; auch verächtlich: Taugenichts. Früher auch ſ. v. a. Untertan.

**Súltan** (arab. **Sultān**), König, Fürſt; der türkiſche Machthaber, Kaiſer.

**Summa** (lat. **summus, a, um** Höchſte, **summa res** Hauptſache), alles in allem; Summe.

**Súnion** u. **—um**, ſüdliches Vorgebirge Attikas.

**ſuperſtitiös** (lat. **superstitiōsus, a, um**), abergläubig.

**suppleándo** (lat., v. **supplēre** bitten, Abl. Gerúndii), durch Bitten, bittweiſe.

**Sur**, das ſpätere Tyrus.

**Surrogát** (v. **surrogāre** jemanden an die Stelle eines andern wählen), Erſatz, Erſatzmittel.

**Syéne**, ſüdlichſte Grenzſtadt in Oberägypten, jetzt Aſſuan.

**Sykomóre** (gr. **sykomóros**, v. **sykon** Feige, und **móron** Maulbeere), der wilde ägyptiſche Feigenbaum.

**Symból** (gr. **symbolon**, v. **symbálleln** zuſammenwerfen, vergleichen, urteilen), Zeichen, Sinnbild.

**ſymbóliſch** (Adj. z. vor.), ſinnbildlich.

**Symplegáden** (gr. **Symplegádes** v. **symplēsselu** zuſammenſchlagen), zuſammenſchlagende Felſen im Schwarzen Meere, die ſeit der Durchfahrt der Argonauten feſtſtehen.

**Syrakūs** (lat. **Syracūsae**), einſtige Hauptſtadt v. Sicilien, griechiſche Kolonie.

**Syſtém** (gr. **systema**, v. **synlstánal** zuſammenſtellen), Zuſammenſtellung, Lehrgebäude.

**Systéma natúrae** (lat.), Natur- oder Weltſyſtem.

**Takt** (lat. **tactus**, v. **tangĕre** berühren), eig.: Berührung; 1. Gefühl, Feingefühl; 2. in der Muſik: durch Striche geſonderte Abteilungen, Zeitabteilungen.

**Táktiker** (v. **Táktik** = **taktiké**, erg.: **téchnē**, die Kunſt des Ordnens, Aufſtellens; **tássein** ordnen), ein in der Kriegskunde erfahrener Feldherr.

**Talár** (v. lat. **talus** Knöchel), bis zu den Knöcheln reichendes Gewand, Amtskleid der Geiſtlichen und Richter.

**Talént** (lat. **talēntum**, gr. **tálanton** Wagſchale, das Gewogene), 1. ein Gewicht, ſtellt eine Summe von 1500 Thlr. vor; 2. das von Gott Zugewogene; Naturgabe, Anlagen.

**Tamburīn**, 1. Handtrommel; 2. Stickrahmen zum Aufſpannen der Stickerei oder des Stoffes, der benäht werden ſoll.

**Tanaampo**, kleine rötliche Erdknollen (Caouac)

**Tarént** (lat. **Taréntum**, ital. **Táranto**, gr. **Táras**), eine der bedeutendſten Kolonieen der Griechen in Unteritalien, gegründet von den ſpartaniſchen Partheniern um 700 v. Chr., von den Römern unterworfen 272 v. Chr.

**Tarpéja**, Tochter des Tarpéjus, dem die Verteidigung des Kapitóls beim Andringen der Sabiner übertragen war. (Verrat der Burg an die Sabiner. Tod der Tarpeja. Der tarpejiſche Felſen.)

**Tártarus** u. **Tártara** (auch **Orkus** u. **Hades** genannt), Totenreich, Unterwelt.

**Taulántier** (lat. **Taulántii**), Völkerſchaft in Illyrien.

**Taýgetus** (gr. **Taýgeton**, erg.: **óros** Berg), Gebirge auf der Grenze von Lakonien und Meſſenien.

**Téchnik** (gr. **technikḗ**, abgel. von **téchnē** Kunſt), Kunſt, Kunſtlehre.

**Télemach** (gr. **Telémachos**, wörtl.: der aus der Ferne Kämpfende [**tēle** und **máchesthai**]), Sohn des Odyſſeus.

**Temperamént** (lat. **temperaméntum**, von **temperāre** miſchen, die richtige Miſchung geben), das rechte Maß; Miſchung des Blutes; die auf der Miſchung des Blutes beruhende eigentümliche Gemütsart, Naturanlage der einzelnen Menſchen. (4 Temperamente: das ſanguiniſche, choleriſche, phlegmatiſche, melancholiſche.)

**Temperatur**, Wärmegrad.

**Tempo** (ital., Plur. —i, v. lat. **tempus** die Zeit), Zeitmaß beim Tanzen, Schwimmen (das ſich im Schritthalten und in andern Bewegungen zeigt). **Tempi passati**, vergangene Zeiten.

**temporär** (lat. **temporārius** einige Zeit dauernd), zeitweilig, vorübergehend.

**Teneriffa**, die größte der kanar. Inſeln (36 □ Mln., gegen 100 000 E.), den Spaniern gehörig. Den Namen Kanarien leitet Plinius von der Menge großer Hunde (canes) her.

**Tenuis** (lat. **tĕnuis**, e dünn, erg.: **littera** Buchſtabe), tonloſer Laut; bei der Einteilung der Mutä (ſtummen Laute) werden **p**, **k**, **t** die Ténues genannt.

**Teréntius** (**Terénz**), Publius Teréntius Afer aus Karthago (Afrika), 194—159 v. Chr., Komödiendichter der Römer.

**Termin** (lat. **términus** Grenze, **Términus** Grenzgott), feſtgeſetzter Zeitpunkt.

**Terracotta** (ital., v. lat. **terra cocta** [**coquĕre**] gekochte Erde), gebrannter Ton.

**Terrain** (frz. [ſpr. **terräng'**], v. lat. **terra** Erde), Gelände, namentlich inbezug auf Beſchaffenheit und Lage.

**Terraſſe** (v. d. St., Adj. **terraſſenartig**), aus aufgeworfener Erde gebildete Stufen. (Terraſſengarten!)

**Terrorismus** (v. lat. **terror** der Schrecken, **terrōre** erſchrecken), Schreckensherrſchaft.

**tértiae classis** (lat., Gen. Sing. v. **tértia classis** die dritte Klaſſe), der dritten Klaſſe.

**Tértium comparatiónis** (lat.), wörtl.: das Dritte der Vergleichung, d. i. der Vergleichungspunkt; der Punkt, in dem die Gleichheit oder Ungleichheit ſich zeigt.

**Teſtamént** (lat. **testaméntum**, v. **testári** Zeuge ſein, bezeugen), 1. Bekundung des letzten Willens (mündl. oder ſchriftl.); 2. Bund (alter und neuer Bund).

**Teſtimónium**, Plur. **—nia** (lat., v. **testis** Zeuge), Zeugnis.

**Teut** u. **Tuisko**, Gott und angeblicher Stammvater der alten Deutſchen. (Tácitus, Germánia.)

**Text** (v. lat. **textus** u. **texére** weben; Verbindung, Zuſammenhang), 1. die eignen Worte des Schriftſtellers (im Gegenſatz zu Erklärungen und Anmerkungen); 2. das einer Rede (Predigt) zugrunde liegende Schriftwort; 3. die einem Geſange untergelegten Worte.

**Theben**, 1. Stadt in Oberägypten, nach Vertreibung der Hykſos bis zum Jahre 1000 v. Chr. Hauptſtadt des ägypt. Reiches (das hunderttorige); 2. Stadt in Böotien, Vaterſtadt Pindars, Epaminondas' und Pelopidas' (das ſiebentorige, von Kadmos gegründet [Kadmeía]).

**Thema** (Plur. **Thémata** u. **Themen**; v. gr. **tithénai** ſtellen, frz. **thème**), die geſtellte Aufgabe; ein Satz, über den zu ſchreiben, zu ſprechen oder zu predigen iſt.

**Themiſtókles** (gr. **Themistoklḗs**, v. **Themis** [Gen. **Themídos**] Göttin der Gerechtigkeit, **kléos** Ruhm), berühmter athen. Staatsmann und Feldherr. 480 Sieger bei Sálamis, zuletzt verbannt und im Auslande geſtorben.

**Theologie** (gr. **theología**, von **theós** Gott, **lógos** Wort), Gottesgelehrtheit.

**theologiſch**, Adj. z. vor.

**theorétiſch** (ſ. d. folg.), wiſſenſchaftlich.

**Theorie** (gr. **theoría** [v. **theoreín**] Feſtſchau, Schauſpiel), das geiſtige Beſchauen einer Sache, Darſtellung einer Wiſſenſchaft im Zuſammenhange; Gegenſatz zur Praxis d. i. Ausführung.

**Thermen** (gr. **thermaí**, erg.: **pegaí** Quellen), warme Quellen, Bäder.

**Thermópylä** (gr. **thermós** und **pylai**, wörtl.: warme Tore), ſo genannt von den warmen Quellen, die in der Nähe waren. Engpaß gebildet vom Ötagebirge und dem maliſchen Meerbuſen, wo 480 v. Chr. Leonidas mit den 300 Spartanern tapfer kämpfend fiel.

**Thesaúrus linguárum** (gr. **thesaurus** Schatz), Sprachenſchatz.

**Thése** (v. griech. **thésis**), Satz.

**Théſeus** (gr. **Théseus**), Sohn des Ägeus, Königs von Athen.

**Thĕſis** (gr., v. **tithénai** ſetzen), in der Verslehre: Senkung.

**Thor** (auch **Dónar**), Gott des Donners und Blitzes (altd. Sage).

**Thoth**, altägypt. Gottheit.

**Thucýdides** (gr. **Thukydídēs**), berühmter griech. Geſchichtſchreiber, der den peloponneſiſchen Krieg geſchildert hat.

**Tinten** (v. lat. **tingere** färben), Farben. Farbenſchattierung.

**Titān**, Sonnengott.

**Titus Tátius** (ſpr. **Tázius**), König der Sabiner, der nach Vereinigung derſelben mit den Römern die Herrſchaft mit Romulus teilte.

**Toga**, das Friedensgewand der Römer, eine Art Mantel, aus einem Stück beſtehend.

**Toilette** (frz. [ſpr. **toalett'**], von **tolle** Gewebe, Leinwand), 1. Putztiſchtuch; 2. Putztiſch; 3. Kleidung ſelbſt. Redensart: Toilette machen ſ. v. a. ſich putzen.

**Torcador** (ſpan., v. gr. **taúros** Stier), Stierkämpfer zu Pferde.

**Toro** = **taurus**, Stier.

**Toupet** (frz., ſpr. **tupéh**), Zopf, Wulſt auf dem Vorderkopfe; gekräuſeltes Stirnhaar.

**Tourbillon** (frz., ſpr. **turbiljong'**), Wirbel, Strudel.

**Touriſt** (frz. **touriste**), Vergnügungsreiſender.

**trágiſch** (gr. **tragikós, ḗ, ón**), der Tragödie (Trauerſpiel) ähnlich, traurig.

**Trajān**, **Trajánus**, röm. Kaiſer von 98—117, ein Spanier.

**traktieren** (v. lat. **tractáre** behandeln), behandeln im freundlichen und feindlichen Sinne; bewirten.

**Transpórt** (lat. **trans** und **portáre**, hinübertragen), 1. das Fortſchaffen, auch gewaltſam; 2. die fortgeſchafften Perſonen oder Sachen ſelbſt; 3. Übertragung von einer Seite auf die andere.

**Tribún** (lat., **tribúnus plebis** Volkstribun), Schutzobrigkeit des röm. Volkes ſeit 494 d. i. ſeit dem erſten Auszuge der Plebs auf den heiligen Berg (Menenius Agrippa).

**Tribut** (v. lat. **tribútum** u. **tribuĕre** zuteilen), das Zugeteilte, Abgaben der unterworfenen Völker.

**Triúmph** (lat. **triúmphus**), feierlicher Einzug eines ſiegreichen Feldherrn bei den Römern.

**triumphieren**, 1. einen Triumph feiern; 2. jubeln, frohlocken.

**Triviálſchulen**, untere Schulen, Volksſchulen.

**Trivium** (lat. von **tres, trium** drei, **via** Weg), eig.: Dreiweg. Im Mittelalter die dreifache Schulwiſſenſchaft: Grammátik, Rhetórik und Dialéktik; ſ. Quadrivium.

**Trochäus** (gr. **trochalos**, v. **trécheln** laufen, laufend, ſchnell), Versfuß, aus 2 Silben, einer langen und einer kurzen beſtehend.

**Trombe** (ital. **tromba**), Waſſerhoſe.

**Tröpen** (gr. **trópoi**, von **trépeln** wenden), 1. Gegend zwiſchen den Wendekreiſen; 2. Redefiguren, übertragene Ausdrücke.

**Tropenländer**, ſ. d. vor.

**Trophäe** (gr. **trópaion**), Siegeszeichen.

**tropiſch**, 1. in der heißen Zone befindlich; 2. in übertragener Bedeutung.

**Trözēn** (gr. **Troizén**), uralte Stadt in Argolis am ſaroniſchen Meerbuſen, wohin die Athener vor der Schlacht bei Salamis ihre Weiber und Kinder flüchteten.

**Tſcherokeſe** = **Irokeſe**, Indianerſtamm an den großen Seeen Nordamerikas, den Huronen benachbart und mit dieſen 5 bis 6 Nationen umfaſſend. Jetzt ſind ſie nach Kanada verdrängt, wo ſie zerſtreut noch vorkommen.

**Tumba** (v. gr. **týmbos** Grabhügel), Grube, Vertiefung.

**tumultuariſch** (v. lat. **tumúltus**), unruhig, lärmend.

**Túsculum**, alte Stadt in Latium; in deren Nähe Ciceros Landgut Tusculánum.

**typiſch** (v. gr. **týpos** Schlag, von **týpteln** ſchlagen, Abdruck, Bild), bildlich; in gewiſſen Zeiträumen wiederkehrend, feſtſtehend.

**Tyránn** (gr. **týrannos**), urſpr: Alleinherrſcher in einem vorher freien Staate (z B. Athen), ſpäter mit der üblen Nebenbedeutung „grauſam“.

**Tyrus** (gr. **Týros**, hebr. Zôr), eine der beiden Hauptſtädte Phöniziens; ehemals berühmte Handelsſtadt auf einer der phöniziſchen Küſte benachbarten Inſel; hatte viele Belagerungen auszuhalten; wurde von Alexander d. Gr. 332 zerſtört (Ruinen von Surl)

**Ulyſſes** (von den Griechen **Odyſſeus** genannt), Beherrſcher von Ithaka (Thiáki), einer joniſchen Inſel; Held vor Troja; ausgezeichnet durch Tapferkeit und Schlauheit. Seine Irrfahrten ſind in der Odyſſée geſchildert.

**unanimiter** (Adv., v. lat. **unus** einer und **ánimus** Geiſt), einmütig.

**Undine** (aus d. lat. **unda** die Welle), eine Waſſernixe.

**Uniform** (lat., **unus** einer, **forma** Geſtalt), von einer Geſtalt, gleichförmige Tracht; Kleidung des Militärs und gewiſſer Klaſſen von Staatsbeamten.

**Univerſität** (lat. **univérsitas** die Geſamtheit, erg.: **litterárum** die Wiſſenſchaften), Hochſchule.

**Vacátum** = **Vakanz**, das Freiſein, erledigte Stelle.

**Vagabúnden** (lat. **vagabúndus**, von **vagári** umherſchweifen), Landſtreicher.

**Vagánten** (v. lat. **vágans**, Part. Präſ. von **vagári** [ſ. d. vor.]), Herumtreiber.

**vakánt** (v. **vacáre** frei ſein), unbeſetzt, frei.

**Varro**, 1. Terentius Varro, römiſcher Feldherr, bei Kannä geſchlagen und flüchtig; 2. bedeutender römiſcher Grammátiker.

**Vasa cólligе** (v. **vas** das Gefäß, **vasa** Gefäße, **colligе** Imperativ v. **colligére** ſammeln), wörtl.: ſammle die Gefäße, d. i. packe ein.

**Vaſáll** (Plur. —**en**, frz. **vassal**), Lehensmann.

**Vaſe** (v. lat. **vas**, **vasis** Gefäß), koſtbares Gefäß zu Blumen.

**vegetabiliſch** (Adj. v. **végetus** belebt, **vegetáre** beleben), pflanzenartig, zur Pflanze gehörig; vegetabiliſches Leben = Pflanzenleben.

**Vegetatiòn** (lat. **vegetátio**), Pflanzenwuchs.

**vehemént** (v. lat. **véhemens**), heftig.

**Veit, St.** (St. = **Sanctus** heilig), Name eines Heiligen, Veit oder Vitus.

**Vejénter** (lat. **Veiéntes**), Bewohner von Veji.

**Veji**, alte Stadt im ſüdlichen Etrurien, unweit Roms, von den Römern 396 v. Chr. zerſtört.

**veni, sancte**, erg. **spíritus**, komm, heiliger Geiſt. (Beginn einer Strophe, mit der die Sonntags- und Feſttagsgottesdienſte in vielen Gemeinden eingeleitet werden.)

**Ventil** (v. d. lat. **ventus** Wind), Zugloch, Luftklappe.

**Venus** (bei den Griechen **Aphrodite**), 1. Göttin der Schönheit und Liebe; 2. ein Planét.

**vermaledeien** (lat. **maledícere** ſchmähen), verfluchen; **vermaledeit** verflucht.

**Verres**, ein römiſcher Prätor, der durch ſeine ſchlechte Verwaltung Siciliens und ſeine Er-

preſſungen berüchtigt war; von Cicero angeklagt.

**verso**, (lat., v. **vertĕre** wenden), Überſetzung.

**vertieren**, überſetzen.

**Veſper** (lat., Abend), Abendglocke, Spätnachmittag.

**Veſta** (bei den Griechen **Heſtia**), Göttin des häuslichen Herdes.

**Veſtálin** (**vestális virgo**), Prieſterin der Veſta.

**Veſtíbül** (lat. **vestíbulum**), Vorhof, Vorhalle.

**vexieren** (lat. **vexāre** quälen), necken, täuſchen.

**via dolorōsa** (lat., **via** Weg, **dolorósus** [**dŏlor**] ſchmerzhaft), Leidensweg.

**Viátikum** (lat., von **via** Weg), Wegzehrung, Zehrgeld.

**Vikuñas** (ſpr. **wikunja**), Schafkamel in Peru (Größe einer Ziege); davon die Vigognewolle.

**Vigille** (lat. **vigília** Nachtwache), Zeit der Nachtwache: bei den Römern der vierte Teil der Nacht. **Vigíliae**, Seelenmeſſen.

**vigilieren** (lat. **vigilāre**), wachen, aufmerkſam ſein.

**Villa** (lat.), Landhaus.

**Viola**, Veilchen; **Vióla**, Geigeninſtrument.

**violéntia** (lat.), Ungeſtüm, Heftigkeit.

**Virgátumgehen** (lat., **virga** = Rute), nach Ruten gehen.

**Virgil** u. **Vergil** (lat. **Vergílius**), berühmter römiſcher Dichter; von ihm die Äneïde, welche die Irrfahrten u. Geſchicke des Äneas ſchildert.

**Virtuóſe** (v. lat. **virtus** Tugend, Tüchtigkeit), der in einem Fache beſonders tüchtig iſt; Künſtler, Meiſter.

**Virtuoſität**, Meiſterſchaft.

**viſieren** (v. lat **vidēre** ſehen), 1. genau ſehen, aufs Korn nehmen; 2. mit dem Viſum („Geſehen!") verſehen, z. B. einen Paß.

**Viſitatiōn** (lat **visitátio**), Durchſuchung; auch Beſuch zur Erforſchung des Standpunktes einer Anſtalt.

**Viſitátor**, Beſichtiger.

**viſitieren**, (lat. **visitāre**), durchſuchen, beſichtigen.

**Viſitierung**, Durchſuchung, Beſichtigung.

**vivat!** (Konj. v. **vivĕre** leben) Er lebe [hoch]!

**vobíscum dominus** (erg.: **sit**), der Herr ſei mit euch!

**Vokál** (lat. **vocális**, v. **vocāre** rufen), der Selbſtlauter.

**Vox pópuli, vox déi** (erg.: **est**, lat.), des Volkes Stimme [iſt] Gottes Stimme.

**Vulkan**, **Vulcánus** (d. d. Griechen **Héphaiſtos**), 1. Gott des Feuers; 2. feuerſpeiender Berg.

**Walhálla** (v. altnord. **valr**, die Leichen auf dem Schlachtfelde), eig: Halle der Erſchlagenen, übertr. Himmel, Paradies.

**Walküren**, Schlachtengöttinnen, Heldenjungfrauen, die unter den Gefallenen auf dem Schlachtfelde auswählen.

**Wardein** (v. niederd. **wárden**, d. i. werten, ſchätzen), Prüfer des Metalls, Abſchätzer.

**Welſche** (der, v. ahd. **walah** Fremdländiſcher), der Ausländer romaniſcher Zunge (Italiener, Franzoſe).

**Werder** (auch **Wert**), Flußinſel, Halbinſel, erhöhtes waſſerfreies Land zwiſchen Sümpfen.

**Werther**, Name des Helden in Goethes Roman „Werthers Leiden"; dann auch als Gattungsname gebraucht (Bürger: „ein bleicher, hohlwangiger Werther").

**Wiſende**, **Wiſent**, alte Bezeichnung für Auerochs.

**Wuótan** oder **Wódan** (ſpr. **Wotan**), der höchſte Gott der alten Deutſchen.

**Xénophon** (gr. **Xenophōn**), griech. Geſchichtſchreiber, Heerführer und Philoſoph, Schüler des Sokrates um 400 v. Chr.; führt die 10000 Griechen aus Aſien in die Heimat zurück und beſchreibt den Zug in ſeiner Anábaſis (Hinaufzug nach Perſien).

**Zenit[h]** (arab. **samt, semt** = Weg, Pfad), Scheitelpunkt; Punkt am Himmel, der gerade über dem Beobachter ſteht.

**Zéphyr** (gr. **Zéphyros**), Weſtwind, Abendwind.

**Zetes**, Sohn des Boreas, Bruder des Kalaïs.

**Ziffer** (ital. **cifra**, frz. **chiffre**, v. hebr. **saphár** zählen), Zahlzeichen

**Zimbal** und **Zimbel** (lat **Cymbalum**), 1. beckenförmiges muſikaliſches Inſtrument aus Erz, bei den Feſten der Cybele von den Bacchantinnen gebraucht; 2. Hackebrett, altes, jetzt ungebräuchliches Inſtrument, Vorgänger des Klaviers.

**Zion** (hebr. **Zijon**), höchſter Hügel von Jeruſalem mit der Burg.

**Zone** (gr. **zōnē** Gürtel), Erdgürtel.

**zwier** (alte Sprache), zweimal.

Druck der Engelhard-Reyherſchen Hofbuchdruckerei in Gotha.
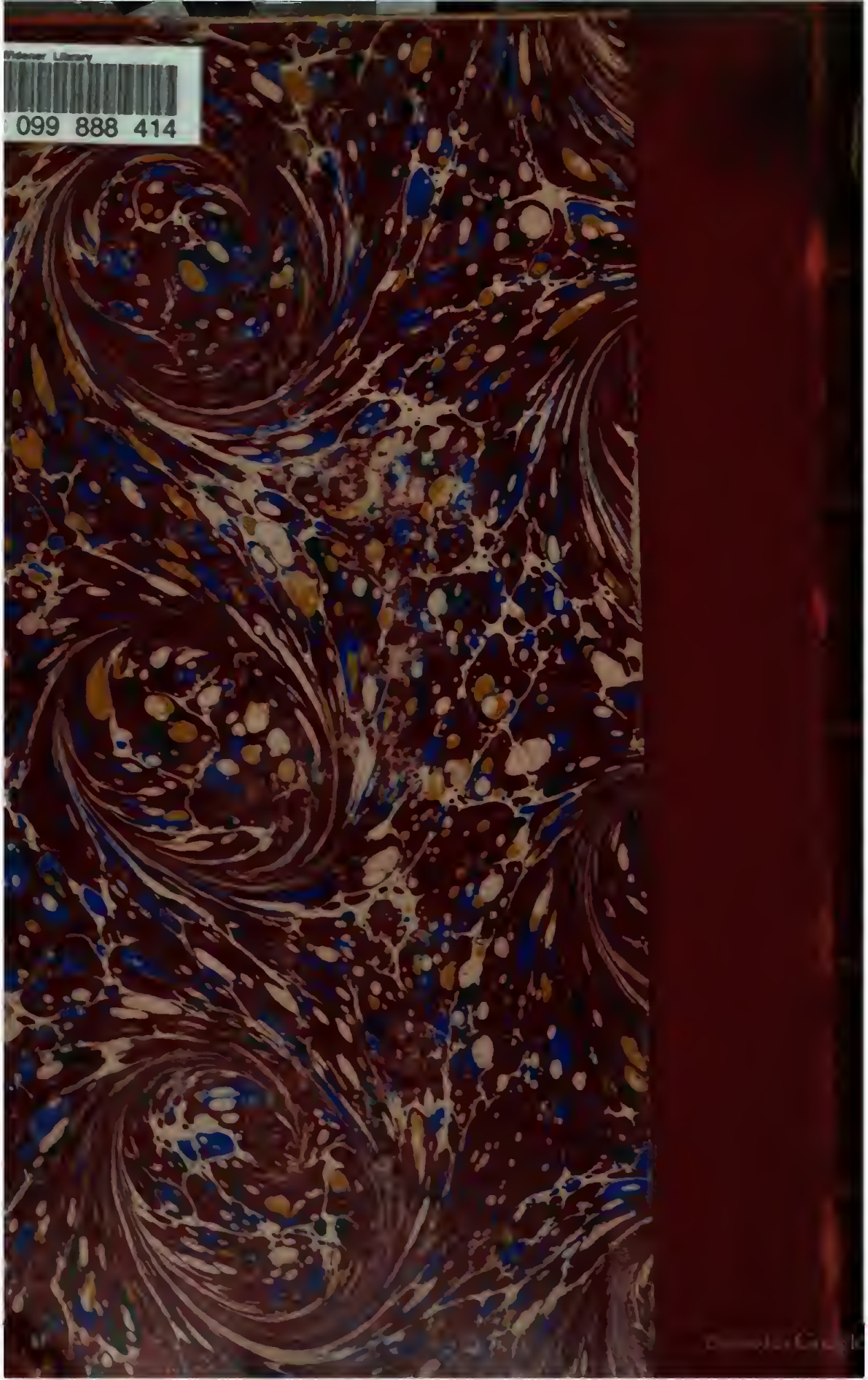
Widener Library
099 888 414